राष्ट्रभाषा

रजत-जयन्ती ग्रन्थ

उत्कल प्रान्तीय

राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा

कटक

कृतज्ञता-ज्ञापन

राष्ट्रभाषा-प्रचारसभा २५ साल की होगी तो उसके उपलक्ष में एक उत्कल का पूर्णांग परिचयात्मक ग्रन्थ निकाला जायगा। उसमें उत्कल की कोई प्रवृत्ति छूटे नहीं, इस बात का खयाल रहेगा। यह सुझाव आने के बाद सभा की कार्यकारिणी समिति के सभ्यों ने सोत्साह प्रस्ताव को स्वीकार किया। उसका आयोजन आरम्भ हो गया। लेखकों से लेख माँगे गये और उन लोगों ने प्रसन्नता के साथ समय पर लेख दिये भी। अनुवादकों ने श्रम किया, टाइप करनेवाले ने भी श्रम किया। पण्डित श्यामनारायण तिवारी ने लेखों को आमूल पढ़कर सुपाठ्य बनाया है। पण्डित लल्लीप्रसाद पांडेय ने ग्रन्थ के सम्पादन में अपना अमूल्य समय लगाया है। इस वय में राष्ट्रभाषा-ग्रन्थ के लिए आपने बहुत श्रम किया है। साथ ही श्री वाचस्पति पाठक को भी भुलाया नहीं जा सकता जिन्होंने इस आयोजन में योग्य व्यक्ति तथा वस्तुएँ लाकर इस ग्रन्थ को सजाने तथा सुन्दर बनाने में पूरा सहयोग दिया है।

सभा इन सभी महानुभावों को सहर्ष धन्यवाद देती है।

— संयोजक

सूची-पत्र

डाक्टर हरेकृष्ण महताब
रजत-जयन्ती समिति के अध्यक्ष
तथा जयन्ती ग्रंथ के मुख्य-संपादक

दो शब्द

उड़ीसा की राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति न केवल हिन्दी-प्रचार की ही संस्था है, बल्कि प्रथम श्रेणी की सांस्कृतिक संस्था भी है जिसका विकास पिछले २५ वर्षों के दौरान में हुआ है। वास्तव में आरंभ से ही यह विचार किया गया था कि यह सभा उड़ीसा राज्य के सांस्कृतिक विकास में सक्रिय भाग लेने के लिए एक सांस्कृतिक संस्था के रूप में कार्य करे। किसी भाषा का प्रचार-मात्र न तो पर्याप्त कार्य होता है और न उससे अभीष्ट उद्देश्य की अच्छी तरह पूर्ति ही होती है। किसी भाषा को लागू करने का सर्वोत्तम तरीका यही है कि जिस भाषा को लागू करना अभीष्ट हो उसके द्वारा सांस्कृतिक जीवन पर दृष्टिपात किया जाय। चूँकि उड़ीसा की राष्ट्र-भाषा-प्रचार सभा सांस्कृतिक कार्यों को करने में सक्रिय रूप से संलग्न है, इसलिए वह हिन्दी भाषा को जनता की एक बड़ी संख्या तक पहुँचाने में समर्थ हो सकी है ; अन्यथा वह यह काम करने में असमर्थ रहती। जब राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के रजतजयन्ती समारोह के अवसर पर एक परिचय पुस्तिका प्रकाशित करने का निश्चय किया गया, उस समय हमने सोचा कि यह सामान्य रूप से प्रकाशित न की जाय, बल्कि उसमें उड़ीसा राज्य के इतिहास और जीवन के विभिन्न पहलुओं पर, प्रख्यात विद्वानों के लेख भी शामिल किये जायँ जिससे हिन्दी में प्रकाशित यह परिचय पुस्तिका आगामी कतिपय वर्षों के लिए एक प्रामाणिक साहित्य के रूप में काम आ सके। विद्वानों ने लेख दिये भी। इस कृपा के लिए मैं उनका आभार मानता हूँ।

मैं उन अनेक लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की सहायता पाने में समर्थ हो सका हूँ। जिन लोगों ने मुख्य सम्पादक के रूप में काम करने के लिए कृपापूर्वक मेरा चुनाव किया; सम्पादक-मण्डल की नियुक्ति की गई और प्रत्येक सम्पादक ने इस प्रकाशन को सफल बनाने के लिए शक्तिभर कार्य किया। न केवल लेखकों ने ही विभिन्न विषयों पर लेख लिखने का कष्ट किया, बल्कि सम्पादकों ने भी प्रस्तुत लेखों को जाँचने, सम्पादित करने और प्रकाशनार्थ अन्तिम रूप देने के लिए काफी समय दिया है। मुख्य सम्पादक के रूप में मैंने भी अपने कार्य के लिए, जो मुझे सौंपा गया था, आव-श्यकतानुसार अधिक से अधिक समय दिया है। मेरे प्रयत्नों से कोई ठोस परिणाम निकला है या नहीं, इसका निर्णय करना तो अब जनता का ही काम है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, अन्यत्र उड़िया भाषा में इस तरह का कोई प्रकाशन नहीं हुआ है जिसमें उड़ीसा के जीवन एवं इतिहास के विभिन्न पहलुओं पर लेख लिखे गये हों। यह प्रकाशन हिन्दी में है जिसे जनता को प्रस्तुत करने का सम्मान मुझे प्राप्त हुआ है। यह अपने ढग का राष्ट्रभाषा में प्रथम प्रयत्न है।

भारत के अन्य प्रत्येक भाग की तरह, उड़ीसा का भी अपना समृद्ध इतिहास है। अतीत के इतिहास के अतिरिक्त, आधुनिक विकास भी तीव्र गति से हो रहा है। निस्सन्देह, अतीत और

वर्तमान दोनों एक उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करेंगे। भारत के दूसरे समस्त क्षेत्रों की ही भाँति उड़ीसा भी विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में अपनी महत्ता की अक्षुण्ण परम्परा निरंतर बनाये रखेगा। यदि कोणार्क का मंदिर खण्डहरों में है तो हीराकुड उस अक्षुण्ण परम्परा की रक्षा के लिए प्रस्तुत हुआ है। यदि पुराना भुवनेश्वर विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया है तो नयी राजधानी उसी परम्परा की रक्षा के लिए पुनः जन्म ले रही है।

यदि आर्य-पूर्व सभ्यता कालान्तर में कबीलों की आबादी तक सीमित थी तो आज कबीलों में फैल रही नयी सभ्यता उड़ीसा द्वारा उत्पन्न समन्वयात्मक संस्कृति को बनाये रखेगी। इस परिचय पुस्तिका द्वारा, जिसे मैं जनता को प्रस्तुत कर रहा हूँ, उड़ीसा शेष भारत के समक्ष आत्म-अभिव्यक्ति करना चाहता है। राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा के द्वारा उड़ीसा ने शेष भारत से अधिकाधिक बहुमूल्य सामग्री एकत्रित करने का प्रयास किया है। समय आ रहा है जब कि सभी क्षेत्रीय इतिहास और संस्कृतियाँ, चाहे उनका स्थान अतीत में जो भी रहा हो, उस कण्ठहार के अनेक रत्न बनने जा रहे हैं जो भारतमाता के लिए तैयार किया जा रहा है। सर्वत्र भारत का इतिहास और संस्कृति का ही प्रभाव रहेगा और क्षेत्रीय परम्पराएँ भारत का गौरव-पूर्ण अंग बनेंगी। यह लक्ष्य हिन्दी भाषा में सिद्ध किया जाना है जिसके प्रचार का कार्य राष्ट्र-भाषा-प्रचार सभा ने अपने हाथों में लिया है। विगत २५ वर्षों में जो कार्य किया गया है वह प्रशंसनीय है और अब भी बहुत कुछ कार्य करना शेष है।

मैं निम्न महानुभावों को धन्यवाद देता हूँ।

१. डा० आर्तवल्लभ महांति
२. श्री अनसूयाप्रसाद पाठक
३. श्री गुरुचरण महान्ती
४. श्री भागीरथी महापात्र
५. श्री राजकृष्ण बोस
६. श्रीमती विनीता पाठक
७. श्री गोपीनाथ साहु
८. श्री शिवराम उपाध्याय

जिन्होंने सम्पादकमण्डल में रह करके श्रम किया है, ग्रन्थ के सफल प्रकाशन के लिए अपना सारा समय दिया है और जिन-जिन सज्जनों ने अनुवाद किया है उनको भी मैं धन्यवाद देता हूँ। उड़ीसा की राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के प्राण श्री अनसूयाप्रसाद पाठक द्वारा प्रदत्त सहायता का उल्लेख किये बिना मैं अपने कर्तव्य पालन में विफल रहूँगा। इस परिचय ग्रन्थ के मुद्रण तथा कार्यालय-संबंधी कार्य में जिन्होंने सहायता प्रदान की है, उनको मैं धन्यवाद देता हूँ।

हरेकृष्ण मेहताब
मुख्य संपादक

प्रस्तावना

मानव जिस समय मानव-पदवाच्य हुआ था उस समय का शृंखलाबद्ध इतिहास उपलब्ध न होने से मानवों की जनसंख्या में वृद्धि तथा उसके क्रम-विकास का परिचय नहीं मिलता और न यही उपलब्ध है कि जो मानव आज पृथिवी की पीठ पर अकड़कर चलता-फिरता है, आराम करता है, आमोद-प्रमोद से जीवन बिताता है, खाना बिना मरता और कलपता है, धनी और गरीब में श्रेणी संघर्ष करता है और सोचता है कि मैं एक मानव हूँ, सबसे श्रेष्ठ हूँ, शक्तिशाली हूँ, सभी प्रकार की सम्पत्ति से सम्पन्न हूँ, इसलिए बाकी के सारे मानव मेरी बात मानें, आदि विषयों के प्रति आकर्षण-विकर्षण संघर्षण का विकास कैसे हुआ था और उसके क्या क्या कारण हैं ? इस विषय में दो मत हैं। एक पौराणिक विचारधारा का मत है, दूसरा तात्त्विक दर्शनशास्त्र का मत है। लेकिन ये भी आरंभ काल का वृत्तान्त नहीं बतलाते।

एक का मत है—किसी समय संसृति के आरम्भ में जहाँ केवल पानी था, तेज था, पवन, आकाश और पृथिवी थी वहाँ एक आदिपुरुष परब्रह्म परमात्मा जो अतल नीरनिधि में एक पत्ते पर लेटे लेटे दुनिया की नीरवता का मजा लूट रहा था, शान्ति से असीम अक्षय एकान्तवास का सरस आनन्द ले रहा था, कि इसी समय उसकी कल्पना हुई 'मैं अकेला हूँ, बहुत बन जाऊँ।' अतएव नाभि से ब्रह्मा निकल पड़े। उन्होंने भी आँखें खोलीं; देखा, इस संसार में एकाकी जीवन-यापन करना बहुत ही कठिन काम है। ब्रह्मा ने मानस पुत्रों की, मनु की कल्पना की। मानसिक कल्पना से श्रद्धा निकली और कल्पना सफल हुई। इस प्रकार से परस्पर भाव, भाषा तथा सांकेतिक प्रयोजन का काम चल निकला। अतएव यहीं से भाषा बन गई होगी; पारस्परिक काम चल निकला, ऐसा मान लेना होगा। अन्यथा परस्पर भावों का आदान-प्रदान करना असंभव हो जाता। इन्हीं मानस महाप्रभु ने एक के बाद एक सृष्टि की कल्पना की, पंचभूतों की रचना की, अणु-परमाणु की विवेचना करके जगत्-जन की रचना को एक साहित्यिक रूप दिया। 'अन्नंवै प्राणाः' कहा, 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' की अद्वैत रचना की।

इस प्रकार से धीरे धीरे चिन्ता, कल्पना, ज्ञानी ध्यानी मुनियों के मुख से मुखरित होने लगी। प्रथम तो वह चिन्ता श्रवण-रन्ध्रों में प्रवेश करती और विराम किया करती थी, अँगड़ाइयाँ लेती, फिर एक के मुख से दूसरे के श्रवणों तक जाती रही। परन्तु जैसे जैसे यह दुनिया विशाल, लम्बी होती गई और इतनी लम्बी हो गई कि कण्ठ-स्वर-शक्ति की पहुँच के बाहर हो गई तो भाषा की, लिपि की सूरत के साथ कलम तथा पृष्ठों की आवश्यकता पड़ी। कोई पेड़ों की छाल पर लिखता

तो कोई पत्तों पर, किसी ने काठ की लेखनी बनाई तो किसी ने लोहे की। यह प्रथा आज याद रखने के लिए पुनीत कामों में बर्ती जाती है।

शास्त्रों ने—ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश ने—जो जगत्-रचना के कारणस्वरूप हैं, किस प्रकार से जन को जनमाया, इसका प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। जिस प्रकार नर-नारी का संयोग जन–जग का हेतु माना जाता है, उसी प्रकार दार्शनिक लोग पुरुष और प्रकृति की कल्पना करने पर भी यह नहीं बतला गये कि अमुक प्रकृति से अमुक पुरुष के औरस से अमुक नर और अमुक नारी का जन्म हुआ है और यह जग–जन उन्हीं की संतान है। इतना होते हुए भी यह कल्पना से, अनुमान-प्रमाण से मान लेना होगा कि एक नर और एक नारी थी, उन्हीं से एक के बाद दो, दो के बाद तीन और तीन के बाद चार-पाँच, दस-सौ-हजार-करोड़ तक की संख्या विश्व में जन की पहुँच गई है। ऐसा न होता तो एक प्रकार की कामना, एक प्रकार की रुचि, एक प्रकार के काम, एक प्रकार के हाथ-पाँव, नाक-कान, मुख-शिर आदि न होते। उसमें भिन्नता जरूर हुई होती।

उक्त आनुमानिक कल्पना के बल से यह कहा जा सकता है कि विश्व भर के मानव एक समय एक ही दम्पति की संतान थे। जैसे जैसे संख्या बढ़ती गई वैसे वैसे उनका फैलाव होता गया। इस प्रकार जग में जन के कलबलाने से संसार मुखरित हो गया। यह विशाल विश्व एक घर बन गया। यह विशाल जनता वहीं विचरण करने लगी, अपना स्थान बनाने लगी, ऊबड़-खाबड़ भूमि को समतल करने लगी, और अब यह ध्रुवलोक, मंगल तथा चाँद, सूर्य तक जाने की चिन्ता करने लगी। इससे जान पड़ता है कि लोग पहले जा चुके होंगे और आज की यह चेष्टा उसी पुराने संस्कार का फल है।

संसार भर के मानव एक ही हैं, एक ही माता-पिता की संतान हैं, एक ही प्रकार की भाषा बोलते हैं ; एक प्रकार की चिन्ता करते हैं ; एक प्रकार के आनन्द, सुख-दुख का अनुभव करते हैं, भाव व्यक्त करते हैं ; चलते-फिरते-देखते हैं, उठते-बैठते-खाते हैं, बातें करते हैं। यह निर्विवाद सत्य है।

मानव की अभिरुचि

सभी मानवों की अभिरुचि एक है। सभी अपने लिए सोचते हैं। अच्छा खाना, अच्छा पहिनना और अच्छे घर में रहना—ये तीन बातें मुख्य हैं, इसके लिए अर्थात् इसकी पूर्ति के लिए नाना उपाय किये जाते हैं।

आज जो मानव करता है वही तो साहित्य है अर्थात् मानव का जीवनचरित्र ही साहित्य है। इस जीवनचरित्र में जो मानव-मंगलकर विचार होते हैं, चिन्तन होता है जिससे प्राणिमात्र का हित होता है वही साहित्य कहलाता है।

संसार के सामने मानव ने नाना समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। उसके स्वार्थ हैं, इससे साहित्य का उद्देश्य सफल नहीं होता। साहित्य का तो काम है समान रूप से सभी का हित-साधन करना, मंगलमयी कामनाओं को जन्म देना।

साहित्य में स्वार्थपूर्ण विचार पहले नहीं थे। मनीषी एकान्त जीवन बिताते थे, शुद्ध अनन्त चिन्तन करते थे वे अमोघ अमूल्य अचिन्त्य अव्यक्त शक्ति की साधना में रत रहते थे। उनको न तो संसार की चिंता थी, न खान-पान और परिवार की खोज करने की। उनका तो जंगल की जड़ी-बूटियों-पत्तों से निर्वाह होता था।

यही कारण है कि वे ऐसी शक्ति के अधिकारी बने कि आज भी लोग आश्चर्य करते हैं। एक मुनि के मुख से जो निकल पड़ता वही सत्य हो जाता। आज का यह विज्ञान उस विज्ञान की शिक्षा नहीं दे रहा है—कल्पना भी नहीं करता।

उपनिषद में एक कथा है:—

राजा जनक ने यज्ञ में सभी पण्डितों को बुलाया था। यज्ञ की समाप्ति पर दक्षिणा दे विदा किया और जाते समय कहा—'आप लोग जाते हैं। मेरे पास एक गाय है। जो अपने को सर्वोत्तम ज्ञानी मानता हो वह इस गाय को ले जाय।' सभी एक दूसरे का मुख ताकते रहे; परन्तु याज्ञवल्क्य ने गाय की रस्सी थाम ली।

पण्डितों ने रोका—हमारी बातों का उत्तर दो, तब न सर्वोत्तम पण्डित कहलाओगे और गाय के लेने के अधिकारी होगे।

बातें छिड़ गईं। प्रश्न किये गये। उत्तर मिला। गार्गी ने भी प्रश्न किया। उसको साफ सुन्दर सन्तोषजनक उत्तर मिला। और एक ने फिर प्रश्न किया। याज्ञवल्क्य ने कहा—झूठे प्रश्न करोगे तो सिर कटकर नीचे गिर जायगा। वही हुआ, सिर नीचे लोटने लगा। सब ने देखा, सकपका गये।

कहने का अभिप्राय यह है कि वह विज्ञान आज कहाँ है। और ऐसा विज्ञान है जो ध्वंस तो कर सकता है परन्तु निर्माण उसके बूते की बात नहीं रही। तो वह क्यों पूजा जाता है?

आज संसार में जो सबसे भयानक बात है वह यह है कि उसमें सूर्य तक जाने की ताकत तो है, एक मिनिट में पृथ्वी के चारों ओर चार बार दौड़ जाने की वेगवती गति है लेकिन सारी दुनिया के मानव को एक करने की ताकत आज के इस विज्ञान में नहीं है। अगर होती तो जो आज मानव मानव के प्रति ईर्ष्या, द्वेष और लोभ की मनोवृत्ति लिये विचरण कर रहा है, न होती। आज जो एक दूसरे को दबाकर शासन करने की अभिरुचि होती है, न होती। आज जो सारी दुनिया की संपत्ति जमा करके—मैं खाऊँ और बाकी के सारे विश्व के जन भूखों मरें—आज स्वयं ही श्रेष्ठ बनने की अभिलाषा भी न होती।

आज तो केवल होड़ होती है शस्त्र बनाने के लिए। आज की लड़ाई भी बल की नहीं है। जो जितने जनों को कत्ल कर सके, गाँव, नगर का ध्वंसावशेष दिखा सके, वही बड़ा है, ज्ञानी है, धनी है और महाशक्तिशाली कहलाता है।

मानव की यह अभिरुचि राक्षसी अभिरुचि है। यह अभिरुचि न तो सत्यमय है, न सुन्दर ही है, और न मंगलमय ही। और जो सत्य, सुन्दर और मंगलकर नहीं है वह कुछ भी नहीं है। परन्तु आज की दुनिया भी विचित्र है। जो सत्य नहीं, सुन्दर नहीं और शिव नहीं वही सब कुछ

है। आज के मानव की तात्त्विक दार्शनिक अभिरुचि भी अद्भुत है। दुनिया के मानव हमारे भाई हैं और एक ही परिवार के हैं। हम खायें और सारा परिवार भी खायें, यह चिन्ता नहीं है और न ऐसी चिन्ता करने की अभिरुचि ही है।

मानव के चरित्र का चित्र तो साहित्य है, यह कहा गया है। इस उक्ति के अनुसार आज की सारी अभिरुचि भी साहित्य है। किसी वस्तु का निर्माण ही कला है। लेकिन जब हम इस बात पर विचार करने लगे हैं कि जिससे लोक का कल्याण हो, जिससे लोक में सुन्दर भावों का आदान-प्रदान हो, वही साहित्य है। फिर इस बात को तौलना पड़ता है कि आज विश्व में जितनी भाषाएँ हैं, उनका जो साहित्य है, वह लोककल्याणमूलक है कि नहीं। जहाँ तक विचार करके देखा जाता है वहाँ तक तो यही नजर आता है कि आज उन्नत कहलानेवाली भाषाओं के पास यह गुण है ही नहीं, जिससे लोककल्याण किया जा सके। कुछ उपन्यास, कहानियाँ, नाटक तथा जीवन-चरित्र और समालोचना तथा आजकल के मारण अस्त्र बनाने के तरीकेवाली पुस्तकों के लेखन और प्रकाशन से तो उत्तम साहित्य नहीं माना जा सकता। उत्तम साहित्य का काम संजीवनी बूटी बनाना है। आज के साहित्य में संजीवनी बूटी बनाने के उपाय नहीं हैं। जहाँ यह नहीं है वहाँ वह साहित्य और उसकी भाषा भी शून्य है। राक्षसी वृत्तिवाली है। उनसे मानव का कभी कल्याण-साधन हो नहीं सकता। जिससे जनगण का कल्याण न हो उसको अपनाना वैसा ही श्रम है जैसा प्रेम को सजीव रखने के लिए महादेव सती के शव को लिये भ्रमण करते थे। शरीर का जो अंश जहाँ गिरा वहीं वह पूजा पाने लगा, शक्ति की आराधना होने लगी, तीर्थ बन गया, लोग जाने लगे। उसी में प्राण-प्रतिष्ठा समझ ली गई।

जो लोग यह कहते हैं कि जिस भाषा में एटम बम बनाने की कला है वही उन्नत है, उत्तम है, वही कलामय है वे भूल करते हैं। जिस भाषा और साहित्य के शब्दों में इतनी शक्ति थी कि एक चुल्लू भर पानी से सारे संसार का प्रलय किया जा सकता था और उसी शब्द से संसार को बचाया भी जा सकता था वह ताकत आज इस एटम बम की भाषा में कहाँ है?

कहा जाता है कि जिस देश का साहित्य जितना उन्नत होता है, उस देश की, जाति की उन्नति उतनी ही उत्तम होती है। उसीसे उसकी उन्नति कूती जाती है। परन्तु आज यहाँ इस पर जरा-सा गौर करने तथा विचारने का समय है। प्रश्न उठता है, जाति की उन्नति तथा उसके साहित्य की उन्नति का मापदण्ड क्या होना चाहिए? क्या हजारों की संख्या में उपन्यास, कहानी, नाटक, प्रबन्ध आदि का प्रकाशन साहित्य की उन्नति है? बड़े बड़े रेल-इंजन, वायुयान, जनध्वंसात्मक मारण-यंत्र, बम तथा इसी प्रकार का चिन्तन ही साहित्य की उन्नति है? या वशिष्ठ जैसे तपस्वी ऋषि-मुनियों की आत्मशक्ति का प्रकाश साहित्य की उन्नति की पराकाष्ठा है या विश्वामित्र के शस्त्रों की चरम परीक्षा की परिणति उन्नति का मूल है?

हम जो बात कहना चाहते हैं, यह है कि आज दुनिया में जो कुछ हो रहा है वह विश्वामित्र के शस्त्रों की चरम परिणति है। नकली शक्ति का संचय हो रहा है। वशिष्ठ के आत्मबल की परीक्षा नहीं है। इस ओर तो लोग सोचते ही नहीं। इसीलिए न तो वे उन्नत हैं, न चिन्तनशील,

न बहुजनहिताय ही हैं, न उनके द्वारा आविर्भूत साहित्य ही जनमंगलकर हो सकता है। इस दिशा में तो भारतीय साहित्य ही सर्वोपरि है। यह आज की नहीं, अनादि काल से चली आती भावनाएँ हैं, चिन्तन है। गांधीजी ने जो कुछ किया है और कहा है वह भारतीय साहित्य की सीख से, भारतीय संस्कृति की प्रेरणा से कहा है। उसमें नवीनता नहीं है। नवीनता है नाना बाधा-विघ्नों के रहने पर भी अपने ख्याल, अपने चिन्तन से जन-मंगलकर काम करते जाना। गांधीजी ने जिस अहिंसा का प्रयोग आज इस आसुरी शक्ति के सम्मुख किया है नया है, प्रयोग करने का ढंग नया है। इन शब्दों में जो भाव है, जो अर्थ है, जो त्रैकालिक सुन्दर शक्ति निहित है उसको गांधीजी ने प्रकाश कर दिया है—इस 'अहिंसा परमो धर्मः' को गांधीजी ने पाया है केवल भारतीय साहित्य से। इसमें विश्व के जन की कामनाएँ हैं, प्रेम है 'सारा जहाँ एक है' की पुकार है, दुनिया भर के मानवों की कामना एक है—खानपान, भाव, भाषा, व्यक्ताभिप्राय, चाल-चलन एक है, वेशभूषा एक है। सारे मानव की गठनप्रणाली समान है। सभी सामने देखते हैं। पीछे की ओर से कोई नहीं देखता है। नाक से कोई नहीं खाता, कान से नहीं सूँघता है। सभी की कामना है भरपेट भोजन की, वस्त्र की और घर की; बाकी विलास की सामग्री और प्रसाधन की। जो कुछ आज होता है, वह अपने लिए ही होता है। केवल अपनी ही चिन्ता साहित्य की दुर्बलता है। साहित्य अगर चाहता, उसमें सामर्थ्य होता तो वह कहता—जैसे कि भारतीय साहित्य चाणक्य के मुख से बोला है:—

आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं नराणामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः।

विश्व एक है। पवन, पानी, भूमि, तेज और आकाश एक है। जब इसमें भिन्नता नहीं है, फिर यह खुदगर्जी क्यों कि 'मैं ही खाऊँ और सब भूखों मरें', 'मैं शासक बनूँ और सब शासित हों।' यह कामना क्यों? किसके लिए? कितने दिनों के लिए? यह प्रश्न किसी भाषा साहित्य ने प्रस्तुत नहीं किया है। जो कुछ किया है, वह खर के समान भारवाहक बनकर किया है। स्वार्थ और लोभ ने मिल करके अखाड़ा बनाया है। यह साहित्य की उन्नति का लक्षण नहीं है और न उन्नत साहित्य का ढंग ही है। उन्नत मानना भी भूल है। उच्चस्तरीय चिन्तन के न तो ढंग हैं, न माने ही। भारतीय साहित्य के विधाताओं ने चार युग (सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग) बतलाये हैं, कर्म की श्रेणियाँ की हैं। कलियुग इस श्रेणी की चौथी सीढ़ी है। अगर साहित्य चाहेगा तो फिर सत्ययुग आ जायगा, दुनिया में अमन चैन रहेगा, उन्नत साहित्य की रचना हुआ करेगी। क्या साहित्यिक इस दिशा में सोचेंगे?

साहित्य आदमी को देवता बना सकता है और राक्षस भी। आज के विश्व साहित्य में राक्षस बनाने का हुनर तो है, लेकिन देवता बनाने की कला उसमें नहीं है। यही कारण है कि आज दुनिया बारूद के गोले पर बसी है। जरा भी उसमें गरमी आई कि फटा और फिर सभी समाप्त। आज का साहित्य बारूद बनाने में लगा है, पलीते बनाये जा रहे हैं।

संसार के आदमियों के लिए यह सोचने की बात है। वे देखें कि आदमी किस प्रकार देवता

बनता था और किस प्रकार बनाया जा सकता है। जब एक बार बनाया जा सका है तो क्या कारण है कि वह काम अब नहीं हो सकता। केवल अपने ऊपर विश्वास, अपनी चिन्ताधारा, शुद्ध कामनाओं की आवश्यकता है। आत्मविश्वास और उसकी आराधना, उसका चिन्तन और आह्वान किये बिना निरे आत्मविश्वास से कोई काम नहीं होता। जो यह कहते हैं कि अंग्रेजी भाषा का साहित्य उन्नत है, उनको अपने आप पर विश्वास नहीं है। वे राक्षसी शक्ति के उपासक हैं। लेकिन शक्ति की उपासना में भी भिन्नता है। शक्ति की उपासना विश्वामित्र ने भी की थी और इतनी बड़ी शक्ति अपने पास जमा कर ली थी कि एक नया लोक, नया आकाश, नये ग्रह आदि बनाने लगे। इतना होते हुए भी उसने अपने में अभाव पाया। उसके दिल में वशिष्ठ की शक्ति खल रही थी। अभी तक वशिष्ठवाली शक्ति उसको प्राप्त नहीं हो पाई थी। जब वह सोचता था कि एक ही आशा-छड़ी के घुमाने से वशिष्ठ ने मेरी सारी शक्ति को श्रीहीन कर दिया तो वह पागल बन जाता। उसने सोचा, मेरी सारी शक्ति बेकाम है। मुझे तो वशिष्ठ जैसी शक्ति चाहिए तो वह सारा राज-पाट त्याग, चला वशिष्ठ जैसी शक्ति की तलाश में, ज्ञान की आराधना में।

आज इस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। अपने चिन्तन का बल लोगों के पास नहीं है। लोग पढ़ते अधिक हैं, बोलते ज्यादा हैं, गुनते कम हैं। आज लोग शेक्सपियर के नाटकों को शेली की काव्य-कलापूर्ण सौन्दर्यमय कविता को भले ही याद करते रहें, लेकिन भारतीय महा-शक्तिशाली ज्ञानी-मुनियों की वाणी को याद नहीं करते। जिस भाषा में उक्त वाणी गुम्फित है, उसे आज मृत भाषा कहकर छोड़ देते हैं—उसे हास्य का साधन बना रक्खा है। जो आज यह कर सकता है वही ज्ञानी, पण्डित और दिव्य ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञ माना जाता है; बुद्धि का भण्डार माना जाता है। लोग उसी को आदर्श मानने लगते हैं। बातें भले ही गले के नीचे न उतरें लेकिन इस वाणी के अन्धविश्वासी बन बैठते हैं कि जरूर उसमें कुछ होगा तभी न ऐसा कहा है। यही है अज्ञान की चरम सीमा, अन्धविश्वास और देश को रसातल पहुँचानेवाले विचार।

हमारे भारतीय साहित्य की परम्परा और नीति भिन्न है, संस्कृति भिन्न है और सोचने का तरीका भी भिन्न है। भारतीय संस्कृति कहीं भी यह नहीं बतलाती कि केवल हमीं शान्ति से, सुख से जीवन यापन करें। यहाँ तो हजारों, लाखों साल से यही नारा बुलन्द होता चला आता है और आज भी गान्धीजी कहते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत्॥

उनकी कामना थी कि सारा विश्व सुख-शान्ति से रहे। इसीलिए वे शाम-सबेरे इसी मन्त्र का जाप करते-कराते थे। उनकी आन्तरिक कामना थी कि विश्व के सभी मानव एक परिवार की तरह रहें, किसी के साथ कोई हिंसा-द्वेष न रखें। प्रेम से निवास करें, भाई-चारे का सम्बन्ध रखें।

कहाँ तो ये महान् कामनाएँ, उद्यम, चेष्टाएँ और कहाँ यह "मैं हूँ" और "बलवान् हूँ", "मेरी बातें सब मानें, नहीं मानोगे तो मार डालूँगा।" हमारे यहाँ उसी का नाम दानवी शक्ति

है। दानवी शक्ति से और आशाएँ क्या की जा सकती हैं? अगर सभी शुभ चिन्तन करें तो दैवी और आसुरी शक्ति का भेद ही न रहे। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दैवी शक्ति जैसी है वैसी दानवी शक्ति भी है। शक्ति एक होने पर भी प्रयोग और प्रणाली में अन्तर है। दैवी शक्ति में सत्य है, शिव है, सुन्दर है परन्तु आसुरी शक्ति में इससे उल्टा है। उसमें ध्वंस की प्रधानता है, निर्माण की चिन्ताशक्ति वह नहीं है। निर्माण का चिन्तन ही ईश्वरीय चिन्तन है।

भारतीय साहित्य की मौलिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने पर तमाम विश्व दाँतों तले अँगुली दबाता है। यह जग-मानी बात है कि ऋग्वेद की रचना दुनिया में सर्वप्रथम रचना है। यह रचना किसने की, यह किसी को भी मालूम नहीं। लेकिन दूरदर्शी मनीषियों ने यह अपने दिव्य ज्ञान से मालूम कर लिया है कि यह रचना मानवी नहीं, बल्कि ईश्वरी है—ईश्वर के मुख से निकली है। इसीलिए आर्यों ने ऋग्, यजु और साम को ईश्वरी वाणी माना है। इस ज्ञान के प्रकाश के बाद से ही सत्य का आविर्भाव होता है। यही सत्य परम ब्रह्म परमात्मा है। इस सत्य की व्याख्या और ताकत की विवेचना जितनी भारतीय साहित्य में की गई है, शायद ही कहीं की गई हो। इसी सत्य से वेद-ज्ञान-का प्रकाश जग-मन में फैला है। वेदों के ज्ञान-विज्ञान की चर्चा करते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् श्री सम्पूर्णानन्द जी ने लिखा है—वेदों में हमारे समाज की बहुमूल्य सांस्कृतिक निधि मौजूद है। भगवद्गीता बड़ा ही उत्तम ग्रन्थ है। परन्तु इन दो मन्त्रों की, जो यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में आते हैं, व्याख्या के सिवा और क्या है? ईशावास्यमिदं सर्वं-यत्किंचित् तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्। कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे।"

आपका मत है कि सारी भगवद्गीता का सार इन्हीं दो श्लोकों में है तो फिर चार वेदों के विशाल ग्रन्थ की निधि की कल्पना की जा सकती है। उसी गीता की इज्जत सारे संसार में है और उसे सर्वोत्तम माना गया है।

सारे संस्कृत वाङमय से पता चलता है कि भारत कहाँ था और दुनिया कहाँ थी। वेद (ज्ञान) का प्रकाश फैला, उपनिषद् तथा दर्शन का प्रभाव पड़ा। उस समय दुनिया कहाँ थी, आज हम कहाँ हैं और जग कहाँ है?

पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों का काल चार हजार वर्ष पूर्व माना है। इसी को लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने १० हजार वर्ष माना है। डा० सम्पूर्णानन्द ने इनको भी शंका से परे नहीं रखा है। कारण सारा वाग्वितण्डा अनुमान के बल पर है। पाश्चात्य विद्वानों ने सारा विषय अनुमान के बल पर तय किया है। उन लोगों ने सत्य की खोज नहीं की । जो पाश्चात्य लेखकों ने लिखा है उसे सत्य मान लिया गया।

भारतीय संस्कृत वाङ्मय और खासकर बढ़ा तत्कालीन चिन्तन, उनका ज्ञान, उनकी मंगलमयी लोक-कल्याण कामनाएँ हैं कि सभी आनन्द से रहें। यह सुन्दर आशीर्वाद केवल एक ही व्यक्ति या जाति-विशेष के लिए नहीं है, उसमें समग्र विश्व शामिल है। इस कामना में एक परिवार-सा हृदय काम करता है। इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस हिरण्यगर्भ से

अर्धनारीश्वर, या कपिल मुनि की कल्पनानुसार पुरुष प्रकृति मनु और श्रद्धा के औरस से सारे संसार की रचना की कल्पना की गई है उसी के साथ इस वेद का भी जन्म हुआ होगा और तब ऋग्वेद इन लोगों के सन्निकट आया होगा।

हम कह आये हैं कि जिस समय संसार के निर्माण की कल्पना किसी ईश्वरी शक्ति ने की होगी उस समय एक पुरुष और एक प्रकृति यों दो पैदा हुए होंगे। उनकी जनसंख्या की वृद्धि से विश्व का फैलाव हुआ होगा और नाना द्वीप, देश, प्रान्त, जिले, नगर, गाँव बने होंगे। कर्मकार जातियाँ बनी होंगी केवल व्यवस्था की दृष्टि से——काले, गोरे आदि भेद का श्रेणी-विभाजन ईश्वर का तो कदापि नहीं है।

आज संसार में जो कुछ होता है वह केवल अज्ञान की निशानी है और जो उस पर नजर करते हैं और उसी को विश्व का ज्ञान मानते हैं, ज्ञान का अपमान करते हैं। ज्ञान कहीं भी यह नहीं कहता है कि एक बचे और बाकी तिल तिल कर मरें। लेकिन आज का पाश्चात्य साहित्य हमको यही सिखाता है। उसमें उदारता के उदात्त भाव नहीं हैं और विचार भी नहीं है। एक लेखक ने ठीक ही भाव व्यक्त किया है:——

स्वार्थ जीता है, प्रबल है,
समय चलता है, कामनाएँ भी चलती हैं, चला करती थीं।
परन्तु हाँ,
तब में और अब में अन्तर आ गया है।
कामनाएँ खिंच गई हैं।
द्वन्द्व चलता है, चला करता था,
साधुता और असाधुता में स्वार्थ में, किन्तु, तब
साधुता प्रबल थी, जीतती थी।
परन्तु आज,
असाधुता तगड़ी बन गई है।
साधुता हारी हा! गिर पड़ी है।
स्वार्थ जीता है, प्रबल है।

इस संसार में स्वार्थ का प्रभाव कब से हुआ है, इसका पता लगाना कठिन काम है; परन्तु इतना तो मान लेना पड़ेगा कि इसका जन्म भी मानव-जन्म के साथ ही हुआ है। प्रथम लोग ज्ञानी होते थे। वे इस स्वार्थ के वश में नहीं आते थे। सन्तोष से रहते थे।

मानव-जाति की उत्पत्ति हिमालय की तराई में हुई होगी। वहाँ से लोग चारों ओर फैलने लगे। योरोपीय द्वीपपुंजवाला मानव समाज धीरे धीरे अपना सब कुछ बदलकर विचरने लगा। नाना जंगलों को पार करके वे आगे बढ़ने लगे होंगे। उस समय आर्य सभ्यता की निगाह में वे सभी जानवर से थे। शायद इसी के बल से वहाँ के साहित्यिकों ने मानव की उत्पत्ति की कल्पना भालू और बनमानुष से की होगी; परन्तु यह ज्ञान कूपमण्डूक-सा है।

वे मानव बने, सभ्य बने, उनमें अधिकता थी, अहंमन्यता थी, वे लोभ, मद, मात्सर्य में डूबे थे। मोह-माया के दास थे, अतएव स्वार्थ-वशवर्त्ती होना मामूली बात थी। अपने पेट की चिन्ता प्रत्येक करता है। निमन्त्रण होता है, लेकिन अतिथि होटल में जाकर अपना अपना पैसा चुकाते हैं। यह सभ्यता भारतीय आर्यसंस्कृति के विरुद्ध है। यहाँ तो अतिथि को भगवान् माना जाता है। उसकी पूजा होती है। उसे उत्तम भोजन कराया जाता है। उससे कुछ पाने की आशा मेजबान कभी नहीं करता। ऐसा करना उसका अपमान है।

वे लोग कच्चा मांस खाते थे, बाद में भूनकर खाने लगे। जैसा खाद्य वैसा गुण। हमारे यहाँ के साधु-सन्त जंगल में रहते, जंगली पौधों के पत्ते खाते, जड़ों का रस चूसते थे। जन-जग-मंगल की कामना में दिन-रात निरत रहते थे। केवल सात्विक भावाभिषिक्त रहा करते थे। उनके यहाँ लोभ, मोह, माया और स्वार्थ का प्रवेश निषिद्ध था—-जाते तो भी ध्यानरत पाते। तुरन्त भगा दिये जाते थे।

फलस्वरूप वे और वैसी शिक्षा देनेवाले ज्ञानी जंगली बन गये। उनके साहित्य में जहाँ सभी की पहुँच नहीं थी, इससे मृत भाषावाला बन गया। स्वार्थरत लोग यही रटने लगे। सत्य को भूल, मृगमरीचिका के पीछे दौड़े और बह चले पश्चिमी प्रवाह में। उन्नत साहित्य का ढोल पीटा जाने लगा। सुन्दर साहित्य का सौन्दर्य बिखेरा जाने लगा। निर्मोहियों को मोहा जाने लगा, और ऐसा मोहा कि अन्धा बना दिया। लोग यहाँ तक कहने लगे कि अंग्रेजी भाषा को अगर छोड़ दें तो भारतीय मूर्ख रहेंगे। यह जाति जीवन की प्रथम सीढ़ी है, आदि, आदि।

मानव की बुद्धि विचित्र होती है, और कुछ आजकल देखादेखी अनुकरणीय बन गई है। भारत तो गत एक हजार साल से अपनापन खोकर दासता का जीवन यापन करने में ही मंगल समझता रहा है। नया पथ बने, उस पर पैदल हमीं पहले चलें, यह हिम्मत नहीं। मानो वे सब वेद के उपदेश को भूल गये। ऋग्वेद के अनुपम अभूतपूर्व ज्ञान को झूठी कल्पना समझने लगे। उसकी रचना का काल रचा जाता है। जिसकी कोई नींव नहीं है वही प्रमाणित माना जाता है। जिनमें आध्यात्मिकता की गन्ध नहीं है, वे उन अध्यात्मवादी मुनियों के परिधान की हँसी करने लगे। दैविक आराधना-रत ज्ञानियों के ज्ञान की खोज नहीं की गई, केवल भौतिक पदार्थ में डूबे लोग अपनी उन्नति का दम भरने लगे। झूठे ज्ञान को ही विज्ञान की आख्या दे विज्ञान की उन्नति की चरम सीमा मनवाने लगे। खासा इन्द्र का अखाड़ा बना और परियों का नाच शुरू हो गया। अकबर बादशाह के साथ सभी मुसाहिब परियों का नाच देख तालियाँ पीटने लगे। परन्तु यह कपोलकल्पित नाच है, यह होश नहीं रहा।

इन सब बातों पर हमें गौर करना है कि वास्तव में हम कहां थे और क्या हो गये हैं। यह आज की कल्पना नहीं। पीढ़ी दर पीढ़ी के चिन्तन का श्रीगणेश किया जा रहा है। अगर इससे जरा भी कोशिश की गई तो यह चिन्ता, वट की बरोहों सी, गंभीर गति करती चलेगी।

एक जमाना था सत्य युग का और दूसरा था त्रेता युग का। सत्य युग का विज्ञान-चिन्तन चरम सीमा तक पहुँच गया था। उस काल के ज्ञानी महापण्डित ऋषि-मुनियों की वाणी इतनी

तेज असिधार थी कि जो बोला जाता था वही होता था। 'ऐसा हो जा', बस फिर उसी क्षण वैसा होता था। उस अध्यात्म-शक्ति-पुंज का एकत्रीकरण कहीं भी देखने को नहीं मिलता। उसके बाद भी जब हम त्रेता युग में आते हैं तो भी उस अध्यात्म शक्ति की साधना और एकीकरण पाते हैं और अत्युत्तम रूप में। आज जिस विज्ञान की शक्ति से ध्रुव और चन्द्र तक जानेवाले वैज्ञानिक अपनी छाती ऊँची करके चलते हैं, उस समय आदमी आसानी से जा सकता था।

आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण में एक कथा है, तुलसीदास ने भी लिखा है—सीता जी चित्रकूट के जंगल में निवास करती थीं। एक दिन वे मन्दाकिनी नदी के किनारे एक शिला पर जा बैठीं। उनका सौन्दर्य देखकर इन्द्रपुत्र जयन्त काक का वेश बनाकर आया और उसने सीता के चरणों पर चोंच से आघात किया।

सीता चरण चोंच हति भागा।
मूढ़ मन्दमति कारण कागा।।

रामचन्द्र जी उसके इस काम को सहन नहीं कर सके। उन्होंने सींक का बाण बनाकर मारा। अब आगे आगे कौवा जयन्त, और पीछे पीछे बाण।

प्रेरित मन्त्र ब्रह्मशर धावा।
चला भाजि वायस भय पावा।
ब्रह्मधाम शिवपुर सब लोका।।

वह स्वर्ग, मर्त्य, पाताल तक गया। जहाँ जहाँ गया, बाण उसके पीछे था। अन्त में जयन्त आकर राम के चरणों पर गिर पड़ा। बाण आया पर उसने जयन्त को नहीं छुआ। वह राम की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा।

आज जिन राकेटों की चर्चा है, यहाँ उसके साथ क्या तुलना की जा सकती है? इसके साथ ही यह भी साबित है कि उत्तरी ध्रुव की ओर यहाँ के निवासी आसानी से जा सकते थे और इस आवा-जाही में यह अनुमान लगाया जाता है कि आर्य लोग उत्तरी ध्रुव की ओर से आये। अनुमान के बल पर ऋग्वेद जैसे अभूतपूर्व ग्रन्थ का भी काल निर्णय करने लगे जो कि उस आदि-पुरुष हिरण्यगर्भ से निकला। ऋग्वेद जैसे ग्रन्थों में ज्ञान की अभूतपूर्व चर्चा है। उसी से विश्व आज यहाँ तक पहुँचा है। उसके पहले तो कहीं कोई ग्रन्थ था ही नहीं। वही एकमात्र ज्ञानालोक पाने का साधन था।

किसी वस्तु को ठीक तौर से जानना विज्ञान है लेकिन छिद्रान्वेषण करना बुरा है। आजकल जितने भी ऐतिहासिक हुए हैं, छिद्रान्वेषी ज्यादा थे। किसी वस्तु को हेय दिखाना उनका काम था। उदाहरण लीजिए—भारत के विद्वान् वैज्ञानिक ऋषि-मुनि जंगली थे। राम बेवकूफ थे। इसी-लिए उनको दशरथ ने घर से निकाल दिया था—आदि आदि। लेकिन राम के हृदय के महत्त्व का अन्वेषण नहीं किया गया। उनको महान् आत्मवेत्ता, ब्रह्मज्ञानी ऋषि-मुनि भी क्यों पुरुषोत्तम

मानते थे? विश्व ने भी नमस्कार किया था। उनमें ऐसा कौन गुण उनके देखने में आया जिससे उन्हें भारत के सभी पुरुषों में श्रेष्ठ माना, भगवान् मानकर ईश्वरी अंश पाया? ऐसी कौन सी विद्या उनके पास थी कि एक सींक ने बाण बन कर जयन्त के पीछे स्वर्ग, मर्त्य, पाताल लोक में भ्रमण करके अपराधी को मालिक के चरणों में ला गिराया? उन्होंने ऐसा क्या सर्वोत्तम सर्वोच्च ज्ञान-भण्डार-पूर्ण हृदय पाया जिससे तुलसीदास ने उनके मुख से कहलाया है:—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।
बल विवेक दम परहित घोरे। छमा दया समता रजु जोरे।
ईश भजन सारथी सुजाना। विरति चर्म संतोष कृपाना।
दान परसु बुधि शक्ति प्रचण्डा। बर विज्ञान कठिन कोदण्डा।
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।
कवच अभेद बिप्र-गुर-पूजा। यहि सम विजय उपाय न दूजा।
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीतन कहुँ न कतहुँ रिपु ताके।

क्या लक्ष्मण साथ नहीं थे? सब कुछ था और सभी थे। लेकिन मानवोचित चिन्तन, व्यवहार, प्रेम और जग-निर्माण करने तथा लय करने की क्षमता जितनी राम में थी उतनी किसी में नहीं थी। न बातों की किसी ने भी खोज की? नहीं की। लिखा——राम जंगली थे, नालायक थे और मजा यह है कि भारतीय उस साहित्य को पढ़ते हैं। उस भाषा को विज्ञान की सर्वश्रेष्ठ भाषा मानते हैं। यह क्या ज्ञानी के लक्षण हैं? कितने बड़े परिताप की बात है कि जिस महा-पुरुष के चरित्र को संसार के प्राणी अपना बन्धु, अपना हितू मानते हों उस महामानव को जंगली कहा जाय? उसके दिल की, दिमाग की खोज नहीं की गई। यह विज्ञानी के माने कदापि नहीं हैं। वह भाषा दुनिया की सर्वोत्तम भाषा कदापि बन नहीं सकती। जिसमें स्वार्थपूर्ण बातें भरी हों, जिसमें मानव को दलन करके कुछ आदमियों की स्वार्थसिद्धि की पूर्ति का उपाय बतलाया हो वह सर्वमं .लमय भावों की अभिव्यक्ति करानेवाला सर्वोत्तम साहित्य कदापि नहीं है। लोग आज मृगमरीचिका के पीछे बावले हो रहे हैं। सावधान होने की जरूरत है।

आज का साहित्य सांसारिक विषयों में जितना लोगों को रत रखता है उतना आत्मचिन्तन की ओर ध्यान कम ले जाने देता है। फलस्वरूप लोग सांसारिक विषयों के प्रति ज्ञान तो रखते हैं लेकिन वास्तविक अध्यात्म-वेत्ताओं की चिन्ताजनित अनुपम ज्ञानशक्ति, जमीन-आसमान को एक कर देनेवाले चिन्तन तक नहीं जाते। यह भान करानेवाली शक्ति अध्यात्म, अधिदैव और आधिभौतिक का संमिश्रण या सम्मेलन ही ज्ञान की चरम सीमा है। इस ओर भूलकर भी लोग मन या बुद्धि को नहीं लगा पाते। वास्तव में जो ज्ञान के अधिकारी माने जाते थे उनको ये तीनों बातें मालूम थीं और उनको इनका तत्त्व भी मालूम था। उसकी शक्ति के वे अधिकारी बन गये थे। यही कारण है कि सारा विश्व उनके करतल में था और वे लय के अधिकारी थे और जन्म के भी कारण-स्वरूप थे। एक चुल्लू में पानी ले लेने के बाद स्वर्ग, मर्त्य, पाताल की राजसत्ता में

यह ताकत नहीं थी कि उस रोष को रोके। आत्मसमर्पण के सिवा दूसरा चारा ही नजर नहीं आता था। जिसको जो जो दण्ड वे दिया करते, नतशिर हो स्वीकार करना पड़ता और प्रार्थना करने के बाद मुक्ति का जो उपाय बतलाया करते उनके लिए वही करणीय हुआ करता। यह घटना आज की नहीं है, इसलिए हम इसको यों ही नहीं उड़ा सकते। भारतीय ज्ञानधारा जिस समय उत्तालतरंगित हो अन्तर्वेगवती प्रवाहित होती थी, सारी घटना और कहानियाँ उसी समय की हैं।

एक जमाना था वह जब हिमालय गिरि और विन्ध्य गिरि उस आत्मचिन्तन, आत्मज्ञान और आत्मशक्ति-संचय का केन्द्र स्थान था। इनको विद्या के पीठ भी कह सकते हैं। जितने भी ज्ञानी-विज्ञानी, ऋषि-मुनि हुए हैं, यहीं से उन्होंने अध्यात्मवाद को पहचाना है, अधिदैवत्व को जाना है और यहीं से आधिभौतिक का उत्तम ज्ञान लाभ किया था और स्वर्ग, मर्त्य, पाताल को एक करने का विज्ञान प्राप्त किया था, शक्ति पाई थी।

आज का पाश्चात्य साहित्य केवल भौतिक-चिन्तन करके अपनी ताकत का ढोल तो पीटता है परन्तु बाकी और भी दो अपूर्व शक्तियों के अधिकार का उसे ज्ञान नहीं हैं, जिनके सामने यह भौतिक ताकत कुछ भी नहीं है। पाश्चात्य वैज्ञानिक ने अपने को भौतिक विषयों के ज्ञान में इतना लिप्त कर रखा है कि उधर ध्यान ही नहीं जाता। आज भौतिक पदार्थ से कितनी शक्ति संचित हो सकती है, इसकी होड़ लगी है और विज्ञान की यही चरम सीमा समझी जा रही है। वशिष्ठ की एक हुंकार में क्या शक्ति थी, इसका अध्ययन करने की न तो लालसा है, न इच्छा ही और न उतना श्रम करने की शक्ति या साहस ही।

आज एकान्त में पन्द्रह मिनिट बैठना मुश्किल हो जाता है जब कि उस समय लोग वर्षों एक ही आसन पर बैठकर तत्त्व की खोज में और प्राप्त करने में बिता दिया करते थे। खान-पान की चिन्ता गौण समझी जाती थी। प्राण-अपान वायु को एकीकरण करके लोग मल-मूत्र की क्रिया को भी रोक करके आसन पर बैठ जाते सो बैठ जाते। आज इस क्रिया को रोकना बड़ी टेढ़ी खीर है, हालाँकि भारतीय योगशास्त्र ने इसे आसान बतलाया है। और किस प्रकार क्या क्या किया जा सकता है, इसका मार्ग दिखलाया है, उसके लाभ बतलाये हैं। सफलता के बाद उसको क्या क्या कहा जाता था, यह भी बतलाया है। श्रेणी-विभाजन कर दिया है कि अमुक योगी युक्त योगी कहलायेगा और अमुक युंजान योगी कहलायेगा। इस विभाजन में विष्णु को युक्त योगी माना गया है। कारण, उनका ज्ञान नित्य प्रवर्तमान ज्ञान है। संसार में कहाँ क्या होता है, वे जानते थे, देखते थे। युंजान योगी का अधिकारी महादेव को माना गया है। इसलिए उन्होंने ध्यान लगाने के बाद सती का सीता-रूप धारण करना जान लिया था। उनको इस काम के लिए ध्यान लगाना पड़ा था।

इन्हीं सब कारणों से इन तीन देवों—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—को सारी दुनिया का शासक माना गया है। निर्माण विभाग ब्रह्मा के अधीन है, पालन-पोषण करना विष्णु के और दण्ड देना आदि अदालती काम महादेव के। यह सर्वसम्मत विधान था और है। सारी दुनिया में यही नियम जारी है। रहन-सहन, हवा-पानी, ध्वनि आदि के कारण नामों में विभिन्नता है। ये बातें

कपोलकल्पित नहीं हैं। इन बातों को झूठा जानने के पहले विद्वानों को वहाँ जाना होगा जहाँ मानव के जन्म का श्रीगणेश हुआ और वह ठीक तौर से सोचने-समझने लग गया होगा। आज की यह दुनिया कुछ मिनिट, कुछ घण्टों की रही होगी और अगर हम इसको न भी मानें तो मानना होगा कि भारत की आर्य संस्कृति दुनिया में सर्वोत्तम विधि-बन्ध था। यह सभी स्वीकार कर चुके हैं कि ऋग्वेद का आविर्भाव दुनिया के साहित्य से बहुत प्रथम का है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में साहित्य के साथ ये सारे विषय अंगांगी भाव से जुड़े हैं। इनको कभी छोड़ा नहीं जा सकता। इनको छोड़ना साहित्य के अंग का छेदन करना होगा।

इन सारी बातों का अगर भारतीय भावधारा में ओतप्रोत होकर गहराई के साथ मनन किया जाय तो सारा विषय एक के बाद एक स्वच्छ शुक्लाम्बरधारी-सा सामने आ जायगा। परन्तु इसको तो पाश्चात्य ऐतिहासिक विद्वानों के झूठे तर्क के बल कसौटी पर रगड़ा जायगा ? और इसमें इतनी बड़ी चमक आयेगी कि सत्य नहीं सूझेगा, अँधेरा ही अँधेरा नजर आयगा—जहाँ केवल झूठ है, शक का रूप है।

ऊपर हमने कहा है कि राम के हृदय का अध्ययन करने की कोशिश किसी विद्वान् ने नहीं की है। यह बात केवल राम के संबंध की नहीं है। किसी भी भारतीय महामानव के दिल की थाह उन लोगों को नहीं मिली है। उनके ज्ञान का अध्ययन नहीं किया गया। उनके, जंगलों के रहन-सहन को नहीं समझा है। विन्ध्य-हिमालय के विद्यापीठ से जो ज्ञान उन्होंनें प्राप्त किया था उसकी उन लोगों को कल्पना तक नहीं है। उल्टे अपने अज्ञान को छिपाने के लिए राम के पुरुषोत्तमत्व पर छींटाकशी की गई है। जंगली भिखारी कहकर विनोद का विषय बनाया गया है। भारतीय भी उसे पढ़ते हैं, खुश होते हैं। वे भूल गये हैं कि जिन विषयों को भारतीय साहित्य-निर्माताओं ने नीरस, निर्जीव कहकर फेंक दिया था आज उसी को सरस समझकर चिचोरा जाता है। जिन ज्ञानियों की एक कौपीन पर सारा राजपाट निछावर होता था आज उन्हीं की सन्तानें रोटी के टुकड़ों के लिए खीसें निकालती फिरती हैं।

रोटी ने उनको भुला दिया है कि हम क्या हैं और क्या थे, हमारे साहित्य की सीख क्या थी? उसका लक्ष्य क्या था ? तब क्या सोचने के लिए साहित्य मजबूर करता था और अब क्या कहता और करता है? कोई भी भला इधर कुछ सोचता है कि भारतीय संस्कृति जो आदर्श सामने रखती आती है वह मानव-मंगलमय है या आज जो पाश्चात्य संस्कृति हमें बतला रही है कि प्रथम आनन्दमय जीवन-यापन करो, जो ऐसा नहीं हो सकता वह कुछ भी नहीं कर सकता। और अगर यही सर्वोत्तम है तो हमें सोचना है कि हम सर्वोत्तम पथ को अविलम्ब प्राप्त कर लें।

भारत में आज १६ भाषाएँ प्रसिद्ध हैं। सभी का मूल उद्देश्य एक है। सभी भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत हैं। अगर अपनी पुरानी परंपरा को विस्मरण करके ज्ञान-विज्ञान का ढोल पीटते मृगमरीचिका के पीछे दौड़ा गया तो मंगल कभी नहीं होगा। इसलिए जरूरत है उस सत्य-युग, त्रेता, द्वापर की संस्कृति का आहरण करने की। यह कोई अलभ्य वस्तु नहीं है। जब कि एक

बार मानवों ने उसे प्राप्त किया है तो फिर भी प्राप्त किया जा सकता है; परन्तु पथ साफ करना होगा——सुन्दर पथ निर्माण करना होगा। उसके लायक चिन्तन करना होगा।

मानव-चरित्र की सुन्दर अभिव्यक्ति और अनुभूति का संग्रह ही साहित्य है। इसलिए कहा गया है कि साहित्य जाति को उन्नति के शिखर पर चढ़ा सकता है और गिरा भी सकता है। आज जरूरत है उन्नति के शिखर पर ले जानेवाले साहित्य के निर्माण की। केवल दूसरों के सरगम पर ताली पीटना बुद्धिजीवी का लक्ष्य नहीं है। इसमें शक नहीं कि अगर भारतीय साहित्य का एक संघ शुद्ध चिन्तन करे और एकलव्य के समान किसी भी वस्तु-विज्ञान को अपने ज्ञान का गुरु मान ले तो साधना की सफलता अनिवार्य होगी। कारण भारतीय परम्परा यही बतलाती है कि जितने भी ऋषि-मुनि हुए हैं, अपने बाहुबल से ही हुए हैं। उनको स्थान मिला करता था, गुरुओं का सत्संग मिलता था। इशारा मिलता था कि इस रास्ते पर चलते जाओ——जिसको खोजते हो, समय पर अवश्य मिलेगा। और अन्त में मिला भी है। इसलिए अमुक इतना विद्वान् है, ज्ञानी है, उत्तम है—— का ढोल पीटना बन्द होना चाहिए और साधना के बल पर चलना चाहिए। उस पर और अपने पर विश्वास करना चाहिए। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा——'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' कर्म करो, कर्म करना मानव का धर्म होना चाहिए। फल की आशा न कर केवल कर्म करते चलो। कर्म का फल कभी असफल नहीं जाता है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का मूल उद्देश्य यही है। इसी उद्देश्य को सामने रखकर उत्कल के साथ संबंधित सम्पृक्त संश्लिष्ट सभी विषयों की चर्चा की है। अगर इसी प्रकार सभी प्रान्त राष्ट्रभाषा में अपनी अपनी रुचि और उपलब्ध साहित्यिक सामग्री एकत्रित करके एक ग्रन्थाकार में प्रकाशित करने की अभिलाषा रखें तो यह उद्यम भारतीय भाषा-साहित्य-भण्डार में एक अमूल्य वस्तु माना जायगा।

जहाँ तक हो सका है, इस संग्रह में कोई विषय नहीं छोड़ा गया है। इसकी उपयोगिता और आवश्यकता अगर आगे अनुभव कर सके तो यह एक बड़ा भारी काम होगा और शुद्ध स्वाधीन चिन्तन होगा। यह एक प्रकार का स्वचिन्तित उद्यम है। अपने में आत्मबल होना चाहिए। दूसरे की ओर देखने से 'दूर का ढोल सुहावना होता है' वाली कहावत ही हाथ लगती है। उससे न तो अपना कल्याण होता है, न दूसरे का, उल्टे हानि होती है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, आत्मविचार मात्र है। तर्क की कसौटी पर कसने और बाल की खाल निकालने के लिए नहीं है।

जय हिन्द!

अनसूयाप्रसाद पाठक

उत्कल में राष्ट्रभाषा-प्रचार का विकास-क्रम

पं० अनसूयाप्रसाद पाठक

उत्कल में राष्ट्रभाषा के प्रचार और प्रसार का श्रेय उत्कल प्रांतीय 'राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा' को है। पिछले कई दशकों के अनवरत परिश्रम और अध्यवसाय के फलस्वरूप उक्त सभा ने हिंदी-प्रचार के व्यापक अभियान में जो योगदान दिया है वह काल की परतों और विस्मृति के गर्भ में दब नहीं सकता। त्याग, तपस्या और अदम्य उत्साह के बल अपनी निरंतर साधना में लीन उन चिरस्मरणीय व्यक्तियों की प्रेरणादायक कहानी के साथ ही सभा का रोमांचकारी इतिहास जुड़ा है जिन्होंने आरंभ से लेकर आज तक अपनी अमूल्य सेवाओं से उसे प्रगति दी है। अतएव उत्कल में राष्ट्रभाषा के विकास-क्रम की पृष्ठभूमि में सभा और उसके उत्साही सदस्यों से संबंधित घटनाओं आदि का विवरण उपस्थित कर देना विषय के बाहर न होगा।

राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा का परिचयात्मक इतिहास प्रस्तुत करने के पूर्व मेरा ध्यान बरबस उन प्रारंभिक पृष्ठों की ओर चला जाता है जिनका संबंध मुझ अकिंचन से है और जिसे उपस्थित करते हुए मुझे संकोच के बजाय प्रसन्नता ही होती है। सभा के बचपन के साथ जुड़ी हुई इन स्मृतियों को प्रकट करने का मोह मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। अतः उन स्मृतियों के साथ सभा के निर्माण, प्रवर्द्धन और विकास के ऐतिहासिक तथ्यों का मूल्यांकन मैं उन पाठकों पर छोड़ दे रहा हूँ जो उत्कल में राष्ट्रभाषा-प्रचार के विकास-क्रम को जान लेना चाहते हैं। उस पुरानी स्मृति की कहानी इस प्रकार है।

मैं १७ नवंबर १९३१ के सुबह सात बजे, पुरी एक्सप्रेस से, पुरी स्टेशन पर पहले-पहल उतरा और सीधे स्वागत-समिति के कार्यालय की ओर चल पड़ा। मैं इस स्थान से सर्वथा अपरिचित अनजान था। उत्कल की ओड़िया-भाषा भी नहीं जानता था। खैर, पूछते-पाछते स्वागत-समिति के कार्यालय में पहुँचा। कार्यालय के एक व्यक्ति से झट हिंदी में पूछ बैठा—श्रीयुत गोपबंधु जी चौधरी कहाँ हैं? उनके नाम का एक पत्र है। मैं कलकत्ते से आया हूँ। श्री सीताराम जी सेकसरिया तथा बसंतलाल जी मुरारका ने भेजा है। संग्राम के एक खद्दरधारी सैनिक ने कहा 'हाँ हैं।' वह मुझे गोपबाबू के पास ऊपर ले गया। पहुँचते ही देखा—उघरी देह, खद्दर की ६, ७ हाथ वाली धोती पहने, चटाई पर बैठे गोपबाबू पत्र लिख रहे हैं। मैंने पत्र दिया। पढ़कर उन्होंने स्नेह-भरी आँखों से मेरी ओर देखा और मुस्करा कर पूछा—तो आप हिंदी सिखाने के लिए आये हैं? फिर उस स्वयंसेवक से कहा—इन्हें ले जाओ, ऊपर वाली उस कोठरी में ठहरा दो।

मैं रहने लगा। पुरी शहर मेरे लिए नया ही था और वातावरण एकदम अजनबी।

वहाँ मुरारि त्रिपाठी सर्वप्रथम मेरे पण्डा बने। उन्हीं की कृपा से मैंने जगन्नाथ जी की मूर्ति के समीप जाकर पैर छुए जिसके लिए हजारों का सौदा हुआ करता है। उनका साथ मेरे लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ। उन्हीं से सुना—गोपबंधु स्वागत-समिति के प्रधान मंत्री हैं। ओड़िशा में कांग्रेस महासभा का जो अधिवेशन होनेवाला है, उसका सारा काम हिंदी में होगा, अंग्रेजी में नहीं—गोपबाबू की यही आंतरिक कामना है। इसीलिए स्वयंसेवकों को हिंदी सिखाई जा रही है। कम से कम वे लोग इतना तो अवश्य ही सीख लें कि काम पड़ने पर उचित निदर्शन कर सकें और उसके लिए उन्हें अंग्रेजी की शरण न लेनी पड़े। त्रिपाठी जी की इन बातों से मुझे अपने उत्तरदायित्व और कर्तव्य की गंभीरता का अनुमान सहज ही में हो गया। साथ ही गोपबाबू की हिंदी-निष्ठा ने मुझे नई प्रेरणाओं और महत्त्वाकांक्षाओं से भर दिया।

दूसरे दिन सायंकाल गोपबाबू ने बुलाया। वे मानो मंत्रपूत शब्दावलियों में कहने लगे—पुरी कांग्रेस पर ही भारत की स्वाधीनता निर्भर है। यहीं पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति होगी। इसलिए मेरी इच्छा है कि राष्ट्रभाषा हिंदी में ही लोग बोलें, लिखें और समझें। कम से कम बातचीत में हम अंग्रेजी की दासता से तो मुक्त रहें। यह कितनी लज्जा की बात है कि हम चले हैं स्वराज्य लेने किंतु पास कोई अपनी भाषा नहीं। हम लोग अंग्रेजी बोलते हैं। विदेशी भाषा में सोचनेवालों के लिए देश की स्वतंत्रता से क्या लाभ? यह स्वराज्य नहीं गुलामी है, गुलामी। इस प्रकार लगभग १५ मिनट तक वे बोलते रहे। मुझे लगा कि स्वतंत्र भारत के लिए वे हिंदी को ही उपयुक्त समझते हैं। अब तक मैं भाषा के इस महत्त्वपूर्ण पद से अनभिज्ञ था। स्वाधीनता-संग्राम में अभी नया रंगरूट भरती हुआ था। उनके शब्दों में जादू था। मुझमें अपूर्व शक्ति, ओज और उत्साह भर गया। मैं राष्ट्रभाषा के प्रेमी-प्रचारक के नाते ओड़िशा नहीं आया था। यहाँ आने का मेरा एकमात्र उद्देश्य पुरी-कांग्रेस को देखना था। सोचा था कि हिंदी सिखाने के बहाने सुविधापूर्वक कांग्रेस का अधिवेशन देख सकूँगा। किंतु गोपबाबू के इन गंभीर और ओजस्वी शब्दों ने मुझे कुछ और ही सोचने को बाध्य कर दिया।

मुझे अपने कर्तव्य-पालन का आदेश मिला। कांग्रेस के सेवा दल के स्वयंसेवक हिंदी सीखने लगे। वह दृश्य ही अपूर्व था। स्वाधीनता के लिए अपने प्राणों की बलि देनेवाले सपूतों का वह जमघट, जिसमें राष्ट्रीयता का उन्माद छाया हुआ था, राष्ट्रभाषा-ज्ञान के लिए अथक परिश्रम करने लगा। हिंदी का राष्ट्रीय गगन गानों की ध्वनि से गूँजने लगा। भाषणों, आदेशों और लिखित कार्य-वाहियों के द्वारा राष्ट्रभाषा की नींव में कितना प्रेम डाला जा रहा था, यह अनुमान करने की बात है। हिंदी के प्रति प्रेम, उत्साह और सीखने की लगन अनुपम थी। तिरंगे झंडे के नीचे एक ध्येय और एक भाषा के संयोग ने बलिदानियों को एक सूत्र में लाने की अपूर्व क्षमता प्रदान की थी।

एक दिन, शाम के समय, सहसा श्री गोपबंधु जी चौधरी ने सबसे कहा—गांधी जी गोलमेज कान्फ्रेंस से असफल होकर लौट रहे हैं, नेहरू जी नजरबंद कर लिये गये हैं। ऐसा लगता है कि लड़ाई छिड़ गई है। यह कांग्रेस अब नहीं होगी। जिन्हें अपने घर जाना हो, वे रुपये

लेकर जायँ और जो राष्ट्रीय संग्राम में सम्मिलित होना चाहें, जेल की हवा खाने को तैयार हो जायँ।

उस समय जेल जाना गौरव की बात थी। गोपबाबू के ओजपूर्ण कथन का प्रभाव था। मैं स्वतंत्रता संग्राम में सहर्ष सम्मिलित होकर जेल जाने को तैयार हो गया। इसी के निमित्त पुरी से कटक आया और उसी दिन शाम को, काठजोड़ी नदी की रेती में, लगभग पचास व्यक्तियों के साथ मैं भी गिरफ्तार कर लिया गया। ६ महीने की सजा हुई। ७ दिन कटक जेल में रहने के पश्चात् पटना कैंप जेल भेज दिया गया। वहाँ ७ हजार के लगभग राजबंदी थे जिनमें तीन हजार उत्कली भाई थे। बड़ा ही जोश और उत्साह था सबमें। सौ की संख्या में बालक भी थे जो बानरी सेना के नाम से संबोधित किये जाते थे। जेल में वे बंदर का सा ही आचरण करते थे। इनको शासन के अधीन लाने में जेल-अधिकारियों के सारे प्रयत्न विफल हो चुके थे।

जाड़े के दिन थे। कुछ लोग दौड़ लगा रहे थे, कुछ कवायद कर रहे थे और कुछ बैठे गप्पें मार रहे थे। मैं आसमान से गिरकर खजूर में अटका था। गोपबाबू की प्रेरणाएँ जब-तब हृदय में लहर मार जाती थीं। राष्ट्रभाषा के प्रति निष्ठा और कर्तव्य का जो पाठ उनसे मिला था उसको कार्य रूप में परिणत करने का अवसर वहाँ था। बार-बार यही सोच रहा था कि हिंदी के लिए यहाँ क्या किया जा सकता है। कोई साधन भी तो नहीं है। इसी उधेड़-बुन में जमीन पर आसन मारे मैं लकड़ी से जमीन खरोंच रहा था। एकाएक मेरा ध्यान जमीन पर खरोंची हुई रेखा की ओर गया, जो हिंदी के 'अ' अक्षर के समान बन गई थी। यद्यपि मैं कभी किसी उलझन में डूबता हूँ तो हाथ या किसी चीज से भूमि कुरेदने और रेखाएँ खींचने लगता हूँ; किंतु उस दिन की रेखा का वह आक्षरिक रूप मेरी उलझनों का साकार हल बन गया। इस खरोंच से मेरे मन में दो भावनाएँ जागीं। एक तो यही कि जमीन पर हिंदी वर्णमाला सिखाई जा सकती है और दूसरी यह कि यदि हिंदी की सभी मात्राएँ ऊपर-नीचे न लगाकर दाहिनी ओर लगाई जायँ तो हिंदी भी अंग्रेजी की भाँति लिखी जा सकती है।

मैंने जेल में दोनों कार्य आरंभ कर दिये। घास छीलकर जमीन को चिकना और समतल बनाया। फिर उससे पाटी और बबूल की दातौन से लेखनी का काम लेते हुए मैंने सर्वप्रथम दो सज्जनों को हिंदी का अ, आ, इ, ई लिखना बताया। थोड़े समय में यह एक व्यापक कार्य बन गया। एक रोज जेल के सुपरिन्टेन्डेंट साहब ने भी इस तमाशे को देखा। यह देख उन्होंने कहा— मैं जेल की ओर से कागज, पेन्सिल और स्लेट-पट्टी दूँगा। इन बच्चों को पढ़ने के काम में लगाओ। बात पक्की हो गई। लगभग १५०० सज्जन हिंदी सीखने लगे। वे लोग बहुत प्रसन्न थे। मुझे भी खुशी थी। और बानरी सेना के बालक भी इस काम में लगे रहने के कारण उत्पात से विमुख होते जा रहे थे।

पटना कैम्प जेल में जितने उत्कलवासी सज्जन थे, सभी ने हिंदी लिखना-पढ़ना सीखा। राष्ट्रभाषा सीखने की यह लगन स्वराज्य प्राप्त करने के उत्साह से कम महत्त्व की नहीं थी।

इस प्रकार ६ मास की सजा चुटकी बजाते बीत गई। जेल से बाहर आने के बाद चलने-

फिरने में भी एक प्रकार की अशान्ति सी मालूम होती थी। भारत के जनसाधारण में मुर्दनी सी छाई हुई थी। मैं मित्रों के साथ कटक पहुँचा। विचित्र हाल था। फरवरी-मार्च के महीने में काठजोड़ी ने हम लोगों को अपनी सिकता-शय्या में स्थान दिया; क्योंकि खुले आम हमें रक्षण प्रदान कर सरकार के कोपभाजन बनने की विपत्ति कौन मोल लेता? अस्तु, कांग्रेस की भावी सफलता और पलायन की कामना लेकर हम लोग वहीं रहने लगे। नौकरशाही सरकार के कठिन आदेशों के कारण संबंधियों और परिवारवालों से मिलना भी पाप था। इसलिए अवसर पाकर भाई-भाई, पिता-पुत्र छिपकर मिलते और बातें करते।

वास्तव में काठजोड़ी ही ऐसी उदार मिली जिसने हमें खुलकर आश्रय दिया। दिन भर की कठिनाइयों और परेशानियों से निबटने के बाद वह हमें अपनी सैकत शय्या पर थपकियाँ दे-देकर सुलाती, फिर पौ फूटने तक हम लोग निद्रा देवी के स्निग्ध-अंचल में डूबे रहते। उठने पर उसी विस्तृत रेती पर राष्ट्रभाषा की कथाएँ आरंभ होतीं जहाँ तर्जनी की कलम से सैकत पट्ट पर अक्षर लिखे और सिखाये जाते थे।

मैं निरंतर ऐसे जीवन से ऊब रहा था, और उत्कल छोड़कर जाने को सोच रहा था कि श्रीयुत हरेकृष्ण महताब जी जेल से छूटकर कटक आये। ओड़िशा छोड़ने की बात उनके सामने रखी। उन्होंने पूछा—"आप डर तो नहीं गये हैं?" मैंने झट उत्तर दिया—"नहीं, डरूँगा क्यों?" "तो यहीं डटे रहो, और लोगों को राष्ट्रभाषा सिखाना जारी रक्खो।" सेनापति का यह आदेश मिल गया। अब तो जाने में बुजदिली थी। अतएव लाख संकट झेलकर जमे रहने का मैंन दृढ़ निश्चय किया।

हम लोग नित्य भोजन के लिए श्री राधामोहन जी महापात्र के घर जाते थे। लगभग ६० आदमियों को छिपछिप कर भोजन कराते थे। मैं थोड़े ही दिनों में श्री राधामोहन जी महापात्र की फूस की झोपड़ी में रहने लगा। इस प्रकार रोटी और आश्रय की चिंता मिट गई। कपड़ों की परवाह थी नहीं, काम चलाने भर को काफी थे। उस समय की दयनीय स्थितियाँ आज भी जब-तब आँखों के सामने नाचने लगती हैं। यदि मैं राधामोहन महापात्र की कृपापूर्ण सेवा-भावना और देशभक्ति को भुला दूँ तो मुझसे बढ़कर अविनीत और कौन होगा। विशेषकर उनकी श्रद्धेय माता के उपकारों का स्मरण कर मेरा सिर श्रद्धा और विनय से झुक जाता है। मैं लगातार डेढ़ वर्ष तक उनकी उस झोपड़ी में रहा जहाँ वे नित्य ही मुझे प्रेमपूर्वक भोजन कराया करती थीं। उन्होंने कई महीनों तक दूध और पीठे खिलाये थे। मैं जिस झोपड़ी में रहता वह आज भी वहीं है। लेकिन जहाँ राष्ट्रभाषा पढ़ाया करता था उस झोपड़ी के स्थान पर दो-मंजिली पक्की कोठी बन गई है।

अब राष्ट्रभाषा का काम बढ़ गया था। घूम-घूमकर घर-घर पढ़ाना नित्य का काम था। पढ़नेवालों में अधिक संख्या महिलाओं की थी। लोगों में बड़ा उत्साह था। जहाँ-जहाँ जाता, स्नेह पाता, जलपान पाता, यश पाता, सहानुभूति पाता, और लोगों की श्रद्धा। देश-कार्य के नाते मैं अपने उस काम को अत्यंत पुनीत मानने लगा था।

विश्वास बढ़ने लगा। मेरा सारा समय हिंदी-शिक्षा में ही व्यतीत होता था। जहाँ-जहाँ इस उद्देश्य से जाता वहाँ एक विचित्र प्रकार की राष्ट्रीय भावना खेल जाती। प्रायः लोगों के मनोरंजनार्थ अपने जेल के अनुभव सुनाता और लोगों को कांग्रेस की प्रतिष्ठा, खद्दर की महत्ता सुनाता। यह काम गुलाब की सुगंधि की भाँति फैलने लगा था। पीछे पुलिस रहती थी, परन्तु अब मैं केवल शुद्ध रूप से राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचारक था।

मार्च सन् १९३३ में मैंने हिंदी के स्थायी प्रचार के लिए एक संस्था बनाने का विचार किया। मैंने अपनी इस कल्पना की चर्चा कई सज्जनों से की। उन लोगों ने सहानुभूतिपूर्वक अपने विचार दिये। कुछ व्यक्तियों ने इस कल्पना को साकार रूप प्रदान करने के लिए अपने नाम भी दिये। वे नाम थे स्वामी विचित्रानन्द दास वकील और श्री राधानाथ रथ जी। शेष तो अभी जेल में ही थे।

समिति बनाने की कल्पना जब मैंने रथ जी के समक्ष रक्खी तो वे मुझे लेकर स्वामी जी के पास गये। स्वामी जी ने सभापति बनना स्वीकार कर लिया। श्री राधानाथ रथ उसके मंत्री बन गये तथा ५, ७ आदमी और लेकर संस्था खड़ी कर दी गई। सभा बन गई। नाम रखा गया "उत्कल प्रांतीय हिंदी-प्रचार सभा।" कुछ दिन के बाद सभा का उत्सव मनाया गया। उसका उद्घाटन समारोह श्रद्धेय जानकीनाथ बोस के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। कल्पना साकार हुई। सभा बन गई, और उसके कागज-पत्र रखने के लिए श्री राधामोहन जी ने अपनी देवदारु की बनी आलमारी दी जो आज भी सभा के बचपन की याद में स्मारक का काम कर रही है।

उस समय सभा उसी आलमारी तक सीमित थी, उसके लिए घर की अलग चिंता थी। पैसा तो पास था नहीं। किसी प्रकार एक टूटा-फूटा दोतल्ला घर मिला जिसमें पहले मनुष्य नहीं, प्रेत बसते हैं। ऐसा कह कर मुझे डराया गया था।

इसी समय हरिजन आन्दोलन आरम्भ हो गया। जेल से छूटकर श्री गोपबन्धु जी चौधरी हरिजन-कार्य में लगे थे। श्रीमती रमादेवी चौधरी भी उन्हीं के साथ थीं। उन्हीं को सबसे पहले सभा का कोषाध्यक्ष बनाया गया और उन्हीं से तीस-चालीस रुपये लेकर घर की मरम्मत कराई गई। कार्यालय वहीं खुल गया। कक्षाएँ भी वहीं चलने लगीं। परन्तु घर-घर घूमकर क्लास चलाने और भोजन करने का काम यथावत् रहा।

क्रमशः पठन-पाठन का काम बढ़ने लगा। वहाँ पढ़ने के लिए कांग्रेस स्वयंसेवकों के अतिरिक्त साधारण नागरिक भी आने लगे। उस समय भी मैं केवल पंडित जी था। नाम की जरूरत नहीं थी। किसी ने मुझसे नाम पूछा ही नहीं। मुझे लोगों की, विशेषकर हिंदी सीखनेवालों की उदारता, सहृदयता और स्नेहपूर्ण सहानुभूति मिली जो राष्ट्रभाषा के लिए अनुपम वरदान सिद्ध हुई। उन्हीं लोगों के प्रयत्न से मैंने किराये पर एक घर लिया और उस पर राष्ट्रभाषा का बोर्ड लगा दिया।

सभा को नाम-रूप तो मिल गया, किंतु अर्थ न था। भोजन के लिए कई घर थे। मैं कोई

गैर हूँ—ऐसा मुझे आभास तक नहीं हुआ। माताओं और बहनों की निगाहें मेरे प्रति हमेशा पूर्ण सहानुभूति की होती थीं।

१९३४ का साल आया। हिंदी के अध्यापन और प्रचार के फलस्वरूप उस साल हिंदी साहित्य-सम्मेलन की परीक्षा में ७ परीक्षार्थी बैठे। इधर हरिजन-कार्य के लिए महात्मा गांधी उत्कल आये। पुरी में उनके पथ-प्रदर्शन से नया उत्साह आ गया था। उनका काम तो सदा ऐतिहासिक होता था। उन्होंने पैदल भ्रमण आरंभ किया और इसका नाम रक्खा "हरिजन-पद-यात्रा।"

गांधी जी की हरिजन-पदयात्रा का समाचार पाकर मैंने उनसे मिलने का निश्चय किया और चल पड़ा। मैंने यह यात्रा दो उद्देश्यों से की थी। एक तो उन्हें सभा की आर्थिक दशा का परिचय कराना था, दूसरा गांधी जी के द्वारा परीक्षा में उत्तीर्ण परीक्षार्थियों को प्रमाणपत्र और पुरस्कार दिलाना था।

उस दिन सबेरे ९ बजे गांधी जी का पुरी के पश्चात् प्रथम पड़ाव साक्षी-गोपाल में था। मैं वहीं गया। महादेव भाई से गान्धी जी से मिलने का समय माँगा। उन्होंने साफ इन्कार कर दिया; पर मुझे तो मिलना था उनसे। मैंने देखा, गांधी जी एक झोपड़ी में भोजन कर रहे हैं। मीरा बहन परोस रही हैं। द्वार का पर्दा जरा सा उठाया और सामने हो गया। गांधी जी ने मेरी ओर देखा। मैंने कहा— मैं यहाँ हिंदी का प्रचार करता हूँ। आप से मिलकर कुछ बातें कहूँगा। गांधी जी ने कहा—कल सुबह जब हम लोग पैदल चलेंगे, रास्ते में बातें होंगी। फिर हाथ जोड़े और लौट आया। यह किसी को मालूम नहीं था। मैं आकर चुपचाप एक आम के पेड़ की छाया में बैठ गया। मन कहता—अरे चल घर, यह जरा सी बात उनको याद भी रहेगी। बुद्धि कहती—नहीं, रुक जाओ, उन्होंने कहा जो है। अगर याद रखें, बुलायें तो! इसी ऊहापोह में रात बीती, सबेरा हुआ। प्रार्थना हुई, जलपान हुआ, चलने की तैयारी हुई। ठीक समय पर गांधी जी झोपड़ी से निकल पड़े।

मैं यात्रियों की पाँचवीं पंक्ति में था। साक्षी-गोपाल के गोइंड़े से गये ही थे कि गांधी जी ने गोपबन्धु जी चौधरी से पूछा—उत्कल में जो हिंदी का प्रचार करते हैं, उनको बुलाओ। नाम तो बतलाने का समय ही मुझे नहीं मिला था। उनके पूछते ही मैं उपस्थित हो गया। मैंने अपनी उक्त दोनों बातें उनसे कहीं। आपने कहा—पुरस्कार तो कटक में दे दूँगा; लेकिन दूसरी बात जो अर्थ से संबंध रखती है, उसके लिए तुमको भद्रख जाना होगा। वहाँ कलकत्ते से बसन्तलाल जी आ रहे हैं। बात तय कर दूँगा। मैंने कहा—ये पहरेवाले मुझे जाने दें तब न? आपने कहा—मैं कह दूँगा और जब तुम देखना कि मेरे पास बसन्तलाल हैं तो बेरोक चले आना।

गांधीजी कटक आये। शाम के समय काठजोड़ी नदी के मैदान में सभा का आयोजन हुआ। वहीं प्रमाणपत्र और पुरस्कार देना था। गांधी जी से सभा की स्थापना के उद्देश्य और उसके सभापति तथा मंत्री आदि का परिचय कराया गया। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक राष्ट्रभाषा बोलते हुए प्रमाणपत्र और पुरस्कार दिये; लेकिन पुरस्कार को दानस्वरूप माँग लिया। हरिजन

पूँजी के लिए उसका नीलाम किया गया। कदाचित् उसकी अंतिम बोली ५ सौ रुपये से अधिक की थी।

मैं भद्रख गया। महताब बाबू से मिला। सब समाचार कह सुनाया। उन्होंने सन्तोष प्रकट किया। हम लोग गांधी जी से मिलने के लिए आगे चले। गांधी जी ने देखा और मुस्करा कर पूछा—आ गये? बसन्तलाल कल सुबह आ रहे हैं। तमाम झंझटों के बावजूद भी मैं उनकी इस स्मरणशक्ति पर दंग रह गया। फिर मैंने दिन भर मुलाकात नहीं की। सबेरे जैसे मैंने देखा कि बसन्तलाल जी और श्री रामकुमार जी बैठे हैं, तुरंत जा पहुँचा। देखते ही गांधी जी ने उनसे कहा—यह यहाँ राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार करते हैं। एक सभा भी बन गई है। यहाँ की माली हालत तुम अपने ऊपर लेते हो या मैं स्वयं अपने ऊपर लूँ?

बसन्तलाल जी ने कहा—हम लोग कलकत्ते से इन्हें प्रतिमास चालीस रुपये भेज दिया करेंगे।

गांधी जी ने मेरी ओर देखकर कहा—'बस, और जो हो लिखना।' मेरे लिए यह परम सौभाग्य-पूर्ण वरदान था। यहीं से सभा का तथा मेरे कार्य का दूसरा अध्याय शुरू हुआ समझना चाहिये। कार्य बढ़ रहा था। मैं अपने को पूर्ण कांग्रेसी समझता था। मेरा चूल्हा बन गया था। मैं अब दिन में एक बार अपने हाथ से रोटी भी बना लेता था—जहाँ मैं श्री नवकृष्ण चौधरी, श्रीमती मालती देवी और श्री मोहनलाल जी गौतम आदि को खिला चुका था।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मैं केवल पंडित जी था। मेरा नाम तक किसी को मालूम नहीं था। खादी भंडार की दुकान हम सभी का एक स्थायी अड्डा था। एक बार शाम को वहाँ जरूर जाते। दूसरी ओर दिन डूबते-डूबते श्री नवकृष्ण जी चौधरी जैसे बड़ों की पंगत जरूर ही बैठती। एक दिन बड़ों की पंगत से निबटकर मैं अभी खादी भंडार गया ही था कि वकील लाला नगेन्द्र-कुमार ने कहा—आपका नाम सी० आई० डी० इन्सपेक्टर पूछता था। नाम तो हम लोगों को मालूम नहीं था। बतलाते क्या, कह दिया "पंडित जी पंडित जी" सभी बुलाते हैं। आदमी बड़ा खूँख्वार है। देवघर षड्यंत्र का पता इसी ने लगाया था। तुम जाओ; जो कागज आदि हों, जला दो, हटा दो।

मैं लौट पड़ा। घर आया। देखा २५–३० पुस्तकें हैं जो सभी जब्त थीं। चेला मूँड़ने का विपिन बाबू का पत्र भी था और तत्सबंधी शर्तनामा भी। पुस्तकें तो मियाँ सर्फुद्दीन को सौंप दीं, जो आजकल पाकिस्तान के निवासी हो गये हैं। रिक्रूट करने के शर्तनामे को अपनी लिपि में लिख लिया जो पटना कैम्प जेल में बनाई थी। रात भर नींद नहीं आई। सोचता रहा कि और क्या बाकी है।

परन्तु मुझे डर नहीं था। कार्य में अपने को निर्दोष प्रमाणित करने की मुझमें कुशलता थी। लगभग २ बजे मैंने लालटेन बुझाई। एक घंटे बाद ही हल्ला मचाते पुलिस ने सभा-घर को घेर लिया। मैं चुपचाप खिड़की के अन्दर से देखता रहा। द्वार नहीं खोलता था। आज वह भी भीतर से तगड़ा बन्द था। पूर्व की लाली किवाड़ पर अभी पड़ी ही थी कि किवाड़ में आघात करने

के शब्द सुनाई पड़े। मैं अनसुनी करता गया। आध घंटे के बाद ऊपर के छज्जे से देखा, पुलिस घर घेरे खड़ी है। संख्या में ८० के होगी। इन्सपेक्टर ने पुकारा—'द्वार खोलो।' 'क्यों?' मैंने ऊपर से ही पूछा। उत्तर मिला—जल्दी खोलो, नहीं तो द्वार तोड़ दिया जायगा।

नीचे आया, द्वार खोला। सामने खड़ा हो गया। 'सर्च करने का आर्डर है'—मेरी ओर आर्डर को बढ़ाते हुए इन्सपेक्टर ने कहा। 'मैं अंग्रेजी नहीं जानता। इसमें क्या लिखा है?' अनुवाद सुनाया—यहाँ बम है; इसी प्रकार का साहित्य तथा शस्त्र हैं; यह स्थान बागियों का एक बड़ा अड्डा है।

नियमानुसार मैंने भी चालीस आदमियों की तलाशी ली और अन्दर जाने दिया। तलाशी शुरू हुई। ऊपर-नीचे कागजपत्र, सारी किताबों के पन्ने, जिल्दें, कुँवा, पायखाना सभी देखा गया। ६ बजे से १२ तक तलाशी होती रही। दुबारा ऊपर जाकर इन्सपेक्टर ने उस कागज को देखा जो मेरी लिपि में लिखा हुआ था। मुझसे पूछा—यह कौन सी लिपि है?—'हिंदी' मैंने कहा। एक बिहारी जमादार को दिखाकर पढ़वाया। उसने पढ़ा—स० र० स० म। इन्सपेक्टर—इसमें क्या लिखा है? जी, एक बारावाटी के बारे में लिखा है। उसे मासिक में भेजना है, छपने के लिए।

'पढ़ो तो', इन्सपेक्टर ने पूछा। मैंने बारावाटी, जैसे पहले देखा था वैसे ही पढ़ गया। पढ़ते समय इन्सपेक्टर मेरी ओर गौर से देख रहा था। तत्पश्चात् निजी पत्र लेकर वह सभी के साथ गया। शर्तनामा रह गया। यह शुभ हुआ। २४ घंटे पहले विपिन बाबू अणखिया, श्री नवकृष्ण चौधरी के फार्मवाले घर, पहुँचाये जा चुके थे। पहुँचने की खबर मुझे ४ बजे राधाश्याम तथा बंकिम ने दे दी थी। इनको मैंने हाल ही में भरती किया था। विपिन बाबू को पकड़वानेवाले को १० हजार रुपये का सरकारी इनाम था।

राष्ट्रभाषा सभा का नाम कटक में भी फैल गया। मेरे परिचित हिंदी-शिक्षार्थी खबर लेने आते। मैं सारा समाचार बतला नहीं सकता था। मैं खुश था कि मैंने आज बड़े काम से मुक्ति पाई है। सभा के प्रति लोगों की सहानुभूति बढ़ी। लोग समझने लगे कि मैं भी किसी बड़े क्रान्तिकारी दल के साथ हूँ। राष्ट्रभाषा की व्यापकता के लिए यह एक बहुत ही उत्तम कार्य हुआ।

कलकत्ते से ४० रुपये मिले, तो पुरी में भी एक प्रचार केन्द्र खोल दिया गया। बीस रुपया मासिक मैं खर्च करता था। यह मेरे लिए बहुत काफी था। भोजनादि में १५) से ज्यादा खर्च नहीं होता था। सारा काम खुद ही कर लेता था। मैं अब सोचता हूँ कि मेरा वह जीवन कितना साधु और पवित्र था।

घर-घर हिंदी पढ़ाता। श्रीमती रमा देवी जी रोज नया घर बतलातीं। उनके घर में लड़की-लड़के हिंदी पढ़ने आते तो मैं जा पहुँचता था। सबेरे से लेकर रात ८ बजे तक राष्ट्रभाषा-प्रचार का चक्र चलता रहता था।

१९३६ में ब्रह्मपुर में भी ऐक केन्द्र खुल गया। कलकत्ते की सहायता बढ़ गई था जनवरी के प्रथम सप्ताह में। गांधीजी को उत्कल में राष्ट्रभाषा के वार्षिक कार्य की सूचना देता

उत्कल में
राष्ट्रभाषा प्रचार
का
विकास-क्रम
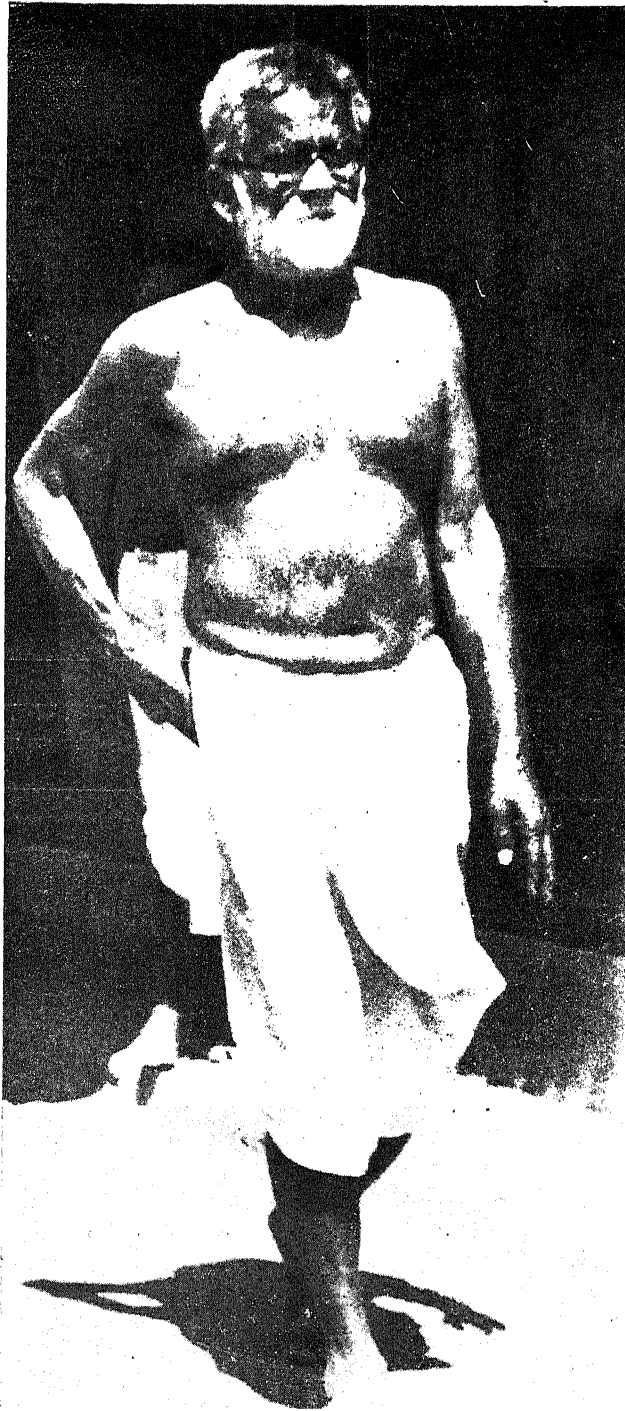
स्व० श्री गोपबन्धु चौधुरी

कटक में श्री० पाठकजी का पहला आवास स्थान
सन् १९३२ ई०

श्री० पाठकजी के प्रथम आश्रयदाता कांग्रेसकर्मी
श्री० राधामोहन महापात्र

श्री हरेकृष्णजी महताब गान्धी राष्ट्रभाषा भवन का
शिलान्यास कर रहे हैं। १८-१-१९४८

(ऊपर) गान्धी राष्ट्रभाषा भवन कार्यालय

(नीचे) गान्धी राष्ट्रभाषा भवन दोतल्ला बन रहा है
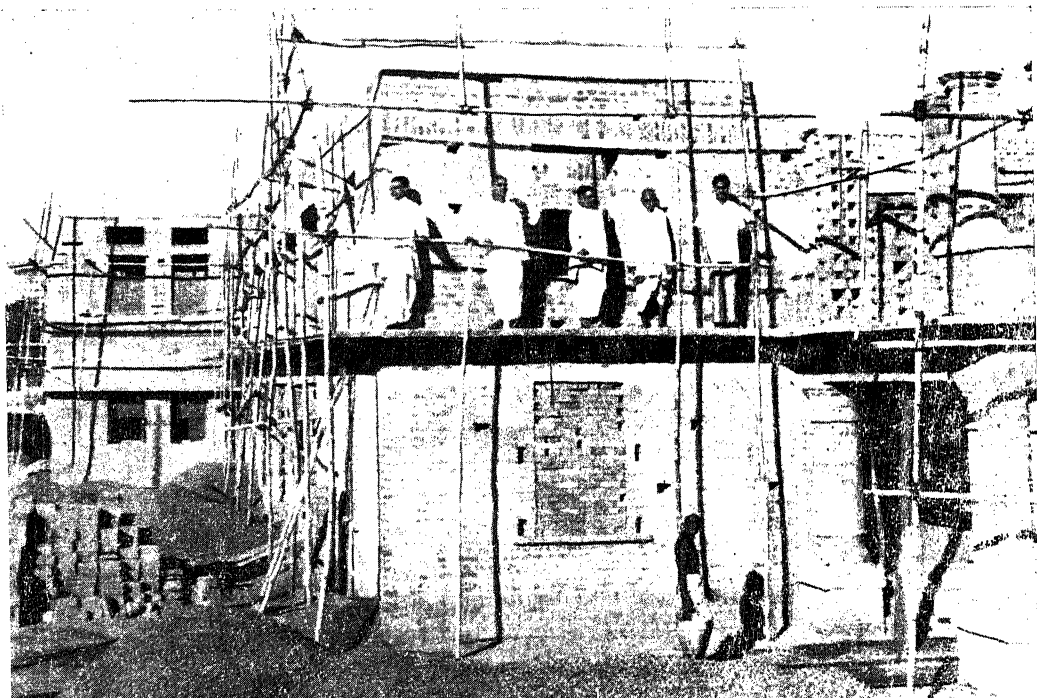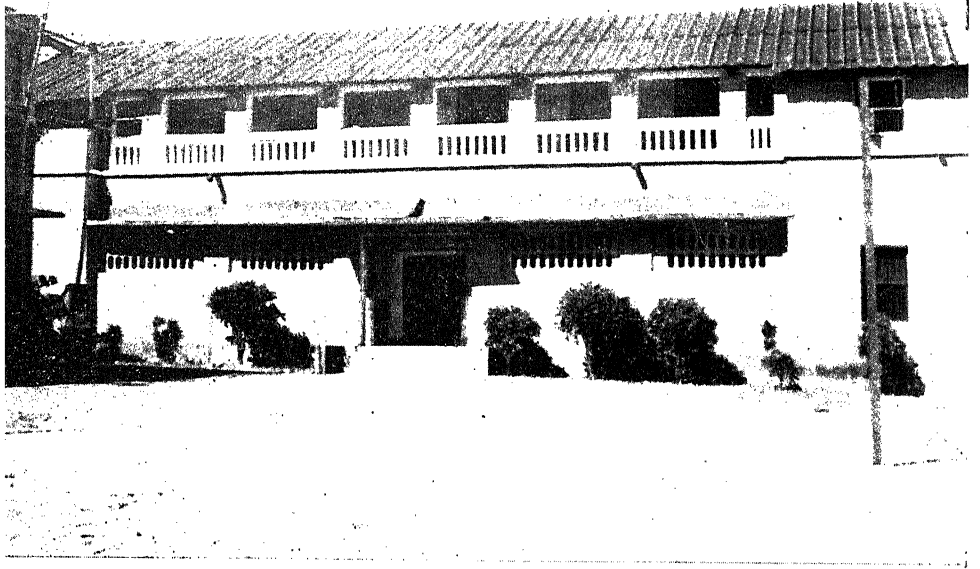
(ऊपर) राष्ट्रभाषा समवाय प्रेस की एक झाँकी

(नीचे) राष्ट्रभाषा प्रेस का जिल्दसाज विभाग बन रहा है
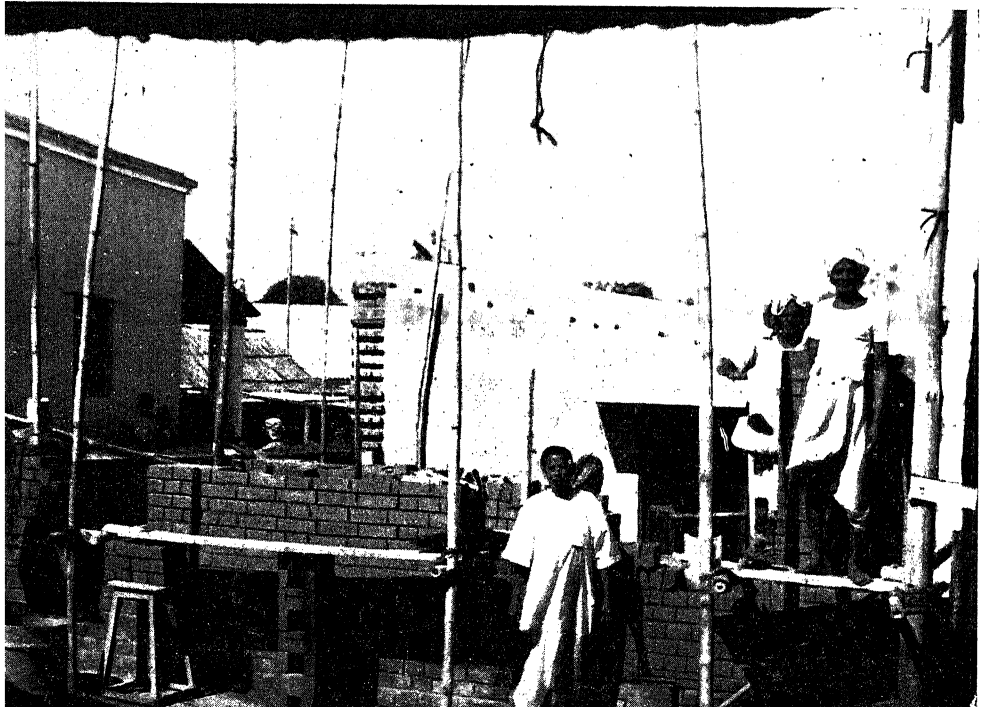
(ऊपर) संचालक भवन तथा राष्ट्रभाषा समवाय प्रेस

(नीचे) श्रीयुक्त महतावजी राष्ट्रभाषा प्रेस की नई मिल्ही-मशीन चालू कर रहे हैं
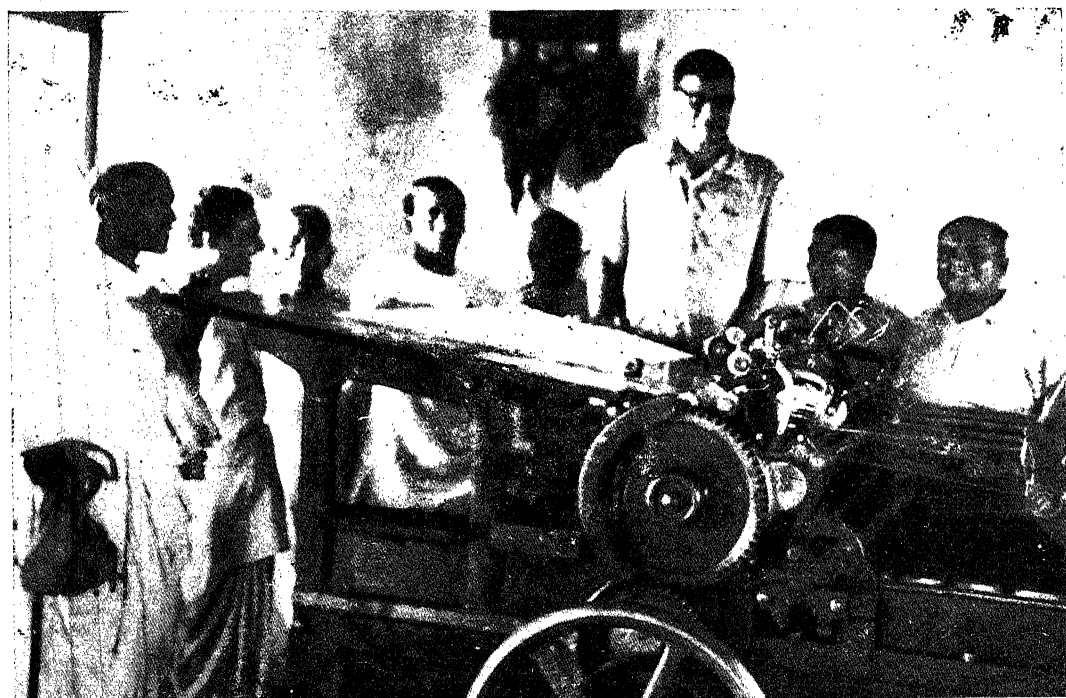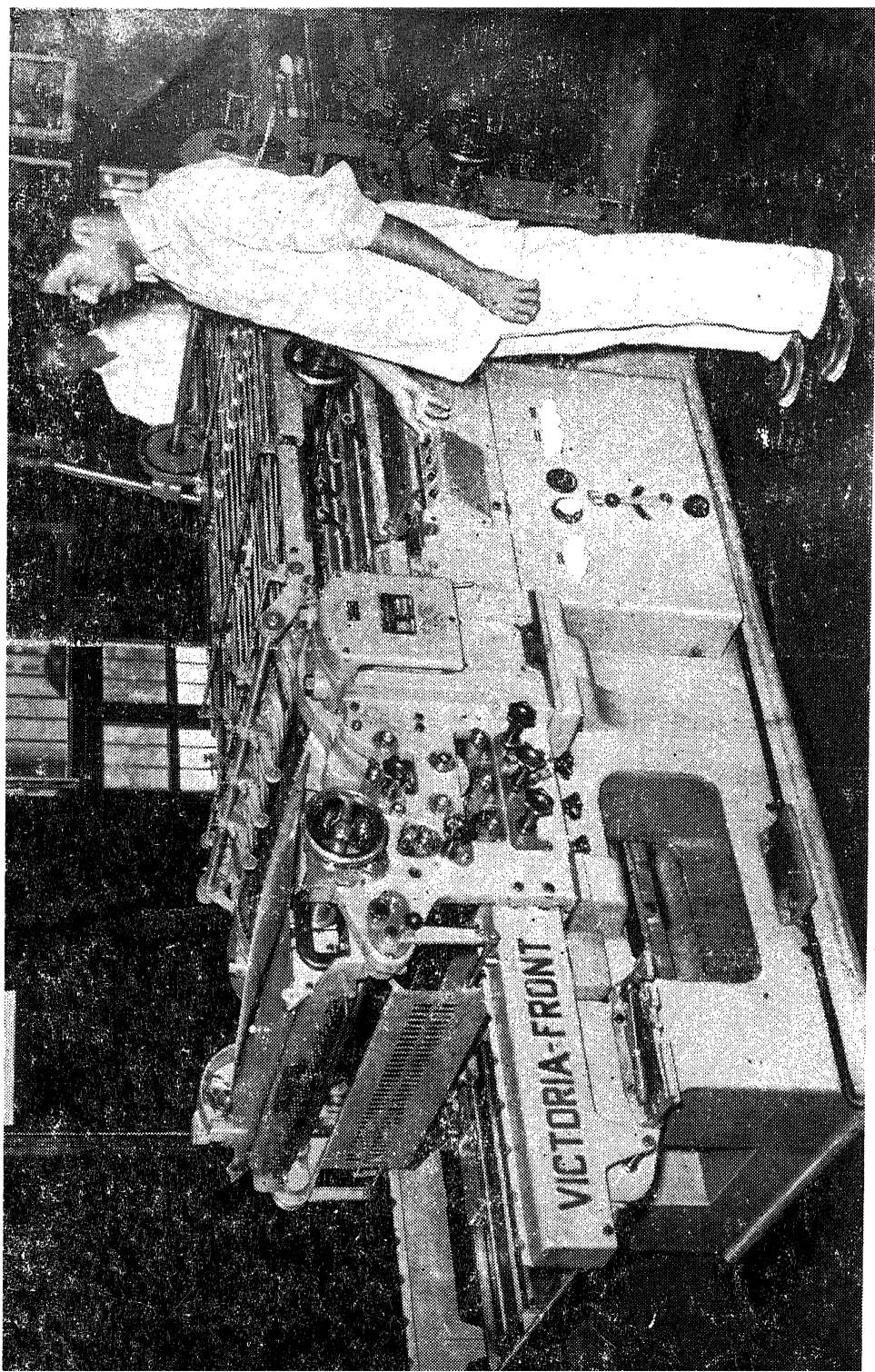
स्वयंचालित विक्टोरिया फ्रॉण्ट मशीन
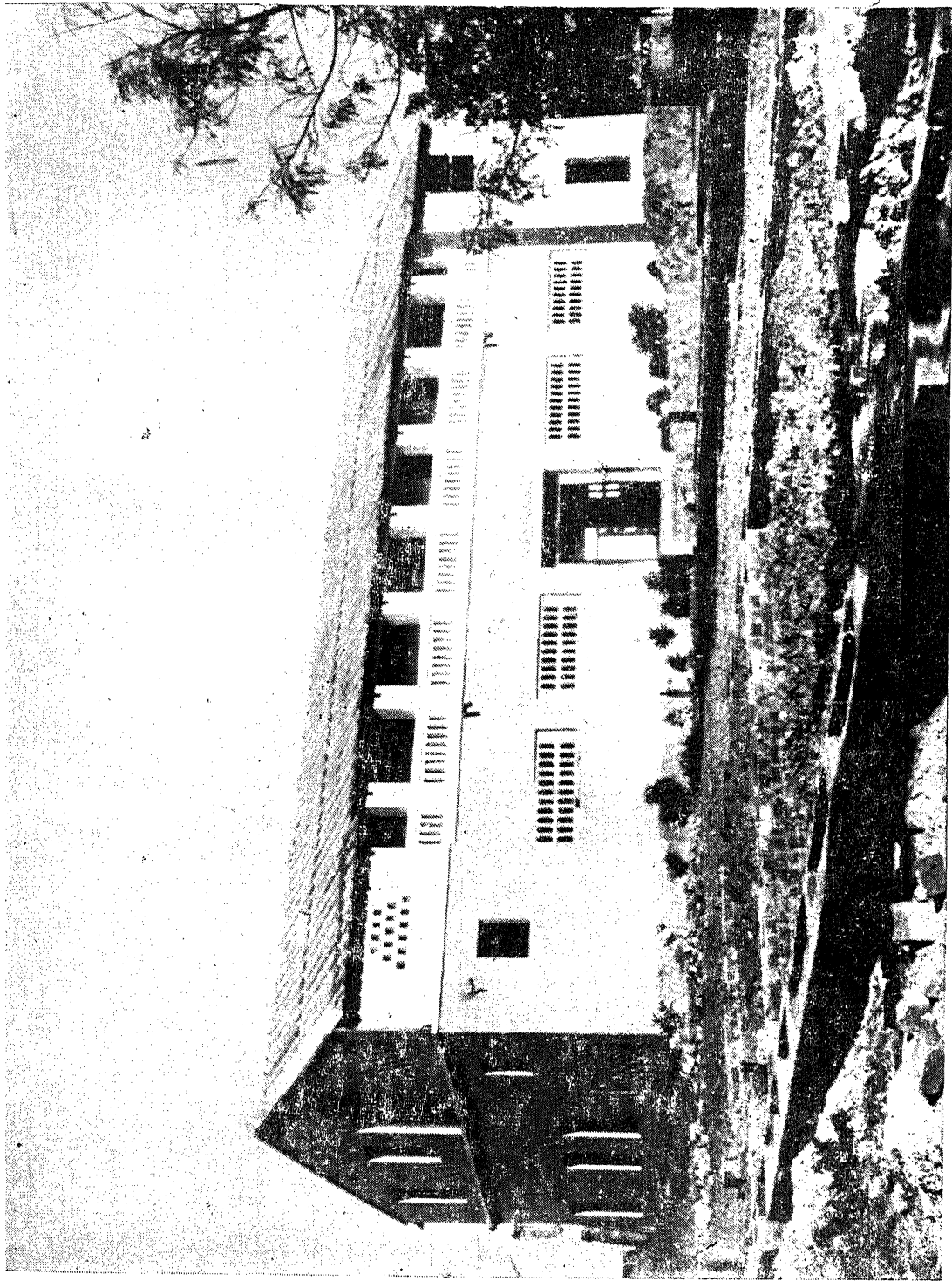
रा ष्ट्र भा षा स म वा य प्रे स

(ऊपर) हाथ से बने कागज का कारखाना (नीचे) राष्ट्रभाषा प्रेस के कर्मचारियों का निवास
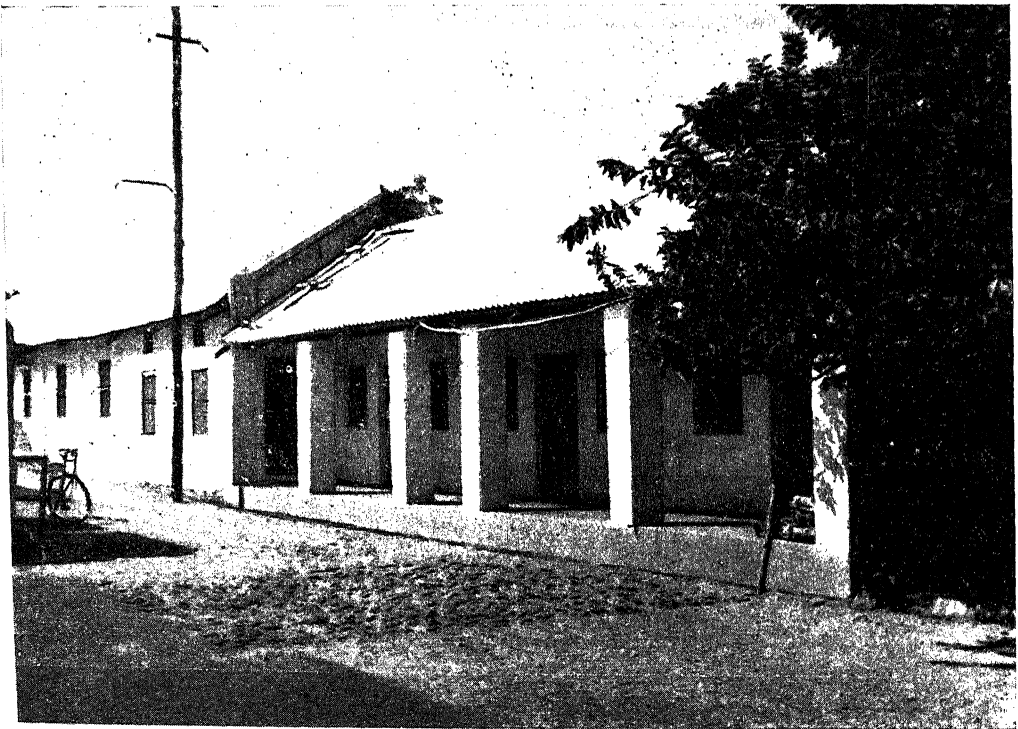
रहता था। काम बढ़ने लगा। १९३७ में वर्धा से रामसुखसिंह भारती आये और ब्रह्मपुर में रहने लगे। उनका काम भी लगन का था।

१९३८ में कांग्रेसी सरकार बनी। इससे राष्ट्रभाषा की व्यापकता बढ़ी। इसी बीच सभा के कई मंत्री बने परन्तु सभापति वही रहे। जो मंत्री बने थे उनमें श्रीयुक्त लक्ष्मीनारायण जी साहू एक हैं। अब श्री राजकृष्ण बोस मंत्री बनाये गये थे। मैं स्वयं प्रधान प्रचारक और संचालक था। उत्कल में भी कांग्रेसी सरकार बनी। उस समय उड़ीसा के प्रधान मंत्री श्रीयुक्त विश्वनाथ दास थे और शिक्षा-मंत्री थे बोधराम दूबे। भाग्य से श्री राजकृष्ण जी बोस शिक्षा विभाग के पार्लिया-मेंटरी सेक्रेटरी बन गये। आपने तमाम स्कूलों को सूचना दी कि ४ बजे से ११ बजे तक हिंदी पढ़ाना होगा और उसके अनुसार कार्य शुरू हो गया।

सभा के भाग्य से इस समय उसे एक विद्वान् श्रीयुक्त आर्तवल्लभ महन्ती मिल गये। उनकी सहायता से पाठ्य पुस्तकें बनाई गईं। यही पुस्तकें सभी स्कूलों में पढ़ाई जाने लगीं।

अब श्रीयुक्त हरेकृष्ण महताब जी के कथन पर सभा का कार्यालय कांग्रेस-भवन के साथ जानकीनाथ-भवन में आ गया था।

कांग्रेसी सरकार जब तक चली, हिंदी की पढ़ाई भी जारी रही। इस बीच सभा का काम काफी बढ़ गया था। लोगों में उत्साह तो था ही, किसी ने इसका विरोध नहीं किया।

१९४० में कांग्रेसी सरकार टूटी। हिंदी की पढ़ाई हटी। जिन हिंदी-शिक्षकों को सरकार ने रखा था वे निकाल दिये गये। इनमें हमारे साथी पं० वनमाली मिश्र भी थे।

पं० वनमाली मिश्र आरंभ से सभा के संपर्क में रहते रहे हैं। खादी भंडार के काम से छुट्टी पाते ही वे शाम के २,३ घंटे सभा में जरूर बिताते। वे मेरी प्रेरणा से हिंदी-शिक्षक बन गये। उसी समय आपने विशारद की परीक्षा पास की। वे सरकारी कामों से मुक्ति पाकर सभा के कामों में पूर्ण समय देने लगे।

कांग्रेस सरकार के हटते हिंदी तो हटाई ही गई, साथ ही साथ जो उच्च कर्मचारी खद्दर पहिनने लगे थे उन्होंने उसे उतार फेका, जैसे साँप केंचुल फेंकता है। इतना होते हुए भी सभा के काम में कमी नहीं पड़ी। लोगों में हिंदी के प्रति उत्साह था। उन उत्साही स्कूलों में रानीहाट सर्वप्रथम था जिसमें प्रधान शिक्षक थे श्री बांछानिधि दास, जो आज भी हैं।

सन् १९३७ में वर्धा में राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति बनी। समिति की परीक्षाएँ ली जाने लगीं। राष्ट्रभाषा-प्रचार के लिए ये परीक्षाएँ चलाई गई थीं। इनके चलाने में गांधीजी का पूरा हाथ था। काका कालेलकर जी के संचालकत्व के कारण काफी छात्र हिंदी परीक्षा में बैठने लगे थे। इधर कांग्रेस सरकार के टूटते ही जानकीनाथ-भवन से कांग्रेस कार्यालय तथा उत्कल प्रांतीय हिंदी राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा हट गई। सभा का नाम अब उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा था।

१९४२ का आन्दोलन आरंभ हुआ तो सभा के भीतर तहलका मच गया। कौन जेल जाय, और कौन वहाँ रहे? सभा का काम इतना बढ़ गया था कि उसे छोड़कर जाने के लिए मैं

तैयार नहीं था। कहीं आने-जाने पर तथा पत्रादि में नाम की खोज की जाती। आखिरकार चंगुल में आ ही गया। मैं जेल गया, साथ में वनमाली मिश्र भी थे। कटक से ब्रह्मपुर जेल ले जाये गये। यहाँ पर भी हमारा वही पुराना काम रहा, राष्ट्रभाषा पढ़ाना। नजरबंद रहने के कारण सारी सुविधाएँ थीं; कागज, कलम-पेन्सिल का यहाँ अभाव नहीं था।

यहाँ दलबन्दी खूब थी। कम्युनिस्ट एक किनारे की झोपड़ी में रहते। जो उधर जाता, उस पर कड़ी निगाह रखी जाती। लेकिन हमें तो बिना भेद-भाव के राष्ट्रभाषा सिखानी थी, सो हम उन्हें भी सिखाते रहे। कितनों के भाव टेढ़े देखे, कितनों की नाक-आँखें सिकुड़ी देखीं। पर राष्ट्रभाषा सभा का तो काम था बिना भेद-भाव के हिंदी सिखाना। मैं तदनुसार कार्यमग्न रहा।

यह क्रम जारी रहा बराबर २—३ साल तक। फिर पं० वनमाली मिश्र जी बीमार पड़ गये और ऐसा पड़े कि जेल से छूटने पर भी एक साल खाट नहीं छोड़ी।

सन् १९४५ में मुझे जेल से छोड़ा गया। निकलते ही यह प्रतिबंध मिला कि ओड़िशा में नहीं रह सकते। यह मेरे लिए असम्भव था। यह आज्ञा मैंने नहीं मानी। फिर जेल गया; लेकिन फिर उसी आदेश के साथ छोड़ दिया गया। इस समय सभा के मंत्री पं० लिंगराज जी मिश्र थे। उनके परामर्श से मैं इच्छापुर चला गया। यह अज्ञातवास था। लेकिन मेरे लिए पूर्ण साधना का दिन वास्तव में यही था। यहीं मैंने रवीन्द्र-साहित्य तथा शरत्-साहित्य पढ़ा। दिन भर पढ़ता-लिखता। शाम को घूमने जाता। स्टेशन जाता, कितनी ही सुन्दर-असुन्दर मूर्तियों को देखता। इसी बीच सभा के संपर्कित पत्रादि का उत्तर भी देता था।

किंतु इच्छापुर का वातावरण मुझे अच्छा नहीं लगा। मुझे ऐसा लग रहा था कि मैं यहाँ फिसल जाऊँगा। सभा का काम अब मैं यहाँ से देखता। मित्रों को तथा प्रचारकों को लिखता। सभा अब मुझे अधिक प्यारी लगने लगी थी। इच्छापुर से कलकत्ते चला गया। वहीं से सभा के उत्सव की तैयारी की। एक सज्जन को सभापति बनाकर भेजा। मेरे मन में यह करुणा जागती रही कि इतने दिनों बाद सभा के समारोह में मैं सम्मिलित नहीं हो रहा हूँ।

१९४६ में कांग्रेसी सरकार बनी। मैं फिर ओड़िशा आया। कलकत्ते की अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा के मंत्री ने चुनौती दी। उनका कहना था कि अगर हिंदी के साथ-साथ उर्दू पढ़ाओगे तो सहायता दी जायगी, अन्यथा सहायता बन्द। मुझे उनकी यह बात पसंद नहीं आई। रुपये की कीमत मेरे सामने उतनी नहीं थी, जितनी सिद्धांत की। मैंने श्री हरेकृष्ण जी महताब, श्री नवकृष्ण जी चौधरी, पं० लिंगराज जी मिश्र, सभा के सभापति स्वामी विचित्रानन्द दास से परामर्श किया और अपनी राय जाहिर की। मैंने कहा—कटक में मेरे इतने घर हैं। अगर एक वक्त भोजन एक घर में करूँ तो वहीं फिर लौट आने के लिए दो मास लगेंगे। उसी समय ओड़िशा के प्रधान मंत्री बने श्रीयुक्त हरेकृष्ण जी महताब और शिक्षामंत्री बने पं० लिंगराज मिश्र। रुपये की कमी पूरी हो गई। वार्षिक तीन हजार मिलने लगे।

पं० लिंगराज जी के शिक्षा-मंत्री बनने से सभा के काम में अच्छी प्रगति हुई। तीन हजार से दस हजार रुपये की सरकारी सहायता मिलने लगी और ओड़िशा के सभी स्कूलों में हिंदी अनि-

राष्ट्रभाषा पुस्तकालय
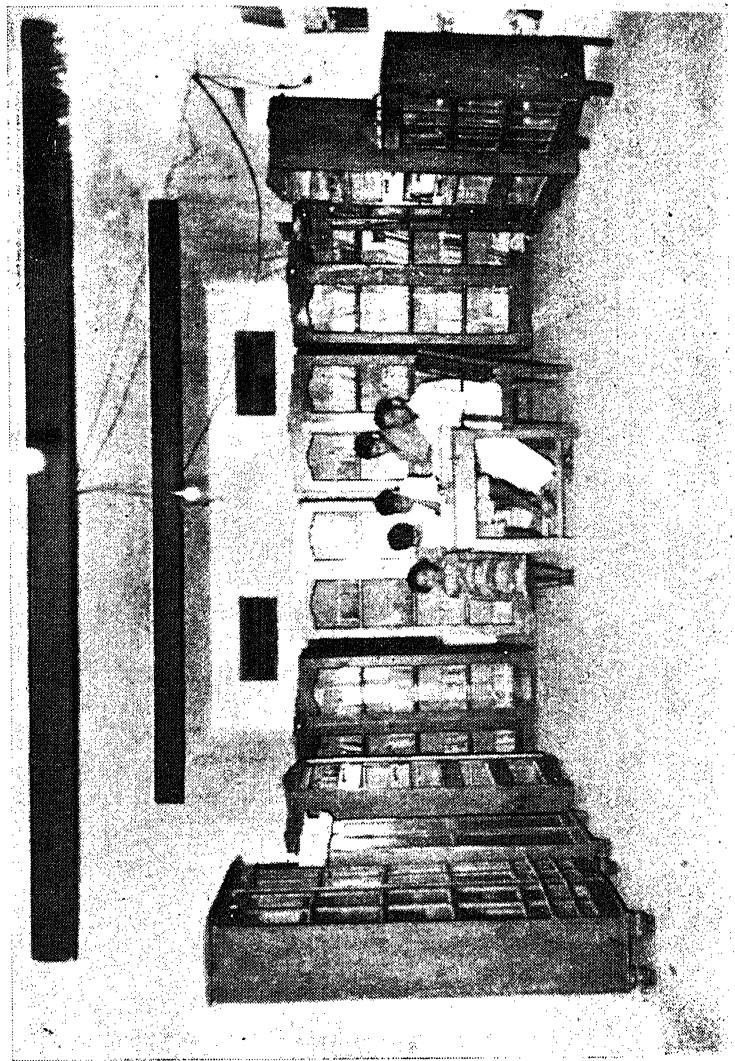
वार्य कर दी गई। चार सौ स्कूली-शिक्षकों को लाकर उन्हें हिंदी पढ़ाने की शिक्षा दी गई। ओड़िशा में सर्वप्रथम हिंदी को सरकार ने अपनाया। यह अन्य प्रांतों के लिए भी आदर्श का काम था। सभा का काम बढ़ा। सरकार ने भवन बनाने के लिए जमीन दी। श्रीयुक्त महताब बाबू ने उसका शिलान्यास किया। यह १९४८ का समय था।

सभा के अंदर एक कोआपरेटिव प्रेस है जो अपने क्षेत्र में पर्याप्त प्रसिद्ध है। गान्धीराष्ट्र-भाषा भवन बनता है जिसमें एक लाख ७ हजार रुपये खर्चे का हिसाब लगाया गया है। उसका कुछ हिस्सा बन गया है, जिसमें सभा बैठती है। सभा का यह २५ साल का काम है। उसी के उन्नति-क्रम को मद्देनजर रखकर आज यह विशाल ग्रन्थ उत्कल भारती अपनी भाषा में राष्ट्रभाषा को दान कर रही है।

१९३४ से लेकर १९४५ तक कलकत्ते की सहायता मिलती रही। इस सहायता के बीच में श्रीयुक्त भागीरथमल जी कानोड़िया, श्री सीताराम जी सेकसरिया और दिवंगत बसन्तलाल जी मुरारका मुख्य रहे हैं। प्रत्येक वर्ष सभा के वार्षिकोत्सव में इनकी उपस्थिति अनिवार्य हुआ करती थी। सभा को महात्मा गांधी, काका साहब कालेलकर, जमनालाल जी बजाज, श्री ब्रजमोहन जी बिरला जैसे महानुभावों का आशीर्वाद मिला है। सभा का वार्षिकोत्सव प्रत्येक साल मनाया जाता है। उसका अपना वार्षिक बजट है, जो अनुमानिक ९५ हजार रुपये का होता है। आजकल सरकारी सहायता सब मिलकर ५० हजार की है।

इस समय सभा के कार्य में मुख्य भाग लेनेवाले स्वामी विचित्रानन्द, डा० हरेकृष्ण महताब, राजकृष्ण बोस, डा० आर्तवल्लभ महान्ति आदि सज्जनों के नाम उल्लेखयोग्य हैं।

सभा के प्रति जनसाधारण की पूर्ण सहानुभूति है। पुस्तकालय है, सभा का भवन है। ब्रह्मपुर का हिंदी भवन सभा की निजी संपत्ति है। इस समय सभा की सम्पत्ति आनुमानिक डेढ़ लाख की है। उसके साथ कोआपरेटिव प्रेस है, जिसकी संपत्ति लगभग ढाई लाख होगी। वह भी सभा के अंदर है।

सभा के अंदर चलनेवाले १८० परीक्षा-केन्द्र हैं, जहाँ राष्ट्रभाषा की पढ़ाई होती है और साल में हजारों छात्र परीक्षा में शामिल होते हैं। संक्षेप में यह क्रम-विकास अनुमान योग्य है कि प्रथम वर्ष जहाँ प्रांत भर में ७ परीक्षार्थी प्रयाग सम्मेलन की परीक्षा में बैठे थे वहाँ आज साल में १२ हजार परीक्षार्थी परीक्षा में बैठते हैं।

सभा की स्थिति पूर्ण आशाजनक है। वह केवल भाषा का ही नहीं, साहित्य का प्रचार भी करती है। हिंदी, ओड़िया दोनों भाषाओं में प्रकाशन की संख्या ६५ है। इसी के प्रचार के उद्देश्य के लिए राष्ट्रभाषा पत्र (मासिक) निकलता है। उसके कई अनुपम विशेषांक निकल चुके हैं।

सभा का एक पुस्तकालय है जिसमें हिंदी, ओड़िया भाषा की ५ हजार पुस्तकें हैं। उससे हिंदी-प्रेमी लाभ उठाते हैं।

सभा की एक अपनी दुकान है जिसमें हिंदी साहित्य की अच्छी अच्छी पुस्तकें मिलती हैं। यह साहित्य प्रचार का एक उत्तम अंग है। सत्साहित्य प्रदान करनेवाली उत्तम पुस्तकालय-

सभा का कार्य बढ़ती पर है। उसकी बढ़ती में जितने सज्जनों का हाथ है उनमें डा० हरेकृष्ण महताब भी हैं। आपने अपने आनंद को यों व्यक्त किया था—'मुझे ऐसा लगा मानो मैं बम्बई से लौटकर किसी राजा के भवन में जा रहा होऊँ, हालाँकि राजसी ठाट-बाट का यहाँ नामो-निशान नहीं है।'

गांधी राष्ट्रभाषा-भवन बनता है। उसमें काम करने की अनेक प्रवृत्तियाँ हैं, जिसमें प्रति सप्ताह साहित्य-गोष्ठी प्रधान है। यह मुझे अभिमान है ही, कारण सभा बालिग हो गई है। ७ परीक्षार्थियों के स्थान पर आज उसके १८० परीक्षा-केन्द्र हैं और साल में १४ हजार से अधिक व्यक्ति परीक्षा में बैठते हैं।

इस राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा के रजत-जयंती उत्सव के आयोजन से मेरे मन में यह भावना जागी है कि विश्वसाहित्य में कुछ भी नहीं है, जो है वह ध्वंसमूलक है, जो ध्वंसमूलक है वह नाशवान् है और जो नाशवान् है वह कुछ भी नहीं है। अगर होता तो दुनिया में जो 'मैं खाऊँ' की नीति बरती जाती है और एक को देखकर दूसरा गुर्राता है वह न होता। इस रजत-जयन्ती साहित्यिक गोष्ठी से अगर असली तत्त्व निकल सका तो भारत का भारतीय साहित्य दुनिया में चमकेगा, अनुकरणीय होगा।
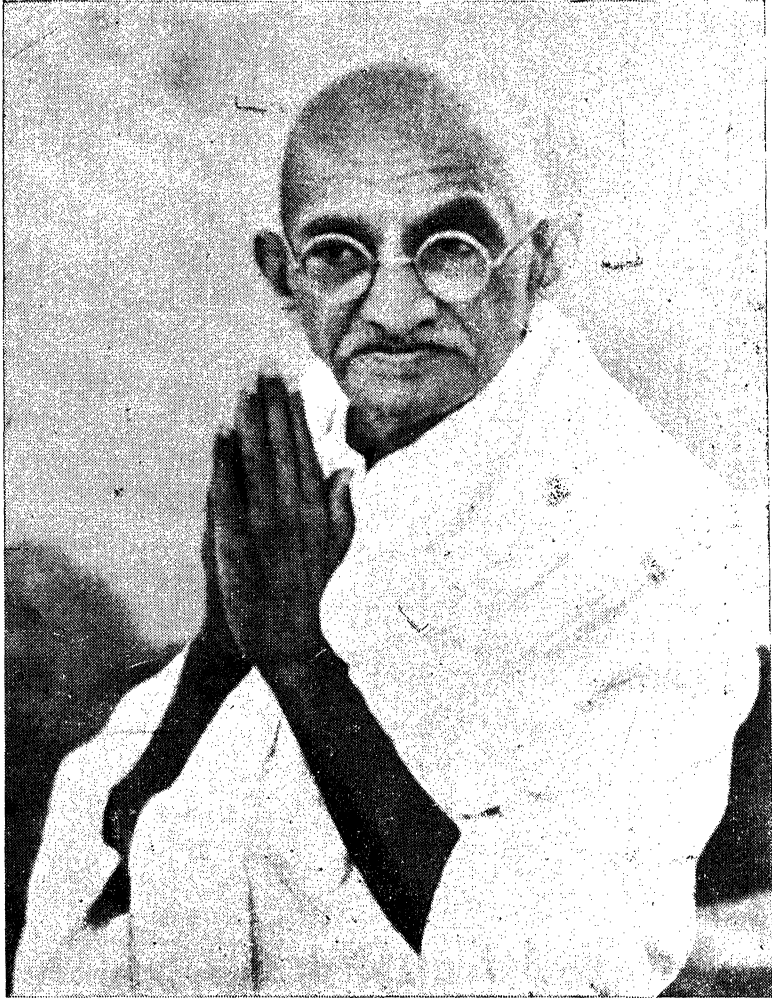
राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी
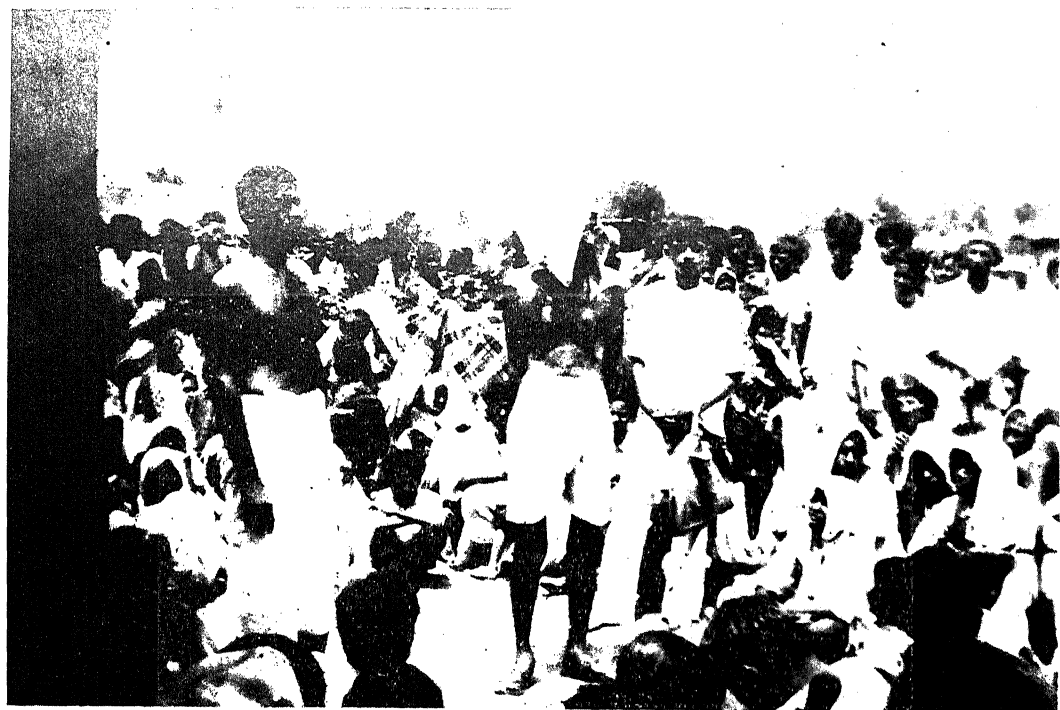
(ऊपर) पदयात्राकालीन एक दृश्य (नीचे) लेखनपुर हरिजनवस्ती में गान्धीजी

गान्धी जी और राष्ट्रभाषा

श्री रामेश्वरदयाल दुबे

भारत की मौलिक एकता और एकसूत्रता से अपरिचित यदि कोई विदेशी, इसके विस्तृत भूखण्ड की विभिन्नताओं को देखकर, यह कहे कि भारत एक देश नहीं; कई देशों का समूह है तो उसका वह कथन स्वाभाविक ही कहा जायगा। इसकी प्राकृतिक विभिन्नताएँ सहज ही हमारा ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। जहाँ एक ओर आसाम प्रान्त के चेरापूँजी नामक स्थान में, वर्ष में तीन सौ इंच से अधिक वर्षा होती है और हिमालय की हिम-मंडित पर्वत-श्रेणियों की छाया में शीत की विभीषिका से त्रस्त मानव त्राहि-त्राहि करता है वहीं दूसरी ओर पश्चिमी राजस्थान में पूरे वर्ष में तीन इंच वर्षा होती है तथा दक्षिण के प्रदेशों में प्रचंड ताप के कारण शीत का अनुभव ही नहीं होता। भारत में सभी प्रकार की जलवायु है। यहाँ की भूमि सभी प्रकार के अन्न और फूल-फल पैदा करने में पूर्ण समर्थ है। अनेक प्रकार के वृक्ष और पशु-पक्षी भारत की मूल्यवान् सम्पत्ति हैं। जातियों, संप्रदायों, धर्मों और भाषाओं की तो यहाँ कोई गिनती ही नहीं। इस प्रकार, इन अनेकताओं और विषमताओं के कारण यहाँ के निवासियों के रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा, यहाँ तक कि उनकी आकृतियों में भी असीम विविधता के दर्शन हों तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये।

सहज ही प्रश्न उठता है कि ऐसी अनेकताओं के रहते भारत को राष्ट्र की संज्ञा कैसी दी जाती है। यह प्रश्न जितना ही कठिन प्रतीत होता है, उत्तर उतना ही सरल है।

एक विद्वान् के शब्दों में इन विभिन्नताओं की तह में एक ऐसी समता और एकता मिलती है जो उन्हें उसी तरह पिरो कर एक दूसरे का कला-पूर्ण अंग बना देती है, जैसे रेशमी धागा विभिन्न प्रकार के फूलों अथवा मणियों को पिरोकर एक सुन्दर हार तैयार कर देता है, जिसका प्रत्येक फूल या मणि न तो दूसरे से अलग हो सकता है और न केवल अपनी ही सुन्दरता से लोगों को मोहता है, बल्कि दूसरों की सुन्दरता से वह स्वयं सुशोभित होता है और उसी प्रकार अपनी सुन्दरता से दूसरों को भी सुशोभित करता है। यह केवल कल्पना-प्रसूत काव्यभावना ही नहीं वरन् ऐतिहासिक यथार्थ का प्रत्यक्ष सत्य है जो हमारे अनेकत्व में एकत्व की स्थापना कर समग्र भारत के हृदयों को अपनत्व और अभिन्नत्व के सूत्र में बाँधे हुए है।

प्राचीन काल से ही भारत अपनी इन विविधताओं में अक्षुण्ण एकता का सफल अन्वेषण करता आया है। प्राचीन काल से ही यह देश अनेक जातियों के विशाल वन की भाँति रहा है। समय-समय पर अनेक आक्रमणकारी जातियाँ बाहर से आईं और सर्वदा के लिए अपना अस्तित्व

खोकर इस विशाल वन में समा गईं। इस प्रकार, इस विस्तृत भारतीय समाज में विविधताओं का मिलन हुआ, समन्वय की खोज हुई। भारत ने विविधता को स्वीकार कर एक ओर समाज में ऐसी व्यवस्था की रचना की, जिसमें प्रत्येक वर्ग उसका अभिन्न अंग बन गया और दूसरी ओर भारतीय धर्म को इतना उदार बना दिया कि उसमें सभी को स्थान मिल गया। आध्यात्मिक क्षेत्र में ईश्वरवाद, अनीश्वरवाद, आत्मवाद, अनात्मवाद आदि अनेक वादों के पीछे भारतीय धर्म की उसी अपनत्व भावना, उदारता और लचीलेपन का रहस्य छिपा हुआ है। समन्वय की उदार भावना भारत की अपनी विशेषता रही है और यही वह भावना है जो भारत जैसे विशाल भूखंड को एकता के सूत्र में पिरोये हुए है।

भारत की अखंडता युगों पुरानी है। स्नान करते समय एक भारतीय जिस श्लोक का पाठ करता है उसमें सम्पूर्ण भारत की नदियों—गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, सिन्धु, कावेरी, आदि के जल का स्मरण किया गया है।

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वती।
नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

ये नदियाँ किसी प्रान्त-विशेष को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारत को जीवन दान देती हैं।

यह ठीक है कि मध्ययुग में भारत की राष्ट्रीय भावना शिथिल हो गई थी परन्तु आगे चलकर श्री शंकराचार्य जैसे महापुरुषों ने उसकी अखंडता की पूरी रक्षा की थी। हमारे चार धाम (बदरीनाथ, पुरी, द्वारका और रामेश्वरम्) भारत की चारों सीमाओं पर खड़े हुए मानों हमारी अखंडता की रक्षा करने के लिए प्रहरी का काम कर रहे हैं।

किन्तु इस अखंडता को पहचानने के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है, क्योंकि उसके मूल स्वरूप को पहचाने बिना ऊपरी तथ्यों से सत्यान्वेषण नहीं किया जा सकता। राष्ट्र के विभिन्न प्रान्तों के लोक-जीवन से परिचित व्यक्ति को भी कम आश्चर्य नहीं होता, जब वह देखता है कि भारतीय एकता के अत्यंत सूक्ष्म तंतु लोक-जीवन की छोटी से छोटी बात में विद्यमान हैं। इन्हीं सूक्ष्मताओं को देखकर कहा जाता है कि भारतवर्ष की एकता उसकी अनेकताओं में छिपी हुई है।

उत्थान और पतन जीवन और जगत् का शाश्वत क्रम है। इसमें व्यक्ति, जाति, समाज, राष्ट्र आदि सभी आ जाते हैं। पिछली कई शताब्दियों से भारत पतन के दिन देखता आया था। विदेशी आक्रमण, देश-वासियों के झूठे अहम्, कलह, ईर्ष्या, अशिक्षा और अविवेक ने एकता तथा उन्नति के सभी द्वार अवरुद्ध कर दिये थे। विदेशी शासन ने अपना उल्लू सीधा करने के लिए यहाँ फूट का बीज बोया जो विद्वेष के वातावरण में फूलता-फलता गया। शताब्दियों की कठोर दासता अभागे भारत के लिए अभिशाप बन कर आई। किन्तु रात्रि का अन्धकार कितना ही गहरा क्यों न हो, उषा की अरुणिमा उसे चीरकर मुसकाती ही है। परिवर्तन का चक्र कभी नहीं रुकता, अवनति के बाद उन्नति का पथ प्रशस्त होता ही है।

अभागे भारत के भी भाग्य जागे। विदेशी शासन के आतंक के बावजूद भी यहाँ राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ। स्वप्नों को रेखाएँ मिलीं—आकृति उभरी और उसमें रंग भरने के लिए देशभक्तों ने रक्तदान दिया। इस प्रकार गत साठ वर्षों का भारतीय इतिहास राष्ट्रीय भावना, त्याग और बलिदान का रोमांचकारी इतिहास है। जब एक ओर देश के कर्णधार असह्य यातनाओं और अथक परिश्रम के द्वारा स्वतंत्रता-यज्ञ में अपने प्राणों की आहुति दे रहे थे, तो दूसरी ओर राष्ट्रोन्नति के रचनात्मक कार्यों में अपनी शक्ति लगाकर सोते हुए राष्ट्र की सुप्त शिराओं में चैतन्य का संचार कर रहे थे।

भारत का यह सौभाग्य था कि प्रलयंकर विदेशी शासन के ऐसे दुर्दान्त युग में उसे मोहनदास करमचन्द गांधी जैसे तपस्वी नेता कर्णधार के रूप में प्राप्त हो गये। गांधी का नाम लेते ही समग्र भारत दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। जीवन का कोई क्षेत्र, समाज का कोई अंग और देश की कोई भी समस्या ऐसी नहीं थी जिसका अध्ययन इस महात्मा ने न किया हो और अपने अनुभव के आलोक से उसे आलोकित न किया हो। यह सत्य है कि महात्मा जी के उदय के पूर्व जनजीवन में राष्ट्रीय चेतना की हिलोरें उठ रही थीं, राजनीतिक आन्दोलन में गति दी जा रही थी तथा जागर्ति के साधनों पर जोर दिया जा रहा था; किंतु यह भी सत्य है कि शांति-मूर्ति गांधी क्रांति की आँधी लेकर उपस्थित हुए जिसके वेग से संपूर्ण राष्ट्र झकझोर उठा। वे ऐसे सूर्य बने जिनसे आलोक पाकर अनेक ग्रह अपने-अपने क्षेत्रों में चमक उठे। गांधी का यह अनेक-विध जीवन उनके निकट के व्यक्तियों के लिए भी कौतूहल का विषय बना रहा।

इस सम्बन्ध में एक घटना का उल्लेख करना विषय के बाहर न होगा। कलकत्ते में सन् १९१७ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उस अवसर का लाभ उठाकर कुछ भाइयों ने अल्फ्रेड थियेटर में राष्ट्रभाषा-प्रचार सम्बन्धी एक कान्फ्रेन्स आयोजित की। लोकमान्य तिलक, कर्मवीर गान्धी आदि अनेक नेताओं ने इसमें भाग लिया। इस कान्फ्रेन्स में लोकमान्य तिलक ने इजिप्शन, असीरियन आदि पुरानी संस्कृतियों पर अंग्रेजी में सारगर्भित भाषण दिया। जब व्याख्यान समाप्त हुआ तो गांधी जी ने हिन्दी में बोलते हुए लोगों से पूछा कि आप लोगों में से कितने लोगों ने इस व्याख्यान को समझा ? इस पर बहुत कम हाथ उठे। तब उन्होंने पूछा कि यही व्याख्यान यदि हिन्दी में होता तो कितने लोग समझते ? इस पर प्रायः सभी हाथ उठे। इस प्रकार राष्ट्र-भाषा हिन्दी के प्रति गांधी की श्रद्धा और अनुराग सार्वजनिक रूप से पहली बार कलकत्ते में प्रकट हुआ। इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद लोकमान्य ने हिन्दी पर पूर्ण अधिकार कर लिया।

गांधी जी किसी भी बात को तब तक वाणी का विषय नहीं बनाते थे, जब तक उस पर गहरा चिन्तन-मनन न कर लेते थे। इतना ही नहीं, बल्कि किसी सम्बन्ध में कुछ कहने के पूर्व वे उसे अपने जीवन में उतार लेते थे। भारत की राष्ट्रभाषा के सम्बन्ध में भी वे बहुत पहले गहरा अध्ययन-मनन कर चुके थे। सन् १९०९ में लिखी अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में एक स्थान पर वे लिखते हैं—

"हर एक पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा का—हिन्दू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को पर्शियन का और सबको हिन्दी का ज्ञान होना चाहिए। कुछ हिन्दुओं को अरबी और कुछ मुसलमानों और पारसियों को संस्कृत सीखनी चाहिए। उत्तर और पश्चिम में रहनेवाले हिन्दुस्तानी को तामिल भी सीखनी चाहिए। सारे हिन्दुस्तान के लिए तो हिन्दी ही होनी चाहिए। उसे उर्दू या नागरी लिपि में लिखने की छूट रहनी चाहिए। हिन्दू मुसलमानों के विचारों को ठीक रखने के लिए बहुतेरे हिन्दुस्तानियों को दोनों लिपियाँ जानना जरूरी है। ऐसा होने पर हम अपने आपस के व्यवहार से अंग्रेजी को निकाल बाहर कर सकेंगे।"

अब यह सोचकर हम चकित रह जाते हैं कि आज से ५० वर्ष पहले गांधी जी ने देश की राष्ट्रीय भाषा के संबंध में अपने कैसे उदार विचार प्रकट किये थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वदेश लौटने पर जब गांधी जी ने देखा कि उन्हीं भारतीयों के द्वारा, जिनकी ये मातृभाषाएँ हैं, भारतीय भाषाओं की उपेक्षा हो रही है, तब उनके स्वदेशाभिमानी हृदय को चोट लगी। अंग्रेजी का सब कहीं बोलबाला देखकर वे राष्ट्रभाषा के अभाव का अनुभव और अधिक तीव्रता से करने लगे। अंग्रेजी के महत्त्व को समझते हुए भी वे उसे राष्ट्रीय भाषा का स्थान देने के लिए कदापि तैयार न थे।

सन् १९१७ में भड़ौंच में हुई दूसरी "गुजरात शिक्षा-परिषद्" में अपने सभापति-पद से दिये गये भाषण में राष्ट्र की भाषा-समस्या पर गांधी जी ने अपने तर्क-पूर्ण विचार निम्न शब्दों में व्यक्त किये थे।

"कुछ विद्वान् मानते हैं कि अंग्रेजी राष्ट्रीय भाषा बन चुकी है। किन्तु अगर हम गहराई से इस विषय पर सोचें तो पता चलेगा कि अंग्रेजी राष्ट्रीय भाषा नहीं बन सकती, न बननी चाहिए।"

इसी भाषण में आपने राष्ट्रीय भाषा अथवा राष्ट्रभाषा के लिए नीचे लिखे गुणों का होना आवश्यक बताया था—

१—अमलदारों के लिए वह भाषा सरल होनी चाहिए।

२—उस भाषा के द्वारा भारतवर्ष का आपसी धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवहार हो सकना चाहिए।

३—यह जरूरी है कि भारतवर्ष के बहुत से लोग उस भाषा को बोलते हों।

४—राष्ट्र के लिए वह भाषा आसान होनी चाहिए।

५—उस भाषा का विचार करते समय किसी क्षणिक या अल्पस्थायी स्थिति पर जोर नहीं देना चाहिए।

गांधी जी ने अपने अकाट्य तर्कों के द्वारा यह सिद्ध कर दिया था कि अंग्रेजी भाषा में इनमें से एक भी लक्षण नहीं, और ये सभी गुण हिन्दी भाषा में विद्यमान हैं इसलिए यदि इस देश की कोई भाषा राष्ट्रभाषा बन सकती है, तो वह हिन्दी ही है।

हिन्दी के संबंध में अपनी यह राय प्रकट करने के पहले गांधी जी ने इस देश की अन्य

भाषाओं के संबंध में गहरा अध्ययन न किया हो, ऐसी बात नहीं। उनकी दृष्टि में भारत की सभी भाषाएँ थीं और उनकी शक्ति, सामर्थ्य और व्यापकता आदि का उनको अच्छा ज्ञान था। किन्तु उन्होंने देख लिया था कि राष्ट्रभाषा-पद के लिए हिन्दी से होड़ लेनेवाली दूसरी कोई भाषा नहीं है।

एक स्थान पर गांधी जी ने इस संबंध में अपना अनुभव इन शब्दों में व्यक्त किया है—

> "हिन्दी के बाद का स्थान बँगला को प्राप्त है, तिस पर भी बंगाली भाई बंगाल के बाहर तो हिन्दी का ही उपयोग करते हैं। हिन्दी बोलनेवाला जहाँ जाता है, वह हिन्दी का ही उपयोग करता है। उर्दू के मौलवी सारे हिन्दुस्तान में अपने व्याख्यान हिन्दी में ही देते हैं और अनपढ़ जनता भी उसे समझ लेती है। अनपढ़ गुजराती भी उत्तर में जाकर हिन्दी का थोड़ा-बहुत इस्तेमाल कर लेता है, जब कि उत्तर का भैया बम्बई के सेठ की दरबानगिरी करता हुआ भी गुजराती नहीं बोलता है। और सेठ भैया के साथ टूटी-फूटी हिन्दी में बोलना शुरू कर देता है। मैंने देखा है कि ठेठ द्राविड़ प्रान्तों में हिन्दी की ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह कहना ठीक नहीं कि मद्रास में तो सब काम अंग्रेजी से चलता है। मैंने तो वहाँ भी अपना काम हिन्दी में किया है। सैकड़ों मद्रासी मुसाफिरों को मैंने दूसरे लोगों के साथ हिन्दी बोलते सुना है। मद्रास में मुसलमान भाई तो ठीक-ठीक हिन्दी बोलना जानते हैं। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि सारे हिन्दुस्तान के मुसलमान उर्दू बोलते हैं और सब प्रान्तों में उनकी संख्या कोई छोटी नहीं है। इस प्रकार राष्ट्रीय भाषा के नाते हिन्दी भाषा का निर्माण हो चुका है। हमने बहुत वर्ष पहले राष्ट्रीय भाषा के रूप में उसका उपयोग किया है।"

हिन्दी के प्रचार और उसकी सम्भावनाओं पर भी गांधी जी ने गहराई से सोचा था। गांधी जी का मत था कि हिन्दी ही ऐसी सरल भाषा है, जिसका प्रचार बड़ी आसानी से हो सकता है और भारत के अन्य भाषा-भाषी भाई-बहन उसे आसानी से सीख सकते हैं। गुजराती, मराठी, बंगाली, आसामी, आदि के लिए तो यह बहुत आसान है ही। वे कुछ ही महीनों में हिन्दी पर अच्छा प्रभुत्व प्राप्त कर सकते हैं और उसे अपने व्यवहार का माध्यम बना सकते हैं। हां, तामिल भाइयों की कठिनाइयों से गांधी जी परिचित थे।

तेलगू, तमिल, मलयालम और कन्नड़ ये चारों भाषाएँ द्राविड़ विभाग की भाषाएँ हैं। उनकी रचना और व्याकरण अन्य भारतीय भाषाओं से भिन्न है। तेलगू, कन्नड़ और मलयालम में संस्कृत के शब्द तमिल की अपेक्षा कहीं अधिक हैं। अतएव तमिलवालों के लिए हिन्दी सीखना उतना सरल नहीं है। तमिलभाषियों की इस कठिनाई को गांधी जी अच्छी तरह समझते थे; किन्तु वे मानते थे कि यदि तमिलभाषी विशेष प्रयत्न करें तो वे हिन्दी जल्दी सीख सकेंगे। गांधी जी तमिल-भाषियों के स्वदेशाभिमान पर विश्वास रख कर उनसे इतनी आशा रखते ही थे।

ऊपर भारतीयों द्वारा भारतीय भाषाओं की उपेक्षा का उल्लेख हो चुका है। यह उपेक्षा गांधी जी को सहन न थी। वे चाहते थे कि जनता का कार्य जनता की भाषा में हो। अंग्रेजी से

उन्हें घृणा नहीं थी; हाँ, भारतीय भाषाओं के प्रति उनके हृदय में अपेक्षाकृत अधिक प्रेम था और हिन्दी को तो वे अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार की भाषा मानते थे।

सन् १९२७ की घटना है। गांधी जी सम्पूर्ण देश में भ्रमण कर रहे थे। स्थान-स्थान पर उन्हें अभिनन्दन-पत्र दिये जा रहे थे पर जब वे देखते कि चाहे जो प्रांत हो, अभिनन्दन-पत्रों की भाषा अंग्रेजी ही रहती है तब उन्हें अत्यंत मानसिक क्लेश होता था। उन्होंने 'हिन्दी नवजीवन' में इस विषय पर निम्न टिप्पणी लिखी थी––

"इस बार दौरे में मुझे जो अभिनन्दन-पत्र मिले हैं, वे अधिकांश अंग्रेजी में ही थे। झरिया में भी कोयले की खानों के मजदूरों की ओर से मुझे अंग्रेजी में मानपत्र दिया गया। उस सभा में हजारों मजदूर थे। अंग्रेजी समझनेवालों की संख्या तो ५० से कम रही होगी। यह मानपत्र बँगला में लिखा जा सकता था और मेरी खातिर उसका अनुवाद हिन्दी अथवा अंग्रेजी में किया जा सकता था।

मैं उम्मीद करता हूँ कि वे दिन आ रहे हैं जब किसी सभा की कार्रवाई ऐसी किसी भाषा में होने पर, जिसे सभा के अधिकांश लोग न जानते हों, लोग उस सभा से उठकर चल देंगे।

जो बात मैंने झरिया के लिए कही है वही आन्ध्र देश, तामिलनाड, केरल और कर्नाटक के लिए भी है। मैं उनकी कठिनाइयों को जानता हूँ; मगर अब कोई छः साल से उनके बीच हिन्दी का प्रचार करने के लिए एक संस्था "दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा" काम कर रही है। अतः इन प्रदेशों के निवासियों को प्रयत्न कर के हिन्दी सीख लेनी चाहिए।

मैंने द्राविड़ देश के लिए हमेशा छूट दी है और जब कभी उन्होंने चाहा है, अपना भाषण अंग्रेजी में दिया है। मगर मैं यह सोचता हूँ कि अब वह समय आ गया है जब उन्हें सार्वजनिक सभाओं के लिए अंग्रेजी का आसरा छोड़ देना चाहिए। सच पूछो तो हिन्दी सीखने से इनकार करके हमारे अंग्रेजीदाँ नेता ही जनसमूहों में हमारी शीघ्र प्रगति के रास्ते में रोड़े अटका रहे हैं। हिन्दी तो द्रविड़ देशों में भी तीन महीनों के भीतर सीख ली जा सकती, अगर उसे रोज तीन घंटे का समय दिया जाय। हिन्दुस्तान के २० करोड़ आदमी जिस हिन्दी को समझते हैं उस हिन्दी को न सीखने के लिए आलस्य और अनिच्छा को छोड़ कर दूसरा कोई बहाना हो ही नहीं सकता।"

प्रान्तीय भाषा हिन्दी और अंग्रेजी का भारतीय जीवन में क्या स्थान हो सकता है, इस विषय में गांधी जी ने गहरी चिंतना की थी और वे इस निर्णय पर आये थे कि "अगर हिन्दुस्तान को सचमुच एक राष्ट्र बनाना है तो चाहे कोई माने या न माने, राष्ट्रभाषा के पद के लिए हिन्दी को ही स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि हिंदी को जो स्थान प्राप्त है वह किसी दूसरी भाषा को नहीं मिल सकता। हिन्दू मुसलमान दोनों को मिलाकर करीब २२ करोड़ मनुष्यों की भाषा थोड़े-

बहुत फेरफार से हिन्दी हिन्दुस्तानी ही है। इसलिए उचित और सम्भव तो यही है कि प्रत्येक प्रान्त में व्यवहार के लिए उस प्रांत की प्रांतीय भाषा, सारे देश के पारस्परिक व्यवहार के लिए हिंदी और अंतर्राष्ट्रीय उपयोग के लिए हिंदी का व्यवहार हो। हिन्दी बोलनेवालों की संख्या करोड़ों की रहेगी; किन्तु अंग्रेजी बोलनेवालों की संख्या कुछ लाख से आगे कभी नहीं बढ़ सकेगी। इसका प्रयत्न भी करना जनता के साथ अन्याय करना होगा।"

राष्ट्रभाषा के संबंध में गांधी जी के विचारों को अच्छी तरह समझ लेने के लिए यह आवश्यक है कि हिंदी की जो परिभाषा उन्होंने दी है उसे हृदयंगम कर लिया जाय। एक नहीं, अनेक स्थानों पर उन्होंने हिन्दी संबंधी अपनी परिभाषा को दुहराया है। इस परिभाषा के कारण आगे चलकर विद्वानों के बीच काफी मतभेद पैदा हुआ, इसलिए गांधी जी की यह परिभाषा अपना एक ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। गांधी जी का कहना है——

> "हिन्दी भाषा मैं उसे कहता हूँ जिसे उत्तर में हिन्दू और मुसलमान बोलते हैं और जो देवनागरी अथवा उर्दू लिपि में लिखी जाती है।"

हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के इन्दौर-अधिवेशन (१९१८ ई०) में भी गांधी जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में इसी उपरोक्त परिभाषा को दुहराया था और उसे इन शब्दों में अधिक स्पष्ट किया था——

> "मैं जिसे हिन्दी भाषा मानता हूँ वह न तो एकदम संस्कृतमयी है और न एकदम फारसी शब्दों से लदी हुई है। देहाती बोली में जो माधुर्य मैं देखता हूँ वह न लखनऊ के मुसलमान भाइयों की बोली में, न प्रयाग के पंडितों की बोली में पाया जाता है। भाषा वही श्रेष्ठ है जिसको जनसमूह सहज में समझ ले।"
>
> "हिन्दुओं की बोली से फारसी शब्दों का सर्वथा त्याग और मुसलमानों की बोली से संस्कृत का सर्वथा त्याग अनावश्यक है। दोनों का स्वाभाविक संगम गंगा-जमुना के संगम सा शोभित और अचल रहेगा। मुझे उम्मीद है कि हम हिन्दी-उर्दू के झगड़े में पड़कर अपना बल क्षीण न करेंगे।"

हिन्दी की जिस सरल शैली का पुरस्कार गांधी जी ने किया उसे कौन नहीं पसन्द करेगा? जनभाषा की उपेक्षा नहीं की जा सकती। विभिन्न भाषाओं के इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब-जब भाषा के विद्वानों और पंडितों ने उसे जटिल बनाने का प्रयत्न किया है, विशेष शब्दावली और व्याकरण के अत्यधिक जटिल नियमों से उसे कसना चाहा है, जनभाषा ने विद्रोह किया है और आवश्यकता पड़ने पर उसने अपना अलग रास्ता पकड़ा है। फल यह हुआ कि पंडितों और विद्वानों की सुसंस्कृत भाषाएँ एक सीमित परिधि में घिर कर रह गईं और जनभाषा अपना विकास करती हुई आगे बढ़ गई।

जिसे हम हिन्दी कहते हैं, उसका इतिहास भी कुछ इसी प्रकार के संघर्ष की लम्बी कहानी

हैं। यहाँ उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि लगभग एक सदी से हिन्दी-उर्दू का एक अवांछित झगड़ा इसके मूल में रहा है और इस झगड़े को बढ़ाने में विदेशी शासकों का हाथ कम नहीं रहा।

यद्यपि भाषा के साथ धर्म का कोई विशेष संबंध नहीं किंतु हिन्दी और उर्दू के इस झमेले में धर्म ने भी हस्तक्षेप किया है। न जाने कितने मुसलमानों ने हिन्दी की अपूर्व सेवा की है। रहीम, रसखान, ताज आदि के नाम तो सहज गिनाये जा सकते हैं। उसी प्रकार न जाने कितने हिन्दुओं ने उर्दू साहित्य को समृद्ध किया है। साहित्य का क्षेत्र इतना संकुचित नहीं है कि जिसे तुच्छ फिरका-परस्ती गन्दा कर सके। वास्तव में भाषा एक ही थी, जो देवनागरी में लिखने पर हिन्दी, और फारसी लिपि में लिखने पर उर्दू कहलाई। व्यक्ति जिस वातावरण में पलता, बढ़ता और रहता है, उसकी भाषा में उसी वातावरण के शब्दों का आधिक्य हो जाता है। हिन्दी और उर्दू भाषा में भी शब्दों की दृष्टि से जो अन्तर दिखाई देता है उसका यही रहस्य है। यदि इन शैलियों के पृष्ठपोषकों ने संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्दों से भरकर उसे दुरूह और कृत्रिम न बना दिया होता तो आज इनमें इतना बड़ा अन्तर न होता। उर्दू शैली के अनुयायियों ने तो न केवल अरबी-फारसी के लफ्जों को बहुत बड़ी संख्या में अपनाया बल्कि उन्होंने उसके व्याकरण तक को अपना लिया। फल यह हुआ कि मकान और कागज का बहुवचन मकानों और कागजों न बनकर मकानात, कागजात बन गया। इस विभेद का दुष्परिणाम यह हुआ कि ये दोनों शैलियाँ पंडितों और मौलवियों की शैलियाँ बन गईं और साहित्य दो विभागों में बँट गया। यहाँ पर यह बताने की आवश्यकता नहीं कि सरल और प्रचलित शब्दों का प्रयोग करनेवाली स्वाभाविक जनभाषा जनता के व्यवहार का माध्यम पूर्ववत् बनी रहीं।

गांधी जी ने जनभाषा के इसी रूप की व्यापकता को अच्छी तरह समझा था, इसीलिए जब राष्ट्रभाषा की समस्या खड़ी हुई तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा––

"जनभाषा या राष्ट्रभाषा तो जनता की ही भाषा हो सकती है, केवल पंडितों, विद्वानों या मौलवियों की भाषा कदापि नहीं।" इसलिए उत्तर भारत की सरल जनभाषा को चाहे हिन्दी कहें या उर्दू, गाँधी जी के मत से वह देश की राष्ट्रभाषा बनने की अधिकारिणी थी। हिन्दी भाषा वे उसे कहते थे जिसे उत्तर में हिन्दू और मुसलमान बोलते हैं, जो न तो संस्कृतमयी है और न एकदम फारसी शब्दों से लदी हुई।

संसार में देखा गया है कि नाम के आग्रह को कम महत्त्व नहीं दिया जाता। जहाँ तक राष्ट्रभाषा के रूप का संबंध है, दो मत नहीं हो सकते; किंतु भाषा के नाम और उसकी लिपि को लेकर आगे चलकर दो स्पष्ट मत बने, और उन्होंने उग्र रूप धारण कर लिया।

प्रश्न यह है कि गांधी जी ने इन समस्याओं को किस ढंग से हल करना चाहा था और वे इस कार्य में कहाँ तक सफल हुए थे?

एक ही भाषा की दो शैलियों में अन्तर बढ़ता गया, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दो नाम, हिन्दी और उर्दू प्रचलित हो ही चुके थे। जब राष्ट्रभाषा का प्रश्न उठा तो हिन्दी

सामने आई। अपनी व्यापकता और सरलता के कारण देश के कर्णधारों और जननायकों का समर्थन और आशीर्वाद भी उसे प्राप्त हुआ। भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साथ हिन्दी की जो निकटता थी, उसने भी हिन्दी के पक्ष को सबल बनाया। हिंदीभाषियों ने उतनी नहीं, जितनी कि अहिन्दीभाषियों ने उसकी पीठ ठोंकी और उसे राष्ट्रभाषा के पद पर बैठने की अधिकारिणी माना। उर्दू को इतना व्यापक समर्थन न मिल सका। किन्तु उर्दू को मुसलमान लोग अपनी विशेष भाषा मानते थे। राजनीतिक आन्दोलन को सफलता के साथ नहीं चलाया जा सकता था। हिन्दू-मुसलिम-एकता पर इसीलिए अत्यधिक बल दिया जाता रहा। इस दिशा में गांधी जी ने जितना प्रयत्न किया, उसकी कोई सीमा न थी।

राष्ट्रभाषा के प्रश्न को सुलझाने तथा उसके नाम तथा लिपि की समस्या को हल करने के लिए जब गांधी जी आगे बढ़े, तब उनके मन में हिन्दू-मुसलिम-ऐक्य का ही विचार सर्वोपरि था। इसलिए उन्होंने राष्ट्रभाषा के लिए हिन्दी के दावे को स्वीकार करते हुए भी उसे थोड़ा बदलना चाहा। अपनी विशेष सूझ से उन्होंने उसे केवल हिन्दी न कहकर हिन्दी-हिन्दुस्तानी कहना प्रारम्भ किया। राष्ट्रभाषा के रूप के बारे में उनके विचार अटल थे; किंतु समस्या को सुलझाने की दृष्टि से उन्होंने राष्ट्रभाषा को हिन्दी-हिन्दुस्तानी नाम दे दिया।

नाम की समस्या का हल निकालने की दृष्टि से ही गांधी जी ने हिन्दी-हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग प्रारम्भ किया था किन्तु वह समस्या नहीं सुलझी। उनसे आग्रह किया जाने लगा कि वे हिन्दी-हिन्दुस्तानी न कहकर केवल हिन्दुस्तानी कहा करें।

गांधी जी जीवन में इतने ऊपर उठ चुके थे, कि उनके लिए नाम का कोई विशेष महत्त्व न था। उन्होंने एक स्थान पर लिखा भी है—"मेरे लिए भाषा के नाम का इतना महत्त्व नहीं है, भले ही उसको हिन्दी कहा जाय या हिन्दुस्तानी। मुझे दोनों ही शब्दों से एक सा सन्तोष है।"

एक अन्य स्थान पर गांधी जी ने लिखा—

> "उत्तर हिन्दुस्तान में बोली जाने वाली भाषा के लिए हिन्दी ही मूल शब्द है। उर्दू नाम तो—जैसा कि सब अच्छी तरह जानते हैं—खास तौर से खास मतलब से रखा गया था। अरबी लिपि भी मुसलमान शासकों के सुभीते के लिए रखी गई थी। इतिहास का अगर यही क्रम है, तो जब तक हिन्दी शब्द दोनों जबानों के लिए काम में आता है, उसका प्रयोग करने में कोई मुखालिफत नहीं होनी चाहिए। खैर, जो कुछ भी हो, ज्यादा से ज्यादा जो मतभेद है वह यही रह जाता है कि एक चीज के लिए दो शब्दों में से कौन सा शब्द काम में लाया जाय।"

राष्ट्रभाषा के रूप में, नाम और उसकी लिपि के संबंध में, गांधी जी ने अपने विस्तृत विचार 'हरिजन-सेवक' के ता० ३-७-३७ के अंक में प्रकाशित किये थे। वे निम्न शब्दों में थे—

"हिन्दी उर्दू का यह सवाल बारहमासी बन गया है। हालाँकि उसके बारे में बहुत बार अपने विचार जाहिर कर चुका हूँ, और उन्हें फिर से प्रकट करना पुनरावृत्ति ही होगी, फिर भी इस बारे में जो कुछ मानता हूँ उसे बिना किसी दलील के सीधे-सादे रूप में देना ठीक होगा।

मेरा विश्वास है कि—

१—हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू शब्द उस एक ही जबान के सूचक हैं, जिसे उत्तर भारत में मुसलमान और हिंदू दोनों बोलते हैं, और जो देवनागरी या फारसी लिपि में लिखी जाती है।

२—इस भाषा के लिए उर्दू शब्द शुरू होने से पहले हिन्दू मुसलमान दोनों इसे हिन्दी कहते थे।

३—हिन्दुस्तानी शब्द भी बाद में (यह मैं नहीं जानता कि कब से) इसी भाषा के लिए इस्तेमाल होने लगा है।

४—हिन्दू मुसलमान दोनों को यह भाषा उसी रूप में बोलने की कोशिश करनी चाहिए, जिसमें उत्तर भारत के ज्यादातर लोग इसे समझते हैं।

५—अनेक हिन्दू और बहुत से मुसलमान संस्कृत और फारसी या अरबी के ही शब्दों का व्यवहार करने का आग्रह करेंगे। यह स्थिति हमें तब तक बरदाश्त करनी पड़ेगी, जब तक हमारे बीच एक दूसरे के तईं अविश्वास और अलहदगी का भाव बना हुआ है। पर जो हिन्दू किसी खास तरह के मुसलिम खयालात को जानना चाहेंगे, वे फारसी लिपि में लिखी हुई उर्दू का अध्ययन करेंगे, और इसी तरह जो मुसलमान हिन्दुओं की किसी खास बात का ज्ञान हासिल करना चाहेंगे उन्हें देवनागरी लिपि में लिखी हुई हिन्दी का अध्ययन करना होगा।

६—अन्त में जाकर जब हमारे दिल घुल-मिल जायेंगे और हम सब अपने-अपने प्रान्त के बजाय हिन्दुस्तान पर गर्व का अनुभव करने लगेंगे, और मुख्तलिफ धर्मों को एक ही वृक्ष के विभिन्न फलों के रूप में जानने और तदनुसार उस पर अमल करने लगेंगे, तब हम प्रान्तीय भाषाओं को प्रान्तीय काम-काज के लिए कायम रखते हुए एक ही सामान्य लिपिवाली सामान्य भाषा पर पहुँच जायेंगे।

७—किसी प्रांत या जिले अथवा जनता पर एक भाषा या हिन्दी के एक रूप को लादने का जतन करना देश के सर्वोत्तम हित की दृष्टि से घातक है। आम भाषा के सवाल पर विचार करते समय धार्मिक भेद-भावों का ख्याल नहीं करना चाहिए।

८—रोमन लिपि न तो हिन्दुस्तान की सामान्य लिपि हो सकती है, और न होनी चाहिए। यह तो हमारी फारसी और देवनागरी के बीच ही हो सकती है। और इसके अपने मौलिक गुणों को अलग रख दें, तो भी देवनागरी ही सारे हिन्दुस्तान की सामान्य लिपि होनी चाहिए; क्योंकि विविध प्रांतों में प्रचलित ज्यादातर लिपियाँ मूलतः देव-

नागरी से ही निकली हैं, और इसलिए उनके लिए उसे सीखना ही सबसे ज्यादा आसान है। लेकिन इसके साथ ही मुसलमानों पर या दूसरे ऐसे लोगों पर जो इससे अनजान हैं, इसे जबरदस्ती लादने का हमें किसी तरह का कोई प्रयत्न न करना चाहिए।

९---अगर उर्दू को हम हिंदी से अलग मानें, तो मैं कहूँगा कि इन्दौर में जब मेरे कहने पर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने धारा नं० १ में दी हुई व्याख्या को स्वीकार कर लिया और नागपुर में मेरे कहने पर भारतीय साहित्य-परिषद् ने भी उस व्याख्या को स्वीकार करके अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की सामान्य भाषा को हिंदी या हिन्दुस्तानी कहा, तो इस प्रकार मैंने उर्दू की सेवा ही की है। क्योंकि इससे हिंदू, मुसलमान दोनों के सामान्य भाषा को समृद्ध बनाने के यत्न में शामिल होने और प्रांतीय भाषाओं के सर्वोत्तम विचारों को उस भाषा में लाने का पूरा-पूरा मौका मिल गया है।"

राष्ट्रभाषा के रूप, नाम और उसकी लिपि की समस्या को हल करने के लिए गांधी जी ने अथक परिश्रम किया, किंतु खेद का विषय था कि मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की। देश में एक ओर हिंदी के प्रबल हिमायती थे जिनका प्रतिनिधित्व हिंदी साहित्य-सम्मेलन कर रहा था और जो चाहते थे कि राष्ट्रभाषा का नाम हिंदी रहे, "उसे हिंदुस्तानी कहा जा सकता है" और लिपि देवनागरी रहे। भाषा के स्वरूप के बारे में ये लोग गांधी जी से पूर्णरूपेण सहमत थे। दूसरी ओर उर्दू के हिमायती थे, जिनका प्रतिनिधित्व "अंजुमने तरक्की उर्दू" करती थी और जो राष्ट्र-भाषा को सिर्फ हिंदुस्तानी कहना चाहते थे। वे देवनागरी के साथ उर्दू लिपि को भी राष्ट्रलिपि स्वीकृत कराना चाहते थे। भाषा के रूप के संबंध में उन्हें भी कोई खास आपत्ति न थी।

किंतु इन सभी प्रयत्नों के बावजूद कोई हल न निकल सका। गांधी जी को इस बात का दुःख रहा कि उनकी प्रेरणा और प्रयत्न से हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने हिंदी की यह व्याख्या की कि "हिंदी वह भाषा है जो उत्तर भारत में हिंदू, मुसलमानों द्वारा बोली जाती है और जो उर्दू या देवनागरी लिपि में लिखी जाती है।" इस परिभाषा के द्वारा सम्मेलन ने भाषा-समस्या के समाधान के लिए एक क्रांतिकारी कदम उठाया किंतु मुसलमानों ने गर्व और प्रसन्नता के साथ उसकी दाद नहीं ही दी।

अन्त में गाँधी जी ने ता० ८-२-४२ के 'हरिजन-सेवक' में अपनी यह इच्छा व्यक्त की :--

"मैं अब यह चाहता हूँ कि किसी ऐसी संस्था या समिति का संगठन हो जो अपने सदस्यों के लिए हिंदी और उर्दू का, उनके दोनों रूपों और दोनों लिपियों को साथ-साथ अध्ययन करने की हिमायत करे। और इस उम्मीद के साथ इस चीज का प्रचार करे कि आखिरकार किसी दिन दोनों कुदरती तौर पर मिल कर एक सर्व साधारण अंतर्प्रान्तीय भाषा का चोला पहन लेंगी और हिंदुस्तानी कहलाने लग जायेंगी। उस समय इनका समीकरण हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी न होकर हिंदी और उर्दू होगा।"

गांधी जी की यही इच्छा आगे चलकर हिंदुस्तानी-प्रचार सभा के रूप में साकार हुई। उनकी प्रेरणा से काका साहब कालेलकर की देखरेख में इस संस्था ने काम प्रारम्भ किया। देवनागरी और उर्दू दोनों लिपियों को समान आदर देकर इस संस्था ने कार्य प्रारंभ किया और चाहा कि देशवासी दोनों लिपियों को अनिवार्य रूप से सीखें। किन्तु देश की बदलती हुई परिस्थितियों में, देश की जनता का सहयोग इस संस्था को प्राप्त न हो सका। दोनों लिपियों की अनिवार्यता को किसी ने स्वीकार नहीं किया।

भाषा के साथ लिपि का घनिष्ठ संबंध होता है। एक भाषा की प्रायः एक ही लिपि रहा करती है। गांधी जी ने जिस हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद दिया, उसके लिए उन्होंने दो लिपियों का जिक्र किया था जो नागरी और फारसी लिपियाँ हैं।

सच तो यह है कि उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही गांधी जी ने इन दो लिपियों की बात कही थी। दो लिपियों की कठिनाइयों को वे स्वयं अच्छी तरह समझते थे। इसीलिए तो उन्होंने एक स्थान पर लिखा था——

> "लिपि की कुछ तकलीफ है। मुसलमान भाई अरबी लिपि में ही लिखेंगे, हिंदू नागरी लिपि में लिखेंगे। राष्ट्र में दोनों को स्थान मिलना चाहिए। अमलदारों को दोनों लिपियों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। अन्त में जिस लिपि में ज्यादा सरलता होगी उसकी विजय होगी।"

गांधी जी चाहते थे कि भारत की सभी प्रांतीय भाषाओं की एक ही लिपि हो जाय। आज तो भारत में जितनी प्रांतीय भाषाएँ हैं, लगभग सब की भिन्न-भिन्न लिपियाँ हैं। केवल मराठी और हिंदी की एक ही लिपि देवनागरी है।

गांधी जी ने एक स्थान पर लिखा था——

> "लिपि-विभिन्नता के कारण प्रान्तीय भाषाओं का ज्ञान आज असंभव-सा हो गया है। बंगाली लिपि में लिखी हुई 'गीतांजलि' को सिवा बंगालियों के और पढ़ेगा कौन? पर यदि वह देवनागरी लिपि में लिखी जाय तो उसे सभी लोग पढ़ सकते हैं।"
>
> "हमें अपने बालकों को विभिन्न प्रांतीय लिपियों को सीखने का व्यर्थ कष्ट नहीं देना चाहिए। यह निर्दयता नहीं तो और क्या है कि देवनागरी के अतिरिक्त तामिल, तेलगू, मलयाली, कानड़ी, उड़िया और बंगाली इन छः लिपियों को सिखाने में दिमाग खपाने को कहा जाय। आज कोई प्रांतीय भाषा सीखना चाहे तो लिपियों का यह अभेद्य प्रतिबंध ही उनके मार्ग में कठिनाई उपस्थित करता है।"

स्पष्ट है कि गांधी जी देवनागरी लिपि के पक्के हिमायती थे और भारत की राष्ट्रलिपि के स्थान पर उसे बैठाना चाहते थे। गांधी जी कथनी से पहले करनी पर जोर देते थे। देवनागरी लिपि के प्रचार के लिए उन्होंने कुछ काम भी किया था। उनकी ही प्रेरणा से नवजीवन प्रकाशन,

अहमदाबाद ने उनकी आत्मकथा "सत्यना प्रयोगो" को गुजराती भाषा और देवनागरी लिपि में प्रकाशित किया था। गांधी जी चाहते थे कि सभी प्रदेशों में इस दिशा में प्रयत्न हो और प्रांतीय भाषाओं की पुस्तकें देवनागरी में प्रकाशित हों।

देवनागरी लिपि के संबंध में गांधी जी ने एक स्थान पर लिखा है —

> "मैं अपनी यह राय तो जाहिर कर ही चुका हूँ कि अगर हिंदुस्तान में सर्वमान्य हो सकनेवाली कोई लिपि है तो वह देवनागरी ही है, फिर भले ही उसमें सुधार की गुंजाइश हो या न हो। शुद्ध वैज्ञानिक और राष्ट्रीय दृष्टि से जब तक मुसलमान भाई अपनी राजी से देवनागरी की श्रेष्ठता स्वीकार नहीं करते, तब तक उर्दू या फारसी लिपि भी जरूर जारी रहेगी।"
>
> "रोमन लिपि का तो यहाँ मेल ही नहीं बैठता। रोमन लिपि के समर्थक तो इन दोनों ही लिपियों को रद्द कर देने की राय देंगे। किंतु विज्ञान तथा भावना इन दोनों ही दृष्टियों से रोमन लिपि चल नहीं सकती।"

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि गांधी जी भारत की संपूर्ण प्रांतीय भाषाओं के लिए एक मात्र देवनागरी लिपि का व्यवहार उपयुक्त समझते थे। राष्ट्रभाषा के लिए भी देवनागरी लिपि ही वे चाहते थे। किंतु उनका पथ अहिंसा का था, प्रेम का था। वे नहीं चाहते थे कि कोई भाषा अथवा कोई लिपि किसी पर थोपी जाय। इसीलिए राष्ट्रभाषा के लिए वे तब तक देवनागरी के साथ उर्दू लिपि भी स्वीकार करनेवाले थे, जब तक मुसलमान भाई शुद्ध वैज्ञानिक और राष्ट्रीय दृष्टि से देवनागरी की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं कर लेते हैं।

राष्ट्रभाषा के रूप के संबंध में जो विचार गांधी जी के थे, प्रायः वही राष्ट्रभाषा पर विचार करनेवाले अन्य नेताओं के भी थे। राष्ट्रभाषा के नाम के बारे में यद्यपि हिन्दी शब्द ही पसन्द किया जा रहा था फिर भी हिंदुस्तानी अग्राह्य नहीं था; किन्तु लिपि का प्रश्न अवश्य ही कुछ ऐसा था जिस पर गांधी जी के मत से सहमत होने के लिए लोग तैयार न थे।

राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार करनेवाली आदि संस्था हिंदी साहित्य-सम्मेलन और उसके प्राण श्री पुरुषोत्तमदास टंडन उर्दू लिपि को देवनागरी की बराबरी का स्थान देकर भी प्रत्येक भारतीय को अनिवार्य रूप से उसका सीखना अनावश्यक समझते थे।

वर्धा-स्थित राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, जो सन् १९३७ से दक्षिण भारत को छोड़कर भारत के शेष हिंदीतर प्रदेशों में राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार सफलता से कर रही थी, राष्ट्रभाषा के रूप के संबंध में गांधी जी के मत से सहमत होते हुए भी मुख्यतः देवनागरी में लिखी जानेवाली हिंदी भाषा का ही प्रचार करती रही। उसका मत था कि यदि कोई चाहे तो देवनागरी के साथ उर्दू लिपि भी सीख सकता है, परंतु उर्दू लिपि का सीखना अनिवार्य नहीं बनाना चाहिए।

राष्ट्रभाषा संबंधी बापू की कल्पना को मूर्त रूप देने के लिए 'हिंदुस्तानी-प्रचार समिति'

की स्थापना हुई। इस संस्था ने हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी के लिए देवनागरी और उर्दू दोनों लिपियों को स्वीकार किया और अपनी परीक्षाओं में दोनों का जानना अनिवार्य माना।

यह वह समय था जब देश में अत्यंत वेग से परिवर्तन हो रहा था जिसकी कल्पना किसी ने स्वप्न में भी नहीं की थी। देश स्वतंत्र हुआ, पर साथ ही साथ देश के दो टुकड़े भी हो गये। जो कट्टर मुसलमान थे उन्होंने पाकिस्तान स्थापित करके ही माना। अनिच्छा रहते हुए भी राष्ट्र के कर्णधारों को देश का यह दुःखद विभाजन स्वीकार करना पड़ा।

इस घटना के कारण उर्दू भाषा और उर्दू लिपि का पक्ष निर्बल पड़ गया। हिंदुस्तानी-प्रचार सभा को जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त न हो सका और दूसरी ओर देवनागरी लिपि द्वारा राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार करनेवाली राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा की सेवाएँ जनता के अनुकूल पड़ीं।

गांधी जी की कल्पना के अनुसार दोनों लिपियों को स्वीकार करनेवालों में कई का विश्वास उससे डिग गया। हिन्दुस्तानी-प्रचार सभा के संस्थापक सदस्यों में एक ने गांधी जी को पत्र में लिखा—

"१५ अगस्त १९४७ के बाद से लिपि के बारे में मेरे ख्याल बिलकुल बदल गये और अब पक्के हो गये हैं।"

"जब तक हिन्दुस्तान अखंड था और अखंड रखने की उम्मीद थी, तब तक नागरी लिपि के साथ उर्दू लिपि को चलाना उचित, बल्कि जरूरी मानती थी। आज हिन्दुस्तान, पाकिस्तान दो जुदे राज्य बन गये। (मुसलमानों की निगाह में तो दो जुदे राष्ट्र) हिंदुस्तानी हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा, नागरी हिंदुस्तान की खास और मान्य लिपि—फिर नागरी के साथ उर्दू के गठबन्धन की क्या जरूरत...? अब मेरा दृढ़ विश्वास हो गया है कि हिंदुस्तान पर उर्दू लिपि लादने में इतना ही नहीं कि कोई फायदा नहीं, बल्कि सख्त नुकसान है।"

उपरोक्त कथन के साथ अकाट्य तर्क भी उपस्थित किये गये थे, परन्तु गांधी जी के उच्चाशय और उन्नत आदर्श के समक्ष वे ठहर न सके। देश के टुकड़े हो जाने के पश्चात् भी वे अपने उच्च धरातल से नीचे न उतरे। उनका यह कथन उनकी महत्ता का परिचायक था—

> "हम दो लोग (नेशन) नहीं हैं। दो लोग मानने में हम हिन्दुस्तान को बड़ा नुकसान पहुँचायेंगे। कायदे-आजम भले दो लोग मानें, और ऐसा माननेवाले भले हिंदू भी हों, लेकिन सारी दुनिया गलती में फँसे तो क्या हम भी फँसें? ऐसा कभी नहीं हो सकता।"
>
> "अगर राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी है, तो उसे दोनों लिपियों में लिखने की छूट होनी चाहिए...। मैं नहीं चाहता कि हिंदुस्तान के चालीस करोड़ को दोनों लिपियाँ सीखनी हैं। ऐसा अवश्य है कि जो सारे मुल्क में फिरता है, जिसको अपने सूबे की ही नहीं, बल्कि सारे मुल्क की सेवा करनी है उसे दो लिपियाँ सीखनी चाहिए, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान।"

"अगर हिंदी को राष्ट्रभाषा बनना है तो लिपि नागरी ही होगी। अगर उर्दू को बनना है, तो लिपि उर्दू ही होगी। अगर हिंदी-उर्दू के संगम के जरिये हिंदुस्तानी को राष्ट्र-भाषा बनना है, तो दोनों लिपियाँ जरूरी हैं।"

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि परिस्थितियों के बदल जाने पर भी बापू के राष्ट्रभाषा-विषयक विचारों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। किंतु यह भी ठीक है कि इस अनोखे अन्वेषक ने कभी अपने विचार दूसरों पर नहीं लादे। कदाचित् इसीलिए उन्होंने राष्ट्रभाषा और उसकी लिपि के प्रश्न को समय पर छोड़ दिया था। उन्होंने इसीलिए केवल इतना ही कहा कि 'अगर हिंदी को राष्ट्रभाषा बनना है तो लिपि देवनागरी ही होगी अगर उर्दू को बनना है तो लिपि उर्दू ही होगी। अगर हिंदी-उर्दू के संगम के जरिये हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनना है, तो दोनों लिपियाँ जरूरी हैं।'

भारत की राष्ट्रभाषा और उसकी राष्ट्रलिपि क्या हो, इसका अन्तिम निर्णय संविधान-परिषद् ने १४ सितम्बर १९४९ को किया। ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय के संबंध में अन्तिम निर्णय करने का अधिकार संविधान-परिषद् को ही था।

राजभाषा और राजलिपि के संबंध में भारतीय संविधान में जो धाराएँ स्वीकार की गई, वे इस प्रकार हैं—

१—संघ की राजभाषा देवनागरी लिपि में लिखित हिंदी होगी।

२—किन्तु संविधान के प्रारंभ से १५ वर्ष की कालावधि तक राजकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा प्रयोग की जाती रहेगी।

३—१५ वर्ष के पश्चात् भी संसद किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग उपबन्धित कर सकेगी।

४—संविधान के प्रारंभ से ५ वर्ष की समाप्ति पर राष्ट्रपति एक आयोग नियुक्त करेंगे जो हिंदी भाषा के उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग और अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर निबन्धनों के विषय में सिफारिशें करेगा। इस तरह का आयोग संविधान के प्रारंभ से दस वर्ष की समाप्ति पर पुनः इसी उद्देश्य के लिए नियुक्त किया जायेगा।

लोगों का विश्वास है कि यदि गांधी जी आज जीवित होते तो वे राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के संबंध में किये गये संविधान परिषद के निर्णय को उसी प्रकार स्वीकार कर लेते, जिस प्रकार उन्होंने देश के नेताओं के अन्य निर्णयों को स्वीकार किया था।

जो हो, यहाँ इतना तो निःसंकोच कहा ही जा सकता है कि राष्ट्रभाषा के महत्त्व और उसकी आवश्यकता को जितनी गहराई के साथ गांधी जी ने समझा था, उतना शायद ही किसी ने समझा होगा। भारत के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करते ही गांधी जी ने हृदय की सारी

शक्ति के साथ राष्ट्रभाषा के संबंध में जो उद्‌गार प्रकट किये थे, वे सदा स्वर्णाक्षरों में लिखे जायेंगे और हमारा चिरकाल तक मार्गदर्शन करेंगे।

"राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूँगा है। राष्ट्रभाषा राष्ट्र का जीवन है। बिना राष्ट्र-भाषा के भारत पूर्ण स्वाधीन नहीं माना जा सकता है, वह स्वाधीनता अधूरी ही रहेगी। इसलिए राष्ट्रभाषा सीखना सभी का परम कर्तव्य होना चाहिए। जो ऐसा नहीं करते, वे अपने कर्तव्य से पीछे रह जाते हैं।"

उत्कल की भौगोलिक रूपरेखा

श्री वृन्दावनचन्द्र आचार्य

किसी देश के विषय में समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के पूर्व उसके भौगोलिक तथ्यों की जानकारी आवश्यक होती है। किंतु देश की स्थितियों, पर्वतों, नदियों, घाटों और नगरों आदि की एक साधारण तालिका प्रस्तुत करना ही भूगोल का वास्तविक प्रयोजन नहीं है। मनुष्य किस प्रकार अपने वातावरण की प्राकृतिक परिस्थितियों से स्वयं प्रभावित होता है और अपनी बुद्धि-वृत्ति से उनमें परिवर्तन करता है—इसी का ज्ञान, भूगोल का वास्तविक रूप-ज्ञान है। अतः संपूर्ण परंपरित सिद्धांतों को छोड़कर उपरोक्त प्रणाली के आधार पर ही ओड़िशा की भौगोलिक समीक्षा करना समीचीन होगा।

हम आजकल जिस क्षेत्र को ओड़िशा कहते हैं उसका ऐतिहासिक नाम था, उत्कल और कलिंग। किंतु अब न तो पहले का उत्कल है और न कलिंग ही। उस समय का ओड़िशा वर्तमान ओड़िशा से बहुत बड़ा था। आधुनिक ओड़िशा भारत के विभिन्न राज्यों में से एक है। यह १७° ५०′ उत्तरी अक्षांश से २२° ३४′ उत्तरी अक्षांश तथा ८१° २७′ पूर्वी देशांतर से ८७° २९′ पूर्वी देशांतर के बीच में अवस्थित है। यह भारत के पूर्वी उपकूल में प्रायः ३०० मील तक फैला हुआ है। इस राज्य के पूर्व में बंगोपसार (बंगाल की खाड़ी), उत्तर-पूर्व में पश्चिमी बंगाल, उत्तर में बिहार, पश्चिम में मध्यप्रदेश और दक्षिण-पश्चिम में आन्ध्रदेश है। आधुनिक ओड़िशा का क्षेत्रफल ६०१३६ वर्गमील है, जिसमें १४६ लाख से अधिक मनुष्य रहते हैं। यह मयूरभंज, केन्दुझर, बालेश्वर, कटक, पुरी, गंजाम, कोरापुट, कालाहाँडी, फूलबानी, बलांगीर, सम्बलपुर, ढेंकानल और सुन्दरगढ़—इन १३ जिलों में विभक्त है। १९३६ में ओड़िशा बिहार से अलग होकर स्वतंत्र प्रांत के रूप में प्रतिष्ठित हुआ था। उस समय ओड़िशा का क्षेत्रफल अब से बहुत कम था। तब इसमें कटक, पुरी, बालेश्वर, संबलपुर, गंजाम और कोरापुट—ये छह जिले ही थे। इन छह जिलों और २४ रियासतों को लेकर ओड़िशा प्रदेश गठित हुआ था। १९४७ में अंग्रेज सरकार के भारत छोड़ने के बाद कांग्रेस सरकार ने देशी राज्यों को प्रान्तों के साथ मिला देने का निश्चय किया। इसके फलस्वरूप पहली जनवरी १९४८ को मयूरभंज के अतिरिक्त शेष २३ रियासतों का ओड़िशा में विलयन हो गया। एक साल के बाद मयूरभंज भी ओड़िशा में सम्मिलित कर लिया गया।

देश की भू-प्रकृति अधिकाधिक उसके भूतत्त्व पर निर्भर रहती है और यह मनुष्यों को कई प्रकार से प्रभावित करती है। भू-प्रकृति, जलवायु, जनसंख्या, वाणिज्य, व्यवसाय, कृषि और

मृत्तिका के पार्थक्य-भेद से ओड़िशा को साधारणतः निम्नांकित तीन प्राकृतिक विभागों में विभक्त किया जा सकता है यथा---समतल प्रदेश, तराई प्रदेश और पार्वत्य प्रदेश।

समतल प्रदेश---ओड़िशा का पूर्वी भाग समतल प्रदेश है। इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है---(१) समुद्रकूलवर्त्ती त्रिकोण भूमि और (२) पश्चिमी समतल भूमि।

(१) बंगाल की खाड़ी से मिला हुआ भाग जो कई नदियों के द्वारा लाई हुई मिट्टी, कीचड़ तथा बालू से बना है, वही---समुद्र के किनारे से दो से छह मील तक---देश के भीतर फैली हुई कूलवर्ती त्रिकोण भूमि है। इसके यथेष्ट प्रमाण मौजूद हैं कि यह अंचल बहुत पहले समुद्र के अतल गर्भ में था। भूतत्त्ववेत्ताओं का अनुमान है कि यह टार्सियारी (तृतीय) के समय में अपने वर्तमान रूप में आया है। आर्थिक दृष्टि से यह अंचल थोड़ा अनुन्नत है। दलदलों से भरे हुए इस प्रदेश में बहुत सी नदियाँ, नाले और हिंताल के पेड़ दिखाई पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से बालू के ढूह भी हैं। यह ओड़िशा के बाढ़-पीड़ित क्षेत्र के अंतर्गत है। इस अंचल को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। (क) सुवर्णरेखा और बुढ़ावलंग की त्रिकोण भूमि इसके उत्तरी भाग में अवस्थित है। बंगोपसागर का इतिहास-प्रसिद्ध तूफान इसी क्षेत्र से गुजरा था जिसके कारण धन-जन की महान् क्षति हुई थी। आजकल भी समय-समय पर भयानक तूफान चला करते हैं। पहले यहाँ सिंचाई की कोई सुविधा न थी, अतः अनावृष्टि के कारण बहुत सी फसलें नष्ट हो जाती थीं। किंतु अब बाँध, नहर आदि के बन जाने के बाद वह आशंका कुछ सीमा तक घट गई है।

(ख) मध्यवर्त्ती अंचल। यह वैतरणी, ब्राह्मणी और महानदी की त्रिकोण भूमि से गठित है। यही प्रदेश ओड़िशा के त्रिकोण अंचलों में सबसे अधिक बड़ा और चौड़ा है। सिंचाई की अच्छी सुविधा के कारण यहाँ खेती खूब अच्छी होती है। अतः यहाँ की आबादी भी काफी घनी है। कभी-कभी महानदी की बाढ़ों से अत्यंत भयानक परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। जाजपुर, कटक और पुरी की त्रिकोण भूमि के अंचल इसी के अंतर्गत हैं।

(ग) ऋषिकुल्या की त्रिकोण भूमि। यह विशेष चौड़ी नहीं है और उत्तर में चिलका झील के द्वारा पुरी के त्रिकोण भूमि-क्षेत्र से अलग होती है। इस अंचल में पर्याप्त वर्षा नहीं होती है। ब्रह्मपुर क्षेत्र की त्रिकोण भूमि इसके अंतर्गत है।

(२) समतल अंचल का पश्चिमी भाग समुद्र के धरातल से २०० से ५०० फुट तक की उँचाई पर है। यह अंचल साधारणतया ओड़िशा की नदियों की उपत्यकाओं से गठित है। बाढ़ के समय नदियों के द्वारा लाई मिट्टी बहकर यहाँ जमा होती है। ऊँची भूमि के कारण यहाँ नदियाँ परस्पर बिछुड़ गई हैं। अतः यह प्रदेश निरवच्छिन्न नहीं है। उपकूल अंचल की तुलना में यह उतना उर्वर नहीं है। ऐसे अंचल साधारणतः मयूरभंज, केन्दुझर, ढेंकानल, कटक, पुरी और गंजाम जिलों में देखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त महानदी की उपत्यका में भी हम ऐसी समतल भूमि देख सकते हैं।

तराई प्रदेश

यह उपरोक्त समतल भूमि से अधिक ऊँचा है किंतु सब जगह समतल न होकर ऊँचा-नीचा है। इस इलाके की मिट्टी उपजाऊ नहीं होती, अतः यहाँ खेती भी अच्छी नहीं हो सकती। उपकूल अंचल की भाँति इसमें नहरें आदि नहीं दिखाई पड़तीं। तराई के ऐसे भू-भाग सामान्य रूप से ओड़िशा के पश्चिमी प्रदेश (सुन्दरगढ़, सम्बलपुर, बलांगीर, कालाहाँडी, ढेंकानल और कोरापुट जिलों) में दिखाई पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त मयूरभंज जिले के पश्चिमी भाग और केन्दुझर जिले के पूर्वी भाग की गणना भी तराई में होती है। फिर पर्वतीय अंचल के कई स्थानों में भी छोटी-छोटी तराइयाँ और उपजाऊ अंचल दृष्टिगोचर होते हैं। इस इलाके में जंगल हैं और कहीं-कहीं खनिज पदार्थ मिलते हैं। प्रायः प्रत्येक जिले में हम ऐसी तराइयाँ पाते हैं। ओड़िशा की नदियों ने इस अंचल को भी विखंडित कर दिया है।

पार्वत्य प्रदेश

यह ओड़िशा के मेरुदंड के समान दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर फैला है और अनेक नदियों द्वारा विखंडित है। सारा का सारा पार्वत्य अंचल अत्यंत प्राचीन है, इसलिए अब तक बहुत अंशों में नष्ट भी हुआ है। ओड़िशा में किसी भी पहाड़ की ऊँचाई ५५०० फुट से अधिक नहीं है। इनमें मयूरभंज का मेघासन, केन्दुझर का माल्यगिरि, कालाहाँडी का करलापाट, गंजाम का सिंहराज और महेन्द्रगिरि, कोरापुट का चंद्रगिरि, पट्टागी देवमाली, नीलगिरि आदि मुख्य चोटियाँ हैं। इनके अतिरिक्त ओड़िशा में और कई पहाड़ी चोटियाँ हैं। दक्षिणी ओड़िशा का पहाड़ी प्रदेश उत्तर के पहाड़ी इलाके की अपेक्षा अधिक ऊँचा है। यह पूर्वघाट के पहाड़ों के उत्तर में है। पार्वत्य अंचल में कई पर्वतमालाएँ दिखाई पड़ती हैं। भूतत्त्वविदों के मतानुसार दक्षिणी ओड़िशा के पहाड़ आर्कियान और धरवार युग के हैं। महानदी की उपत्यका में गोंडवाना युग के पत्थर देखे जाते हैं। इसके अलावा ढेंकानल, आठगड़ और चिल्का के आसपास टार्सियारी युग के पत्थर दिखाई पड़ते हैं। पश्चिमी और दक्षिणी ओड़िशा के पहाड़ों में साधारणतया अकर्मशिला (Granite) और रूपान्तरित पत्थर (Metamorphic Greiss and Schiest) तथा पूर्वांचल में माँकड़ा पत्थर (Latuite), बालू पत्थर (Sandstone) और ग्रिट (Grit) पत्थर मिलते हैं। तालचेर युग के प्रारंभ (Lower Talchir) में ओड़िशा का कुछ पार्वत्य अंचल बर्फ से आच्छादित था और जलवायु के परिवर्तन के कारण जब यह पिघला तो हिम-प्रवाह की सृष्टि हुई। इससे पहाड़ों की चोटियाँ नष्ट होने लगीं। मयूरभंज, केन्दुझर और सुन्दरगढ़ अंचल के पत्थर अत्यंत प्राचीन युग के हैं। यहाँ की जमीन की बनावट छोटा नागपुर की तराई की बनावट की तरह है। गंजाम इलाके के पहाड़ धरवार युग के हैं। कोरापुट जिले की देवमाली पर्वतचोटी (५४८६ फुट) ओड़िशा में सबसे ऊँची है। इसके दो शृंग हैं। इन पहाड़ों की चोटियों की जलवायु शीतल है और पर्वतों के ढालुओं में घने जंगल हैं।

ओड़िशा की नदियाँ उत्तर भारत की नदियों की तरह न तो बड़ी हैं और न नौका चलने के उपयुक्त ही हैं। बरसात में ये पानी से अच्छी तरह भर जाती हैं किंतु गरमी में सूख भी जाती हैं। इनमें बहुत कम पानी रह जाता है। इन नदियों में बरसात में कमोबेश बाढ़ें भी आती हैं। ओड़िशा की नदियों में महानदी, ब्राह्मणी, वैतरणी, सुवर्णरेखा, बुढ़ाबलंग, सालन्दी, ऋषिकुल्या, वंशधारा, नागावली, इन्द्रावती, कोलाव और माछकुण्ड आदि उल्लेखनीय हैं।

महानदी ओड़िशा की नदियों में सबसे बड़ी है। हीराकुद में इस नदी पर बाँध बनाकर विद्युत्-शक्ति पैदा की जा रही है। इससे सिंचाई भी की जाती है। माछकुण्ड नदी के डुडुमा जलप्रपात से भी वैद्युतिक शक्ति पैदा की जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि महानदी तथा माछकुण्ड की योजनाएँ पूरी होने पर देश का महान् कल्याण होगा।

ओड़िशा की सबसे बड़ी झील चिलका है। यह एक संकीर्ण जलपथ के द्वारा समुद्र से संलग्न है। कटक में अंशुपा और पुरी में सर नामक झीलें भी हैं। किंतु सर झील आजकल उथली हो गई है। केवल बरसात में ही इसमें पानी एकत्रित हुआ मिलता है। अंशुपा और चिलका से प्रतिदिन बहुत अधिक परिमाण में मछलियाँ पकड़ी जाती हैं जो विभिन्न स्थानों को भेजी जाती हैं।

ओड़िशा में गरम पानी के कई स्रोत भी हैं। अट्री नामक सोता खोद्दा से ८ मील की दूरी पर है। इसका पानी काफी गरम होता है और इससे हमेशा गन्धक की भाप निकलती रहती है। 'तप्त पानी' ब्रह्मपुर से ३५ मील की दूरी पर है। इसका जल अट्री के पानी से भी अधिक गरम होता है। पानी की उष्णता १९६° (फा०) है। आठमल्लिक के समीप तथा कालाहाँडी जिले के वांशकेला में भी दो और गरम जल के सोते हैं। इनके अतिरिक्त ओड़िशा के विभिन्न जिलों में कई जल-प्रपात भी हैं। इनमें डुडमा (कोरापुट), खण्डधार (सुन्दरगढ़), बड़घाग्रा और सानघाग्रा (केन्दुझर), प्रधानपाट (संबलपुर), रावणधार और खण्डवालधार (कालाहाँडी), पुटुड़ि और केण्डामारी (बौद्ध), बरेही पाणी (मयूरभंज) आदि मुख्य जलप्रपात हैं।

ओड़िशा की जलवायु ऋतुओं पर निर्भर करती है। यहाँ की वार्षिक औसत-वृष्टि ६०" है और वर्षा सामान्यतः जुलाई से अक्तूबर तक होती है। सर्दी के दिनों में प्रायः वर्षा नहीं होती। गर्मियों के दिनों में कभी-कभी तेज तूफान के साथ वर्षा होती है। इसके अतिरिक्त ऋतु-परिवर्तन के समय बंगाल की खाड़ी में कभी-कभी इसी तरह वर्षा हो जाया करती है। मार्च से जून तक अर्थात् ग्रीष्मकाल में समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों में गर्मी अधिक नहीं मालूम पड़ती। इस समय मैदानों तथा तराइयों में अधिक गर्मी पड़ती है। संबलपुर इलाके में तो गर्मी का तापमान ११८° तक पहुँच जाता है। ऊँचे पर्वतीय अंचलों में गर्मी कम पड़ती है। जून से अक्तूबर तक वर्षा ऋतु है। ओड़िशा में १० से १५ जून के मध्य मानसून प्रवाहित होने लगता है जिसके फलस्वरूप वर्षा आरंभ हो जाती है। १५ अक्तूबर के बाद भाप भरी हवाएँ ओड़िशा से निकल जाती हैं परन्तु कभी-कभी इसका व्यतिक्रम भी होता है।

ओड़िशा में दो तरह के मानसून चलते हैं। एक तो दक्षिणी-पश्चिमी मानसून है जिससे बालेश्वर, कटक, पुरी और कोरापुट आदि जिलों में वृष्टि होती है और दूसरा है उत्तरी-पूर्वी

मानसून, जिससे संबलपुर अंचल में काफी वर्षा होती है। उत्तरी ओड़िशा में दक्षिणी ओड़िशा की अपेक्षा अधिक वृष्टि होती है।

नवम्बर से फरवरी तक शीतऋतु है। इस ऋतु में पार्वत्य अंचल तथा तराइयों में जाड़ा अधिक पड़ता है; किंतु समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों में अधिक जाड़ा नहीं पड़ता। जलवायु की दृष्टि से अगर कोरापुट को ओड़िशा का दार्जिलिंग कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

ओड़िशा के किन-किन अंचलों में किस-किस प्रकार की मिट्टी पाई जाती है, उसका पूरा विवरण आज तक नहीं बन पाया है। परन्तु मोटे तौर पर देखा जाय तो ओड़िशा के उत्तरांचल की तराइयों में लाल मिट्टी, दक्षिण में माँकड़ा पत्थर (Granite), मध्यवर्ती अंचल में काली मिट्टी तथा उपकूल में रेतीली, कड़ी और पंकिल मिट्टी देखने में आती है। भारत के दूसरे प्रान्तों की तरह ओड़िशा में भी मिट्टी का क्षय बराबर हो रहा है। यह क्षय पहाड़ी क्षेत्रों और पश्चिमांचल में अधिक हो रहा है। इसके प्रधान कारण जंगलों को अधिक मात्रा में काटना, उन्हें खेती की जमीन बनाना और मवेशियों से जंगलों का नष्ट होना आदि है।

देश की प्राकृतिक वनस्पति उसकी जलवायु पर बहुत निर्भर रहती है। साधारणतः पार्वत्य तथा तराई अंचलों में मौसमी जंगल पाये जाते हैं। समतल प्रदेश में कृषि ही लोगों की प्रधान जीविका है। ओड़िशा में कुल २३००० वर्गमील का जंगल है। अब तक के प्राप्त विवरणों से स्पष्ट है कि उसमें से ८५२४ वर्गमील का जंगल 'रक्षित' है और ६००० वर्गमील का जंगल लोगों के अधीन है। देश की जलवायु पर वन बहुत प्रभाव डालता है अतः देश की वन्यसम्पद की रक्षा भली भाँति होनी चाहिए। क्षेत्रफल के अनुपात से ओड़िशा में ३८.२ भाग जंगल है। यह एक शुभ लक्षण है। फिर भी जंगल के उपयोग में अगर सावधानी न बरती जायगी तो कुछ वर्षों ही के भीतर उसके नष्ट हो जाने की पूरी आशंका है।

ओड़िशा में प्रायः ७० प्रतिशत लोग खेती पर निर्भर रहते हैं, इसलिए खेती की भली-बुरी दशा पर लोगों का भला बुरा निर्भर रहता है। यहाँ की जमीन से अन्न की पैदावार अच्छी नहीं होती। भारत में अनाज की औसत पैदावार एकड़ पीछे १२४० पौण्ड है परन्तु ओड़िशा में औसत पैदावार प्रति एकड़ केवल ९७५ पौण्ड ही हो पाती है। भारत के अन्य प्रांतों की अपेक्षा यहाँ के लोग खेती पर अधिक निर्भर हैं। यहाँ अपनी जमीन में खुद खेती करनेवालों की संख्या अधिक है। उद्योग-धंधों या शिल्प-प्रतिष्ठानों के न होने से यहाँ के लोगों को, वर्ष में प्रायः ५–६ महीने, जब कि खेती का काम नहीं रहता, बेकार रहना पड़ता है। प्रायः २१ प्रतिशत लोग खेती पर निर्भर नहीं हैं। ये लोग साधारणतया कारखानों, कुटीर-उद्योगों, व्यवसाय-वाणिज्य तथा सरकारी दफ्तरों में काम करते हैं। ओड़िशा की समस्त जनसंख्या में १४ वर्ष की आयुवाले बच्चों की संख्या अधिक है। ये प्रायः काम करने में असमर्थ हैं, अतः काम करनेवालों की संख्या अधिक नहीं है। १९५१ ई० की जनगणना की रिपोर्ट से पता चलता है कि यहाँ के अधिकांश लोग हिंदू हैं। यहाँ प्रायः दो लाख (१७६३३८) मुसलमान और डेढ़ लाख (१४१९३४) ईसाई वास करते हैं। इनके अतिरिक्त दूसरी जातियों के लोगों की संख्या बहुत कम है। कुल

१४६ लाख लोगों म से ९७ लाख लोग पिछड़ी हुई श्रेणी (Backward) के हैं। इनमें अनेक जातियों-उपजातियों के भी लोग सम्मिलित हैं। पिछले कई वर्षों की जनगणना के अनुसार इस प्रांत की जनसंख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। किंतु संपूर्ण भारत की जनवृद्धि की अपेक्षा यहाँ की वृद्धि बहुत कम है। जनसंख्या की इस निरंतर वृद्धि के अनुसार प्राकृतिक संपत्ति की उत्पादन-क्षमता में अनुपाततः जो वृद्धि होनी चाहिए, नहीं हो रही है। यही कारण है कि अनेक प्रयत्नों के बावजूद न तो यहाँ के रहन-सहन का स्तर ही ऊँचा हो पाता है और न जीवन-मान ही उन्नत हो पा रहा है। अतः जन्म की तुलना से मृत्यु अधिक होती है और लोग अल्पायु बनते जा रहे हैं।

यहाँ के अधिकांश लोग गाँवों में रहते हैं जहाँ उत्तम जीवन धारण के लिए कोई सुविधा नहीं है, इसलिए वे शहरों में भाग आते हैं। फलतः प्राचीन शहर जन-बहुल होते जा रहे हैं और शहरों की उन्नति के लिए प्रायः कोई योजना न होने के कारण उनकी दशा दिनों-दिन खराब होती जा रही है।

ऊपर ओड़िशा की भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। अब हमें यह भी देखना है कि उसके विभिन्न अंचलों में बसनेवाले लोगों ने अपने जीवनयापन के लिए कौन-कौन से पेशे अपनाये हैं।

समुद्र के तटवर्ती क्षेत्रों में रास्ता या घाट की विशेष सुविधा नहीं है। बरसात में यह भाग प्रायः पानी में डूबा रहता है। तब लोक नौकाओं से जाते-आते हैं, क्योंकि यह अंचल असंख्य नदी-नालों से विखंडित है। यहाँ के लोग बड़े कष्ट-सहिष्णु होते हैं। खेती भी अच्छी नहीं होती, इसलिए लोग खेती करने के साथ-साथ समुद्र और नदियों से मछली पकड़कर जीवन यापन करते हैं। ये लोग कुशल नाविक होते हैं और अधिक कपड़े लत्तों का व्यवहार नहीं करते। इन्हें जीविकोपार्जन के लिए नाना प्रकार की असुविधाओं का सामना करना पड़ता है, अतः यहाँ अधिक लोग भी नहीं रहते। इसके विपरीत ओड़िशा का समतल अंचल सबसे अधिक समृद्धिशाली है। ओड़िशा के प्रायः अधिकांश बड़े-बड़े शहर इसी बीच में बसे हुए हैं। यहाँ की आबादी घनी है और साक्षरों की संख्या भी अधिक है। तराई और पहाड़ी क्षेत्रों में विशेषकर आदिवासी लोग रहते हैं। ओड़िशा के कटक, पुरी और बालेश्वर जिले को छोड़कर शेष सभी जिलों में आदिवासियों की विभिन्न जातियाँ निवास करती हैं। ये लोग देखने में हट्टे-कट्टे और कठोर परिश्रमी होते हैं। खेती अच्छी न होने के कारण ये लोग जंगल से फल-मूल संग्रह करते हैं। आदिवासी श्रेणी के अनेक लोग खेत या खदानों में मजदूरी करके कालयापन करते हैं। जंगल में रहने के कारण इन लोगों ने अपने को आस-पास के वन्य वातावरण के अनुकूल बना लिया है। इन लोगों की उन्नति के लिए सरकार काफी व्यय कर रही है। ऐसे प्रदेश और वहाँ के आदिवासी ओड़िशा के अन्य प्रदेशों और जनसमूहों की अपेक्षा अनुन्नत हैं।

ब्रिटिश काल में ओड़िशा की उन्नति का ध्यान नहीं दिया गया। बहुत सी रियासतों के कारण भी शिक्षा का विशेष प्रसार नहीं हो पाया था। शिल्प-प्रतिष्ठानों के न होने से लोग खेती पर निर्भर रहने या दूसरे राज्यों में जाकर मजदूरी करने के लिए बाध्य होते थे। अतः सामान्य

जनता की दशा शोचनीय हो गई थी; लेकिन अब वह अवस्था क्रमशः बदलती जा रही है। हीरा-कुड और डुडुमा के बाँधों के बन जाने पर ओड़िशा में विद्युत्-शक्ति की कमी न रह जायगी। रूर-केला में चल रही लोहे के कारखाने की योजना अपनी समाप्ति पर निश्चय ही खेतिहर ओड़िशा को औद्योगिक ओड़िशा के रूप में परिवर्तित करने में सहायक होगी। उसके कारण यहाँ कई कार-खानों के बनने की पूरी संभावना है। इस प्रकार खेती पर निर्भर करने वाले अधिकांश लोगों को पर्य्याप्त रोजगार मिल सकेगा और खेती की पैदावार पर निर्भर रहनेवाली जनसंख्या में कमी भी होगी। खेती की उन्नति के साथ-साथ कल-कारखानों के विकास से ओड़िशा का निकट भविष्य अत्यंत आशाप्रद है। ऐसा हो जाने पर यहाँ की सर्वतोमुखी प्रगति के द्वार अवश्य खुल जायेंगे।

ओड़िशा का पुरातत्त्व

श्री परमानन्द आचार्य

ओड़िशा का क्षेत्रफल ६०००० वर्गमील से अधिक है। इसमें तेरह जिले हैं। इसकी भौगोलिक स्थिति बहुत ही विचित्र है। सारा देश वनों, पर्वतों से पूर्ण है। यह बंगोपसागर के पश्चिमी तट पर स्थित है, इसलिए इसकी उपकूल भूमि का पूर्वांश गंजाम, पुरी, कटक, और बालेश्वर जिलों में बँट गया है। इसके पश्चिमी पार्वत्य अंचल से निकली हुई ऋषिकुल्या, महानदी, ब्राह्मणी, वैतरणी, सालंदी, बुढाबलंग और सुवर्णरेखा आदि नदियाँ अपनी शाखा-प्रशाखाओं सहित बंगोपसागर में मिल गई हैं। इनमें ऋषिकुल्या, वैतरणी, सालंदी, बुढाबलंग, और सुवर्णरेखा आदि नदियों की शाखा-नदियाँ न होने से, इन सबके मुहानों में त्रिकोण भूमि नहीं बनी है। सिर्फ महानदी और ऋषिकुल्या की शाखा-प्रशाखाओं द्वारा पुरी और कटक जिले की त्रिकोण भूमि निर्मित हुई है।

नदियाँ और पर्वत सदा से मानव-सभ्यता पर सबसे ज्यादा प्रभाव डालते आये हैं। ओड़िशा के लिए भी यही बात है। यह राज्य भारत के पूर्व में है, इसलिए इसके निकटवर्ती अंचल की मानव-सभ्यता नदी-मार्ग से यहाँ आई थी। यह कब और किस युग में आई थी, इसका पता नहीं है, इसलिए इसका पुरातत्त्व दो प्रधान भागों में बँट गया है। पहला है प्रागैतिहासिक, और दूसरा ऐतिहासिक। प्रागैतिहासिक युग में लिपि-व्यवहार का पता नहीं चलता है, लेकिन ऐतिहासिक युग का आरंभ लिपियों के व्यवहार पर ही स्थापित है। ओड़िशा में आविष्कृत सबसे प्राचीन लिपियाँ अशोक के धँउली और जउगड शिलालेखों में हैं। इनका समय ई० पू० तीसरी शताब्दी है। इसके पूर्व की लिपियुक्त मानव-सभ्यता का पता आज तक नहीं चला है, इसलिए यह नहीं मानना चाहिये कि इस देश में इसके पहले की सभ्यता का निदर्शन-मूलक पुरातत्त्व ही नहीं था। आशा है, निकट भविष्य में प्राग्मौर्य युग की सभ्यता के निदर्शन ओड़िशा में मिल जायेंगे।

प्रस्तर युग

पुरातत्त्व और भूतत्त्वविदों का मत है कि प्रस्तर-युगीन मानव नदी-गर्भ से प्राप्त सबसे प्राचीन अस्त्र तैयार करने में समर्थ हुआ था। इन प्रस्तर-अस्त्रों के द्वारा हमें तत्कालीन मानव के हस्तशिल्प की कुशलता का तो पता चलता ही है, साथ ही उसके मस्तिष्क की चिंताधारा भी व्यक्त होती है। आज पृथ्वी में जिस मानव ने सभी प्रकार के जीव-जन्तुओं पर अपना अधिकार जमा लिया है, उसकी प्रथम अभिव्यक्ति हस्तकार्य और मस्तिष्क के संचालन के द्वारा ही हुई थी। मनुष्य

ने पशु-पक्षियों से कई प्रकार के काम अनुकरण द्वारा सीखे हैं और यह इसके दीर्घ समय के परीक्षा-मूलक पर्यवेक्षण का ही परिणाम है। विशेषज्ञ पंडितों ने प्रथम प्रस्तर-युग की कार्यावलियों को आदि-प्रस्तर या प्रत्न-प्रस्तर युग नाम दिया है। इस समय के सभी अस्त्र काटने या छेदने के लिए तैयार हुए थे। इसके बाद मनुष्य के विकास और जीविका-निर्वाह के लिए नये-नये हथियार तैयार करने की प्रवृत्ति बढ़ी। अतः प्रत्न-प्रस्तर युग के अस्त्रादि की अपेक्षा नव्य प्रस्तर के अस्त्रादि अधिक परिमार्जित हुए। इस समय लोग आग का व्यवहार सीख चुके थे। जीव-जंतुओं के मांस को आग में भूनकर खाना तथा फल, मूल और अनाजों का खाद्य रूप में व्यवहार करना भी उन्हें मालूम था। इसके अतिरिक्त मिट्टी के बर्तन और रसोई बनाने का उनको विशेष ज्ञान था। इस युग के लोगों के कार्य के विषय में हम ऐसी ही थोड़ी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

ओड़िशा के मयूरभंज, ढेंकानाल, और सम्बलपुर जिलों से काफी प्राचीन या प्रत्न-प्रस्तर युग के अस्त्र आविष्कृत हुए हैं। प्रत्न-प्रस्तर युग के बाद नव्य युग के अनेक चिह्न ओड़िशा के मयूर-भंज, केउंझर, ढेंकानाल, पुरी, और सुंदरगढ़ जिलों से काफी संख्या में मिले हैं और मिल भी रहे हैं। गंजाम, कोरापुर, कालाहाँडी, बलांगीर, कटक, बालेश्वर, संबलपुर आदि जिलों से भी पत्थर के शस्त्रों के अवशेष न मिलने पर भी, आशा है कि यत्नपूर्वक खोज करने पर अवश्य मिलेंगे।

पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि मयूरभंज, ढेंकानाल, संबलपुर और इसके आस-पास के स्थानों में प्राचीन आर्य-सभ्यता प्रसारित हुई थी। वैवस्वत मनु के पूर्व बुध के औरस और 'इला' के गर्भ से चंद्रवंशी राजा के आदिपुरुष जन्मे थे। उसी इला ने शिव के वरदान से पुरुष होकर सुद्युम्न नाम धारण किया था। सुद्युम्न के उत्कल, जय, और विशल नाम के तीन लड़के पैदा हुए। इसी उत्कल के नाम पर उसके राज्य का नाम उत्कल पड़ा। अतः उत्कल आर्यों का एक प्राचीन वासस्थान था। अधिक संभव है कि आधुनिक मयूरभंज, संबलपुर, ढेंकानाल आदि जिले उस प्राचीन उत्कल के अन्तर्गत रहे हों।

ताम्र युग

नव्य प्रस्तर युग के अंतिम चरण में लोगों ने कुल्हाड़ी जैसे हथियार के सिवा बर्छी जैसे स्कंध-युक्त हथियार का बनाना सीख लिया था। कुल्हाड़ी से काटने और बर्छी से छीलने का काम होता है। इसलिए इस प्रकार के अस्त्र मानव-प्रगति के परिचायक हैं। इसके अतिरिक्त उस समय के लोग धातुनिर्मित अस्त्रों का व्यवहार भी सीख गये थे। पृथ्वी में चारों ओर उस समय ताम्र-निर्मित अस्त्र का प्रयोग होता था अतः इस काल को ताम्र युग नाम दिया गया है। छोटा नागपुर और मयूरभंज जिले से इस प्रकार के ताम्र-निर्मित अस्त्र आविष्कृत हुए हैं। ये सभी पत्थर और धातु से बने हुए अस्त्र, समुद्र-तटीय अंचलों से न प्राप्त होकर, पार्वत्यांचलों में मिले हैं। प्रस्तर शस्त्रों और ताम्रास्त्रों के निदर्शन द्वारा यह मान लिया गया है कि अत्यन्त प्राचीन काल से ही ओड़िशा आदि मानव का वासस्थान था। सुंदरगढ़ इलाके के एक प्राकृतिक गह्वर से इस युग के लोगों के द्वारा निर्मित गेरूमाटी का चित्र भी आविष्कृत हुआ है। ऐसा मालूम पड़ता है कि सुंदरगढ़ इलाके

अंतर्गत सोरो के आसपास गंडिबेढ में 'शीनल' लिपि से युक्त अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। ये सभी ओड़िशा की प्राचीनतम मुद्राएँ कही जा सकती हैं। पुरातत्त्वविदों का कहना है कि ओड़िशा के मयूरभंज, बालेश्वर, कटक, पुरी आदि समुद्रतटीय जिलों से पुरी कुशाण नामक ताम्रमुद्राएँ काफी संख्या में प्राप्त हुई हैं। ये सभी मुद्राएँ कुशाण मुद्रा के अनुकरण पर निर्मित हुई हैं इसलिए इनका वैसा ही नाम पड़ा। पहले की मुद्राओं में कोई भी लिपि नहीं थी किंतु बाद की मुद्राओं में एक ओर 'टंका' और दूसरी ओर रथ के सदृश तीन चिह्न दिखाई पड़ते हैं। ये मुद्राएँ किस राजा की हैं, यह ठीक-ठीक नहीं मालूम पड़ता। प्रत्नतत्त्व-विशारद बेगलार (T. D. M. Beglar) ने लिखा है कि इन सभी भारतीय मुद्राओं के अतिरिक्त मयूरभंज के बामनघाटी सबडिवीजन के अन्तर्गत रायरंगपुर से कई स्वर्णनिर्मित रोमन मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उनमें रोम सम्राट् कांस्टेन्टाइन और गोर्डियन सम्राटों के चित्र अंकित हैं। रोम के गोर्डियन सम्राटों ने सन् २३५ से २४४ तक और दो कांस्टेन्टाइन सम्राटों ने क्रमशः सन् ३२३ से ३५३ और सन् ३५३ से ३६१ तक राज्य किया था। उनकी मुद्राएँ रोम से मयूरभंज कैसे आईं ? ऐतिहासिकों को ऐसे प्रमाण मिले हैं जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि उस समय रोम और भारत के बीच वाणिज्य का संबंध बड़ा घनिष्ठ था। उस समय ओड़िशा के उपकूल में ताम्रलिप्ति आदि कई बंदरगाह थे। इन बंदरगाहों के व्यापारी इन रोमन मुद्राओं को अपने व्यापारिक केंद्र में ले गये थे और इस प्रकार ये मुद्राएँ पर्वतमालाओं से घिरे हुए रायरंगपुर तक लाई गई थीं। वहाँ इन्हें किसी ने जमीन में गाड़ दिया था। ओड़िशा से ६ठीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक की कोई भी स्वदेशी या विदेशी मुद्राएँ नहीं मिली हैं जब कि हुएन-सांग ने ६ठीं-७वीं शताब्दी के उत्कलीय नौवाणिज्य का आकर्षक विवरण उपस्थित किया है। आशा है कि इस युग के मुद्रा-इतिहास का अंधकाराच्छन्न अध्ययन कभी न कभी अवश्य प्रकाश में आयेगा। गंग राजाओं के समय की, छोटे-छोटे आकारवाली, स्वर्णमुद्राएँ ओड़िशा के कई जंगलों से मिली हैं। उत्कल की स्वाधीनता के लोप होने के पश्चात् यहाँ मुगलों की मुद्राएँ प्रचलित हुईं। मुगल राजाओं की मुद्राएँ ओड़िशा के कटक और हरिहरपुर (आधुनिक जगतसिंहपुर) में थीं। मरहठों की अपनी कोई स्वतंत्र मुद्रा थी ही नहीं। फिर ब्रिटिश काल में पहले सन् १८३५ तक तो मुगल सम्राटों के नाम पर, तत्पश्चात् १९०३ से १९४७ तक इँगलैंड के राजाओं के चित्रों से युक्त मुद्राएँ ओड़िशा में प्रचलित रहीं।

लिपि तत्त्व

प्रत्नतत्त्व के अनुसंधान का एक प्रधान विभाग लिपितत्त्व है, क्योंकि लिपितत्त्व की गवेषणा द्वारा किसी भी देश के प्रत्नतत्त्व का विकास-क्रम आसानी से समझा जा सकता है। ओड़िशा के प्रत्नतत्त्व पर ओड़िशा के लिपितत्त्व का प्रभाव नीचे लिखे विवरण से आसानी से मालूम हो जायगा। पहले कहा गया है कि ओड़िशा बहुत प्राचीन काल से मानव का वासस्थान रहा है; लेकिन वहाँ से प्राप्त मनुष्य के व्यवहृत पदार्थों में से मृत्तिका-निर्मित पात्र या मूर्ति के सिवा दूसरे सभी पदार्थ नीरव साक्षी-स्वरूप हैं, क्योंकि ये सब किसी भी सिद्धांत पर पहुँचने के लिए सहायता नहीं करते।

किंतु इन सभी प्राचीन कीर्तियों से अगर लिपियुक्त निदर्शन मिले होते तो वे समय-निरूपण में विशेष सहायक होते।

आज इस बीसवीं शताब्दी के मध्य भाग में हम जिस ओड़िशा वर्णमाला का व्यवहार करते हैं उसका पढ़ना जिस प्रकार हमारी १०-१२ पीढ़ी पूर्व के मनुष्यों के लिए आसान नहीं है उसी प्रकार हमारे पूर्वजों के लेख भी आजकल आसानी से नहीं पढ़े जा सकते। अक्षर-माला की आकृति के विकास-क्रम की आलोचना को यूरोपीय पंडितों ने पालोग्रैफी नाम दिया है। प्रत्येक शताब्दी की आविष्कृत लिपियों की आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस शताब्दी की किस लिपि में क्या परिवर्तन हुआ था।

संबलपुर इलाके के विक्रम खोल नामक पहाड़ पर एक प्रकार का चिह्न खोदा गया है। ये सब कभी भी स्वतः निर्मित नहीं हैं, अर्थात् प्राकृतिक नहीं हैं। कई विशेषज्ञों का मत है कि ये सब प्राचीन लिपियाँ हैं। अगर ये लिपियों के रूप में पढ़ ली जायँ, तो 'विक्रम खोल' की लिपि ही ओड़िशा की प्राचीनतम लिपि के रूप में गिनी जायेगी।

आज तक की आविष्कृत और पठित लिपियों में ओड़िशा के पुरी जिले के अन्तर्गत धउलि और गंजाम जिले के अन्तर्गत जउगड़ के दोनों शिलालेख अशोक के हैं। इसमें ओड़िशा की सबसे प्राचीन लिपि का निदर्शन है। मौर्य सम्राट् अशोक के आदेश से ईसा पूर्व २५७ में ये दोनों गिरि-अनुशासन खोदे गये थे। अशोक के कई गिरि-अनुशासन और स्तंभ-अनुशासन भारत के विभिन्न स्थानों में मिले हैं जो इसी लिपि में लिखे गये हैं। इस लिपि का नाम ब्राह्मी है और यही संपूर्ण भारत में मौर्य युग की एकमात्र व्यवहृत लिपि थी। आधुनिक स्वाधीन भारत के अतिरिक्त मौर्य साम्राज्य की तरह भारत में कभी भी एक लिपि का व्यवहार नहीं था। आशा है कि हमारे देश की सरकार सारे भारत में एकमात्र देवनागरी लिपि को स्वाधीनता के चिह्नस्वरूप शीघ्र चलायेगी।

ओड़िशा में ब्राह्मी लिपि का द्वितीय निदर्शन भुवनेश्वर के पास खंडगिरि और उदयगिरि के गह्वरों और प्राकृतिक हाथीगुफा की गिरि-लिपि है। हाथीगुफा की गिरि-लिपि वास्तव में एक ऐतिहासिक लिपि है। इसमें सम्राट् खारबेल के तेरह वर्षों के कार्य-कलाप का वर्णन है। पता नहीं चलता कि यह कब लिखी गई थी। फिर भी यह सभी मानते हैं कि खंड-गिरि और उदय-गिरि की गुफाओं के कारुकार्य ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी के हैं।

ओड़िशा में ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्यभाग से ६ठी शताब्दी के मध्य भाग तक के छः सौ वर्षों के अन्दर लिपितत्त्व का कोई भी निदर्शन नहीं मिला था। थोड़े दिन पहले, भद्रक के आसपास के एक अंचल से एक शिलालेख और गंडिबेढ की मुद्रा की लिपि तथा पुरीकुशल नाम की मुद्रा में व्यवहृत लिपि के सिवा इस समय की दूसरी कोई लिपि आविष्कृत नहीं हुई है। इन लिपियों से पता चलता है कि जिस प्रकार भारत के हर भाग में लिपियों का विकास हुआ है, ठीक उसी प्रकार ओड़िशा में भी हुआ था।

६ठी शताब्दी में भारत के गुप्त साम्राज्य का प्रभाव ओड़िशा पर भी पड़ा था। सुमंडल,

ओड़िशा का पुरातत्त्व

शिव-पार्वती मूर्त्ति (खिचिङ्ग, मयूरभञ्ज)
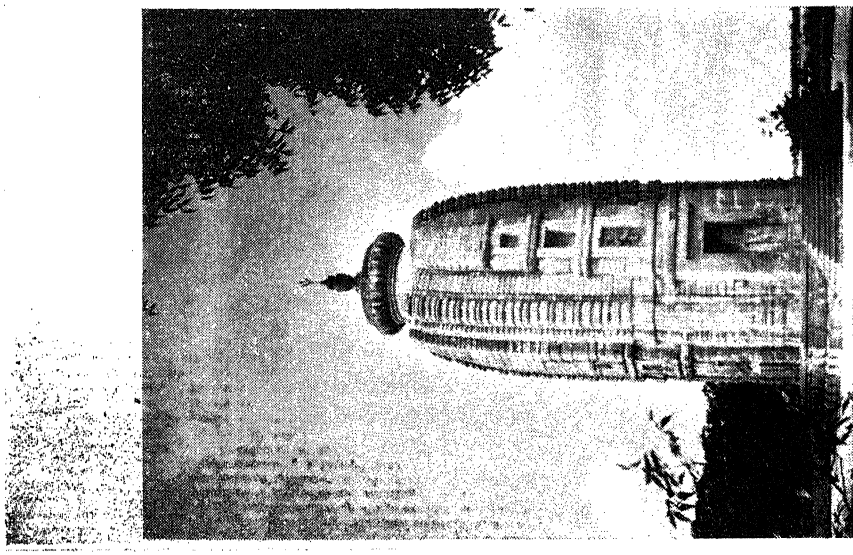
खिचिङ्ग शिव-मन्दिर

रत्नगिरि से प्राप्त बुद्ध-मस्तक
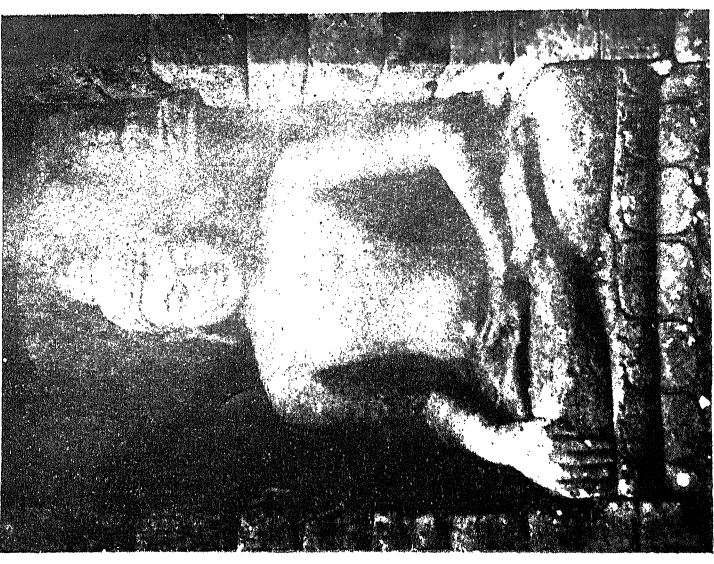
भूमिस्पर्श मुद्रा में बुद्धमूर्त्ति (रत्नगिरि, कटक)
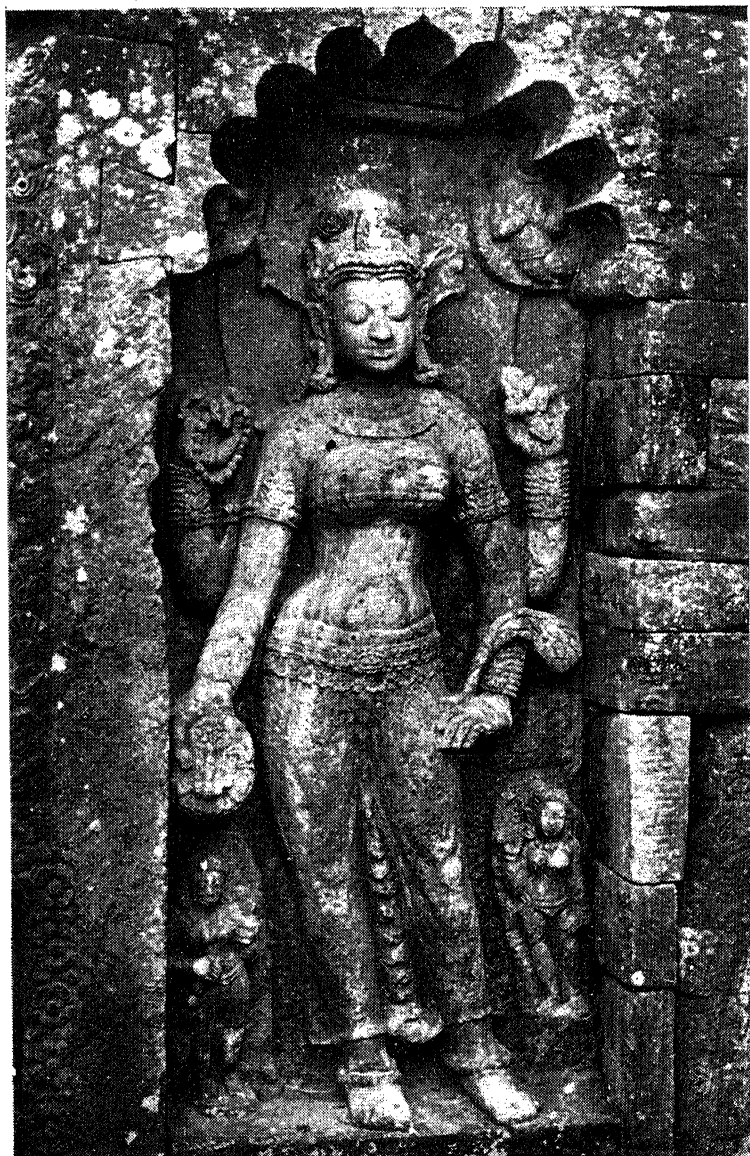
तारा (लखडा पहाड़ — ललितगिरि, कटक)

ओड़िशा का पुरातत्त्व

बुद्धदेवजी का मस्तक (रत्नगिरि)

अवलोकितेश्वर (उदयगिरि, कटक)
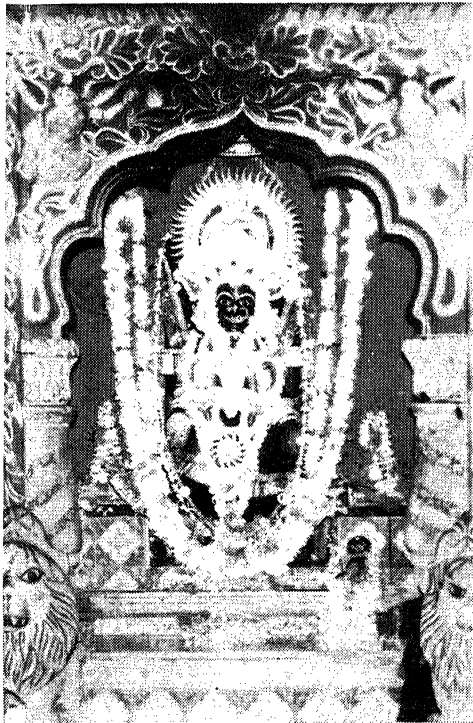
श्री श्री कटकचण्डी

(नीचे) काठजोड़ी का पत्थरबाँध
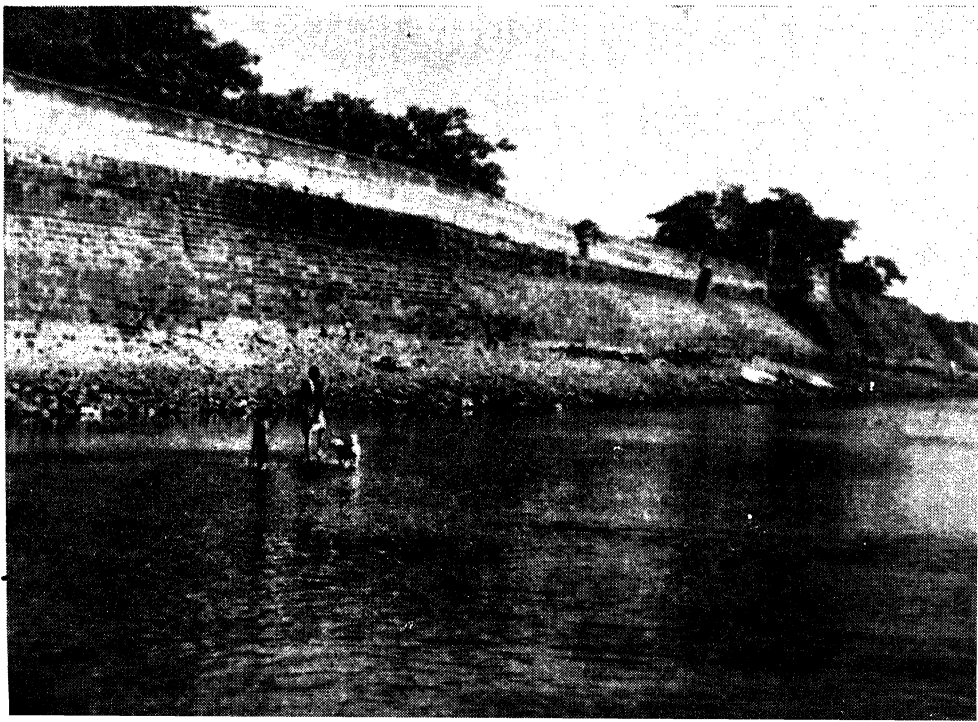
मंजुश्री (ललितगिरि, कटक)

कणासर और विग्रहवंशी ताम्रशासनों से मालूम होता है कि ओड़िशा गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत था। पटिया किल्ला का ताम्रशासन सन् ५८२ ई० में लिखा गया था। इसमें मानवंश राज्य की सार्वभौमिकता की बात लिखी है। इसके बाद सौर के ताम्र-शासन मिले थे। मेदिनीपुर जिले से प्राप्त दो ताम्रशासनों में शशांक का नाम मिलता है। मालूम होता है कि उनके अधीनस्थ राजा तथा सोरो ताम्रशासन के राजा, दोनों एक थे। सातवीं शताब्दी के आरंभ में ओड़िशा शशांक के अधीन था। गंजाम जिले से प्राप्त शैलोद्भव वंशी राजा माधवराज शशांक के अधीन थे। उनका ताम्रपत्र गुप्ताब्द ३०० या ६१९-२० ई० में लिखा गया था। शशांक के अंतिम जीवन की बात किसी भी उपादान से नहीं मिलती। उत्तरी भारत के राजा हर्षवर्धन से उनका युद्ध हुआ था। उनके समय में चीनी पर्यटक हुएन्सांग ओड़िशा आया था। उसने पुष्पगिरि विहार तथा चेलिताले नाम के एक बंदरगाह का वर्णन किया है। पुष्पगिरि बहुत प्राचीन स्थान है। नागार्जुन कोंडा से प्राप्त तीसरी शताब्दी के शिलालेख में इसका नाम मिलता है। लेकिन पुष्पगिरि बिहार और चेलिताले बंदरगाह दोनों की भौगोलिक अवस्थिति का निर्णय हुए बिना ओड़िशा के इतिहास के अनेक उपकरण नहीं मिल सकते।

भौमवंश

ओड़िशा में लगभग ६५० से ९५० ई० तक (३०० सौ वर्षों तक) भौमवंशी राजाओं ने शासन किया था। इस वंश के अनेक ताम्रपत्र मिले हैं। बौद्ध धर्मावलंबी होने पर भी वे राजे ब्राह्मण धर्म के प्रति उदासीन नहीं थे। इस वंश के शासकों की कई रानियाँ थीं। उनमें से त्रिभुवन महादेवी और दंडी महादेवी के ताम्रपत्र मिले हैं। भौमवंशी राजा शुभकर केशरी ने प्रज्ञ नामक एक बौद्ध भिक्षुक के हाथों अपने हाथ का लिखा अबंडसक नामक एक ग्रन्थ चीन-राजा के पास भेजा था। चीन देश के इतिहास से यह बात मालूम होती है। मालूम पड़ता है कि भौम राजत्वकाल में ओड़िशा में नौवाणिज्य का खूब प्रसार था। भौम युग की प्राचीन कीर्तियाँ जाजपुर और कटक जिले के रत्नगिरि, उदयगिरि और ललितगिरि में पाई गई हैं।

ओड़िशा के दूसरे राजवंश

भौम-राजत्व के अंतिम भाग में सार्वभौमशक्ति के दुर्बल हो जाने पर भंज, तुंग, वराह, स्तंब आदि राजाओं ने अपने-अपने नामों से ताम्रपत्र दिये और अपनी राजधानियों में अनक मूर्तियाँ और मंदिर बनवाये। उनका ध्वंसावशेष आज भी खिचिंग (खिंजिगकोट), कोआलु (कोदालक), बौद और गंध राढी में विद्यमान है।

सोमकुली केशरी वंश

इस वंश के राजाओं के अनेक ताम्रपत्र और शिलालेख मिले हैं। ओड़िशा में उन लोगों ने लगभग सन् ९५० से ११९० ई० तक शासन किया था। इस वंश की प्रधान कीर्ति भवनेश्वर का लिंगराज और ब्रह्मेश्वर मंदिर है।

गंगवंश

सन् ११११ में गंगवंशी राजा चोल गंगदेव ओड़िशा के सार्वभौम राजा बने। उनकी प्रधान कीर्ति पुरी का जगन्नाथ मंदिर है। सन् ११११ से १४३४ ई० तक के ३२३ वर्षों तक गंगवंशी राजाओं ने मुसलमानों से ओड़िशा की स्वाधीनता बचाई थी। इस वंश के अनेक ताम्रपत्र मिले हैं। स्वयं राजाओं और उनके राजत्वकाल में खोदे गये अन्यों के अनेक शिलालेख मंदिरों में प्राप्त होते हैं।

सूर्यवंश

सन् १४३५ में सूर्यवंश के राजा कपिलेन्द्र या कपिलेश्वर देव ओड़िशा के सिंहासन पर बैठे। इसके पहले वे अंतिम गंग राजा के प्रधान कर्मचारी थे। इस वंश के तीन राजे प्रतिपत्ति-शाली थे। इस समय ओड़िशा का साम्राज्य सबसे बड़ा था तथा गंगा से लेकर कावेरी नदी तक फैला हुआ था। समुद्र के निकटवर्ती अंचलों में ओड़िशावासियों का प्राधान्य था। इस वंश के राजाओं के अनेक ताम्रपत्र और शिलालेख मिले हैं।

भोई वंश

गोविंद विद्याधर नामक एक प्रधान राजकर्मचारी सूर्यवंश के अंतिम राजा प्रतापरुद्र के पुत्रों की हत्या करके ओड़िशा के सिंहासन पर बैठा था। इस वंश ने सन् १५३३ से १५५९ ई० तक शासन किया था। इस वंश के राजाओं की भी कई समसामयिक लिपियाँ हैं। ओड़िशा की स्वाधीनता लुप्त होने के बाद इस वंश के राजा रामचंद्र देव ने मुगल राजत्व के प्रारम्भ में खोर्दा में भोई वंश की स्थापना की थी। इस वंश के वंशधर आज भी पुरी-राजा नाम से प्रसिद्ध हैं।

चालुक्य वंश

ओड़िशा के अंतिम स्वाधीन राजा मुकुन्द देव सन् १५५९ में ओड़िशा के सिंहासन पर बैठे। वे चालुक्य वंशी थे। उनके राजत्व-काल के थोड़े से शिलालेख मिलते हैं। सन् १५६८ में बंगाल के अफगानों ने मुकुन्द देव की हत्या कर ओड़िशा पर अधिकार कर लिया था। बाद में लिपि-तत्त्व का अभाव न होने पर भी उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

भास्कर्य्य

धउली पहाड़ पर ठीक अशोक की गिरि लिपि के ऊपरी भाग में निर्मित हाथी का सिर ओड़िशा का प्राचीनतम मानव-खोदित भास्कर्य्य है। इसके बाद हम पुरी जिले के उदयगिरि और खंडगिरि नामक पहाड़ों की गुफाओं में खोदे हुए मनुष्य, पशु-पक्षी, और वृक्ष-लताओं के चित्र पाते हैं। इन सबका समय ईसा पूर्व पहली या द्वितीय शताब्दी है। डा० कृष्णचंद्र

पाणिग्राही का कहना है कि इस युग के भास्कर ने मनुष्य, और जीव-जंतुओं की मूर्ति की तैयारी में जो पारदर्शिता दिखाई है, वह बोधगया, साँची और भरहुत के साथ तुलनीय है। उदयगिरि और खंडगिरि के जय-विजय, पणस, स्वर्गपुरी, मंचपुरी, गणेश, राणीनहर, अनंत गुफा, आदि तत्कालीन स्थापत्य के उज्ज्वल निदर्शन हैं। शिल्पियों ने गिरि-गात्र खोदकर उसमें रहने का जो नमूना दिखाया है उससे उनके शिल्पज्ञान की पराकाष्ठा मालूम पड़ती है। ओड़िशा के इस युग के भास्कर्य्य का परवर्ती युग पर क्या प्रभाव पड़ा था, यह समझने के प्रमाण नहीं हैं; परन्तु इस युग का गुहा-स्थापत्य ८वीं शताब्दी से ११वीं शताब्दी के बीच खोदी गई गुफाओं से प्रमाणित हो जाता है। ८वीं शताब्दी की धउली पहाड़ और १०वीं-११वीं शताब्दी की खंड-गिरि की नव मुनि, और ललाटेन्दुकेशरी आदि गुफाएँ उल्लेखनीय हैं। केउंझर जिले के सीताबिझ में जो गिरि-चित्र मला है उसमें उत्कीर्णित लिपि से मालूम होता है कि इसका समय ५वीं शताब्दी है। ओड़िशा में कहीं भी दूसरी जगह ऐसे चित्रों के निदर्शन नहीं हैं। लेकिन इस एक निदर्शन से ज्ञात होता है कि प्राचीन ओड़िशा की चित्रकला कैसी उन्नत थी। कई विशेषज्ञों ने अजंता के चित्रों के साथ इस चित्र की तुलना की है। खारबेल पहाड़ों पर जो मूर्तियाँ खोदी गई थीं उनमें कोई उपास्य देवता नहीं था। लेकिन परवर्ती युग में इन सब स्थानों में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ देखी जाती हैं। उपास्य देवता न होने पर भी खंडगिरि और उदयगिरि की प्राचीन गुफाओं की मूर्तियों में शिल्पियों ने रमणीयता लाने का समर्थ प्रयत्न किया है। इन कई स्थानों के सिवा प्राचीन ओड़िशा के स्थापत्य और भास्कर्य्य के निदर्शन दूसरी जगह नहीं हैं। आज तक पता नहीं चल सका है कि ईसा के प्रथम ६०० वर्षों के इतिहास में ओड़िशा के स्थापत्य और भास्कर्य्य का क्या स्थान था। लेकिन ७वीं सदी से शैलोद्भव और भौम राजत्वकाल में भास्कर्य्य और स्थापत्य कलाएँ मूर्तियों और मंदिरों में परिणत हुई थीं। ७वीं-८वीं शताब्दी में मंदिर और मूर्ति निर्माण के पूर्व यह जानने की किसी को इच्छा भी नहीं थी कि भारत में कहीं दूसरी जगह भी ऐसे निर्माण हुए हैं या नहीं। भारत में वैदिक धर्म के साथ बौद्ध और जैन धर्म सर्वत्र समान रूप से प्रवर्तित था। हर एक धर्म के उपासक अपने-अपने देवताओं और मंदिरों के निर्माण में लगे रहते थे। उत्तर भारत में मथुरा बहुत प्राचीन तीर्थ है। यहाँ पहले बौद्धों ने मूर्तिपूजा का प्रचलन किया था। इस तरह दक्षिण के अमरावती में भी बौद्ध मूर्ति स्थापित हुई थी। संभव है, ओड़िशा में इस मूर्तिपूजा का प्रभाव उत्तर और दक्षिण दोनों ओर से पड़ा हो, क्योंकि शक-कुशान युग जैसी मूर्तियाँ ओड़िशा में नहीं हैं। मथुरा से बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्म की अनेक प्राचीन मूर्तियाँ विभिन्न संग्रहालयों में संगृहीत हैं। इसके पहले ही साँची आदि के बौद्ध स्तूप निर्मित हुए थे। गुप्त राजत्व-काल में मथुरा के इन सभी भास्कर्य और स्थापत्य के प्रचुर रूप में तैयार होने का सुयोग मिला था। धीरे-धीरे यही कलाएँ प्रचारित होकर ओड़िशा के उपकूल में ७वीं शताब्दी या इसके कुछ पहले विकसित हुई थीं।

ओड़िशा का भास्कर्य्य ओड़िशा के चारों ओर फैला हुआ है। पुरी जिले के भुवनेश्वर में प्राचीन भास्कर्य और स्थापत्य दिखाई पड़ता है। डा० कृष्णचन्द्र पाणिग्राही ने भुवनेश्वर भास्कर्य के विषय में विस्तृत रूप से खोज की है। उनकी थिसिस आज तक मुद्रित नहीं हुई है; लेकिन

उनके द्वारा लिखित और सन् १९४९ की 'ओड़िशा रिव्यू' में प्रकाशित उनके भुवनेश्वर नामक लेख से अनेक बातों की जानकारी होती है। पुरी जिले से प्राप्त हरिपुर की चौंसठ योगिनी की मूर्तियाँ और काकर अंचल की विष्णु की मूर्तियाँ तथा ईंटों के मंदिर, थोड़े दिन हुए, प्रकाश में आये हैं। कटक के गिरित्रय—रत्नगिरि, उदयगिरि और ललित गिरि—के बौद्ध भास्कर्य के अध्येता स्वर्गीय रमाप्रसाद चन्द द्वारा लिखित तथा भारत सरकार के आर्किओलाजिकल डिपार्टमेंट से प्रकाशित मेमोरीज आव् आर्किओलाजिकल सर्वे आव् इंडिया नामक ग्रन्थ से सारी बातों की जानकारी मिल जाती है। चन्द महाशय ने इस ग्रंथ में जाजपुर और पुरी की मातृका एवं बौद्ध मूर्तियों के विषय में भी लिखा है। इस ग्रंथ में ओड़िशा के भौमयुग के भास्कर्य के विषय में अनेक बातें बताई गई हैं। कटक जिले के अन्तर्भुक्त नरसिंहपुर, बडाम्बा, और आठगड़ इलाके में भास्कर्य और स्थापत्य के अनेक निदर्शन मिले हैं। नरसिंहपुर की बणेश्वर, नासिके, बौद्ध तारा की मूतियाँ लाल पत्थर से बनी हुई हैं। तारा की मूर्ति पटना म्युजियम में है। बडाम्बा के सिंहनाथ मंदिर का कारुकार्य भौमयुग की कीर्तियों के समान है। थोड़े दिन हुए, कटक जिले के सदर सबडिविजन से अनेक नई मूर्तियाँ और मंदिर आविष्कृत हुए हैं। मूर्तियों में महिषासुरमर्दिनी की मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। इनमें से एक नूआगां और दूसरी बटेश्वर में है। ऋषिमठ से प्राप्त मूर्तियाँ भी उल्लेख योग्य हैं। ईंटों से निर्मित मंदिर की चर्चा स्थापत्य में की जायगी। बालेश्वर इलाके के नाना स्थानों और गाँवों में ९वीं या १०वीं शताब्दी की निर्मित विभिन्न धर्मों की अनेक मूर्तियाँ देखने को मिलती हैं। लेकिन नीलगिरि सबडिवीजन के अयोध्या गाँव में बौद्ध तांत्रिक और महायान पन्थ की अनेक मूर्तियाँ एक साथ मिलती हैं। मयूरभंज इलाके के खिचिंग में १०वीं या ११वीं शताब्दी के ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्म की अनेक मूर्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। इन सब मूर्तियों की गठनभंगिमा ऐसी सुंदर है कि विशेषज्ञों ने इसके भास्कर्य को ओड़िशा के भास्कर्य के बीच में एक स्वतंत्र विकास माना है। खिचिंग के मंदिरों की चर्चा 'स्थापत्य' में की जायगी। ढेंकानाल जिला ब्राह्मणी नदी की पार्वत्य उपत्यका में अवस्थित है। इस जिले के तालचेर के पास सरिंग ग्राम के अनंतशायी विष्णु की मूर्ति का निर्माण, ब्राह्मणी नदी के बीच, पत्थरों से हुआ है। इसका निर्माण-काल ९वीं शताब्दी माना गया है। इस मूर्ति की लंबाई ४२ फुट है। तालचेर से १८ मील की दूरी पर 'भीमकुंड' गाँव के अनंतशायी सरिंग की मूर्ति भी अनेक सामान्य प्रभेदों के बावजूद उल्लेखनीय है। मूर्ति की लंबाई ५० फुट है। सरिंग मूर्ति में विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति दिखाई गई है। लेकिन भीमकुंड की मूर्ति में यह नहीं है। ब्राह्मण धर्म की ऐसी विराट् मूर्ति सारे भारत में कहीं नहीं है। महीशूर से प्राप्त खुमटेश्वर की जैन मूर्ति की लंबाई ५७ फुट है। खुमटेश्वर और भीमकुंड में यह अंतर है कि एक की मूर्ति खड़ी हुई है, और दूसरे की लेटी हुई है।

बलांगीर और कालाहांडि जिले के भास्कर्य काफी कौतूहलजनक हैं। इनसे तेल नदी की उपत्यका की सभ्यता प्रमाणित होती है। सोनपुर सब डिवीजन के बौद्धनाथ मंदिर का विमान नष्ट हो गया है लेकिन इसकी मुखशाला भग्नोन्मुख होने पर भी स्थापत्य और भास्कर्य की दृष्टि से

अद्वितीय है। इस सब डिवीजन का चडजा मंदिर यद्यपि बैदनाथ मंदिर का सामयिक नहीं है फिर भी उनकी गठन-रीति एक सी है। तेल नदी के दक्षिणी तट पर कालाहांडि जिले के अन्तर्गत बेलखंडि की मूर्तियों में भास्कर की मूर्ति की गठन-कुशलता चमत्कार-पूर्ण है। बलांगीर जिले के राणी-टरिआल से प्राप्त चौषठि योगिनी की मूर्तियाँ हीरापुर की मूर्तियों से इस दृष्टि से स्वतंत्र हैं कि यहाँ की मूर्तियाँ बैठी हैं, खड़ी नहीं। चूँकि दोनों स्थानों की मूर्तियों के निर्माण-काल में लंबा व्यवधान है इसलिए उनकी कला में सादृश्य नहीं लक्षित होता। कोरापुट, गंजाम, सम्बलपुर, और सुंदरगढ़ जिलों की भास्कर्य-कला आज तक अविदित है।

मूर्तितत्त्व

ओड़िशा की सबसे प्राचीन मूर्ति खंडगिरि और उदयगिरि में मिली है। लेकिन इनमें मूर्तितत्त्व के निहित होने का प्रमाण आज तक नहीं मिला है। इन मूर्तियों में देव-देवियों के आराधना-सूचक प्रायः सभी चिह्न हैं। अर्थात् ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी की मूर्तियाँ यद्यपि मनुष्य-भावसंपन्न और मनुष्याकृति की हैं, फिर भी उनमें उपासनासूचक देवभाव के प्रायः सभी चिह्न आरोपित हुए हैं। यद्यपि शिल्पी मनुष्याकृति के विकास के लिए ही प्रयत्नशील था किन्तु वह स्वाभाविक मनुष्याकृति के गठन में सफल नहीं हो सका था। प्रतीत होता है कि उस समय की ओड़िया शिल्पधारा भारतीय शिल्पधारा के समानान्तर प्रवाहित हो रही थी। भुवनेश्वर के निकट कपिलेश्वर की एक नागमूर्ति और दो नागिन-मूर्तियों से प्रमाणित होता है कि उस समय ओड़िशा में नागपूजा का प्रचलन था। इसके अलावा भुवनेश्वर-अंचल से और भी कई नागमूर्तियाँ मिली हैं। प्रथम शताब्दी से लेकर ७वीं सदी तक के लंबे ६०० वर्षों में बौद्ध, जैन या ब्राह्मण धर्म कोई भी देव-मूर्ति ओड़िशा में आज तक आविष्कृत नहीं हुई है। इसलिए उत्तरी भारत के मथुरा आदि स्थानों से प्राप्त देवमूर्तियों के समान ओड़िशा में देवमूर्तियाँ नहीं हैं।

सच तो यह है कि शक-कुशाण के समय मथुरा में मानवाकृति देव-मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। लेकिन उनमें न तो कला की सजीवता थी और न उनमें आँखों को अच्छे लगने वाले भाव ही थे। गुप्त सम्राट् चूँकि कला के श्रेष्ठ मर्मज्ञ थे अतः तत्कालीन शिल्पी देवी-देवताओं की मूर्तियों के मुखमंडल और शरीर की भंगिमा में देवभाव-द्योतक चित्तवृत्तियों को आरोपित करने में समर्थ हो सके थे। इस समय भास्कर्य के विकास के साथ स्थापत्य का भी विकास हुआ था, क्योंकि देवता और देवता के स्थान देवमंदिर, दोनों में स्वर्गीय सत्ता प्रदर्शित करने के लिए शिल्पियों ने काफी प्रयत्न और मनन किया था। इस समय बौद्ध-जैन और ब्राह्मण धर्म की देवमूर्तियों में शिल्पी की वास्तविक कल्पना ही मूर्तिमंत होती थी। मानवाकृति देवमूर्ति में बहुभुज, और बहु मस्तक की अपौरुषेय कल्पना द्वारा उपासक अपनी भक्ति अर्पित करता था। इस तरह शिल्पी आयुध, वाहन, अलंकार, परिधेय आदि को दृष्टि में रखकर मूर्ति का निर्माण करता था। पत्थरों पर खोदी हुई मूर्तियों से मालूम होता है कि महिषासुरमर्दिनी की मूर्तियों के हाथ संख्या में दो, चार, छः, आठ, दस, बारह, सोलह अठारह और बीस भी हैं। ध्यान के अनुसार धर्म में अनेक देवियों और देव-

ताओं की कल्पना की गई है। बौद्ध धर्म के देवी-देवताओं की संख्या अगणित है। जैन धर्म के देव-देवियों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। इसके पर्य्याप्ति प्रमाण हैं कि ओड़िशा में ७वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक बौद्ध, जैन, और ब्राह्मण धर्म के देव-देवियों की मूर्तियों का प्रचलन विशेष रूप से था।

मंदिर स्थापत्य

समयानुसार उत्तरी भारत के बौद्ध स्तूपों के स्थापत्य ने उत्कलीय मंदिरों के विशिष्ट शिखर का आकार धारण किया था। ऐसा विश्वास कर लेने पर भी इसके विकास-क्रम के प्रमाणों का अभाव है, फिर भी ऐसे प्रमाण हमें मिले हैं। भुवनेश्वर के रामेश्वर मंदिर के पास लक्ष्मणेश्वर, भरतेश्वर, शत्रुघ्नेश्वर, स्वर्णजालेश्वर आदि कई मंदिर ओड़िशा के प्राचीनतम मंदिर हैं। इनमें जगमोहन या मुखशाला नहीं है। परशुरामेश्वर, शिशिरेश्वर, मार्कण्डेश्वर, बेताल और मोहिनी आदि मंदिरों में मुखशाला नहीं है। इसलिए माना गया है कि उन सबका निर्माण कुछ बाद में हुआ है। ये सब शिखरयुक्त मंदिर हैं। शिखर-गठन के अनुसार मंदिर के स्थापत्य को नागर, कलिंग, द्राविड़ और वेसर आदि चार भागों में बाँटा गया है। लेकिन इन चारों श्रेणियों को यूरोपीय पंडितों ने आदि भारतीय और द्राविड़ नामक दो भागों में ही बाँटा है। अनुमान है कि इन सब मंदिरों का निर्माण-काल ७वीं सदी के मध्य भाग से लेकर ८वीं सदी के अंत तक है। इनमें से कई मंदिरों में ग्रहों की मूर्तियाँ नहीं हैं। लक्ष्मणेश्वर और परशुरामेश्वर में नवग्रहों के स्थान पर अष्ट ग्रह ही हैं। हर एक ग्रह के नाम भी पत्थर पर खोदे गये हैं। मुखशाला के गठन से मालूम होता है कि ये परवर्ती काल में निर्मित हुए थे। अष्टग्रहों में राहु तो है पर नवाँ ग्रह केतु नहीं है। मुक्तेश्वर मंदिर में कुल नौ ग्रह हैं, इसलिए अनुमान है कि मुक्तेश्वर मंदिर का निर्माण परवर्ती काल अर्थात् १०वीं सदी के बीच हुआ था। राजाराणी मंदिर में नवग्रह के साथ अष्टदिक्पालों की मूर्तियाँ भी हैं। इन अष्टदिक्पालों की मूर्तियाँ लिंगराज और ब्रह्मेश्वर मंदिरों में भी हैं। ब्रह्मेश्वर मंदिर के शिलालेख के अनुसार उसका समय ११वीं सदी का तीसरा चरण माना गया है। लिंगराज मंदिर ब्रह्मेश्वर मंदिर से कुछ पुराना है।

खिचिंग के मंदिरों का निर्माण परशुरामेश्वर मंदिर के बाद का होने पर भी ये सब बौद्ध गड्ढा के मंदिरों के समान हैं। मुखशाला का अभाव मंदिर स्थापत्य का एक विशेषत्व है। ये सब पत्थर निर्मित-मंदिर स्थापत्य के निदर्शन हैं। पुरी और कटक जिले के उपकूलवर्ती अंचल में पत्थर कम मिलता है, इसलिए शिल्पियों ने ईंटों से 'रेख देउल' तैयार करके मंदिर स्थापत्य में एक अभिनय सौन्दर्य की सृष्टि कर दी है। ८म, ९म, और १०म शताब्दी के बीच में ओड़िशा के चारों ओर मंदिर स्थापत्य का अद्भुत विकास हुआ था। इसमें संदेह बिलकुल नहीं है। इस विकास की चरम अभिव्यक्ति भुवनेश्वर के लिंगराज में हुई है। मालूम होता है कि भुवनेश्वर के लिंग-राज मंदिर और पुरी के जगन्नाथ मंदिर के निर्माणकाल में लगभग एक शताब्दी का अन्तर है। दोनों मंदिरों के गठन-कौशल में प्रायः कुछ पार्थक्य नहीं है। दुर्भाग्यवश जगन्नाथ मंदिर में अधिक

परिमाण में चूने का काम होने से मंदिर का बाहर जैसा विकृत हुआ है, इसी तरह मंदिर पर शोभावर्धनकारी कारीगरी के काम से बाहरी सौन्दर्य भी लोकदृष्टि से अदृश्य हो गया है। जगन्नाथ मंदिर की दिक्पाल मूर्तियाँ चूने के काम से आवृत थीं। लेखक की चेष्टा से यह खोदी जाने से वरुण और वायु की मूर्तियाँ दिखाई गईं। उन सबकी गठन-रीति लिंगराज के दिक्पाल के साथ समान है। जगन्नाथ मंदिर गंगवंशीय राजा चोड गंगदेव के द्वारा ११४७ ई० के पहले से निर्मित हुआ था। देश का शासन-भार एक नये राजवंश के अधीन होने पर भी देश के शिल्पियों ने अपने वंशानुक्रमिक शिल्प को अक्षुण्ण रखने में अपनी पटुता दिखाई है।

गंग युग के मंदिरों में भुवनेश्वर के 'मेघेश्वर', और निआलि के शोभनेश्वर मंदिरों में मंदिर-निर्माता का लिपिचातुर्य सन्निवेशित हुआ है। इन सबके गठन-कौशल में विशेष कुछ नूतनत्व नहीं है। इन सबका निर्माणकाल १२वीं शताब्दी का आखिरी भाग है। त्रयोदश शताब्दी में बने हुए गंगयुग के मंदिरों में कोणार्क सर्वश्रेष्ठ है। यह लगभग १३वीं शताब्दी के बीच में निर्मित हुआ था। 'मेघेश्वर' मंदिर और 'कोणार्क' मंदिर के निर्माण-काल में ५० साल का व्यवधान है। इस समय में 'काकुडिआ उच्च पीढ़ मंदिर' और बुढापड़ा के उच्चपीठ युक्त पार्श्वदेव के उद्देश्य से बने हुए एक मंदिर का अंश देखा जाता है। स्थापत्य के इन दो नये अंशों का विकास कोणार्क में विशेष उल्लेख योग्य है। पहला मंदिर-पीठ काफी ऊँचा है। कोणार्क मंदिर में चौबीस चक्के लगे हैं। इन सबको यथास्थान में रखने के लिए पीठ की उच्चता एकांत आवश्यक होने पर, शिल्पी पीढ़ की उच्चता की कल्पना करके, उसे कार्य रूप में परिणत करने में विशेष रूप में समर्थ हुए थे। इसके अलावा पार्श्व देवताओं के लिए अलग मंदिर भी कल्पित हो स्थापत्य के अन्तर्भुक्त हुए थे। आजकल हम लिंगराज और जगन्नाथ-मंदिर में पार्श्वदेवताओं के लिए जो मंदिर देखते हैं ये समसामयिक नहीं हैं। सम्भव है, कोणार्क के पार्श्व-देवताओं के मंदिर तैयार होने के बाद लिंगराज और जगन्नाथ-मंदिर में ये निर्मित हुए हों। गंगयुग में निर्मित मंदिरों में से भुवनेश्वर के अनंत वासुदेव मंदिर-निर्माता के लिपि-फलक से मालूम होता है कि यह १२७८ ई० में निर्मित हुए थे। कोणार्क की अपेक्षा इस मंदिर में और एक स्थापत्य का विशेषत्व देखा जाता है। मालूम होता है कि अनंत वासुदेव मंदिर के पहले मंदिरों में केवल अष्टदिक्पाल मूर्ति है। लेकिन अनंत वासुदेव के मंदिर में अष्टदिक्पालों की शक्ति को स्थान मिला है। कोणार्क के समान अनंत वासुदेव मंदिर में ऊँचा पीठ है। इसके अलावा पार्श्व देवताओं के और तीन मंदिर भी हैं। कोणार्क मंदिर के स्थापत्य में और एक जो नया काम देखने में आता है वह है मुखशाला के सामने, थोड़ी दूरी पर, नाट्य मंदिर की कल्पना। ऐसा नाट्य मंदिर दूसरी जगह देखने में नहीं आता। अब भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर और पुरी के जगन्नाथ मंदिर में नाट्य मंदिर मुखशाला के पास बना हुआ है। और, यह आसानी से मालूम पड़ता है कि यह बाद का काम है। भुवनेश्वर के अनंत वासुदेव मंदिर में भी नाट्य मंदिर है। यह मालूम नहीं पड़ता है कि कोणार्क मंदिर के तैयार होने के बाद यह नाट्य मंदिर कब बना है।

मादला पंचांग से मालूम होता है कि सूर्यवंशीय राजा पुरुषोत्तम देव ने अपने ७ अंक में

जगन्नाथ मंदिर में भोगमंडप बनाया था। पुरुषोत्तम देव का ७ अंक १४७०-७१ ई० के साथ समान है। भुवनेश्वर के लिंगराज और अनंत वासुदेव मंदिर में भी भोगमंडप है। और यह सब १४७० के बाद निर्मित हुए हैं, इसमें संदेह नहीं है। लिंगराज और जगन्नाथ मंदिर में नाट्य मंदिर और भोगमंडप तैयार होने के कारण इन दोनों मंदिरों के निचले भाग में जो परिवर्तन हुआ है, यह आज भी देखा जाता है। इस समय जगन्नाथ मंदिर की चहारदीवारी के अन्दर होते हुए 'पातालेश्वर' और 'ईशानेश्वर' के दोनों मंदिर मिट्टी में गड़ गये हैं।

पहले लिखी हुई आलोचना से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि पहले ओड़िशा में सिर्फ विमान या मंदिर थे। इसके बाद मंदिर या विमान के साथ जगमोहन या मुखशाला जोड़ा गया। इसके बाद लिंगराज, अनंत वासुदेव और जगन्नाथ मंदिरों में नाट्य मंदिर और भोगमंडप तैयार हुए।

इस तरह ओड़िशा के मंदिर-स्थापत्य-विकास के लिए ८वीं शताब्दी से लेकर १५वीं तक लंबे ८०० वर्ष लगे थे।

राजधानी थागड—धउली और जौगढ़ अनुशासन से मालूम होता है कि अशोक के काल में उत्तर ओड़िशा में कलिंग की राजधानी तोषली थी और दक्षिण ओड़िशा में राजधानी सोमपा थी। धउली के आस-पास आधुनिक शिशुपाल गढ़ में और जउगड में मौर्ययुग के ऐतिहासिक उपादान अवश्य मिलते हैं, परन्तु इन दोनों स्थानों से समसामयिक अकाट्य प्रमाण नहीं मिला है। इस तरह खारबेल की लिपि में लिखा हुआ है कि कलिंग नगर की भौगोलिक अवस्था आज तक स्थिर नहीं हुई है। यह मालूम नहीं है कि १ सदी से लेकर ७ ई० तक के समय में ओड़िशा की राजधानी कहाँ थी। कोंगद शैलोद्भव राजाओं की राजधानी थी इसकी स्थिति का भी पता नहीं है कि इसकी अवस्थिति कहाँ है। अनुमान किया जाता है कि गंजाम जिले के गंजान्यल को उस समय शायद कोंगद कहा करते थे। समसामयिक लिपि से जाना जाता है कि भौम राजाओं के शासन-काल में विरजा या जाजपुर में राजधानी थी। लेकिन वहाँ खोदाई न होने के कारण उस समय की राजधानी के बारे में कुछ पता नहीं लगता है। भौमवंश के अवसान के बाद कई छोटे-छोटे राजवंशों के ताम्रपत्रों में उनकी राजधानी का उल्लेख है। उनमें से कितनों की भौगोलिक अवस्थिति मालूम हुई है। यथा—उत्तरी ओड़िशा में भंजों की राजधानी खिजिंग-कोट या मयूरभंज जिले की आधुनिक खिचिंग में थी। लेकिन दक्षिण ओड़िशा में भंज राजाओं की राजधानी धृतिपुर या खंजलि की अवस्थिति आज तक अविदित है। स्तम्भ राजाओं की राज-धानी कोदालक या आधुनिक ढेंकानाल जिले के आलुको में थी।

सोमवंशी-केशरी राजाओं की राजधानी सुवर्णपुर (आधुनिक बलांगीर जिले के सोनपुर) और बिनीतपुर (आधुनिक बिनका) और ययाति नगर में थी। मालूम होता है कि सुवर्णपुर का नाम बाद में ययाति नगर हुआ होगा। सोमवंशी राजाओं ने ओड़िशा के उपकूल अंचल को अपने अधिकार में करने के बाद जाजपुर में राजधानी स्थापन करके उसका नाम अभि-नव ययाति नगर रखा था। सोमवंशीयों ने चउदवार में भी एक सामयिक राजधानी की स्थापना की थी। मादला पांजि की किंवदंती से मालूम पड़ता है कि १२वीं शताब्दी के प्रारम्भ में या
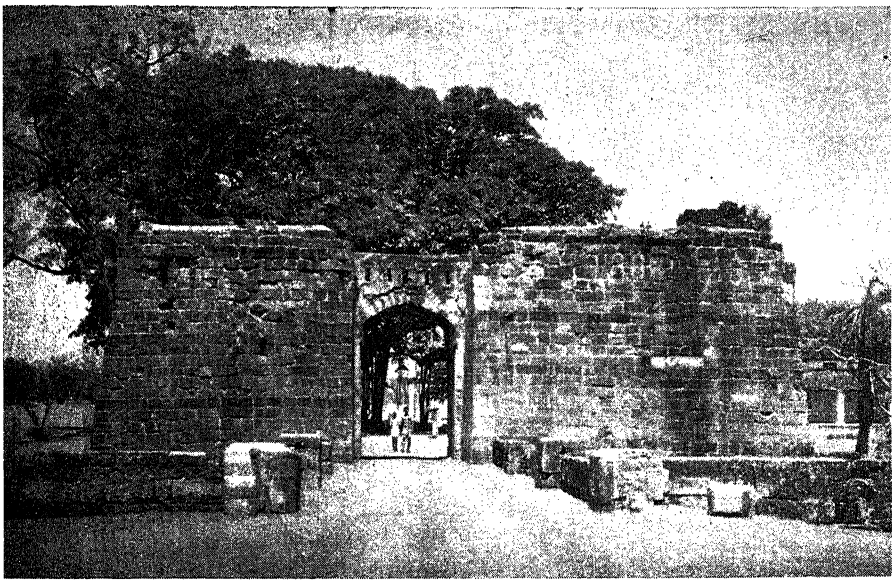
(ऊपर) इतिहास प्रसिद्ध बारवाटी दुर्ग, कटक (नीचे) कदमरसूल, कटक
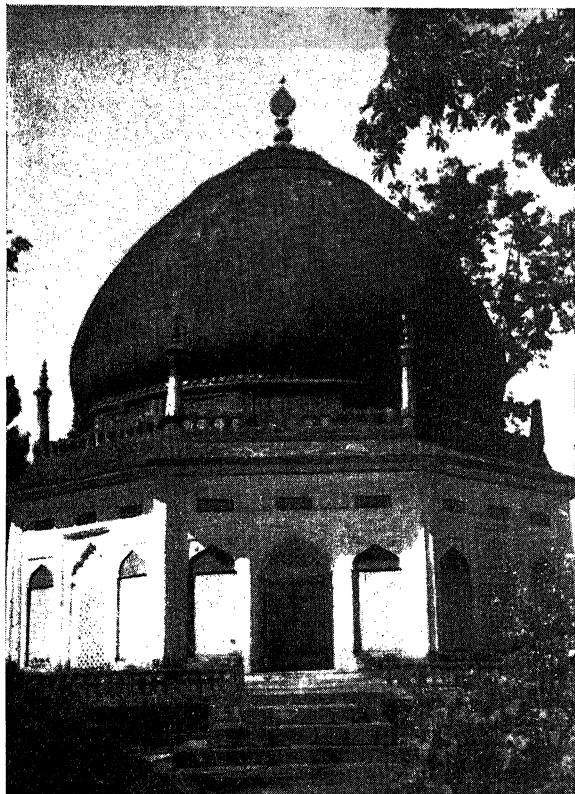
विष्णुमूर्त्ति, खिचिङ्ग

तारा—अयोध्या, बालेश्वर

१११२ ई० में गंगवंशीय चोडगंगदेव ने ओड़िशा पर अधिकार करके सोमवंशीय राजाओं की राजधानी में अपनी राजधानी स्थापित की थी।

गंग-राजत्व में ओडिशा में पंचकटक का वर्णन है। यथा—(१) जाजपुर कटक, (२) अमरावती कटक या छतिआ, (३) चउदवार कटक, (४) वाराणसी कटक, (आधुनिक कटक), (५) सारंग गड या चोडगंग कटक (आधुनिक बारंग रेल स्टेशन के पास)। इन पाँच स्थानों में प्रत्नकीर्ति का यथेष्ट प्रमाण मिलता है।

इसके अलावा बालेश्वर जिले के हाथीगड के पास राइबणिआ गड का प्रसार खूब अधिक है। ऐसा प्रकांड गड ओडिशा में बिरल है। बालेश्वर जिले के उत्तर-पश्चिम में हरिचन्दन गड या दुर्गादेवी गड भी एक प्रकांड गड है। मयूरभंज जिले में हरिहरपुर (आधुनिक हरिपुर) गड का ध्वंसावशेष देखा जाता है। मयूरभंज के इलाके में और भी अनेक छोटे-छोटे गड हैं। केउँझर जिले के सीताबिंज में एक प्राचीन गड का ध्वंसावशेष है। ढेंकानाल जिले की भीमनगरी में एक बड़ा गड था। सम्बलपुर में एक किले का ध्वंसावशेष है। सम्बलपुर के अधीन १८ किले थे। गंगराजत्व के बाद पुरी जिले के खोरधा अंचल में अनेक किलों के नाम मिलते हैं। गड का फारसी नाम किला है। मोगल शासन-काल में ओड़िशा के करदा राजाओं के गड को भी किल्ला कहा जाता था। ओड़िशा में इतने गड या किल्ले हैं, जिनकी संपूर्ण तालिका बनाने से उससे अनेक ऐतिहासिक तथ्य संगृहीत हो सकेंगे।

ओड़िशा में मिले हुए सब गड या दुर्गों की गठन-प्रणाली प्रायः एक सी है। राजपूताना और उत्तरी भारत में निर्मित दुर्गों की दीवार के बदले यहाँ किले के चारों ओर मिट्टी की मेंड दिखाई देती है। गड के चारों ओर खाई या परिखा खोदी जाने से जो मिट्टी निकलती है इसको गड खाई में डालकर मिट्टी का एक बाँध बनाया जाता है। इस बाँध पर कँटीला बाँस लगाया जाता है। राईबणिआ आदि गड इसी रीति से बने हैं। गड-खाई पानी से भर दी जाती है। मयूरभंज जिले के अमर्दा में जो किले का ध्वंसावशेष है उसके बारे में १७६६ ई० में भट नामक एक अँगरेज वणिक की विवरणी नीचे दी गई है।

"सुवर्णरेखा" से एक मील की दूरी पर राह के दक्षिण में अमर्दनगर गड है। यह किल्ला इस देश की दुर्ग-गठन प्रणाली के अनुसार बना है। गड की खाई खोदी जाने से मिट्टी गड के पास जम जाने पर एक मेड़ तैयार होती है। मेड़ पर बाँस लगाये जाते हैं। बाँसों के काँटे प्रायः ३ इंच लम्बे हैं। सख्त और तीक्ष्ण हों तो गड के अंदर जाना आसान नहीं होता। मई मास में इन पर भरोसा नहीं रहता है। क्योंकि गर्मी में बाँस बहुत जल्दी गरम हो जाते हैं और पवन के कारण इनमें आग लग जाती है तो बाँस की झाड़ी जल जाती है। गाँठ में आग लगने पर ये पिस्तौल जैसा शब्द करके फट जाते हैं। पत्थर या पक्की दीवार होती हुई गड-प्राचीर के ध्वंसावशेष केवल चउद्वार, बारबाटी, और सारंग गड में दिखाई देते हैं। ब्रिटिश शासन में इन सब दीवारों के पत्थर तोड़कर दूसरी जगह काम में लगाये जाते थे। अमरावती या छतिआ में एक छोटा किला था। इसके चारों ओर पत्थर की दीवार थी। इस दीवार का ध्वंसावशेष अब भी

है। स्वाधीन ओड़िशा की उत्तरी सीमा में अब बंग प्रदेश के अन्तर्भुक्त मेदिनीपुर इलाके का गगनेश्वर दुर्ग-प्राचीर अब भी अक्षुण्ण है। यहाँ एक छोटा दुर्ग था। इस दुर्ग की दीवार में कपिलदेव के समय का एक शिलालेख है। लेकिन यह लिपि इस तरह छील दी गई है कि बिलकुल पढ़ी नहीं जा सकती है। गगनेश्वर राईवणिआ दुर्ग से लगभग १५ मील उत्तर में अवस्थित है। दक्षिण ओड़िशा के दुर्गों में लंगलबेणी दुर्ग गंजाम के आ गड के तालुके में है। इस दुर्ग का ध्वंसावशेष आज भी है। इसका आधुनिक नाम आठगड है। अंग्रेजों के अधिकार करने तक ओड़िशा में सब दुर्गों की अवस्था अच्छी थी। इसके बाद ये सब व्यवहार और मरम्मत के अभाव के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। प्राचीन ओड़िशा की देशरक्षा-पद्धति का इतिहास जानने के लिए दुर्गों का इतिहास एकांत उपादान है।
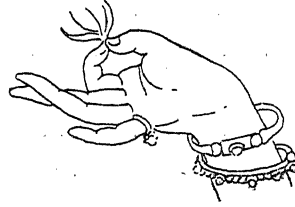
ओड़िया भाषा

डा० कुंजविहारी त्रिपाठी

बंगाली, असामी और बिहारी भाषाओं की तरह ओड़िया भाषा भी भारोपीय भाषा-परिवार की आर्य-भारतीय शाखा की प्राच्य या मागधी गोष्ठी के अन्तर्भुक्त है। यह भारत के पूर्वांचल में समुद्र-तटीय अंचलों में बोली जाती है। इसके उत्तर में बँगला और भोजपुरी की भाषाएँ और दक्षिण में द्राविड़ परिवार में अन्तर्भुक्त तेलगु भाषा प्रचलित है। ओड़िया भाषा पश्चिम में काफी दूर तक फैली हुई है। यह क्रमशः पश्चिमी हिंदी की उपभाषा छत्तीसगढ़ी, बस्तर की 'भत्री' नामक ओड़िया की उपभाषा और मराठी की उपभाषा 'हलबी' में परिणत हो गई है। संक्षेप में यह ओड़िशा और उसके आसपास के प्रदेशों के कई अंचलों में (उदाहरण के लिए बिहार प्रदेश के सिंहभूम जिले में)[१] बोली जाती है। मोटे तौर पर यह ८२,००० वर्गमील के अंचल में बोली जाती है।[२] इस सिलसिले में यह स्मरण रखना चाहिए कि अब ओड़िशा की जनसंख्या १४६ लाख है। १९२१ ई० की जनगणना में यह लगभग १०१½ लाख थी।

ओड़िया भाषा प्रधान रूप से मागधी प्राकृत और अशोक के शिलालेख की प्राच्य उपभाषा के बीच से होकर अंतिम वैदिक भाषा से व्युत्पन्न हुई है। अशोक के शिलालेख की भाषा और वैदिक भाषा, इन दोनों के बीच में पाली भाषा और संस्कृत भाषा है। इसलिए ओड़िया भाषा पाली भाषा से भी संपृक्त है।

अशोक के धउली और जउगड शिलालेखों और अधिकांश स्तंभ-लेखों में व्यवहृत होने-वाली प्राच्य भाषा (Eastern dialect) के कई विशिष्ट लक्षण हैं। जैसे 'र' की जगह 'ल' का व्यवहार, अकारान्त शब्द के कर्तृकारक एक वचन में 'अ' विभक्ति और अधिकरण कारक के एक वचन में 'असि' विभक्ति का प्रयोग तथा संयुक्त-व्यंजन वर्णों में समीकरण। लेकिन गिरनार में व्यवहृत प्रतीच्य भाषा (Western dialect) में 'र' का व्यवहार, एकारान्त पुंल्लिग शब्द के कर्तृकारक एक वचन में 'ओ' विभक्ति और अधिकरण कारक के एक वचन में 'अम्हि' विभक्ति का प्रयोग तथा संयुक्त व्यंजनों का व्यवहार (यथा—प्र, त्र आदि) भी देखा जाता है। प्रथमोक्त दो भाषागत वैशिष्ट्य संस्कृत नाट्य साहित्य में व्यवहृत और वैयाकरणों के द्वारा उल्लिखित मागधी प्राकृत में दिखाई पड़ते हैं। सौरसेनी की भाँति धउली और जउगड़ की भाषा

---

१. सेन्सस रिपोर्ट, १९३१, बिहार ऐण्ड ओड़िशा, पृ० २३४।

२. लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया, खंड १, भाग १, पृ० ४९०।

में भी केवल 'स' का व्यवहार मिलता है। लेकिन वैयाकरणों द्वारा उल्लिखित नाट्य साहित्य की मागधी में केवल 'श' का व्यवहार दिखाई पड़ता है।

नाट्य साहित्य की मागधी में और कई लक्षण हैं जो धउली और जउगड़ की भाषा में नहीं मिलते हैं। यथा—

द्य ∠ य्य (धउली और जउगड़ में, संस्कृत अद्य ∠ अज)
न्य् ∠ञ्अ (,, ,, ,, ,, ,, अन्य-अन्न)
श्च का प्रयोग (,, ,, छ का प्रयोग)
संयुक्त व्यंजन के प्रारंभ में 'स' का संरक्षण यथा—हस्ते = (संस्कृत हस्तः)

इसके स्थान पर गिरनार में 'अस्ति' का प्रयोग है लेकिन धउली, जउगड में यह नहीं है।

जैन धर्मशास्त्र की अर्द्ध मागधी के साथ धउली जउगड का प्राच्य भाषा का ऐक्य नहीं है।

नाटकों[१] में व्यवहृत साहित्यिक मागधी के उपरोक्त तीन लक्षण हैं यथा—'र' के स्थान में 'ल' का होना, 'ष' और 'स' के स्थान में 'श' का होना और अकारांत पुंल्लिग शब्द का कर्तृ-कारक एक वचन में 'ए' का प्रयोग। यह विहार के, योगीमारा गुफा के, 'सुतनुका' शिलालेख में दृष्टिगोचर होता है।

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के लगभग के लिखे खारवेल के हाथीगुफा शिलालेख की भाषा अशोक की धउली, जउगड में व्यवहृत प्राच्य भाषा की परिणति नहीं है। यह पाली-सदृश भाषा है।

खारबेल के इस लेख में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ व्यवहृत हैं। 'ऐरेन' शब्द के वैकल्पिक पाठ में 'ऐ' एक ही बार देखा जाता है। पद में कहीं-कहीं संस्कृत 'ऋ' और कहीं 'अ', किसी में 'इ' और अत्यंत विरल 'रु' (यथा-वृक्ष रुख) का प्रयोग हुआ है। इसमें निम्नांकित व्यंजन वर्ण भी व्यवहृत हुए हैं। क, ख, ग, घ, च, छ, ज, ट, ठ, ड, त, थ, द, ध, प, ब, भ।

अनुनासिक—ञ, ण, न, म और अनुस्वार।
अन्तस्थ—य, र, ल, व, ह, (मात्र ळ का व्यवहार नहीं है)
ऊष्म—केवल स (श और ष के स्थान में भी)

जैन प्राकृत में पद के अंतिम अक्षर और बीच में 'ओ' के स्थान पर कभी-कभी 'ए' हो जाता है लेकिन खारबेल के लेख और पाली में कहीं भी 'ओ' की जगह 'ए' का प्रयोग नहीं है। पाली और अर्द्धमागधी में संस्कृत 'र' के स्थान में 'ल' के न होने की प्रवृत्ति के साथ खारबेल के लेख का

---

१. नाटकों में निम्न स्तर के लोगों द्वारा परवर्ती मागधी प्राकृत का व्यवहार हुआ है। यहमगध देश में व्यवहृत भाषा के पूर्ण प्रतिबिंब रूप में ग्रहणीय नहीं है, अर्थात् यह मगध के राजा और ब्राह्मणों की भाषा नहीं है।

सामंजस्य देखा जाता है। 'न' को 'ण' में परिवर्तन न करने की जो प्रधान प्रवृत्ति पाली में दिखाई पड़ती है वह खारबेल के लेख की भाषा में है पर अर्द्धमागधी में नहीं है।

खारबेल के लेख की भाषा में कई दृष्टियों से अर्द्धमागधी से साम्य और पाली से वैषम्य दिखाई पड़ता है।

अकारान्त शब्द के कर्तृकारक एक वचन में 'ए' विभक्ति का प्रयोग (जो अशोक के जउगड-धउली लेख में[1] और नाट्य साहित्य की मागधी प्राकृत में देखा जाता है) आधुनिक ओड़िया भाषा में कई स्थानों पर मिलता है। जैसे—ये, से, आदि (हिंदी में जो, सो), जणे (एक आदमी), दंडे (एक क्षण), टंका या टंके (एक रुपया), हाते (एक हाथ), गद्दे (एक पेड़) आदि। आधुनिक ओड़िया में 'र' और 'ल' दोनों का व्यवहार होता है। वर्तमान ओड़ियाभाषी सिर्फ 'स' का उच्चारण करता है। लेकिन लिखते समय संस्कृत वर्णमाला के अनुसार 'श', 'ष', 'स' का भी व्यवहार करता है। जउगड और धउली भाषा के अधिकरण कारक एक वचन में 'अंसि' प्रत्यय था लेकिन आधुनिक ओड़िया में व्यवहृत 'यहिं' 'तहिं', काहिं (जहाँ, तहाँ, कहाँ) में "हिं" विभक्ति तथा प्रत्यय का व्यवहार होता है। अनुमान है कि कृष्णाचार्य के चर्यापद में सप्तमी एक वचन के 'हि' का प्रयोग (चर्या० ७–५) 'अंसि' से आया है।

मोटे तौर पर ओड़िया भाषा मागधी प्राकृत और मागधी अपभ्रंश से विकसित हुई है। अनुमान है कि इस पर अर्द्धमागधी का प्रभाव पड़ा है।

सन् १९०१ ई० में हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्धगान ओ दोहा नामक ग्रन्थ नैपाल से खोज निकाला और सन् १९१६ में उसका संपादन कर प्रकाशित किया। 'चर्यापद' नामक ग्रंथ इसी ग्रन्थ में अन्तर्भुक्त है। इस ग्रन्थ में लुईपाद, कान्हुपाद और शबरपाद आदि कई सिद्धाचार्यों के अनेक पद या गान देखने को मिलते हैं। इस चर्यापद की भाषा पर विचार करते हुए किसी ने उसे प्राचीन बँगला, किसी ने प्राचीन मैथिली, किसी ने प्राचीन ओड़िया और किसी ने प्राचीन असामी कहकर ग्रहण किया है। लेकिन इसकी भाषा को प्रधान रूप से मागधी अपभ्रंश मानना ठीक होगा। इसमें कुछ हद तक बँगला, असामी, मैथिली और ओड़िया भाषा के कई लक्षण खोजे जा सकते हैं। इन पदकर्ताओं में से कई प्राचीन बंगाल, ओड़िया, आसाम तथा मिथिला के रहनेवाले हो सकते हैं।

लुईपाद आदि नाम प्राचीन ओड़िया साहित्य में मिलते हैं।[2] हरप्रसाद शास्त्री ने "बौद्ध-

---

१. अशोक के धउली-जउगड लेख के कई शब्द और धातु (Root) **आज भी पहले की भाँति तथा कुछ परिवर्तित होकर उड़िया में व्यवहृत होते हैं। किछि** (Some) **संस्कृत–किंचित्।**

तिंनि=यातिनि, नतिपनति = या नाति=पणनाति, संस्कृत में–नप्तृ प्रनप्तृ, महालके =या, महालिके (A Surname)**–च घ्=या-चाहँ-**(Desire) **आदि।**

२. लोहिदास मठ करि थांति एठारे लय क़रि थांति निराकार ध्यान परे, एठारे

गान ओ दोहा" के (दूसरे संस्करण) पृ० ७६ में चौरासी नाथों या 'सिद्धों' में से ७५ लोगों का नाम गिनाया है। उनमें से गोरखनाथ, मीननाथ, चौरंगीनाथ, सबरनाथ, और जलंधर के नामों का उल्लेख अमरकोष नामक प्राचीन ओड़िया तालपत्र पोथी के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में है।[१] इसमें मस्त्यन्दनाथ (लुई का दूसरा नाम) का भी नाम मिलता है।

हरप्रसाद ने 'बौद्धगान ओ दोहा' की भूमिका में स्वीकार किया है कि चर्यापद के कई पदकर्ता और 'दोहाकार' ओड़िशा के साथ संपृक्त थे। जैसे—"मयूरभंज में उनकी (लुई की) पूजा होती थी।[२] 'एक पदकर्ता का घर ओड़िशा में है' उनके गीत ओड़िया में लिखे गये हैं। बँगला पद में जहाँ क्रिया के बाद 'ल' रहता है वहीं इसमें 'ड', जैसे—हम 'गाहिल'—'गाइड'। अतः इसे ओड़िशा भाषा का पद मानते हैं।" [३,४]

ओड़िया भाषा के द्वितीया एक वचन का विशिष्ट अनुसर्ग (Post Position) 'कु' और षष्ठी एक वचन का अनुसर्ग 'र' क्रमशः कृष्णाचार्य और शबरीपाद के चर्या-गान में मिलते हैं। यथा—

अविद्या करिकुँ दम अकिलेसें ९.५
आधुनिक ओडिया में होगा = अविद्या करिकुदम अकिलेसे।
तइलाबाडिर पासँर जोन्हाबाडी उअेला ५०।४
(आधुनिक ओड़िया में होगा = तइला बाडिर पाशरे जन्हबाडी उँइला।)

चर्यापद की भाषा के साथ ओड़िया भाषा का कितना घनिष्ठ संपर्क है, यह निम्नांकित मौलिक पदों और उनके ओड़िया अनुवाद से स्पष्ट हो जायगा।

(प्राची नदीकूले)—शून्यसंहिता, अच्युतानंद दास (१५-१६वीं शती, गर्गवंदुक द्वितीय सं०, पृ० ७९)।

१. यह पोथी अध्यापक बंशीधर महान्ति के पास है।

२. बौद्धगान ओ दोहा, सं० हरप्रसाद शास्त्री, भूमिका पृ० १५।

३. वही, पृ० १७।

४. कृश्नाचार्य लेगुरे मनर जाय गाय ताहा के भारतवासी बलिया गिया छे। केवल एक जायेगाय लेखा–तिनि ब्राह्मण ओड़िशा हुअिते आगत, से ओ आवार तर्जमाकार महापंडित कृष्न, तिनि ग्रन्थकार नहेक। पृ० २४ ओड़िशार राजा इन्द्रभूति बज्रयोगिनी उपासना प्रचार करेन, ताहार कन्या लक्ष्मीकरा अेअिविषये ताहाके बिशेष सहायता करिया छिलेन अेवं संस्कृते अनेक पुस्तक लिखिया छिलेन।

शवरीश्वर या सबर सेहि दलेअिर लोक छिलेन। पृ० २९, ओड़िशा निवासी तेली पेर एकखानी दोहाकोष छिल पृ० ३४।

चर्यापद	साहित्यिक ओड़िया
काआ तरुवर पंचबिडाल	काया तरुवर पंच बिडाल्
चंचल चीअे पइँकाल	चंचल चित्ते पइठ काल
दिढ़ करिअ महासुअपरिमाण	दढकरि महासुख परिमाण
लुइ भणइ गुरु पुछिअ जाण ।।१।।१-२।।	लुइ भणअि गुरु पुछि जाण
ता देखि कान्हु, बिमन भअिला ।७।१।	ता देखि कान्हु बिमन होइला
जे जे आअिला तेते गेला ।७।४	ये ये आइला, से से गला
नगर बारिहि रें डोंफि तोहरि कुडिआ	नगर बाहाररे डोंमि तोहरि कुडिआ
छोइ छोइ याअि सो बाह्मनाडिआ ।।१०।१	छुँइ छुँइ याअि से ब्राह्मनाडी
हाथेरे कांकाण मा लोअुदापण	हातरे कंकण न नोउदर्पण
अपणे अपा बुझतुनिअमण इशइ	आपणे आपे बुझ तुनिजमन
जइ तुमहे लोअ हे होइिब पारगामी ५।५	यदि तुम हे लोक हे होइब-पारगामी
कहंति गुरु परमार्थोर बाट	कहंति गुरु परमार्थर बाट।
(बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० १६)	

चर्यापद में कैसन, राउत, और दूसरे कई तद्भव, देशज, और ग्राम्य शब्द हैं जो आधुनिक ओड़िया में भी हैं; लेकिन आसपास की दूसरी भाषाओं में नहीं हैं।

उपरोक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन ओड़िया का पूर्वरूप कई चर्यागीतों में है। इन चर्यागीतों का समय लगभग ८वीं या ९वीं शताब्दी है।

१६वीं शताब्दी के ओड़िशा के लेखक मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' में औड्री विभाषा से निम्नांकित पद उधार लिया है—

"देव जसोआ-णन्दंण करमअि करुणा लेस
अेतिके जमअु अछअि (?) पिटइ सध किलेस"

इसकी भाषा औड्री अपभ्रंश (मागधी अपभ्रंश का एक भेद) है।

सन् १०५१ से १५६८ ई० के अंतिम स्वाधीन राजा मुकुंद के शासनकाल तक ओड़िशा और ओड़िशा के बाहर से प्राप्त ओड़िया के उत्कीर्णित लेखों की संख्या लगभग १०० है। १०५१ ई० का खुदा हुआ लेख चिकाकोल का उरजो गाँव का शिलालेख है। यह शिलालेख ओड़िशा के प्रथम गंगवंशी सम्राट् चोल गंगदेव के पितामह का है। यह शकाब्द ९७३ अर्थात् १०५१ ई० में लिखा गया था। यह लेख आर्य भारतीय भाषाओं (माडर्न इंडो आर्यन लैंग्वेज) में प्राचीनतम है। इसकी ५वीं पंक्ति से १०वीं तक का अंश यहाँ दिया जा रहा है।—"श्रीमद् अनंत वर्म्मदेव विजय राज्य सम्वत्सर १५ तुला (तुला) मास

शुक्ल पक्ष, दिन पंचमी सनिवार"—(शनिवार) युरुज (१) मेलाणदय (१) करिला पट्ट (१) स्थिति।

ओड़िया हिस्टारिकल रिसर्च जर्नल, खंड २, संख्या २ जुलाई १९५३ में प्रकाशित एक अन्य ओड़िया शिलालेख भी यहाँ उल्लेख योग्य है। समय का निर्देश न होने पर भी लिपितत्त्व और भाषातत्त्व की दृष्टि से यह ११वीं या १२वीं शताब्दी का हो सकता है। यह बालेश्वर से पंडित राजगुरु के द्वारा जनवरी १९५३ में प्राप्त हुआ था। उन्होंने इसका पाठोद्धार भी किया है जो इस प्रकार है—'देब कही भगति करुण अछन्ति, भोकुमार शेण।' आधुनिक साहित्यिक ओड़िया में 'भोकुमार सेण देव (देब) की भक्ति कर रहे हैं।'

इसके बाद दूसरे प्राचीन लेखों की भाषा के लिए 'ओ.ड़या लिपितत्त्व' शीर्षक प्रबन्ध के सूचित सभी ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं। पुरी शंकरानन्द मठ से १९३६ ई० में प्राप्त ताम्रपत्र में ओड़िया भाषा के लिए 'झंकार', खंड ७, ११ संख्या, पृ० १०१४-१६ द्रष्टव्य है। ओड़िया भाषा के खुदे प्राचीन लेखों के गंभीर अध्ययन के लिए देखिए लेखक का ग्रन्थ 'ए स्टडी आव अर्ली ओरिया इंस-क्रिप्शन।'

ओड़िया भाषा के क्रम-विकास पर खोज करनेवाले लोगों को पूर्वोक्त उत्कीर्णित लेखों के सिवा निम्नोक्त प्राचीन गद्य-खंड भी देख लेना चाहिए—[1]

रुद्र सुधानिधि ले०—नारायण नन्द अवधूत

१. स्वामी (समय लगभग १३वीं शताब्दी)
२. सोमनाथ व्रतकथा
३. सुदशाव्रतकथा
४. बीजगणित की ओड़िया टीका— मागुणी पाणि (पाठी ?)
५. ब्रह्मगीता बलराम दास
६. तुलाभिणा जगन्नाथ दास

---

१. प्राचीन ओड़िया गद्य और पद्य के निदर्शन के लिए द्रष्टव्य—

(क) प्राचीन ओड़िया गद्य-पद्यदर्श—डा० आर्तबल्लभ महान्ति।

(ख) टिपिकल से क्शन आव् ओरिया लिट्रेचर—तृतीय भाग, कलकत्ता विश्व-विद्यालय।

लगभग ९-१० सदी के त्रिकांड शेष (पुरुषोत्तम देव) में अनेक तद्भव और देशज शब्द देखने को मिलते हैं। ओड़िशा हिस्टरिकल रिसर्च का खंड २, संख्या दो देखना चाहिए। सारला दास की नित्यानि गुरुवार व्रतकथा भी है।

इस प्रबन्ध में उल्लिखित कई साहित्यिक गद्य और पद्य ग्रन्थ के नामों के लिए लेखक डा० आर्तबल्लभ महान्ति और श्री केदारनाथ महापात्र का ऋणी है।

७. गीतगोविन्द की टीका	वासुदेव मिश्र
८. हितोपदेश की टीका	श्रीधर
९. बेताल पंचबिंश	शिवदास
१०. बतिश सिंहासन	
११. प्रणव व्याहृति गीता	महंत बिप्रगणेश्वर दास
१२. शुधि चंद्रिका	
१३. चयिनी चकडा	फकीरी चयिनी (१६ शताब्दी)
१४. मादला पांजी	
१५. भंजवंशमालिका	
१६. कालाहांडि मादला	
१७. चतुर-विनोद	ब्रजनाथ बड़जेना (लगभग १७७० ई०)
१८. शुकविलास	
१९. पुरुषोत्तम-देवालय-कार्यविधि	
२०. माधवनिदान का ओड़िया अनुवाद	
२१. सूर्यसिवल का ओड़िया अनुवाद	

प्राचीन ओड़िया पद्य-साहित्य काफी समृद्ध है। ओड़िया भाषा के विकाश के अध्ययन के लिए नीचे लिखे ग्रन्थ आलोचनीय हैं—

१. महाभारत, बिलंका रामायण, चंडीपुराण——शारला दास (१५वीं शताब्दी)
२. परशुराम व्यालोगस्थ ओड़िया गीत——कपिलेश्वर देव (१५वीं शताब्दी)

३. कलसा चउतिशा	वत्सा दास	
४. केशव कोइल	मार्कण्ड दास	
५. जैमिनी भारत, पद्मपुराण, देउल तोला	नीलाम्बर दास	
६. निर्गुणमाहात्म्य, विष्णुगर्भ पुराण	चैतन्य दास	
७. बीरसिंह चउतिशा	बीर सिंह	
८. आगत भविष्य	बालिंगा दास	
९. रामबिभा	अर्जुन दास	
१०. हरिवंश	बिप्रनारायण दास	
११. बलराम दास	रामायण	
१२. जगन्नाथ दास	भागवत	
१३. हरिवंश, शून्यसंहिता	अपुनानन्द दास	१५-१६ शताब्दी
१४. रुक्मिणी बिभा	कार्त्तिक दास	

ओड़िया वर्णमाला

स्वरवर्ण

ह्रस्व	अ	इ	या इ	उ	ऋ	ऋ	ऌ		
	१	३	३	५	७	७	९		
दीर्घ	आ	ई	ई	ऊ	ॠ	ॠ	ॡ	ए	ओ
	२	४	४	६	८	८	१०	११	१२
सन्ध्यक्षर		ऐ		औ					
		१३		१४					

साधारणतः यह माना जाता है कि 'अ' का दीर्घ स्वर 'आ' है। लेकिन वास्तव में 'अ' और 'आ' के बीच गुणगत पार्थक्य होने के कारण 'अ' का दीर्घ स्वर 'आ' नहीं माना जा सकता है। ८,९,१० नम्बर के स्वर-चिह्न साधारणतः ओड़िया में व्यवहृत नहीं होते । इनके सिवा दूसरे स्वर व्यंजन के बाद आने पर संक्षिप्त रूप ग्रहण करते हैं। यथा क् के बाद आने से क्रमशः क, का, कि, या कि, की, कु, कू, कृ, के, कै, को, कौ हो जाता है।

	अल्पप्राण	महाप्राण	सघोष अल्पप्राण	सघोष महाप्राण	अनुनासिक
कण्ठ्य	क	ख	ग	घ	ङ
तालव्य	च	छ	ज	झ	
मूर्धन्य	ट	ठ	ड	ढ	ण
दन्त्य	त	थ	द	ध	न
ओष्ठ्य	प	फ	ब	भ	म

अन्तस्थ वर्ण

य	य (उच्चारण में ज)	र (कंपित)	ल (पार्श्विक)	ळ (ताड़ित)

ब श ष स ह

अन्तस्थ वर्णों के अन्त में 'क्ष' एक अक्षर के रूप में गृहीत होता है। वास्तव में यह एक युक्त वर्ण है।

उच्चारण-वैशिष्ट्य

स्वर वर्ण 'ऋ' (र+उ) 'रु' के रूप में उच्चारित होता है। इसलिए ओड़िया भाषा में 'ऋ' नहीं है। प्राचीन ओड़िया में 'ल' को 'ऌ' के रूप में लिखते थे। इसलिए ओड़िया में (ऌ) का भी अस्तित्व नहीं है।

'च' वर्ग के पहले चार व्यंजनों को स्पष्ट धृष्ट (Affricate) रूप में लिया जा सकता है क्योंकि उनके उच्चारण में अल्प घर्षण ध्वनि सुनाई पड़ती है। बहुत लोगों द्वारा ओड़िया तवर्ग कहा जाने पर भी वास्तव में यह दन्तमूलीय है। 'ड' और 'ढ' पद के आदि में न आने से शिथिल रूप में उच्चारित होते हैं (जैसा हिन्दी भाषा में)। ग्रियर्सन ने इसको मूर्धन्येतर कहा है। साधारणतः 'य' पद के आदि में रहने के कारण 'ज' के समान उच्चारित होता है और लिखने में चिह्न द्वारा प्रकट किया जाता है। जैसे—'समय', लेकिन 'यात्री' बंगला में भी ऐसा ही है। मागधी-प्रसूत भाषा-गोष्ठी के बीच 'ल' ध्वनि ओड़िया का वैशिष्ट्य है। यह कभी पद के प्रारम्भ में नहीं आता है। यह एक सातिशय ताड़ित ध्वनि है (Highly Flapped Sound)। व्यंजन ध्वनि के समान उच्चारण न करने से हिन्दी की 'व' ध्वनि 'ब' (B) के रूप में उच्चरित होती है। श, ष, और स ध्वनियों में से ओड़िया में केवल 'स' ध्वनि उच्चारित होती है। अर्थात ओड़ियाभाषी लोग इन तीन उष्मवर्णों का उच्चारण केवल 'स' रूप में करते हैं। व्यापक अर्थ में दन्त्य कहा जाने पर भी 'स' वास्तव में ओड़िया उच्चारण के अनुसार दंतमूलीय है। ओड़िया के दूसरे कई युक्ताक्षरों का उच्चारण नीचे दिया गया है :—

क्ष—ख या ख्य यथा—सांखी, भिख्युक, ग्यं, ण्य, न्य, न्न-र्न
म्ह—म्भ, हं—घं यथा—नरसिंघा
र्ण—र्न, य, —र्ज्य, ष्न—स्न या ष्टं
ह्न—न्ह, ह्य=झ्य, य्य=ज्य (न्याय्य)

ओड़िया भाषा का यह वैशिष्टच है कि इसमें साधारणतः अकारान्त शब्द विरामान्तक न होकर अकारान्त उच्चारित होते हैं। यथा—

ओड़िया में	हिन्दी और बंगभाषा आदि में
राम	राम्
वन	वन्
जन	जन्

लिंग

संस्कृत भाषा का व्याकरणगत लिंग (Grammatical Gender) ओड़िया में नहीं चलता। यह माना जा सकता है कि कथित ओड़िया केवल स्वाभाविक (Natural) पुंल्लिग और स्त्रीलिंग है, क्योंकि पुंल्लिग और नपुंसक लिंग को लेकर शब्दाकृति में पार्थक्य नहीं है। लेकिन साहित्यिक ओड़िया में कई अंशों तक संस्कृत का व्याकरणगत लिंग प्रयुक्त होता है। जो कुछ भी हो, हिन्दी भाषा में शब्दों के लिंग को लेकर जो अनियमितता है, वह ओड़िया भाषा में बिलकुल नहीं है।

शब्दरूप

कारक और उसका चिह्न

संस्कृत व्याकरण के अनुसार ओड़िया में निम्नलिखित कारक हैं—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण। सम्बंध पद क्रियान्वयी न होने के कारण कारक पदवाच्य नहीं है। कर्ता के एक वचन में कोई भी विभक्ति या चिह्न अपरिहार्य नहीं है। कर्ता के बहुवचन में ए,—माने। गुडाक आदि चिह्न लगाते हैं। पहले दोनों साधारणत: मननशील प्राणी के प्रति प्रयुज्य हैं। दूसरे कारकों में जो चिह्न लगते हैं वे तीन प्रकार के हैं (१) अपभ्रंश से दाय-स्वरूप प्राप्त—ए—उ।

(२) अनुप्रयोग (Post Position)

(३) अनुप्रयोगस्थानीय शब्द। निम्न उदाहरण हैं:—

कारक	कारक-विभक्ति	अनुप्रयोग	अनुप्रयोगस्थानीय
कर्म	—	कु,के*	*
करण	ए	रे	देखि, द्वारा आदि
संप्रदाय	—	कु,के*	पाँइ,लागि,काजे*
अपादान	उ	रु, नु*	ठुं, ठारु, ठानु* उपेक्षा, हालिकि, चाहिं,
संबन्धपद	—	र, न,*	——
अधिकरण	ए	रे, ने*	ठि, ठारे, थि, ठाने*

तारकांकित चिह्न पश्चिमी ओड़िया में प्रचलित हैं। ये विभक्तियाँ अनुप्रयोग-स्थानीय शब्द के एकवचन में संज्ञा के अव्यवहित के बाद लगती हैं। बहुवचन में अनुप्रयोग और अनुप्रयोगस्थानीय शब्द-कं-(कंर) या मानंक के साथ न लगाये जाकर संज्ञा के साथ लगाये जाते हैं।

सर्वनाम

नीचे लिखे सर्वनाम ओड़िया में व्यवहृत होते हैं—

	एकवचन	बहुवचन
प्रथम वैयक्तिक	मुँ, मुंअि*	आमे, (आम्भे) आमे-माने, आम्-माने*
द्वितीय वैयक्तिक	-तु, तुअि, (असम्मानात्मक)	तुमे (तुम्मे) तुमे-माने-तुम, माने*
तृतीय वैयक्तिक—		
दूरनिर्देशक	से, हे	से माने, हेमाने*
सह-संपर्कवाचक		

निकट-निर्देशक—अे, अि*	अेमाने, अि-माने*
संपर्क-वाचक —ये, येअुं, येन्*	येमाने, येअुँमाने, येन्-माने*
प्रश्न-वाचक —के, केअुँ, केन्*	केअुँमाने, केन्-माने*
सम्मान-वाचक—आपण, आपन्*	आपण-माने, आपन-माने*
आत्म-वाचक —आपणा, आपे, अप्ना*	

तारकचिह्नित रूप पश्चिमी ओड़िया में व्यवहृत होते हैं सर्व (सबु), अन्य (आन), आदि सर्वनाम भी ओड़िया में प्रचलित हैं।

प्रथम वैयक्तिक और द्वितीय वैयक्तिक सर्वनाम के कर्म और संप्रदान के एकवचन में क्रमशः 'मोते', 'तोते' (मुझे, तुझे) व्यवहृत होते हैं।

एकवचन में, विभक्ति, अनुप्रयोग, और अनुप्रयोगस्थानीय शब्द षष्ठी एकवचन के रूप सहित (यथा—मोर, मोर्*, मो, तोर, तोर्* तो, तार, तार्*, ता) युक्त होते हैं।

वहुवचन में, षष्ठी बहुवचन के रूप के साथ यथा—आम्भमानंकर, आम मानंकर, आम्मानंकर*, तुम्म, मानंकर, सेमानंकर आदि युक्त होते हैं।

क्रिया

ओड़िया में क्रिया रूप काफी सरल और प्रणालीवद्ध है।

अनुज्ञा (लोट) को मिलाकर क्रिया के १५ काल और अवस्थाएँ हैं। 'अछि', अटे, थाये, याअे, गला, आदि कई अपूर्ण या खंडित क्रियाओं को छोड़कर दूसरे सब धातु (या क्रिया) के १५ कालों और अवस्थाओं के (In the tenses and moods) निम्नांकित रूप हो सकते हैं—

१—वर्तमान शुध्य	२—वर्तमान असंपन्न	३—वर्तमान संपन्न
४—अतीत शुध्य	५—अतीत असंपन्न	६—अतीत संपन्न
७—भविष्यत् शुध्य	८—भविष्यत् असंपन्न	९—भविष्यत् संपन्न
१०—संभाव्य (अभिप्रायात्मक) शुध्य	११—संभाव्य असंपन्न	१२—संभाव्य संपन्न
१३—आभ्यासिक असंपन्न	१४—आभ्यासिक संपन्न	१५—अनुज्ञा (अवस्था)

धातुरूप

कर	था	अछ
समान्य शुद्ध	असंपन्न	संपन्न
प्रथम पु०—एक वचन—करइ, करे, थाइ, थाये, अछि	करुअछि	करि-अछि
ब०—करु, थाउ, अछु	—अछु	—अछु

म० पु०–ए० वचन —करु, थाउ, अछु	—अछु	—अछु
ब० व० —कर, थाअ, अछ .	अछ	अछ
अन्य पु०–ए० व०–करइ, करे, थाइ, थाए, अछि	अछि	अछि
ब० व०–करंति, थांति, अछंति	अछंति	अछंति

अतीत–काल–

प्रथम पु०–ए० व० करिलि, कलि	करु-थिलि	करि-थिलि
ब० व०–करिलु, कलु	चिलु	करि-थिलि
मध्यम पु० एक० व०–करिलु, कलु	थिलु	थिलु
ब० व०–करिल, कल	थिल	थिल
अन्य पु०–ए० व०–करिला, कला	थिला	थिला
ब० व०–करिले, कले	थिले	थिले

भविष्यत्काल–

प्र० पु०–ए० व०–करिबि,	थिबि	थिबि
ब० व०–करिबु	थिबु	थिबु
म० पु०–ए० व०–करिबु	थिबु	थिबु
ब० व०–करिब	थिब	थिब
अ० पु०–ए० व०–करिब	करु-थिब	करिथिब
ब० व०–करिबे	थिबे	थिबे

सम्भाव्य–

प्र० पु०–ए० व०–करंति	थांति	थांति
ब० व०–करंतु	थांतु	थांतु
म० पु०–ए० व०–करंतु	थांतु	थांतु
ब० व०–करंत	थांत	थांत
अ० पु०–ए० व०–करंता	थांता	थांता
ब० व०–करंते	थांते	थांते

आभ्यासिक–

प्र० पु०–ए० व०	थाइ	थाइ
ब० व०	थाउ	थाउ

म० पु०—ए० व०	थाउ	थाउ
ब० व०	थाअ	थाअ
अ० पु०—ए० व०	थाइ	थाइ
ब० व०	थांति	थांति

(कर और था धातु)

अनुज्ञा

प्र० पु०—ए० व० —
ब० व०—
म० पु०—ए० व०—कर, था
ब० व०—कर, थाअ
अ० पु०—ए० व०—करु, थाअु
ब० व०—करंतु, थाआंतु

णिजंत क्रिया या प्रेरणार्थक क्रिया

साधारणतः अणिजंत धातु में प्रेरणार्थक प्रत्यय आ (प्राकृत—आव, संस्कृत—आप) लगाकर अणिजंत क्रिया की तरह रूप चलाने से णिजंत क्रिया बनती है।

अणिजंत	णिजंत तृतीय पु० एकवचन, प्रथम पु० एक व० में तिबन्त 'इ' स्थान में ए होता ह।
करइ	कराए
करिला	कराइला
करिब	कराइब
जाअइ	जणाए
खाअइ	खुआए

असमापिका क्रिया

धातु में 'इ' प्रत्यय (पद्य में 'इ' या इण) के मिलाने से असमापिका क्रिया बनती है। जैसे—कर + इ = करि, (कर + इण = करिण) 'कहिं, छाड़ि' आदि।

तुमुनंत क्रिया

धातु में 'इबाकु' मिलाने से तुमुनंत क्रिया बनती है। यथा :—कर + इबाकु = करिवाकु, खा इबाकु खाइबाकु, 'इबालागि' और 'इबापाइँ' भी उसी अर्थ में लिये जा सकते हैं।

मिश्र क्रिया

हिन्दी की भाँति ओड़िया में भी विभिन्न प्रकार की मिश्र क्रियाएं व्यवहृत होती ह। यथा :—संभाव्य-देइपारइ, समाप्तिसूचक—थोइदिअ, अचानक भावसूचक (Indicating Suddenness) कहि पकाइले, बसि पडिले।

क्रियात्मक-विशेषण—(Participles)

ओड़िया में क्रियात्मक-विशेषण को प्रधानतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। यथा :—वर्तमान क्रियात्मक-विशेषण, अतीत क्रियात्मक-विशेषण, भविष्यत् क्रियात्मक-विशेषण।

पहले का उदाहरण—थाउँ, थाउण, थाआन्ता।

दूसरे का—कश, करिला, (कला) करिथिला।

तीसरे का—करिबा, करिथिबा, (अतीत अर्थ में)।

संप्रतिबंध (Conditional) क्रियात्मक-विशेषण—उन्होंने कहा या किया, मैं करूँगा। यह अव्यय स्वरूप है।

क्रियांत निपात

ओड़िया में क्रिया के अंत में 'णि' का प्रयोग कई विशिष्ट अर्थों में होता है। जैसे—'कलाणि'।

ओड़िया लिपितत्त्व

डा० कुंजविहारी त्रिपाठी

ओड़िया लिपि, अन्य सहोदरा लिपियों के समान, प्राचीन भारत की ब्राह्मी लिपि से विवर्तित होकर ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक विकास के कई स्तरों से गुजरी है। शेषोक्त शताब्दी में यह गोलाकार ओड़िया लिपि में परिणत हुई। ओड़िशा और भारत के विभिन्न अंचलों से प्राप्त अनेक शिलालेख इस स्तर के साक्षी हैं। अतएव इन शिलालेखों की लिपियों को कई श्रेणियों में बाँट कर निम्नांकित ऐतिहासिक कालानुक्रम में विभक्त किया जा सकता है--

१--ब्राह्मी लिपि (लगभग ई० पू० तृतीय शती से लेकर तृतीय शताब्दी तक)।

२--तथाकथित गुप्तलिपि (लगभग तृतीय शती से षष्ठ शती तक)।

३--कंठकशीर्षक और कीलकशीर्षक लिपियों के साथ सूक्ष्मकोणी लिपि (६ठीं शताब्दी से ११वीं शताब्दी तक)।

४--प्रत्नबंगीय लिपि : प्रोटो बंगाली स्क्रिप्ट (११वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक)।

५--प्राचीन ओड़िया लिपि (१४वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक)।

६--आधुनिक ओड़िया लिपि (१६वीं शताब्दी से आज तक)।

इन पहले और बाद की प्रत्येक लिपि में एक अंतर्वर्ती अवस्था है, क्योंकि प्रत्येक लिपि अलक्ष्य भाव से शनैः-शनैः एक दूसरी में मिल जाती हैं। इसके अतिरिक्त उपरोक्त काल-विभाजन प्रायिक रूप में किया गया है। किंतु लिपियाँ समयानुसार एक दूसरी के समानान्तर गति करती हैं। यहाँ पर यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि प्रत्नबंगीय और संभवतः सूक्ष्मकोणी वर्णमालाएँ अपनी परवर्ती अवस्था में, समय-समय पर, नागरी वर्णमाला द्वारा प्रभावित होती रही हैं।

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से ही उत्तरी भारत की ब्राह्मी लिपि में अनेक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। उनका सुन्दर उदाहरण कुशाण अभिलेख में है। कुशाण सम्राटों के साथ इस लिपि का लौकिक संबंध प्रतीत होता है। अतएव कहा जा सकता है कि ब्राह्मी लिपि की निम्नांकित दो मुख्य अवस्थाएँ हैं--

सम्राट् अशोक के अभिलेख में उदाहृत--

१--पूर्ववर्ती ब्राह्मी अथवा मौर्य ब्राह्मी और

२--परवर्ती ब्राह्मी अथवा कुशाण ब्राह्मी।

ओड़िशा के निम्नांकित सभी अभिलेख पूर्ववर्ती ब्राह्मी में लिखे गये हैं—

१—पुरी जिले के धउली और गंजाम जिले के जउगड़ में सम्राट् अशोक द्वारा पर्वत पर उत्कीर्णित अनुशासन (ई० पू० दूसरी श०)।

२—पुरी जिलांतर्गत भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि में स्थित सम्राट् खारवेल का हाथी-गुंफा शिलालेख और उनके संबंधियों के छोटे-छोटे लेख आदि (लगभग ई० पू० प्रथम शताब्दी)।

खारवेल-कालीन अभिलेखों में पूर्ववर्ती ब्राह्मी के जितने अक्षर हैं उनमें मौलिक अक्षरों के बहुत से परिवर्तन मिलते हैं। आठवीं शताब्दी के राजाओं के भद्रकवाले अभिलेख में कुशाण ब्राह्मी के अक्षर देखे जाते हैं। लिपितत्त्व की दृष्टि से इस क्षुद्र शिलालेख को तीसरी शताब्दी का कहा जा सकता है। यह एपिग्राफिया इंडिका के २९ वें खंड के २३वें भाग में प्रकाशित हुआ है।

उत्तरी भारत के गुप्त सम्राटों तथा उनके अधीनस्थ और समसामयिक राजन्यवर्ग के प्राप्त शिलालेखों में लिपि-विकास की परवर्ती अवस्था दृष्टिगोचर होती है। इसलिए गुप्तकाल के उत्तर भारतीय शिलालेखों की लिपि को गुप्तलिपि कहा जाता है। ल, ष, ह आदि कई अक्षरों के आधार पर इस लिपि को प्राच्य और पाश्चात्य—इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

ओड़िशा के म्नांकित अभिलेखों में गुप्तलिपि मुख्य रूप से व्यवहृत हुई है—

(१) कालाहांडि से प्राप्त महाराज तुष्टिकर का ताम्रपत्र। सन् १९४७ में यह तत्कालीन गड़जात कालाहांडि से पाया गया है और ओड़िशा के बलांगिर पाटणा से प्रकाशित होने वाली कलिंग ऐतिहासिक गवेषणा समिति की पत्रिका में प्रकाशित भी हुआ है।[1] इसमें वर्ष का उल्लेख नहीं है, फिर भी लिपितत्त्व की दृष्टि से इसे लगभग चतुर्थ शताब्दी का कहा जा सकता है।

(२) २५० गुप्ताब्द (५६९-७० ई०) का धर्मराज का ताम्रपत्र। यह गंजाम जिलांतर्गत जउगड़ के समीपवर्ती सुमंडल ग्राम के निकट एक स्तूप से आविष्कृत हुआ है। इसका सर्व प्रथम उल्लेख ब्रह्मपुर से प्रकाशित मनोरमा नामक संस्कृत पत्रिका के खंड १ अंक १ में पहले-पहल हुआ था।[2]

(३) २६० गुप्ताब्द (५७९-८०) का 'सोरो' से प्राप्त महाराज शंभुयश का ताम्रपत्र। यह बालेश्वर जिले के सोरो नामक स्थान के निकट अन्य तीन ताम्रपत्रों के साथ प्राप्त हुआ था।[3]

(४) २८० गुप्ताब्द (५९९ ई०) का लोकविग्रह का कणासताम्रपत्र। यह पुरी जिले के कणास ग्राम से प्राप्त हुआ है और ताम्रपत्र के चित्र के साथ इसका विवरण ऐतिहासिक गवेषणा समिति की पत्रिका के जनवरी १९५० के अंक में प्रकाशित हुआ था।

---

१. सितंबर, दिसंबर, १९४७, द्वितीय खंड, संख्या २ और ३।

२. एपिग्राफिया इंडिका, भाग २८, पृ० ७९।

३. वही, भाग २३, पृ० १९७।

परवर्ती कलिंग लिपि (७वीं शताब्दी से १२वीं तक)[१]

यह दक्षिणी वर्णमाला से विशेष प्रभावित था। इसी दक्षिणी अंचल में इसका विकास भी हुआ। गंजाम और विजगापट्टम अंचल में प्रचारित प्राचीन ओड़िया लिपि में पाये जानेवाले कई अक्षर इसी से आये थे। इसके अलावा कलिंग नगरी के परवर्ती गंगराजाओं के शासनकाल में समय-समय पर व्यवहृत होनेवाली प्रत्नबंगीय लिपि देखी जाती है।

७वीं शताब्दी से ११वीं तक के मध्य उत्तरी भारत के अनेक अभिलेखों में व्यवहृत वर्णमाला में कई प्रधान और विशिष्ट लक्षण देखे जाते हैं। इन्हीं लक्षणों के कारण यह वर्णमाला कीलक-शीर्षक, कंटकशीर्षक, सूक्ष्मकोणी, सिद्धमातृका और कुटिल आदि नामों से अभिहित की जाती है।

७वीं शताब्दी में सूक्ष्मकोणी लिपि सामान्यतः कीलकशीर्षक दृष्टिगोचर होती है। ऐसी लिपि पहले-पहल शैलोद्भववंश के दिये हुए ताम्रपत्रों में मिलती है। जैसे——

(१) ३०० गुप्ताब्द (सन् ६१९-६२० ई०) में अंकित (डेटेड) शशांक के समसामयिक महाराज महासामंत माधव नरेश के गंजाम ताम्रपत्र।[२]

(२) सैन्यभीत-माधवराज का खोर्दा ताम्रपत्र।[३]

सूक्ष्मकोणी वर्णमाला या सूक्ष्मकोणी और प्रत्नबंगीय, इन दोनों वर्णमालाओं की मध्यवर्ती अवस्था की वर्णमाला [जिसमें सब कीलकशीर्षक धीरे-धीरे छोटे अनुप्रस्थ (Horizontal) ऊर्ध्व रेखा में परिणत होते हैं] ओड़िशा में निम्नांकित सनदों (Charters) में पाई जाती है। ७वीं-८वीं या ८वीं, १०वीं शताब्दियों के भौमकरवंशी राजाओं और उनके समसामयिकों के आज्ञापत्र (सनद) १०वीं शताब्दी के बीच से आरम्भ होकर १२वीं शताब्दी के आरंभ तक के हैं। सोमवंश के आरंभिक राजाओं और उनके समसामयिकों के आज्ञापत्र भी मिलते हैं।

इनमें कुछ निम्नलिखित हैं।

(क) (१) शुभाकर का नेउलपुर फलक (ई० आई० १५, पृ० १)।

(२) दंडि महादेवी के दो दानपत्र (Grants) (ई० आई० ६, पृ० १३३ कीलहार्न द्वारा संपादित)।

(ख) (१) विद्याधर भंज का आज्ञापत्र (सनद)। (जे० ए० एस० बी० ४६, भाग १, फलक ९, आर० एल० मित्र द्वारा संपादित।

(२) नेट्टभंज का ताम्रफलक दानपत्र (जे० बी० ओ० आर० एस० १८, पृ० १०४—मिश्र द्वारा संपादित)।

(ग) (१) कटक के सोमवंशी राजाओं के अभिलेख (ई० आई० ३, पृ० ३२३ फ्लट द्वारा संपादित)।

---

१. दे० ब्युहलर का भारतीय लिपितत्त्व, ३०वां अनुच्छेद (सेक्शन)।

२. ऐपिग्राफिया इंडिका, ६ठां भाग, पृ० १४३।

३. वही, सन् १९०४, भाग १, पृ० २८४।

गये अनेक ओड़िया अभिलेखों में इस लिपिका व्यवहार हुआ है। उनमें से कुछ नीचे दिये गये हैं :—

(१) कटक जिले के याजपुर के आसपास सिद्धेश्वर गाँव में चतुर्थ नरसिंह देव का (१९ अंक का) शिलालेख मिला है। इसका समय १३९४ ई० है। (एपिग्राफिआ इंडिका, खंड २९, पृ० १०७)।

(२) गुन्टूर जिले से कपिलेश्वर देव का त्रैभाषिक ताम्रपत्र मिला है। इसका समय १४५८ ई० है। (दे०, आर्कलाजिकल रिपोर्ट आव् साउथ इंडियन एपिग्राफी १९३४-३५, पृ० ६८) मेदिनीपुर जिले के (मेदिनीपुर सब-डिविजन में) गगनेश्वर गाँव में कपिलेश्वर देव का शिलालेख भी प्राप्त हुआ है। (दे०, मेदिनीपुर जिला गजेटिअर।)

(३) पुरुषोत्तम देव का परशु शीर्षक ताम्रपत्र, बालेश्वर जिले के गडपडा से मिला है। इसका समय १४७२ ई० है। (दे०, जे० बी० ओ० आर० एस०, खंड ४ (१९१८) भाग ४, पृ० ३६१)।

(४) प्रताप रुद्रदेव का लेख कृष्णा जिले के कोंडपल्ली पर्वत के ऊपर किले के पास पत्थर में खोदा गया है। (दे०, साउथ इंडियन इन्स्क्रिप्शन्स, खंड ६, नं० ६५४) इसका समय १५०७ ई० है।

(५) पुरी जगन्नाथ मंदिर के जयविजय द्वार में १२ शिलालेख हैं। इनमें ५ तो कपिलेश्वर देव के, ४ उनके पुत्र पुरुषोत्तम देव के और दो उनके पुत्र प्रतापरुद्र देव के हैं तथा एक गोविंद देव का है। (१५४१-१५४९) दे०, जे० ए० एस० बी०, खंड ५२ (१८९३) पृ० ९२।

(६) विशाखापत्तन जिले के सिंहाचलम् के लक्ष्मीनारायण मंदिर की दीवारों पर ३१ शिलालेख खुदे हुए मिले हैं। इनमें २५ पहले कहे गये कपिलेन्द्र देव के हैं और शेष मुकुन्द देव के हैं। (१५५९-१५६८) (एस० एम० आई० खंड ६, १९२८)।

लगभग १७वीं शताब्दी के प्रारंभ में प्राचीन ओड़िया लिपि धीरे-धीरे आधुनिक ओड़िया लिपि में परिणत हुई। इसमें अक्षरों के ऊपरी भाग की वक्र रेखाओं ने गोलाकार रूप धारण किया। १७वीं शताब्दी और उसके बाद के लेखों, ओड़िशा की अगणित तालपत्र की पोथियों और आजकल के मुद्रित लेखों में यही लिपि व्यवहृत होती आई है। आधुनिक ओड़िया लिपि के दो भेद या पद्धतियाँ हैं : (१) पाठशालीय पद्धति जो स्कूल, कालेज और पुस्तकों में व्यवहृत होती है, (२) करणी रीति जिसे मुहर्रिर कचहरी के कागज-पत्रों में लिखते हैं। इन पाठशालीय और करणी लिपियों के अनेक अक्षर समान हैं। इन दो भेदों के उदाहरण के लिए जे० बी० ओ० एस० खंड १० (१९२४) पृ० १६८ को देखा जा सकता है।

व्युहलर ने १८९६ ई० में जर्मन में प्रकाशित अपने 'इंडिसे पालिओग्राफी' नामक ग्रन्थ में (इसके अंग्रेजी अनुवाद के लिए इंडियन एंटिक्वेरी खंड ३४ का परिशिष्ट देखना चाहिए) लगभग ईसा पूर्व ३५० से लेकर १३०० ई० तक भारतीय लिपियों के विकास की आलोचना के सिलसिले में जउगड़ से प्राप्त अशोक-ब्राह्मी और भुवनेश्वर के हाथीगुंफा से प्राप्त अशोकोत्तर-ब्राह्मी की

परीक्षा की है और द्वितीय फलक के ६, ८ और २१, २२ स्तम्भों में व्यवहृत अक्षरों को उदाहरणस्वरूप उद्‌धृत किया है।

उन्होंने भी गंजाम-चिकाकोल अंचल की परवर्ती कलिंग लिपि के विषय में आलोचना करके ७वें पत्र के १९वें और ८वें पत्र के १०वें तथा १२वें स्तम्भों से इस वर्णमाला का उदाहरण दिया है। लेकिन ब्युहलर के ग्रन्थ में ओड़िशा के दूसरे खोदित लेखों का उल्लेख नहीं मिलता है, यहाँ तक कि इसमें ओड़िया लिपि का नाम भी नहीं है।

गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने १९१८ ई० में प्रकाशित (दूसरा संस्करण) अपने 'प्राचीन लिपिमाला' नामक ग्रन्थ के ७९वें और १३१वें पृष्ठ में सूचना दी है कि ओड़िया लिपि की उत्पत्ति प्रत्नबंगीय लिपि से हुई है।

राखालदास बनर्जी ने सन् १९१९ में प्रकाशित 'बंगीय लिपि की उत्पत्ति' नामक अपनी पुस्तक के ६, ११, १२, २७ और २२, ८३ पृष्ठों में ओड़िशा के कई अभिलेखों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि आधुनिक धावमान (Cursive) ओड़िया लिपि १४वीं शताब्दी के बाद बंगीय लिपि से उत्पन्न हुई थी।

पी० एल० पाल ने सन् १९३६ में इंडियन हिस्टरिकल क्वार्टर्ली के १२वें खंड के ३०९वें और ३३४वें पृष्ठों में अपने 'बंगीय लिपि का विकास' नामक लेख में ओड़िशा के तीन अभिलेखों की चर्चा की है।

एस० एन० चक्रवर्ती ने भी १९३८ के जे० आर० ए० एस० बी० के चौथे खंड के ३५१वें से ३९१वें पृष्ठ तक अपने 'बंगीय वर्णमाला का विकास' नामक लेख में ओड़िशा से आविष्कृत दो अभिलेखों की चर्चा की है। इनमें एक नयपाल देव का इर्दा (बालेश्वर) फलक है। इसमें सबसे पहले 'प्रत्नबंगीय' लिपि का निदर्शन मिलता है।

ओड़िया लिपि के विषय में ओझा और बनर्जी की उक्ति पुष्कल आलोचना और उदाहरण-मूलक फलकों की सहायता से पुष्ट न होने के कारण ग्रियर्सन ने बंग भाषा के साथ ओड़िया को भी प्राच्य आर्यभारतीय गोष्ठी के अन्तर्भुक्त किया है किन्तु सन् १९३२ में फिर लिखा कि ओड़िया लिपि 'प्रत्न-बंगीय' लिपि से नहीं जन्मी है। यह नागरी लिपि से बनी है।[१]

अनुमान है कि इस मत-प्रकाशन में ग्रियर्सन ने आर्य भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण-लेखक का अनुसरण किया होगा।

प्राचीन ओड़िया के उत्कीर्णित लेखों के अनुसंधान से पता चलता है कि मध्य युग की ओड़िया लिपि (जो लिपि आज ओड़िया लिपि में विवर्तित हुई) के निम्न तीन उत्पत्तिस्थल हैं।

१—प्रत्न-बंगीय (प्राच्य लिपि)।

२—नागरी (प्रतीच्य और उदीच्य लिपि)।

३—परवर्ती कलिंग लिपि (दक्षिणी लिपि)।

---

१. दे०, इंडियन एंटिक्वेरी, १९३२, परिशिष्ट १३४।

प्राचीन ओड़िया के उत्कीर्णित लेख में व्यवहृत तथा वर्तमान प्रचलित ओड़िया वर्णमाला के अक्षरों के पर्याप्त अंश स्पष्ट रूप में 'प्रत्नबंगीय' लिपि से विवर्तित हुए हैं। इन अक्षरों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। पहली श्रेणी के अक्षर 'प्रत्न-बंगीय' और नागरी दोनों में दिखाई पड़ते हैं। दूसरी श्रेणी में अन्य कई अक्षर हैं जो केवल 'प्रत्न-बंगीय' में मिलते हैं। निम्नांकित अक्षरों को दूसरी श्रेणी में अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। प्रारंभिक या आदि में व्यवहृत (Uni-tial) अ, आ, इ, उ, ए, ऐ, ओ, औ। बीच में व्यवहृत या मध्यवर्ती ए, ऐ, आ, औ, ख, छ, झ, ट, ण, त, म, र, और श। इनसे उत्पन्न अक्षर प्राचीन ओड़िया के उत्कीर्णित लेखों तथा आधुनिक ओड़िया में दृष्टिगोचर होते हैं। लेकिन केवल प्रारंभिक अ, आ, श और स को छोड़कर अनुरूप नागरी अक्षरों से उत्पन्न अक्षर उसमें नहीं मिलते। ओड़िशा से प्राप्त संस्कृत और ओड़िया के सभी लेख स्पष्ट बताते हैं कि 'प्रत्न-बंगीय' धीरे-धीरे किस प्रकार प्राचीन या मध्ययुग की ओड़िया में परिणत हुई। इसलिए कहा जा सकता है कि ओड़िया लिपि 'प्रत्न-बंगीय' से बनी है।

यद्यपि ओड़िया वर्णमाला 'प्रत्न-बंगीय' के अन्तर्भुक्त है, फिर भी प्राचीन ओड़िया के खुदे हुए लेखों में नागरी का प्रभाव भी देखा जाता है। समय समय पर 'प्रत्न-बंगीय' लिपि में लिखे हुए ओड़िशा के उत्कीर्णित लेखों में नागरी के अनेक अक्षर मिलते हैं।[1]

इन सब अक्षरों के विवर्तित रूप आधुनिक ओड़िया में नहीं हैं। यद्यपि नागरी 'श' का विवर्तित रूप आधुनिक ओड़िया में प्रचलित नहीं है तो भी प्राचीन ओड़िया के खुदे हुए एक लेख में यह दो बार व्यवहृत हुआ है। इससे मालूम पड़ता है कि कभी-कभी लोग नागरी अक्षरों का भी व्यवहार करते थे।

ओड़िया में अनेक अक्षरों के वैकल्पिक (Alternative) रूप हैं, जैसे प्रारंभिक या मातृक अ, आ, स और ष, षा आदि। अक्षरों के इन दो रूपों में से पहला 'प्रत्न-बंगीय' से विवर्तित है और दूसरा नागरी से विवर्तित। उपरोक्त उदाहरण में विवृत (Open) अ, आ, और संवृत 'स' नागरी लिपि के अनुरूप अक्षरों से विवर्तित है। इस प्रकार 'प्रत्न-बंगीय' और 'नागरी' में ऐसे कई अक्षर मिलते हैं जिनका आकार दोनों लिपियों में समान है, जैसे क, घ, ज, ड, ढ, द, न, प, ब, म, प, ल। अब प्रश्न यह है कि ये सब कहाँ से बने, 'प्रत्न-बंगीय' से या नागरी से। 'नागरी' लिपि का प्रभाव ओड़िया के कई अक्षरों पर होने के कारण यह सोचना युक्तियुक्त है कि इन अक्षरों का ओड़िया रूप नागरी से न बन कर 'प्रत्न-बंगीय' से बना है।

ओड़िया लिपि पर परवर्ती कलिंग लिपि का प्रभाव अधिक नहीं है। मध्ययुग के खुदे हुए ओड़िया लेखों में कई प्राचीन अक्षर व्यवहृत हुए हैं।

ये सब और दूसरे कई चिह्न दक्षिणी वर्णमाला (पूर्ववर्ती कलिंग लिपि) से विवर्तित है।

---

१. पुरी के त्रिमाली और शंकरानंद मठ से प्राप्त संस्कृत-ओड़िया ताम्रपत्र। देखिए ओ० एच० आर० जे० खंड ५, संख्या १-२, (एप्रिल-जुलाई, १९५६)।

अब आस पास के प्रदेशों में व्यवहृत लिपियों की तुलना में ओड़िया लिपि के कई साधारण तथ्य उपस्थित किये जा रहे हैं।

ब्राह्मी से बनी हुई दूसरी वर्णमालाओं की अपेक्षा ओड़िया वर्णमाला में प्राचीन ब्राह्मी अक्षर के मौलिक सादृश्य संरक्षित हैं। इस संबंध में 'ठ' ओ मातृका और 'इ' अक्षर का उदाहरण दिया जा सकता है। तृतीय शताब्दी की ब्राह्मी का 'ठ', ओड़िया में बिलकुल वैसे ही है। बंग, आसाम, मिथिला की लिपियों की 'ई' और नागरी 'इ' की अपेक्षा ओड़िया 'इ' का रूप अधिक प्राचीन है।

नागरी में ख, ग, ण, श आदि कई अक्षरों में अनुप्रस्थ (Horizontal) और ऊपरी रेखा (Top-Stroke) हैं। लेकिन 'प्रत्न-बंगीय' के इन अक्षरों में ये रेखाएँ नहीं हैं। 'प्रत्न-बंगीय' का यह लक्षण इससे उत्पन्न बँगला, असामी, मैथिली और ओड़िया लिपियों में भी है।

जिन अक्षरों के ऊपरी भाग की आकृति वृत्तांश की तरह है उनके साधारणतः दो भाग या अंश हैं। एक ऊर्ध्वभाग, दूसरा अधोभाग। अधोभाग अक्षर का प्राकृत और ऊर्ध्वभाग आलंकारिक रूप है तथा अधिक स्थान घेरता है।

ओड़िया वर्णमाला के अनेक अक्षरों में लंब रेखा (Vertical) दिखाई पड़ती है। लेकिन घ, ष, स, म्प आदि कई अक्षरों में एक श्रृंग या वक्रदंड के रहने पर भी किसी अक्षर में प्रकृत अनुप्रस्थ रेखा (Horizontal Stroke) नहीं है। अधिकांश अक्षर के बाईं ओर गोलाकार और दाहिनी ओर लंब रेखा है।

कई स्थलों में लंब रेखा प्रकृत अक्षर के दाहिने और नीचे होती है। (उदाहरण के लिए क, ज, द, ब, ह)। लेकिन अन्य स्थलों में लंब रेखा ऊपर को फैलती तथा ऊपर होती हुई वृत्तांश के साथ मिलकर ऊपर को कुछ लंबी हो जाती है।

अक्षरों की आकृति में ये लंब रेखाएं ब्राह्मी से लेकर 'प्रत्न-बंगीय' के बीच विद्यमान विभिन्न स्तरों या अवस्थाओं में उत्पन्न हुई हैं। केवल ह की लंब रेखा ने 'प्रत्न-बंगीय' स्तर के बाद विकास किया है। कई स्थानों में यथा, झ और र में, 'प्रत्न-बंगीय' स्तर की लंब रेखा वृत्तांश में रूपान्तरित हुई है। 'प्रत्न-बंगीय' स्तर में अनेक अक्षरों का अधोभाग कोणयुक्त था। ओड़िया में ये सब क्रमशः वृत्ताकार होने लगे।

'प्रत्न-बंगीय' में साधारणतः अक्षर थोड़े दीर्घ हैं। अनुप्रस्थ ऊर्ध्व रेखा का ऊर्ध्व-वृत्तांश में रूपान्तरित होने के कारण अक्षरों का ऊपरी भाग विकसित हुआ है। इसकी क्षति-पूर्ति के लिए ओड़िया अक्षर के अधोभाग को छोटा बनाना पड़ा। इसलिए कई अक्षरों की आकृति में बड़ा परिवर्तन हुआ। यथा—द, ढ, और ह।

खुदे हुए ओड़िया लेखों से पता चलता है कि अक्षरों की गति क्रमशः वृत्त और संवृत्त (without opening) आकार की ओर रही है।

लोहे की कलम से तालपत्र पर लिखे जाने के कारण ओड़िया लिपि में उपरोक्त लक्षणों की संभावना भी सिद्ध हो जाती है।

उत्कलीय लिपि का ऐतिहासिक विकास-क्रम

श्री सत्यनारायण राजगुरु

जिस प्रकार हस्ताक्षर मनुष्य-चरित्र का एक प्रतिबिम्ब है, वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि जातीय लिपि जातीय संस्कृति का एक आलेख है। प्राचीन काल से ओड़िशा में प्रचलित लिपि ओड़िया जातीय-जीवन को कुछ अंशों में प्रकाशित करती है।

यदि ईसा पूर्व लगभग तीसरी शताब्दी के प्रारंभ से आधुनिक युग तक के दो हजार वर्षों के इतिहास को सामने रख कर ओड़िशा में व्यवहृत वर्णमाला तथा उसकी क्रमपरिणति के संबंध में विचार किया जाय तो मन में यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि भारतवर्ष के उत्तर, पूर्व, पश्चिमांचल में युगों से प्रतिष्ठित विभिन्न प्रकार की संस्कृति और ज्ञान में समन्वय स्थापित करने में यदि भारत की कोई लिपि तथा भाषा समर्थ है तो वह है कलिंग तथा ओड़िशा की लिपि और भाषा। इस सिद्धान्त पर उपस्थित होने के लिए ओड़िशा के प्राचीन धर्म, कला और साहित्य के गवेषकों को जिन जटिल प्रश्नों के सम्मुख उपस्थित होना पड़ता है उन्हें ओड़िशा की लिपि तथा उसके क्रमविकास के तथ्य ने सुबोध कर दिया है। इसलिए इसकी आलोचना गुरुत्वपूर्ण और सावधान सापेक्ष्य है।

ओड़िशा की भौगोलिक परिस्थिति ने प्राचीन काल से ही कुछ विशिष्टताएँ बना रखी हैं। एक ओर दीर्घ पूर्वोपकूल तथा सागर और दूसरी ओर विस्तृत पूर्वी घाट पर्वतमाला, उपजाऊ मालभूमि तथा उपत्यकाएँ हैं। गंगा से गोदावरी तक के (६००० वर्गमील) विस्तृत प्रदेश के निवासी भारत तथा विदेश में कलिंग के नाम से परिचित थे। तीसरी शताब्दी में कलिंग को जीत कर मौर्यवंशी राजा अशोक ने कलिंग-निवासियों के लिए धउली पहाड़ और जउगड में जो दो लेख खुदवाये हैं, वे ही इस प्रदेश की सब से प्राचीन लिपियाँ हैं। इसके डेढ़ सौ या दो सौ वर्ष बाद चेदीवंशीय महाराज खारबेल की जो शिलालिपि खण्डगिरि में उत्कीर्णित है वह अशोक की लिपि का विकास-क्रम है।

राजनीतिक कारणों से कलिंग की सीमा कभी विस्तृत और कभी संकुचित होती रही। लेकिन अशोक और खारबेल के युग की भाषा तथा लिपि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। भारत के विभिन्न स्थानों से धर्मयाजकों, मताचार्यों और पंडितों ने यहाँ आकर इसे अपना उपनिवेश बनाया था। तृतीय शताब्दी के बाद बड़ी संख्या में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यहाँ आकर बस गये। उनके साथ स्थानीय निवासियों का मेल होने से यहाँ गुप्त-युग की संस्कृति तथा सामाजिक जीवन का प्रसार हुआ और इसकी उत्तरोत्तर उन्नति हुई।

ओड़िशा के जंगल तथा उच्च मालभूमि में जो प्राचीन भाषाएँ व्यवहृत थीं, वे आज तक लुप्त नहीं हुई हैं। जंगलों और पहाड़ों में बसनेवाली जातियाँ आज जो भाषाएँ बोलती हैं, उनकी अभिव्यक्ति के लिए ऐसी किसी लिपि का आविष्कार नहीं हुआ है जो उनके द्वारा उच्चरित सारे स्वरों को ठीक-ठीक उपस्थित करने में समर्थ हो। इसलिए आशंका है कि लिपि तथा साहित्य-लेखन क्रिया के अभाव के कारण वह अधिक दिन तक न टिक सकें। पड़ोसी प्रदेशों की उन्नत भाषाओं के प्रभाव में आकर क्रमशः उन भाषाओं के आदिम अधिवासी दूसरी भाषाओं का आश्रय लेंगे तब वे भाषाएँ लुप्त हो जायेंगी। पृथ्वी के इतिहास में ऐसे उदाहरण विरल नहीं हैं।

पहले कहा जा चुका है कि गुप्त-युग में अर्थात् ईसा की चतुर्थ शताब्दी में और उसके कुछ पूर्व भारत के विभिन्न स्थानों से उच्च जातियाँ आकर कलिंग में बसने लगी थीं। उनमें उच्च श्रेणी की जातियों का सम्मान तथा अधिकार समाज में खूब बढ़ा। उनका मुख्य काम था अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह। उनके साथ जो कायस्थ या लेखक श्रेणी यहाँ आई, वह मुख्यतः राजकीय काम में नियुक्त होकर सम्मानित हुई। वे वैदिक रीति से वर्णाश्रम धर्म के आश्रित थे और उस सभ्यता का प्रचार तथा प्रसार करना ही उनका प्रिय कार्य था।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि उपरोक्त उच्च शिक्षित श्रेणियों ने ईसा की तृतीय शताब्दी के पहले कलिंग में क्यों नहीं निवास किया था? मानव धर्मशास्त्र या मनुसंहिता में लिखा गया है कि अंग, बंग, कलिंग आदि विन्ध्याचल के दक्षिण पार्श्ववर्ती राज्यों में भ्रमण करने से ब्राह्मण पतित होंगे। संभवतः उस समय वे राज्य वैदेशिक या विधर्मी जाति द्वारा अधिकृत थे जो वैदिक धर्म की विरोधी थी। इसलिए धर्मशास्त्र ने उन स्थानों में जाने के लिए निषेध किया है। लेकिन तृतीय शताब्दी के बाद कलिंग तथा दक्षिण में यही परिस्थिति न रही। दक्षिण के वर्णाश्रम-धर्मी आंध्र राजाओं की सहायता से कई राजवंशों ने दक्षिणी कलिंग को विदेशी या विधर्मियों के हाथों से मुक्त किया था। उसी समय से वहाँ ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान आरंभ हुआ। धीरे-धीरे उन्हीं राजाओं की सहायता और सहानुभूति पाकर आर्यावर्त के ब्राह्मण तथा ऊँची श्रेणी के हिन्दू दलबद्ध होकर कलिंग के रास्ते दक्षिण जाने लगे। अनुमान है कि मथुरा और उसके पड़ोसी राज्यों में शक, कुषाण आदि वैदेशिक जातियों के अत्याचार के कारण वे लोग उत्तर भारत से इधर आ जाते थे। वे जिस लिपि का व्यवहार करते थे उसे हम "गुप्त-लिपि" कहते हैं। वे उत्तरी भारत से अपने धर्म तथा संस्कृति के साथ भाषा तथा लिपि लेकर कलिंग और दक्षिणी भारत के विभिन्न राज्यों में प्रविष्ट हुए थे। उनको वहाँ के स्थानीय लोगों ने आग्रहपूर्वक ग्रहण किया था। वह लिपि प्राचीन मौर्ययुग में प्रचलित अशोकाक्षर से उत्पन्न होने पर भी दक्षिण की तत्कालीन लिपि के साथ मिल कर क्रमशः भिन्न आकार में बदल गई। इसलिए इसे लिपि-संस्कार-युग कहना समीचीन होगा।

सामाजिक कार्यकलाप में उत्तर भारतीय भाषा तथा लिपि के प्रचलन के कारण इस प्रदेश में एक नूतन सामाजिक संगठन दिखाई पड़ा। पर्वतीय जातियों के आदिम अधिवासी जो दलपति के रूप में रहा करते थे, उन्होंने क्रमशः 'राजा', 'राणक', 'महाराज' आदि उपाधियाँ

धारण कीं। नवागत उच्च शिक्षित लोग आर्यावर्त की सभ्यता तथा नीति से अनुप्राणित थे। अतः उन लोगों ने इन्हीं पंडितों के द्वारा अपने-अपने वंश की प्रशस्तियाँ संस्कृत में लिखवाईं और आर्य पंडितों को गुरु, पुरोहित तथा अमात्य के रूप में स्वीकार किया। व्यासोक्त धर्मशास्त्र के अनुसार दाता की वंश-प्रशस्ति के साथ गृहीता का परिचय तथा ताम्रपत्र में दानशासन या गाँव के उल्लेख करने की विधि नीचे दिये श्लोक से मालूम पड़ती है—

"स्थानं वंशानुपूर्वं च देशं ग्राममुपागतम्।
ब्राह्मणानां तथा चान्यान् मान्यानधिकृतान् लिखेत्॥
कुटुम्बिनोध्य कायस्थ दूत वैद्य महत्तरान्।
म्लेच्छचाण्डालपर्यन्तान् सर्वान् सम्बोधयान् तथा॥
मातापित्रोरात्मनश्च पुण्यायाध्मुकसूनवे।
दत्तं मयाध्मुकायाध्य दानं सब्रह्मचारिणे॥"

प्रत्येक दान के अंत में कुछ निषिद्धादेश निम्नांकित विधि से उल्लिखित करने का प्रचलन था।

"षष्ठिवर्षसहस्राणि दानाच्छेदफलं तथा।
आगामिनुपसमन्त बोधनार्थं नृपो लिखेत्॥"

यह सभी मानते थे कि ऐसे भूमिदान से अपूर्व पुण्य-कार्य होता है। इसलिए तृतीय शताब्दी से लेकर विभिन्न युगों में लिखे गये जो अनेक ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं उनकी प्राचीन लिपियाँ ही उस युग की पर्याप्त सूचनाएँ देती हैं। इनमें से लिपियों के संबन्ध में जो सन्धान मिला है, उससे पता चलता है कि महाराज खारबेल के समय में अर्थात् ईसा पूर्व पहली शताब्दी में कलिंग में जो लिपि प्रचलित थी उसकी मौलिक आकृति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु लेखन-शैली बहुत कुछ बदल गई थी। मालूम होता है कि तीसरी शताब्दी में लिपि को सुबोध्य और सरल बनाने की इच्छा लोगों में अधिक थी।

आजकल ओड़िशा से जितने ताम्रपत्र आविष्कृत हुए हैं उनमें से कलिंग के माठर वंशीय राजाओं के प्रदत्त दानपत्र ही सर्वप्रथम हैं। उन्होंने महेन्द्र पर्वत के निकटस्थ अंचलों में शासन किया था। इस वंश के प्रथम राजा विशाख वर्मा के ताम्रपत्र से पता चलता है कि गुप्ताक्षरों के मिश्रण के कारण कलिंग की तत्कालीन लिपि कोणयुक्त आकार में गठित हुई थी। वास्तव में यह अशोकाक्षर का विकासक्रम है। दोनों लिपियों में लगभग ६०० वर्षों का अन्तर है, फिर भी इनमें पर्याप्त आक्षरिक साम्य है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रक्षणशीलता इस प्रदेश के रहने वालों के सामाजिक जीवन को विशेष रूप से नियन्त्रित करती थी। फिर भी अनेक बातों में प्राचीन सामाजिक प्रथा को तोड़कर उन लोगों ने उन्नति का पथ प्रशस्त किया था। जिस प्रकार उन्होंने विंध्याचल के दक्षिण यात्रा कर इस प्राचीन प्रथा का लोप कर दिया था उसी प्रकार जल-

पथ द्वारा दूर द्वीपों में जाकर वहाँ उपनिवेश स्थापित करने के भी प्रमाण हैं। उनकी यात्रा कलिंग से आरंभ होती थी। उस समय कलिंग के माठर वंशीय राजाओं की राजधानी सिंहपुर थी। यद्यपि आज तक उसका ठीक-ठीक स्थान-निरूपण नहीं हुआ है तो भी यह महेन्द्र गिरि से बहुत दूर नहीं थी। प्राचीन काल से इस पर्वत के पास एक बंदरगाह था। इसका नाम वारुणा था। अब इसको बारुंआ कहते हैं।

पहले-पहल यहीं से कलिंग का नौ-वाणिज्य दूर-दूर देशों में प्रसारित हुआ था। इसलिए यहाँ जलयात्रा करनेवाले निपुण नाविक निवास करते थे। †

अब भी बारुंआ की समस्त जनसंख्या में से ८० प्रतिशत से अधिक लोग मत्स्य-जीवी या मछुआ देखे जाते हैं। संभवतः ५वीं या ६ठीं शताब्दी में उन नाविकों की सहायता से कुछ यात्री कलिंग से जाकर पूर्वी द्वीपपुंज में रहने लगे। इसमें संदेह नहीं है कि जिन 'क्लिगों' ने यामा, बाली, बोर्णियो आदि द्वीपों में उपनिवेश स्थापन किया था, वे सब कलिंगवासी ही हैं। संभवतः माठर वंशी राजाओं ने बाद में वहाँ जाकर अपनी राजधानी के नामानुसार सिंहपुर नामक बंदरगाह का निर्माण और ब्राह्मण धर्म का प्रचार किया था। भारतीय भाषा, साहित्य और कला के साथ यहाँ की लिपि भी उन द्वीपों में प्रचारित हुई थी। कलिंग में प्रचलित ६ठीं या ७वीं शताब्दी की लिपि पश्चिमी यामा से प्राप्त दो संस्कृत शिलालेखों से प्राप्त हुई है।* इन शिलालेखों में राजा पूर्णवर्मा का नाम भी मिलता है। उस द्वीप के 'केबोनकोपि' (Kebon-kopi) नामक स्थान से ऐसी ही एक और लिपि मिली थी। अनुमान है कि उन सभी लिपियों का काल ५वीं से ७वीं शताब्दी तक है। उस समय कलिंग में माठर वंशी और गंग वंशी राजाओं का निरंकुश शासन स्थापित था। संभवतः प्रथमोक्त वंश के किसी राजा या राजा के भाई ने कलिंग से जाकर यामा द्वीप में उपनिवेश की स्थापना की थी।

वास्तव में, माठर वंशी राजा अपने को 'पितृपादभक्त' और 'परमभागवत' उपाधि से भूषित कर भारत और दक्षिणाञ्चल की संस्कृति, भाषा और लिपि के बीच एकता स्थापित करने में समर्थ हुए थे। उन्होंने उत्तर भारत में प्रचलित वर्णाश्रम धर्म, और तत्संबंधी ग्रन्थों को दक्षिण भारत में जनप्रिय बनाने के लिए लिपि भी उसी तरह बनाई थी। इस समन्वय मूलक उच्चमनोवृत्ति ने ही एक दिन उन्हें काफी दूर पूर्वी द्वीपपुंज में उपनिवेश स्थापन करने को उत्साहित किया था। कई प्रत्नतत्त्वविद् पंडितों के मत में भारत से यामा, बाली, बोर्णियो आदि द्वीपों में जो लोग गये थे, वे सब पाण्ड्य, चोल, चेर, और पल्लव देश के रहनेवाले थे। लेकिन कलिंग और क्लिग से जुड़ी प्राचीन किंवदन्तियों के प्रत्याख्यान में आज तक कोई भी समर्थ नहीं हुआ है।

---

† १७वीं सदी तक यह बंदरगाह चालू था। यात्रीगण यहाँ से नाव द्वारा पुरी-जगन्नाथ तक जाते थे। इसका उल्लेख "गंगावंशानुगृहीत" नामक एक संस्कृत काव्य में है।

***पूर्वी द्वीपपुंज में प्रचलित किंवदंती के अनुसार उनकी आदिम जाति कलिंग बंदरगाह से वहाँ गई थी।**

इसके विषय मे अधिक विचार करना इस प्रबन्ध का लक्ष्य नहीं है। सिर्फ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि दूर-दूर देश की भाषा, लिपि और सभ्यता के एकत्रीकरण के लिए, भौगोलिक तथा राजनैतिक कारणों से कलिंग ही उपयुक्त क्षेत्र-रूप में विवेचित हुआ था। इसलिए इस देश के रहनेवाले काफी आसानी से विभिन्न अंचलों की लिपि सीख सकते थे।‡

उदाहरण के लिये :—

कृष्णानदी के तटवर्ती नागार्जुनी कोण्डा के अधिवासी ५वीं शताब्दी में जैसी लिपि का व्यवहार करते थे, ठीक वैसी ही लिपि केउंझर जिले के अन्तर्गत सिताबिंजि नामक ऐतिहासिक स्थान से प्राप्त कई शिलापृष्ठों में देखी जाती है। संभवतः दक्षिण से आकर ओड़िशा में बसने वाले बौद्ध या जैन श्रमणों की सहायता से दाक्षिणात्य लिपि और भाषा यहाँ प्रचलित हुई। ६ठीं शताब्दी के पूर्व चिलिका के उत्तरांश में ब्राह्मण धर्म प्रविष्ट नहीं हुआ था; क्योंकि वह भाग वैदिक धर्म-विरोधी संप्रदाय और जातियों द्वारा अधिकृत था। इसीलिए ६ठीं शताब्दी के पहले के कोई भी दानपत्र उत्तरी ओड़िशा से आज तक नहीं मिले हैं। लेकिन गंजाम, कालाहांडि, बस्तर और मध्य भारत समेत आन्ध्र देशों से ऐसे ताम्रपत्र पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि उत्तरी भारत से दक्षिण जानेवाले ब्राह्मणधर्मावलम्बी छत्तीसगढ़ और गंजाम के अन्तर्गत कलिंगाघाट होकर महेन्द्र गिरि के निकटवर्ती देश में आते थे। यहाँ से सुविधानुसार वे दाक्षिणात्य या पूर्वी द्वीपपुंज की यात्रा करते थे। सालंकायन, विष्णुकुंडिन् आदि दक्षिणी राजवंशों के साथ माठरों का वैवाहिक संबंध भी था। इस कारण उनकी सहायता से इस आर्य वंशीय शिक्षित संप्रदाय ने गोदावरी और कृष्णा के तटवर्ती अंचलों में उपनिवेश स्थापित किया था। उस समय उन अंचलों में वैदिक रीति के अनुसार याग-यज्ञ भी अनुष्ठित होने लगे थे। काल्ड-वेल (Caldwell) के मतानुसार दक्षिण के आर्य उपनिवेश के मूल में ब्राह्मण पुरोहितों का धर्म-प्रचार ही सन्निहित है (Vide Com Gram Intro. p. 115)। उस समय उत्तरी भारत में प्रचलित संस्कृत और प्राकृत के काफी शब्द द्रविड़ भाषाओं में आने लगे। केवल इतना ही नहीं, बल्कि दक्षिण के राजा लोग राजदत्त अनुशासनों में भी इन सभी भाषाओं का व्यवहार करने लगे।

---

‡उत्तरी भारत की लिपि और लेखन-शैली के साथ सहयोग कर दक्षिण भारत में प्रचलित ७वीं या ८वीं शताब्दी की लिपि समान ताम्रपत्रों में समान रूप से व्यवहृत करने के लिए लेखक को उत्साहित करनेवाले कलिंग राजाओं में गंगवंशी इन्द्रवर्मा और बज्रहस्त प्रधान हैं। उनके समय की लिपि इसके साथ दिये हुए दूसरे प्लेट के ४ और ६ नंबर की पंक्ति में प्रदर्शित है।

किसी-किसी पंडित के मत में कालिदास के "मेघदूत" में वर्णित रामगिरि कलिंग में स्थित महेन्द्र के निकट का रामगिरि है। लेकिन इस विषय में आज तक कुछ भी निश्चित नहीं हो सका है। फिर भी मेरा विश्वास है कि महेन्द्र की प्रधानता की दृष्टि से उसके पास का रामगिरि ही संभवतः 'मेघदूत' का निर्दिष्ट स्थान हो सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि ईसा की दूसरी शताब्दी के बाद उत्तरी भारत से उच्च शिक्षित ब्राह्मण-धर्मावलम्बी संप्रदाय के लोग कलिंग के रास्ते दक्षिण की यात्रा करते थे। उस समय गंगा-यमुना के संगमस्थल से दक्षिण भारत को जाने का पथ सुगम था। इसलिए उन्हें मध्य भारत के लंबे जंगलों को पार नहीं करना पड़ता था। जिस प्रकार उनकी इस यात्रा के लिए कलिंग के माठर और गंगवंशी राजा सर्वदा आग्रही रहते थे, वैसे ही कोशल के समसामयिक शरभपुरीय, नल और पांडु वंश के राजा भी उनकी सहायता किया करते थे। कलिंग के राजाओं के साथ दाक्षिणात्य का वैवाहिक और सामाजिक संपर्क होने के कारण, वे उन उत्तरी भारत के नवागत पंडितों को आदर के साथ ग्रहण करते थे। इससे कलिंग में आर्य भारतीय संस्कृति तथा द्रविड़ संस्कृति का विनिमय संभव हुआ। गंजाम के कलिंगा घाट से होकर महेन्द्र के निकट स्थान में उपस्थित होने के कारण उन आर्य भारतीय ब्राह्मणों को आग्रही करने के लिए उन्होंने संभवतः महेन्द्र गिरि पर एक पुण्यतीर्थ क्षेत्र भी स्थापित किया था। वहाँ गंगवंशीय राजाओं के कौलिक देवता गोकर्णेश्वर महादेव प्रतिष्ठित हुए हैं। अनेक ताम्रपत्रों में उनके नाम का भी उल्लेख हुआ है। एक ओर उत्तरी भारत के साथ दक्षिण के संयोग-स्थल होने और दूसरी ओर बारुणा-बंदर होकर सिंहल तथा पूर्वी द्वीपपुंज के साथ संपर्क होने के कारण महेन्द्र प्रदेश एक प्रधान सांस्कृतिक और धार्मिक केन्द्र में परिणत हो गया था। तभी से कलिंग-शासन इस प्रकार दृढ़ रूप से स्थापित हो गया कि एक ही राजवंश (गंगवंश) के अधीन यह निरवच्छिन्न रूप से ८ सौ वर्षों के लंबे समय तक कायम रह सका था।

यह भारत के दूसरे किसी प्रदेश में संभव नहीं हुआ है। पहले मध्य भारत से कलिंग के उपकूल को जानेवाले लोगों के प्रधान यान बैल, घोड़े और हाथी थे। कलिंग विशालकाय हाथियों के लिए विख्यात था। यहां 'दंडक' और महाकांतार नामक दुर्भेद्य और दिगंतव्यापी वन थे, जहाँ सउरा और कंध नामक पहाड़ी जातियों के लोग रहते हैं। अतिथि-सत्कार उनके जातीय जीवन की एक विशेषता है। यदि हठात् कोई विदेशी यात्री उनके गाँव में पहुँचता है, तो वे अपनी सारी शक्ति और संबल से उसकी परिचर्या करते हैं। और दूसरे गांवों में जाने के लिए सारी सुविधाएँ कर देते हैं। इन अशिक्षित आदिवासियों में ऐसा अद्भुत गुण कैसे आया? संभवतः प्राचीन राजाओं ने उत्तरी भारत के पंडितों की निरापद यात्रा के लिए उन पहाड़ी प्रजाओं को इस प्रकार का कुछ उपदेश या आदेश दिया था। धीरे-धीरे वह एक सामाजिक रीति में परिणत हो गया। वे रक्षणशील अशिक्षित जातियां आज भी उस नियम का पालन निष्ठा के साथ करती हैं। इस विषय में विचार करते समय हमारी दृष्टि एक स्थानीय आचार की ओर भी चली जाती है। यह है कार्त्तिक मास में ओड़िशा के गृहों और देवमंदिरों के सामने "आकाशदीप" की प्रथा। ओड़िशा की प्राकृतिक परिस्थितियों पर दृष्टि डालने से मालूम होता है कि आश्विन के बाद वर्षा प्रायः समाप्त हो जाती है। इस समय यात्रीगण विदेश से ओड़िशा को आने लगते हैं। संभवतः रात के समय नवागत यात्रियों को ठीक स्थान में पहुँचाने के लिए एक बड़े बाँस के ऊपर एक दीपक रखने की विधि अत्यंत प्राचीन काल से इस देश में प्रचलित थी। "बर्तिस्तंभ"

(Light House) के समान यह भूले-भटके यात्रियों का उपकार करता है। एक बार चीनी परिव्राजक हुएनसांग ओड़िशा के चारित्र्य नामक बंदरगाह से एक घोर अँधेरी रात को दूर आकाश की सीमा-रेखा में, ज्योतिष्क के समान, एक उज्ज्वल आलोक देखकर ऐसा मुग्ध हुआ था कि इस बात को वह अपने भ्रमण-वृत्तांत में लिखे बिना न रह सका। संभवतः उस समय देवमंदिरों के समान ओड़िशा के बौद्ध चैत्यों के ऊपर भी ऐसा ही "आकाश दीप" जलता रहा होगा।

एक यात्री प्रयाग से यात्रा शुरू करके सुरुगुजा, यशपुर, बिलासपुर, रायपुर होकर काला-हांडि और गंजाम के रास्ते सुविधापूर्वक थोड़े समय में महेन्द्र गिरि पहुँच सकता है। महाराज समुद्रगुप्त ने उत्तर भारत से ठीक इसी मार्ग से आकर अपना दक्षिण का अभियान समाप्त किया था। राजनैतिक, सामाजिक, वाणिज्य और धर्म-प्रचार के उद्देश्य से दक्षिण जानेवाले यात्री इसी पथ से जाते थे। अतः उस युग में यह रास्ता एक राजपथ में परिणत हो गया था। इस मार्ग के आस-पास गाँवों में देवपीठों और धर्मशालाओं का प्रबन्ध रहता था।

शत्रु के प्रतिशोध के लिए कई स्थानों में दुर्ग भी बनाये गये थे। स्थान-स्थान पर आज भी उनके खंडहर दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि प्राचीन भारत की यात्रा पर विचार करना इस प्रबन्ध का उद्देश्य नहीं है फिर भी उत्तरी भारत के अक्षरों के साथ दक्षिणी भारत की वर्णमाला की साम्य-रक्षा के लिए ६ठीं शताब्दी के बाद से कलिंग में क्यों और कैसे प्रयत्न हुए थे, इस रहस्य को समझने के लिये इसकी सम्यक् आलोचना आवश्यक है। महाराज समुद्रगुप्त उपरोक्त महाकांतार से होकर महेन्द्रगिरि पहुँचे थे। वहाँ उस समय व्याघ्रराज शासन करते थे। थोड़े दिन हुए, बिलास-पुर जिले के अन्तर्गत मल्लार गाँव से प्रसन्नपुर के श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय द्वारा महाराजा व्याघ्र-राज का ताम्रपत्र आविष्कृत हुआ है। व्याघ्रराज के पिता जयभट्टारक संभवतः तीसरी या चौथी शताब्दी के प्रारंभ में जीवित थे। मालूम होता है कि उस समय मोद्गल या स्तम्भेश्वरी के भक्त राजे तेल नदी के तटवर्ती अंचल में शासन करते थे। उनके ताम्रपत्रों में जो लिपि व्यक्त हुई है, वह "पेटिकाशिर" (Pox-Head) नाम से विख्यात है, क्योंकि इस प्रकार की लिपि के अन्तर्गत हर एक अक्षर के शिर पर पेटिका या बाक्स की तरह एक चतुरस्र चिह्न दिखाई देता है। मध्यभारत में बाकाटक, नल, शरभपुरीय राजवंशों द्वारा भी इस प्रकार की लिपि व्यवहृत होती थी। इसलिए यह वहाँ भी प्रचलित थी। उस पथ से कलिंग को आनेवाले पंडितों और लेखों की सहायता से यहाँ के गंगवंशी नरेशों ने उस लिपि को कुछ समय तक अपने देश में भी प्रचलित किया था। महाराज इन्द्रवर्मा, हस्तिवर्मा, सामंत वर्मा आदि राजाओं के अनुशासनों में वही लिपि देखने को मिलती है। प्रथम नंबर के प्लेट में ९वीं और १०वीं पंक्ति से यही लिपि व्यवहृत हुई है। यद्यपि यह लिपि देखने में सुन्दर थी फिर भी अधिक काल तक स्थायी न हो सकी, क्योंकि उसमें सरल रेखा और कोण रहने के कारण तालपत्रों में लिखते समय पन्नों के फट कर थोड़े समय में ही ग्रंथों के नष्ट हो जाने की संभावना बनी रहती थी। धीरे-धीरे 'कुटिला-क्षर' ने 'पेटिकाशिर' लिपि का स्थान ले लिया। जो कुछ भी हो, लेकिन मध्यभारत के साथ कलिंग की सांस्कृतिक घनिष्ठता का प्रमाण यही पेटिकाशिर लिपि ही है। कलिंग से दक्षिण की ओर

फैलती हुई वह लिपि कुछ समय तक बेगि के विष्णुकुंडिन् राजाओं के द्वारा आदृत हुई थी। ८वीं शताब्दी में उत्तरी ओड़िशा में भौम-कर राजवंश का शासन था। वे पहले बौद्धधर्म के पृष्ठपोषक थे किन्तु बाद में उन्होंने ब्राह्मण धर्म ग्रहण कर लिया था। उनका प्रथम वासस्थान भारत का पूर्वांचल था। उस समय आसाम और नेपाल का कुछ अंश लेकर "प्रागज्योतिष" नामक एक राज्य स्थापित हुआ था। राजप्रशस्तियों के अनुसार वहाँ के नरक, भगदत्त आदि ख्यातनामा राजे भौमवंश के आदि-पुरुष थे। अभी यह लिपि प्रकाशित नहीं हुई है।

८वीं शती में इस वंश की एक शाखा ने ओड़िशा में आकर उत्तरी ओड़िशा अर्थात् तोषली राज्य के बिरजा (आधुनिक याजपुर) को अपनी राजधानी बनाया। दक्षिणी तोषली के अन्तर्गत कोंगद नामक राज्य के शैलोद्भव राजाओं को हटाकर वे जब दक्षिण में ऋषिकुल्या तक समस्त ओड़िशा पर अधिकार जमाने लगे थे, उस समय महेन्द्र अंचल के प्रबल पराक्रमी गंगवंशी राजा उनके प्रतिवेशी थे। यद्यपि दोनों राजवंशों में धर्म का अनैक्य था तो भी उनमें सांस्कृतिक विनिमय की कोई बाधा नहीं पड़ी। अतः कई गंगवंशी राजाओं के द्वारा सुदूर पूर्वी भारत की प्रचलित लिपि को भौमों से आहरण करने का प्रमाण मिलता है। उदाहरण के लिए गंगवंशी राजा चणकदानार्णव के बड़खिमुंडि ताम्रशासन में जो लिपि व्यवहृत हुई है, ठीक वैसी ही लिपि भौमवंश की रानी दंडि महादेवी के अनुशासन में देखने को मिलती है। अतः ८वीं शताब्दी से लेकर ९वीं शताब्दी के बीच ओड़िशा के लिपि-क्षेत्र में एक और संस्कार आरंभ हुआ। तब से ओड़िशा में पूर्वी भारत की लिपि की छाया और लेखनशैली विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। सोमवंशी तथा गंग-गजपतियों के शासन-काल में इसने परिमार्जित आकार लेकर आधुनिक ओड़िया-लिपि की लेखन-शैली को अधिक स्पष्ट कर दिया। ११वीं या १२वीं शताब्दी में कलिंग के गंगवंशी राजा बज्र-हस्त और चोल गंगदेव अपने शिलालेखों में दक्षिणी लिपि के साथ पूर्वी भारत की लिपि की साम्य-रक्षा में असमर्थ हो गये थे। इसलिए विशाखा, पाटणा और कोर्णि से प्राप्त चोल गंगदेव के दो ताम्रपत्रों में दो प्रकार की लिपियाँ अलग-अलग ढंग से व्यवहृत हुई हैं। इनकी भाषा संस्कृत है, और ये १००३ शकाब्द में लिखी गई हैं। बज्रहस्त देव ने अपने ताम्रपत्रों में दोनों प्रकार की लिपियों का व्यवहार किया है। द्वितीय प्लेट के अन्तर्गत ६ठीं पंक्ति से यह बात मालूम पड़ती है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कभी कलिंग के राजाओं ने उत्तरी भारत की लिपि के साथ दक्षिणी भारत की लिपि की एकता के लिए काफी चेष्टा की थी। लेकिन १२वीं शताब्दी के बाद दक्षिणी लिपि की आकृति और लखनशैली में ऐसा अंतर पड़ गया कि किसी भी तरह उत्तरी और पूर्वी भारत के साथ इसका संबंध रखना संभव न हो सका। इसलिए गंगवंशी राजा लोग ताम्र-पत्रों और शिलालेखों में प्रत्येक शैली की लिपि को भिन्न-भिन्न रूप में व्यवहार करने को मजबूर हुए। तत्पश्चात् १२वीं शताब्दी में सोमवंशी शासन की समाप्ति के बाद जब गंगवंश के राजाओं ने "गजपति" उपाधि धारण कर उत्तरी-ओड़िशा के साथ दक्षिणी ओड़िशा या कलिंग को मिलाया तब उनकी राजधानी महानदी के तट पर स्थित बाराणसी कटक में स्थापित हुई। तब से ओड़िशा

★ उत्कल की प्राचीन लिपि तथा चित्रकारी ★

प्राचीन तालपत्र-पोथी में ओड़िआ लिपि तथा चित्रकारी के नमूने
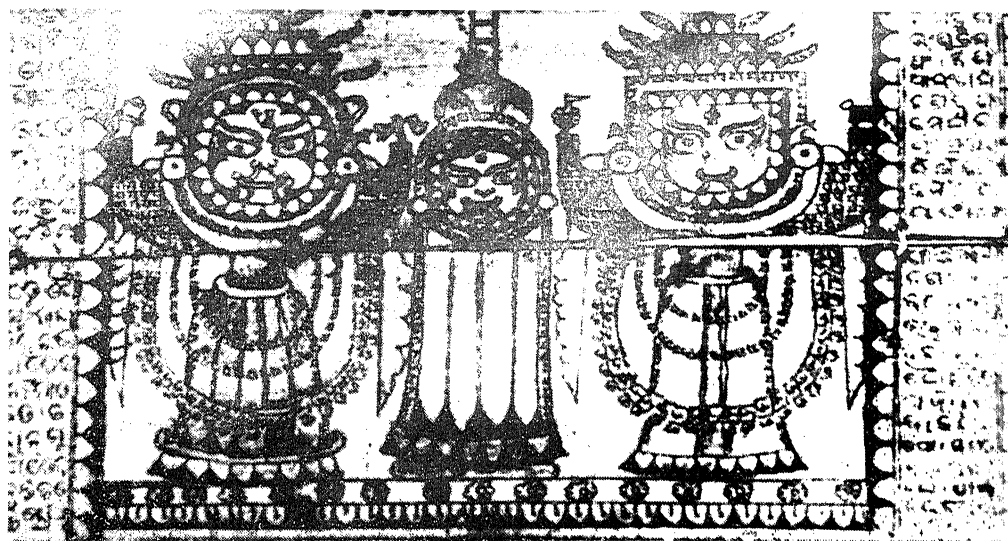
प्राचीन तालपत्र पोथियों पर ओड़िआ लिपि तथा चित्रकारी के नमूने

तालपत्र पोथी पर अंकित चित्रकारी का और एक नमूना

★ उत्कल की प्राचीन लिपि ★

पुरी जगन्नाथ मन्दिरगात्र में खोदित प्राचीन ओड़िआ लिपि

(भारत सरकार के शिलालेखविशारद के सौजन्य से)

प्राचीन तालपत्र पोथी में ओड़िआ लिपि तथा चित्रकारी के नमूने

★ उत्कल की प्राचीन लिपि ★

कागज पर प्राचीन लिखावट का एक नमूना

ताड़ पत्रों पर अंकित शिव-मन्दिर

के लिपि-राज्य में एक परिवर्तन दिखाई पड़ने लगता है। उत्कलीय लिपि बंगाल के सेनवंशी और आसाम के पाल नामान्त राजाओं की लिपि के साथ साम्य बनाती हुई प्रकट हुई। १३वीं शताब्दी से यद्यपि उत्तरी भारत की लिपि किसी किसी ताम्रपत्र में व्यवहृत हुई है फिर भी अधिकांश क्षेत्र में स्थानीय लोगों के लिए ओड़िशा की मौलिक लिपि ही प्रचलित हुई। इसीलिए राजा-नरसिंह देव के शासन में दोनों प्रकार की लिपियाँ देखने को मिलती हैं। द्वितीय प्लेट की १०वीं पंक्ति में यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

१३वीं शताब्दी के बाद जो लिपि और भाषा ओड़िशा के शासन-कार्य में व्यवहृत हुई, वही उत्कलीय भाषा और लिपि है। संस्कृत-प्रधान होने के कारण तत्कालीन कई ताम्रपत्रों में उत्तरी भारत में प्रचलित नागरी लिपि व्यवहृत हुई है। लेकिन ऐसी द्वैध प्रक्रिया राजकीय व्यापार में अधिक काल तक न रह सकी। १५वीं शताब्दी में गंगवंश के अवसान के बाद सूर्यवंशीय गजपतियों और दूसरे राजवंश के नरेशों ने ओड़िया में राज्य-विस्तार कर पूर्ण रूप से ओड़िया भाषा और लिपि का आश्रय लिया। उसी समय से ओड़िया भाषा ने साहित्यिक रूप में विकास किया है।
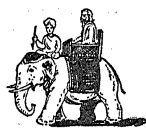
ओड़िया ध्वनितत्त्व का संक्षिप्त विवेचन

श्री गोलोकबिहारी धल

ओड़िशा के लोगों की मातृभाषा ओड़िया है जो यहाँ के डेढ़ करोड़ लोगों की भाषा तो है ही, इसके अलावा इसके पड़ोसी प्रदेश---यथा बंग, बिहार, मध्य प्रदेश तथा आंध्र के कुछ भागों के लोग भी इसे बोलते और समझते हैं। एक ऐसे विस्तृत अंचल की जो बोलचाल की भाषा हो उसकी एकाधिक उपभाषाएँ होना स्वाभाविक है। इनमें से कुछ विशेष उल्लेखनीय हैं, जैसे--संबलपुरी, बालेश्वरी, गंजामी आदि। इन विभिन्न उपभाषाओं में व्यवहृत ध्वनियों में फर्क रहने पर भी वे आपस में अबोध्य नहीं हैं। इस दृष्टि से शुद्ध संबलपुरी भाषा दूसरों के लिए अवश्य अबोध्य है। कटक और उसके आसपास के शिक्षित लोग जिस भाषा का उपयोग स्कूल, कालेज और कचहरी में करते हैं तथा जो पुस्तकों में लिखी जाती है, वही ओड़िशा की प्रामाणिक भाषा है। इस लघु निबंध में इसी प्रतिमित या प्रामाणिक भाषा के ध्वनि-संबंधी विवरण पर विचार किया गया है।

ओड़िया भाषा के ध्वनितत्त्वों पर सम्यक् विवेचन और पूर्ण विवरण देते समय हमें सभी उपभाषाओं के ध्वनितत्त्वों की भी पूरी परख होनी चाहिये। लेकिन उन सभी के प्रति आवश्यक और आधिकारिक जानकारी की कमी तथा निबंध की संक्षिप्तता के कारण, प्रामाणिक ओड़िया के ध्वनितत्त्वों का पूर्ण विवेचन नहीं उपस्थित किया जा सकता।

जैसे, अंग्रेजी कहने से दक्षिणी इँगलैंड की भाषा का बोध होता है, हिंदी कहने से खड़ी बोली समझी जाती है, वैसे ही इस प्रबन्ध की आलोचित भाषा को प्रामाणिक ओड़िया ही समझना चाहिये। लेखक ने अपने उच्चारण की सहायता से उसका विश्लेषण किया है। अन्य लेखक जिसे ओड़िया भाषा कहते हैं उसका, इस प्रबंध की दृष्टि से, प्रामाणिक ओड़िया भाषा से इतना निकटतम संबंध है कि उसे एक उपभाषा कहने के लिए अवसर नहीं है। ओड़ियाभाषी अंचल का कोई भी व्यक्ति उस भाषा को आसानी से समझ सकता है।

ओड़िया ध्वनितत्त्व के विषय में कहने के पूर्व कुछ विषयों की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। पहला तो यह है कि ध्वनि-संबंधी प्रबन्ध में ध्वनि-लिपियों का व्यवहार करना आवश्यक है। किंतु मुद्रणालयों में ध्वनि-लिपियों के अभाव के कारण उसका व्यवहार नहीं किया जा सकता; फिर भी इसे स्वीकार करना ही होगा कि इसके बिना ध्वनियों के अत्यंत सूक्ष्म भेद समझाना आसान नहीं है। इसलिए प्रचलित देवनागरी अक्षरों की सहायता से जितना किया जा सकता है, उतना किया गया है। दूसरा विषय यह है कि एक साहित्यिक पत्रिका के पाठकों के लिए ओड़िया ध्वनितत्त्व के विषय में जितना कहना चाहिये तथा उनकी कौतूहल की

PLATE–I

Name of Kings	A अ	ka क	kha ख	ga ग	cha च	ja ज	ta ट	da ड	na ण	ta त	tha थ	da द	dha ध	na न	pa प	bha भ	ma म	ya य	ra र	la ल	va व	śa श	sa स	sha ष
1. Asoka (3rd Century B. C.)																								
2. Khāravela (1st Cent. B. C.)																								
3. Āndhra, Sātavāhana (2nd Cent. A. D.)																								
4. Kushan Kings of Mathura (2nd Cent. A. D.)																								
5. Śaka Queen, Dakshamitrā (2nd Cent. A. D.)																								
6. Umāvarman, Māṭhara of Kalinga (3rd-4th Cent. A.D.)																								
7. Guptā, Samudragupta (4th Cent. A. D.)																								
8. Vigraha, Pṛthivī Vigraha of Kaliṅga (6th Cent. A. D.)																								
9. Gaṅga, Hastivarman of Kaliṅga (7th Cent. A. D.)																								
10. Tivaradeva, Pāṇḍua of D. Kośala (7th Cent. A. D.)																								

PLATE-II

Name of Kings	A अ	ka क	kha ख	ga ग	cha च	ja ज	ta ट	da ड	na ण	ta त	tha थ	da द	dha ध	na न	pa प	bha भ	ma म	ya य	ra र	la ल	va व	sa श	sa स	sha ष	ha ह
1. Dharmarāja-Śailodbhava																									
2. Jayavarma-Gaṅga of the time of Unmatta-Keśarī																									
3. Śubhākara-Bhaumakara																									
4. Indravarmā Śvetaka Gaṅga (A)																									
(B)																									
5. Sāmantavarmā Śvetaka-Gaṅga																									
6. Vajrahasta-Gaṅga of Kaliṅga-nagara (A)																									
(B)																									
7. Śatrbhañja-Bhañja																									
8. Jājalladeva-Kālachuri																									
9. Kings of Rajputana																									
10. Narasimha IV Gaṅga & II. (Two types of letters)																									
11. Lakshmanasena of Bengal																									
12. Vaidyadeva of Kāmarūpa (Asam)																									
13. Purushottamadeva, Śūryavamśi																									
14. Mukundadeva in the time of Akbar																									
15 Modern Oriya letters	ଅ	କ	ଖ	ଗ	ଚ	ଜ	ଟ	ଡ	ଣ	ତ	ଥ	ଦ	ଧ	ନ	ପ	ଭ	ମ	ଯ	ର	ଲ	ବ	ଶ	ସ	ଷ	ହ

परितृप्ति के लिए जितना आवश्यक है उतना ही दिया गया है; क्योंकि मेरी यह व्यक्तिगत अनुभूति है कि साहित्यिक पत्रिकाओं में अत्यंत पारिभाषिक विषय को पढ़कर, अर्थ मालूम करने की हिम्मत साधारण पाठकों की नहीं होती। तीसरी बात यह है कि ओड़िया ध्वनियों का जो कोष्ठक दिया गया है वह आधुनिक ध्वनि-विज्ञान-सम्मत है, किंतु यहाँ ध्वनियों का वर्णन तथा वर्गीकरण भारतीय ध्वनिक्रम के अनुसार किया गया है। आशा है कि साधारण पाठकों के लिए यह बोधगम्य होगा। चौथी बात यह है कि आवश्यक जगहों पर विशेष रूप से अंग्रेजी और हिंदी ध्वनियों की तुलना कर दी गई है; क्योंकि यह निबंध हिंदी जाननेवाले पाठकों के लिए ही लिखा गया है। पाँचवीं बात यह है कि ध्वनि-संबंधी तथ्यों को अच्छी तरह से हृदयंगम कराने के लिए जितने प्रकार के चित्रों की आवश्यकता है उनको यहाँ देना संभव नहीं हुआ। छठीं बात यह है कि ओड़िया ध्वनितत्त्व का पूर्ण विचार अब तक किसी ने नहीं किया है। इसलिए यहाँ कही गईं कुछ बातें, यंत्र से परीक्षित न होने तक, चरम निष्पत्ति के रूप में ग्रहण नहीं की जा सकतीं।

ओड़िया ध्वनि चार्ट

		द्वयोष्ठ्य	दंत्योष्ठ्य	दंत्य	वर्त्स्य	मूर्द्धन्य	ताकु वर्त्स्य	तालव्य	कंठ्य	काकल्य
व्यंजन	स्पर्श्य	प ब फ भ		त थ द ध		ट ठ ड़ ढ			क ग ख घ	(?)
	स्पर्श संघर्षी						च ज छ झ			
	नासिक्य	म			न	ण			ङ	
	पार्शिक				ल	ळ				
	कुण्ठित वा लोल				र					
	उत्क्षिप्त					ड़				
	संघर्षी	(फ़ भ)		स						ह
	अर्द्धस्वर	व						य		
स्वर	संवृत	उ						अग्र	पश्च	
	अर्द्ध संवृत	ओ						इ ए	उ औ	
	अर्द्ध विवृत	अ							अ	
	विवृत								आ	

नोट—जिस कोष्ठक में सिर्फ दो ध्वनि-संकेत दिये गये हैं, उनमें से पहला अघोष है और दूसरा सघोष। जिस कोष्ठक में चार सघोष दिये गये हैं उनमें से तीसरा और चौथा क्रमशः पहला और दूसरे का महाप्राण-रूप है। जैसे—प अघोष है और ब सघोष; "फ" "प" का महाप्राण है और "य" "व" का महाप्राणरूप है। कोष्ठक में दिये गये ध्वनि-संकेत (फ़ भ़), ओड़िया ध्वनि-पद्धति में गृहीत न होने पर भी कहीं-कहीं व्यवहृत होते हैं।

पहले कहा गया है कि इस लेख में ध्वनि को आधुनिक चार्ट के अनुसार दिया गया है; लेकिन चार्ट की ध्वनियों को "क" से "भ" तक भारतीय पद्धति के क्रम से अर्थात् क, ख, ग, घ आदि के अनुसार उपस्थित किया गया है।

ओड़िया व्यंजन

व्यंजनों के कुछ ध्वनि-संबंधी तथ्य

(क) बलाघात-युक्त अंग्रेजी की पी, टी, के, (P, T, K) आदि अघोष ध्वनियों के उच्चारण में जैसे एक-सी महाप्राणता सुनाई पड़ती है, वैसे ही ओड़िया प, ट, क, आदि के उच्चारण करते समय सुनाई पड़ती है।

(ख) ओड़िया सघोष ध्वनि ब, ड़, ग, आदि को उच्चारण करते समय जितना घोष रहता है उतना अंग्रेजी बी, डी, जी, (B. D. G) आदि ध्वनियों में नहीं होता। अंग्रेजी डी (D) ओड़िया ट के समान सुनाई पड़ता है। इसलिए एक अंग्रेज द्वारा डे (Day) कहते समय मेरे एक बन्धु ने टे (Tie) जैसे सुना था। यह लेखक की प्रत्यक्ष अनुभूति है। काइमोग्राफ चित्र की सहायता से इस सत्य की परीक्षा की गई है।

(ग) ओड़िया महाप्राण ध्वनियों में से ख, ठ, थ, फ, प्रत्येक अलग-अलग ध्वनि-यूनिट है, दो ध्वनियों का योग या मिश्रण नहीं। ऐसी ध्वनियों का उच्चारण करना अंग्रेजों के लिए कठिन होता है। वे "Top+Hat" उच्चारण कर सकते हैं लेकिन "तफात" शब्द के पी+यच (P+H) ध्वनियों की मिश्रित ध्वनि "फ" का उच्चारण नहीं कर पाते। ख, ठ, आदि ध्वनियाँ अन्य भारतीय भाषाओं की तरह ओड़िया भाषा में भी हैं।

(घ) संयुक्त व्यंजन के स्थान पर प्रथम व्यंजन का पूर्ण उन्मोचन हो जाता है। अंग्रेजी ऐक्ट (Act) शब्द में "क" का पूरा उन्मोचन नहीं होता; लेकिन ओड़िया "रक्त" शब्द में "क्" का उन्मोचन हो जाता है। ओड़िया भाषा का आक्षरिक गठन (Syllabic structure) साधारणतः उन्मुक्त होने के कारण "रक्त" शब्द में "क्" का सिर्फ उन्मोचन ही नहीं होता बल्कि कभी-कभी एक पूर्ण अक्षर "क" में बदल जाता है।

(ङ) व्यंजनों का जो उदाहरण दिया गया है उसमें कोई ध्वनि शब्द के आरंभ में है तो कोई अन्त में। यहाँ स्थानाभाव के कारण प्रत्येक ध्वनि के प्रत्येक स्थान का उदाहरण नहीं दिया जा सका। अपनाये गये विदेशी शब्दों में तथा कुछ विशिष्ट स्थानों को छोड़कर शब्दांत में ओड़िया व्यंजन नहीं दिया जाता।

क, ख, ग, घ——इन सबका उच्चारण-स्थान समान है। हिंदी और ओड़िया दोनों भाषाओं में ये प्रायः समान उच्चरित होते हैं। इनमें से "ख" का उच्चारण कहीं कहीं इतना अग्रीकृत होता है कि वह कंठ्य न होकर तालव्य के निकटतम एक ध्वनि में बदल जाता है। जैसे खिआ, आखि। अग्रस्वर "इ" के पहले होने से "ख" में ऐसा परिवर्तन होता है। ग, घ आदि सघोष ध्वनियों के बारे में एक अजीब बात देखने को मिलती है। साधारणतः प, न, आदि नासिक्य व्यंजनों का उच्चारण करते समय हवा नाक में से होकर निकलती है। लेकिन विज्ञानशाला में यंत्र से परीक्षा करके लेखक ने देखा है कि ग, घ, ड़, ब, आदि सघोष ध्वनियों को उच्चारण करते समय भी नासारन्ध्र से भी कुछ अंश में हवा का संचालन होता है। इस तथ्य को पहले भी कुछ ध्वनि-विदों ने स्वीकार किया है। जैसे——

कथा (कथा) गला (गया)
आखु (ऊख) घर (घर)

च, छ, ज,——इन सभी ध्वनियों के उच्चारण का स्थान समान है। हिंदी ध्वनियों से इनकी ध्वनि अलग नहीं सुनाई पड़ती है। लेकिन अंग्रेजी च, ज, (Church, Judge) बोलते समय जैसी शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, वैसी ओड़िया में नहीं है। ओड़िया उच्चारण शिथिल मालूम पड़ता है। इन ध्वनियों का सावधानी से विचार करना चाहिये; क्योंकि इनके नये-पुराने अनेक तथ्य हैं और विभिन्न भारतीय भाषाओं में इनके स्वरूप विभिन्न मालूम पड़ते हैं। प्राचीन शास्त्रीय-मत में ये तालव्य-स्पर्श के रूप में परिचित हैं। लेकिन यांत्रिक परीक्षा करने के बाद लेखक ने मालूम किया है कि ये वस्तुतः तालु-बर्त्स्य स्पर्श संघर्षी ध्वनियाँ हैं। इन ध्वनियों को उच्चारण करते समय जीभ भी कठिन तालु के साथ नहीं मिलती वरन् बर्त्स के ठीक पीछे और कठिन तालु के अग्रभाग के साथ मिलती है और जिह्वा की नोक दाँत के पास चिपक जाती है। जीभ के भी अपने मिलन-स्थान से धीरे-धीरे मुक्त होते समय एक प्रकार की संघर्ष-ध्वनि सुनाई पड़ती है। इन ध्वनियों में तालु और बर्त्स के बीच के स्थान का व्यवहार होता है। पहले स्पर्श होकर धीरे-धीरे संघर्ष होने के कारण इनको ओड़िया में तालुबर्त्स्य स्पर्श संघर्षी के रूप में अपनाना चाहिये। यह सिद्ध करना कुछ कठिन नहीं है कि ये ध्वनियाँ स्पर्शी नहीं बल्कि संघर्षी हैं। संघर्षी ध्वनियों की तरह च, ज को हम क्रमशः च् च् च् च्, ज् ज् ज् ज्, के रूप में उच्चारण कर सकते हैं। ओड़िया, बँगला आदि भाषाओं में च, ज, तालुबर्त्स्य स्पर्श-संघर्षी हैं; लेकिन तेलुगु और मराठी भाषाओं में इन ध्वनियों का दंत्यरूप भी है। वे ts और dz की तरह सुनाई पड़ती ह। इन भाषाओं में उनके अर्थ-भेदकारी मूल्य हैं। ओड़िया भाषा में ज ध्वनि के लिए ज और य दो संकेत होने के कारण विद्यार्थी ज और य के व्यवहार में बराबर गलती करते हैं।

उदाहरण——चक (पहिया) ज्वर (बुखार)
छबि (चित्र) झरणा (झरना)

ट, ठ, ड़, ढ,——इनका उच्चारण हिंदी ध्वनियों से भिन्न नहीं हैं। साधारणतः ये मूर्द्धन्य हैं जिसके कारण जिह्वा ऊपर उलटकर मूर्द्धा के साथ मिलती हैं। संस्कृत शास्त्र में जिस मूर्द्धा-

स्थान का उल्लेख है, आधुनिक ध्वनितत्त्व के अनुसार वह पश्चबर्त्स स्थान के समान है। अंग्रेजी में ऐसी ध्वनि नहीं है। लेकिन ओड़िया लोग अंग्रेजी t, d, (tin, din) उच्चारण करते समय अंग्रेजी की प्रकृत-ध्वनि का उच्चारण न कर सकने के कारण मूर्द्धन्य ट, ड़, जैसा उच्चारण करते हैं। बंगला ट, ड़ के बारे में डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी कहते हैं कि वे तामिल, तेलुगु, कानाड़ी की तरह उतने मूर्द्धन्य नहीं हैं। लेकिन यांत्रिक परीक्षा के द्वारा मैंने मालूम किया है कि वे प्रकृत मूर्द्धन्य हैं। तालुलेख (Palatography) के द्वारा दिखाई पड़ा है कि जिह्वा की नोक का निचला भाग कठिन तालु से पश्चबर्त्स स्थान तक विस्तृत है। मैंने तेलुगु ट की परीक्षा करके देखा है कि ओड़िया ट उससे भिन्न नहीं है।

उदाहरण—अटा (आटा) डर (भय)
ठक (ठग) ढेर (बहुत)

त, थ, द, ध—इन ध्वनियों का उच्चारण हिंदी ध्वनियों से भिन्न नहीं है। इनके उच्चारण में जिह्वा की नोक ऊपर के दाँत की धार या पिछले भाग के साथ लगी रहती है और जिह्वा मुँह में शिथिल होकर विस्तृत हो जाती है। इस प्रकार की ध्वनि अंग्रेजी में नहीं है लेकिन फारसी और रूसी में त, द, ध्वनियाँ हैं। जहाँ अंग्रेजी थ, ध (thin, then) संघर्षी ध्वनियाँ हैं वहाँ ओड़िया तथा अन्य भारतीय साधारणतः उन स्थानों में थ, ध की स्पर्शी ध्वनियों का व्यवहार करते हैं। अंग्रेजी संघर्षी ध्वनियाँ ओड़ियों के लिए कष्टसाध्य हैं।

उदाहरण—हात (हाथ) दान (दान)
कथा (कथा) धान (धान)

प, फ, ब, भ—ओड़िया में इन ध्वनियों का उच्चारण हिंदी ध्वनियों से भिन्न नहीं है। लेकिन एक बात याद रखनी चाहिये कि अंग्रेजी प, फ, ब, में दोनों होठों को कड़ा करने की कोशिश की जाती है और ओड़िया ध्वनियों में वैसा नहीं है, बल्कि शब्द के आरंभ के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर आने से फ, ब, भ ध्वनियाँ स्पर्श के रूप में उच्चारित न होकर संघर्षी के रूप में उच्चारित होती हैं। दीप बुझाते समय फूँकने के लिए दोनों होंठ जिस अवस्था में होते हैं ठीक उसी अवस्था में संघर्षी फ़, भ़ को उच्चारण करते समय हो जाते हैं। जापानी भाषा में इस प्रकार की ध्वनियाँ सुनने को मिलती हैं। गाफिब (गप मारना) और लाभ (लाभ) शब्द का उच्चारण करते समय संघर्षी फ़, भ़ का उदाहरण मिलता है।

उदाहरण—पशु (पशु) बती (बती)
फ़सल (फसल) भ़ात (भात)

म—यह द्वयोष्ठय-नासिक्य ध्वनि हिंदी के "म" की तरह उच्चरित होती है। स्ववर्गीय स्पर्शियों—प, फ, ब, भ के साथ यह संयुक्त के रूप में उच्चरित हो सकती है।

उदाहरण—मा (अम्मा) कंपिबा (काँपना)
गुम्फा (गह्वर), प्रारंभ (शुरू)

न—यह बर्त्स्य-नासिक्य ध्वनि अंग्रेजी और हिंदी 'न' से भिन्न नहीं है। प्राचीन शास्त्रीय

रीति के अनुसार ओड़िया में इसे दन्त्य पर्याय में रखा गया है, लेकिन परीक्षा करने से मालूम पड़ेगा कि वस्तुतः यह एक बत्स्र्य ध्वनि है। इसे उच्चारण करते समय जिह्वा की नोक बत्स्र्य के साथ मिलती है और उसी समय नासारन्ध्र से हवा भी निकलती है। किंतु कुछ स्वतंत्र स्थिति में यह अवश्य दन्त्य "न" में बदल जाती है। दन्त्य त, थ, द, ध के साथ आते समय यह पूरी दन्त्य होती है।

उदाहरण—मन (मन), दन्त (दाँत), सन्थ (साधु), बन्दी (बन्दी), कान्ध (कन्धा)।

ण—यह मूर्द्धन्य-नासिक्य ध्वनि हिंदी भाषा में भी है किंतु बँगला, अंग्रेजी तथा अनेक यूरोपीय भाषाओं में यह सुनाई नहीं पड़ती। अनेक भाषाविदों का कथन है कि ये मूर्द्धन्य ध्वनियाँ द्रविड़ से आर्य भाषा में आ गई हैं। यह ध्वनि किसी भाषा में शब्द के प्रारंभ में नहीं रहती। अपने वर्गीय स्पर्शों के साथ यह संयुक्त होकर ध्वनित होती है।

उदाहरण—प्राण (प्रान), बण (वन), कण्टा (काँटा), कण्ठ (कण्ठ), खण्ड़ा (खड्ग) मण्ढ़ा (भेड़)।

ङ—यह कण्ठ्य-नासिक्य ध्वनि है। हिंदी, अंग्रेजी, बँगला आदि भाषाओं में यह एक प्रचलित ध्वनि है। ओड़िया भाषा में इसका व्यवहार बहुत कम होता है। संस्कृत से आये शब्दों में बहुधा अपने वर्ग के स्पर्श ध्वनि के साथ यह आती है। किसी शब्द के आगे या पीछे इसका व्यवहार नहीं होता है। यह बीच में आ सकती है। अफ्रीका की भाषाओं में यह शब्द के आगे आती है।

उदाहरण—वाङमय, बङका (बाँका), शङ्ख (शङ्ख), गङ्गा (गङ्गा), सङ्घ (समूह)।

र—यह वर्त्स्य-लुंठित ध्वनि हिंदी र से अभिन्न है। इस ध्वनि के उच्चारण के समय जिह्वाग्र दो-चार बार अत्यंत शीघ्रता के साथ बत्स्र्य पर आघात करता है। इस प्रक्रिया को अनुभव करने के लिए यदि हम जोर से र् र् र् र् करें तो आसानी से जिह्वाग्र की लुंठन-प्रक्रिया का अनुभव कर सकेंगे। लेखक ने यन्त्रशाला में परीक्षा करके देखा है कि ओड़िया र का उच्चारण करते समय यह आघात दो से तीन बार तक होता है। प्रामाणिक अंग्रेजी 'र' इस तरह का नहीं है लेकिन स्काटलैंड का "र" इसी प्रकार का होता है। तेलुगु 'र' के उच्चारण करते समय ये आघात ओड़िया की अपेक्षा अधिक होते हैं।

उदाहरण—राम (राम), वीर (बीर)।

ल—इस प्रकार की बत्स्र्य-पार्श्विक ध्वनि हिंदी, बँगला, अंग्रेजी आदि सभी भाषाओं में है। अंग्रेजी में जैसे शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार के ल हैं, वैसे ओड़िया में नहीं हैं। अंग्रेजी 'लिटिल' शब्द का पहला ल शुक्ल है और दूसरा ल कृष्ण। ओड़िया का "ल" पहले ल की तरह शुक्ल ल है। वह दूसरे कृष्ण "ल" की तरह नहीं है, इसलिए ओड़ियाभाषी भूल से अंग्रेजी कृष्ण "ल" का

उच्चारण भी शुक्ल ल की तरह ही करते हैं। ओड़िया के कुछ शब्दों में महाप्राण ल भी सुनाई पड़ता है। जैसे-बलिहआ (एक आदमी का नाम)। ओड़िया भाषा में ल ध्वनि के बहु-प्रयुक्त होने पर भी साधारणतः अपढ़ आदमी ल के स्थान पर न का प्रयोग कर देते हैं जैसे—लुण नुण (नमक), लुगा नुगा (कपड़ा)। ल का उदाहरण—लता (लता)।

ळ—यह एक पार्श्विक मूर्द्धन्य ध्वनि है। इस ध्वनि के कारण ओड़िया भाषा तेलुगु, तामिल, द्राविड़, मराठी आदि भाषाओं के साथ संबंधित मालूम पड़ती है। बँगला, आसामी, हिंदी भाषा में यह ध्वनि नहीं सुनाई पड़ती। इस ध्वनि का उच्चारण करते समय जिह्वा ऊपर मुड़कर कठोर तालु के साथ चिपक जाती है और उसके एक कोने से हवा बाहर निकल जाती है। हिंदी छात्रों के लिए यह ध्वनि बहुत कठिन है। वर्षों तक अभ्यास करने के बाद भी वे ळ को र अथवा ड़ की तरह उच्चारण करते ह। तेलुगु, तामिल और मराठी भाषाओं में इस ध्वनि का व्यवहार अधिक होता है। यह ध्वनि शब्द के आगे कभी नहीं आती तथा ह के साथ ल् ह के रूप में भी उच्चरित होती है।

जैसे—कळ्हआ (झगड़ालू)।
उदाहरण—कळा (काला)।

ड़—यह मूर्द्धन्य उत्क्षिप्त ध्वनि, हिंदी की तरह ओड़िया भाषा में भी सुनाई देती है। र का उच्चारण करते समय जिह्वाग्र वर्त्स्य पर अनेक बार आघात करता है। लेकिन इस ध्वनि के उच्चारण में जिह्वा की नोक ऊपर उठकर एक बार ही बर्त्स्य पर आघात करती है। ऊपर उठकर जिह्वाग्र के जोर से नीचे फिसलने से इसे उत्क्षिप्त कहते हैं। यह ध्वनि शब्द के आगे कभी नहीं सुनाई पड़ती। ह के साथ मिलकर यह ढ़ के रूप में उच्चरित होती है। जैसे—बढ़ि (बाढ़)। उदाहरण—बड़ (बड़ा)।

स—यह दन्त्य-संघर्षी ध्वनि, हिंदी तथा अंग्रेजी के स की तरह सुनाई पड़ती है। ओड़िया में अर्थात् सार्थक संघर्षी ध्वनियाँ बहुत कम सिर्फ दो ही हैं। उनमें से एक 'स' है। इस ध्वनि के उच्चारण के समय, जिह्वा का अगला भाग ऊपर के दाँतों के साथ चिपक जाता है। जिह्वा के दोनों किनारे नाव की तरह ऊपर उठ जाते हैं। ऊपर के दाँत और जिह्वाग्र के बीच एक गोलाकार रन्ध्र होता है। उसी रन्ध्र से होकर हवा जब वेग से प्रवाहित होती है तब स ध्वनि सुनाई पड़ती है। अगर हम चाहें तो इस ध्वनि को लम्बे अरसे तक स् स् स् स् के रूप में उच्चारण कर सकते हैं। ओड़िया में स, श, ष ऐसे तीन सकार लिखे जाने पर भी वस्तुतः दन्त्य स का उच्चारण ही सुनाई पड़ता है। एक ध्वनि के एकाधिक संकेत होने के कारण ओड़िया विद्यार्थी स, श, ष लिखने में भूल करते हैं।

उदाहरण—साधारण (सामान्य)।

ह—यह काकल्य-संघर्षी ध्वनि है। इस ध्वनि के उच्चारण के समय स्वरयन्त्र की स्थिर दोनों स्वर-तन्त्रियाँ खुली रहती हैं और एक आघात के साथ हवा मुख-रन्ध्र से होकर निकल जाती

है। प्रायः ओड़िया "ह्" सघोष के रूप में उच्चरित होता है। किंतु विशेष स्थलों में यह अवश्य अघोष के रूप में उच्चरित हो सकता है। आदमी दुख पाते समय जो दुःख-सूचक ध्वनि 'इह. उह्' प्रकट करता है उसमें अघोष ह् का उच्चारण सुनाई पड़ता है। न और ह् को एक साथ बोला जा सकता है। "वह्नि" शब्द की परीक्षा करके देखा गया है कि न और ह् के एक साथ उच्चरित होते समय ह् के लिए जिस समय मुँह से हवा निकलती है, उसी समय न के लिए भी नाक से हवा निकलती है। ल और ळ के साथ ह् के उच्चारण के बारे में पहले कहा जा चुका है।

उदाहरण—हर (शिव)।

व—यह कण्ठोष्ठ्य-अर्धस्वर वैदेशिक शब्दों में सुनाई पड़ता है। अंग्रेजी में इस ध्वनि को उच्चारण करते समय ओष्ठ पर शक्ति लानी पड़ती है। ओड़िया उच्चारण में वैसा नहीं है। ओड़िया उच्चारण इतना हलका है कि सावधान होकर उच्चारण न करने से वह उच्चारण उ की तरह सुनाई पड़ सकता है। उदाहरण—वागन (वागन), वारंट (वारण्ट)।

य—यह तालव्य अर्धस्वर हिंदी की तरह ओड़िया में भी सुनाई पड़ता है। यह कई भाषाओं में श्रुति (Ilide) के रूप में व्यवहृत होता है। साधारण बोलचाल की भाषा में यह "य" के रूप में न होकर दो स्वरों के संयोग की तरह सुनाई पड़ता है। अपढ़ लोग इसका ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर पाते। वे "दया" के स्थान पर "दइया" और "माया" के स्थान पर "माइया" कहते हैं। 'ह्' के साथ मिलने से इसे कुछ लोग य के रूप में और कुछ लोग ज्य के रूप में उच्चारण करते हैं। यथा:—सह्य शब्द को कोई "सह्य" और कोई "सज्य" की तरह उच्चारण करते हैं। ओड़िया शब्दों के प्रारंभ में य का व्यवहार नहीं होता। उदाहरण—लय।

ओड़िया की ध्वनि-पद्धति में यह ध्वनि गृहीत होने पर भी अह, ओह आदि कुछ व्यंगात्मक उच्चारण करते समय अ् और ओ् की तरह उच्चरित होती है। इसे ध्वनि-विज्ञान में काकल्य-स्पर्श कहते हैं। यह छोटी सी खाँसी की तरह सुनाई पड़ती है।

ओड़िया स्वर

आजकल किसी भाषा के स्वर को समझाते समय स्वर त्रिकोण की मदद ली जाती है। स्वर त्रिकोण में जहाँ बड़ी-बड़ी काली बिंदियाँ लगाई गई हैं, वे मानस्वरों के स्थान हैं। उन मानस्वरों की तुलना में अन्य भाषाओं के स्वरों को स्वर त्रिकोण के अन्दर निर्देश किया जाता है। वास्तव में स्वर त्रिकोण एक चतुष्कोण होने पर भी परंपरा से इसे त्रिकोण कहा गया है। चूँकि यह निबंध अत्यन्त सीमित अर्थात् निर्दिष्ट पृष्ठों में लिखना था और साधारण पाठकों के लिए लिखे जाने के कारण अनेक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों को छोड़ दिया गया है। अ, आ, इ, उ, ए, ओ, आदि ओड़िया स्वर अघोष के रूप में अनुनासिक के रूप में भी उच्चरित होते हैं।
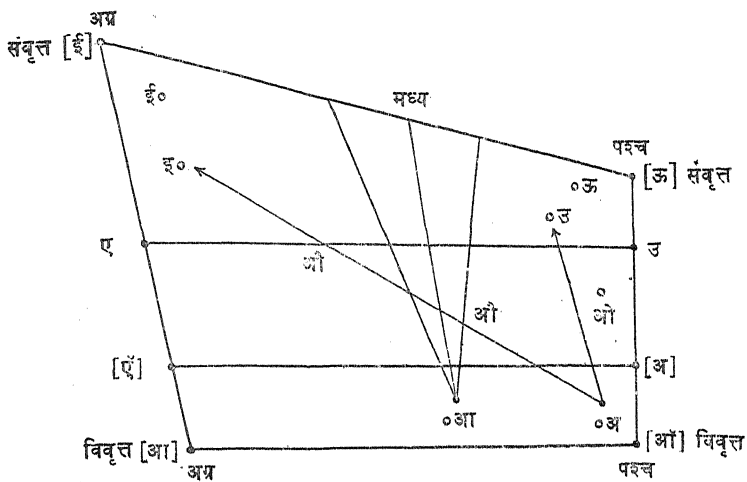
ओड़िया स्वर-त्रिकोण

[ ] इस चिह्न के बीचवाले संकेत मानस्वर के परिचायक हैं।

० यह चिह्न ओड़िया स्वरों के संभावित क्षेत्र के सूचक हैं।

↑ यह चिह्न युक्त स्वरों के गतिपथ का सूचक है।

अ—यह एक पश्चस्वर है। मानस्वर (अ) की अपेक्षा यह निम्नतर है। हिंदी में इसके समान अग्रीकृत अन्य कोई ध्वनि नहीं है। अंग्रेजी Not, Got आदि शब्दों की ध्वनि से यह सामान्य उच्चतर और अग्रीकृत है। इसके उच्चारण में दोनों ओष्ठ उदासीन मालूम पड़ते हैं। ओड़िया लोगों की यह एक विशिष्ट ध्वनि है जिसके कारण वे हिंदीवालों से अलग मालूम पड़ते हैं। यद्यपि इस अ के कारण ओड़िया और बँगला परस्पर संपृक्त मालूम पड़ती हैं, तो भी बँगला अ का उच्चारण करते समय ओड़िया अ की अपेक्षा ओष्ठ को कुछ अधिक गोल करना पड़ता है। इसलिए हिंदीवाले बँगला का मजाक उड़ाते समय ओष्ठ को गोल करके 'अनेक' शब्द को 'ओनेक' के रूप में उच्चारण करते हैं। ओड़िया स्वर-पद्धति में अ का विशेष स्थान है; क्योंकि ओड़िया शब्दों के अन्त में अगर दूसरा कोई स्वर न हो, तब ओड़िया लोग जहाँ अन्य स्वर नहीं हैं, उस स्थान में अ का ही उच्चारण करते हैं। इसलिए हम द्राविड़ों की तेलुगु भाषा के जितने निकट हैं, अपने साथ संपृक्त बँगला, आसामी, हिंदी आदि भाषाओं से हम उतनी ही दूर पड़ जाते हैं। उदाहरण के लिए घर शब्द को लें तो पता चलता है कि उसे हिंदी और बँगला भाषी "घर" उच्चारण करते हैं और ओड़िया घ+अ+र+अ के रूप में उच्चारण करते हैं। ओड़िया भाषा की यह अपनी विशेषता है। कई जगह शीघ्रता से बोलते समय यह पश्चस्वर (अ) एक केंद्रीय उदासीन स्वर (6) में बदल जाता है। ओड़िया भाषा में "अ" इतना स्पष्ट है कि मेरी ४॥ साल की लड़की मंजुश्री

हिंदीभाषी बच्चों के साथ खेलने के बाद कहती है कि हिंदी बच्चे कलम को कलम् और कागज को कागज् कहते हैं। भाषातत्त्व तो दूर रहा, बिना भाषा मालूम किये ही छोटी बच्ची भी इस भेद को पकड़ लेती है।

आ—ओड़िया आ कबृत्त अग्रमान स्वर और कबृत्त पश्चमान स्वर की बीच वाली एक ध्वनि है। यह अँग्रेजी शब्द Fa.her के a की तरह गंभीर नहीं है और हिंदी के आ की तरह दीर्घ नहीं है। इसलिए ओड़िया द्वारा हिंदी आ को बराबर ह्रस्व के रूप में उच्चारण करने के कारण मालूम पड़ जाता है कि वे अहिन्दी-भाषी हैं। ओड़िया आ एक ह्रस्व ध्वनि है जिसे कहीं-कहीं स्वरघात और स्वरलहर के अनुसार दीर्घ उच्चारण कर सकते हैं। गा (गाओ) शब्द को हम कहीं-कहीं ह्रस्व आ और कहीं दीर्घ आ के रूप में उच्चारण कर सकते हैं। लेकिन सिर्फ आ के ह्रस्व दीर्घ के अनुसार हम देशज और ओड़िया में प्रचलित विदेशी शब्दों में अर्थ-भेद मालूम कर सकते हैं। दीर्घ आ ध्वनि विदेशी शब्दों में विशेष सुनाई पड़ती है। उदाहरण के लिए दो शब्द पर्याप्त होंगे—किसका (ह्रस्व आकार), गाड़ी (दीर्घ आकार)। शीघ्रता के साथ बोलते समय ओड़िया "आ" कई स्थानों में अंग्रेजी But शब्द के u की तरह (ʌ) उच्चरित होता है।

ई, इ—ओड़िया दीर्घ ई, मानस्वर (ई) से कुछ अंश में निम्नकृत और पश्चात्कृत है। हिंदी दीर्घस्वर से यह भिन्न नहीं है। अंग्रेजी दीर्घ स्वर में जैसी संयुक्त स्वर हो जाने की प्रवृत्ति है, वैसी इनमें नहीं है। यह ह्रस्व की लंबाई है। ओड़िया शब्द "तिनि" को क्रम से एक, दो, तिनि कहते समय इ दीर्घ सुनाई पड़ता है, लेकिन लिखते हैं ह्रस्व बल्कि ओड़िया में जो दीर्घ ई (सीता, गीता) लिखते हैं उसे ह्रस्व इ की तरह उच्चारण करते हैं।

ओड़िया ह्रस्व इ दीर्घ ई से अधिक निम्नकृत और पश्चात्कृत तथा शिथिल भी है। लेकिन यह हिंदी ह्रस्व इ और अंग्रेजी ह्रस्व ई से उच्चतर है। हिंदी ह्रस्व इ का उच्चारण इतना धीमा है कि कभी सुनाई नहीं देता। उसके स्थान पर एक तरह का अ उच्चारण सुनाई देता है। जैसे—भाँति भाँत। ओड़िया भाषा में लिखित दीर्घ ई प्रायः ह्रस्व इ की तरह उच्चरित होता है। रूसी भाषा में जैसे ह्रस्व-दीर्घ के कारण अर्थ में कुछ फर्क नहीं पड़ता, वैसे ओड़िया भाषा में भी है। फिर भी विदेशी भाषा के प्रभाव से कुछ दीर्घ ध्वनियाँ ओड़िया भाषा में आ गई हैं। हाँ, उपभाषाओं में दीर्घ ध्वनियाँ हो सकती हैं पर मुझे उसका ठीक-ठीक पता नहीं है। लेकिन दीर्घ ध्वनि होने पर भी वह अर्थ भेदकारी है या नहीं, यह परीक्षणीय है।

ऊ, उ—ऊ और उ मानस्वर (ऊ) से कुछ अंश में निम्नकृत तथा अग्रकृत है। क्रमशः एक, दुइ, तिनि, गिनते समय ओड़िया "दुइ" शब्द के उ का उच्चारण दीर्घ सुनाई पड़ता है। ह्रस्व उ साधारणतः अंग्रेजी ह्रस्व उ से उच्चतर है। अंग्रेजी ह्रस्व उ जैसे अंग्रेजी दीर्घ सुनाई पड़ने की संभावना से युक्त है वैसे ही ओड़िया ह्रस्व उ की भी दीर्घ और ऊँचा सुनाई पड़ने की हो सकती

है। लिखित-प्रतिमित ओड़िया-भाषाभाषी उच्चारण करते समय दीर्घ ह्रस्व उ में कोई प्रभेद नहीं रखते। यथा—कूल (किनारा), कुल (वंश)।

ए—यह अवृत्ताकार अग्रस्वर है। यह अर्द्धसंवृत्त (ए) तथा अर्द्धविवृत (ए) के बीच थोड़ी पश्चात्कृत ध्वनि है। हिंदी और अंग्रेजी से इसका विशेष भेद नहीं है। कहीं-कहीं इस ध्वनि को दीर्घ उच्चारण किया जा सकता है।

ओ—यह वृत्ताकार पश्चस्वर पश्चमानस्वर 'ओ' और 'अ' के बीचवाली एक अग्रीकृत तथा शिथिल ध्वनि है। प्रामाणिक अंग्रेजी में ऐसी ध्वनि नहीं है। स्काच भाषा में इसके समान ध्वनि है। हिंदी में भी ऐसी ध्वनि सुनाई पड़ती है। इस ध्वनि का दीर्घ उच्चारण भी कहीं-कहीं सुनाई देता है।

ऐ—यह एक संयुक्त स्वर है जिसमें जीभ "अ" से "इ" के स्थान पर गति करती है। इस प्रकार के संयुक्त स्वर की ध्वनि प्रामाणिक हिंदी अर्थात् खड़ी बोली में नहीं सुनाई देती। लेकिन लखनऊ तथा उसके पूर्वी हिंदी क्षेत्रों में यह ध्वनि सुनाई देती है। हिंदी की "ए" मात्रा को ओड़िया जब अपने ढंग से उच्चारण करते हैं तब खड़ी बोली भाषियों को अच्छा नहीं जँचता। जैसे हिंदी शब्द "कैलाश" को खड़ी बोली वाले "केलाश" के समान उच्चारण करते हैं। ओड़िया लोग उसे "कइलास" की तरह उच्चारण करते हैं और पकड़े जाते हैं कि वे ओड़िया हैं। शिक्षितों द्वारा इस उच्चारण के ठीक से उच्चारित होने पर भी अशिक्षित दो पूर्ण स्वर अ+इ की तरह उच्चारण करते हैं।

औ—यह एक संयुक्त स्वर है। इसमें जिह्वा "अ" से "उ" के स्थान पर गति करती है। हिंदी "ऐ" और ओड़िया "ऐ" में जैसा संबंध है ठीक वैसा ही हिंदी "औ" और ओड़िया "औ" में है। अर्थात् हिंदी के "औ" को खड़ी बोली वाले एक "दीर्घ" अ की तरह स्वल्प वृत्ताकार उच्चारण करते हैं। लेकिन ओड़िया संयुक्त अ+उ की तरह उच्चारण करते हैं। अशिक्षित लोग "ओड़िया" "ओ" को अ+उ की तरह उच्चारण करते हैं।

ओड़िया लेखन-पद्धति में संस्कृत रीति के अनुसार केवल ऐ, औ दो संयुक्त स्वर स्वीकार किये गये हैं। लेकिन इसमें संदेह नहीं है कि भाषा में और भी अधिक संयुक्त स्वर हैं। उदाहरण के लिए कुछ शब्द नीचे दिये गये हैं। धीरे से उच्चारण करने में ये दो पूर्ण स्वर की भाँति मालूम पड़ते हैं।

उदाहरण—इ आ—ब्रढ़िया
इ उ—शिउली
ए उ—केउट
आ उ—पाउणा
उ आ—आपुआ

ओड़िया भाषा में तीन संयुक्त स्वर भी मिलते हैं। जैसे बइआ (अइया) लेकिन दो अक्षरों वाला विशिष्ट शब्द होने के कारण उसे तीन संयुक्त स्वरों का मिलाप नहीं कहा जा सकता।

बलाघात और स्वरलहर

किसी भी भाषा के स्वराघात और स्वरलहर की समीक्षा के लिए विशेष प्रकार की परीक्षा की आवश्यकता होती है; क्योंकि उसमें विभिन्न प्रकार के प्रश्न लगे हुए हैं। शायद आज तक किसी भारतीय भाषा में इनकी यथार्थ समीक्षा नहीं हुई है। इसलिए यहाँ उसके बारे में विशेष कुछ न कहकर साधारण तौर पर कुछ कहा गया है।

किसी शब्द का उच्चारण करते समय किसी एक स्थान पर अधिक हवा निकलने से उस स्थान पर ध्वनि अधिक स्पष्ट होती है। ऐसी स्पष्ट ध्वनि को बलाघात-युक्त (Stressed) ध्वनि कहते हैं। बलाघात को (।) इस चिह्न के द्वारा सूचित किया जाता है। अंग्रेजी की तरह कुछ भाषाओं में बलाघात से एक निश्चित अर्थ सूचित होता है। लेकिन ओड़िया, बँगला, हिंदी आदि भाषाओं के शब्दों में स्वराघात का कोई अर्थ-भेदकारी मूल्य नहीं है। हिंदी भाषा में साधारणतः उपांत्य स्वर पर बलाघात होता है; जैसे—कमल। बँगला भाषा के शब्दों में बलाघात प्रथम स्वर पर होता है। असामी भाषा में साधारणतः आदि स्वर में नहीं होता। ओड़िया भाषा के बलाघात के विषय में भी छानबीन करने की आवश्यकता नहीं है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने एक स्थान पर कहा है कि पंद्रहवीं शताब्दी में ओड़िया भाषा में आद्य स्वर पर स्वराघात नहीं था और अब भी नहीं है। यह कुछ हद तक ठीक होते हुए भी पूर्ण रूप से ठीक नहीं है। इस विषय में निश्चित रूप से कहने के लिए एकाधिक अक्षरोंवाले शब्दों को विशेष परीक्षा का विषय बनाना होगा। निम्नलिखित शब्दों में बलाघात देखिये—

दो अक्षरोंवाले शब्द	तीन अक्षरोंवाले शब्द	अधिक अक्षरोंवाले शब्द
। घर	। अनेक	। पुरुषोत्तम
। सारु	। संसार	। सरघरिया
। पुअ	। अरट	। उपुगारिआ

यहाँ सिर्फ असंयुक्त शब्दों में होनेवाले बलाघात के नमूने दिये गये हैं। इस विषय में पूरा विवरण जानने के लिये अधिक परीक्षा करने की आवश्यकता है, फिर भी वाक्यों के बीच बलाघात का परिवर्तन दिखाने के लिए कोशिश नहीं की गई है।

स्वरलहर

स्वर-लहर एक जटिल व्यापार है। उसका उपयुक्त विश्लेषण न होने तक कुछ कहना आसान नहीं है। फिर भी एक लघु वाक्य के साधारण तथा प्रश्नात्मक स्वरूप का नमूना यहाँ दिया जा रहा है। वाक्य में किसी अक्षर का तान विशेष उच्च नहीं है, बल्कि एक प्रकार से अक्षर ही लयतान की सूचना देते हैं। प्रथम वाक्य में स्वर-लहर अवरोही और द्वितीय वाक्य में आरोही है।

से घरकु जाउछि—
(वह घर जाता है)
से घरकु जाउछि ?
(क्या वह घर जाता है ?)

इस बलाघात और स्वर-लहर के विचार में विशेष ध्यान देने के कारण हिंदी विद्यापीठ के डाइरेक्टर डाक्टर विश्वनाथप्रसाद धन्यवाद के पात्र ह।

❁ प्राकृतिक दृश्य ❁
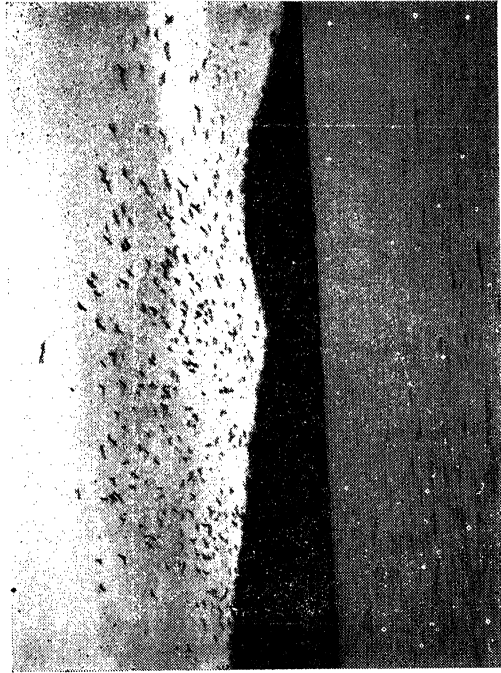
(बगल में) मरालमालिनी चिल्का झील का मनोमुग्धकर दृश्य

(नीचे) चिल्का झील के वक्ष पर नौकाविहार के दो मनोरम दृश्य
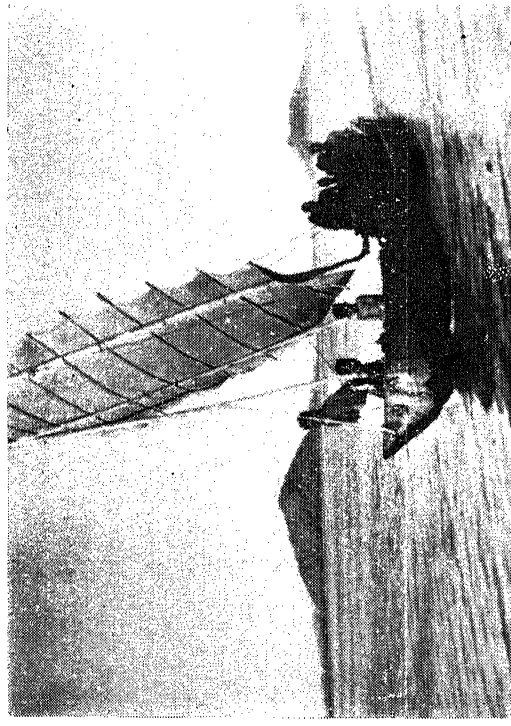
प्राकृतिक दृश्य

प्राकृतिक सौन्दर्यपूर्ण कोरापुट जिले का 'घाटरोड़'
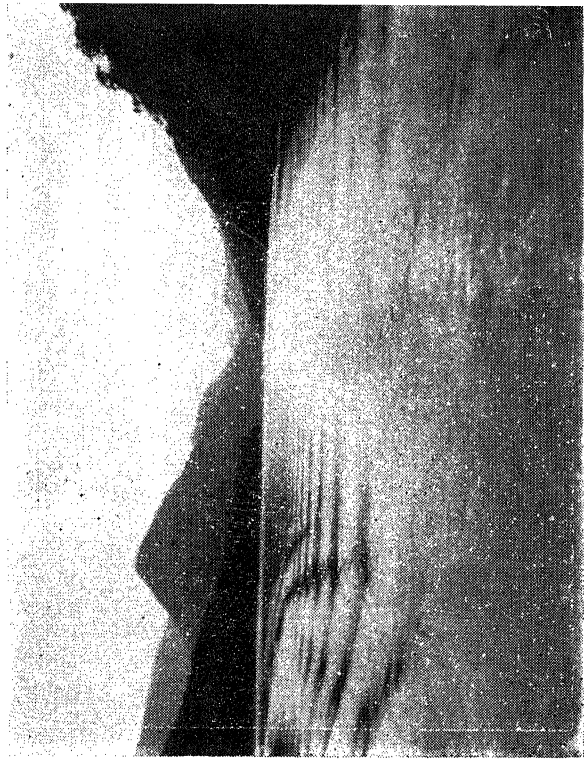
सातकोशिआ गण्ड

विन्दु सरोवर, भुवनेश्वर

समुद्र स्नान—स्वर्गद्वार, पुरी

ओड़िया साहित्य का विकास-क्रम

(क) प्राचीन

अध्यापक वंशीधर महान्ति

भारतीय गणतंत्र के अंतर्गत प्रधान रूप से बोली अथवा लिखी जाने वाली भाषाओं में सिंधी और नैपाली को छोड़कर शेष हिंदी, उर्दू, बँगला, तेलगू, तामिल आदि १४ भाषाओं के साथ ओड़िया भी संविधान के अनुसार राजकीय भाषा के रूप में स्वीकृत है। यदि ओड़िया के बाहरवाले ओड़िया-भाषी अंचल को छोड़ दिया जाय तो १९५१ की जनगणना के अनुसार ६० हज़ार वर्ग-मील के इस विस्तृत भूखण्ड की जनसंख्या एक करोड़ ४६ लाख है[1], जिसमें संपूर्ण जनसंख्या का २०.२६ प्रतिशत भाग अथवा ३० लाख व्यक्ति आदिवासी भाषा-भाषी हैं। इनमें शबर, कंध, कोल्ह, सांताल, हो, मुंडारी, परजा, गदला, उराउँ आदि भाषाएँ मुख्य हैं।

भारतीय भाषाओं में एक मुख्य भाषा होते हुए भी हिन्दी, बँगला, बिहारी, और आसामी की भाँति ओड़िया की उपभाषाएँ नहीं ह पर इसकी आंचलिक भाषाएँ हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन के मतानुसार कटक, कलाहाण्डि, झांसपुर, कण्टाई, दान्तण, बस्तर, सम्बलपुर आदि की भाषाएँ आंचलिक भाषाएँ हैं। इसके अतिरिक्त बालेश्वर तथा गंजाम की भाषाएँ आंचलिक भाषाएँ मानी जा सकती हैं।

भाषा तत्त्वविदों के मतानुसार पूर्वांचिल मागधी से केवल ओड़िआ ही नहीं बल्कि बिहारी, बँगला और आसामी भी निकली हैं।

"ओड़िआ" तथा "ओड़िशा" शब्द बहुत प्राचीन है। शबर भाषा में "उर-रो" शब्द खेती और काश्तकार के अर्थ में बहुत प्रचलित है।[2] किसान को पुरानी तमिल में "उकल" तथा कन्नड़ में "ओडिसु" कहते हैं। इससे मालूम होता है कि प्राचीन "उड" शब्द खेती के अर्थ में और "ओड़िशा" कृषकों के देश के अर्थ में प्रचलित था।

पुराण तथा धर्मशास्त्रों में "उड़" नामक किसी अनार्य जाति का स्पष्ट संकेत मिलता है। भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार उड़ जाति शबर, आभीर, चाण्डाल आदि अनार्य जातियों से संबंधित

---

१. लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, ग्रियर्सन, खंड ५, पृ० ३६९।

२. इंगलिश-सोरा डिक्शनरी, राममूर्ति, पृ० ५६, ५८।

है तथा उनकी भाषा विभाषा के रूप में बोली जाती है।[१] ओड़िशा की संस्कृति पर प्राचीन आदिवासी तथा द्राविड़ सभ्यता का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। यहाँ के मुख्य देवता "जगन्नाथ" के आविर्भाव के मूल में ओड़िशा के शबर जाति के संपर्क की जनश्रुति गुँथी हुई है। अतः ओड़िशा की प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति पर आदिवासी या आष्ट्रोएशिआटिक, द्राविड़ और आर्य संस्कृतियों का व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है।

सर जार्ज ग्रियर्सन ने मार्कण्डेय कर के प्राकृत-सर्वस्व नामक ग्रन्थ की समीक्षा में कहा है कि ओड़िया के साथ शबर, शौरसेनी और उड्र देश में प्रचलित देशी भाषा के संमिश्रण होने से औड्री भाषा का जन्म हुआ है।[२] इसकी पुष्टि में उन्होंने प्राकृत-सर्वस्व के औड्री दोहों को उद्धृत किया है।

प्राकृत वैयाकरण रामशर्मा के मतानुसार चाण्डालिका, शावरी, आभीरिका, द्राविड़िका, तथा औड्री ये सभी मागधी भाषायें हैं तथा उसके प्रकार-भेद मात्र हैं।[३] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ओड़िआ भाषा के जन्म तथा विकास के मूल में आदिवासी , द्रविड़ और आर्य भाषाओं का महत्त्वपूर्ण और अटूट सहयोग संबंध है ।

प्राचीन ओड़िया पर आदिवासी तथा द्राविड़ भाषाओं के प्रभाव के संबंध में विद्वानों का मत है कि बाप, बेटा, चटाई, गोड़, पेट, खुण्ट, भेड़ा, बोका, चाउल, चुला, ढेला, डंगा, हाड़, काला, मोटा, राण्डी आदि आदिवासी भाषा से प्रभावित शब्द हैं।[४] इस दृष्टि से सान्ताली, हो, उराउँ, कुइ, शवर आदि आदिवासी भाषाओं का प्रभाव भी ओड़िआ भाषा पर पड़ा है ।[५]

वैसे ओड़िआ भाषा के साथ द्राविड़ भाषाओं का कुछ भी संबंध नहीं है, फिर भी द्राविड़ भाषा का प्रभाव यत्र-तत्र देखा जा सकता है। इसका कारण यह है कि द्राविड़ देशों के साथ ओड़िशा का पूर्व काल से कुछ अंशों में सांस्कृतिक तथा राजनैतिक संबंध चला आ रहा था। इसके अतिरिक्त दोनों देशों में व्यावसायिक संबंध भी था। इतिहास-प्रसिद्ध ओड़िशा के गंगवंश का शासन द्राविड़ शासन था। अतः संबंध और संपर्क के कारण ओड़िआ में उनके शब्दों का आदान स्वाभाविक ही है। कई शब्द तो ऐसे भी हैं जो द्राविड़ भाषा से आकर ओड़िया में अत्यंत प्रचलित हो गए हैं, जैसे—पले (तामिल), सिन (उ-सान-तेलुगु), कोल-इ (उ-कोइलि कानारी), अगाडु (तेलुगु)

---

१. शबराभीर-चंडाल-शबरद्राविणोड्रजा :—नाटयशास्त्र हीनावने चरणांच विभाषाः सप्तकीर्तिताः।

२. जे० आर० ए० एस० १९१८ पृ० ४९८।

३. देव यशोआ णंदण करमइ करुणा लेश। एत्तिके यमउ अच्छउइ पिट्टइ सब्ब किलेश, इत्यादि।

४. नॉन आर्यन एलिमेंट ऑन हिंदी, ए० १८७२, प्राकृत सर्वस्वम् भट्टनाथस्वामी, पृ० १०५।

मुण्डा एफीनिटीज ऑफ बेंगाली—डा० साहिदुल्ला पी० ए० आई० ओ० सी० पी०

५. आदिवासी संस्कृति, वंशीधर महान्ति (भाषा संबंधी लेख द्रष्टव्य)।

उ-अगाड़ि, कड्डजेम् (तामिल) उ-कड़ा, कड्डु (तेलगु उ-कड़ा, कुनि (तेलगु) उ-सान आदि शब्द हैं। इनमें कोइलि की आलोचना करते हुए कहा जाता है कि यह शब्द तेलुगु से आया है जिसका अर्थ है मन्दिर। को-भी-इल (ko-v-il) तेलुगु में मन्दिर को कहते हैं। जो हो, ओड़िआ एक आर्य भाषा है और शताधिक वर्षों तक राज करने पर भी द्राविड़ का प्रभाव ओड़िया पर बहुत अधिक नहीं पड़ा है।

वास्तव में ओड़िया का विकास भारत की अन्य आर्य भाषाओं की भाँति पाली, प्राकृत और अपभ्रंश से ही हुआ है। और उसका घनिष्ठतम संबंध उन्हीं से है। कई विद्वानों का कहना है कि बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ त्रिपिटक की भाषा कलिंग और उसके दक्षिणांचल की भाषा थी। विनय-पिटक की भूमिका में हरमान उलडेनबर्ग ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है। इसकी पुष्टि में उनकी युक्ति है कि अत्यन्त प्राचीन काल से सिंहल के साथ कलिंग तथा उसके राज्यों का घनिष्ठ संबंध था। नासिक के शातकर्णियों और खंडगिरि में प्राप्त मेघवाहन के शिलालेखों की भाषा का पाली भाषा से घनिष्ठ संबंध है।[१] इसी आधार पर ओड़िया और पाली की समानताओं पर खोज करते हुए ऐसे बहुत से शब्दों को उपस्थित किया जा सकता है जो उक्त दोनों भाषाओं के संबंध को प्रकट करते हैं। वस्तुतः ये शब्द ओड़िया के पूर्व संबंध की घोषणा करते हुए दिखाई पड़ते हैं। जैसे :—

गृहिणी >घरनी>उ० घरणी, अग्नि>अग्नि>अगि, अलक्ष्मी>अलख्खी>अलखी पुत्र>पुत्त>पुत्र, षष्>छ>छ, षडविंशति>छवीस>छविस, एति>एहि>एहि, ज्वाला जाला>जाला, खर्ज्जुर>खज्जुरी>खज्जुरी, शाल्मली>सिम्बली>सिम्बली, मेण्ढों>मेण्ढा, मेण्ढा, मिथ्या>मिच्छा>मिच्छ, मज्जा>मिंजा>मंजा, अवलम्ब>अलम्बो>उलम, प्रधान> पधान>पधान, पर्यंक>पल्लंकों>पलंक, सत्य>सच्च>सच्च, शृंग>सिंग>सिंग, तंत्र>तन्त> तन्त, स्थाल>थाल>थाल, स्तन>थना>थन आदि शब्दों के विकास-क्रम को देखते हुए ओड़िया के स्रोतस्थल का अनुमान सहज ही में लग जाता है। भाषातत्त्वविद् तथा प्राकृत वैयाकरणों का मत है कि ओड़िया के साथ मागधी और बहुत अंशों तक शौरसेनी प्राकृत का भी संबंध था।

आधुनिक आर्य भाषाओं—बिहारी, आसामी, बँगला, ओड़िया आदि भाषाओं—में हमें कई दृष्टियों से अपूर्व साम्य मिलता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि उनका विकास एक निश्चित प्राकृत से प्रायः एक ही समय में हुआ। किंतु ओड़िया की प्रकृति अन्य सहोदरा भाषाओं से थोड़ी भिन्न है। वह एक रक्षणशील भाषा है। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण उसमें बहुत से प्राचीन संस्कृतेतर शब्द आज भी अँटके रह गये हैं। प्राकृत काल में प्रचलित शब्दों के प्रायः अविकल रूप इसमें आज भी वर्तमान हैं। ऐसे शब्दों के उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं जो अपनी विकसित दिशा में आज भी मूल का संकेत देते हैं :—

---

१. विनय-पिटक, हरमन ओल्डेनबर्ग, भाग १, भूमिका पृ० Liii & पृ० LIV

अधस>हेठ्ठ>हेठ, रश्मि>रस्सी>रसी, स्थूल>थोर>थोर, मुख>मुंहं>मुहं, गाथा>गाहा>गाहा, मनुष्य>मणूस>मणस, मेघ>मेह>मेह, कथयति>कहइ>कहइ शोभते>शोहइ>शोहइ, शृगाल>सिआल>सिआल, व्याकुल>बाउल>बाउल, देवर> दिअर>दिअर, प्रतिहारी>पढ़िहारी>पढ़िहारी, प्रथम>बढुम>पोढुहाँ, वृन्त>वेण्ट>वेण्ट, गंभीर>गह्वीर>गह्वीर, धर्म>ध्रम>ध्रम, बुद्ध>बुध्र>बुध्र आदि ।

इस प्रकार रक्षणशील प्रकृति के कारण ओड़िया का रूप अपनी सहोदरा भाषाओं की अपेक्षा अधिक प्रकृत है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, इसकी यह रक्षणशील प्रकृति जो उसकी भौगोलिक स्थिति के कारण है, संपर्क में आने वाली अनेक भाषाओं के शब्दों को अपनाकर उसको उसी रूप में प्रचलित रहने देने में सहायक होती रही है।

प्राचीन काल से जगन्नाथ धाम का धार्मिक महत्त्व होने के कारण ओड़िशा भारतीय संस्कृति का मिलन केन्द्र रहा है। आज यदि प्राचीन ओड़िया ग्रन्थों के पन्ने उलटे जाँय तो उसमें सूरदास, कबीरदास, मीराबाई, तुलसीदास, विद्यापति, चण्डीदास और बँगला पद्य लेखकों की सुमधुर पदावलियां प्राप्त होंगी। अतः यह कहना ठीक ही होगा कि प्राचीन ओड़िया के साथ प्राचीन हिन्दी, प्राचीन मैथिली, प्राचीन बँगला तथा प्राचीन आसामी का व्यापक संबंध है।

बँगला काव्यों में भी ऐसे बहुत से शब्द पाये जाते हैं जिनका ओड़िया से पूर्ण संबंध है। चण्डीदास की कवितावली के ये शब्द—आम्हर, मोते, मोर, मोहर, तोते, तारे, करन्ति, करसि, हाथ, नखपान्ति, बड़ाइ, नेत, आचम्बित, अनुपामा, युगति, मोक, तिरि, मयाण, मदन, शाली इत्यादि आधुनिक बँगला में प्रचलित नहीं हैं। किन्तु आधुनिक ग्रामीण ओड़िया भाषा तथा प्राचीन साहित्य के लोकप्रिय शब्द हैं।[1]

जंगलों, पहाड़ो, नदियों और पर्वतों से घिरा हुआ ओड़िशा प्रदेश बहुत दिनों तक एक दुर्भेद्य किले के समान शत्रुओं के आक्रमण से बचा हुआ था। ओड़िशा पर मुसलमानों का पहला आक्रमण सन् १५६८ ई० में हुआ। इसलिए तब तक ओड़िया भाषा पर मुसलमानी अथवा यावनिक शब्दों का प्रभाव बहुत कम पड़ा था। सन् १५६८ ई० के पूर्व कहीं एक-आध मुसलमानी शब्द मिलते हैं। जैसे चतुर्थ नरसिंह देव के भुवनेश्वर वाले शिलालेख में "कीला" एक यावनिक शब्द है।

प्राचीन ओड़िया पर विशेष प्रभाव पड़ा है "व्रज भाखा" या ब्रजबोली का। आलोचकों के मतानुसार ब्रजबोली प्रधानतः अवहट्ट और मैथिली के विकृत रूप पर प्रतिष्ठित है। ब्रजबोली के संबंध में डा० सुकुमार सेन का कहना है कि इस भाषा की अभिव्यक्ति बँगला तथा ओड़िया में एक ही समय में हुई थी। ओड़िशा में ब्रजबोली भाषा के प्रधान प्रवर्तक हैं रामानन्द। सेन महाशय ने रामानन्द राय के "चरितामृत" के निम्न पद का उद्धरण दिया है—"पहिलहि राग नयनभङ्ग भेल"। यह पद सन् १५०४–१५११ ई० के बीच किसी समय लिखा गया था। अतएव

१. दे० श्री वसन्तराय द्वारा सम्पादित चण्डीदास पदावली का मुखबन्ध।

यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि यह ब्रजबोली भाषा सन् १५००–१८०० तक प्रचलित थी।

रामानन्द राय, माधवी दासी, जगन्नाथ दास, वृद्ध चम्पतिराय तथा अन्यान्य कवियित्रियों और कवियों का ब्रजबोली संगीत ओड़िशा का प्रचलित लोकप्रिय वैष्णव संगीत है। अभी तक खोर्द्धा में रामानन्द राय के वंशधर रहते हैं और वे शुद्ध ओड़िया हैं। डा० सेन का अनुमान है कि रामानन्द राय के वंशधर बंगाली थे[1] किंतु उनके इस अनुमान का कारण नहीं प्रतीत होता। १६वीं शताब्दी के प्रारंभ में ओड़िशा में वैष्णव धर्म का विपुल अभ्युत्थान हुआ था। अनेक ग्रन्थों से यह प्रमाणित हो चुका है कि इस समय मैथिली और ओड़िया मिश्रित ब्रजबोली भाषा में अनेक ओड़िशा के संत कवियों की प्रभूत पद्य रचनाएँ मिलती हैं। रामानन्द राय की लेखनी से तो ब्रज-बोली अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थीं। इनकी 'पहिलहि राग नयनभंग भेल' या माधव दासी की "नीलाचल हैते शचीरे देखिते आइसे जगदानन्द" आदि गीति-पंक्तियाँ अभी तक ओड़िशा के लोगों के मुख से सुनाई पड़ती हैं। प्राचीन ओड़िया साहित्य का बहुत सा ब्रजबोली संगीत यहाँ वहाँ असंकलित अवस्था में बिखरा पड़ा है।

प्राचीन ओड़िआ साहित्य के विकास का समय निरूपण करते समय हमें पहले 'बौद्धगान ओ दोहा' के विषय में विचार करना होगा। साहित्यिक बौद्धगान ओ दोहा की आलोचना करते थकते नहीं हैं। यह बौद्धगान ओ दोहा किस भाषा की ओर निर्देश करता है, उसका ठीक विचार अभी तक नहीं हो पाया है। अनेक आलोचकों का कहना है कि प्राचीन ओड़िआ भाषा के साथ बौद्धगान ओ दोहा का संबंध है और अधिकांश कवि ओड़िशा के निकटवर्ती या अधिवासी हैं। इस मत को इस ग्रंथके संपादक शास्त्री महाशय भी स्वीकार करते हैं।

डा० विनयतोष भट्टाचार्य, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री आदि का कहना है कि चारों तांत्रिक बौद्धपीठों में सर्वश्रेष्ठ उड़ियान पीठ ही था जो ओड़िशा में है। १६वीं शताब्दी के ओड़िया सन्त साहित्य के योग-प्रसंगों में इन तांत्रिक पीठों का नाम अनेक बार आया है, जैसे श्रीहट्ट पाटणा, काउंरी मण्डल, पुण्य गिरि तथा जालन्धर आदि। शरीर में स्थित इन्हीं तान्त्रिक पीठों तथा उनमें अधिष्ठित देवी-देवताओं के नामों का भी उल्लेख किया गया है। ओड़िशा के आदि साहित्य सारला महाभारत में भी 'कामाक्षी पीठ, कामाक्षी देवी या कांउरी देश के साथ ओड़िशा के संबंध के विषय में बहुत से तान्त्रिक उपाख्यान वर्णित हैं।

सिद्ध साहित्य की सम्यक् आलोचना करने पर मालूम होता है कि कान्हुपाद, शबर पाद, लोहिपाद, राजा इन्द्रभूति, विरूप, जालन्धरि, कम्बल, राहुलभद्र, असितघ्न, बुद्ध श्रीज्ञान, अभयकरगुप्त, घमलवर्ग, निर्वाण श्री, शान्तिगुप्त, प्राज्ञ आदि प्रधान तान्त्रिक धर्मप्रचारक, पद्मसम्भव और बौद्ध श्री आदि बौद्ध सिद्धाचार्य ओड़िशा या उड्डियान पीठवासी थे अथवा उड्डियान से निकले सिद्धाचार्य थे। इन सिद्धाचार्यों का समय सन् ६००–१००० ई० के भीतर

---

१. बंगला साहित्य का इतिहास—सुकुमार सेन : पहला भाग, पृ० १६२।

सीमित है। अतः इन लोगों के दोहे एक समय तथा एक ही अंचल में लिखे हुए नहीं जान पड़ते।

सातवीं शताब्दी तक उड्डियान पीठ ओड़िशा में तान्त्रिक पीठ के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। सिद्ध इन्द्रभूति ने "प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि" ग्रन्थ में उड्डियान के देवता बुद्धरूपी जगन्नाथ जी की स्तुति की है।[1] इसके अतिरिक्त ओड़िया धर्मग्रन्थों में श्रीक्षेत्र के जगन्नाथ जी का वर्णन बुद्ध-अवतार के रूप में किया गया है और प्राचीन चित्रों में इसी प्रकार का चित्रण भी है। कालिका पुराण में तान्त्रिक उड्डियान पीठ को उड्र पीठ और वहाँ की देवी कात्यायिनी को विमला देवी तथा देवता को जगन्नाथ माना गया है।[2]

उडि्डयान-पीठ के रूप में इस क्षेत्र का बड़ा महत्व था। वज्रयानी ग्रन्थों में उड्डियान या ओड़िशा के राजा इन्द्रभूति और उनकी बहन लक्ष्मीकरा तान्त्रिक सिद्ध के रूप में विदित हैं। तिब्बतीय तान्त्रिक ग्रन्थ संबंधी विवरणों से पता चलता है कि पद्मसम्भव ने उड्यान से तिब्बत जाकर तान्त्रिक बौद्धधर्म का प्रचार किया था।

वैष्णव धर्म तथा अन्यान्य धार्मिक और साम्प्रदायिक मतभेदों के कारण ओड़िशा से तान्त्रिकता का लोप हो चुका है, फिर भी प्राचीन ओड़िआ साहित्य में इसका पर्याप्त उल्लेख है। तांत्रिक बौद्ध पीठों के अवशेष अब भी ओड़िशा में देखने को मिल जाते हैं। उदयगिरि, ललितगिरि, रत्नगिरि आदि स्थानों से असंख्य तांत्रिक बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियों तथा बौद्ध स्तूपों के अवशेष मिले हैं। ओड़िशा के विभिन्न स्थानों में भी इस तान्त्रिक बौद्ध स्थापत्य के यथेष्ट निदर्शन मिलते हैं जिससे प्रमाणित होता है कि कभी तान्त्रिक बौद्ध धर्म की सहजयान तथा बज्रयान शाखायें ओड़िशा में विशेष लोकप्रिय थीं। वैष्णव धर्म के प्रचार तथा प्रसार के फलस्वरूप तान्त्रिक बौद्ध धर्म के लुप्त होने पर भी प्राचीन ओड़िआ साहित्य, धार्मिक रीति नीति, प्राचीन बौद्ध स्थापत्य, अनेक कहानियों तथा जनश्रुतियों से इसका आभास अभी तक मिलता है।

बौद्धगान ओ दोहा की भाषा से प्राचीन ओड़िया भाषा के स्वरूप का परिचय मिलता है। अस्तु, यह कहना भूल नहीं है कि ओड़िया भाषा का प्राचीन रूप उसमें विद्यमान है। पइठ, भणइ, बइठा, परिच्छा, विआण, वापुड़ा, सासु, पुच्छइ, काहेरे, कीस, कुड़िआ, तोहर, खेलहुँ, शाली, नणन्द, घुमइ, पड़न्तें, बुड़न्ते, नाचन्ति, होइ, देइ, होन्ति, तइलाबाड़ी, बाँझ, बलद, सअल, आदि

---

१. प्रणिपत्य जगन्नाथं सर्वजनवरार्चिर्चतम्
सर्वबुद्धमयंसिद्धि व्यापिनं गगनोपमम्—(प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि अ—२२६। गाः उःसि)

२. उड्रपीठं पश्चिमेतु तथै मोड्रेश्वरीं शिवाम्
कात्यायिनीं जगन्नाथमोड्रेशंचप्रपूजयेत्।
कालिका पुराण अ ६४। श्लोक ४३।४४

अधिकांश शब्द आज भी ओड़िआ भाषा में व्यवहृत हैं।[1] डा० बागची के सम्पादित दोहा कोष ग्रन्थ में तथा डिल्लोपा और सरहपाद की दोहावली में अनेक ओड़िया शब्दों के स्वरूप दिखाई पड़ते हैं। पादीय दोहा के पइसइ, भणइ, पड़िल देक्ख, पलाइ, पढ़ेइ, कढाइ आदि शब्द उदाहरण स्वरूप हैं।[2]

मैथिली साहित्य के इतिहास-लेखक डा० जयकान्त मिश्र ने बौद्धगान ओ दोहा तथा मैथिली भाषा के संबंध पर विचार किया है। उन्होंने उदाहरणों द्वारा समझाया है कि इस भाषा के साथ मैथिली का संबंध था। किन्तु बौद्धगान ओ दोहा में प्रयुक्त ऐसे अनेक शब्द हैं जो आज भी ओड़िया भाषा में विशेष रूप से प्रचलित हैं। जैसे—आजि, चाषि, भिड़ि, तेन्तुलि, सासु, वेढ़िलि, गराहक, थाही, उपाड़ि, कोठा, भात, एतकाल, भगत, चौदिस, डाल, पइठा, भणइ, खाइ, एकेली आदि।[3] अतः उनके इस कथन में सत्यांश होते हुए भी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि बौद्धगान ओ दोहा प्राचीन ओड़िया का ही प्रकाश है। हो सकता है कि प्राचीन ओड़िआ और मैथिली में तत्कालीन सिद्धाचार्यों के कारण शब्दों का आपसी आदान-प्रदान हुआ हो। बौद्धगान ओ दोहा के कतिपय निम्न पद उक्त तथ्य के उद्घाटन में सहायक हो सकते हैं जिनमें उपरोक्त प्रचलित ओड़िया शब्दों का प्रयोग हुआ है।

प्राचीन ओड़िया साहित्य में उपेन्द्र भंज आदि कवियों ने दोहों की भी रचना की है। आधुनिक भाषा में दोह शब्द "दुआ" या "दुआ धरिबा" नाम से प्रचलित है। बौद्धगान ओ दोहा

मारिअ शासू नणन्द घरे शाली
माअ मारिआ कान्ह भइल कावाली (दो० १०, पृ० १९)
बलद विआएल गबिआ बाँझे,
पिटा दुहिए एतिना साँझे। (दो० ३३, पृ० २१)
उँचा उँचा पावत तहिं बसइ सबर बाळी
मोरंगि पिच्छ परहिण शबरी गिवतगुंजरी माळी। (दो० २८, पृ० ४३)
नगर वारिहिरें डोम्बि तोहोरि कुड़िआ
छइ छोइ याइसो वाम्ह नाड़िआ

× × ×

तुलो डोम्बी हाउँ कपाली
तोहर अन्तरे माए घेलिलि हाडेरि माळी
सरबर भांजीअ डोम्बी खाअ मोलाण
मारमि डोम्बी लेमि पराण। (दो० १०, पृ० १९)

---

१. इंडियन लिंग्विस्टिक्स भाग १० : ओल्ड बंगाली टेक्स्ट : एस० सेन द्वारा संपादित एवं अनूदित : १९४८ के अनुसार।

२. दोहा कोश : पी० सी० बागची द्वारा संपादित : पृ० १०।

३. मैथली लिट्रेचर: डा० जे० मिश्र : भाग १ पृ० १०८।

में जिस कोटि की सन्ध्या भाषा मिलती है उसकी धारा ओड़िआ सन्त साहित्य में भी प्रचुर परिमाण में दिखाई पड़ती है। ओड़िशा के निर्गुण सन्त "पंचसखा" तथा उनके अनुयायी अन्य सन्त कवियों की रचनाओं में सन्ध्या भाषा का प्रभाव देखा जाता है।

ओड़िया साहित्य में इस प्रकार के योगतत्त्वमूलक तथा रहस्यात्मक भाषा का प्रयोग १६वीं शताब्दी तथा परवर्ती काल में मिलता है। इसके कई उदाहरण हैं पर उनका उल्लेख करना कष्ट-साध्य है। स्थान-विशेष पर अत्यंत अश्लील भाषा के द्वारा योगतत्त्व का भाव प्रकाशित किया गया है।[१] यहाँ बहू तो सुषुम्ना नाड़ी और दोनों स्तन इड़ा तथा पिंगला के रूप में वर्णित हैं। अतः यह मानने में कठिनाई नहीं है कि चर्यापद योग साधना का धर्म ही ओड़िशा के पंचसखाओं का धर्म जैसा है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, ओड़िशा एक प्रधान तन्त्रपीठ था। किंतु १०वीं और १२वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म के प्रबल प्रचार के कारण इसका लोप हो गया, फिर भी प्राचीन योग-साधना के संयम मार्ग ने ओड़िशा के ज्ञानमिश्रा वैष्णव धर्म में प्रधान स्थान बना लिया है।

सिद्धाचार्यों में से कइयों का नाम ओड़िशा के सन्त साहित्य में भी मिलता है। उनमें मुख्य हैं—लुहिया, मीननाथ, गोरखनाथ, शवरीपा, कमल, विरूपा, कान्हुपा तथा हाड़िपा आदि।[२] ओड़िशा साहित्य में ये चौरासी सिद्ध के रूप में परिचित हैं।

बौद्धगान ओ दोहा या सिद्ध दोहा में प्राचीन ओड़िया भाषा का जो विकास-क्रम दृष्टि-गोचर होता है वह एक अधूरा विकास मात्र है; फिर भी प्राचीन ओड़िआ भाषा, भाषातत्त्व, धर्म, और सामाजिक-रीति नीति की दृष्टि से बौद्ध गान ओ दोहा का मूल्य कम नहीं है।

१२वीं शताब्दी में हम एक और धार्मिक मतवाद का संकेत पाते हैं, वह है नाथ धर्म।

---

१. बोहुर स्तनरे जे पुरि आछ भाव
चतना चति जे काहब ताहा ठाव।—शिव पुराण द्वारिका दास पृ० २६०।
[ज्ञानी हो कह विषम सान्ध
केउं कमलरे भ्रमर बन्दी।
कालन्दी ह्रद रे पारुआ वसा
[काहिं जे गिलुछि सिहकु शसा
हस्ती मण्डुकर लागिछि युद्ध
केउं कमलेफुटिछिकोकनद।—गोरखनाथ के नाम से गाया जानेवाला एक भजन।
(ओड़िशा स्टेट म्युज़ियम में रक्षित पाण्डुलिपि)

२. (क) माण्डव गउतम आदि मीन।
[माहन्द्र गार्गव गोरेख जाण।
[शायन्तनुक से अन्त तन्तिपा
ए बोल सिद्धि स्वरूपे दायका।—लोहिगीता पृ० २४

(ख) आगे के पन्ने में देखें—

प्राचीन ओड़िआ साहित्य या सारला दास के आदि साहित्य में कई बार नाथ धर्म का संकेत मिलता है। आज भी ओड़िशा के नाथ धर्मावलम्बी प्राचीन नाथ धर्म के चालचलन, आचार-व्यवहार का पालन करते हुए देखे जाते हैं। क्रिप्स साहब ने अपनी 'कानफटे योगी' नामक पुस्तक में लिखा है कि नवनाथों में सत्यनाथ का पीठ ओड़िशा में ही था। आजकल नाथ लोगों को; तुम्बा, चिकारा और झोली धारण कर यशोवन्त दास लिखित गोविन्दचन्द्र के गीत गाकर भीख माँगते देखा जा सकता है।

१५वीं शताब्दी के सूर्यवंशी राजा कपिलेन्द्र देव के राजकाल में शूद्रमुनि सारलादास द्वारा रचित सारलामहाभारत में कई जगह नाथधर्म का आभास मिलता है। सभापर्व के राजसूय-यज्ञ, दिग्विजय तथा निमन्त्रण क्रम में नकुल दक्षिण कोशल के कई राजाओं को परास्त कर कदली वन नामक देश में पहुँचते हैं। प्रवाद है कि उसी कदलीवन देश में उन्होंने मत्स्येन्द्र नाथ तथा उनके शिष्य गोरखनाथ के दर्शन किये थे। महाभारत के 'वनपर्व' में कहा गया है कि योगान्तक वन में रामचन्द्र की भेंट गोरखनाथ से हुई थी और गोरखनाथ ने प्रसन्न होकर रामचन्द्र को योगतत्त्व का उपदेश दिया था। उसी वनपर्व के मत्स्यप्रसंग में मत्स्येन्द्र नाथ के विषय में लिखा गया है कि योगी-गुरु मत्स्येन्द्र नाथ की दया से विराट राजा मत्स्य तथा मघ देश के राजा बने थे। कीचक के अनुरोध से दयालु होकर मत्स्येन्द्र नाथ ने उसे अपने गले की रत्नमाला दे दी थी। कीचक ने उसी रत्नमाला को विराट् के गले में पहना दिया और इस प्रकार विराट् मत्स्य देश के राजा बन गये। विराट् राज ने मत्स्येन्द्र नाथ से मत्स्य देश तथा एक पद्म गोधन प्राप्त किया था। इसके अतिरिक्त सभापर्व में सारलादास ने यह भी लिखा है कि गोरखनाथ का स्मरण कर शकुनि ने पाशा फेंका था इसलिए कौरव पाशा खेल में विजयी हुए थे।

इस कवि ने कई जगहों पर योगियों का वर्णन किया है।[१] महाभारत में वर्णित नाथ

ख. शुणि मुनिवर जे होइले आनन्दित
कहिले यन्त्र मन्त्र सकल वृत्तान्त
नागान्तक वेदान्तक योगान्तक येते
नाना प्रति विधिरे कहिले तोष चित्ते
गोरखनाथं क विद्या विर्सिंह आज्ञा
मल्लिका नाथंक योग वाउलि प्रतिज्ञा
लोहिदास कविलंक साक्षी मन्त्र जेते—शून्य संहिता अच्युतानन्द दास अ० १७ पृ० ८४।

१. माथे जटाभार ताम्रचक्र फणी
ललाटे बन्धन करे रसवेणी।
विभूति विलोपन रुद्राक्षर माली
स्फटिक निर्मित लम्बित वक्षस्थली।

संबंधी जनश्रुतियों से मालूम पड़ता है कि कभी ओड़िशा में नाथधर्म का विशेष स्थान था। ऐसा लगता है कि आज ओड़िशा के गांव-गाँव में 'राउल' पदवी धारी जितने शिवपूजक हैं वे नाथधर्म की रावल शाखा के अवशेष मात्र हैं।[1]

ओड़िशा में गोरखनाथ के गाये हुए अनेक भजन प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त "सप्तांग योगधारणं" नामक पुस्तक में गोरखनाथ जी के भजन संग्रहीत हैं। ओड़िआ में लिखित "शिशुबेद" नामक एक और पुस्तक मिली है जिसकी भाषा बहुत प्राचीन है। सारला महाभारत तथा पंचसखा साहित्य में शिशुबेद का नाम कई पदों में मिलता है। इससे पता चलता है कि यह ग्रन्थ महाभारत के पहले का है तथा बहुत प्राचीन है। ग्रन्थ की भाषा से अनुमान लगाया जाता है कि यह तेरहवीं शताब्दी में लिखा गया है। इस दृष्टि से उसके निम्नांकित अंश द्रष्टव्य हैं—

"एक ये होइ दुइ अलग विलग
निरहुं निरन्तर सेहु अलग
सिषुमुना मध्यें सयोति प्रकाश
वदन्ती नाथे येटि सिद्धंकर विशुआस" (२)
उंदे गिरि असिगिरि पुन्य गिरि मेला
हस्ती चराइ प्रार्वत माला
येवणे से हस्ति महारस खाइ
वेनि पच्छि छेदिले गगने सम्भाइ।७। शिशुबेद (पाण्डुलिपि)

इसके अतिरिक्त नाथधर्म-संबंधी एक पाण्डुलिपि ग्रन्थ "अमर कोष गीता" भी विचारणीय है। इसके भजनों में भी गोरखनाथ का नाम मिलता है। ग्रन्थ जिस तरह प्राचीन है इसकी लिपि भी उसी तरह प्राचीन है। इस पुस्तक में विभिन्न सिद्धाचार्यों के नाम मिलते हैं पर खेद की बात है कि इस पुस्तक के केवल दो-तीन पृष्ठ ही मिलते हैं। नाथ गुरुओं के विभिन्न प्रसंगों में से कुछ निम्न हैं:—

वन्दइं आदि नाथ गोरेख धारिआं
वन्दइं मक्ष देलि नाथ अनन्त दरियां।
वन्दइं चउरंगी नाथ नीतक्रम धारि
बन्दइं गोरेख नाथ ब्रह्मचारी।

प्रबन्ध काछेणि कटिरे नाइ गंजि
करेण जपामालि अजपा लयभजि।
स्फटिकर मुद्रा पुराइ वेनि कर्णे
पद्मासने सेहु वसिले विलपने।—वनपर्व पृष्ठ १५५ पाण्डुलिपि।

१. नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी: "रावल शाखा" पृ० १५६-६१

बन्दइं साबरी नाथ मुल कमल धारी
बन्दइं कक्षड़ी नाथ गहिर गम्भिरि।
बन्दइं जालान्धेरी ज्ञान तत्व परिमाणि
बन्दइं गोविन्द चन्द्र लक्ष...पमणि
(अमरकोष गीता – पृ० १, पाण्डुलिपि)

नाथों की इस वंदना में धर्म नरेन्द्र, हरिचन्दन रूप सत्यवादी (सत्यनाथ?) चउरंगी आदि सिद्धाचार्यों के नामों का भी उल्लेख है। इन सब विषयों के कारण नाथगुरु गोरखनाथ का प्रभाव प्राचीन ओड़िआ साहित्य (१५वीं शताब्दी) के बाद के सन्त साहित्य पर भी पड़ा था।

प्राचीन ओड़िया साहित्य विशेष रूप से नाथ धर्म की यौगिक साधना, पिण्ड ब्रह्मांडवाद, और काया साधना, तथा धर्म दर्शन की धारा से प्रभावित है। प्राचीन ओड़िया साहित्य के आलोचन से प्रकट हो जाता है कि सारला पूर्व साहित्य में नाथ साहित्य का एक स्वतन्त्र स्थान ही था।

प्राचीन ओड़िया भाषा तथा साहित्य के विकास के स्पष्टीकरण में प्राचीन ओड़िया शिलालेख बहुत कुछ सहायक होते हैं। इन शिलालेखों का साहित्यिक मूल्य नहीं है फिर भी भाषा तथा साहित्य के विकास-पथ में इनका ऐतिहासिक मूल्य है। लिपितत्त्वविद् श्री सत्यनारायण राजगुरु का कहना है कि अभी थोड़े दिन पहले प्राप्त हुई एक जैन मूर्ति में उल्लिखित दो पंक्तियाँ ओड़िया के प्राचीन अभिलेखों में प्राचीनतम हैं। लिपि की लिखावट तथा गठन आदि से शिलालेख को दशवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के बीच का ठहराया जाता है।[1] अभिलेख का एक पद यह है :—

"देव कही भगति करुण आच्छन्ति भो कुमारसेण"

हाल ही में ढेंकानाल में कपिलास पहाड़ के शिखरेश्वर मन्दिर के कलश से एक अभिलेख प्राप्त हुआ है। यह शिलालेख प्रथम नरसिंह देव (सन् १२११-१२३८) के समय का है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रयोदश शताब्दी तक ओड़िया भाषा पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। उक्त शिलालेख के पद इस प्रकार हैं—

"(स्वस्ति) श्री वीर नरसिंह देव राज्ये १८ श्राहि कैलाश देव कै तुलसी सेनापति रंपा ग्राम चतुसीमान्त दत्त"। अनुमान किया जाता है कि १२४४-४५ ई० में यह शिलालेख खोदा गया होगा। इस शिलालेख की भाषा से मालूम देता है कि त्रयोदश शताब्दी तक ओड़िया भाषा विकसित हो चुकी थी।

डा० कुंजबिहारी त्रिपाठी ने ओड़िया के इस शिलालेख का समय श्री हस्तदेव के राजकाल

---

१. द स्क्रिप्ट यूज्ड इन इट बिलांग्स टू नॉर्दर्न टाइप आव् अल्फाबेट्स आव् द टेंथ-एलेवेंथ सेन्चुअरीज़ ए० डी०। द लांग्वेज इज़ ओरिया। इट इज़ द अर्लियस्ट ओरिया इंस्क्रिप्शन सो फार नोन टू अस : एच० आर० जे०, भाग २, पृष्ठ २१।

या सन् १०५१ निर्धारित किया है। इस शिलालेख में ओड़िया तथा तेलुगु का संमिश्रण है। यद्यपि इस शिलालेख में ओड़िया भाषा का पूर्ण विकास नहीं मिलता किंतु बहुत से ओड़िया शब्दों की क्रिया, कर्ता तथा विभक्तियों के विकसित रूप देखने को मिल जाते हैं। यह उरगिम शिलालेख के रूप में परिचित है।

भाषा की दृष्टि से प्रथम नरसिंह देव के समय का (१२४९ ई० का) भुवनश्वर का शिलालेख मूल्यवान है। इसके एक तरफ प्राचीन ओड़िया भाषा तथा दूसरी तरफ तमिल भाषा में विषय वस्तु प्रकाशित है। उसमें लिखित स, श्री, प, ध, र, इ और ह आदि वर्ण आधुनिक वर्णों के समान हैं और उसकी भाषा लोक भाषा है। किंतु तत्परवर्ती केन्दुली ताम्रपत्र में लिखित ओड़िया अभिलेख की भाषा काफी विकसित मालूम पड़ती है। यह चौथे नरसिंह देव के समय की (सन् १३८४) भाषा है। इसमें स्थान विशेष पर संस्कृत का प्रभाव पड़ा है। फिर भी यदि साधारण रूप से ताम्रपत्र में प्रयुक्त भाषा पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि तब तक ओड़िया भाषा पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। ताम्रपत्र की लिपि भी ओड़िया ही है "चैत्रमासि शुक्ल (क्ले) पक्षे त्रयोदश्यां (तिथौ) रविवारे वाराणसी कटके विश्वक् शुर्भा (भ?) वेदक (?) समये श्री चरणे भितरे नवर कन्या मण्डप वांकिआए विजय समये दुआर परीक्ष गड़ेश्वर जेना बुढ़ालेंका लाण्डु सनिमिश्र भण्डुजि (रि) आ थाउ (उ) पौर परीक्ष महापात्र नरेन्द्र देव चक्रवर्ती महापात्र नरहरि दास प्रहराज महाप (पा) त्र श्रीपति मंगल राज गोचरे आ (अ) वधारिला न्याए पोरो श्रीकरण सपनेश्वर महासेनापति वइदी महासेनापति मुदलेन महापात्र नरहरि दास प्रहराज कइक किनरि ग्राम र नाम विजयनरसि (ं) ह पुर चतुः सीमा समाक्रा० (का)न्त शासन करि देष्या कलास्वर उत्तर श्चतुसीमा किनरि ग्रामर नाम विजय नरसिंहपुर।"[१]

सीमांचल के लक्ष्मी नृसिंह मन्दिर में प्रथम भानुदेव के समय (सन् १२७१) के जो लेख मिले हैं उनमें ओड़िया भाषा का लौकिक स्वरूप मिलता है। कल्ला, वीरभाणु, होइ, एहारि, जाहार, एहांकर, कल्ले, तोहर, तिनिकि आदि बहुत से शब्द ओड़िया भाषा के स्वरूप का निश्चय करते हैं। इस ओड़िया शिलालेख में दक्षिणांचल की आंचलिक भाषा का प्रभाव पड़ा है। शिलालेख की कुछ पंक्तियाँ निम्न हैं—

"तिनि भाग चित्तन मोखरि अर्जिला न्याये एहाकु अधिक भागे सएनेकरि एहाकु दुइभाग ए पांच भाग कि सबुह जे जाहार भागे स्राहि स्राहि सदिंवाए। एहाँकर मुखरिपण त्रिति ए पंचर मध्ये जे खदि शोयिसे चतुर्क्तन भोग करिबा" इत्यादि।[२]

द्वितीय नरसिंह देव के समय (ई० १२४९) भुवनेश्वर के शिलालेख में भी हमें प्राचीन

---

1. The Kenduli Copper Plate Grant : Edited by S. N. Rajguru. O. H. R. J. Vd. V. P. 42.

२. एन अर्ली इंसक्रिप्शन् : डॉ० के० बी० त्रिपाठी, ओ० एच० आर० जे०, भा० १, सं० ३, पृ० २०२

ओड़िया भाषा का नमूना मिलता है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के मतानुसार यह प्राचीन ओड़िया भाषा का सबसे पुराना लेख है। १५वीं शताब्दी से ओड़िया साहित्य का विराट् युग प्रारंभ होता है।[1] यह शिलालेख एक ओर तामिल लिपि में खोदित है और दूसरी ओर प्रोटो ओड़िया लिपि में। प्रव्रधमाने, कार्तिक, क्रीष्ण, समये, माढ़ , घेतल्ला, उत्त्रेसर, करन्ते, स्थानापती, कील्ला, दिल्ला आदि बहुत से शब्द ओड़िया भाषा की सूचना देते हैं।[2]

इसके अतिरिक्त अन्य कई शिलालेखों से हमें प्राचीन ओड़िया भाषा के विकास-क्रम का पता लग सकता है। १५वीं शताब्दी अर्थात् गजपति कपिलेन्द्र देव के राजकाल में इस प्रकार से विकसित होती हुई ओड़िया भाषा और साहित्य का पूर्ण प्रस्फुटित रूप मिल जाता है—

"वीर श्री प्रताप कपिलेश्वर देव माहाराजाकंर विजय राज्ये समस्त ४ अंक शाही धनु अमावै सौरिवारे श्री पुरुषोत्तम कटके परमेश्वरंक दर्शन समये महापात्र ककाई सान्तरा महापात्र जलसर सेन नरेन्द्र महापात्र गोपीनाथ मंगराज महापात्र, काशी विद्याधर महापात्र वेलश्वर प्रहराज महापात्र लिखन पुरोहित पटनायक दामोदरं महासेनापती थाइ परमेश्वरंक श्री चरण अग्रते भोग परीक्षा पात्र अग्नि सर्मा मुद्रहस्तर गोचरे वोड़ला मुदले श्री पुरुषोत्तम देवंक देउलद्वारे लेखन करिवा आम्भर ओड़िशा राज्यर लोण कउड़ी मूलकर न्याय्य छाड़िलि छाड़िलि छाड़िलि एहा राजा होइ जे लंघइ से श्री जगणाथ देवंकु द्रोह करइ"।[3]

यहाँ गजपति कपिलेन्द्र देव या कपिलेश्वर देव के शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं। इनमें समस्तन्ती, नीड़का, मरक्त (मरक्त) पद्रक, काशफुल लागि कराइले, सबुहें छाड़िले, मुइ, कटकाइ सान्तरा (सामन्तराय) एथकु लिहाइला, दखीण, तु, आणु, जिस, अवधारीत, कृतिवास भुवनसर, प्रभृति शब्दों के प्रयोग से मालूम होता है कि कपिलेन्द्र देव के समय तक ओड़िया भाषा का विकास हो चुका था। १५वीं शताब्दी के पूर्व के शिलालेखों में अपूर्ण वाक्यों तथा अनेक संस्कृत शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। कपिलेन्द्र देव के समय तक वह ओड़िया भाषा अपनी पूर्ण विकसित अवस्था प्राप्त कर चुकी थी जिसकी आरम्भिक अवस्था अपभ्रंश तथा बौद्धगान ओ दोहा में निहित थी।

ओड़िया शिलालेखों और ताम्रपत्रों से ओड़िया भाषा तथा लिपि का यथार्थ इतिहास मिलता है। सन् १०५१ से १८०३ तक के जितने शिलालेख मिलते हैं उनकी शैली आदि एक सी दिखाई पड़ती है। अनुमान है कि इस ढंग के प्रायः १५० शिलालेख हैं। गंगवंश तथा गजपति नरेशों के काल से ही ओड़िया भाषा तथा साहित्य का विकास हुआ है। गंगवंशी राजाओं की मातृ-भाषा तेलुगु है फिर भी वे इसे राजाभाषा के रूप में गृहीत कर संस्कृत तथा ओड़िया भाषा के प्रसार में सहायक बने हैं।

---

१. आई० एच० क्यू०, भाग २३, १९४७, पृ० ३३७

२. जे० ए० एस० बी०, भाग २०, १९२४, पृ० ४१

३. ओरिया इंस्क्रिप्शन्स आव् द फिफ्टींथ, सिक्सटींथ सेन्चुअरी ए० डी०, चक्रवर्ती जे० ए० एस० बी० १८९३, भाग LXIII.

इन शिलालेखों और ताम्रपत्रों से ओड़िया लिपि के भी विकास-क्रम का पता चलता है। द्वितीय नरसिंह देव (सन् १२९६) के केन्दुपाटना ताम्रपत्र-शासन से पता चलता है कि त्रयोदश शताब्दी तक ओड़िया लिपि विकास-पथ पर थी। इसके विकास पर विचार करते हुए डा० त्रिपाठी का कहना है कि प्रोटो-ओड़िया या कलिंग लिपि ११वीं से १४वीं और प्राचीन ओड़िया लिपि १४ वीं से १६वीं तथा आधुनिक ओड़िया लिपि १६वीं शताब्दी से आज तक की तीन अवस्थाओं में विकसित हुई है।[1]

प्राचीन ओड़िया शिलालेख के इतिहास में अशोक के जउगढ़ तथा धउलि शिलालेख और ई० पू० दूसरी शती के कलिंगाधिपति खारवेल के शिलालेख की जो धारा चली है उसमें विकास की विभिन्न अवस्थाएँ निहित हैं। इसके अतिरिक्त शिलालेख, ताम्रपत्र, प्रमाणपत्र आदि ने ओड़िया गद्य साहित्य के विकास में यथेष्ट दान दिया है। संस्कृत के कई अभिलेखों के अतिरिक्त प्राचीन ओड़िया शिलालेख तथा दानपत्र गद्य में लिखे गये हैं।

प्राचीन ओड़िया साहित्य की आलोचना करते समय व्रतकथाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। पता नहीं, कितने युगों से ओड़िशा की लोक-कथाओं, लोकोक्तियों, कहावतों, प्रवादों, प्रवचनों, डाकों और कृषिवचनों, लोकगीतों, लोक-संगीतों आदि की धारा प्रवाहित हो रही है। प्रत्येक भारतीय प्रादेशिक साहित्य में यह धारा मिलती है। समय के वक्ष पर प्रवाहित लोक-साहित्य रूपी यह निर्झरिणी धीरे-धीरे विराट् तथा कमनीय साहित्यधारा की सृष्टि करने में सहायक हुई है। फिर भी साहित्य के इतिहास में इसका काल निरूपण करना कठिन है। भाषा की प्राचीनता के अनुसार कई व्रत-कथाओं तथा गद्यकाव्यों का आनुमानिक समय निर्द्धारण किया गया है।

इसके अतिरिक्त कीमियागिरी, यन्त्र, मन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, शिल्पशास्त्र, गो-चिकित्सा-शास्त्र, चाणक्य-नीति के श्लोकों आदि की गद्य व्याख्या में प्राचीन ओड़िया गद्य साहित्य का परिचय मिल सकता है। अत्यंत प्राचीन काल से ओड़िशा के जगन्नाथ मन्दिर में 'मादला' पंजिका का प्रचलन है। उसमें मन्दिर और विभिन्न राजाओं के राजकाल के विषय में बहुत कुछ लिखा है। कई आलोचकों के मतानुसार 'मादला' पंजिका बहुत प्राचीन है। पंडित सूर्यनारायण दास ने "ओड़िया साहित्यर परिचय' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि यह पंजिका चोल गंग देव के समय से अर्थात् ११ वीं शताब्दी से चालू है।[2] परन्तु ऐतिहासिक इस पर एकमत नहीं हैं। भवानी-चरण बंद्योपाध्याय के "पुरुषोत्तम चन्द्रिका" (ई० १८४४) नामक ग्रन्थ से मालूम पड़ता है कि भोइ वंश के राजा रामचन्द्र देव ने द्वितीय अंक (राजकाल के प्रथम वर्ष) में वटेश्वरमहान्ति को "मादला" पंजिका लिखने का आदेश दिया था। सम्भव है, इन्हीं रामचन्द्र देव के काल से ही मादला पंजिका लिखी जाने लगी हो, क्योंकि रामचन्द्र देव के समय तथा परवर्तीकाल की घटी

---

1. The Palaeography of Early Oriya Inscription: Dr. K. B. Tripathi, O. H. R. J. Vol. IV, p. 19.

२. ओड़िया साहित्यर परिचय, पृ० ४७।

हुई घटनाओं का उल्लेख इसमें ठीक-ठीक रूप से लिपिबद्ध किया गया है। पर उसके पहले की घटनाएँ काल्पनिक तथा परम्परानुक्रम से लोकमुख की सुनी हुई बातों का लौकिक स्वरूप मात्र हैं। इसलिये ऐतिहासिकों का कहना है कि मादला पंजिका में वर्णित मुगल पूर्व युग की घटनायें केवल लोकमुख तथा कल्पना पर आश्रित हैं।[1] इस "मादला" पांजि में अवश्य ही कई प्राचीन शब्दों का उल्लेख है, फिर भी उपरोक्त भाषा को समय की भाषा कहना समीचीन नहीं है। ऐतिहासिकों के समय निर्द्धारण के अनुसार "मादला पांजि" का समय १७वीं शताब्दी है।

प्राचीन गद्य साहित्य के प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि गौरेख नाथ रचित शिशुवेद की गद्यव्याख्या अत्यंत प्राचीन ओड़िया गद्य का आभास देती है। उसके कुछ अंश नीचे दिये जा रहे हैं—

"दसगुरु वन्दिले पाइबा सरूप विचार। अचल थे सून्यटी से। ये दुहिंकरि रेख रीप नाहिं। चक्षु निरजंन शून्य धेनि वर्न तिनि नाहिं। भितरे निराकार पुरिसकु देखि रहिले एहाकु निस्वतीं योग सम्भादि बोली। सवद ये से ब्रह्मा धुनी टी निसवद जे से नीर्न चक्षुटी। सुणिमाकु मन चक्षु यमइ टि। शृति मैधरे चइतन रीप होइ टी। ब्रह्म धुनीरे हेतु कला धेनी रहिले येहाकु अलेकयिव समादि बोली टी।"[2]

इसके बाद प्राचीन गद्य-साहित्य की दूसरी एक प्रधान पुस्तक है रुद्र सुधानिधि। इसके रचयिता हैं एकाम्र-कानन-निवासी नारायणानन्द अवधूत स्वामी। ओड़िया साहित्य क्या भारत के अन्यान्य प्रादेशिक साहित्य में भी इस प्रकार के आलंकारिक छन्द-पूर्ण, योग, तन्त्र, मन्त्र तथा दार्शनिक तथ्य पूर्ण गद्य-ग्रन्थ का होना कठिन है। इससे कवि के अगाध पाण्डित्य का आभास मिलता है और साथ ही ओड़िया साहित्य में उनकी आश्चर्य-जनक दक्षता का भी पता चलता है।

कवि ने अपने पाण्डित्य का सामान्य आभास देते हुए ग्रन्थ का आरंभ इस प्रकार किया है :—

"श्री हरिहराभ्यां नमः। श्री एकाम्बर वन आश्रित। श्री भुवनेश्वरी देवीर वरपुत्र। निर्दोष वाक् विशष। आगम जन्म। पुंसावतार शारदा। दिग्गज पण्डितकु विक्रम केशरी। शुद्ध धीरे मत गर्वित। पण्डित जन समूह कु उन्मत्त युवा। क्षुधा पंचानन। नराकृति कंठीरव। पंचम वेद। षट शास्त्र। नवधा व्याकरण। अष्टादश विद्या। गीता पुराण। नव नाटक स्तम्भन मोहन वश्य उच्चाटना गोटिक अंजन...लगन। रस रसायन। भल्लूक कुहुक मणिमन्त्र मौषधी। इत्यादि विद्या पटल। पाहिक वेकणि ब्रह्म सुधा ग्रन्थे नवरत्न जड़ित मणि। नारायणा नन्द अवधूतर काव्य वाग्विशेष। शिव, शिव नमः शिवाय।"[3]

इसमें स्थान-स्थान पर गद्य रचना में संस्कृत की छन्दमय आलंकारिक गद्य-रीति दिखाई

---

१. नोट्स फ्रॉम द 'मादला पांजि' : आर० पी० चंद : जे० बी० ओ० आर० एस० १९२७, भाग १३, पृ० १०-२७।

२. शिशुवेद (पाण्डुलिपि), पृ० ६-७।

३. रुद्र सुधानिधि-उत्कल युनिवर्सिटी पाण्डुलिपि, पृ० १।

पड़ती है। और कहीं-कहीं साधारण गद्य रीति का अनुसरण किया गया है। यह योग तथा दार्शनिक मतवादों के विश्लेषण में जिस प्रकार पाण्डित्य से पूर्ण है वैसे ही सुन्दर भावोद्दीपक भी है। जैसे "साक्षमते कहइ। देह इन्द्रियादि हूँ विरक्त होइ आत्मा मुक्त स्वरूपे सर्वदा अछि बोलि बिचारिले। ये पदहि निराश दुःख सेटि। केवल भाबे अनेक काल न थाइ। अनेक काल एहि मते थिलेहें एहित दुःख। पातजंलिमत बोलि किछि हिँ नाहिँ। ज्ञान हिँ नोहइ। चैतन्य हिं माया। सेटि बोलि एमन्त विचारिबा किछि हिं न विचारिबा। किछि हि न जाणिलेत जन्तु प्रायेक होइ। अज्ञान लक्ष होइले हे एहित भस्म होइला। श्रेयत नोहिला मीमांसा मत बोलइ। कर्मे करि ईश्वर आपण होइ बोइले कर्मे दुख महाश्रम। ए दुख कि सहि होइ। सहि होइ। नाहिं ईश्वर होइ। ईश्वर चिह्नित वृषभ गोटिये चढ़ि डम्बरु गोटिये बजाउं थाइं। घर करि कइलास कन्दरे रहि थाइ। काम क्रोधे थान्ति। सेवा कला लोकंकु पुत्र दाराकु ममताथाइ। प्रलय मानकंरे दुख सहि देहगोटिये थेनि अचल समादिरे वसिथाइ। एहित दुखहि सेटि एथि विफल होइला। वैशेषिक मत बोलइ। जगत जाक केमन्त गोटिये जन्तु पराएक होइ अछि। परमेश्वर त ए एथिरे कि सुअ पाइ होइला। कौमारिमत बोइला। ए ब्रह्माण्ड स्वरूप पुरुष जे विष्णु। एहार पाताल माने चरण। समुद्र माने पेट। बड़वानल जे गोछि अन्तरीक्ष शरीर। उपर सात लोक मुकुट। चन्द्र सूर्य चक्षु। पाताल विम्बर नासिका अणचास पवन निश्वास। धर्म श्रोता। जम जिह्वा। सरस्वती वचन। ब्रह्मा इन्द्र दुइ भुज। परमात्मा विष्णु। मन ईश्वर। चौषठी महामाया। एमन्ते आत्मा परमेश्वर बोलि कल्पि एहाकु भाबिवा। एहाकु भावना सिद्ध करि ब्रह्माण्ड जेते देह गोटिये पाइला। पाइले विफल होइला। तदन्तरे पाशुपत माने बोलन्ति। जगत शिव शक्ति होइ। त केमन्त प्राये होइ। चन्द्र शक्ति सूर्य शिब। मन शक्ति चैतन्य शिव। चैतन्य शक्ति मन शिव। एवं भूत प्रकारे मन शिव करि। जगत चिन्ता एमन्त करि कल्पि मरूथिले कि कार्य होइबटि। न्याय शास्त्र मते बोलइ। परमेश्वर हिं से अछि। आन वस्तुनाहिं। एहि कि होइलाटि। येवे परमेश्वर अछि अन्य नाहिं। एहार दुःख भाव कि पाईं। परमेश्वर थिले न थिले एहार हानि वृद्धि नाहिं। जीवत न पासोरिला तर्कशास्त्र मते बोलइ। आकाशर प्राये आत्मा। सर्वाप्तमय सदानन्द, सर्व सम्पूर्ण होइ पुरि अछि। एमन्त बोलि आत्माकु आकाश मत करि। आकाशकु ध्याय करि आकाश खण्डे होइलाटि एहि कि भाव होइला। तहु अन्तरे बौद्धमत बोलन्ति देह थिले से कार्य ए देह सुखमानकंर सदन। ए थिले हें एणे कि कार्य पुणि आत्मा व्यक्ति एत किछिहि नोहइ। त आत्मा मिछ होइला। भोग त विचारिले नरक। एतेके एणे कि कार्या त आत्महत मत बोलइ। आत्मा टि सत्य स्वरूप। चैतन्य होइ शक्ति गोटाये होइले हे अबा कि कार्य चैतन्य जाणिमा पदार्थ। एमन्त होइले जाणि जाणि मला। अनेक काल जाए। त एहि कि सुख। कापालिक मत बोलइ। देह सिद्ध होइ आसनकु उठइ। एथि त धर्म कथा नाहिं। चढ़इ प्राये होइ आकाश मण्डले बुलुथिले होइलाटि ए ईश्वर स्वरूप भ्रम सिना। तदन्तरे लौकिक मत बोलइ। प्राण पवनकु निरन्तरे जागिथाइ। ए छार होइ लाहिटि। जगि जगि महाश्रम पाइ मरिब। तदुपरि वृद्धानुशासन मत बोलइ। जीब ब्रह्म होइकरि जीव ब्रह्म बोइले हे जीव गोटाकु, ब्रह्म बोलि भासुथाइ। ए सुख हिं होइलाटि। पाषण्ड मते बोलन्ति, देह आत्मा

ऍ छार हिं किस अबा स्वपन बोलइ। नवद्वार घरर मेरदामर्झर आत्मा दीप्त प्रायेक होइ पुरिअछि। एमन्त वोलि आत्माकु दीपर प्राये करि जगि बसिथिले हें कि कार्य। सात्विकि मते बोलइ। समस्त पासोरिले जे रहइ से आत्मा। एमन्त बोइले किस भाव होइला। उपनिषद मते बोलइ चतन्य मात्र हिं से ऍ जगतरे अछि। आत्मा प्रभाव ए जगत एमन्त होइले। आत्मार प्रतिभाव कथा जगत बोलि कल्पि मरुअछि। थिले हे कि सुखटि। वेदान्त शास्त्र बोलइ। तदमृत भय ब्रह्ममय ज्ञान स्यान्त ब्रह्म होइले हे। एहा जाग्रतरे जाणइ। स्वप्न होइले हेतु होइ। सुसुप्ति रे त ज्ञान। बोइले शिष्य मिथ्या गुरु पाइला। नायक काण, शिष्य जड़। पढ़ाइबा चाट काल। एहाकंर ताहाकंर येमन्त सबु एमन्त परा लोचाये सेटि। गधमानकुं दाउणि पछे बान्धि बुलाइबा पराए सेटि। निविउद्धकारें (?) केहित सूक्ष्म बोलि न जाणिले। देवता पदहि किस पदही किस पद जेबे संबन्ध करि बाच्छा करिबा। सेमाने हे पुरुजल (?) धर्म सिना। स्वर्गऋद्धंत जगत भ्रष्ट होउं थान्ति। चिन्तामणि मत बोलइ। एसन जहिकि ध्यान करिबा सेहि जीव (ब्रह्म) होइ होइले जगत कार्य त ब्रह्मा। एहाउं त बड़ पद नाहिं। ब्रह्मपदकु विचारि मध्ये न देबा। देइ करि ब्रह्म होइबा। तेणे करि कि कार्य। मुण्ड चारिगोटा होइव। हसे गोटिये। प्रान्ते पुणि सन्नि-पात व्याधि करिबा। करकारे वश कु जीव एहि कथाटि। ऍतेकेहे केहुणिसि मतरे हें केहि धर्म सूक्ष्म न जाणि बुलि मरुथान्ति। अहंकारं ऋषि माने ये जाहा मत बोलाइ परजा करि। ग्रन्थ भोग ए कले।"[१]

स्थान स्थान पर च उतिशा रीति में गीतगोविन्द के लालित्य से भी बढ़कर, यमक, अनु-प्रासपूर्ण मधुर पदविन्यास की योजना पृष्ठों में की गई है। प्राचीन ओड़िआ साहित्य अलंकार-पूर्ण नहीं है। मध्ययुगीन काव्य साहित्य में ही शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का प्राचुर्य देखा जाता है। फिर भी रुद्र सुधानिधि का आलंकारिक आदर्श प्राचीन संस्कृत आलंकारिक गद्य रचना के अनुसरण पर है। उसी तरह भाषा भी संस्कृत भाषानुसारी है। शिवस्तुति प्रसंग में 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के प्रत्येक वर्ण से श्री अवधूत स्वामी ने सुन्दर स्तवक माला की रचना की है। यह पचास वर्णों की स्तुति है :—

"शिवाय नमः। शिव, शिव, शिव।

जय जय कुल मुकुन्द कुरंग धर कर्पूर धवल। कम्बु सम कण्ठ। कोकनदमाला कर आभरण। कर कलित ब्रह्म कपोल। करपत्र जोड़िकाकादर काकिनी। कुरंग चर्मकटी शोभन कालानल नयन।

कर्णे कुण्डल मण्डित। कृष्णवर्ण भुजंगम कर। कलाधर कलानिधि धारण कला प्रवण। कालिका सेवित चरणतल। कालान्तक रूप। कपिलास कन्दर वास।

---

१. रुद्रसुधानिधिः उत्कल युनिवर्सिटी पाण्डुलिपि, पृष्ठ ४५-४६

कामांग नाशन कैवल्य वर प्रद। कैवल्य स्वरूप। कुधर नलिनी
कुच कुम्भ कुम लेपन। कर कमल कलित कामिनी कदम्बबन्दिन
कुलटाकुल कण्ट का कलित कोमल कामांगना हरष खण्डन
कालिन्दी कुमुद बन्धु मुख चुम्बन। कार्तिकेश्वर सेवित चरण
पंकज। कुशधर कमलापति बन्दित चरण। करावप कुल कुमुद।
कमल कलाधर। किरीटी कुण्डल कुण्डली शोभित शिर। कुरंग कोठार शोभित कर।
कामरूप धर। कामप्रद। कामकल्प द्रुम।
कामरूपिणी पीन कठिन कुच कलस कठोर कमल कर मर्दित।
कठोर कमल कर मर्दित। कठोर हृदय। करुणाकूपार। कुण्डलिनी
शक्ति भेदित। कालि मुख ककारन्ते ककल्य ककरादित दन्त।
कलित कमल कोषकर कलानिधि। कमल नयन दिव्य स्वरूप
कुटिल वर्जित। कुटिलजटाजूट मण्डित शिर। कांचन शैल
विलसित। कामादि वरण विवर्जित। काएकाइक विवर्जित।
कामधेनु। कारुण्य कला कल्य कलेवर। कमठ पृष्ठ कठोर
शूलधर। कुमारी वरप्रद। कुमारी गण पूजित। कालान्तक।
कलामुख। कमलापति सेवित। कलाविवर्जित। देव जय जय शिव शम्भो।१।"[१]

कहीं कहीं रुद्र सुधानिधि के पद-विन्यास पर गीतगोविन्द का प्रभाव पड़ा है। ओड़िशा कभी शैव धर्म का एक प्रधान धर्मपीठ था। इसके पर्याप्त प्रमाण हैं, एकाम्र-कानन, भुवनेश्वर के सूची शिल्प शोभित सैकड़ों शिव मन्दिर तथा प्राची नदी के तीरवर्ती अनेक शिव मन्दिर। लगता है, अवधूत मतावलम्बी नारायणानन्द ने इसी एकाम्र क्षेत्र में रहकर, इस अमूल्य ग्रन्थ की रचना की थी। काव्य के अधिकांश स्थानों में वाक्यालंकार "त" का प्रयोग मिलता है जो कि अन्यान्य प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। काव्य में प्रयुक्त निम्नांकित शब्द प्राचीन ओड़िया भाषा के प्रामाणिक स्वरूप की घोषणा करते हैं—लूलि, सुशुम्णा, उच्छाहा, मुख्य (मोक्ष) ज्ञातिका, धउर्य, तिदश (त्रिदश) कुछित, सुपाति, होअन्ता, चितोइला, जाणिमा, सबुहुँ, हादे, धिला (देला), दिला, दुहिन्ति, केउण, जेउण, हाथ, तपमानन्त आदि।

इसके अतिरिक्त गद्य में अनुस्वार का प्रयोग बहुत ही अधिक है जो कि प्राचीनता का एक विशिष्ट निदर्शन है। इस प्रकार रुद्र सुधानिधि, भाषा, विभाव तथा धार्मिक विचार की एक प्राचीन रचना है। श्रीयुक्त प्रह्लाद प्रधान ने अपने रुद्र सुधानिधि संबंधी प्रबन्ध[२] में यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि रुद्र सुधानिधि गद्य रचना नहीं है। किन्तु उपरोक्त उदाहरण के अनुसार

---

१. रुद्रसुधानिधि—पृष्ठ २९-३०

२. रुद्रसुधानिधि—श्री प्रह्लाद प्रधान, 'झंकार' १०वां वर्ष १ म संख्या पृष्ठ १२।

इसको गद्य-रचना के अंतर्गत नहीं रक्खा जा सकता है। इसमें यतिपात देखा जाता है। उससे यह मालूम होता है कि यह विशिष्ट प्रकार की पद्यात्मक गद्यरीति है। गद्य को अतिशय छन्दमय तथा कवित्व-पूर्ण करने के लिये यतिपात का प्रचलन हुआ था। पर वह सर्वत्र नहीं है।

समय-निरूपण के विषय में पण्डित सूर्यनारायण दास का कहना है कि यह सारलादास के पूर्व की रचना है पर निश्चित रूप से किस शताब्दी का है, यह उन्होंने नहीं बताया है। भाषा की प्राचीनता के साथ साथ शैवधर्म की जो पराकाष्ठा ग्रन्थ में प्रतिपादित हुई है, उससे मालूम पड़ता है कि यह ग्रन्थ चतुर्दश शताब्दी में लिखा गया होगा। ग्रन्थ के एक स्थान पर है—"पराकृत भाषा हिंसु थाइ" है।[१] इससे अनुमान किया जाता है कि प्राकृत भाषा के प्रति पंडितों की हिंसा थी। इसलिए इस ग्रन्थ की रचना तभी हुई होगी जब कि लोग प्राकृत भाषा का आदर करते थे अथवा ओड़िया भाषा के आविर्भाव काल में इस ग्रन्थ की रचना हुई होगी।

पहले कहा जा चुका है कि ओड़िया साहित्य के आदि महाकवि सारलादास हैं। ये प्राचीन साहित्य के स्तंभ और ठेठ ओड़िया के महान कवि थे। नीचे उनकी रचनाओं की विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है।

कलसा चौतीसा

चौतिशा रचना प्राचीन ओड़िया साहित्य की एक प्रधान विशेषता है। इसमें 'क' से लेकर 'क्ष' तक प्रत्येक वर्ण को पद के आरंभ में स्थान दिया जाता है। किंतु कोई कोई चौतिशा उलटे 'क्ष' से आरंभ होकर 'क' में खतम होती है। इस प्रकार की चौतिशाओं को विपरीत चौतिशा कहते हैं। चौतिशा इतनी लोकप्रिय है कि जिसे हरएक कवियों ने काव्य रचना के साथ इसको भी लिखा है।

प्राचीन ओड़िया साहित्य के प्रथम उन्मेष में ही हम चौतिशा साहित्य का परिचय पाते हैं। इस प्रथम चौतिशा का नाम है 'कलसा'। इससे शैव धर्म का परिचय मिलता है और इसका नामोल्लेख सारला महाभारत में भी है। भाषा की प्राचीनता की दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सारला महाभारत के पूर्व की रचना है। इसका रचना-काल सन् १४०० है।[२]

इस चौतिशा की विषय-वस्तु शिव-पार्वती-परिणय है। वृद्धरूप शिव जी के वेश-भूषा-वर्णन के साथ रूपवती युवती पार्वती के परिणय-संबंधी विचार में कवि ने हास्य की उद्भावना की है। सखियाँ शिव जी को नाना प्रकार की गालियाँ देती हैं और फिर दोनों का परिणय बहुत ही सुन्दर ढंग से सम्पन्न हो जाता है।

---

१ रुद्रसुधानिधि पाण्डुलिपि—पृष्ठ—३८

२. (क) प्राचीन गद्यपद्यादर्श का मुखबन्ध, डा० आर्तवल्लभ महान्ति के द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ७५।

(ख) साहित्य ओ संस्कृति—श्री वंशीधर महान्ति।

विवाह-वेदी पर बैठे शिव जी खाँसते-खाँसते दम ले रहे हैं और इतने जोर से साँस ले रहे हैं कि उनका सिर नीचे झुक जाता है। इतने दरिद्र योगी हैं कि अपना न कोई उत्तम यान है न वाहन। एक बूढ़े बैल पर चढ़कर आये हैं विवाह करने। केवल इतना ही नहीं, कभी बूढ़ा बड़ी मुश्किल से दाँत मींज कर एक दो बातें कह देता है। बातचीत करते समय उसकी आँत खिच जाती है। मुख पोपला हो गया है। मुख पर गाड़ी भर मूँछ-डाढ़ी है। पार्वती की सखियाँ कहती हैं कि अगर इस प्रकार के विकृत शरीर वाले पुरुष को कोई रात में देखे तो डर जायगा। दाढ़ी-मूँछ साफ करने के लिए क्या इसे नाई नहीं मिलते हैं?

खूँ खूँ खास साहसेण पेलुअछि घइं
खर निश्वास बुढ़ार माथ लागे भूइं
खण्डिया योगीर संगे नाहिं जान तार
खण्डिया बलद बुढ़ा बान्धिछि पाखर
निसतेण कहे कथा निकुटिण दान्त
न आसइ वाणी तार दुहिं होए अन्त।
निश दाढ़ी रुचि ताकु न मिले भण्डारी
निशा काले ये देखले भये डरि पारि[१]

प्राचीन ओड़िशा के गीति-साहित्य के क्षेत्र में चौतिशा एक मूल्यवान् मणि के समान है। भाव और भाषा-संपद से पूर्ण हजारों चौतिशाएँ आज भी ओड़िशा के लोक-मुख से काफी आदर के साथ गाई जाती हैं। प्रेम, मिलन, विरह, भक्त का करुण आत्मनिवेदन, भजन, नायक-नायिकाओं का पत्र, ऋतु-वर्णन के साथ ही कठिन योगतत्त्व तथा दार्शनिक-चिंता आदि विषयों का विचार भी चौतिशा में सन्निविष्ट होता है।

यह चौतिशा कभी इतनी लोकप्रिय हो गई थी कि परवर्ती समय में उसे "कलसा वाणी" के नाम से विभिन्न चौतिशा तथा छन्दों में व्यवहृत किया जाने लगा था। हमें प्राकृत छन्द-ग्रन्थ से "कलस" नामक छन्द का परिचय मिलता है। सारला महाभारत बहुत-सी लोकोक्तियों से परिपूर्ण है। महाकवि सारला दास ने भी महाभारत के मध्यपर्व में चन्द्रावती तथा शाम्बकुमार के परिणय-प्रसंग में ठीक वत्सादास के समान परिणय-वर्णन किया है। यहाँ तक कि वशिष्ठ, मार्कण्डेय तथा दुर्वासा आदि ऋषियों ने भी विवाह-वेदी पर "कलसा" पाठ किया है।[२]

"वेदमन्त्र युगते ये पढ़न्ति कलसा
वशिष्ठ मारकण्ड आवर दुर्भासा

(प्राचीनगद्यपद्यादर्श मुखबन्ध)

---

१. प्राचीनगद्यपद्यादर्श—पृष्ठ ७६-७७

२. साहित्य ओ संस्कृति—कलसार काल निरूपण प्रबन्ध द्रष्टव्य।

अथवा
विधि पूर्व मते बदन्ति कलसा
वशिष्ठ मारकण्ड आवर दुभासा"
(मध्यपूर्व पाण्डुलिपि, पृ० ३१५)

सारलादास

आदि महाकवि शूद्रमुनि सारला दास ओड़िया साहित्य तथा भाषा के वास्तविक समृद्धिकारी हैं। इनके पूर्व का साहित्य इनके साहित्य के समान स्पष्ट और उज्ज्वल नहीं है। सारला साहित्य के समान एक विराट् साहित्य सारला दास के पूर्व ओड़िशा में नहीं था। इसलिए उर्जस्वल ओड़िया साहित्य के स्वरूप का प्रकाश हमें सारला साहित्य में मिलता है। इस महान प्रतिभाशाली महाकवि ने महाभारत, विलंका रामायण, चण्डीपुराण, लक्ष्मीनारायणी-बचनिका आदि कई ग्रन्थ लिखे हैं। ये कटक जिला के झंकड़ प्रगणास्थ सारला देवी मन्दिर के निकटस्थ कनकावती नगर या आधुनिक कनकपुर के निवासी थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि उनका पहले का नाम सिद्धेश्वर था किन्तु बाद में उन्होंने सारला देवी की कृपा से अपने को शारलादास के नाम से परिचित कराया। उन्होंने ग्रन्थ में कई स्थानों में इसका उल्लेख किया है कि उन्होंने सारला देवी के आदेशानुसार ग्रन्थों की रचना की है।

ग्रन्थ के विभिन्न स्थानों में अत्यंत नम्रतापूर्वक प्रकाशित किया है कि वे पहले कृषक थे, हल उनका एकमात्र शस्त्र या आश्रय था। हल जोतकर वे अपना पेट पालते हैं। वे अपण्डित हैं, मूर्ख हैं, कुस्थान-वासी हैं किन्तु देवी के प्रत्यक्ष आविर्भाव तथा आदेश से वे महाभारत तथा चण्डीपुराण जैसे विराट ग्रन्थ-समूहों की रचना करने में समर्थ हो सके हैं। उन्होंने चण्डीपुराण में लिखा है—

"जन्मेण मूर्ख मुइं पण्डित मोर गोति
बलराम सहख धारी कृषि क्रमेण व्रति"
जन्मेण शूद्रमुं अपण्डित ज्ञांता
कुस्थानवासी मुहिं किस मुं कविता"
अहो अशिण मास सुशल पक्ष दशमी अपराजिते
रात्रेण स्त्री एक मेटिला आसि मोते।
से मोते रातेण वसि कहइ याहा
समक्षर परियन्ते मुं लेखन करइ ताहा"।[1]

सारलादास के समय निरूपण से यह मालूम होता है कि ओड़िशा के सूर्यवंश के प्रथम राजा

१. चण्डी पुराण पाण्डुलिपि पृष्ठ २५६

गजपति कपिलेन्द्र देव के राजकाल में उनका आविर्भाव हुआ था। उन्होंने अपने महाभारत में इसे स्पष्ट रूप से लिखा है—

"कलिकाल ध्वंसिण भोगेण कोटि पूजा
प्रणमिते खटन्ति श्री कपिलेश्वर महाराजा।"
(महाभारत आदि पर्व पृ० ५)

कपिलेन्द्र देव ने १४३५–१४६५ तक शासन किया था। ओड़िशा के इतिहास का यह एक गौरवमय अध्याय है। खारवेल के राज्य को छोड़ दिया जाय तो ओड़िशा के इतिहास में कपिलेन्द्र देव का राज्य द्वितीय स्वर्णयुग है। इनके राजकाल में ओड़िशा राज्य गंगा से लेकर गोदावरी तक फैला हुआ था। सूर्यवंशी सूर्यरूपी सम्राट् कपिलेन्द्र देव के राजकाल में ही ओड़िया भाषा तथा साहित्य का पद्म पूर्ण रूप से विकसित हुआ था। सारला दास के पूर्व ओड़िया भाषा का जो स्वरूप था वह समृद्ध अथवा विराट् नहीं है। सारला दास की रचनाओं की विशेषता यह है कि उनकी भाषा तथा ग्रन्थ की विषय-वस्तु में ओड़िया भावों की जीवन्त अभिव्यक्ति मिलती है।

सारला महाभारत तथा उनके अन्यान्य ग्रन्थों की भाषा इतनी परिपुष्ट शुद्ध ओड़िया है जिसके द्वारा भाषातत्व का विभव प्रतिफलित होता है। पहले के समान गंग राजाओं के राजकाल में भी संस्कृत भाषा तथा साहित्य का समधिक आदर था। किन्तु प्राकृत भाषा साहित्य के पुरोधा स्वरूप सूर्यवंशी कपिलेन्द्र के राजकाल में सारलादास के आविर्भाव ने ओड़िया साहित्य में एक नूतन युग का निर्माण किया। इसका एक ज्वलंत प्रकाश कपिलेन्द्र देव के ओड़िआ शिलालेखों की भाषा से सुस्पष्ट है। सारलादास-साहित्य के अनुध्यान से ओड़िया भाषा की प्रतिप्रत्ति तथा वैचित्र्य देखने को मिलता है। उन्होंने अपने महाभारत में मध्यपर्व के श्रीकृष्ण के गुरु सन्दीपनी ऋषि के घर पढ़ने के प्रसंग में श्रीकृष्ण की चौसठ प्रकार की भाषा-शिक्षा तथा भारतीय भाषाओं में से ग्यारह लिपियों की शिक्षा के विषय में भी लिखा है। यथा—ओड़िया, तेलांगी, नागरि, दक्षिणी कनाउज, गउड़ी, रामहाटी, आदि भाषा[1] सारला साहित्य में प्राकृत का अपभ्रंश स्वरूप किस प्रकार आ गया था, निम्नांकित कई शब्दों से उसका पता चल जायगा—

द्रपिष्ट, श्रुतिले, जेबण, जेउंण, मुहास, कणय, मयाण, महेंसासुर, कइ (कु) कहसि, करसि

---

१. ओड़िया तेलंगि ये नागेरि दक्षिणी
कनाउज आहरण गउड़ी आचक्रायणी।
विरंचि रामहाटी महाभाखा
डाहाल वेलाल आदि येते पंचम रेखा।
दक्षिण मन्दिर ये कामेरि भारथि
भाखा उदेश ये कलेक श्रीपति
"येकादश अक्षर भाखा चउषठि" (मध्यपर्व पाण्डुलिपि पृ० ८०३)

आम्भन्त, किस, हादे, कइटप, (कैटभ) योधि, युजेष्ठि, युजिष्ठि, (युधिष्ठिर), अमोह, (अमोघ) नेमा (नेवा), अन्तरीछ, (अन्तरीक्ष) पइसइ, सामि, (स्वामी) छण के (क्षण के) कोन्ती (कुन्ती) मुकुइ, नाराज, (नाराच), संकोतला (शकुन्तला) नघोष (नहूष) घेति, संचपि (संक्षेपि) तले (तल्लय), अपछरा, नह (नख) कान्तायनी, (कात्यायिनी) अमालायण (अम्लान), माहात्माणी, ग्रिधनि, गोसामणी, तुकु (तोते) मुकु (मोते) देवती (देवी) मृघुना, अजगंम (अजगब) शोणेहा इत्यादि।

इसी तरह के ग्रामीण शब्दों के सम्भार से सारला साहित्य पूर्ण है। भाषा तथा विषय वस्तु में लौकिक विभाव रहने के कारण यह ओड़िशा के गाँवों में अत्यंत लोकप्रिय साहित्य के रूप में आज भी स्थान बनाये हुए है।

सारला महाभारत चण्डीपुराण तथा विलंका रामायण में भाषा के अतिरिक्त छन्दों का भी वैचित्र्य देखने को मिलता है। ओड़िशा में सारला महाभारत दाण्डी महाभारत के नाम से परिचित है, क्योंकि महाभारत जिस छन्द में लिखा गया है वह दाण्डिक्त है। महाभारत के पदों में वर्ण-समता बिल्कुल नहीं है। इसमें पूर्व पद १३ अक्षर का है तो दूसरा १३ या उससे कम या कहीं कहीं ३२ वर्ण तक चला जाता है।[1] यही दाण्डिवृत्त मराठी साहित्य में भी परिलक्षित होता है। प्राकृत-पिंगल नामक छन्द ग्रन्थ में दंडक वृत्त का उल्लेख मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त किसी समय अपभ्रंश भाषा में भी दाण्डि वृत्त का विशेष प्रचलन था।[3] लगता है, अपभ्रंश का यही दाण्दिवृत्त क्रमानुसार लोकप्रिय होकर प्राचीन ओड़िया साहित्य में प्रधान स्थान पा गया था। सारला दास के परवर्ती साहित्य में इस वृत्त का अनुसरण कर दाण्डि रामायण, हरिवंश तथा विष्णुगर्भ आदि बहुत से ग्रन्थ लिखे गये थे।

महाभारत

सारला महाभारत प्राचीन ओड़िया साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। खेद की बात यह है कि इस अमूल्य ग्रन्थ का विशुद्ध संस्करण नहीं हुआ है। संस्कृत महाभारत की विषय वस्तु के ढाँचे पर निर्भर होते हुए भी सारला महाभारत के प्रत्येक वर्णन में कवि की मौलिकता झलकती है। विषय-वस्तु को छोड़ देने पर भी पर्वों के नामकरण में बहुत व्यक्तिक्रम मिलता है।

सारला महाभारत के मध्य पर्व, गदा पर्व, काइंशिका पर्व तथा हरिवंश पर्व के नामकरण में स्वातन्त्र्य दिखाई पड़ता है। संस्कृत महाभारत के विभिन्न उपपर्वों का नाम सारला महाभारत में नहीं मिलता है।

---

१. खदड़ सेनर ये नोहिला सन्तति
समुद्र कूले तप करइ राये नित्यासिथिला नग्रकु दश योजन परियन्ति (मध्यपर्व)

२. प्राकृत पिंगल, पृष्ठ २६९

३ अपभ्रंश एण्ड मराठी मीटर्स : एन० आई० ए०, १९३८, खण्ड १ पृष्ठ २१५–२२८

संस्कृत महाभारत की विषय-वस्तु तथा उसके क्रम के साथ सारला महाभारत का व्यतिक्रम है। ऐसा लगता है, कवि ने संस्कृत महाभारत को श्रवण कर बाद में अपनी कल्पना से नूतन महाभारत की रचना की है।

ययातिके प्रसंग में कवि ने लिखा है कि उन्होंने अपने राज को, नौ भाग कर अपने नौ बेटों में बाँट दिया था। उनके ज्येष्ठ पुत्र ओड़ियाणी रानी के पुत्र थे। बाद में प्रवीर ओड़िशा का राजा बना था। इन्हीं के समय में हर एक गाँव की सीमा निर्धारित हुई थी तथा 'नल' में पृथ्वी का मापना शुरू किया गया था।

कवि ने गंगा के प्रसंग में एक देहाती, झगड़ालू, ओड़िआणी के चरित्र की रूप-रेखा दी है। इस तरह हरएक नारी-चरित्र में देहाती ओड़िआणी का चाल-चलन पूर्ण रूप से प्रकाशित हुआ है। इसमें अनेक अद्भूत उपाख्यान भी हैं। जैसे—पराशर, शान्तनु और भूरिश्रवा तीन भाई हैं। सत्यवती पराशर की स्त्री है। (उनकी शादी शान्तनु के साथ नहीं हुई थी) शान्तनु की चित्र-प्रतिमा के साथ आलिंगन के कारण स्खलित होने पर चित्रवीर्य और विचित्रवीर्य का जन्म हुआ था। सत्यवती और द्रोण का जन्म और चरित्र आदि आदिपर्व में वर्णित है। शान्तनु के प्रति गंगा की कुत्सित गालियाँ और पीटने की चेष्टा आदि उनकी उग्रता के परिचायक हैं। शान्तनु और गंगा के बीच में प्रण हुआ था कि जब शान्तनु गंगा को गाली देंगे तो वे नहीं रहेंगी। शान्तनु के सामने गंगा ने एक एक करके छहों बेटों को बैठकी से काट दिया था। लेकिन जब नवजात सातवें बेटे को मारने के लिए गंगा उद्यत हुईं तो शान्तनु ने उन्हें गांगी कहकर गालियाँ दीं। इसलिए गंगा उन्ह छोड़कर पानी में अन्तर्हित हो गईं। धृतराष्ट्र ब्रह्मराक्षस और गांधारी अुआंसी कन्या थीं। दोनों के विवाह प्रसंग आने पर धृतराष्ट्र की कन्या और गांधारी के पति ने प्राण त्याग दिये। व्यास जी की कथा के अनुसार गांधारी का साहाड़ा वृक्ष के साथ विवाह हुआ और साहाड़ा वृक्ष के जल जाने से उनका दोष छूट गया और धृतराष्ट्र ने गांधारी के साथ विवाह किया। साहाड़ा वृक्ष का माहात्म्य एक सुन्दर आख्यान में वर्णित है।

याजपुर की बैतरणी नदी के पास शिवबाहन साँड़ के सिर पर साहाड़ा का पत्ता गिरा। इससे साँड़ ने अमृत भोजन मिलने की बात शिव से कही और कपिलास पर्वत पर शिव के आगमन में विलंब होने के कारण पार्वती भोजन करने लगीं। उसी वक्त शिव का डमरू-स्वर सुनाई पड़ा इसलिए उन्होंने अपनी खाद्य-सामग्री वृषभ के कुंड में डाल दी। शिव की आज्ञा पाकर नन्दी ने वृषभ को भोजन न देकर गोशाला में बाँध दिया। क्षुधातुर वृषभ अपने कुंड से अमृत खाद्य आकंठ भोजन कर आनंद से सो गया। शिव द्वारा वृषभ से पूछने पर उसने कहा कि शास्त्र की बात कभी झूठ नहीं हो सकती। शिव ने पार्वती से सारी बातें कह सुनाईं और साहाड़ा वृक्ष का माहात्म्य स्वीकार किया।

संस्कृत महाभारत के भीम-चरित्र की अपेक्षा सारला महाभारत का भीम-चरित्र अत्यन्त विचित्र है। भीम जब जन्म लेकर शतश्रृंग पर्वत पर सो रहे थे उस समय पैर की सबसे छोटी अँगुली से लगकर शतश्रृंग पर्वत के सारे श्रृंग खण्ड-विखण्ड हो गये। जितना भी पकाया जाता,

अनुपस्थिति में बालक भीम द्वारा खा जाना और माता-पिता को परेशान करना, शिशु भीम के पैर की उँगली के आघात से बाघ का मरना आदि विचित्र चरित्र है। अग्नि देवता ने भीम को वर दिया था कि खाने में भीम सर्वदा अतृप्त रहेंगे। बिना काटा हुआ, बिना पिसा हुआ और कच्चा पदार्थ जो भी पेट में जायगा, सब आग के समान भस्म हो जायगा। खाने-पीने, श्रृंगार तथा संग्राम में वे हमेशा अतृप्त रहेंगे।

इसी तरह सैकड़ों अत्यंत अद्भुत उपाख्यानों से सारला महाभारत परिपूर्ण है। मध्य पर्व में अर्जुन तथा सुभद्रा-परिणय के प्रसंग में सुभद्रा ने मायादेवी की सहायता से अर्जुन को अपने वश में करने के लिए यन्त्र-मन्त्र का उपयोग किया था। वह विषय मूल महाभारत में नहीं है। महाभारत के विभिन्न स्थानों में तन्त्र-मन्त्र का जो वर्णन किया गया है वह सारला दास के तंत्र-ज्ञान का परिचय प्रदान करता है।

सारला महाभारत के मध्य पर्व के अंतर्गत सुगन्धि के पुष्प-हरण प्रसंग में कामाक्षी व्रत का जो विस्तृत वर्णन दिया गया है तथा विभिन्न स्थानों में कामाक्षी देवी की तन्त्र-सिद्धि के बारे में जो विभिन्न उपाख्यान हैं उनसे आसाम तथा ओड़िशा के प्राचीन सांस्कृतिकसंबंध का परिचय मिलता है। मध्य पर्व में आये हुए अर्जुन हनुमान-भेंट, चन्द्रावती-हरण, निलन्दी-हरण, शोभावती-हरण आदि वर्णन संस्कृत महाभारत में नहीं हैं। वनपर्व में पाण्डवों के तीर्थ-भ्रमण प्रसंग में उत्कल के पुरी, कोणार्क, एकाम्र और विरजा आदि तीर्थ-वर्णन तथा अनेक उपाख्यान जैसे कि अर्क दैत्य-वध, एकाम्र क्षेत्र में पार्वती द्वारा कृति तथा वात्स नामक दो दैत्यों को पातालस्थ करना आदि कवि की मौलिक उद्भावनाएँ हैं। ओड़िशा के तीर्थ तथा विभिन्न देव-देवियों के महिमा-वर्णन तथा तत्कालीन ओड़िशा की उदार धर्मचर्या का परिचय प्रदान करता है। लेकिन सहजिया धर्म का प्रभाव पूर्णरूप से न होने से सत्यवती के जन्म और श्रीकृष्ण का दूती के साथ गुप्त प्रणय के कारण शनिवार जन्म वृत्तांत सारला दास के महाभारत में है।

गोरखनाथ द्वारा कथित अनेक तन्त्र-मन्त्र, गोरख का नाम स्मरणकर शकुनि का पासा फेंकना, कदली बन में नकुल की गोरखनाथ से भेंट, तथा मत्स्येन्द्रनाथ, सत्यपा, दण्डपा आदि सिद्धों के प्रसंग में पूर्ववर्ती नाथ धर्म के बहुत-से संकेत प्रदान करता है। वनपर्व के नल-दमयन्ती उपाख्यान में शुरू से लेकर अन्त तक बहुत सी नवीनताएँ मिलती हैं। अकेली वन में नल को खोजते समय नागमाता बहुला ने दमयन्ती को पाँच साल तक आश्रय प्रदान किया था। बाद में कर्केटिक नाग द्वारा नल के दंशित होने पर दमयन्ती ने प्राण त्याग दिया। किन्तु बहुला की प्रार्थना से उनके पिता कमला उरगनाथ ने मृत्यु-संजीवनी मंत्र के बल से दमयन्ती को बचा लिया।

उद्योग पर्व के बेलाल सेन की कथा भी वैसे ही सारला दास की नूतन कल्पना है। भीम के पुत्र बेलाल सेन को युद्ध में अजेय समझकर श्री कृष्ण ने उसे चक्र से मारा था। कारण यह है कि महाभारत युद्ध १८ दिन तक चलना चाहिए था किन्तु यदि बेलाल सेन युद्ध में प्रवृत्त रहता तो यह युद्ध एक दिन में ही खतम हो जाता। इसलिए लीलामय श्रीकृष्ण ने बेलाल सेन को चक्र से मार डाला था। बाद में बेलाल सेन की प्रार्थना से उन्होंने उसे दिव्यचक्षु प्रदान कर उसके शिर

को युद्धक्षेत्र में एक खम्भे के ऊपर रख दिया। केवल बेलाल सेन ने ही शुरू से लेकर अन्त तक महाभारत युद्ध देखा था। इसके अलावा बाबना भूत चरित तथा राउल की मन्त्र शक्ति से भूतों को बाँधना भी इस पर्व का एक सुन्दर उपाख्यान है। खाण्डव वन में श्रीकृष्ण का नवगुंजर वेश तथा भीष्मपर्व स्थित गीता में अर्जुन को दिये गये उपदेश—जैसे कर्मयोग, ज्ञानयोग, और भक्ति योग का उल्लेख नहीं है। सिर्फ अर्जुन का सामान्य निर्वेद और उसका परिहार है। संस्कृत महाभारत के शांतिपर्व और अनुशासन पर्व का विषय यहाँ बिलकुल नहीं है। लेकिन शांति-पर्ववाले शाम्ब की शापमुक्ति के विषय में कोणार्क तीर्थ का महात्म्य वर्णित है। अश्वमेध पर्व में वसुकल्प ग्रहण चरित, कदम्बासुर उपाख्यान, श्रीकृष्ण का अश्वमेध यज्ञ, नीलगिरि में दारु प्रतिष्ठा, स्वर्गारोहण पर्व में युधिष्ठिर का याजपुर में अवस्थान तथा हरिसाहु की लड़की मुहानी के साथ विवाह, भारदा वृत्तान्त, आरड़क दैत्य वध, सत्यम्बा-चरित, गदापर्व में दुर्योधन का अपने मृत पुत्र लक्ष्मण कुमार के शव पर अँधेरी रात्रि में रक्त नदी पार होना आदि अनेक विषयों में सारला दास का निजत्व प्रकाशित हुआ है। मोटे तौर पर सारला दास महाभारत में प्रधान विषय-वस्तु का ग्रहण होते हुए भी, अनेक नूतन उपाख्यान भी हैं।

१५वीं शताब्दी के सामाजिक तथा सांस्कृतिक इतिहास का एक विशद विवरण इस सारला महाभारत में देखने को मिलता है। महाभारत की सामरिक साज-सज्जा में, ओड़िया सैनिकों की वेशभूषा, दुर्ग-निर्माण की प्रणाली, विभिन्न मल्ल-युद्ध, अग्र और पश्चात् सैन्य दलों का विराट् समारोह तत्कालीन विभिन्न अस्त्रों-शस्त्रों का वर्णन आदि द्वारा उस समय के ओड़िशा का गौरवमय चित्र उपस्थित होता है। कपिलेन्द्र देव के दिग्विजय के इतिहास का एक अस्पष्ट आलेख महाभारत के विभिन्न स्थानों में प्रकारान्तर में दिखाई देता है। कोण्डाभिदु, गोलकुण्डा, विजयनगर आदि ऐतिहासिक दुर्ग तथा स्थानों का नामोल्लेख तथा ओड़िया सैनिकों की युद्ध-यात्रा का आभास है। मोटे तौर पर कहा जाय तो सारला महाभारत ओड़िया साहित्य की एक विराट् वीरगाथा है। कपिलेन्द्र देव के गोपीनाथपुर शिलालेख में भी तत्कालीन वीरता का उत्तुंग प्रकाश हुआ है तथा वह भी तत्कालीन साहित्य में प्रतिविम्बित हुआ है।[१] इसके अतिरिक्त महाभारत के विभिन्न स्थानों में सैन्यों की वेशभूषा का वर्णन है। वह प्राचीन ओड़िशा के सामरिक गौरव का यथेष्ट परिचय देता है।[२] सैन्यवाहिनी प्रसंग में आई बड़कुमार जेना, राउत, पात्र, देसाउर, कटुआल,

---

१. कर्णाटोज्जास सिंह कलवरग जयी मालव ध्वंसशील
जघालो गौड़मर्दी भ्रमरवर नृपोध्वस्त डिल्लीन्द्र गर्व ।६।
यस्योच्छैर्वाजिराजि विकट खुर पुटोद्घाटित क्षौणी पृष्ठ
प्रादुर्भूत प्रभूत क्षितिकण निकरैर्लक्ष माणें प्रमाणें ।७। शिलालेख पृ० ४-५

२. शुकल पागेक स मथारे बान्धिला ।
शुकल पाछोटि अण्टारे बेढ़ाइला ।
खण्डातरुआर कटिरे लगाइं

दण्डुआसि, जगिआ, मल्ल, महामल्ल आदि पदवियाँ आज भी क्षत्रिय परिवार में हस्ताक्षर के रूप में व्यवहृत हैं।[1]

प्राचीन ओड़िशा की अनेक रीतिनीति की झाँकी सारला महाभारत तथा उनके अन्यान्य ग्रन्थों में मिल जाती है। अत्यंत प्राचीन काल से ओड़िशा भारतीय धर्मपीठ के रूप में प्रख्यापित है। जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य तथा वैष्णव आदि अनेक धर्मों-उपधर्मों की अनेक तीर्थ-स्थली ओड़िशा में मौजूद हैं। इसके अतिरिक्त श्रीक्षेत्र प्राचीन काल से ही सभी धर्मों का समन्वय स्थल रहा है। सारला दास ने अपने महाभारत में सर्वत्र जगन्नाथ को परमात्मा कहा है। ओड़िशा सन्त-साहित्य में जगन्नाथ अवतारो तथा मत्स्य, कच्छप, राम-कृष्णादि देव अवतार-स्वरूप कहे गये हैं। श्रीक्षेत्र के जगन्नाथ मन्दिर तथा विग्रह में जैन तथा बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव पड़ना शास्त्र-प्रसिद्ध है। वज्रयानी सिद्ध इन्द्रभूति के 'ज्ञानसिद्धि' तथा अनंग बज्र के "प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि" ग्रन्थों में जगन्नाथ जी को बुद्ध रूप में ग्रहण किया गया है।[2]

तान्त्रिक बौद्धधर्म के प्रचार तथा प्रसार से ही ओड़िशा एक तान्त्रिक धर्मपीठ के रूप में परिचित था। अब भी ओड़िशा के रत्नगिरि से गुप्तयुग के अत्यंत प्राचीन बौद्ध स्तूप का अवशेष मिलता है। सारला महाभारत में पूर्व-परम्परा के कारण जगन्नाथ जी बुद्ध रूप में वंदित हैं।

"कलियुग चारिलक्ष बतिश सहस्र वरष परिजन्ते
वउद रूपे पूजा पाइवे नील सुन्दर पर्वते
कलियुगे वउद केशव प्रतिमा
मुहिं होइबि नील सुन्दर गिरि ये उत्तमा—वनपर्व पृ० ३५५-५६

ग्रन्थ में शाक्ति धर्म का प्रभूत प्रभाव है। विमला, भैरवी यत्र जगन्नाथ स्तु भैरव' परवर्ती पंचसखा युग के शून्यवाद का स्वरूप भी विभिन्न स्थानों में दृष्टिगोचर होता है—

"आद्य हूं शून्य शून्यरु पवन
पवनरु जात योग पुरुष मान
अण्ड फुटिण से होइला निरंजन निर्गुण उतपति होइला विवुध निरंजनरु ये होइला शक्ति यान"

शुकल गन्ता से गोटिये बान्धिला।
कस्तुरि तिलेक से मथारे घेनिला।
निश्वास वारिण से अनुकूल घेनिला। मध्य पर्व-पृष्ठ ७३६

१. सारला साहित्य ओ ओड़िशार समर विभव-बंशीधर महान्ति, झंकार वर्ष ८ प्रथम संख्या पृष्ठ १५९-१६२

२. "प्रणिपत्यं जगन्नाथं सर्वजिनवरार्च्यिताम्'
तत्र तत्र जगन्नाथेर्देशित करुणात्मभिः।" प्रः विः सिः द्रष्टव्य

ईसा के द्वितीय शतक के द्वितीयार्द्ध के परवर्ती काल से अर्थात् नागार्जुन के समय (१०वीं शताब्दी) से इसी शून्यवाद की धारा बहती आ रही है।[१] इस प्रकार की शून्य साधना की धारा ओड़िया सन्त-साहित्य में भी है। सारला दास ने अपने महाभारत में जिस सहज, निरंजन अणाकार पुरुष, और "निराकार पुरुष" की सूचना दी है वह महायान बौद्ध धर्म के शून्यवाद के प्रभाव के कारण है।[२]

कई स्थानों में नाथ-धर्म संबंधी आचार-विचार तथा अघोरी सिद्ध और कौलों की वेश-भूषा, खानपान विषयक वर्णन किये गये हैं। साधारणतः शाक्त धर्म के अनेक देवी-देवता और तान्त्रिकता के प्रचुर व्यवहार के साथ विभिन्न धर्मों का एक विस्तृत इतिहास भी सारला की कृतियों में देखने को मिलता है।

ओड़िशा की सामाजिक रीतिनीति और चालचलन की दृष्टि से सारला महाभारत ओड़िआ साहित्य का एक अद्वितीय ग्रन्थ है। महाभारत के पद पद में ज्योतिष शास्त्र का प्रचुर प्रयोग है। जिस किसी भी युद्ध के प्रसंग, मात्रा, जन्म, मृत्यु, याग-यज्ञ यहाँ तक कि खाने-पीने और सोने में भी ज्योतिष शास्त्र के अनुसार दिन, वार, वर्ष, नक्षत्र, योग, करण आदि का विस्तृत आभास दिया गया है। मालूम होता है कि कवि के मन में ज्योतिष शास्त्र के प्रति आसक्ति थी। कामशास्त्र की चर्चा भी महाभारत के विभिन्न स्थानों में है।

गृहस्थ का यथाविधि स्त्री-सहवास, चन्द्र-चाल तथा अन्यान्य कामशास्त्र-संबंधी-वर्णन, विवाह, व्रत, ओषा, ओड़िशा की तत्कालीन वेश-भूषा, कृषि-संबंधी नियम-पद्धति, तत्कालीन राजस्व, सैकड़ों खान-पान, नौ-वाणिज्य, शिल्प और स्थापत्य, विभिन्न व्याधि तथा उसके प्रतिकार की विधि, राजा, राज्य, नगर, राज्यशासन-प्रणाली, दुर्ग, मन्दिर और गृह-निर्माण-विधि, विभिन्न परिमाण और नाप-प्रणाली, ओड़िशा की अनेक नदियों, पर्वतों, देवालयों, गाँव, हाट, बाट आदि समस्त विषयों के वर्णनों से महाभारत समृद्ध है। ओड़िशा की एक कहावत के अनुसार ढेंकिशालरु आरम्भ करि ढेंकानाल पर्यन्त—छोटी मोटी वस्तु से लेकर बड़े तक का चित्र इस ओड़िया महाभारत में है।

चण्डी पुराण

सारला दास की अन्य एक रचना चण्डीपुराण है। यह भी दाण्डि वृत्त में ही लिखा गया है। कथावस्तु की दृष्टि से यह मार्कण्डेय पुराण के महिषासुर-वध उपाख्यान पर आधारित है। फिर भी महाभारत के समान ही इसमें भी काल्पनिकता का पूर्ण समावेश है। सारला दास शाक्त धर्मावलम्बी थे। चण्डी पुराण में उस धर्म का उत्कर्ष प्रतिपादित हुआ है। कालिका पुराण में

---

१. तान्त्रिक बौद्धसाधना और साहित्य—श्रीनगेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृष्ठ ५०

२. सारला महाभारत रे शून्यवाद—श्री वंशीधर महान्ति। समाज-गोपबन्धु श्राद्ध संख्या १९५६, पृष्ठ ८२-८४

लिखा है कि उड्डियान पीठ की देवी कात्यायनी हैं।[1] कई आलोचक इस कात्यायनी देवी को याजपुर की विरजा देवी से अभिन्न मानते हैं।

चण्डी पुराण में महिषासुर महिष सिंह के रूप से वर्णित है। कई राक्षसों के नामकरण में कवि की काल्पनिकता पर्याप्त रूप से परिदृष्ट है। उन्होंने कहा है कि कपिल सिंह नामक राक्षस का पुत्र महिषासिंह था। धर्मरेखा कपिलसिंह के शृंगार से डर कर सिंहल देश चली गई थी।[2] वहां यमवाहन कृतान्तक महिष का बलात्कार पूर्वक महिष रूपिणी धर्मरेखा के साथ रमण करने के कारण महिषासुर का जन्म हुआ। कपिल सिंह ने अपनी स्त्री का संधान और विषय कपिल ऋषि से सुनकर उससे सिंहल में भेंट की। फिर उससे सारी बातें सुनकर महिषासुर को अपने पुत्र रूप में ग्रहण किया और उसका नाम महिषासुर रखा। मार्कण्डेय और देवी भागवत पुराण की अत्यंत छोटी कथावस्तु को लेकर कवि ने एक बहत् पुराण की रचना की है तथा उसमें अपनी मौलिक कल्पना का यथेष्ट उपयोग किया है। इसमें महिषासुर की तपस्या तथा वरप्राप्ति, महिषा-

---

१. कात्यायनी चौड्डि याने कामाख्या काम रूपिणी। पूर्णश्वरी पूर्ण गिरौ चण्डी जालन्धरे गिरौ कालिका पुराण, अ१८।४९-५०

२. महिषासुर ने कुश द्वीप के राजा प्रचण्डासुर के राज्य पर आक्रमण किया। महिषासुर प्रचण्डासुर का संबंधी था, अतः संधि प्रस्ताव शुरू हुआ। महिषासुर ने प्रचण्डासुर के दोनों पुत्र-चंड-मुण्ड को अपना सेनापति बनाने का प्रस्ताव किया। प्रचण्डासुर की अनिच्छा के कारण महिषासुर का उसके साथ युद्ध होता है, फिर युद्ध में परास्त महिषासुर की संधि होती है। तत्पश्चात् चंड-मुण्ड महिषासुर के सेनापति बनते हैं। देवी भागवत और मार्कण्डेय पुराण में रंभ दानव ने अग्नि से अजय पुत्र रूप वर प्राप्त कर महिषी (भैंस) के साथ रमण किया और पाताल पुर को चला गया। वहाँ दूसरे एक भैंसे की गर्भवती भैंस पर वह प्रेमासक्त हो गया। इसलिये रंभ के साथ उसका युद्ध हुआ और रंभ मारा गया। फिर चिताग्नि में स्वामी के साथ प्रवेश किया और आग में महिषी गर्भ से महिषासुर (और रंभ के रक्तबीज रूप में) पैदा हुआ। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार महिषासुर के द्वारा देवताओं की पराजय हुई। विष्णु के परामर्शानुसार देवताओं की शक्ति से देवी का आविर्भाव हुआ और उनके द्वारा महिषासुर का वध हुआ। महिषासुर के वध के बाद देवी नें देवताओं को कहा कि विपत्ति के समय तुम मेरी सहायता ले सकते हो। बहुत समय के बाद शुम्भ, निशुम्भ के आक्रमण से देवता तंग आ गये और देवी की सहायता के लिये उन्होंने स्तुति की वही स्तुति चण्डीपाठ है। इसके बाद देवी का आविर्भाव हुआ और शुम्भ, निशुम्भ की, साथ उनका युद्ध हुआ। चण्ड, मुण्ड और रक्तबीज, शुम्भ, निशुम्भ के सेनापति हैं, महिषासुर के नहीं। सारलादास ने महिषासुर के वंश, जन्म, विवाह और दिग्विजय और शुम्भ, निशुम्भ की मृत्यु के बाद महिषासुर की मृत्यु आदि का वर्णन अद्भुत कल्पना-शक्ति से किया है।

सुर-दिग्विजय और महिषासुर का चन्द्रावती के साथ विवाह, शुम्भ-निशुम्भ का स्वर्गपुर पर आक्रमण, दुर्गा का आविर्भाव, दुर्गा का रत्नगिरि में अवस्थान, चण्डालपुर विवरण, चण्डमुण्ड, शुम्भ-निशुम्भ, कान्तिमाल, वितालक्ष, रक्तबीज, वीरघण्ट आदि का बध, सूर्यमण्डल रथ का विवरण, काल-विमोचन बध, महिषासुर का रत्नगिरि उत्पाटन, शून्य तथा उपशून्य बध, और बाद में महिषासुर-वध वर्णित है।

युद्धक्षेत्र की विभीषिका के वर्णन में सारला दास ने अद्भुत कल्पना का आश्रय लिया है। वर्णन में उन्होंने इतनी देवियों के नाम गिनाये हैं कि उन्हें यथार्थ रूप से निर्धारित करना पाठक के लिए असम्भव है। चउषठ योगिनियों के नामकरण में, ब्रह्मायेणी, इन्द्रायेणी, चार्चिका, उग्रतारा, विरजा, चामुण्डा, कंकालि, वेतालि, मातंगी, बाराहि, वासेलि, चाड़ेश्वरी, भद्रिका या भद्रकाली, अम्बिकाइ, खेचरी, भालुकि, काकमुखी, ताराहि, महारवला, विमला, कामाक्षी, हिंगुला, विंझासुणी, बिड़ालमुखी आदि देवियाँ प्रधान हैं। चण्डीयुद्ध में इन देवियों ने चण्डी के शरीर से निकल कर और अपने विभिन्न वाहनों पर बैठकर असुरों के साथ घोर युद्ध किया था। युद्ध क्षेत्र का दृश्य स्थान विशेष में अत्यंत भीषण और वीभत्स है। रक्तनदी प्रवाहित युद्धक्षेत्र में चण्डी चामुण्डा शव को खा रही है।

दान्तेण विदारिण काढ़न्ति काहार बुकु
खण्ड़ेण कामोडि खण्ड़े दिअन्ति आरेकंकु।
रक्त मांस खाइण से न पकान्ति हाड़।
पृथ्वी कम्पइ ये बाजइ रड़ मड़
तुण्ड विस्तारिण दिअन्ति घोर रड़ि
हिआ विदारन्ति बुकु अन्त काढ़ि।
आंजुला करिण से धरन्ति रुधिर
एक निउड़न्ति नेइ आरेक ऊपर।

—चण्डी पुराण पाण्डुलिपि—पृ० १८४

लाख-लाख डाकिनियाँ जिह्वा फैलाकर रक्त नदी से रक्त पान कर रही हैं। खुले केश, अट्टहास, किलकिला स्वर में चामुण्डागण का शवों के हाड़ कड़ मड़ कर चबाना, किसी-किसी का अंजलि भर रक्त लेकर दूसरों के शिर पर उड़ेलना आदि वर्णनों में शाक्त धर्म की विभीषिका विशेष रूप से प्रकाशित हुई है।

महाभारत तथा चण्डी पुराण में कहीं-कहीं कवि ने गद्य को भी सन्निवेशित किया है। महिषासुर का पत्र, महाभारत में युधिष्ठिर का दरदसेन को आज्ञा पत्र, आदि प्राचीन ओड़िया गद्य साहित्य की सूचना देते हैं।[1]

---

१. श्री मुख भाषा चिटाउ। श्री कर नाथंकु नमस्ते नमस्ते। अनादि आदि कश्यपगोत्री। श्री राहुवंशरे उत्पना। सिंहिका

पुराण के अंत में कथावस्तु की अपूर्वता है। पहले से शाप था कि महिषासुर की मृत्यु देवी का भगमार्ग देखने से होगी। अन्त में देवी के नग्न होने पर भगमार्ग देखकर महिषासुर हतवीर्य हो गया। ठीक उसी समय देवी ने महिषासुर का वध किया है। महिषासुर-वध के बाद देवी शिव के प्रति उग्र रूप धारण कर उन्हें निगलने गई हैं, क्योंकि उन्हीं के कारण असुर वर प्राप्त कर महाबली हो गये थे और जिसके कारण आज देवी को नंगी होना पड़ा। देवतागण देवी की उलग्न तथा कोपमूर्ति देखकर भाग गये। "जटिआ" (जटाधारी) महादेव न जा सके तब महादेव ने रक्षा के लिए देवी से अनुरोध किया। महादेव के ताण्डव नृत्य से देवी प्रसन्न हुईं और उन्हें आलिंगन करने लगीं। उमा-महेश्वर के एकासन में बैठते समय देवताओं ने वन्दना की।

मोटे तौर पर शैव धर्म की अपेक्षा शाक्त धर्म का महत्त्व इसमें अधिक प्रतिपादित हुआ है। शाक्त धर्म शैव धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ रूप में प्रदर्शित होने पर भी उनका आपस में जो घनिष्ठ संबंध है वह चण्डीपुराण में दिखाया गया है। कवि ने लिखा है कि चण्डी पुराण जीवन की अंतिम रचना है।

विलंका रामायण

कवि के कथनानुसार विलंका रामायण उनकी प्रथम रचना है। इस पर संस्कृत के अद्भुत रामायण का प्रभाव है। अद्भुत रामायण में शाक्त धर्म की पृष्ठ-पोषकता होते हुए भी शैव धर्म तथा वैष्णव धर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। अद्भुत रामायण में राम सहस्र रावण को नहीं मार सके थे। अन्त में सीता ने अपना रूप त्याग कर और कंकालिनी का रूप धारण कर उसे मार डाला। ब्रह्मा आदि देवताओं ने स्वीकार किया कि सीता के बिना राम शक्तिहीन ह। जब राम ने सीता से उग्र मूर्ति के परित्याग के लिए निवेदन किया तब सीता ने अपना स्वरूप धारण किया और राम ने उन्हें प्रकृति-रूपिणी माया-शक्ति के रूप में स्वीकार किया।

अद्भुत रामायण का सहस्रशिर रावण विलंका रामायण में सहस्रभुज हो गया है। विलंका रामायण में लिखा है कि रावण की मृत्यु के विषय में राम और सीता के बीच विवाद हुआ था। राम ने जब कहा कि रावण को उन्होंने स्वयं मारा है, तब सीता प्रतिवाद करके बोली कि उसके मरने का कारण मैं हूँ। इस बात की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए सीता ने बिलंका के राजा सहस्र रावण के मारने के लिए कहा। लेकिन राम काफी चेष्टा करने पर भी उसे न मार सके। सीता ने स्वयं उसके विनाश का उपाय किया। बिलंका रामायण में हनुमान जी के कौशल तथा वीरत्व ने प्रधान स्थान प्राप्त किया है। कहीं हनुमान दैत्य की नाक में घुस कर कान से निकल जाते हैं तो कहीं पूँछ में दस पर्वतों तथा हाथ में दो सौ पर्वतों को लेकर शत्रुओं पर टूट पड़ते हैं।

गुण कर्म कुल उतकर्म। कश्यप ऋषि आदि पाट।
ताहांक वंशरे उत्पत्ति। परमानन्द माधुर्य्य। कृपालु
श्री वनाश्रित। चतुर्द्दश भुवनर अधिपति। इत्यादि

पाँच दिन तक युद्ध करने पर भी रामचन्द्र रावण को परास्त नहीं कर सके। देवताओं ने कहा कि सीता के अतिरिक्त उन्हें कोई नहीं मार सकता। चित्रसेन गन्धर्व द्वारा जानकी को रथ में बैठाकर लाते समय सिंहवाहिनी कात्यायनी ने उन्हें असुरों के वध के लिए पुष्प धनु तथा पंच शर प्रदान किया। युद्ध में देवी ने केवल अपनी मोहिनी मूर्ति ही रावण को दिखाई है।

नव यउवन देवी देलेक देखाइ
पंचुशर वाण गुणरे वसाई।
धनु मन्त्र पढ़ि जनेक कुमारी
असुर उपरकु बिन्धिले शर धरि।
विलंका रामयण पांडुलिपि पृ० २०१

विषम और भयावह युद्ध के अवसान के बाद जनसाधारण के सुख और शांति से जीवन-निर्वाह के लिए सारला दास ने विलंका राज्य को समप्रधान करने के उद्देश्य से भूमि से बंधुरता और आवर्जना 'मई' द्वारा दूर किया था। उस राज्य के कंटक-स्वरूप असुर श्रेष्ठ सहस्र शीर्ष की मृत्यु के बाद जनसाधारण की भाँति रामचन्द्र ने सीता के साथ जीवन के प्रधान उपयोगी खाद्य उत्पादन के लिए श्रम किया है। अर्थात् कवि ने राम और सीता के द्वारा भूमि को जोतने तथा समतल करने के लिए उन्हें 'मइ' पर बिठाया है। कृषि द्वारा उत्पन्न खाद्य पर मनुष्य-जीवन निर्भर करता है। यह मानव का प्रधान कर्तव्य है। यही बात प्रकारान्तर से आख्यान द्वारा बतायी गई है।

सारला साहित्य में भाषा और भाव का जो सरल, सहज, सामंजस्य परिलक्षित होता है, वह अन्यत्र विरल है। यह कहना अत्युक्ति-पूर्ण न होगा कि उनकी भाषा में ओजस्विता और सर्वार्थ प्रकाश-शक्ति तथा ओड़िया संस्कृति और सभ्यता का उच्च निदर्शन है।

ओड़िया साहित्य का विकास-क्रम

(ख) पूर्व मध्यकालीन

आचार्य आर्त्तवल्लभ महान्ति, एम० ए०, डी० लिट्०

सारलादास उत्कल के आदि महाकवि माने जाते हैं। यदि उन्हें हम आदिकवि न कहकर आदि महाकवि ही कहें, तो अनुचित न होगा क्योंकि वे उत्कलीय काव्य के आदिस्रोत नहीं हैं। उनके पूर्व 'बौद्ध गान ओ दोहा' जैसी कविताएँ भी पाई जाती हैं। नियमित, श्रृंखलाबद्ध तथा छन्द-बद्ध कविता (जिसके विकास-क्रम में ओड़िया साहित्य की चरम अभिवृद्धि हुई है) भी सारलादास के पूर्व बच्छादास ने की थी। "कलशा चौतिशा" अवश्य ही 'बौद्धगान ओ दोहा' के बाद की रचना है। अतएव छन्दबद्ध कविता की दृष्टि से बच्छादास जी को आदिकवि माना जा सकता है। परन्तु रचना शैली की रीति चाहे जैसी क्यों न हो, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि 'बौद्धगान ओ दोहा' के रचयिताओं ने ओड़िया भाषा में सर्वप्रथम काव्य-रचना की है। इसलिए 'दाण्डिवृत्त' रचना शैली (बेजोड़ वर्ण-विशिष्ट की दो-दो पंक्तियों वाले पद) के अनुसार 'बौद्धगान ओ दोहा' के कवि तथा छन्दबद्ध कविता शैली की दृष्टि से "कलशा चौतिशा" के रचयिता बच्छादास जी को आदि-कवि माना जा सकता है। 'बौद्धगान ओ दोहा' से प्राचीनतर कविता तथा 'कलशा चौतिशा' से प्राचीन-तर चौतिशा अभी तक प्राप्त नहीं हुई है, इसलिये उत्कल के आदिकवि के संबंध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसमें भूल की संभावना नहीं मानी जा सकती। इस संबंध में और एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह कि ओड़िशा के सबसे प्राचीन छन्दबद्ध काव्य राम-विवाह में प्रयुक्त कलशा चौतिशा वृत्त के अतिरिक्त मेढ़तोला वृत्त, चक्रकेलि वृत्त, मुनिचर वाणी वृत्त, संगमतिआरि वाणी वृत्त भी उल्लेखनीय हैं क्योंकि इस काव्य के कई छन्द इन वृत्तों के अनुसार नियोजित हैं। इनमें से केवल कलसा का ही मूलगीत प्राप्त है और सभी विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये हैं। दैवयोग से यदि वे सब मिल जायँ तो ओड़िया के कवियों तथा काव्यों के समय-निरूपण में आसानी होगी।

सोमनाथ व्रत के अज्ञातनामा लेखक—(१४वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

सारला दास के पूर्व एक अज्ञातनामा कवि ने 'सोमनाथ व्रत कथा' नामक एक छोटी सी गद्य पुस्तक लिखी है। उत्कल में १०वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक शैव धर्म की प्रधानता थी। यहाँ के अधिकांश शिव-मन्दिर इसी समय के निर्मित हैं। अनुमान किया जाता है कि नारायण नन्द अवधूत स्वामी का प्रसिद्ध गद्य काव्य 'रुद्र सुधानिधि' भी इसी समय लिखा गया था।

शिव परमब्रह्म, आशुतोष तथा वरदाता हैं। उत्कलीय हिंदू परिवार की गृहिणियाँ उन्हें प्रसन्न करने के लिए इसी सोमनाथ व्रत का पालन करती हैं तथा पुरोहित इसी कथा को पढ़कर उन्हें सुनाया करते हैं। उत्कल में कई भिन्न भिन्न व्रत तथा व्रतकथाएँ प्रचलित हैं पर सोमनाथ व्रतकथा उनमें प्राचीन है। नीचे सोमनाथ व्रतकथा के जो अंश उद्धृत हैं, उन्हें रुद्रसुधानिधि के बाद, ओड़िया प्राचीन गद्य के नमूने के रूप में ग्रहण किया जा सकता है—

"परमेश्वर कहन्ति, देवि शुणन्ति। शुण देवि पार्वति
मालव बोलि देश, तहिं पाटलि बोलि नग्र, तहिं वीर विक्रमाजित
बोलि राजा। से राजा महाप्रतापी। से कटकर अनेक महिमा।
घरे घरे सुवर्ण कलस बसान्ति। धवलमये पुर, अति सुन्दर।
सुवर्ण कलस ऊपरे नेत पताका उड़ान्ति। चउराशि हाट बसान्ति।
मेढ़, मण्डप, अटलि, देउल, जगती, कूप, पुष्करिणी अति अल्प
लोके बसान्ति। हस्तिंकर घण्टा रब, घोड़ांकर खिरीखिरारव
पादान्तिकर मुख राव। चतुरंग बल, नवकोटि भण्डार। अनेक
राजा माने से राजाकु खटन्ति।"

भुवनेश्वर शिलालिपि (१३ शताब्दी)

"स्वस्त श्री वीरनरनार सींघ देवश प्रव्रधमाने बीजे राजे सम्बत ११ श्राहि कात्त्रीक क्रीष्ण ७ रबीबारे श्री कीत्तिवास खेत्रं सीधेश्वर मठर बड़नरसींघ देवंकर आश कामार्थ पूर्वके वाघमरा बारबाटी भूमि एकादश रूद्र भाषा देवा भूमि संमधे तपराज माहामुनीं। दुग्गा भट आचार्य के वंधा कला। ए माढ़ सत देढ़ १५० उत्रेश्वर नाएंकंकर तह घेतल्ला ए माढ़ दश धान्य पौटी त्रि:सेक तपराज माहामुनी। ए दुइ धान्य सुना दुग्गा भट्टे उत्रेश्वर नाएकंके देइ अंक कला।।"

१३वीं शताब्दी के इस शिलालेख की भाषा से सोमनाथ व्रतकथा की भाषा अधिक उन्नत तथा विकसित है।

सारला दास के बाद ओड़िया गद्य साहित्य की भाषा के नमूने के लिये इन उद्धृतांशों को ग्रहण किया जा सकता है।

मार्कण्डदास—महाकवि सारलादास के बाद ओड़िया साहित्य में मार्कण्डदास जी की मधुर तान सुनाई पड़ती है। ओड़िशा में मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र तथा लीला-पुरुष श्री कृष्णचन्द्र का चरित प्राय: प्रत्येक कवि की कविता का विषय रहा है। आदि महाकवि के बाद मार्कण्ड दास ने विष्णु के अवतारी श्री रामचन्द्र तथा श्री कृष्णचन्द्र दोनों के विषय में रचनाएँ की हैं।

उनके द्वारा रचित "केशव कोइली" उत्कल के गाँव गाँव में समादृत है। वसन्तागमन के समय कोयल अपने मधुर कू-कू कूजन से अपूर्व आनन्द की सृष्टि करती है। नरनारियों के हृदय

में चंचलता भर जाती है और उनकी सुप्त भावराशि जागृत हो जाती है। वे कोयल को अपने हृदय की करुण-विषादपूर्ण कहानी सुनाकर अपने जी को कुछ हलका कर लेते हैं। ओड़िया कवियों ने कोयल को पुत्र-विरह—विधुरा माता तथा कान्तविरह विधुरा कान्ता के शोक भाव के मर्मज्ञ रूप में मानकर कई कोयल संबंधी कविताएँ रची हैं। मार्कण्ड दास की "केशव कोइली" ओड़िया-साहित्य की प्रथम कोयल-कविता है। यह कविता मथुरा-गमन के समय श्री कृष्ण जी के विरह में आतुर माता यशोदा के हृदय-विदारक आकुल-करुण-उच्छ्वास से पूर्ण एवं चौतिशा नियम के अनुसार लिखित है। इसके हरेक पद में वात्सल्य रस की मन्दाकिनी प्रवाहित हो उठी है जो प्रत्येक हृदय को छू लेने में पूर्ण समर्थ है। अंग्रेज कवि शैली का कहना है कि करुणापूर्ण भाव ही साहित्य की मधुरतम कविता है—(Our sweetest songs are those that tell of saddest thought) इस दृष्टि से 'केशव कोइली' छोटा होने पर भी ओड़िशा के मधुरतम काव्यों में अन्यतम है। निम्नांकित पंक्तियाँ वात्सल्य रस से सराबोर कारुण्य की उत्ताल तरंगें हैं—

कोइली, खण्ड खीर देबि मुं काहाकु
खाइबार पुत्र गला मथुरा पुरकु लो कोइली।।
कोइली गला पुत्र बाहुड़ि नइला
गहन त बृन्दाबन शोभा न पाइला लो कोइली।।
कोइली घर मोर न मणन्ति नन्द,
घटण नदिशे पुर न थिले गोबिन्द लो कोइली।।
कोइली नन्द देह पाषाणे गढ़िला
नयने कज्ज्वल देइ रथे बसाइला लो कोइली।

(केशव कोइली)

उनका दूसरा ग्रन्थ महाभाष है। इसमें परम ब्रह्म श्री रामचन्द्र जी की महिमा वर्णित है। "श्री रामचन्द्र के ध्यान में ही ज्ञानोदय होता है"—यही इस ग्रन्थ का मूल विषय है। कैलाश के एकान्त में महादेव पार्वती जी को इस ब्रह्मज्ञान की कथा सुना रहे थे। पर पार्वती के सो जाने पर शुकपक्षी के रूप में शुकदेव ने वृक्ष के कोटर से हुँकारी भरते हुए सारी कथा सुन ली। यह जान-कर महादेव उनकी हत्या करने को उद्यत हुए, पर वे वहाँ से भाग गये और बाद में इस लब्ध ब्रह्मज्ञान को संसार में प्रचारित कर दिया। महाभाष में परम ब्रह्म श्री रामचन्द्र जी को लक्ष्य कर शुकदेव द्वारा सारा उपदेश प्रचारित किया गया है।

महाभाष तत्वज्ञान संबंधी उच्च कोटि का ग्रन्थ है किंतु मार्कण्ड दास जी की केशव कोइली उससे कहीं अधिक जनप्रियता और प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है।

बाद में महापुरुष जगन्नाथ दास ने इस काव्य की व्याख्या करते हुए 'अर्थ कोइली' की रचना की है। केशव कोइली यदि देश में व्यापक तथा प्रसिद्ध न हुआ होता तो जगन्नाथ जैसे महापुरुष इस छोटे से ग्रन्थ को इतना महत्व न देते। प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिये प्रत्येक काव्य

अरुण कोमल आखि। अमर कातर देखि।
प्रसन्न बदन तार। मूरति सार ये।

अहल्या के गर्भ से बालि और सुग्रीव के जन्म-वृत्तान्त का वर्णन जिस तरह अर्जुन दास ने किया है उसी तरह परवर्ती युग में बलराम दास ने भी अपने जगमोहन रामायण में किया है।

अर्जुन दास ने हनुमान की माता को अंजना न कहकर यमजानी कहा है। उनके मतानुसार अंजना का जन्म गौतम के औरस द्वारा अहल्या के गर्भ से हुआ था। रामविभा की भाषा, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार उत्कृष्ट हैं।

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि उस समय ओड़िशा में क्रमानुसार शैव धर्म, शाक्त धर्म तथा वैष्णव धर्म की प्रधानता थी। भुवनेश्वर के शिलालेख, कलसा चौतिशा, रुद्रसुधानिधि और सोमनाथ व्रत कथा शैव धर्म की, सारला दास के महाभारत, चण्डीपुराण, और बिलंका रामायण शाक्त धर्म की तथा केशव कोइली, महाभाष और रामविभा वैष्णव धर्म की प्रधानता के द्योतक हैं। मार्कण्डदास, अर्जुनदास तथा बाद के कई कवियों ने राम और कृष्ण को विष्णु-अवतार मानकर समान रूप से उपासना की है।

कपिलेन्द्र देव—इन्हीं से ओड़िशा में सूर्यवंशीय राजाओं का शासन आरंभ होता है। इन राजाओं का राज्य-काल सन् १४३५ से १५४० ई० तक था। इस वंश के प्रथम राजा कपिलेन्द्र देव (१४३५-१४६८) हैं। इनके द्वारा रचित परशुराम विजय नामक एक संस्कृत नाटक प्राप्त हुआ है। अमर राग में लिखित इसके ओड़िया संगीत का उद्धरण नीचे दिया गया है। इससे प्रतीत होता है कि बौद्ध गान ओ दोहा युग से धार्मिक गीत और पुराण आदि दाण्डिवृत्त में लिखित होने पर भी निर्द्दिष्ट स्वरबद्ध संगीत का अभाव न था। इसके पूर्व बच्छादास के द्वारा रचित कलशा चौतिशा के विषय में कहा जा चुका है। कलशा चौतिशा जैसी लंबी रचनाओं को उत्कल के लोग छांद या गीत कहते हैं। किंतु श्रृंखलित और निर्दिष्ट स्वरबद्ध लघु रचनाएँ ही संगीत हैं।

कपिलेन्द्र देव रचित संगीत

(अमर रागेण गीयते)

केवण मुनि कुमर परशु दक्षिण कर
वामेण शोहे धनुशर ना
कोपेण बोलइ बीर त तु जे मो बधिलु तात।
आज तोर छेदिवइँ माथ ना
शुण राजन हो। किए तोर राज्ये ब्रह्म बधे ना।।१।।
ए तोर चन्द्र बदन मेघे कि ढांकिला जन्ह
ताहा देखि विचल मो मन ना
आवर देख अरष्टि राज्ये तो रुधिर वृष्टि
पुर बेढ़ि रोदन्ति श्रृगाल ना।।२।।

दामोदरदास—ये कपिलेन्द्र देव के समसामयिक तथा "रसकुल्या चौतिशा" नामक प्रसिद्ध काव्य के रचयिता हैं। इस चौतिशा में श्रीकृष्ण के लिए श्री राधा का नवानुराग, उच्चाट, उद्वेग और दूती के द्वारा दोनों के मिलन आदि का वर्णन है। दामोदर कवि ने श्री राधा के नवानुराग को सुललित और परिमार्जित भाषा द्वारा एक दक्ष चित्रकार की भाँति चित्रित किया है। चौतिशा की भाषा से यह अच्छी तरह क्रमानुसार प्रकट हो जाता है कि ओड़िया भाषा किस प्रकार शनैः शनैः कमनीय रूप धारण कर रही थी। इस रचना में रसों का आधिक्य है, इसीलिए कवि ने इसे रसकुल्या चौतिशा नाम दिया है।

इसमें प्रयुक्त वृत्त कवि की अपनी सृष्टि है जो ओड़ियासाहित्य के लिए सर्वथा अभिनव प्रयोग है। बाद के कवियों ने इस रचना का अनुसरण किया है और आधुनिक युग में भी कवि इस जनप्रिय वाणी को अपनाते चले आ रहे हैं। रसकुल्या चौतिशा के नामानुसार ही इस वृत्त का भी नामकरण हुआ है।

इसके पूर्व बच्छादास के कलसा वृत्त के विषय में कहा जा चुका है। ओड़िया संगीत में मूर्च्छनामय गीत रचना के लिये ही भाषा के श्रेष्ठ कवियों ने कलसा तथा रसकुल्या जैसे वृत्तों का आविष्कार किया है। अपनी संगीतात्मक विशिष्टता के कारण ओड़िया के ये वृत्त स्वभावतः स्वतःस्फूर्त एवं अभिव्यंजक हैं।

परवर्ती ओड़िआ का मधुर साहित्य इन वाणियों के उद्भावकों का चिरऋणी है।

रसकुल्या की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

चल सहचरी ! चान्द चहट चउवर्ग दानी नीप निकट
चंचलापतिंक पाशे जणाइ चाण्डे घेनिआ पहण्ड मणाइ।
चतुरानन जा दास गो
चन्द्रशेखर पलक न टलइ चाहिं चक्रधर वेश गो।

कई समालोचकों का मत है कि चैतन्यदेव के आगमन के पूर्व राधाकृष्ण की प्रेमसंबंधी कविताएँ नहीं लिखी गई थीं। किंतु कवि दामोदर की चौतिशा इस धारणा को निर्मूल सिद्ध करने में पर्य्याप्त है।

नीलाम्बरदास—दामोदर दास की तरह ये भी कपिलेन्द्र देव के समसामयिक हैं। ये जैमिनी भारत, पद्मपुराण, रुद्रस्तुति तथा देउल तोला के रचियता हैं। इन्होंने जैमिनी भारत तथा पद्मपुराण में कई उपाख्यान अपनी कल्पना से और कई उत्कल की परम्परा से लेकर लिखे हैं। उनकी रचनाओं की भाषा सरल, तरल तथा सावलील है। इन्होंने केवल श्रीकृष्ण लीला गान ही किया है। इनकी रचनाओं में श्री राधा-कृष्ण की युगल रस-माधुरी का भरपूर चित्रण है।

बंकिम चाहाणी तार अंजन नयन
दुइ पाख जने देखि होइबे उच्छन्न।

रसाणिला तीक्ष्ण शर अटइ से पुणि
याहाकु बिन्धइ सेहि लोटइ धरणी। (पद्मपुराण)

चैतन्यदास—चैतन्य दास बौद्धधर्म की महायान शाखा से प्रभावित वैष्णव हैं। इनकी विष्णुगर्भ पुराण तथा निर्गुण माहात्म्य नामक दो रचनाओं की खोज की जा चुकी है। उत्कल में बहुत काल तक महायान मत का प्राबल्य था। किंतु इस मत के साहित्य-ग्रन्थ यहाँ नहीं मिलते। इस दृष्टि से विष्णुगर्भपुराण का मूल्य अधिक है। ब्राह्मण धर्म के आक्रमण से जब बौद्धधर्म का अस्तित्व लोप होने जा रहा था उसी समय महायान पन्थ का आविर्भाव हुआ था। बौद्ध यति नागार्जुन ने ब्राह्मण धर्म के सृष्टि-तत्त्व से कुछ समानता रखते हुए, महायान पन्थ की सृष्टि की थी। विष्णु-गर्भ पुराण में लिखित सृष्टि-तत्त्व अधिकांश महायानी सृष्टि-तत्त्व के अनुरूप है।

विष्णुगर्भ पुराण में लिखा है कि अलेख से अखिल सृष्टि निःसृत हुई है। अलेख का रूप, वर्ण या चिह्न कुछ नहीं है। वह निर्गुण निराकार है। अलेख शून्य से मिलकर महाशून्य में रहता है। सृष्टि की इच्छा से अलेख महाविष्णु के रूप में आविर्भूत होकर अपने गर्भ में करोड़ों ब्रह्माण्डों की सृष्टि करता है, अतएव उसके गर्भ को विष्णु-गर्भ कहा जाता है। विष्णु-गर्भपुराण में सनक वक्ता तथा सौनक श्रोता हैं। परन्तु संस्कृत पुराणों में सूत वक्ता हैं। अलेख ने उत्तर, दक्षिण आदि चारों दिशाओं और नीचे तथा ऊपर के लिये विशिष्ट रंग के विभिन्न छः विष्णुओं और उनके लिये केवल चार ब्रह्माओं की सृष्टि की थी। चैतन्य दास ने निर्गुण और निराकार के उपासक होते हुए भी सगुण रूप की उपासना को भी स्वीकार किया है। उनके मतानुसार जीवात्मा का बन्धन माया और काल के द्वारा संघटित है। योग-साधना के द्वारा अलेख का स्वरूप-दर्शन हो जाने पर जीवात्मा की मुक्ति हो जाती है तथा योग-साधना के लिये मनुष्य शरीर के षट्चक्र की एकान्त आवश्यकता है।

देवताओं के शरीर में इस षट्चक्र का अभाव है अतः वे योग साधना के योग्य नहीं हैं तथा अलेख की पूर्ण उपलब्धि के लिये अक्षम हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार विष्णुधर्मरक्षक या स्वयं-धर्म है। इस ग्रन्थ में महायानी के आदि धर्म या आदि प्रज्ञा के विषय में कोई उल्लेख नहीं है, यह पुराने ग्रन्थों की तरह दाण्डिवृत्त में लिखा गया है। नीचे कुछ उदाहरण दिये गये हैं:—

अलेख का सगुण प्रकाश

अलेख पुरुष ये अटइ महाशून्य
आकार नाहिं अणाकार ताहार परमाण।
तेणु करि अलेख मनरे विचारिले
आकार स्वरूप त नोहिला मोर तुले।
आकार स्वरूप मान होइब येउँ रूपे
सेहि विधिमान मुं करिबि यथा कल्पे।

एते बोलि अलेख मायाकु जात कला
से माया जात होइ कल्प लता धइला।
प्रथमे आकारेक ये धइले निराकार
निराकार तहुँ आकार धइला बेदबर।
ब्रह्माकंर तहुँ ये आबर सृष्टि माने
तहुँ आकार रूपे होइले लोक रक्षापाल गणे।
एमन्त भावे अरूप रूप प्रकाशिला
से रूपरे आसि अलेख गुपते लीला कला।

विष्णु गर्भ

रख रख बोलन्ते एक ज्योति प्रभा मण्डल
प्रलय जलरे आसि होइला मते स्थल।
येउँ रूपे कइवर्त्त जलरे मीन धरे
से ज्योति प्रभा कला मोते सेहि परकारे।
से ज्योति प्रभा हेला येसने महाजाल
छाणि करि मते नेइ लगाइला कूल।
देखि आचम्बित जे होइलि मनर
मोते लागिला जेसन स्वप्नर आकार
स्वप्ने देखि जेह्ने अदभूत कर्ममान
चेति बसिले जेसन नुहइ परमाण।

चैतन्य दास के मतानुसार विष्णुगर्भ में समा जाना ही काल और माया के प्रभाव से पूर्ण मुक्ति पाना है। परवर्ती युग में महिमा गोसाइँ ने अलेख तत्त्व को ग्रहण कर महिमा धर्म का प्रचार किया है। पर महिमा धर्मावलम्बी चैतन्य दास उनके सृष्टि तत्त्व को न मानकर हिन्दू पुराणों के सृष्टितत्त्व को मानते हैं। यह एक ज्वलंत दृष्टांत है कि काल के प्रभाव में पड़कर अलेख पन्थी हिन्दूपुराणाश्रयी हो गये थे।

चैतन्य दास प्रणीत "निर्गुण माहात्म्य" उनके धर्ममत और प्रतिभा दोनों का परिचायक है। इसमें यह सिद्ध किया गया है कि बुद्ध ही अलेख (परम ब्रह्म) के अवतार हैं। अन्य अवतारों ने अपनी करनी के लिए प्रायश्चित्त किया है पर बुद्ध नित्य, शुद्ध और पूर्ण थे। विष्णुगर्भ पुराण तथा निर्गुण माहात्म्य पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि महायान धर्ममत तथा वैष्णव धर्म मतों में समन्वय स्थापन करने के लिए साधक चैतन्य दास ने लेखनी उठाई थी। शायद उसके पहले बौद्ध धर्मावलम्बी और बाद में हिन्दू वैष्णव धर्म की ओर झुकने वाले अनेक लोगों ने चैतन्य दास द्वारा प्रतिपादित तत्त्व के अनुसार ही अपनी अपनी धर्म धारणा को नियंत्रित किया था। उन लोगों के लिये इसी प्रकार के ग्रन्थ की आवश्यकता थी। आज तक निराकारवादी महिमा धर्मियों के बीच

इस ग्रन्थद्वय का यथेष्ट आदर है। ओड़िया साहित्य का इतिहास उत्कल के भिन्न-भिन्न युगों में प्रतिष्ठित भिन्न-भिन्न धर्मों का भी इतिहास है। बौद्धगान ओ दूहा, विष्णुगर्भ पुराण और निर्गुण माहात्म्य उत्कल में बौद्धधर्म की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के परिचायक हैं।

निर्गुण माहात्म्य की निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टान्त-स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं—

ज्ञान और कर्म

काष्ठ भितरे अग्नि थाइ। काष्ठकु न पारइ दहि
मन्थिले करि बाहुवल। तक्षणे जन्मइ अनल
जन्मिण धरे तेज उष्म। तक्षणे काष्ठ करे भस्म।
सेहि प्रकारे देब हरि। अग्नि स्वरूपे भूते पूरि
ज्ञान मन्थन कले नित्ये। प्रकाश ह्वन्ति पंच भूते।
तेबे से पापकु नाशइ। जीवकु अभय कराइ।

कर्म-काण्ड की निन्दा

कर्म देखाइ वेद कहे। कर्म प्राणींक मन मोहे।
कहुछि जीव मुक्ति खोजि। जीव कर्म न पारे बुझि।
जीव परम कर्म करे। से कर्म फल क्षरे वले।
तरिबा लाभे थाइ आश। बाहुड़ि हुअइ निराश।

कवि का परिचय

शुद्रकूले मो अवतार। जात मोहर मालाकार
ये मोते देला जन्म कर्म। कहिबि माता पिता नाम।
दादींक नाम धर्मोत्तर। पितांक नाम बुद्धेश्वर।
मातांक नाम मेघावती। से मोते जन्म कले क्षिति।
गुरुंक नाम ध्यान दास। से देले ज्ञान उपदेश।

वीरसिंह—वीरसिंह सिद्ध बौद्ध संन्यासी (नागान्ति बौद्ध) थे। उनका आश्रम पुरी जिले में प्राची नदी के तट पर था। वे तामिल देश के निवासी और रसायन विद्या में निपुण थे। १५वीं शती के कवि महापुरुष अच्युतानन्द ने अपने शून्य संहिता में लिखा है कि वीरसिंह, लोहीदास तथा बालिगां दास आदि बौद्धयोगी प्राची नदी के किनारे आश्रम बनाकर योगाभ्यास में निमग्न रहते थे। आगे यह भी लिखा है कि गोरख और मल्लिका भी प्राची नदी के किनारे पर्वत-गुहा में रहकर तपस्या करते थे। वीरसिंह द्वारा ओड़िआ भाषा में लिखित एक चौतिशा प्राप्त हुई है जो बौद्ध रहस्यवाद से परिपूर्ण है।

बालिगाँदास—ये भी एक सिद्ध बौद्ध योगी थे। इन्होंने "आगत भविष्य" के नाम से एक पुस्तिका लिखी है जिसमें भविष्य में घटनेवाली घटनाओं को रहस्यवादी ढंग से लिखा गया है। भाषा सरल तथा बोधगम्य है।

पंच सखा या पंच महापुरुष

बलरामदास, जगन्नाथदास, अच्युतानन्द दास, यशोवन्त दास तथा अनंतदास।

उत्कल में प्रतापरुद्र देव के राज्यकाल में वैष्णव धर्म का अभ्युदय हुआ था। प्रताप रुद्रदेव सूर्यवंशी राजा थे। उनका राजकाल सन् १४९५ से १५४० ई० तक था। उन्हीं के समय में श्री चैतन्य देव का उत्कल में शुभागमन हुआ था जिन्होंने २५ वर्षों तक पुरुषोत्तम क्षेत्र में निवास किया था। उन्हीं के कारण उत्कल में शुद्धा-भक्ति की धारा पनपी थी। कहा जाता है कि उत्कल में पहले से ही बौद्ध धर्म की महायान शाखा का प्रभाव था और उसी से प्रभाव ग्रहण कर कवि चैतन्यदास ने विष्णुगर्भ पुराण तथा निर्गुण माहात्म्य की रचना की थी। बौद्धधर्म की बज्रयान शाखा का प्रभाव भी उत्कल में था। इसलिए शुद्ध भक्ति की धारा के अतिरिक्त योगमिश्रा या ज्ञानमिश्रा धारा भी प्रवाहित हुई। गोरख, मल्लिका, वीरसिंह और बालिगाँदास आदि इसी योगमिश्रा या ज्ञान-मिश्रा भक्ति-धारा से प्रभावित थे। बलरामदास, जगन्नाथदास, अच्युतानन्द दास, यशोवन्तदास और अनन्तदास में प्रत्येक सिद्ध योगी तथा कवि थे। साधनपन्थ तथा गुरुमन्त्र में थोड़ा बहुत प्रभेद होने पर भी ये सब योगमिश्रा या ज्ञानमिश्रा भक्ति-धारा के सुदक्ष परिचालक थे। इस प्रकार इन्होंने बौद्धगान ओ दूहा युग से लेकर पंचदश शताब्दी तक उत्कल में प्रचलित जातीय परम्परा पर पूर्ण प्रकाश डाला है।

किंतु ये उत्कलीय शुद्धाभक्तिधारा के उपासक नहीं थे। इससे उन्हें कोई विरोध था। ये योगनिष्ठ साधक थे। इनमें और योगमिश्रा तथा ज्ञानमिश्रा भक्ति साधना में इतना साम्य था कि वे उत्कल में पंचशाखा (एक महावृक्ष के पाँच अंग) के रूप में विख्यात हो गये, यह मानकर कि शुद्धाभक्ति में योगमिश्रा या ज्ञानमिश्रा भक्ति की परिणति एक परम गति ही है, उन्होंने श्री चैतन्य को गुरुरूप में ग्रहण किया। इसीलिए श्री चैतन्यदेव ने उनकी साधना तथा सिद्धि को खुले रूप में स्वीकार किया। वे चैतन्यदेव के पंचशाखा के रूप में विख्यात हो गये। इस पंचशाखा के धर्म मत से उस समय की तांत्रिक ब्राह्मण मंडली ऊब गई थी। उन लोगों ने राजा के सम्मुख जाकर पंच सखा के योगमिश्रा या ज्ञानमिश्रा धर्म की निन्दा की और उनकी सिद्धि के प्रति उनके मन में सन्देह उत्पन्न कर दिया। तब प्रतापरुद्रदेव ने अनेक बार उनकी कठिन परीक्षा ली और उन्हें योग्य पाकर वे उनकी सिद्धि के प्रति संदेह-रहित हो गये। यही नहीं, वे उन्हें गुरु के समान मानकर सम्मान देने लगे। उन्हीं पंच सखाओं के समय से आज तक उत्कल में शुद्धाभक्ति के साथ ही साथ योगमिश्रा या ज्ञानमिश्रा भक्तिधारा अखण्ड रूप से प्रवाहित हो रही है। उत्कल के वैष्णव धर्मा-वलम्बी या तो शुद्धाभक्ति पंथ के आश्रयी या योगमिश्रा तथा ज्ञानमिश्रा पन्थ के आश्रयी हैं। ब्रिटिश युग के पूर्व ओड़िया का धार्मिक साहित्य इसी के प्रभावानुसार दो भागों में बँट गया था।

पंचसखा या पंच महापुरुष प्रतिभाशाली कवि थे। उन्होंने धर्म मत स्थापन के लिए शक्तिशाली साहित्य की सृष्टि की थी। उत्कल के जातीय जीवन में पहले तो जैनधर्म और बाद में बौद्धधर्म के महायान और बज्रयान पन्थों का जो प्रभाव पड़ा उस संबंध में महापुरुष अच्युतानन्ददास ने कहीं-कहीं लिखा भी है। अतएव यह कहा जा सकता है कि बज्रयान के प्रवृत्तिमार्ग से प्रभाव न ग्रहण कर उन्होंने निवृत्ति मार्ग का आश्रय लिया था। उनकी किसी भी कृति में स्वेच्छाचार का समर्थन नहीं किया गया है। इन्द्रिय-दमन उनका ध्येय था।

इसी सिलसिले में यह भी उल्लेखयोग्य है कि चैतन्य देव इन पंचसखाओं की योगमिश्रा या ज्ञानमिश्रा भक्ति धारा को स्वीकार करते थे। उन्होंने अन्यतम महापुरुष जगन्नाथदास को अत्यंत ऊँचा पद दिया था। इसीलिए उनके वंशगत भक्त प्रतिवाद करने लगे थे और पुरीधाम को त्याग कर वृन्दावन में रहने लगे थे। उन्होंने वैष्णव सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत महामन्त्र—

"हरे राम हरे राम। राम राम हरे हरे
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे," को बदलकर
"हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्णकृष्ण हरे हरे
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे,"

कर दिया था। कृष्ण दास कविराज के "चैतन्य चरितामृत" वृन्दावन दास के "चैतन्य भागवत" और लोचनदास के चैतन्य मंगल आदि बंगीय ग्रन्थों में प्रसिद्ध पंच सखाओं के प्रभाव का उल्लेख नहीं है। कारण सुस्पष्ट है।

इस प्रसंग में पंचसखा के परवर्त्ती कवि दिवाकर दास ने अपने "जगन्नाथचरितामृत" में श्री चैतन्यदेव तथा महापुरुष जगन्नाथदास के संबंध में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी हैं:—

वैष्णव बृन्द येते थिले। देखि एमन्त विचारिले।
उत्कली ब्राह्मण संगते। भाव बढ़ाइले निरते।
एहि राज्यरे ए रहिबे। उत्कली कर्म आचरिबे।
ए संग छड़ाइबा आम्भे। एमन्ते विचारि आरंभे।
बोइले उत्कली ब्राह्मण। अण उपदेशी आपण।
एहाकु कर्म करिबारे। निषेध अछइ शास्त्ररे।

× × ×

अतिबड़ बोलि बोलन्ते। वैष्णवे दुःख कले चित्ते।
ओड़िया ब्राह्मण अणाइ। बोइले अति बड़ एहि।
आज पर्यन्त सेवाकलु। समस्ते सान पदे गलु।
एहांक संगे येबे थिबा। एहि कथा सिना शुणिबा।

पुरुषोत्तमे येते गति । से कथा छाड़ि अन्य रीति ।
हरे राम कृष्ण छाड़िले । हरे कृष्ण राम भाबिले ।
युगल गायत्री छाड़िले । काम गायत्री आश्रे कले ।
हरि मन्दिर त्याग कले । कवि तिलक आराधिले ।
छाड़ि जगन्नाथ मूरति । मदन मोहने पीरति ।
कलप तरु आश्रे छाड़ि । कदम्ब तले थान्ति पड़ि ।

उपरोक्त विषयों को दृष्टि में रखकर हमें पंचसखा साहित्य तथा उसमें स्थित धर्म भाव के विषय में विचार करना पड़ेगा। पंचसखा युग केवल उत्कल में ही नहीं, उत्तर भारत में भी नूतन धर्मोदय का युग है। इस विषय में कबीर, नानक, सूरदास और तुलसीदास का पुष्कल धार्मिक साहित्य स्मरण योग्य है।

बलरामदास––ये पंचसखाओं में सबसे ज्येष्ठ थे। उनका जन्म सन् १४७२ ई० में हुआ था। उनके पिता का नाम सोमनाथ महापात्र तथा माता का नाम जम्बुवती था। सोमनाथ उत्कल के गजपति महाराज के अन्यतम मंत्री थे।

बलरामदास ने योगमिश्रा या ज्ञानमिश्रा भक्ति साधना के द्वारा सिद्धि प्राप्त की थी। चैतन्य-देव के उत्कल पहुँचने के पूर्व बलराम कुछ प्रसिद्धि पा चुके थे। चैतन्य के आगमन के बाद उनके निर्देशानुसार उन्होंने अन्यतम महापुरुष जगन्नाथ दास को दीक्षा प्रदान की थी। बलरामदास की भक्ति-विह्वलता देखकर श्री चैतन्य देव उन्हें मत्त बलराम दास कहते थे। उत्कल के गजपति प्रतापरुद्र देव के राज-दरबार में उन्हें कई परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के लिए अपनी सिद्धि तथा अलौकिक शक्ति का प्रमाण देना पड़ा था।

बलरामदास ने बहुत सी कविताएँ कीं तथा ग्रन्थ लिखे हैं। यथा––जगमोहन रामायण, श्रीमद्भगवद् गीता, वेदान्त सार, बट अवकाश, भाव समुद्र, गुप्तगीता, ब्रह्मांड भूगोल, बेढ़ा परिक्रमा, कमल लोचन चौतिशा और कान्त कोइली।

जगमोहन रामायण एक श्रेष्ठ कृति है। यह सारला महाभारत के सदृश दाण्डिवृत्त में लिखा गया है। अर्थात्––दो दो पंक्तियों में एक पद होते हुए भी उनमें वर्ण-संख्या समान नहीं है। पहले कहा जा चुका है कि बौद्धगान ओ दूहा से ही धर्म साहित्य रचना के लिए इस वृत्त का प्रयोग चला आ रहा है। अनुमान है कि संस्कृत के दण्डक वृत्त से दाण्डितवृत्त शब्द निकला है।

जगमोहन रामायण संस्कृत के बाल्मीकी रामायण का अनुवाद नहीं है। यह हिंदी के तुलसी रामायण तथा तामिल के कम्ब रामायण के समान एक स्वतंत्र रचना है। विषय वस्तु अवश्य ही मूल रामायण से गृहीत है, फिर भी उसकी बहुत सी कथाओं को कवि ने अपनी कल्पना से बढ़ाया घटाया है। जगमोहन रामायण-उत्कलीय जीवन के साथ इस प्रकार से संबद्ध है मानों बलरामदास उसमें ओड़िया जाति के हृदय की बात लिपिबद्ध कर गये हों। उत्कल में यह अभी तक अपने ढंग का बेजोड़ रामायण है। परवर्ती युग में कृष्णमोहन पटनायक आदि कई कवियों ने मूल रामायण

के अनुसरण पर रामायण लिखे हैं, किंतु जगमोहन रामायण के समान कोई भी जनप्रिय नहीं हो सका है। कवि-सम्राट् उपेन्द्र भंज ने "वैदेहीश-विलास" महाकाव्य के मूलछन्द में बलरामदास को जनपरिचित कृपासिद्धि पद प्रदान कर यह प्रकट किया है कि वे जगमोहन रामायण के कितने ऋणी हैं। श्री जगन्नाथ महाप्रभु की कृपा से सिद्ध बलरामदास गजपति प्रताप रुद्रदेव के द्वारा परम गुरु के रूप में सम्मानित हुए थे। वे महापुरुष जगन्नाथ दास के भी गुरु थे। बलरामदास लिखित जगमोहन रामायण सारला महाभारत के समान ओड़िया जाति की अमूल्य निधि है। दोनों महाकाव्यों के रचयिता युग-युग तक ओड़िया जाति के नमस्य होकर रहेंगे क्योंकि भारत के दो प्रसिद्ध महाकाव्यों को ओड़िया रस देते समय इन्होंने ओड़िया जाति के वीरत्व, परम्परा, धर्मधारणा आदि का सन्निवेश कर उत्कली जातीय जीवन को दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित किया है। कहना न होगा कि योरोपीय जीवन में ओड़ेसी तथा इलियड के समान सारला महाभारत और दाण्डि रामायण उत्कल में सर्वदा सर्वमान्य रहेंगे।

ऊपर कहा जा चुका है कि जगमोहन रामायण मूल संस्कृत रामायण से कई अंशों में स्वतंत्र है। पार्वती ने जब महादेव से पापक्षय तथा रोग-मुक्ति का कारण पूछा तो महादेव ने उनको रामनाम-माहात्म्य और रामचरित सुनाया है। इसी तरह संपूर्ण रामायण हर-पार्वती-संवाद के रूप में है। किंतु संस्कृत मूल रामायण का प्रारंभ इससे भिन्न है। जगमोहन रामायण के कई प्रसंग-ऋष्यश्रृंग जन्म चरित, अगस्त्यचरित, शिवधनु-भंग के लिये बाणासुर, रावण तथा इन्द्र की विफल चेष्टा, परशुराम-चरित तथा सहस्रार्जुन के विरुद्ध उनका इक्कीस बार अभियान और अंत में विष्णु की आराधना के फलस्वरूप सहस्रार्जुन वध आदि वाल्मीकी रामायण से स्वतंत्र हैं। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रसंग हैं। उदाहरण स्वरूप इतना ही बताया जा सका है। तामिल रामायण कंब के रचयिता की भाँति बलराम दास ने भी कई घटनाओं को अपने प्रान्त में घटित माना है। उनका कहना है कि महादेव का स्थान (कैलास पर्वत नहीं) उत्कल का कपिलास पर्वत है। रावण ने उत्कल के बिरजा क्षेत्र में तपस्या कर महादेव से वर प्राप्त किया था। श्री राम के वानर सेनापतियों का जन्म-स्थान उन्होंने उत्कल के कोणार्क, धवलि गिरि, विरजा क्षेत्र या जाजपुर और पुराने देशीय राज्य, बणाइ, बामण्डा और रणपुर, शतश्रृंग गिरि, उदय गिरि और पंचधार आदि माना है। बलरामदास का ओड़िशावासियों के ऊपर इतना प्रभाव था कि वे जो भी लिखते थे उसे वेदवाक्य समझा जाता था। बाद में बहुत से रामायणों की रचना की गई है पर जगमोहन रामायण के समान कोई भी जनप्रिय नहीं हो सके। बलराम दास के परवर्ती कई कवि कवि-सम्राट् उपेन्द्र भंज, धनंजय भंज, महादेव दास, हरिहर दास, काह्नुदास, विश्वनाथ खुण्टिआ, पीताम्बर दास और मागुणि पटनायक आदि जगमोहन रामायण से प्रभावित हुए हैं।

जगमोहन रामायण की भाषा उत्कल की मिट्टी-पानी से परिपुष्ट जन-भाषा है। यह सरल, मधुर तथा सर्व-जनबोध्य है। साथ ही साथ आध्यात्मिक ग्रन्थों के भाव वहन के लिए उपयोगी है। केवल भाव ही नहीं भाषा के लिए भी उत्कल में यह अत्यंत प्रिय है।

बलरामदास की अन्यान्य रचनाओं में 'भावसमुद्र' ओड़िया के भक्ति-साहित्य का अमूल्य

ग्रन्थ है। बलराम दास श्री गुण्डिचा उत्सव में भाव-विभोर होकर अशुचि शरीर से ही श्री जगन्नाथ जी के रथ पर चढ़ गये थे। इससे पण्डों तथा गजपति महाराज के अनुचरों ने उन्हें धक्का देकर निकाला था। हजार-हजार व्यक्तियों के बीच अपमानित तथा विताड़ित होकर बलरामदास ने समुद्र के किनारे बालू में रथ बनाकर योग-बल से तीनों मूर्तियों की स्थापना की थी। फलस्वरूप श्री गुण्डिचा यात्रा बन्द हो गई। बाद में गजपति महाराज ने श्री जगन्नाथ जी के स्वप्नादेश से बलरामदास के अपमानकारियों को दण्ड दिया था और स्वयं जाकर बलरामदास से क्षमा याचना की थी। इसके अनंतर रथ चलने लगा था। अपमान तथा व्यथित हृदय से बलराम दास जी ने श्री जगन्नाथ जी को जो जो करुणावाणी सुनाई थी वह ७४८ पदों में विशिष्ट भाव-समुद्र नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकट हुई है। नीचे नमूने के तौर पर कुछ पद उद्धृत किये गये हैं :—

तिनि पुर मध्ये तुहि बिकाउ
सबुरि दुःख वेदनाहिं फेउ।
नाथ तू सबुरि अमूल्य गण्ठि।
कोटि युग रे तु न पड़ु फिटि
हरिहो
भक्त जनंकर कण्ठर हार
बलिआ दास चिन्ते निरन्तर॥३५३॥
नीलकन्दरे तो प्रसन्न मुख
दर्शने खण्डइ सकल दुःख
नाथ मुँ आन न जाणइ तोरे
तु एका दया करिथिबु मोरे।
हरिहो
तोह पाद पद्मे नित्य मो आश
एते मागुछि बलराम दास॥३५४॥
हरिहो
मोहर पाप सबु दूर जाउ
तोहर मन जे मो तहिँ थाउ
नाथ तू ए कथा आन नकर
तोहर बाना शरण पंजर
हरिहो
बौद्ध कलकि नाना रूप हेउ
बलरामकु पादरे खटाउ॥३५५॥
हरिहो

एका पिण्डरे सात सिन्धु याक
सात ताल फुटे एका काण्डक
नाथ तू सामर्थ सबुठाबकु
किस कहिबि मु प्रभु पणकु
हरिहो
एकाकाण्डके जे बालिकि मारु
दास बलिआकु रखि न पारु ।।३५६।।

इसके अतिरिक्त "पणस चोरि" तथा "बट अवकाश" से मालूम होता है कि उनके ऊपर श्री जगन्नाथ का पूर्ण अनुग्रह था। बट अवकाश से स्पष्ट सूचित होता है कि उस समय ओड़िशा में शाक्त धर्म का प्रभाव था। बलरामदास लिखित पुराण शक्ति पूजा और साधना का द्योतक है। कमल लोचन चउतिशा, कान्त कोइली, वारमासी, बेढ़ा परिक्रमा ओ बउला गाई गीत कोमल संगीत में निबद्ध होने के कारण विशेष जनप्रिय हैं।

उनके ब्रह्मांड भूगोल, गुप्त गीता, ब्रह्मगीता, वेदान्तसार और विराट् गीता आदि योग तन्त्र और वेदान्त से भरपूर हैं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता का ओड़िआ अनुवाद भी किया था। इस प्रकार अमूल्य ग्रन्थों के रचयिता, भक्ति राज्य के कृपासिद्ध बलराम दास अत्यन्त उच्च स्थान के अधिकारी हैं।

महापुरुष जगन्नाथदास—जगन्नाथदास भी अपने दीक्षागुरु बलराम दास की भाँति परमसिद्ध महायोगी थे। ओड़िया साहित्य को उनका दान मूल्यवान् है।

जगन्नाथदास जी का जन्म सन् १४९० ई० में हुआ था। उनके पिता का नाम भगवान दास तथा माता का नाम पद्मावती था। जगन्नाथ आजन्म ब्रह्मचारी और संस्कृत के परम पण्डित थे। कई लेखकों का कहना है कि वे एकाधिक संस्कृत काव्य के प्रणेता भी थे किंतु आज तक उनका एक भी संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है। १६ वर्ष की उम्र में घर-बार छोड़ १८ की उम्र में श्री चैतन्य देव की मण्डली में सम्मिलित हो गये। इतनी छोटी उम्र में ही उन्होंने सिद्धि लाभ की थी। श्री चैतन्य ने उनके अलौकिक गुणों पर मुग्ध होकर उन्हें "अति बड़ी" उपाधि प्रदान की थी। उत्कल में महापुरुष जगन्नाथ ने जिस वैष्णव-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी वह "अति बड़ी" सम्प्रदाय नाम से परिचित है। जगन्नाथ जी २४ वर्ष की उम्र तक श्री चैतन्य देव के साथ रहे और बाद में ६० साल तक पूर्ण योग-निष्ठ साधना में लगकर लोकोत्तर सिद्धि के अधिकारी हुए थे। महाराज प्रतापरुद्रदेव ने उनकी कठिन परीक्षा लेकर, अन्त में गुरुरूप में स्वीकार किया था। ६० साल की उम्र में उन्होंने शरीर छोड़ा था। कहा जाता है कि उनकी आत्मा श्री जगन्नाथ जी के विग्रह में लीन हो गई थी।

उनके रचित ग्रन्थों में भागवत सर्वश्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त दीक्षा संवाद, गुप्त भागवत, गजस्तुति, अर्थ कोइली, तुलाभिणा, पाखंड-दलन, बोले हूँ, मन शिक्षा, ब्रह्मांड भूगोल, भागवत सार,

गीतानाम चन्द्रिका आदि कई छोटे-बड़े ग्रन्थों की रचना की है। ये सभी उत्कल के जनप्रिय ग्रन्थों में गिने जाते हैं।

महापुरुष जगन्नाथ का ओड़िआ भागवत मूल संस्कृत भागवत का आक्षरिक अनुवाद नहीं है। भागवत पाठकों के लिये मनोरंजनार्थ उन्होंने विष्णु, पद्म, ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों के विशेष चरितों के उसी प्रकार नाम देकर मूल भागवत के चरितों के स्थान पर अनुवाद करके लिखा है। इस प्रकार बहुत अंशों में ओड़िआ भागवत संस्कृत भागवत से भिन्न है और लोगों के मन को सुख पहुँचाता है। ओड़िआ की जिस आदि प्रतिमिति को सर्वप्रथम दामोदरदास ने "रषकुल्या चौतिशा" की रचना में किया था वह जगन्नाथ दास के हाथों मँजकर पूर्ण परिपुष्ट हो गयी। परवर्ती काल में कविसम्राट् उपेन्द्र भंज ने 'दिब्य अदिब्य पद रे मानस मोहिब' (दिव्यादिव्य पदों द्वारा मन को मोह लेने वाली भाषा) कहकर उनके काव्य भाषा के जो आदर्श कहे हैं उन सभी को जगन्नाथदास ने ओड़िआ भागवत में चरितार्थ किया था। उत्तर भारत में सन्त तुलसीदास कृत रामचरित-मानस जिस तरह जनप्रिय है उसी तरह या उससे भी अधिक उत्कल में जगन्नाथ कृत भागवत है। उत्कल के देहातों में घर घर 'भागवत गादि' पूजित है। उत्कल के धार्मिकों के लिये "गादिगृह" ही आलोचना पीठ-पाठचक्र या आलोचनाचक्र का स्थान है। पहले ओड़िआ भागवत के कई अंश प्राथमिक शिक्षा के अपरिहार्य अंग के रूप में गृहीत थे। अभी तक मृत्युशय्या के पास भागवत पाठ मुक्ति-पथ की पहली सीढ़ी माना जाता है। इस भागवत में प्रयुक्त गुज्जरीवृत्त, नवाक्षरी भागवत वृत्त के नाम से प्रसिद्ध है। ओड़िआ जातीय जीवन पर जगन्नाथ दास का अपूर्व प्रभाव है।

महापुरुष जगन्नाथदास योगमिश्रा या ज्ञानमिश्रा भक्ति साधना के आश्रयी थे। पाषण्ड-दलन, तुलाभिणा आदि छोटी-छोटी पुस्तकें उसी तत्त्व का प्रचार करती हैं। ये जनप्रिय ग्रन्थ हैं।

महापुरुष अच्युतानन्ददास—श्री अच्युतानन्द दास का जन्म सन् १५०३ ई० में कटक जिलांतर्गत नेमाल के निकट तिलकणा ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम दीनबन्धु खुण्टिया तथा माता का नाम पद्मावती था। ग्यारह वर्ष की उम्र में ही उन्हें आश्चर्यजनक रूप से ब्रह्मोपलब्धि हुई थी तथा गीता, भागवत, मंत्र, यंत्र, तंत्र आदि के तथ्य उनके समक्ष अपने आप प्रकाशित हो गये थे। उन्होंने नित्यानन्द महाप्रभु से दीक्षा ली थी तथा अपने चेलों के साथ ढ़ोल मंजिरा बजा-बजाकर भारत के सारे तीर्थों का परिभ्रमण किया था। पूर्वोक्त महापुरुषों के समान ये भी सिद्ध महायोगी थे और गंगा से लेकर गोदावरी तक के ग्वाला वंश के दीक्षागुरु थे। आज तक उनके वंशधर इस पद के अधिकारी हैं। कृष्ण के प्रति उनकी अगाध भक्ति ने ही उन्हें गोपाल (ग्वाला) वंश के प्रति आकृष्ट किया था। अन्यान्य सखाओं के समान वे शून्य भजन में विश्वास रखते थे और पिण्ड ब्रह्माण्ड के शीर्ष स्थान अर्थात् कपोल को परमात्मा का स्थान मानते थे।

उन्होंने छोटे बड़े सब मिलाकर एक लाख धर्म ग्रन्थ लिखे थे। उनमें ३६ संहिता, ७८ गीता, २७ वंशानुचरित के साथ हरिवंश, १६ उपवंश, १०० मालिका और बहुत सी कोइली, चउतिशा, टीका, विलास, उगाल, गुज्जरी, निर्णय और भजन आदि है।

अपने गुरु के समान उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था तथा क्षत्री रघुराम की कन्या से विवाह किया था। सर्वश्रेष्ठ कृतियों में से हरिवंश, शून्य संहिता, गुरुभक्ति गीता, पद्मकल्प टीका, अष्टगुज्जरी, शरणपंजर स्तोत्र, दूतीबोध चउतिशा, गोपालंक उगाल, उल्लेख योग्य हैं। गुरुभक्ति गीता में वैष्णवों का आचार और कृष्णलीला तथा चैतन्य लीला का विस्तृत वर्णन है।

अन्यान्य गीताओं में योग, तन्त्र और वेदान्त तत्त्व के विषय में लिखा गया है। टीका और मालिकाओं में आगत भविष्य के विषय में कहा गया है। अष्ट गुज्जरी, शरण पंजर, दूती बोध चउतिशा भाव-प्रधान हैं। हरिवंश संस्कृत हरिवंश का अनुवाद नहीं है बल्कि उसमें अच्युतानन्द की निजी भावना है।

ओड़िशा के सहस्रों निवासी उनके शिष्य हैं तथा उनके ग्रन्थों के पूजक हैं।

महापुरुष यशोवन्त दास—चौथे महापुरुष श्री यशोवन्त दास भी अन्य महापुरुषों के समान योगी तथा सिद्ध थे। अनुमान है कि सन् १४९२ ई० में उनका जन्म हुआ था। उन्होंने उपयुक्त शिक्षा प्राप्त की थी। वे संस्कृत के विद्वान् थे। उनका ओड़िया स्वरोदय ग्रन्थ संस्कृत स्वरोदय ग्रन्थ का सुन्दर अनुवाद है। १२ वर्ष की आयु में उन्होंने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था। भारत के अनेक तीर्थों का भ्रमण कर वे अन्त में श्री क्षेत्र पहुँचे और श्री चैतन्य देव से दीक्षा ग्रहण की। उन्होंने गृहस्थाश्रम भी ग्रहण किया था। अढंग के राजा रघुराम की कन्या अंजना के साथ विवाह कर वे अपनी मातृभूमि में ही निवास करते थे। योग और भक्ति-बल से उन्होंने श्री जगन्नाथ जी को वशीभूत किया था और उन्हीं के द्वारा विपत्तियों से त्राण पाया था। उनकी "चौराशी आज्ञा" अत्यंत प्रसिद्ध है। श्री जगन्नाथ जी की कृपा से उनकी साधना में कई अद्भुत बातों का समावेश हो गया था। उनके रचित ग्रन्थों में स्वरोदय, प्रेमभक्ति, ब्रह्मगीता, गीतगोविन्द चन्द्र, गीता राम तथा मालिकाएँ प्रधान हैं। ये सभी जनप्रिय भजन के रूप में प्रचारित हैं। प्रेम, भक्ति ब्रह्मगीता का मुख्य उद्देश्य योग-महात्म्य है जैसे योग-बल से ब्रह्मोपलब्धि तथा ब्रह्मोपासंना होती है, योग-बल से ही गोपीभाव की प्राप्ति होती है तथा श्रीकृष्ण में प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न होता है। योग, तन्त्र तथा वेदान्तों के कई तत्त्व उन्होंने अपने ग्रन्थ में सम्मिलित किये हैं। निश्वास नियन्त्रण के द्वारा उन्होंने इन्द्रिय-दमन का उपाय निकाला था। समाधि अवस्था में किस प्रकार त्रिकुटी पर राधाकृष्ण का नित्य रास देखा जा सकता है, इसके यौगिक उपायों का उन्होंने निर्देशन किया है।

महापुरुष अनन्त दास—पंचम महापुरुष अनन्तदास का जन्म सन् १४९३ ई० में पुरी जिला के बालिपाटणा ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम कपिल महान्ति तथा माता का नाम गौरी था। उन्होंने साक्षात् सूर्य देवता से सूर्यनारायण एकाक्षरी मन्त्र और मन्त्र के साथ अभ्यास के लिए १००० श्लोक भी प्राप्त किया था। उन्हें अनन्त जी की मालिका लिखने तथा श्री चैतन्य देव से दीक्षा ग्रहण करने के लिए आज्ञा मिली थी। उत्कलवासियों में उनसे संबंधित अनेक अद्भुत कृत्यों की गल्प-कथाएँ प्रचलित हैं। चैतन्यभागवत के कवि श्री ईश्वरदास ने लिखा है कि योगबल से शिशु बनकर अनंतजी महालक्ष्मी की गोद में गये थे इसलिये श्री जगन्नाथ ने प्रसन्न होकर उनको

शिशु की उपाधि प्रदान की थी। उसी दिन से वे लोकमुख से भी शिशु अनन्त के नाम से जाने जाते हैं। अनन्तदास की अवधूत कथाओं से यह स्पष्ट हो चुका है कि पहले सन्त लोग मिट्टी को सोना, सोना को मिट्टी तथा कटे अंग वाले व्यक्ति को अंग प्रदान कर सकते थे। ऐसी सत्य कहानियों का नाम चौरांगी कहानी है। इसके द्वारा उस काल के योग-बल का प्रभाव सूचित होता है। अनन्त के कई भजन, चउतिशा तथा गल्प उत्कल में प्रचलित हैं। अन्यान्य रचनाओं में उदय बाखर, छत बाखर तथा टीका बाखर एवं आगत चुम्बक मालिका प्रधान हैं। सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ "हेतूदय भागवत" है। इसमें उनके द्वारा प्रतिपादित मुख्य मुख्य दार्शनिक तत्त्वों का समावेश हुआ है (अन्यान्य महापुरुषों के समान इनके ग्रन्थों में भी योग, तन्त्र, वेदान्त आदि तथ्यों का वर्णन मिलता है। हेतूदय भागवत में उन्होंने लिखा है कि विष्णु का श्रेष्ठ रूप ही मनुष्य के अभ्यन्तर में विद्यमान है। श्री जगन्नाथ बुद्ध के अतिरिक्त और कोई नहीं है। गोपी-प्रेम ही मुक्ति-लाभ का एक-मात्र उपाय है और योग-साधना ही प्रेम की नदी है।

उत्कल में परम्परागत संन्यास धर्म, जैनधर्म तथा बौद्ध धर्म के प्रभाव से योग, शुद्धाभक्ति मार्ग तथा वैष्णव धर्म से आगत ऐकान्तिक भक्ति का सम्मिश्रण हुआ था। पंचसखा उसी संन्यास धर्म के समर्थ प्रतिनिधि हैं। उत्कल में उनकी परम्परा तथा उनके रचित ग्रन्थों का प्रभाव अभी तक है। वे श्री जगन्नाथ जी को परम अवतारी तथा राम-कृष्ण आदि को अवतार मानते थे। उनका विश्वास है कि श्री जगन्नाथ सोलहों कलाओं से सम्पन्न हैं और केवल उनकी एक कला से सम्पन्न नन्द-बाल हैं। यह शास्त्र-विरुद्ध बात नहीं है। क्योंकि महाभारत में अनुगीता कथन के समय श्री कृष्ण ने स्वयं कहा है कि योगावेश के द्वारा उन्होंने परम ब्रह्म की पूर्ण कलाओं को प्राप्त करके श्रीमद्भगवद्गीता की चर्चा की है। किन्तु अनुगीता-कथन के समय वे कलाएँ उनके पास नहीं थीं। भागवत दशम स्कन्ध की द्वारकालीला में यह स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मण की मृत सन्तानों को जिलाने के लिए श्रीकृष्ण अर्जुन को साथ लेकर, महाव्योम में स्थित, परमब्रह्म धाम को गये थे तथा परमब्रह्म के आदेश से मर्त्यलीला ग्रहण की थी। इसलिये पंच सखाओं के साहित्य में "मानव कृष्ण" हैं। नित्य कृष्ण, मर्त्य व्रजधाम की रास लीला, गोलोक धाम की नित्यरास लीला के विषय में पंच सखाओं ने जो कुछ लिखा है उसमें शास्त्रीय आधार है। श्री जगन्नाथ वही नित्यकृष्ण या नित्यराम हैं। पद्मपुराण में भी पुरुषोत्तम क्षेत्र को दशावतार क्षेत्र (अर्थात् जिनसे दश अवतार संभूत हैं उन्हीं दशावतारी श्री जगन्नाथ जी का क्षेत्र) के रूप में वर्णित है। पंच सखाओं के परवर्त्ती कवि देवदुर्लभ दास तथा दीनकृष्णदास भी इसी मत के अनुगामी थे।

विप्रनारायणदास—ये पंचसखाओं के समसामयिक थे। इनका हरिवंश संस्कृत हरिवंश का अविकल अनुवाद नहीं है। कहा जाता है कि अच्युतानंद को इस हरिवंश के पढ़ने का अवसर नहीं मिला अतएव उन्होंने स्वयं हरिवंश की रचना की थी।

राय रामानन्द—ये जाति के 'करण' तथा शुद्धाभक्ति मार्ग के विशिष्ट प्रतिनिधि थे। श्री चैतन्यचरितामृत के महाप्रभु और राय का संवाद प्रसिद्ध है। रामानन्द द्वारा संस्कृत में लिखित श्री जगन्नाथ वल्लभ नाटक प्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थ है। इनकी कृष्ण-लीला-संबंधी व्रजबोली की पदा-

वली प्रकाशित हो चुकी है और प्राचीन बंगीय साहित्य के उत्कृष्ट नमूने के रूप में मानी गई है। श्री चैतन्य देव के आगमन के पूर्व उत्कल में शुद्धाभक्ति धारा कितनी पुष्ट थी, यह बात राय रामानन्द के जीवन चरित से मालूम पड़ती है।

माधवी दासी—श्रीमती माधवी दासी श्री चैतन्यदेव के अन्तरंग भक्तों में से एक हैं। ये भक्त शिखी महान्ति की बहन थीं और शुद्धाभक्ति मार्ग की अनुगामिनी थीं। इनकी ब्रजबुलि में लिखी वैष्णव पदावली बंगीय वैष्णव पदावली में निहित है। नीचे इनके आविष्कृत ओड़िया भजन की कुछ पंक्तियाँ नमूने के लिये दी गई हैं—

'चका नयन हे। जगुजीवन श्री हरि।
कातरे जणाण करुछि छामुरे,
शुण प्रभु श्रुति डेरि ॥०॥
केते संकटु काहाकु रखि नाहँ
दयालु सारंग धारी,
ता वर्नि बसिले पोथिकर पाठ
कि बर्निब ए पामरी ॥१॥

× × ×

जीवन्ती पिंगला आदि बारबाला
संसारु गले निस्तरि
अपार महिमा केतन उड़ाइ
रखिछ कीरति शिरी।
मुँ छार निर्माखी तुम्भर सेवकी—
पणकु अयोग्य नारी।
करुछि दइनि योड़ि कर बेनि
शुण माधबी गुहारी॥

दिवाकरदास—ये महापुरुष जगन्नाथ दास के सम्प्रदायानुयायी थे और १६वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध तक जीवित थे। इन्होंने "जगन्नाथ चरितामृत" तथा "एकादशी महात्म्य" नामक दो ग्रंथों की रचना की थी।

शिशु शंकरदास—अनुमान है कि इनका जन्म पंद्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ था। अर्जुन दास के "राम विवाह" के पश्चात इनके द्वारा रचित "उषाभिलाष" छन्द-बद्ध काव्य के रूप में प्रसिद्ध है। श्रीमद्भागवत तथा खिलहरिवंश की कथावस्तु को लेकर कवि शिशु शंकर ने इस मनोहर काव्य-सौध की सृष्टि की थी। कहा जाता है कि ये संस्कृत के बड़े विद्वान् थे। इनकी भाषा प्राचीन होते हुए भी परिमार्जित और प्रसादपूर्ण है। उत्कल के परवर्ती काव्य लेखकों पर उषाभिलाष का बहुत प्रभाव पड़ा है। यहाँ तक की कवि-सम्राट् उपेन्द्र भंज (१६८५-१७२५)

ने अपने प्रसिद्ध काव्य लावण्यवती को इसी उषाभिलाष छन्द में लिखा है। नीचे दिये गये उद्धृतांश तुलनीय हैं—

पलंक तेजिण उठिला सुमुखी सपन संकेत पाइण
आहा प्राणनाथ केणे गलु बोलि उच्च स्वरे करे कारुण्य
दइव, देखाइ निधि हरिनेलु
शिशु कुमारी मुँ किछि न जाणइँ किपाइँ मोते एहा कलु

(उषाभिलाष)

चेति चतुरी चाहिँला निशि नाशे पाशे नाहिं दिव्य तरुण
मारि हृदे हात नाथ नाथ बोलि अति उच्चे कला कारुण्य
खोजे अधीरे। चेतना हत से बिधिरे
शेज लेउटाइ कबरी फिटाई कर भरि कुच सन्धिरे।

(लावण्यवती)

शिशुशंकर की निम्न पंक्तियाँ जयदेव के गीत गोविन्द के समान हैं—

ईषित आज्ञा रे जार पाशे आसि परिचार अवनी शयन बिके पाण्डुर गण्ड
येबे अछि अनुराग भिड़ मोरे भुज युग अपराध अनुरूपे करह दंड
करुरुह दंशन क्षत, येणे रोष छाड़ हुए हरष जात।।

× × × × ×

ए तोर सन्देश पाइ बिलम्ब मुँ करि नाहिं विफल मउने कि के हेठ बदन
तु मोर देह जीवन तु मोर भूषण मान तु मोर इन्द्रि विषय मनसदन
तु मोहर मुकुट शिरे। तु मोर सुकृत फल सुख सागरे।।
तु मोर चारुचन्दन तु मोर शिर वन्दन तु मोर मदन जलनिधि तरणी
तु मो गले बनमाल तु मोहर वीर्यबल तु मोर भव बिभव सुख सरणी
तु मोहोर सबु रमणी। मुँ तोहर परिचार कि के न गणि

(शिशु शंकर)

सत्य मेबासि यदि दति मयि कोपिनी देहि खर नयन खर घातम्
घटय भुज बन्धनं जनय रदखण्डनं येन वा भवति सुखजातम्
त्वमसि मम भूषणं त्वमसि मम जीवनं० त्वमसि मम भव-जलधिरत्नं
भवतु भवतीहमयि सततमनुरोधिनी तत्र मम हृदय मति यत्नम्।

(गीत गोविन्द)

लक्ष्मण महान्ति—ये शिशुशंकर दास के समसामयिक थे। इन्होंने १२ छन्द वाले उर्मिला नामक विशिष्ट छन्द में काव्य रचना की है। काव्य की कथावस्तु भविष्य पुराण से

गृहीत है। नायिका उर्मिला महासती हैं। उन्होंने सावित्री के समान अपने पति ऋतुपूर्ण को यमपाश से मुक्त किया था।

प्राय: देखा जाता है कि उत्कल में "राम-विवाह" के पश्चात् छन्दबद्ध कविता लिखने की प्रणाली का आरंभ हुआ। धर्मविषयक ग्रन्थों और पुराणों के लेखक धर्मस्थापन की दृष्टि से उसे असमान संख्या की विशिष्ट पंक्तियोंवाले दाण्डिवृत्त में लिखते थे। काव्य-रसिक विदग्ध व्यक्ति मनोविनोद के लिए गीति-तत्त्वों से पुष्ट छन्द-बद्ध कविता लिखते थे जो प्राय: हृदयग्राही कथा-वस्तुओं को लेकर लिखी जाती थी। इस प्रकार दोनों तरह की रचनाओं का निर्माण दीर्घकाल तक समान भाव से होता रहा, बाद में संगीत की प्रधानता के कारण पुराण-लेखन पीछे छूट गया और काव्य सृष्टि आगे बढ़ गई।

कपिलेश्वरदास—इनके द्वारा रचित "कपट केलि" दस सर्गों का विशिष्ट काव्य ग्रन्थ है। इसमें वर्णित राधाकृष्ण लीला अत्यंत सरल और मुग्धकर भावों से ओतप्रोत है। श्रीकृष्ण स्त्री का छद्म वेश बनाकर मानिनी राधा के पास पहुँचते हैं। समान दशा के नाते स्त्री-वेशधारी कृष्ण राधा की सहानुभूति पाकर उनकी सखी बन जाते हैं। रात को एक शय्या पर सोते समय श्रीकृष्ण राधा आत्मस्वरूप प्रकाश के द्वारा राधा का मान मोचन करके क्रीड़ा करते हैं। कथावस्तु के अनुरूप ही काव्य का नाम कपट-केलि (क्रीड़ा) दिया गया है। इसमें प्रयुक्त कथावस्तु नितांत अभिनव है। इस काव्य के प्रत्येक छन्द के पहले भाग में (गाहा) गाथा की पद्यमय विषय सूची है। छन्दबद्ध काव्य-जगत् में यह सर्वथा एक नवीन सृजन है।

हरिहरदास (नायक)—हरिहर दास जाति के गणक थे। उनके रचित काव्य का नाम है "चन्द्रावती-विलास"। इस काव्य में "कपट केलि" की तरह प्रत्येक छन्द के अंत में परवर्ती छन्दों की विषय सूची पद्य में (गाहा रीति) दी गई है। कथावस्तु प्रेम संबंधी है। दुर्योधन की लड़की चन्द्रावती के साथ श्रीकृष्ण के पुत्र शाम्ब का गुप्त प्रणय चल रहा था। श्री दुर्गा के प्रसाद से मिलन के बाद चन्द्रावती को लेकर भागते हुए शाम्ब पकड़े गये और उन्हें दुर्योधन ने बन्दी बना लिया। बलराम इस संवाद से क्रुद्ध होकर हस्तिनापुर को हल से खोदकर यमुना में मिलाने चले। दुर्योधन उनकी शरण में जाकर क्षमा-याचना करने लगा। खूब समारोह के साथ दोनों का विवाह-कार्य संपन्न हुआ। काव्य की भाषा सरल तथा माधुर्यपूर्ण है।

देवदुर्लभदास—ये "रहस्य मंजरी" काव्य के रचयिता हैं। इसमें श्रीकृष्ण की रानियों के प्रेम से गोपियों के प्रेम को बड़ा बताया गया है। कथा है कि रानियों के सन्देह-मोचन के लिए कृष्ण उन्हें गरुड़ पर बैठाकर वृन्दावन पहुँचे। वहाँ पहुँचकर रानियों को छिपा दिया और स्वयं वंशी बजाकर रासलीला करने लगे। इस प्रकार कृष्ण ने रानियों को रासलीला की अलौकिकता तथा गोपियों के श्रेष्ठ प्रेम का अनुभव कराया और उन्हें लेकर द्वारका लौट गये।

भाषा तथा भाव दोनों दृष्टियों से रहस्य-मंजरी काव्य का स्थान ऊँचा है। ये पंच-सखामार्ग के पथिक थे।

उदाहरण—

ए महा ग्रीष्म ऋतु बैशाखर शेष
बहिला झंजा-पवन कृशानु बताश ।
पाचिले आम्ब पणस तातिले सलिल
जलिला शरीर मो टलिला कलेबर ॥०॥
मुं गो मलि मलि मलि मलि
कान्त मो उपेक्षि गले कउँ दोष कलि ।

× × ×

रिषभ सम्पूर्ण सखि आषाढ़र अंते
श्रावण प्रवेश गो जलद ऋतु होन्ते ।
गाजिले गगने मेहु साजिले बरषा ।
कि जाणि निबिड़ घोर अन्धकार निशा ॥
घड़घड़ि उपरे पड़इ चड़ चड़ि ।
चड़चड़ि उपरे निर्धात पड़े माड़ि,
बिजुलि झमके गो चमकि उठे हिया
केसने बंचिबि मोर कोले नाहिं नाहा ॥

(रहस्य मंजरी)

द्वितीय बलरामदास—द्वितीय बलरामदास मुकुन्द देव के (१५५१-१५५९) शासन-काल में वर्तमान थे। उन्होंने कृष्णलीला, रामलीला और गुप्त गीता लिखा है। ये भी पंचसखा मत के अनुयायी थे।

दीनबन्धुदास—दीनबन्धु दास १६वीं शताब्दी के अन्त के कवि हैं। "छान्द चारु प्रभा" तथा "राधाकृष्ण-लीलामृत" उनकी प्रधान कृतियाँ हैं। ये शुद्धाभक्ति मार्गी थे। इनकी प्रत्येक रचना भक्ति तथा निष्ठा से लबालब हैं। ये उच्च कोटि के वैष्णव सन्त थे।

दामोदर चम्पतिराय—श्री दामोदर चम्पतिराय रामचन्द्र देव (१५७०-१६०९) के समसामयिक थे। उन्होंने व्रजबोली में श्रीकृष्णचरित लिखा है।

आदि राग—

घन घन गर्जन अम्बर घोर
चउदिगे चमकइ बिजुलि जोर
अहर्निश झाम्पइ मत्त मयोर
धुनि शुणि हियरा कम्पइ मोर
अबहु बिसरि गये नागर भोर

चान्दकवि—चान्द कवि दामोदर चम्पतिराय के समकालीन थे। इन्होंने भी व्रजबोली में श्रीराम, कृष्ण और श्री जगन्नाथ की महिमा का गान किया है।

रामचन्द्र देव—ये शुद्धाभक्ति मार्ग के पथिक थे। इन्होंने बँगला और ओड़िया में नवानुराग, वंशी-चोरी, रास आदि प्रसंगों को लेकर कृष्ण-सम्बन्धी एक ग्रन्थ लिखा था।

सालवेग—सालवेग १६वीं शती के सन्त कवि थे। उनके पिता लालबेग मुसलमान सेनापति थे तथा माता अपहृत ब्राह्मणी कन्या थी। यौवन काल में युद्ध में क्षत-विक्षत होने के कारण इन्होंने घोर यन्त्रणा भोगी और अन्त में आत्महत्या करने की ठानी। पर माता के उपदेशानुसार ये श्री जगन्नाथ जी की शरण में गये। वहाँ श्री जगन्नाथ जी के कर-स्पर्श से वे रोगमुक्त हुए। उसी दिन उन्होंने संसार त्यागा और वैरागी बन गये और अन्त तक श्री क्षेत्र में रहकर श्री जगन्नाथ जी के ध्यान में अपना समय बिताया। इनकी लिखी भजनावली अत्यंत सरल है अतः यह लोगों में खूब प्रचलित है। भजन साहित्य की दृष्टि से ओड़िया को हम धनी नहीं कह सकते, फिर भी सालबेग भजनावली उनमें विशेष आदरणीय है।

उदाहरण—

मोते सेहि रूप देखाअ हरि
जय श्री राधे राधे बोलि डाके बांशरी ॥
येउँ रूपे बलि द्वारे हेल भिकारी ॥०॥
डाहाणे श्री हलपाणि मध्ये सुभद्रा भउणी
बाम पाशे बसिछन्ति शंख-चक्र-गदा धारी ॥
कहे सालवेग हीन जातिरे अटे यवन
कंस अष्ट मल्ल मारि काहाकु न अछ तारि ॥

गोपेन्द्र कवि—"मधुप चौतिशा" के सिवा इनकी कोई अन्य कृति आज तक नहीं उपलब्ध हो सकी है। ये १६वीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध के कवि हैं। श्रीकृष्ण की रासलीला उपरोक्त रचना की कथावस्तु है।

धरणीधरदास—ये १६वीं शताब्दी के अंतिम चरण के कवि हैं। इन्होंने उत्कलीय जनता के लिये जयदेव रचित गीतगोविन्द का ओड़िया अनुवाद किया था। गीतगोविन्द का यह अनुवाद अत्यन्त प्रसिद्ध है।

कार्त्तिकदास—ये १६वीं शताब्दी के अंत में हुए थे और ओड़िया में छन्द-बद्ध कविता के अन्यतम प्रतिनिधि माने जाते हैं। नवानुराग तथा रुक्मिणी-विवाह इनके दो काव्य-ग्रन्थ हैं। प्रथम में नवानुराग का विषय पाँच छन्दों में वर्णित है। इसके पश्चात् श्री राधा और श्रीकृष्ण के मिलन का वर्णन अत्यन्त माधुर्यपूर्ण शैली में किया गया है। रुक्मिणी-विवाह की छन्द-संख्या दस है। इसमें रुक्मिणी के वरण करने के लिये आये हुए शिशुपाल का पराभव, रुक्मिणी के द्वारा भेजे गये दूत के संवाद के अनुसार श्रीकृष्ण का रुक्मिणी-हरण आदि विषय अत्यन्त मधुर शैली में

उपस्थित किये गये हैं। इसकी कथावस्तु श्रीमद्भागवत और पद्मपुराण से ली गई है। किन्तु जनता के उपभोग के लिये इसे कवि ने ऐसे मधुर छन्दों से भूषित किया है कि इसमें उत्कलीय काव्य कला की पूरी मौलिकता झलकती है। नीचे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

रुक्मिणी रूप वर्णन—

कुटिल कुन्तल नील कवरी भार। तहिंकि समान काहिं हेव मयूर।
भ्रमर विलाप करे विपिने याइ, चामरी चामर अधोभागे लुचाइ॥
उपरे मोति जालिका रंचिला सेहू, तारागण घोटिला कि नवीन मेहु।
रंजिला सीउन्थि सीमन्तिनी रतन, मदन मार्गण मार्ग देखि जेसन॥
तथिर उपरे बाली सिन्दुर रंजे, रबिकि बन्धन जाणि अन्धार पुंजे
ताहार मुखकु कि उपमा भूतल। देखि कलानिधि कला क्षीन मण्डल॥
दर्पण अटइ अति जड़ कठिण। ताहाकु उपमा किम्पा देब मुखेण।
कमल मुद्रित निशाकालेण हुए। रुक्मिणी मुखमण्डल सर्बदा शोहे॥
अलका बेढ़ण मुख दिशइ शोभा। तहिंकि उपमा किस देबा कि अबा।
सम्पूर्ण चन्द्रमा मुखु कलंक काढ़ि। येबे ता गढ़न्ता बिहि मण्डल बेढ़ि॥
से काल चन्द्र मण्डल हेब उपमा। सहजे रुक्मिणी मुख लावण्य सीमा।

परवर्ती शताब्दी में कवि सम्राट् उपेन्द्र भंज की कान्तकाव्यावली में उत्प्रेक्षा तथा उपमा आदि अलंकारों की जो बहुलता दिखाई पड़ती है उस परंपरा के स्थापक शिशु शंकरदास और रुक्मिणी विवाह के रचयिता कार्तिक दास हैं। ओड़िया काव्य साहित्य के विकास में कार्तिकदास की कृतियाँ स्तम्भ स्वरूप हैं।

रामचन्द्र पट्टनायक—रामचन्द्र पट्टनायक १७वीं शताब्दी के प्रथम चरण के कवि हैं। "हारावती" उनकी काव्य कृति है। अपनी कृति के निर्वाचन में इन्होंने मौलिकता दिखाई है। इन्होंने कथावस्तु के लिये न तो पुराणों से सहायता ली है और न नायक-नायिका के चुनाव में समाज के अभिजात वर्ग का आश्रय ही लिया है। उनकी नायिका एक गुड़िआनी (मिठाई बनाने वाली) युवती तथा नायक एक साधारण युवक है। रामचन्द्र पट्टनायक ने सबसे पहले परंपरित विषय वस्तु का त्याग कर काव्य-रचना की है। उनके काव्य से यह प्रमाणित होता है कि निबिड़ प्रेम समाज के हरएक स्तर के व्यक्तियों में पाया जाता है। केवल अभिजात स्तर के व्यक्तियों का ही इसपर एकतरफा अधिकार नहीं है। प्रेम व्यापक और सर्वेश्वर है, केवल कुलीनता-सापेक्ष नहीं।

प्रतापराय—अनुमान है कि सन् १६१० और १६२० ई० के मध्य में ये जीवित थे। इन्होंने लोकप्रसिद्ध कथानकों अथवा लोककथाओं के आधार पर अपनी काव्यकला प्रदर्शित की है। काव्य की नायिका शशीशेणा के नामानुसार ही काव्य का नामकरण भी हुआ है। नायक अहिमाणिक्य राजकुमार है और शशीशेणा मंत्री की कन्या है। बाल्यकाल में पाठशाला में पढ़ते

समय दोनों में प्रेम हो जाता है और यौवनागम पर दोनों गुरु की आज्ञा से देशांतरी हो जाते हैं। शशीशेणा की पति-परायणता और बुद्धिमत्ता के कारण ये अनेक विपत्तियों से मुक्ति पाते हैं। शशीशेणा के उपदेशानुसार अहिमाणिक्य राजकुमारी चन्द्रावती के साथ विवाह करते हैं और अंत में तीनों स्वदेश लौट आते हैं। संक्षेप में यही उसकी कथा है।

कवि प्रतापराय ने सर्वसुलभ और सरल भाषा में, इस छन्दबद्ध काव्य की रचना की है। यह सच है कि उसमें चमत्कार उत्पन्न करने के लिये अलंकारों का प्रयोग नहीं है किंतु काव्य की चमत्कार-पूर्ण कथावस्तु गीत के सावलील सरल प्रवाह के साथ हृदय को मुग्ध कर देने में पूर्ण समर्थ है। उत्कल के अत्यन्त जनप्रिय कवियों में शशीशेणा के लेखक प्रतापराय अन्यतम हैं। उदाहरण-स्वरूप निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं —

शशीशेणा का शोक—

येते रस कउतुक पढ़िवार बेले
से कथामान कि सबु पासोरिल ढाले
सत्य कराइण मोते होइल ये विभा
आज्ञा देल चाल सखि विदेशकु जिवा।
माता पिता बन्धुवर्ग छाड़िण मुहाँस
तुम्भर चरणे एका बलाइलि आश।
येते येते बिदेशरे पड़िला बिपत्ति
ईश्वर पार्वती सिना से दुख जाणन्ति
निमिषक लक्ष युग न देखिले मोते
दारुण हृदय एवे होइल केमन्ते
छाड़िल सेनेह तेड़े वढ़ाई पीरति
एबे छाड़िकरि गल अनाथ युवती। (१२ वा० छान्द)

बृन्दावनदास—कवि धरणीधर के बाद वृन्दावन दास ने संस्कृत के प्रसिद्ध काव्य गीत-गोविन्द का ओड़िया में 'रसवारिधि' नाम से छन्दवद्ध अनुवाद किया है। इस अनुवाद में संगीत तथा कृष्णभक्ति की धारा प्रवाहित हो उठी है।

निम्नलिखित पंक्तियाँ मूल संस्कृत पदों के साथ तुलनीय हैं—

वासन्ती लता वसन्ते आमोद। कुसुम वेढ़ि भ्रमरंक खेद
राधिका मदने विकार पाइ। वहु विहिते कृषानुसरइ

से कन्दर्प ज्वर,
हृदरे घेनिला चिन्ता अपार॥१॥

आकुले वपु खिन कला यहुँ। सहचरी राई बोलइ तहुँ
वसन्त बनिता विकार करि। बोलइ सखि शुण सहचरी।

सरस वसन्ते
हरि विहरन्ति वृन्दावनान्ते ॥

युवती जनंक संगते नृत्य। विरही जनंकु अति दुरन्त
देख सजनि! वसन्त ऋत। विरही केमन्ते धरिबे चित्त

ए लताकु चाहाँ
स्वभावे काम बलिला उत्साहा ॥

ललित लवंग लता प्रवल। मलय समीर अति कोमल
भ्रमर निकर कोकिल भावे। कुंज कुटीरे कल कल राबे

कि राये मदन
आगम कला गोप वृन्दाबन

मदन प्रवल मनरे जात। पथु कि वधु विलपइ चित्त
अलिकुल यूथ कुसुम स्फुटे। चुम्बन करि परागेण लुठे

वकुल कलापे
मधुपान करे वसन्त दर्पे ॥

कण्ठदास—कण्ठदास प्रसिद्ध "छअ पोइ" तथा "नअ पोइ" नामक गीति-पुस्तिकाओं के लेखक हैं। इनमें राधाकृष्ण का प्रेम वर्णित है। इसकी रचना-शैली रसपूर्ण तथा सरल है। ये १७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के कवि हैं।

मधुसूदनदास—'नलचरित' के रचयिता मधुसूदन दास कण्ठदास के समसामयिक थे। भाव और भाषा की दृष्टि से इनका काव्य सरल और सर्वजनबोध्य है। निम्नांकित पक्तियाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

भीमराजा उठि बगे पात्र अमनात्य संगे
पाछोटि जान्तेण सिंह द्वारे देखिले
श्री पलंकु ओल्हाइले चरण तले पड़िले
दुहिताकु बेगे राजा तोलि धइले
राजा बड़ उल्लास होइ
रोम पुलकित चक्षु लोतक वहि ॥

जन्म अन्ध जेन्हे थाइ सेहिक्षणि चक्षु पाइ
जेसने दरिद्र धन प्रापत होइ
अपुत्रिकर जेसन पुत्र जात हेले मन
राज्य भ्रष्ट राजा तार राज्यकु पाइ
भीम राजा तेड़े हरष
संगते दुहिता घेनि पुरे प्रवेश॥

भीमा धीवर—ये १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के कवि थे। ये जाति के केवट थे। इन्होंने 'भारत सावित्री' तथा 'कपट पाशा' नामक काव्यों की रचना की है। 'कपट पाशा' की भाषा सरल तथा सुमधुर है। अतः यह जनप्रिय भी है।

ईश्वरदास—ये जाति के गणक और भीमा कवि के समकालीन थे। इन्होंने ओड़िया में चैतन्य भागवत ग्रन्थ लिखा है। चैतन्य भागवत में चैतन्य देव के जीवनचरित तथा ओड़िशा में रहते समय उनकी लीला का विशद वर्णन है। इसमें जगह जगह पर भ्रान्तिपूर्ण तथा अतिरंजित वर्णन मिलते हैं। ईश्वरदास पंचसखाओं के मतावलम्बी, अर्थात् ज्ञानमिश्रा भक्ति पन्थ के पथिक थे। उनका कहना है कि श्री जगन्नाथ ही बुद्धदेव हैं और श्री चैतन्य जी बुद्ध के अवतार हैं। उनकी कृति से मालूम होता है कि बौद्ध, कबीरपन्थी, नानकपन्थी आदि ने भी चैतन्य देव का शिष्यत्व ग्रहण किया था।

गुरुवारिदास—ये १७वीं शती के प्रथम भाग के कवि थे। कर्म संहिता में उन्होंने पिण्ड (घट) को ही ब्राह्मण माना है जो सभी देवी-देवताओं का निवास-स्थल है। पिण्ड-सम्बन्धी सम्यक् ज्ञान को उन्होंने उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान माना है।

यदुपतिदास—यदुपतिदास राजा नरसिंह देव के (१६०५–१६३५) समसामयिक थे। उन्होंने ब्रजबोली में नरसिंह की प्रशस्ति गाई है। नीचे नमूने के रूप में कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

सर्व अवनी पूति विक्रमे शकति विविध रंग रति विहरतिया
लावण्ये गंजति लाख रजनीपति गौरवे और की गिरिपतिआ
देवी भानुमती रसवती संगति विविध रंग रति विहरतिआ
नीलगिरि को पति चरण कमले मति विजय तु नरसिंह नरपतिआ
उदिनले नृप नरसिंह धरणी तल।

हलधरदास—हलधर दास राजा मुकुन्द देव (१६५१–८५) के समकालीन थे। ये अनन्त पट्टनायक नामक मुकुन्द देव के अनुज और हलधर अनन्त के कनिष्ठ पुत्र थे। सन् १६८१ में इन्होंने अध्यात्म रामायण की रचना की थी। यह मूल संस्कृत का सरल अनुवाद है जो जनप्रिय तथा व्यापक है।

विप्र सदाशिव—ये १७वीं शताब्दी के मध्यभाग में हुए थे। "विचित्र हरिवंश" इनकी जनप्रिय और मधुर छन्दबद्ध रचना है। कंसवध में इसका उपसंहार हुआ है। विप्र शिवदास की "गोपलीला" यात्रा के उद्देश्य से लिखी गई थी अतः उसके कथोपकथन कहीं कहीं गद्यात्मक हो गये हैं। ये पंचसखा मतावलंबी हैं। इनकी भाषा सरल तथा कलित है।

शिशु ईश्वरदास—शिशु ईश्वरदास विप्र सदाशिव के समकालीन थे। इन्होंने "नलराम-चरित" लिखा है जिसमें नलचरित रामचरित के साथ साथ वर्णित है। इसकी भाषा सर्वबोध्य और सरल है। ये शुद्धाभक्ति मार्ग के पथिक थे।

महादेवदास—ये पुराण-लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके पिता का नाम लक्ष्मणदास तथा माता का नाम मुक्तादेई था। इन्होंने मार्कण्ड पुराण, विष्णुकेशरी पुराण, पद्मपुराण, कार्तिक पुराण, वैशाख पुराण, माघ पुराण, आषाढ़ पुराण, द्वादशी माहात्म्य, नीलाद्रि महोदय और इतिहास नामक ग्रन्थ लिखे हैं। इन्होंने संस्कृत पुराणों का ज्यों का त्यों अनुवाद न कर भिन्न भिन्न आख्यायिकाओं को स्वतन्त्र रूप से बदलकर ओड़िशा अनुवाद किया है। उत्कल की धर्मपरायण जनता उनकी बहुत ऋणी है।

मुकुन्ददास—मुकुन्ददास १७वीं शताब्दी के मध्य भाग के कवि हैं। इन्होंने संस्कृत के वैताल-पंचविंशति ग्रन्थ के आधार पर २५ छंदों में ओड़िया रचना की है। इसकी भाषा सरल और सहजबोध्य है।

सिद्धेश्वरदास—इन्होंने सीता बनवास से लेकर रामायण के अन्त तक के कथाभाग को लेकर 'विचित्र रामायण' नामक काव्य ग्रन्थ लिखा है। यह रचना उच्च कोटि की नहीं है। ये मुकुन्ददास के समसामयिक थे।

गोपीनाथदास—गोपीनाथ दास ने सारला महाभारत के आधार पर "टीका महाभारत" नामक ग्रन्थ लिखा है। यह जनप्रिय है और इसमें सारला महाभारत की सार वस्तुएँ पाई जाती हैं।

द्वारकादास—इनका जन्म सन् १६६२ में हुआ था। इन्होंने परचे गीता, परचे चूड़ामणि, १३वां स्कन्द भागवत, प्रेमरस-चन्द्रिका तथा शिवपुराण आदि ग्रंथ लिखे हैं। ये पंचसखा के अनुयायी थे। इनकी कृतियों में रहस्यवाद की झलक मिलती है। सन् १७४० ई० में इनकी मृत्यु हुई थी।

श्रीधरदास—काल्पनिक कथावस्तु को लेकर इन्होंने कंचनलता नामक एक छन्द-बद्ध काव्य की रचना की है। उनकी कृतियों से मालूम होता है कि वे विद्वान् थे। काव्य के नायक श्रीकृष्ण मानसपुत्र तथा नायिका श्री राधा मानस पुत्री हैं। राधा की आसक्ति का अनुभव कर श्रीकृष्ण ने उन्हें पृथ्वी में राजपरिवार में जन्म लेने के लिये भेज दिया। इस प्रकार राजकुमार

मनोज तथा राजकुमारी कंचनलता का जन्म हुआ। कवि ने दोनों के विवाह, मिलन आदि का वर्णन बड़ी दक्षता से किया है। अनुमानतः वे १७वीं सदी के कवि हैं।

विष्णुदास—ये जाति के ब्राह्मण तथा विद्वान् थे। उनके परवर्ती कवि रघुनाथ हरिचन्दन के लावण्यवती काव्य से पता चलता है कि इन्होंने बहुत-सी रचनाएँ की थीं। हरिचन्दन इन्हें गुरु मानते थे। उनके कथनानुसार उत्कल में वे उस समय प्रसिद्ध हो चुके थे। उनकी लिखित प्रेमलोचना, कई चौतिशाएँ तथा गीत आदि आविष्कृत हुए हैं। अनुमान है कि 'प्रेमलोचना' सन् १६४० में लिखी गई थी। जिस छन्द का प्रयोग अर्जुन दास ने रामविवाह में शिशु शंकर ने 'उषाभिलाष' में, कार्तिक दास ने रुक्मिणी विवाह तथा श्रीधर दास ने कंचनलता में किया था उसे विष्णुदास तथा हरिचन्दन आदि शिष्यों ने भी श्रीमण्डित किया।

रघुनाथ हरिचन्दन—रघुनाथ हरिचन्दन बाणपुर राज्य के राजा थे। उन्होंने "लीलावती" नामक काव्य लिखा था। अनुमानतः यह १७५५ई० की रचना है। इसमें इन्होंने लिखा है कि मैंने अनेक संगीतविदों से संगीत की शिक्षा ली है तथा कई विद्वानों को परखने के बाद विष्णु-दास को अपना गुरु माना है और उनसे काव्य-कला की शिक्षा प्राप्त की है। लीलावती काव्य के छन्दों में स्पष्ट रूप से ताल और लय बतलाये गये हैं। इसमें संगीत के नियमों का पालन किया गया है। लीलावती की कथावस्तु अनवद्य है। धनंजय भंज, लोकनाथ विद्याधर, कवि सम्राट् उपेन्द्रभंज ने भी इस काव्य को आदर्श-स्वरूप स्वीकार किया है। इनकी छः रानियाँ थीं जिनमें शकुन्तला पटरानी थी।

रसानन्द—ये ओड़िशी संगीत के रचयिता तथा जनप्रिय कवि थे।

इस प्रकार ओड़िशा में पुराण, छन्दबद्ध काव्य, गीत तथा संगीत (Lyric) इन तीनों मुख्य स्रोतों में पद्य-साहित्य का विकास हुआ है। पुराणों के छन्द सीमित हैं। पुराणों में दाण्डि-वृत्त, चौदह अक्षरी, तेरह अक्षरी, ग्यारह अक्षरी तथा नवाक्षरी का प्रयोग है। इनमें सुकुमार संगीत कला के विकास का अवकाश न था। गंभीर तत्त्व को आधार मानकर कहानियाँ लिखी गई हैं, जिसके बीच कविता ने भी आत्मप्रकाश किया है।

किन्तु ओड़िशावासी संगीत-विलासी आत्मा की शान्ति के लिये पुराने कवियों से अलग होकर छन्दबद्ध रचना करने लगे थे। इन्हीं छन्दों में ओड़िआ जाति की काव्य-प्रतिभा जागृत हुई है। कवि हरिचन्दन ने अपने काव्य लीलावती द्वारा यह प्रमाणित कर दिया है कि संगीत तथा अलंकार के द्वारा उत्कृष्ट काव्य लिखे जा सकते हैं। उनके परवर्त्ती कवियों और महाकवियों ने इसी के द्वारा काव्य निर्माण किया है।

हम देखते हैं कि बच्छा दास की कलसा चौतिशा तथा राम-विवाह से वृत्तों की सृष्टि

हुई है। अतः यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि पुराण के साथ ही साथ छन्दबद्ध रचनायें भी निर्मित होती रही हैं।

चौतिशा, चउपदी आदि खण्डकाव्य सूक्ष्म संगीत के वाहन हैं। बच्छादास, दामोदर दास, कपिलेन्द्र देव सभी मधुर संगीत के आदिम स्रष्टा हैं। रसानन्द ने इसी संगीत या चौपदी रचना की परंपरा को आगे बढ़ाया। परवर्ती काल में कवि धनंजय, महाकवि दीनकृष्ण, कवि-सम्राट् उपेन्द्र भंज आदि ने इसी को पुष्ट और विकसित किया।

ओड़िया साहित्य का विकास-क्रम

(ग) उत्तर मध्यकालीन

विच्छंद चरण पट्टनायक

धनंजय भंज—यह स्पष्ट ही है कि १७वीं शताब्दी में घुमसर के राजपरिवार ने ओड़िया छन्दकाव्य की रचना का नेतृत्व किया था। बच्छादास के "कलसा चौतीशा" तथा अर्जुनदास के "रामविभा" ने खण्ड कविताओं के द्वारा ओड़िया साहित्य को संगीतमय बनाने का जो प्रथम प्रयास किया था और जिसे शिशु शंकर, श्रीधर दास, प्रतापराय आदि कवियों ने पुष्ट किया था, उसी परंपरा को धनंजय भंज ने काफी आगे बढ़ाया। वे सन् १६३७ से १७०१ ई० तक जीवित रहे तथा रघुनाथ विलास, त्रिपुर सुन्दरी, मदन मंजरी, अनंगरेखा, इच्छावती आदि काव्यों, चौपदी भूषण नामक एक संगीत-समुच्चय और कई चौतीशाओं के कवि थे। इनके अतिरिक्त इन्होंने रत्नपरीक्षा, अश्वपरीक्षा और गजपरीक्षा नामक तीन विज्ञानग्रन्थ छन्दों में लिखे थे। संस्कृत के पंडित होने के नाते इन्होंने अपने काव्यों को संगीत-मधुर बनान के उद्देश्य से भाषा में पर्याप्त संस्कृत शब्द भरे। वास्तव में उच्च टि की काव्य-रचना के लिये यह रीति या पद्धति अपरिहार्य थी। तभी से दिव्य (संस्कृत) और अदिव्य (प्राकृत) शब्दों का कुशल समावेश होने लगा था। इसलिये काव्य-रचना का मान या आदर्श भी बढ़ने लगा था और आगे चलकर इसीके आधार पर ओड़िया साहित्य को संस्कृत साहित्य की कोटि तक ले जान के लिये प्रयत्न भी हुए। इसी विकासक्रम की चरम परिणति परवर्ती कवि दीन कृष्णदास और उसके बाद कवि सम्राट् उपेन्द्रभंज की कृतियों में सम्यक् रूप में दिखाई पड़ी।

शिखरदास—ये 'नीलसुन्दर गीता' नामक रचना के कवि हैं। इनकी इस कृति से १७वीं शताब्दी के ओड़िशा इतिहास की कई घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है।

दीनकृष्णदास—ये द्वितीय मुकुन्द देव (१६५१-८६) और दिव्यसिंह देव (१६८६-१७१३) के शासन-काल में जीवित थे। इन्होंने कई जगह अपने को कृष्णदास लिखा है। ये जाति के राजू थे। इनका निवासस्थान बालेश्वर जिले के जलेश्वर ग्राम में था। इन्होंने रस विनोद में लिखा है—

पूर्व वासना आदि मूले। जनम राज पुत्र कुले।
सुवर्ण रेखा नदी तीर। कटक नामे जलेश्वर।
सपत पुरुष मो तहिं। गला जे एते काल बहि।

इनके पिता का नाम मधुसूदन था। घटनाचक्रमें पड़कर कुछ समय तक ढेंकानाल में रहे भी, फिर वहाँ से वे पुरुषोत्तम क्षेत्र में रहने लगे थे। इन्होंने राजा दिव्यसिंह देव की प्रशस्ति-रचना करना अस्वीकार कर दिया था। इसलिये उन्हें पुरी से निकाल दिया गया था। यह बात "दाढ़र्यता भक्ति" तथा उनकी अपनी रचना से भी प्रकट होती है।

दीनकृष्ण जी श्री जगन्नाथ के भक्त थे। उन्होंने राजदण्ड की तनिक भी परवाह नहीं की बल्कि राजा को निम्नांकित उत्तर दिया—

दासे बोइले ताहा शुणि। शुण हे नृप चूड़ामणि।
तुंभंकु नाहिं मोर डर। मो प्रभु बले बलीयार।
जगत सृष्टि आन हेले। गीत मुं आनकु न बोले।

कहा जाता है कि दीनकृष्ण को कुष्ठ हो गया था। किन्तु गरुड़ स्तम्भ के पास खड़े होकर तथा स्वरचित चौतीशा श्री जगन्नाथ जी के सम्मुख व्याकुल प्रार्थना के रूप में करने पर तुरंत रोग-मुक्त हो गये थे। उक्त चौतीशा का नाम आर्तत्राण चौतीशा है और वह समस्त उत्कल में प्रसिद्ध है।

दीनकृष्ण गरीब और रोगी होते हुए भी सांसारिक ऐश्वर्यों से मुक्त रहे और राजा के अनुग्रह के लिये लालायित नहीं हुए। इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि दीनकृष्ण नैतिक साहस के मूर्तिमान विग्रह थे। वे पंचसखा के अनुगामी थे। ज्ञानमिश्रा भक्ति में उनका पूर्ण विश्वास था। उन्होंने श्री जगन्नाथ जी को अवतारी तथा श्री कृष्ण को अवतार रूप में प्रतिपादित किया है। रस कल्लोल में वे लिखते हैं—

"कले इच्छा मने हेवा कंसहन्तक। करिबा उश्वास मही भारा जेतेक।
कपटे होइबा व्रजे नन्द बालक। कउतुके बोलाइवा पशुपालक।
करि ए विचार कइवल्य नाय का कंस आदि मारिबाकु हेले उत्सुक।

ज्ञानमिश्रा भक्ति के अन्यतम पथिक और रहस्यमंजरी के कवि देव दुर्लभ दास के समान उन्होंने श्री कृष्ण को "मानव विष्णु" के रूप में प्रतिपादित किया है और अपने रसविनोद ग्रन्थ में त्रिपुरा के कौशल से नित्यरास लीला में शामिल होना आदि प्रसंगों का उल्लेख किया है।

दीनकृष्ण तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र, योग, धर्म, नीति, अलंकार, सामुद्रिक, भेषज, संगीत आदि विषयों के पूर्ण जानकार थे। उनके ग्रन्थों में रसकल्लोल, रसविनोद, जगमोहन छान्द, नाम-रत्न गीता, प्रस्ताव-सिन्धु, नावकेलि तथा अलंकार-बोलि आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। छोटी सी कविता होने पर भी आर्तत्राण चौतीसा उनके दूसरे सारे चौतीसाओं में अत्यधिक जनप्रिय है। रसकल्लोल और जगमोहन छान्द को छोड़कर शेष सभी रचनाएँ निराडम्बर भाषा शैली में लिखी गई हैं। कविजीवन की प्रथमावस्था तथा प्रौढ़ावस्था में लिखित ग्रन्थों की रचना शैली में जो अन्तर रहना चाहिए, वह इनकी रचनाओं से भलीभाँति स्पष्ट है। इस भेद को देखकर कुछ लोगों ने

दीनकृष्ण को दो व्यक्ति प्रमाणित करने की भरपूर कोशिश की है। किन्तु वास्तव में दीनकृष्ण एक और अभिन्न हैं।

वे उत्कल के जनप्रिय कवि थे। सभी श्रेणियों के पाठकों के लिये उन्होंने रस परिवेषण किया है। उनकी नावकेलि और अलंकार-बोलि अत्यंत सरल भाषा में लिखी जाने पर भी उसकी रससृष्टि अनवद्य है। रसविनोद और प्रस्तावसिन्धु के उपाख्यान और दृष्टान्त नीतिशिक्षा की दृष्टि से अमूल्य हैं।

उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति रसकल्लोल पदलालित्य के लिये समस्त उत्कल में अनुपम है। कहा जाता है कि इनका पदलालित्य जयदेव जी के गीतगोविन्द के पदलालित्य के समान है। जनश्रुति है कि कविसम्राट् उपेन्द्रभंज ने नीचे लिखे पद का उच्चारण कर दीनकृष्ण के प्रति सम्मान दिखाया था—

"कहे उपइन्द्र भंज टेकि दुइ बाहाकु।
धरातले कविपणे न गणे मुं काहाकु
जयदेव दीनकृष्ण एका मोर शरण
आन कविंकर मुण्डे मो बामचरण।"

वास्तव में कविसम्राट् ने ये पद कहे थे या नहीं, इस विषय में प्रमाणपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता। परन्तु इससे यह अवश्य सूचित होता है कि कविसम्राट् तथा उत्कलीय जनता का इन दो कवि गुरुओं के प्रति कैसा प्रगाढ़ अनुराग और सम्मान था जो लालित्यपूर्ण पदविन्यास में धुरंधर थे।

दैत्यारिदास—ये अर्थगोविन्द नामक काव्य के रचयिता थे। यह काव्य जयदेव जी के गीतगोविन्द का पद्यानुवाद है। कवि ने इसमें गीतगोविन्द का मर्म उद्‌घाटन करते हुए अपनी कई कल्पनाएँ मिलाई हैं। इसकी भाषा सरल तथा सर्वजनबोध्य है। इसका रचना-काल १६७४ ई० हो सकता है।

नारायणदास—ये शुद्धाभक्ति मार्ग के अनुयायी थे। इनका पंचामृतसिंधु खोज में प्राप्त हो गया है। इस पुस्तक में श्री कृष्ण जी का माहात्म्य और भक्त के साधन वर्णित हैं।

वृन्दावती दासी—वृन्दावती दासी 'पूर्णतम चन्द्रोदय' नामक रचना की कवियित्री हैं। उनके पिता जगन्नाथ दास एक बड़े कवि थे। उन्होंने श्रीकृष्ण जी की लीला के विषय में कई संगीतों की रचना की थी। वृन्दावती दासी का विवाह पुरी जिला के मलिपड़ा गाँव में हुआ था। उनके पति चन्द्रशेखर दास शुद्धाभक्ति रसाश्रित थे और उन्होंने १६९५ ई० में कृष्णतत्त्व-चन्द्रोदय नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इनके पुत्र भीमदास ने "भक्तिचन्द्रोदय' और 'भक्ति-रत्नमाला" नामक दो ग्रन्थों की रचना की थी जो सन् १६९७ में समाप्त हुई थी। भीमदास के पुत्र कृपासिन्धु दास ने १६९८ ई० में उपासना-चन्द्रोदय की रचना की थी। ये सारे ग्रन्थ शुद्धा-

भक्ति के प्रतिपादक हैं। इस गृहीवैष्णव वंश के कुलगुरु दयालुदास थे। दयालुदास अभिरामदास बाबा जी के प्रशिष्य थे जो श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुगत भक्त थे। वृन्दावती दासी का पूर्णचन्द्रोदय शुद्धा भक्तिमार्ग का एक अपूर्व ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ से पता चलता है कि वृन्दावतीदासी ने १२ भक्तिग्रन्थों के अध्ययन के बाद इस ग्रन्थ का प्रणयन किया था। इस वैष्णव कवि वंश में प्रगाढ़ शास्त्रानुशीलन भी था। परंपरागत रूप में इस वंश के लोगों ने श्री कृष्ण जी की आराधना सख्य-भक्ति से की थी। ओड़िया भक्ति साहित्य को इस परिवार का दान अत्यन्त विशाल है।

वृन्दावतीदासी के पूर्णतम-चन्द्रोदय के पद अत्यन्त कमनीय हैं—

ग्रीवासम कि कम्बु छार। अस्थि से जलचरंकर।
भुजंगराज भुजसम। नुहन्ति येणु भयतम।
कर निन्दइ कोकनद। सर्वदा नाहिं ता प्रमोद।
अंगुलि निन्दे गन्धफलि। फुटि से होइ यान्ति दलि।
जाति पाखुड़ा निन्दे नख। येणु से नोहे अति तीक्ष।
कपाट निन्दा करे उर। स्वभावे शुष्क काठ छार।

पुरुषोत्तमदास—पुरुषोत्तमदास ने सरल और सर्वजन-बोध्य भाषा में गंगामाहात्म्य भृगुणीस्तुति, गुंडिचा-विजय और द्वितीया ओषा नामक पुस्तकें लिखी हैं। उनके पिता का नाम रामदास था। वे जाति के गोपाल (ग्वाला) थे और बड़े ही पंडित तथा ज्ञानी थे। उनके काव्य का नाम है कांची काबेरी।

भूपति पंडित—भूपति पंडित कान्यकुब्जागत सारस्वत ब्राह्मण थे। उत्कल में निवास करके उन्होंने ओड़िया भाषा पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया था। उनके गुरु का नाम चैतन्य दास था। उन्होंने श्रीकृष्ण की रासलीला विषयक प्रेम-पंचामृत नामक एक अच्छी पुस्तक लिखी है। श्रीकृष्ण के मथुरा-वास के आधार पर लिखी हुई चउतिशा, भूपति चउतिशा के नाम से प्रसिद्ध है। प्रेम-पंचामृत का अध्ययन करने से भूपति पंडित की प्रतिभा, बहुशास्त्र-दर्शिता तथा भक्ति-भाव का परिचय मिलता है। श्री जगन्नाथ दास की तरह उनकी भाषा सरल, शक्तिशाली, निखरी और मंजी हुई है। उत्कल के कृष्ण-लीला-संबंधी काव्यों में प्रेम-पंचामृत का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

गोपाल—गोपाल तेलगु थे। एक सैनिक के रूप में वे संबलपुर के तत्कालीन राजा अजीतसिंह के यहाँ नौकरी करते थे। उन्होंने नवाक्षरी वृत्त में आध्यात्म रामायण का अनुवाद किया है। अनुमान है कि उन्होंने १८वीं शताब्दी के प्रथम चरण में अपना ग्रन्थ समाप्त किया होगा। भूपति पंडित की तरह उनका भी ओड़िया भाषा पर असाधारण अधिकार था।

त्रिविक्रम भंज—त्रिविक्रम भंज घुमुसर राजवंश के उत्तराधिकारी और कनकलता नामक काल्पनिक काव्य के रचयिता थे। पहले कहा गया है कि छन्दोबद्ध काव्यों की रचना कर घुमुसर राजवंशी नरपतियों ने ओड़िया साहित्य के उत्कर्ष में असीम कृतित्व दिखाया था।

त्रिविक्रम का कनकलता काव्य उसी कृतित्व का निदर्शन है। कनकलता में श्लेष, यमक, गोमूत्र-छन्द, अंतर्लिपि और बहिर्लिपि आदि अलंकारों का अपूर्व समावेश हुआ है। त्रिविक्रम भंज कविसम्राट् उपेन्द्र भंज के चाचा थे।

लोकनाथ विद्याधर—लोकनाथ विद्याधर पुरी जिले के अंतर्गत बाणपुर के अधिवासी थे। उनके पिता का नाम जगन्नाथ विद्याधर था। घुमुसर राजवंशियों तथा विष्णुदास, रघुनाथ हरिचन्दन और दीनकृष्णदास की तरह लोकनाथ विद्याधर भी छन्दोबद्ध काव्य-रचना के दृढ़-स्तंभ थे। इनकी रचना-शैली में कोमल-कांत पदावली का समावेश है। उनके कथनानुसार वे पांचाली रीति के अनुगामी थे, अर्थात् जयदेव की रचना-रीति के साथ उनकी रचना-रीति का साम्य दिखाई देता है। छन्दोबद्ध काव्य-रचना के सर्वश्रेष्ठ कवि सम्राट् उपेन्द्रभंज के पूर्व जिन्होंने चरम काव्योत्कर्ष का पथ-प्रदर्शन किया उनमें से वे प्रधान थे। उन्होंने सर्वांगसुन्दरी, पद्मावती-परिणय, चित्रकला, रसकला और वृन्दावनबिहार आदि काव्यों की रचना की है। वृन्दावन-विहार कृष्ण-लीला संबंधी काव्य है। दूसरे काव्य काल्पनिक कथावस्तु के आधार पर रचित हैं। लोकनाथ विद्याधर के काव्यों में श्लेष, यमक, अंतर्लिपि, बहिर्लिपि तथा गोमूत्र आदि बहु-विध अलंकारों का समावेश हुआ है। इनके काव्यों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे एक असाधारण शक्तिसंपन्न कवि तथा उच्चकोटि के पंडित थे। उनके पद्मावती परिणय काव्य का रचनाकाल सन् १६९९ ई० माना गया है। १८वीं सदी उत्कल के छन्दोबद्ध काव्य-रचना का चरमोत्कर्ष-काल था। ओड़िया का प्रथम छन्दोबद्ध काव्य "रामविभा" (विवाह) था। तब से लेकर १८वीं शताब्दी तक पूरे तीन सौ वर्षों अर्थात् विष्णुदास और रघुनाथ हरिचंदन से लेकर धनंजय भंज, त्रिविक्रम भंज तथा लोकनाथ विद्याधर तक के विभिन्न प्रतिभाशाली उत्कलीय कवियों ने ओड़िया काव्य-रचना को संस्कृत के समकक्ष लाने का अथक प्रयत्न किया और उन लोगों के ये प्रयत्न सफल भी हुए थे। इसका प्रमाण उन लोगों के विभिन्न काव्य हैं जो कि सारस्वत-क्षेत्र में समुन्नत कीर्तिस्तम्भ के रूप में हैं। उत्कल के कुछ राजवंशी भी साहित्य-साधक थे और साहित्य-साधना के प्रबल पृष्ठपोषक थे। उन लोगों की राजसभाएँ पंडितों से सुशोभित और गौरवान्वित थीं। संस्कृत काव्यों की भाँति अर्थालंकारों और शब्दालंकारों से पुष्ट ओड़िया काव्य-रचना करना और कराना इन राजवंशियों के प्रिय कार्य थे। उपरोक्त तीन शताब्दियों में ओड़िया के छन्दो-बद्ध काव्य की परंपरा इन राजाओं के द्वारा विकसित होकर उत्कर्ष की चरम सीमा को पहुँच चुकी थी और बहुत सीमातक संस्कृत काव्यों की रचना-रीति की समानता प्राप्त कर ली थी। उत्कलियों की संगीतात्मा को सार्थक बनाने के लिये कवियों ने इन काव्यों के विभिन्न सर्गों को अनेक छन्दों में रचकर अपूर्व मूर्छना भर दी थी। रघुवंश, नैषध और माघ आदि षट् महाकाव्यों पर इन्होंने पूरा अधिकार प्राप्त किया था और वात्स्यायन के कामसूत्रों का अध्ययन करके शृंगार-विज्ञान के पंडित बन सके थे। साहित्य-दर्पण, काव्यादर्श और सरस्वती-कंठाभरण आदि संस्कृत अलंकार ग्रन्थों के आदर्श पर उन्होंने स्वरचित काव्यों में अलंकारों का समावेश किया है। १८वीं शताब्दी तक ओड़िया काव्यों में संस्कृत का कोई भी अलंकार अछूता नहीं रह गया था। पुराण-

प्रणेताओं की रचना शैली से स्वतंत्र होकर काव्य-प्रणेताओं ने विभिन्न छन्दों और अलंकारों से अपने काव्यों को मंडित कर अपूर्व सारस्वत-संभार की सृष्टि की थी। उन दिनों काव्यों के छन्द-वैभव और अलंकारों की प्रचुरता के आधार पर ही साहित्य क्षेत्र में कवियों का स्थान निर्णीत होता था। संगीत और कला से आवेष्टित इन काव्यों ने उत्कलीय जनता के मानस को संतुष्ट किया था। पुराणकार कवियों की कृतियाँ प्रायः दांडिवृत्त, चौदह अक्षरों वाले वृत्त, तेरह अक्षरों वाले वृत्त, ग्यारह अक्षरों वाले वृत्त तथा नवाक्षरी वृत्त में होने के कारण उनसे उत्कलीय जनता का पूर्ण रसास्वादन नहीं हो सका था। छन्दपूर्ण काव्यावली ही उनकी परम तृप्तिदायक सामग्री बनी। काव्यों के साथ साथ विभिन्न प्रकार के संगीत जैसे-चउतिशा, चउपदी और वाद्यों तथा नृत्यों के सम्मिश्रण से गाने लायक संगीत भी इसी समय प्रचुर मात्रा में रचे गये। १८वीं और १९वीं सदी को ओड़िया साहित्य का मध्याह्न कहा जाता है। उत्कलियों की आकांक्षा को पूर्णतया रूपायित करने के लिये मानो दैवनिर्देश से सन् १६८५ ई० में घुमुसर राजवंश में धनंजय भंज के पौत्र उपेन्द्र भंज ने जन्म ग्रहण किया, जिनको उत्कलवासी सही अर्थ में कवि-सम्राट् का पद देकर पूजते आ रहे हैं। उत्कलीय सारस्वत सृष्टि के समस्त सार-संपदों ने उनकी रचनाओं में पूर्णरूपता प्राप्त की है। छन्द-वैभव तथा अलंकारों के समावेश से अपने पूर्ववर्ती महाकवियों की यश-प्रभा को म्लान कर वे साहित्य-गगन में प्रचंड मार्तंड के समान उदित हुए।

ऊपर कहा जा चुका है कि संस्कृत के आदर्श पर ओड़िया काव्यों में नानाविध अलंकारों का प्रयोग किया गया था। कवि लोकनाथ विद्याधर के काल तक उत्कलीय कवियों की अलंकारिता उच्च कोटि की समझी गई थी। श्लेष, यमक, अनुप्रास, गोमूत्रिक, अंतर्लिपि, बहिर्लिपि, मेषयुद्ध, समस्यापूर्ति, प्रतिमाला, दुर्वाचनयोग, विंदुमती और अक्षरमुष्टिक आदि सभी तरह के अलंकारों का प्रयोग कवियों की श्रेष्ठता के मानदंड के रूप में विवेचित हो चुका था। कालिदास के कुमारसंभव और श्रीहर्ष के नैषध-चरित आदि संस्कृत काव्यों की कथावस्तुओं के अनुकरण पर उत्कल का कविवर्ग काल्पनिक कथा-वस्तुओं का उपयोग करता था और कभी कभी अपनी काव्य-सृष्टि के उपजीव्य रूप में पौराणिक उपाख्यानों को भी अपनाता था। काव्य साहित्य की परंपरा का वे लोग पूर्णतया अनुसरण करते थे और संगीत की अपूर्व मूर्छना भरने तथा भाव-साबल्य तथा चमत्कारिता की सृष्टि के लिये अपनी रचनाओं में उत्तम पदावलियों का प्रयोग अबाध रूप से करते थे।

१७वीं सदी के अंतिम भाग से लेकर उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक तत्सम और तद्भव शब्दों के सुषम प्रयोगों से विभिन्न कवियों और महाकवियों ने जिस अपूर्व मूर्छना-मंडित तथा दिव्यालंकार-समन्वित काव्य-साहित्य की सृष्टि की, उससे भारत के प्रादेशिक साहित्यों के बीच उत्कल साहित्य बहुत ही सम्मानित हुआ और कवि-सम्राट् उपेन्द्र भंज की अनमोल सारस्वतसृष्टि तो ओड़िया काव्य साहित्य को संस्कृत साहित्य की कोटि में पहुँचा सकी, यहाँ तक कि कहीं कहीं कवि-चातुरी से औपेन्द्र कविता संस्कृत कविता से भी आगे बढ़ गई है।

उपेन्द्र भंज—उपेन्द्र भंज वस्तुतः उत्कल के कवि-सम्राट् थे क्योंकि साहित्य को सुमनोज्ञ

बनाने के लिये युगों पूर्व से काव्यकारों और गीतिकारों ने जितने छन्दों और राग-रागिनियों का आविष्कार किया था और संस्कृत साहित्य के आदर्श पर अपनी-अपनी कृतियों में जिन शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का प्रयोग किया था, उपेन्द्र भंज ने उन सबका पूर्ण उपयोग कर जो-जो रचनाएँ की थीं वे सब काव्य-कला के चरम उत्कर्ष-स्वरूप विवेचित हुई हैं।

उपेन्द्र भंज प्रसिद्ध घुमुसरराजवंश में उत्पन्न हुए थे। ये कविवर धनंजय भंज के पोते और नीलकंठ भंज के पुत्र थे। इनका जन्म सन् १६८५ ई० में हुआ था। कविवर धनंजय भंज सर्वदा अपने दरबारी पंडितों के साथ सारस्वत-विलास में ही समय बिताया करते थे। बचपन से इस विद्या-विलास की चर्चा ने उपेन्द्र पर गंभीर प्रभाव डाला। उपेन्द्र भंज ने अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति वैदेहीश-विलास की निम्नलिखित पंक्तियों में इसकी सूचना दी है :—

बरही वंशे उद्‌भव नृप धनंजय,
विशिष्टे घुमुसर अधिप गुणालय जे।
बेनि अर्थे से कवि गणेश बोले जाण
वन्दन तद्‌वत तांक नन्दन प्रमाण ये (जे)
बसुधापति से नीलकंठ नामे ख्यात,
विधानरे मुंहि ताहांकर ज्येष्ठ सुत जे।
वीरवर पद उपइन्द्र मोर नाम।
बारे बारे सेवारे मनाई सीताराम जे।
विचित्र कवित्वमार्गे प्रसरिला बुद्धि
विरचिलि रामायण ए मो बड़ सिद्धि जे।

उपेन्द्र की लोकोत्तर कवि-प्रतिभा उनके बचपन से ही प्रकाशित होने लगी थी। वंशपरम्परा-क्रम से वे इसके अधिकारी थे ही और बचपन से यह उनमें दिखाई भी देने लगी थी। इसलिए सभी संतानों में ये धनंजय भंज की अति प्रिय-संतान थे।

धनंजय भंज उन्हें पलभर के लिये भी आँख से ओट नहीं करते थे। पहले कहा जा चुका है कि घुमुसर के दरबार में अनेक पंडितों, कवियों और गुणी व्यक्तियों को राजाश्रय प्राप्त हुआ था। धनंजय भंज की राजसभा में भी यही क्रम जारी रहा। विद्वानों की इस सभा में सर्वदा समय व्यतीत करने के कारण उपेन्द्र ने अपनी छोटी आयु में ही सारस्वत-राज्य के राजराजेश्वर बनने का स्वप्न देखा था। उन्हें उसी समय अपने दादा धनंजय भंज से भी अधिक सुन्दर काव्य रचना कर सकने का आत्मविश्वास हो गया था। दीन कृष्ण के रस-कल्लोल को भी वे अधिक पसंद नहीं करते थे। उन्हें यह विश्वास था कि वे अवश्य ही काव्य-साहित्य को और अधिक कोमल-मंजुल बना सकेंगे।

मातृ-साहित्य को समृद्ध संस्कृत साहित्य के जोड़ का बनाने तथा संस्कृताभिमानी पंडितों की हेय भावना से उसे मुक्त करने के लिये उन्होंने साधना शुरू कर दी। पदसंभार के प्राचुर्य के लिये उन्होंने अमर, त्रिकांड यादव, शाश्वत, मेदिनी तथा विश्वप्रकाश आदि मुख्य कोष-ग्रन्थों

को पूर्णतया आयत्त कर लिया था। उनके इस कथन से कि "कहे उपइन्द्र भंज मुं लभिछि शबद-सागर पार" (उपेन्द्र भंज कहते हैं कि मैंने शब्द सागर को पार कर लिया है) यह बात स्पष्ट हो जाती है। संस्कृत का कोई भी काव्य और नाटक उन्होंने बिना पढ़े नहीं छोड़ा था। विश्वनाथ कविराज, भोजराज, दंडी, मम्मट भट्ट और आनन्दवर्द्धनादि आलंकारिकों के ग्रन्थों को भी भलीभाँति आयत्त कर लिया था। ऐसा कोई भी शास्त्र नहीं था जिसका स्पर्श उन्होंने न किया हो। उनके कार्यों से पता चलता है कि उनके ज्ञान का परिसर असीम था। उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति वैदेहीश-विलास में वैष्णव शास्त्रों के मुख्य मुख्य तत्त्व निहित हैं।

घुमुसर राजवंश के वासस्थान कुलाड़गड़ में अधिष्ठिता वाग्देवी घुमुसर राजवंश की इष्टदेवी हैं। उपेन्द्र शाब्दिक आडंबर और व्यसन से अपने को बचाकर तथा इष्टदेवी की कृपा को अपना संबल मानकर काव्यरचना में सर्वदा लगे रहते थे। धनंजय भंज यह देखकर बहुत ही प्रसन्न होते थे। उन्होंने अपने पुरोदृष्टि बल से यह देख लिया था कि इस योग्यतम पौत्र की असाधारण प्रतिभा से एक दिन घुमुसर तथा उत्कल का मुख अवश्य उज्ज्वल होगा। उनके अथक प्रयत्न से उपेन्द्र का यौवन फूलों की सेज में व्यतीत हुआ था।

उपेन्द्र की प्रथम पत्नी नुआगड़ के राजा विनायक सिंह की कन्या थी। वे काव्य-रसिका होने के कारण उपेन्द्र के कवि-जीवन की सुयोग्या संगिनी थीं परंतु अकाल में उनका देहांत हो गया था। कहा जाता है कि उपेन्द्र के प्रसिद्ध प्रेम काव्य "प्रेमसुधानिधि" और "रसिकहारावली" पत्नी-विच्छेद की अवस्था में ही लिखे गये हैं। इन दो काव्यों में चित्रित दांपत्य-जीवन की निबिड़ रसानुभूति उपेन्द्र ने अनुभूति-पूर्ण हृदय से संभूत की है। बाद में धनंजय के अनुरोध से उपेन्द्र ने दुबारा विवाह किया था। उनकी दूसरी पत्नी थी बाणपुर के राजा अच्युत हरिचन्दन राय की कन्या। अपनी सुगुणावली से वे उपेन्द्र के शोकदग्ध हृदय के लिये अमृत प्रलेप सिद्ध हुईं। परम विदुषी होने के कारण उपेन्द्र अपने कवि-जीवन में उनकी संगति को अमूल्य निधि समझते थे। किंतु नियति उपेन्द्र के जीवन में दूसरी व्यवस्था करना चाहती थी। इसलिये उनकी द्वितीय पत्नी का भी अकाल में देहांत हो गया और उपेन्द्र के दांपत्य-जीवन का अंत हो गया। प्रिय-विरह-जनित-शोक-दग्ध-हृदय में विवाहित जीवन की असंख्य स्मृतियाँ उनकी भावी कविता का उत्स बनीं।

उपेन्द्र के जीवन के इसी संधिक्षण में घुमुसर की राजनीति उलझन में थी। धनंजय की दूसरी रानी (हाडुबामंडा देई) पहली रानी के बड़े लड़के पाटदेव गंगाधर को घुमुसर के राज-सिंहासन से वंचित करके अपने पुत्र (उपेन्द्र के पिता) नीलकंठ को धनंजय का उत्तराधिकारी बनाने के लिये षड्यन्त्र कर रही थीं। उपेन्द्र की यदि भौतिक ऐश्वर्य के प्रति आसक्ति होती तो वे इस षड्यंत्र में भाग लेकर अपने पिता का उत्तराधिकारी बनने में सहायक बनते। इसके लिये नीलकंठ की ओर से उनको लालच भी दी गई। लेकिन उन्होंने उसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। अनुचित ऐश्वर्य-लाभ के लिये दादी और पिता को घृणित षड्यंत्र करते देखकर उन्होंने घुमुसर छोड़कर जीवन का अवशिष्ट भाग "नुआगड़" में बिताने के लिये तय किया परन्तु इसके लिये धनंजय की सम्मति आवश्यक थी जिसे प्राप्त करने में उन्हें अनेक प्रयत्न करने पड़े थे।

कहा जाता है कि एक रात नुआगड़ के रास्ते में उन्होंने एक तंत्र-साधक को देखा जो श्मशान में एक शव की पीठ पर बैठकर काली का आवाहन कर रहा था और कालीदेवी जब चतुर्दिशाओं को आलोकित कर अचानक आविर्भूत हुईं तो अपने पुण्य के अभाव के कारण साधक उन्हें देखकर मूर्च्छित हो गया। उपेन्द्र तुरंत घोड़े से उतर कर शव पर बैठ गये उन्होंने बलिप्रदान कर काली की यथाविधि पूजा की। काली द्वारा प्रसन्न होकर वर माँगने के लिये कहने पर उपेन्द्र ने रामभक्ति और लोकोत्तर काव्य-शक्ति की भिक्षा माँगी थी। काली "तथास्तु" कहने के साथ साथ उन्हें नुआगड़ जाने से पहले "ओड़गाँ" के श्री रघुनाथ जी के चरणों पर पूर्णतया आत्मसमर्पण करने का आदेश देकर अंतर्हित हो गईं।

पत्नीवियोग-जनित दुःख और सिंहासन के लिये पारिवारिक चालों की भावी दुष्परिणति की चिंता ने उपेन्द्र के मन को मथ डाला। अंत में उन्होंने काली के आदेशानुसार श्री रघुनाथ के चरणों में आत्म-समर्पण करके वैराग्य की गोद में आश्रय लिया। वे राजकुमार-सुलभ ऐश्वर्य और भोग को तुच्छ और अनित्य समझकर योगिजनसुलभ स्थिति के लिये उद्विग्न हो उठे।

उपेन्द्र नुआगड़ पहुँचकर साधकोचित वेश में अपनी प्रथम पत्नी के दहेज के रूप में मिले गयागड़ के मालीसाही ग्राम में रहने लगे। तत्पश्चात् उसी नुआगड़ के ओड़गाँ में अधिष्ठित रघुनाथ जी की आराधना में वे दिन व्यतीत करने लगे। कहा जाता है कि स्वयं रघुनाथ जी उपेन्द्र की ऐकांतिक भक्ति से प्रसन्न होकर काली के कथन को सार्थक करने के लिए मालीसाही में प्रकट हुए और उपेन्द्र को रामतारक मंत्र की साधना करके रामभक्त महाकवि बनने का उपदेश दिया। अंत में उपेन्द्र ने गुरु के उपदेशानुसार निकटवर्ती सिद्ध गुफा में रामतारक मंत्र यथाविधि जपकर सिद्धि प्राप्त की। सिद्धि-लाभ के बाद रघुनाथ जी ने संन्यासी के वेश में फिर एक बार उपेन्द्र को दर्शन दिया किंतु उपेन्द्र उनकी माया-पटल को भेदकर उन्हें पहचान नहीं सके। संत तुलसीदासजी पर भी श्री रघुनाथ जी ने ठीक ऐसा ही अनुग्रह किया था और बाद में साक्षात् दर्शन दिया था। उपेन्द्र के भाग्य में भी वही संघटित हुआ। रामतारक मंत्र की सिद्धि के बाद उपेन्द्र की कवि-प्रतिभा का अलौकिक स्फुरण हुआ। उन्होने सीताराम जी के संतोष के लिए "ब" अक्षर के आद्य नियम से वैदेहीश-विलास महाकाव्य का प्रणयन कर ओड़गाँ के श्री रघुनाथ जी के मंदिर में उसका प्रथम पारायण किया था। वैदेहीश-विलास के बाद कोटि ब्रह्मांड सुन्दरी, लावण्यवती, सुभद्रा-परिणय, कला-कौतुक, रसलेखा, अबना रस-तरंग, चित्रकाव्य बन्धोदय, रसपंचक, सुवर्ण-रेखा, भाववती और शशिरेखा आदि साठ काव्यों, असंख्य गीतों और संगीतों की रचनाकर उन सबको श्री रघुनाथ जी के चरणों में चढ़ाया था। इससे माता काली का वरदान सार्थक हुआ। उपेन्द्र का यश नुआगड़ के मालीसाही ग्राम से लेकर सारे उत्कल में शीघ्र ही फैल गया। सभी ने एक स्वर से उन्हें उत्कल के कवि-सम्राट् का आसन देकर उनकी कविता मंदाकिनी के अमृत प्रवाह में अपने को बहा दिया। नुआगड़ के राजा ने हर्षोत्फुल्ल चित्त से उन्हें वीरवर की पदवी प्रदान कर उनकी प्रतिभा का आदर किया था।

उस समय के गजपति महाराजा दिव्य-सिंह देव ने भी उनको महासिद्ध पुरुष, महायोगी और उत्कल के महाकवि या कवि-सम्राट् स्वीकार कर श्री जगन्नाथ जी के उत्तरीय को पगड़ी बनाकर स्वयं उनके सिर पर बाँधी थी और बहुत ही सम्मान प्रदर्शित किया था। उन दिनों उपेन्द्र मालीसाही छोड़कर सिद्ध गुफा की अखंड निर्जनता में सीताराम जी का ध्यान करते थे।

खेद का विषय है कि उपेन्द्र के प्रति दया के सागर-स्वरूप राजा धनंजय अब जीवित नहीं है। वे केवल वैदेहीश-विलास की समाप्ति ही देख सके थे और उसके छन्दों के श्रवण से अपूर्व आनन्द प्राप्त किया था। उनको अपनी यह कृति दिखाकर उनका आशीर्वाद पाने के लिये उपेन्द्र एक ही बार मालीसाही से घुमुसर गये थे। उपेन्द्र ने बचपन में एक बार धनंजय से कहा था कि "आपके रचित रघुनाथविलास से अधिक उत्कृष्ट रामचरितमूलक महाकाव्य लिखा जा सकता है।" यह सुनकर धनंजय ने गद्गद होकर उपेन्द्र से कहा था कि यदि तुम इस असाध्य विषय का साधन कर सकोगे तो मुझे अपार आनन्द मिलेगा। उपेन्द्र यथासमय उन्हें यह अपार आनन्द देकर धन्य हुए थे।

बाद में घुमुसर की राजनैतिक परिस्थिति भयंकर हो उठी। राजगद्दी के लिये पारिवारिक चालबाजियों में पहले धनंजय और बाद में पाटदेव गंगाधर के सुपुत्र निहत हुए। नीलकंठ घुमुसर के सिंहासन पर बैठे। उपेन्द्र को युवराज के रूप में अभिषिक्त कराने के लिये नीलकंठ की ओर से अनेक प्रयत्न किये गये थे, क्योंकि नीलकंठ को यह मालूम नहीं था कि उपेन्द्र मालीसाही तथा सिद्ध गुफा में गीताप्रोक्त ब्रह्मस्थिति में अवस्थान कर रहे हैं। किंतु उपेन्द्र के भाल-पटल पर तो पंकिल सरोवर में अमल कमल के उद्भव होने का दृष्टांत बनना लिखा था। नीलकंठ केवल तीन साल शासन करने के बाद सिंहासन-च्युत होकर घुमुसर से विताड़ित हुए। पहले वे घराकोट और बाद में आठगड़ रियासतों में आश्रय लेकर अंत में पुत्र का आश्रय पाने के लिये नुआगढ़ गये। उपेन्द्र ने उन्हें अनेक प्रयत्नों से नित्यानित्य-विवेक का ज्ञान कराया और वे मालीसाही में रहकर अपने शेष जीवन को शांतिपूर्वक बिता सकें, इसके लिये उपेन्द्र ने नूआगड़ के राजा की सहायता से उसका सुप्रबन्ध करा दिया था। उपेन्द्र ने अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक सिद्धगुफा में ही निवास किया। वे सर्वदा सियाराम जी के ध्यान और काव्य-रचना में ही अपना समय व्यतीत करते थे। सन् १७२५ ई० में चालीस वर्ष की आयु में उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की।

उपेन्द्र ओड़िया जाति की सदियों से की गई सारस्वत तथा आध्यात्मिक साधना के परिपक्व फल थे। उनका व्यक्तित्व अतुलनीय था। रामभक्ति के शिरोमणि साधक होकर भी वे रसमय संगीत के श्रेष्ठ पुरोधा थे। उनकी यही उपलब्धि थी कि वेदानुमोदित मार्ग से रमणी संभोग द्वारा जगत् का रसमय होना जगदीश्वर का निर्देश है। आर्य जाति के इस आदर्श की उपलब्धि कर उपेन्द्र ने अपनी रचनाओं में अपूर्व रस सृष्टि की है जो युगों तक ओड़िया जाति की अंतरात्मा में अपूर्व रसकल्लोल की सृष्टि करती रहेगी।

उपेन्द्र भंज अपनी अनुपम सृष्टि और लोकोत्तर कवि-प्रतिभा से ओड़िया साहित्य को संस्कृत साहित्य का समकक्ष तथा भारत के प्रांतीय साहित्यों का शिरोमणि बना गये हैं। कविचातुरी

के सभी उत्कर्षित रूप उनकी कविताओं में पुंजीभूत हैं। हिमालय की तरह उपेन्द्र की कविताओं का वैचित्र्य अकलनीय है। उन्होंने अर्थालंकारों और शब्दालंकारों से गुंफित कर 'ब' अक्षर के आद्य नियम से संपूर्ण रामायण की रचना की है। अर्थात् इस छन्दोबद्ध महाकाव्य की प्रत्येक पंक्ति का आद्य वर्ण "ब" है।

ऐसी सार्थक साधना, शब्दभंडार पर उनके पूर्ण अधिकार का ही परिणाम थी। प्रांतीय भाषाओं में ही क्यों, संस्कृत में भी कोई कवि ऐसे असाध्य-साधन में समर्थ नहीं हुआ है। उनके रामचरित-मूलक एक अन्य काव्य का नाम "अबना रस तरंग" है। इसमें केवल स्वरवर्णों तथा अकारांत व्यंजन वर्णों का प्रयोग हुआ है। केवल वर्णविन्यास के वैचित्र्य में ही इसका उत्कर्ष सीमित नहीं है, अपितु सुदिव्य अर्थालंकारों के संभार से भी यह काव्य अनवद्य है। उपेन्द्रकृत सुभद्रा-परिणय की प्रत्येक पंक्ति का आरंभ 'स' अक्षर से हुआ है और उनकी कृष्ण-चरितात्मक रचना "कलाकौतुक" की प्रत्येक पंक्ति का आद्य और प्रांत वर्ण "क" है। ये दो काव्य शब्दालंकारों और अर्थालंकारों से परिपूर्ण हैं। उपेन्द्र के शृंगार काव्यों में लावण्यवती, कोटि ब्रह्मांडसुन्दरी, प्रेम-सुधानिधि, रसिक-हारावली तथा रसलेखा आदि मुख्य हैं। इनमें भी सभी अलंकार से छत्रे-छत्रे गुंफित हैं। विकास के पथ पर निरंतर गतिशील रहकर जैसे कोणार्क मंदिर के द्वारा उत्कलीय भास्कर्य और स्थापत्य कला का चरम उत्कर्ष हुआ है, वैसे ही कविसम्राट् उपेन्द्र भंज की काव्यावली में उत्कलीय काव्यकला का चरम उत्कर्ष संसिद्ध हुआ है। उनका सरल से सरल और कठिन से कठिन भाषा पर कैसा अधिकार था, इसे अच्छी तरह जानने के लिये उनके समस्त काव्यों का अध्ययन अपरिहार्य है। कविसम्राट् की विपुल और विराट् सृष्टि के प्रत्येक स्थल से उत्कलीय कला और संगीत-प्राणता प्रतिबिंबित होती है। इसलिए उत्कलीय अंतरात्मा का पूर्ण परिचय केवल कविसम्राट् की रचनावली से ही मिल सकता है। कवि सम्राट् की तरह अन्य किसी भारतीय कवि ने पदों और अर्थों के वैचित्र्य के साथ ऐसा संश्लेष साधन शायद ही किया हो। उनके प्रेम-सुधानिधि नाम के रसकाव्य के एक छन्द के २० पदों में से प्रथम दस पदों में जो है, वर्णदृष्टि से द्वितीय दस पदों में बीसवें से ग्यारहवें पद तक अनुलोमरीति से—याने उलटा पढ़ने पर ठीक वही होता है। परन्तु बीस पद एक साथ एक ही प्रसंग के क्रमिक रूप से विकसित प्रकाश हैं। कोटि ब्रह्मांडसुन्दरी नामक रस काव्य के एक छन्द के १५ पदों में अपूर्व कौशल से तीन ऋतुओं (ग्रीष्म, वर्षा और शीत) के वर्णन निहित हैं। पूर्ण पंक्तियों में वर्षाऋतु का वर्णन है और छन्द का राग चिन्ता देशाक्ष है। पंक्तियों के आद्य वर्ण निकाल देने से छन्द "काफी कामोदी" में परिणत होकर शीतऋतु के वर्णन को व्यक्त करने लग जाता है। फिर प्रत्येक पंक्ति के प्रथम दो-दो वर्ण निकाल देने से वह छंद मालबराड़ि राग में परिणत होकर ग्रीष्म ऋतु के वर्णन में परिणत हो जाता है। यह जादू केवल लोकोत्तर प्रतिभा से ही संभव है। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि उपेन्द्र भंज कविसम्राट् पद के यथार्थ अधिकारी थे। उनकी तुलना उन्हीं से की जा सकती है। भारतीय वाङमय में औपेन्द्रीय रचना का स्थान वैसा ही उच्च है जैसा कि भारतीय स्थापत्य और भास्कर्य कला में कोणार्क मंदिर का। कविसम्राट् ने ब्रह्मभावापन्न होकर वैदेहीश-विलास की रचना की

नीपबन सुखदान कर रभसे स्तोकरट मसृण जे झिलिका बसे ।
वक्रोक्तिः—अभंग और सभंग श्लेष ।

राग कलहंस केदार और भूपाल

(इस छन्द में प्रत्येक पाद से श्लेष या ध्वनि द्वारा नायक और नायिका का गुणवर्णन प्रकट होता है। कलहंस केदार राग में गाने से नायक का गुण और भूपाल राग में गाने से नायिका का गुण प्रकट होता है ।)

नागरमणि सार शूर-भी-धाम-नाहिं श्रुतिरे ताहा कीरति सम जे
सुना सादृश कांति कि मनोरम-कमनीये धइर्य हतकु यम जे ।
लोके केशरी बोलि स्तुति कि मणि-करिअरि जयकु मध्यरे पुणि जे ।
विधिरचित दुःख से पाइला जे-वश जेमारे त्राहि बंचिबा खोजे जे ।

प्रकृति पीठ पर विवाह का वर्णन
राग-कनड़ा

देखिले आराम अति अभिराम जे देखिब एहि प्रतीति
मनरु उत्पत्ति रति काम मूर्तिमंते कि बिभा हेउछंति ।
कोकिल । गायक उच्चे गाए गीत
झिंकारी झंकार खंजरीट प्रांतहत सुवाद्यरे विदित ।। (कोटि ब्रह्माण्डसुन्दरी)

प्रकृति के अनवद्य आलेख्यकार

लावण्य सरसी शोभा बहिलाणि संपूर्ण गुण गभीरे
लपन नलिन सुउरु पुलिन सलिल भउंरी नाभिरे
रसिक । हास कुमुद नेत्र मीन
चक्रवाक स्तन मराल गमन दर्शने तार करे मन ।

(लावण्यवती)

कलिंग की सूक्ष्म बन कला

बेढ़रे पादरे लेखिले लाक्षा
वाइ हेला बेनि रंग कि दक्षा
विकशित कोकनद मध्यर
बेढ़ि भ्रमे कि सरस्वती नीर
बंशनली रे थिबार जे
बाछि पिन्धि दुर्वा-दलनीलचेल
कोल इच्छि श्रीरामर जे । (वैदेहीश विलास)

घनभंज—घनभंज घुमुसर मंडन घनंजय भंज के छोटे भाई तथा गोविन्द भंज के पुत्र थे। नीलकंठ भंज के बाद उन्होंने १७०७ ई० से १७५४ ई० तक राज्य किया था। उन्होंने रसनिधि और त्रैलोक्य-मोहिनी नाम के दो काल्पनिक काव्य तथा गोविन्द-विलास नामक कृष्णचरितात्मक एक दूसरा काव्य लिखा था। रचना की दृष्टि से वे घुमुसर राजवंश के योग्य उत्तराधिकारी थे। धनंजय भंज और उपेन्द्र भंज के साथ वे भी चिरस्मरणीय हैं। रस-निधि काव्य के नायक जगवन्दन हैं और नायिका रसनिधि हैं। दोनों के विवाह और मिलन का वर्णन प्रौढ़ भाषा में लिखे ५१ छंदों में है। त्रैलोक्यमोहिनी उत्कल के दूसरे सभी काव्यों से भिन्न है। यह ओड़िशी राग नामक २५४ विशिष्ट संगीतों की समष्टि है। एक एक सर्ग में ३, ४, ५, या ७ बड़े बड़े गीत और प्रत्येक गीत में ४, या १० सुमधुर संगीत हैं। संपूर्ण काव्य ओड़िशी संगीतों का एक मनोज्ञ भंडार है जिसमें विशिष्ट प्रकार की अनेक ओड़िशी राग-रागिनियों और गीतिकाओं का प्रयोग किया गया है। अयोध्या के राजा पंचबाण इसके नायक हैं और सौराष्ट्र की राजकन्या त्रैलोक्य-मोहिनी इसकी नायिका है। दोनों के प्रथम दर्शन, मिलन, विवाह और विरह आदि का कवि ने पूरी दक्षता के साथ चित्रण किया है। रचना में तत्सम शब्दों की प्रचुरता है। घनभंज की रचना से प्रतीत होता है कि उन्होंने साहित्य और संगीत में अपूर्व पारदर्शिता प्राप्त की थी और संगीत के दिव्य माध्यम से वे अपनी रचनाकला को अपूर्व रूप दे गये थे। त्रैलोक्य मोहिनी के अंतिम छंद में घनभंज ने भंजवंशावली का वर्णन किया है। इस रचना-शैली से घनभंज जिस वैशिष्ट्य के अधिकारी हुए हैं वह अन्य किसी ओड़िया कवि में दुर्लभ है।

दाशरथिदास—इनका जन्म रणपुर रियासत के करण (कायस्थ) कुल में हुआ था। इन्होंने १० बोलियों या सर्गों में ब्रजविहार नाम का एक विराट् ग्रंथ लिखा है। इसका रचनाकाल सन् १७३१ ई० है। इसमें अत्यंत दक्षता के साथ सरल, तरल और कमनीय भाषा में श्रीकृष्ण-लीला वर्णित है। उत्कलीय जनता इसका आस्वाद पाकर धन्य होती है। दाशरथिदास शुद्धा-भक्ति मार्ग के पथिक थे। कृष्ण के रूप वर्णन का निम्न अंश द्रष्टव्य है—

"कृष्ण कुंतल सजल जलधर पृष्ठ देशे बरषंति।
वदन पद्म अलका अलिवृ द बेढ़ि कि मधु चुंबन्ति।
नासिका कीर पक्व बिंब अधर दाड़िम बीज दशन।
नयन नलिन खंजन गंजन भुरू काम शरासन।
श्रवण बेनि अनंग-पाश जाणि अर्धेन्दु भाल चिबुक।
चन्द्रवदन मंडल ढलहल कृष्णर सुखदायक।"

(ब्रजविहार)

कृपासिन्धु पट्टनायक—इनका जन्म कटक जिले के डालिजोड़ा ग्राम के एक करण कुल में हुआ था। इनका "ब्रजविहार" अपूर्व छन्दों में लिखित है। इसमें पदविन्यास की अनोखी माधुरी और मनोहर अलंकार-विलास निहित है। इसमें कुल २१ छन्द हैं जिसकी संगीतमयता और

आलंकारिकता अतीव चित्ताकर्षक है। कृपासिंधु पट्टनायक दाशरथिदास की तरह शुद्धा भक्ति मार्ग के पथिक थे। उपरोक्त काव्य का रचना-काल १७४८ ई० है।

मंदरधर भागीरथि—ये बालेश्वर जिले के जलेश्वर ग्राम के अधिवासी थे। १७४७ ई० में रचित इनका राधाविलास नामक काव्य आविष्कृत हुआ है। ये कवि-सम्राट् उपेन्द्र भंज के समान विविध अलंकारों के द्वारा सरस रचना करने में सिद्धहस्त थे।

रघुनाथ भंज—रघुनाथ भंज मयूरभंज रियासत के प्रसिद्ध नरपति थे। उनका राजत्व-काल सन् १७२८ से १७५० ई० तक था। उन्होंने कविसम्राट् की लावण्यवती की शैली में "रस-लहरी" नामक काव्य की रचना की है। पद-विन्यास और आलंकारिता के कारण यह काव्य जनप्रिय है।

जयसिंह—जयसिंह धराकोट रियासत के नरपति थे। अनुमान है कि उनकी साहित्य साधना का समय १८ वीं शताब्दी का प्रथम चरण था। उनके रचित ग्रन्थों में से द्रोणपर्व महा-भारत, क्षेत्र माहात्म्य और श्रीमद्भगवद् गीता का अनुवाद उल्लेखनीय है।

सदानन्द कविसूर्य ब्रह्मा—सदानन्द कवि सूर्य का जन्म स्थान नयागढ़ रियासत है। ये काव्य-रचना में कवि-सम्राट् उपेन्द्र भंज के अनुगामी तथा धुरंधर पंडित थे। इन्होंने "कीर्तन उज्ज्वल" नामक ग्रन्थ के प्रणेता बाबा किशोरदास जी को अपना गुरु बनाया और उनसे शुद्धाभक्ति की दीक्षा ली थी। उस समय के गजपति महाराजा ने इनकी रचना पर मुग्ध होकर इन्हें "कविसूर्य" की उपाधि दी थी। इनका दीक्षा नाम साधुचरण दास था। इन्होंने अनेक लोकप्रिय ग्रन्थों की रचना की है। वैदेहीश-विलास को आदर्श मानकर इन्होंने "व" आद्य वर्ण के नियम से "विश्वंभर-विलास" नामक महाकाव्य की रचना की थी। इनकी अन्य रचनाओं में "प्रेमतरंगिणी, प्रेमलहरी, ललितलोचना, चौर चिन्तामणि, युगल रसामृत-लहरी, युगलरसामृत चउँरी, प्रेम-चिंतामणि और स्मरदीपिका" आदि प्रधान हैं। उन्होंने बहुत से संगीत, जणाण और चउतिशाएँ लिखी हैं। उपेन्द्र भंज के अनुगामी होने पर भी इनकी भाषा उनसे सरल है। आलंकारिक कवियों में इनका स्थान मुख्य है। इनकी रचनाओं में युगल प्रेम की अपूर्व मन्दाकिनी प्रवाहित है। ये कविवर अभिमन्यु सामन्त सिंहार के दीक्षागुरु और रचना-गुरु थे। अभिमन्यु पर सदानन्द का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उनकी "कलाकाइँच" गीतिका से अभिमन्यु के प्रसिद्ध छन्द "धीरे धेन कानन रे कृष्ण विलंबित" का बहुत ही साम्य दिखाई पड़ता है।

ब्रजबंधु सामंतराय—ब्रजबंधु सामंतराय अनुगुल राजवंश के उत्तराधिकारी थे। उन्होंने २१ सर्गोवाले "रामलीलामृत" काव्य की रचना की है। इसमें लंका कांड का विषय छंदों में है। कवि की भाषा में माधुर्य और आकर्षण पर्याप्त मात्रा में है। ये सन् १७२० से १७८० ई० तक जीवित थे।

अरक्षित दास—अरक्षित दास बड़खेमुंडी के राजकुमार थे। उन्होंने गौतम बुद्ध की तरह युवावस्था में घर छोड़कर संन्यास ले लिया था। तत्पश्चात् कटक जिले के ओलाशुणी पर्वत में अपना स्थान निश्चित किया और वहीं रहने लगे। अब भी उनके द्वारा प्रतिष्ठित संप्रदाय के लोग

हर साल ओलाशुणी में होनेवाले मेले में सम्मिलित होते हैं। अरक्षित दास ने निराकार ब्रह्म की उपासना का प्रचार किया था। उनके प्रचारित धर्म का नाम आज्ञाधर्म है। उन्होंने १०० अध्यायों में मही मंडल गीता, भक्ति टीका तथा बहुत से भजनों और चउतिशाओं की रचना की है। धार्मिक साहित्य में "महीमंडल गीता" का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

कृपासमुद्रदास—कृपासमुद्र दास पंचमहापुरुषों के अनुगामी और ज्ञानमिश्रा भक्ति मार्ग के पथिक थे। उनकी "चतुर्द्धामूर्ति-वर्णन" पुस्तक बहुत ही प्रसिद्ध है।

दनाइँदास—दनाइँ दास प्रसिद्ध "गोपीभाषा" के सुपरिचित कवि थे। ३२ छन्दों वाले विशिष्ट गोपीभाषा की खोज हाल ही में हुई है। इसमें अत्यंत सशक्त भाषा में कृष्ण के मथुरा-गमन के समय गोपियों के हृदयस्पर्शी कारुण्य का वर्णन है। "गोपीभाषा" अत्यंत लोकप्रिय और प्रसिद्ध है। उसकी भाषा सरलता, तरलता और माधुर्य का तो आदर्श ही है। इसके अतिरिक्त दनाइँ दास ने "सानकनड़ा" और "बड़कनड़ा" नाम की दो प्रसिद्ध चउतिशाएँ और लिखी हैं। ये वैराग्य और नीतिशिक्षामूलक हैं।

चक्रपाणि पट्टनायक—चक्रपाणि पट्टनायक गजपति महाराजा वीरकेशरी देव (सन् १७३६-१७७९ ई०) के समसामयिक थे। उनका पांडित्य और कविप्रतिभा असाधारण थी। चतुरतापूर्ण संलाप के कारण उन्हें "चक्रवाक चक्रपाणि" कहा जाता था। उनकी संस्कृत में रचित गुंडिचा चंपू पुस्तक उनके अगाध पांडित्य की परिचायिका है। ओड़िया में उन्होंने "कृष्णविलास" नामक २१ सर्गों का एक काव्य लिखा है जो उनकी अनोखी कवि-प्रतिभा के अनुरूप ही है।

बनमाली पट्टनायक—बनमाली भी वीर केशरी देव के समसामयिक थे। वे 'शुद्धा भक्ति' मार्ग के अनुयायी थे। उन्होंने बहुत से संगीत, भजन और जणाण लिखे हैं। उनके भक्तिरस-मिश्रित जणाण उत्कलीयों के कंठहार हैं तथा राधाकृष्ण-रसाश्रित संगीत अपूर्व माधुर्य से ओत-प्रोत हैं। उत्कल में उनकी लोकप्रियता बहुत ही व्यापक है। उन्होंने अपने पृष्ठपोषक गजपति महाराजा वीरकेशरी देव का नाम अपने दर्जनों गीतों में रचक के रूप में भणित किया है। रचना के आदर्श की दृष्टि से निम्नांकित पंक्तियां उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

"विषपीयुष बोलि मुं देलि चाळि
आगो प्रिय सखि (पद)
दिने होइ थिलि छिड़ा छिड़ा, आसि मिलिगले घर बुड़ा,
भलकरि तांकु चिह्नि न पारिलि,
से दिनु अनंग कला पीड़ा ॥"

रामदास—रामदास वीरकेशरी देव के समसामयिक थे। वे गंजाम जिले के ब्राह्मण थे। "दार्ढ्यता भक्ति रसामृत" और "रामरसामृत" नामक इनकी दो काव्य रचनाएँ हैं। दार्ढ्यता भक्ति नवाक्षरी वृत्त में रचित है। इसमें अत्यंत जनप्रिय भाषा में भक्तों के चरित वर्णित हैं। उत्कल के घर-घर में इस ग्रन्थ का आदर है। उत्कल के चांडाल से लेकर ब्राह्मण तक इसकी माधुरी

से मुग्ध होते हैं। इसकी रचना-शंली अनवद्य है। भक्तिसाहित्य में यह उच्च स्थान का अधिकारी है।

पीतांबरदास—पीतांबरदास, सात भागों में लिखे गये प्रसिद्ध नृसिंह पुराण के रचयिता थे। वे एक भिक्षाशी ब्राह्मण और परम साधक थे। सन् १७६१ ई० में उन्होंने नृसिंह पुराण की रचना आरंभ की थी। पीतांबरदास का पुराण संस्कृत नृसिंह पुराण का अनुवाद नहीं है। यह पीतांबर की मौलिक सृष्टि है। इसमें उन्होंने स्वकल्पित उपाख्यानों के साथ विभिन्न संस्कृत पुराणों, सारला महाभारत, जगमोहन रामायण तथा ओड़िया हरिवंश के उपाख्यानों का सन्निवेश किया है। नृसिंह पुराण का आदर उत्कल के घर घर में है। भाषा और भक्ति तन्मयता आदि सभी दृष्टियों से नृसिंह पुराण उत्कल में सर्वमान्य तथा अत्यंत जनप्रिय है। घर-घर में लोग इसको बाँचते ही नहीं, बल्कि इसकी पूजा भी करते हैं। इसकी कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> "सहजे अनलपाशे रखिदेले जउ
> तरलि न जाइ कि के पाइले ता कहु।
> लवणी भांडकु रखिदेले अग्निपाशे।
> कठिन होइ कि सेहि रहिब निमिषे।
> युबाकु युवती याचि बले देले देही।
> जेते से मानी होइले पारिब कि रहि॥"
>
> (नृसिंह पुराण)

श्यामसुन्दर देव—श्यामसुन्दर देव उत्कल के गजपति महाराजा वीरकेशरी देव (१७३६-१७७९ ई०) के आत्मज और "अ" आद्य नियम से रचे गये विशिष्ट अनुराग कल्पलता नामक संगीतमय काव्य के रचयिता थे। पोइ, ड़हा, छान्द और चउपदी आदि विभिन्न जनप्रिय गीतों के समन्वय से इस ग्रन्थ की रचना हुई है। इसमें शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का अपूर्व समावेश है। ओड़िया साहित्य में कवि संगीतज्ञ और आलंकारिक के रूप में श्यामसुंदर देव का स्थान बहुत ऊँचा है।

केशव पट्टनायक—ये "गोपविनोद" नामक मनोज्ञ आलंकारिक काव्य के कवि थे। इस छन्दबद्ध काव्य में अत्यन्त दक्षतापूर्वक ब्रजलीला का चित्रण हुआ है। इसमें कुल ३६ सर्ग हैं।

विश्वनाथ खुंटिया—ये गजपति द्वितीय दिव्यसिंह देव (सन् १७७९-१७९५ ई०) के समसामयिक थे। इनका विचित्र रामायण नामक छंदबद्ध काव्य बहुत ही लोकप्रिय है। इसका वर्ण्य-विषय रामचरित है जो अत्यंत तरल और सरल भाषा में उपस्थित किया गया है। इसकी वर्ण्य-शैली ऐसी अनुपम है कि मन अपूर्व आनन्द से भर जाता है। दनेइ दास की गोपी भाषा, रामदास के दाढर्चताभक्ति-रसामृत और पीतांबर दास के नृसिंह पुराण की भाँति, विचित्र रामायण उत्कल के घर घर में समादृत है। इसकी निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"मेघखंड प्राय गगने देखिण पचारु छंति सीतापति,
आहे लंकपति, गगने कि दिशे कह कह ए किस रीति,
कर्णे कहइ। कर वदने विभीषण
अंगुलि धेनि देखाइ बोले देव सैन्य कलुअछि रावण"

× × ×

आज्ञा पाइण शरधनु मुकुट काटिला ताहार सर्वत्र
एका बेलेके छिड़िण कि पड़िला ग्रहसंगे सर्व नक्षत्र,
तहिँ कि अबा। गजमुकुता हेला वृष्टि।
कि अबा मल्लिका कुसुमे रामंकु अंजलि देले परमेष्ठी ॥

(विचित्र रामायण)

ब्रजनाथ बड़जेना—ब्रजनाथ बड़जेना छः प्रादेशिक भाषाओं के पंडित थे। उन्होंने ओड़िआ में श्यामा-रासोत्सव, अम्बिकाविलास, समरतरंग, राजांक छलोक्ति और हिंदी में गुंडिचाविजय लिखा था। उनका अंबिकाविलास "अ" आद्य नियम से और श्यामारासोत्सव "श" आद्य नियम से लिखित है। इन दो पुस्तकों में अपूर्व रचनापटुता प्रदर्शित हुई है। समरतरंग की भाषा ओड़िया और खरोष्ठी मिश्रित है। अपने समय का युद्धवर्णन बड़जेना के अतिरिक्त और किसी ओड़िया कवि ने नहीं किया है। ये बड़े ही विनोदी भी थे। अपनी "चतुर विनोद" नामक गद्यपुस्तक में उन्होंन मानव-चरित्र के दुर्गुणों पर खूब कसकर व्यंग किया है। कहा जाता है कि उन्होंने अपने अम्बिका-विलास काव्य को केन्दुझर के राजा बलभद्र भंज के नाम से भणित करना स्वीकार किया था। परन्तु बलभद्र भंज की ओर से निराश होकर वे ढेंकानाल चले आये और वहीं अम्बिका-विलास काव्य की रचना पूर्ण की।

विश्वंभर दास पट्टनायक—विश्वंभर ने सारला महाभारत के संक्षिप्त सार को छन्दोबद्ध करके "विचित्र महाभारत" नामक एक जनप्रिय ग्रन्थ की रचना की थी। इसकी भाषा सर्वजन-बोध्य है। इसमें अनेक ओड़िशी रागरागिनियों का प्रयोग हुआ है।

कर्णाभगिरि—इन्होंने रामदास प्रणीत दार्ढ्यताभक्ति रसामृत की छन्दोबद्ध रचना की थी। इनकी भाषा सरल, सर्वजनबोध्य और निर्दोष है।

पीतांबर राजेन्द्र—पीतांबर राजेन्द्र चिकिटि के नरपति थे। उनकी बनाई "रामलीला" अब भी गंजाम जिले में अभिनीत होती है। रामलीला के अतिरिक्त उन्होंने "खंड रामायण" की भी रचना की है। उनका शासनकाल १७९१ से १८१९ ई० तक था।

बलभद्र भ्रमरवर—चिकिटि राज पीतांबर राजेन्द्र के अनुज थे। इन्होंने "चन्द्रप्रभा" नामक एक आलंकारिक काव्य की रचना की थी। इस काव्य के नायक का नाम अनंगसुन्दर और नायिका का नाम चंद्रप्रभा है। पूरा काव्य भंजीय शैली में लिखा गया है।

राणी निःशंकराय—ये जरड़ा के राजा अधिपति वासुदेव की कन्या थीं और बोड़ा संबर

के राजा निःशंक राय के साथ १७८८ ई० में इनका विवाह हुआ था। इन्होंने भंजीयरीति में "पद्मावती अभिलाष" नामक एक काव्य लिखा था।

भक्तचरण दास—"मथुरामंगल" के रचयिता भक्तचरणदास रणपुर राज्य के अंतर्गत सुनाखला ग्राम में जन्मे थे। वे सन् १७८० से १८०५ ई० तक जीवित थे। उनका पितृदत्त नाम वैरागीचरण पट्टनायक था। दीक्षा ग्रहण के बाद वे भक्त चरण के नाम से परिचित हुए। वे पंच-सखा मतावलंबी गृही वैष्णव थे। इनका मथुरा मंगल छन्दों में रचित है। इसमें श्रीकृष्ण के मथुरा गमन से कंसबध तक का चरित वर्णित है। मथुरा मंगल मुख्यतः विप्रलंभ शृंगार का काव्य है। इसमें श्री राधा और गोपियों की कृष्ण-विरह जनित व्यथा पत्थर को भी पिघला देनेवाली भाषा में वर्णित हुई है। भाषा की सरलता के कारण मथुरा-मंगल ओड़िशा में बहुत ही लोकप्रिय है। इसके छन्दों की मूर्छना अतीव हृदयस्पर्शी है। ब्रजभावविलासी वैष्णवों के लिये यह अमूल्य निधि और उत्कल के आबाल-वृद्ध-वनिता का कण्ठहार है।

भक्त चरण की मथुरा विजे चउतिशा मथुरा नारियों के कृष्ण-दर्शन-जनित विभ्रम के वर्णन से बहुत ही मधुर और कमनीय बन पड़ी है। उत्कल में यह व्यापक रूप से लोकप्रिय है।

भक्त चरण रचित मनबोध चउतिशा शंकराचार्य के मोह मुद्गर की तरह वैराग्य और नीति शिक्षा से पूर्ण है। रमणीय और सुमार्जित भाषा तथा रचना की सावलीलता के कारण भक्त चरण दास उत्कल के लोकप्रिय कवियों में से एक थे।

उदाहरण—

कृष्ण बोलंति शुण रमणीवृद
कर्पूर समान कि मास्कर गन्ध गो।।
पद्म समान काहिं हेब कूटज।
समान कला लोक सिना निर्लज्ज गो।।
पाट टसर काहिं समान मूल
हीरा संगरे नीला हेब कि तुल गो।।
पित्तल नोहे कलधउत सम
चन्द्र पारुशे काहिं रहिब तम गो।।
सेहि प्रकारे काहिं मथुरा नारी।
से हेबे तुंभ कउं गुणरे सरि गो।। (मथूरामंगल)

गौरांगदास—गौरांगदास नृसिह पुराण के रचयिता पीतांबरदास के पोते थे। उन्होंने १८ वीं शताब्दी के अंतिम चरण में अपना "दामोदर पुराण" लिखा था। दामोदर पुराण में गौरांगदास ने पीतांबरदास की भाँति अनेक ओड़िया और संस्कृत पुराणों का सन्निवेश किया है। इस प्रकार दामोदर पुराण को हम एक सार्थक और मौलिक संकलन कह सकते हैं।

पुरुषोत्तमदास नरेन्द्र—पुरुषोत्तम नरेन्द्र इतिहास पुराण के रचयिता थे।

चम्पतसिंह—ये भंजीय रीति में लिखित सुलक्षणा काव्य के रचयिता और तिगिरिया रियासत के राजा थे।

पद्मनाभ श्रीचन्दन—ये बाँकी के नरपति और शशिरेखा नामक काव्य के प्रणेता थे। इस काव्य पर लावण्यवती का बहुत ही प्रभाव पड़ा है।

कुंजबिहारी पट्टनायक—कुंज बिहारी पट्टनायक "कुंजबिहार" और "वृन्दावन-विहार" नाम के दो काव्यों के रचयिता थे।

मागुणि पट्टनायक—मागुणि पट्टनायक ने पुरी जिले के कोट पला ग्राम में जन्म ग्रहण किया था। उन्होंने ३६० छन्दों वाले "रामचन्द्र विहार" नामक काव्य की रचना की थी।

त्रिपुरारिदास—ये "रामकृष्ण केलिकल्लोल" नामक एक आलंकारिक काव्य के प्रणेता थे।

पुरुषोत्तम मान्धाता—पुरुषोत्तम मानधाता नयागड़रियासत के नरपति थे। उन्होंने मंजशैली में शोभावती नामक एक काव्य की रचना की थी। यह उच्चकोटि की रचना है।

केशव हरिचन्दन—इन्होंने सरल और तरल भाषा में रामलीला नामक पुस्तक की रचना की थी। यह अनेक स्थानों में आज भी अभिनीत होती है।

पिंडिकि श्रीचन्दन—पिंडिकि श्रीचन्दन ने बँगला भाषा में जयदेव के गीतगोविन्द का व्यवस्थामूलक अनुवाद किया है। इसका नाम बसंतरास है। इसके गीतों की मूर्छना अपूर्व है। वसंतरास का अभिनय अब भी ओड़िशा के विभिन्न स्थानों में होता है। बसंत रास के अतिरिक्त इन्होंने मुकुन्द माला नाम से देवी-देवताओं की अनेक स्तुतियाँ भी लिखी हैं। वसंत रास की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> "जेइ कंचन बरनी, त्रिभुवन सानन्दिनी, अदभुत सौंदर्य श्री सुन्दरी।
> वाक्यामृत जिते जते, सुधारस प्रेमाक्त तरंगी नयनी कृशादेरी से,
> श्रीराधे, प्रेम पीयूष सारेनि प्रेमानन्दरज्जु विलासिनी गो।"
>
> (वसंतरास)

दीनबंधु खाड़ंगा—दीनबंधु खाड़ंगा संस्कृत के एक प्रसिद्ध पंडित थे। उन्होंने श्रीमद्-भागवत का नवाक्षरी वृत्त में अविकल अनुवाद किया है। उन्होंने काशी, नवद्वीप और उत्कल के भागवत ग्रंथों का मिलान कर उसका शुद्ध पाठ संगृहीत किया था तथा श्रीधर गोस्वामी और विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीकाओं के मर्मानुसार श्रीमद्भागवत का अनुवाद किया था। वे शुद्ध भक्ति मार्ग के पथिक थे। खंडपड़ा में स्थित नीलमाधव की शरण में रहकर इन्होंने भागवत का अनुवाद किया था। अनुवाद की शुद्धता के कारण उनके पदों को "खाडंगापद" कहा जाता है।

हरिवंश राय—इन्होंने प्रेम कल्पलता नामक एक मौलिक काव्य लिखा है तथा कृष्णदास कविराज के गोविन्द-लीलामृत ग्रन्थ का ओड़िया में अनुवाद भी किया है।

अभिमन्यु सामन्तसिंहार—ये कटक जिले के अंतर्गत केन्द्रपड़ा सब डिवीजन के बालिआ

ग्राम में एक क्षत्रिय परिवार में पैदा हुए थे। सदानन्द कविसूर्य ब्रह्मा इनके काव्यगुरु और दीक्षा-गुरु थे। बचपन में ही इनमें काव्य-शक्ति का स्फुरण हुआ था। आयु-वृद्धि के साथ-साथ इन्होंने वेद, दर्शन, पुराण, इतिहास, वैष्णव शास्त्र और अलंकार शास्त्र पर अधिकार प्राप्त कर लिया। इन्होंने कवि-सम्राट् उपेन्द्र भंज और सदानन्द कविसूर्य ब्रह्मा के काव्यादर्श पर अपने काव्य सौध का निर्माण किया है।

श्रद्धा और भक्ति इनके जीवन की नियामक थी। रूप-सनातन और जीव गोस्वामी के शास्त्रों का गंभीर अध्ययन कर ये कविता क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे। "विदग्ध-चिंतामणि" इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है जो दीनकृष्ण के रसकल्लोल और कविसम्राट् के वैदेहीश-विलास के बाद ओड़िया साहित्य में श्रेष्ठ काव्य माना जाता है। दीनकृष्ण, कविसम्राट् उपेन्द्र भंज और सदानन्द कविसूर्य ब्रह्मा का अनुगमन करने पर भी उनकी मौलिक प्रतिभा इतनी प्रखर थी कि अपने एकांत पदसंयोजन, भावसाबल्य और अलंकारों के समावेश आदि के कारण उनका विदग्ध-चिंतामणि काव्य एक स्वतंत्र और मौलिक सृष्टि है। यह श्रीकृष्ण की ब्रजलीला-विषयक एक ऐसा काव्य है, जो संस्कृत के विदग्ध माधव और ललित माधव आदि वैष्णव शास्त्रों के साथ सफल प्रतिद्वंद्विता करता है। यह दिव्य ओड़िया छन्दों की मूर्छना से कमनीय और महिमान्वित है तथा वैष्णव भावराशि का अमृतमय भंडार और संगीतों की अमल मंदाकिनी है। यह पिछली दो सदियों से उत्कलीयों के अंतर को वैष्णव भाव से स्पंदित और परितृप्त करता आ रहा है। इसकी मूर्छना से उत्कल की अन्तरात्मा सदा पुलकित होती रही है।

अभिमन्यु ने विशिष्ट काल्पनिक कथाओं के आधार पर प्रीति चिंतामणि, सुलक्षणा, रसवती, प्रेमकला और रसकला नाम के प्रेम काव्यों की भी रचना की है। ये सब उनके प्रथम कवि-जीवन के उच्छ्वास हैं। इन सबमें सरस भावों का समावेश हुआ है। परंतु अभिमन्यु के कवि-जीवन की चरम परिणति विदग्ध-चिंतामणि में ही संघटित हुई है। यह उनके परिपक्व शास्त्रज्ञान और अटल भक्ति का सर्वश्रेष्ठ प्रकाश है।

विदग्ध चिंतामणि की निम्नांकित पदावलियां मनन करने योग्य हैं—

राग-कामोदी

सुधीरे घेन धीरे छान्द कला-निघिरे
तुल सुस्वाद सुधादायी।
स्पर्शे आह्लाद कर जिब ताप निकर
आनन्दाव्धि बर्द्धन होइ हे। धीर दिने।
हृदकुमुद मुद हेब। तमसकुल क्षय जिब।
राधाकृष्ण नूतन मिलन सु यतन
श्रवणे सुगति लभिब है।
राधाबृन्दाकानने मिलि शोभा आनने
चन्द्र कांति कि म्लान कले।

प्रेम मनरसाइ परिहास मिशाइ
मिते छामुरे जणाइले गो । ब्रजेश्वरि।
उठ मठ आउ न कर। कांत कातर तर हर।
बहि कृपालुपण होइले त कृपण
दिशिब सिना असुन्दर गो।

(विदग्ध चिंतामणि)

बलभद्र मंगराज—बलभद्र मंगराज बड़ंबा के राजा कृष्णचन्द्र मंगराज के पुत्र थे। उन्होंने क्षेत्र माहात्म्य नामक ग्रन्थ की रचना की थी जो स्कंद-पुराण का सरल अनुवाद है।

मधुसूदन जगदेव—मधुसूदन गंजाम जिले के आठगड़ राज्य के नरपति थे। उन्होंने वैशाख-माहात्म्य का अनुवाद किया था।

वैश्य सदाशिव—वैश्य सदाशिव अपनी रामलीला के कारण उत्कल में अत्यंत प्रसिद्ध हैं। उनकी भाषा का माधुर्य बहुत ही चित्ताकर्षक है। रामलीला के गीतों की मूर्छना से उत्कलीय हृदय अनायास ही झंकृत हो उठता है।

हरिदास—हरिदास जाति के गोपाल थे। उन्होंने मयूरचंद्रिका नामक एक कृष्णचरितात्मक काव्य की रचना की है। काव्य के सर्गों का नाम मयूर-चंद्रिका है। इसमें कृष्ण-प्राप्ति के उपाय प्रतिपादित हुए हैं। हरिदास का शास्त्रीय ज्ञान अतुलनीय था। वे १८ वीं सदी के अंतिम और १९ वीं सदी के प्रथम चरण में जीवित थे।

नन्ददास—नन्ददास अणाकार संहिता के कवि थे और पंचसखाओं की ज्ञानमिश्रा भक्ति के अनुगामी थे। अनुमान है कि "वैचन्द्रगीता" उन्हीं की कृति है। इसमें पंचसखाओं के सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं।

मोहनदास, कृष्ण विष्णु दास, साधु दास—ये तीनों यथाक्रम निर्वाण भक्ति चैतन्य गीता, बौद्धब्रह्म और संसार सार गीता के रचयिता थे। इसी युग की लिखित "अमरजुमर" और सारस्वत गीता में प्रतिपादित पंचसखाओं के सिद्धान्त इन पुस्तकों में फिर से प्रतिपादित हुए हैं।

कृपासिंधु सामंत—कृपासिन्धु सामंत "कृष्ण विलास काव्य, मार्गशीर माहात्म्य" तथा कुछ चउतिशाओं और चउपदियों के लेखक थे। उनकी भाषा सरल और मधुर है।

गंगापाणि—गंगापाणि "विष्णुधर्मोत्तर" पुराण के लेखक थे तथा द्वितीय दिव्यसिंह देव (१७७९-१७९८ ई०) के समसामयिक थे।

गंगाधर पट्टनायक, चन्द्रमणि दास, नीलांबर भंज, भूपति भंज, पीतांबर देच, लोकनाथ नायक, पद्मनाभ परीछा, अनंग नरेन्द्र, विक्रम नरेन्द्र, पद्मनाभ देव आदि कवियों ने यथाक्रम "रसकल्पलता, हंसदूत, कृष्णलीलामृत और पंचशायक, गणेश-विभूति, अखिल रसचिंतामणि, खड़ि लीलावती गीतताल प्रबन्ध और भाववती" की रचना की थी। इनमें से कुछ १८वीं सदी के और कुछ १९वीं सदी के प्रथम भाग के कवि हैं।

गौरचरण अधिकारी—इनका जन्म पुरी जिले के लेहेंग गाँव में हुआ था। इन्होंने बहुत से संकीर्तन, जणाण और भजन लिखे हैं। इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ का नाम कृष्णलीला है। इसमें ३६५ गीत हैं। यह पहले अभिनीत भी होता था। इनकी भाषा अत्यंत सरल है। ये शुद्धा-भक्ति मार्ग के पथिक तथा गृही वैष्णव थे और रणपुर रियासत के एक मठ के अधिकारी थे। निम्नलिखित उद्धृतांश उनकी प्रतिभा का परिचायक है :—

गोचारण वेश

"प्रिय आलि ! अना गो गोष्ठकु बिजे बनमाली (घोषा)
सुबल स्कंधरे भुज भरा दत्त करि चित्तबित चोरा
ढलि कि बिधिरे चालंति सधीरे
आगे धेनु बत्सावृन्द चालि।"

कृष्णचरण पट्टनायक—कृष्णचरण पट्टनायक गंजाम जिले के अंतर्गत धराकोट के निवासी थे तथा संस्कृत महाभारत के अनुवादक राजा कृष्णसिंह के दीवान थे। उन्होंने संस्कृत के वाल्मीकि रामायण, श्रीमद्भागवत, कल्कि पुराण और वामन पुराण का अविकल अनुवाद किया था। वे १८१५ ई० तक जीवित थे।

सूर्यमणि च्याउपट्टनायक—सूर्यमणि च्याउपट्टनायक का जन्म सन् १७७३ ई० में हुआ था। इन्होंने संस्कृत के अध्यात्म रामायण का सरल ओड़िया में अनुवाद किया था जो ओड़िशा में बहुत ही जनप्रिय है। ये १८२८ ई० तक जीवित थे।

गोपालकृष्ण पट्टनायक—इनका जन्म गंजाम जिले के अंतर्गत पारलाखेमुण्डि में १७८५ ई० में हुआ था। ये १८५६ ई० तक जीवित थे। बचपन से ही उनमें कवित्व-शक्ति का परिचय मिलने लगा था। आयुवृद्धि के साथ-साथ वे शुद्धा भक्ति मार्ग के पथिक बन गये और श्रीकृष्ण के ब्रजलीला-संबंधी गीतों की रचना भी करने लगे। इनके कृष्ण-संबंधी गीत सुन्दर रागरागिणियों में आबद्ध हैं। उनकी भाषा सरल, सरस और सुमधुर है, वे एक भावुक व्यक्ति थे। इनकी रचनाओं में राधाकृष्ण भाव की पूरी तन्मयता मिलती है। संगीतों के भाव और मूर्छनाएँ बहुत ही हृदयस्पर्शी हैं। उत्कल के संगीत लेखक कवियों में वे बनमाली के समान थे। उनकी कविताओं में प्रणयी और प्रणयिनी के हृदय की भावराजि असाधारण मनोवैज्ञानिक-दक्षता के साथ चित्रित है। भाषा की माधुरी, भावों का संभार और संगीत की मूर्छना ने गोपाल कृष्ण की कविताओं को उत्कल में बहुत ही जनप्रिय बनाया है। इनके वंशधर अब भी पारलाखेमुण्डि में वास करते हैं।

संगीत के निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

दया न करंतु मुं दासी सिना रे। पद।
दुःख देइ श्याम कु राधा सुखी हेबाकु
रुषिब कलु कि ए आलोचना रे।

निकटरे कि दूरे निति श्री मुख थरे
देखु थिबि एतिकि मो कामनारे।
गोपाल कृष्ण कहि हसि भाषिले सहि
के तो पछरे रहिछंति अना रे ॥

× × ×

ऋषिछंति मा गोष्ठ चन्द्रमा मोपरे। पद।
कि लागि काहिंकि मुहिं जाणिछि कि
लुह पुरिछि पुणि नयनरे।

× × ×

कोले बसाइबि गंडे गंड देबि
कथा न कहिले हेले बलरे।
गोपाल कृष्ण सेकाले धीरे भाषे
हेटि बसिछन्ति पुष्पबाटिरे।

यदुमणि महापात्र—हास्यरसावतार यदुमणि महापात्र आठगड़ के निवासी और जाति के बढ़ई थे। १८१० ई० में जन्म ग्रहण कर ये १८६५ तक जीवित थे। ये नयागड़ नरेश का राजाश्रय प्राप्त कर वहीं रहते भी थे। उनकी हास्यविनोद की बातें, "यदुमणिरहस्य" के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई हैं। उन्होंने कवि सम्राट् उपेन्द्र भंज के आदर्श पर "राघव-विलास" और "प्रबंध पूर्णचन्द्र" नाम के दो काव्य भी लिखे थे। "राघव-विलास" के तो कुछ ही अंश प्राप्त हुए हैं, किंतु प्रबन्ध पूर्णचन्द्र पूर्ण रूप से प्रकाशित हो गया है। प्रबन्ध पूर्णचन्द्र की रचना-शैली समुन्नत है और इसका पद-विन्यास तथा आलंकारिता उच्च कोटि की है। राघव विलास के जितने छान्द प्राप्त हैं उनमें भंजीय छटा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रतीत होता है कि यदुमणि ने कवि-सम्राट् उपेन्द्र भंज के समकक्ष बनने का प्रयास किया था। उत्कलीय जनता यदुमणि की प्रतिभा का बहुत ही आदर करती है। कवि-समाज में वे समुच्च स्थान के अधिकारी माने जाते हैं। संस्कृत साहित्य में उनका गंभीर प्रवेश था। इनकी कविताओं में भी तत्सम शब्दों की बहुलता है। कवि-सम्राट् के बाद अभिमन्यु, यदुमणि और उनके परवर्ती कविसूर्य बलदेव रथ ने उत्कल साहित्य को संस्कृत साहित्य के जोड़ का बनाने में सफल प्रयत्न किया था। नमूने के रूप में उनकी निम्नांकित कविता रक्खी जा सकती है—

"भीष्मंक आनन्द जन्माइला बन्दी वंदिब पदक भाषा जे।
रुक्मिणी कुंदने नीलमणिडोला बिहंते पदक भाषा जे ॥
धरा देवींक, मंडिबा दासी ए रसिले। डाकिलाणि पिक
विपिने ठाठिक स्वरूपा जिबा कि माषिले।

मधुसंगी रति बंधुथिब जीव नेव मुं एकाकी ललना।
नुहइ उचित किंचित कुंचित कुंतला करना कलना।
मह अहसे। बहइ नाहिं से सोरिषे, जेबे बा बहिब
तेबे पलाइब तब लोकने किशोरी से।"

(प्रबंध पूर्ण चन्द्र)

कविसूर्य बलदेव रथ—कविसूर्य बलदेव रथ का जन्म गंजाम जिले के आठगड़ राज्य में हुआ था। कहा जाता है कि उन्होंने देवी की कृपा से असाधारण पांडित्य और कवित्व-शक्ति प्राप्त की थी। उनका संगीत ज्ञान उच्चकोटि का था और वे स्वयं एक कुशल गायक थे। ये जलंतर, आठगड़ और उत्कल के गजपति महाराजाओं के आश्रय में रहे। उन्होंने अपने असंपूर्ण "चन्द्रकला" काव्य में भी उपेन्द्र, अभिमन्यु और यदुमणि की सी शक्तिमत्ता प्रदर्शित की है। उत्कल के संगीतकार कवियों में उनका प्राधान्य अप्रतिहत है। अनुप्रास-पूर्ण, खंड कविता की रचना में वे अग्रणी थे। अपने किशोर चन्दानन चंपू, रत्नाकर चंपू और असंख्य खंड काव्यों में उन्होंने जैसी पदविन्यास-पटुता प्रदर्शित की है और दिव्य मूर्च्छना भर दी है, वैसी चमत्कारिता और किसी ने नहीं दिखाई है। इसी के कारण उनको महान् कवियों में ऊंचा स्थान दिया जाता है। किशोर चन्द्रानन चंपू की नाटकीयता और कथोपकथन अनवद्य और अतुलनीय है। मूर्छना-गर्भित संगीतों ने किशोर चन्द्रानन चंपू और रत्नाकर चंपू को उत्कलीय जनता का कंठहार बना दिया है। प्रेम-मूर्ति राधाकृष्ण के लीलाविलास ने कविसूर्य की अलंकार-पूर्ण कविताओं में अपूर्व रूप पाया है। कविसम्राट् की सारस्वत सृष्टि में समवेत भाव से सब प्रकार की कविताओं ने संस्कृत रचनाओं के साथ जैसी सफल प्रतिद्वंद्विता की है उसी तरह कविसूर्य की गीतिकाएँ पद-संयोजन और मूर्छनामयत्व से संस्कृत गीतिकाओं की प्रतिद्वंद्वी बन सकी हैं। प्राकृत काव्यों को ऐश्वर्यशालिनी संस्कृत भारती के जोड़ तोड़ का बनाने के लिये रस-कल्लोल में दीनकृष्ण, वैदेहीश-विलास में कविसम्राट् उपेन्द्र, विदग्ध-चितामणि में अभिमन्यु और प्रबंधपूर्णचन्द्र में यदुमणि ने जो प्रयत्न किया था, कविसूर्य बलदेव ने अपनी चन्द्रकला और चंपुओं में उसकी अंतिम सार्थकता का संपादन किया है। उनकी कृतियों के कुछ उदाहरण निम्न हैं—

"मधुरे, मन्द मन्द होइ गन्धबह प्रसरिला कदंबनिकुंज सीमारे।
मरन्द सेके चमकि लोके भाषिले इषि मारे,
मिलिन्दलता दंभवनिता-बदने मिशि मारे।"

× × ×

राग पुरवी। ताल—आठताल
तुहि परा, मो हृदय-मणिमय-हारा रे। घोषा।
सहि तु मोहर सकल संपद, मदन फणि-रदन-विषगद,
अखिल विभव आखण्डल-पद-आरोहण-परंपरा रे॥

न मण्डिबु सिना मोरवक्षस्थल, हृदयरु जिबु करि केउँ कल।
मो मन-गगन तट-समुज्ज्वल उदय निर्मल तारारे।
मोमन-गगन तट-समुज्जवल उदय निर्मल तारारे।
सजनि गो, नवसुरति-विभव, पासोरि जिब कि मनु थिले जीव।
दीन कवि-रवि चातकर नव घनरस जलधारा रे।।

चन्द्र कला

फुल मण्डपे जेमा चन्द्रकला। न्याय बल केलिरे बिजे कला।
खुलु खेलु ता मृदु अंग देशे। विलसिला अलसभाव लेशे।।
जृंभा जृंभित मुख कलानिधि। घेरि देला बाहुपाश परिधि।
सायंतन श्यामल कंजशिरि। छुइँ आसिला नयन सफरी।।
(चन्द्रकला)

भरतशैण—भरत शेण गंजाम जिले के अंतर्गत घराकोट के अधिवासी थे। वे १८६० ई० तक जीवित थे। उन्होंने सुलोचना-परिणय और सुभद्रा-परिणय नाम के दो सरस काव्यों की रचना की है।

भुवनेश्वर कविचन्द्र—भुवनेश्वर कविचन्द्र का जन्म गंजाम जिले में हुआ था। वे सन् १८४६ से १८९२ ई० तक जीवित थे। उन्होंने विभिन्न आलंकारिक प्रयोगों से पूर्ण "वासुदेव-विलास, सीतेशविलास, प्रबन्ध-रत्नमाला, रासलीला कटपाया, चौपदी माला, श्रीनिवास दीपिका और दशपोइ" आदि ग्रन्थों की रचना की है। उनकी रचनाओं पर पूर्ववर्ती कवियों का बहुत ही प्रभाव है।

भीमभोई—भीमभोई का जन्म संबलपुर के निकटवर्ती रेढ़ाखोल में हुआ था। वे अन्धे थे और महिमा धर्म के प्रवर्तक महिमा गोसाईं की कृपा से अलेख ब्रह्म के संबंध में विभिन्न प्रकार के गीत लिखने में समर्थ हुए थे। भीमभोई एक संत और प्रत्यादिष्ट पुरुष थे। उन्होंने सर्वजन-बोध्य भाषा में स्तुति-चिंतामणि, ब्रह्म निरूपणगीता, चउतिशा और भजन माला आदि की रचना की है। उनकी रचनाओं में निराकार ब्रह्मतत्व प्रतिपादित हुआ है और महिमा धर्मावलंबी उन सब को गा-गाकर उत्कल के विभिन्न स्थानों में अपने धर्म का प्रचार करते हैं। उच्च शिक्षा न पाने पर भी उनमें भाव प्रकाशन की पर्याप्त शक्ति थी। निम्न उद्धृत पदावलियों से इस उक्ति की सत्यता प्रमाणित हो जाती है:—

नरदेह पाइछ जन्म। एते बेले डाक महिमा नाम। घोषा।
काल चक्र ब्रह्माण्डरे फेरिलाणि,
अदृष्टकरम हेउछि बाम।
एक प्रभु बिनु ए मानव तनु। रखि बाकु केहि नुहन्ति क्षम।१।

मिछ कथाकु पसरा करिअछि, सरिलाणि देखु सकल काम।
दिन न सरि अपमृत्यु हेउछि, बिअर्थरे बान्धि नेउछि यम।।२।।
अग्नि अंगीकार पुरुष अटन्ति, तांक तुले केहि नुहन्ति सम।
चारि तीर्थ आसि शर्णागति पशि, श्रीचरण तले से चउधाम।।३।।
जे आश्रित हेब गुरुधर्म नेब, आकाशकु चाहिं कर नियम।
न धइले रटि गण्डि जिब फिटि, पश्चान्ते पाइब पथशरम।।४।।
सप्त ब्रह्माण्डकु सातथर होइ, फेरि आसिलाणि अलेख धर्म।
जाणि शुणिकरि चित्तरे न धरि, मायारे किंपाइं हेउछ भ्रम।।५।।
अक्षरे न बसे रूपरे न दिशे, से प्रभुंकु नाहिँ पाइले काम।
आत्मा ग्यान हेले तेबे जाइं मिले, भणं भीम भोइ पामर हीन।।६।।

लडुकेश्वर महापात्र—लडुकेश्वर साहु नयागड़ रियासत के निवासी थे। उन्होंने "आदि काव्य" नाम की अपनी कृति में रामकथा लिखी है। यह सात भागों में विभक्त है। प्रत्येक भाग अनेक मूर्छनामय छन्दों से परिपूर्ण है। लडुकेश्वर की रचना निराडंबर और सरल है।

गंगाधर पट्टनायक—भारतचरितामृत नामक काव्य के रचयिता गंगाधर पट्टनायक कटक जिले के अंतर्गत बांकी सुवर्णपुर के निवासी तथा मधुसूदन पट्टनायक के पुत्र थे। अपने उपरोक्त काव्य की रचना में इन्होंने समग्र महाभारत, सारला महाभारत और दूसरे संस्कृत पुराणों की पूरी सहायता ली है। यह १९ भागों में विभक्त है। इसी में हरिवंशचरित भी अन्तर्मुक्त है।

गंगाधर प्रधान—गंगाधर प्रधान संबलपुर जिले के निवासी थे। इन्होंने "सिद्ध हरिवंश गंगाभारत" नामक काव्य की रचना की थी। सिद्ध हरिवंश संस्कृत हरिवंश का हूबहू अनुवाद है। किंतु इसमें कवि की अपनी मौलिक दृष्टियाँ भी पर्याप्त हैं।

इस प्रकार उत्कलीय आध्यात्मिक सृष्टि के वाहन के रूप में उत्कल का यह कला और संगीतमय साहित्य अनुकूल वातावरण से संवर्द्धित और परिपुष्ट होकर चरम उत्कर्ष में उपनीत हो सका था। कविसम्राट् के परवर्ती कवियों ने उनकी जोड़ में काव्य रचना करने का भरसक प्रयत्न किया था। छन्दोबद्ध काव्य और उसके बाद गीत तथा संगीत उत्कलीय सरस हृदय के मनोज्ञ माध्यम बने। पाला, दास-काठिया, रामलीला, भारतलीला, राधाकृष्ण प्रेमलीला, रास, घुडुकिनृत्य, यात्रा और स्वांग आदि ने उत्कलीय सारस्वत सृष्टि को जनता में कुशलता से परिवेष्टित करके देश में इसकी सुदृढ़ प्रतिष्ठा की है। कवियों और महाकवियों की चित्ताकर्षक रचनाओं ने इन कलाशिल्पियों के स्वरों और अभिनयों के माध्यम से सारे भूखंड को एक सिरे से दूसरे सिरे तक मंदाकिनी के समान परिप्लावित किया है। १६वीं सदी के आरंभ से अंग्रेजी शासन के पूर्व तक अपनी स्वाधीनता खो देने पर भी कोई विजातीय प्रभाव उत्कल की शिक्षा और संस्कृति को कलुषित नहीं कर सका था। उत्कलीय सारस्वत का स्वातंत्र्य पूर्णतया

अव्याहत था। अब तक के निर्मित साहित्य पर उसकी स्वतंत्र दृष्टि ही स्वच्छ भाव से प्रतिबिंबित हुई थी। यह सुदृढ़ जातीय साहित्य ओड़िया जाति के गर्व और गौरव की सामग्री है। इसकी सृष्टि और क्रम विकास में बहुत से समर्थ साधकों की महनीय साधनाएँ पुंजीभूत हैं। यह लेख उन साधनाओं का अत्यंत नगण्य और संक्षिप्त परिचय मात्र है।

ओड़िया साहित्य का विकास-क्रम

(घ) आधुनिक ओड़िया साहित्य

श्री नटवर सामंतराय

आधुनिक ओड़िया साहित्य का वास्तविक आरंभ ओड़िशा पर अंग्रेजी के अधिकार के पश्चात् ही हुआ। सन् १८०३ में ओड़िशा अंग्रेज़ी शासन के अन्तर्गत आ चुका था। इस नये शासनाधिकार ने ओड़िया जाति के राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा शैक्षिक क्षेत्रों में जो अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित किया, उससे साहित्य को एक महत्वपूर्ण तथा नवीन दिशा की ओर मुड़ जाने का अवसर मिला। आधुनिक साहित्य उसी परिवर्तन का परिणाम है।

ब्रिटिश काल के पूर्व ओड़िया साहित्य एकोन्मुखी था। संस्कृत और ब्रज साहित्य इसके काल्पनिक, रीतिवादी तथा वैष्णव साहित्य के प्रेरणा केन्द्र थे। वस्तुतः इस देश का जीवन स्रोत एक ही धारा में प्रवाहित था और गतानुगतिक ढंग से संचालित होनेवाली शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता और चिन्ताधारा में भी प्राचीन परंपरा का ही पूर्ण अनुमोदन था। साहित्य के क्षेत्र में इस परंपराप्रियता ने एक सधी-सधाई लीक अथवा रूढ़ि बना रखी थी। वैचित्र्य-विहीन, सामाजिक तथा परंपराबद्ध काव्य-निर्माण की रूढ़ि ने चारों ओर अपनी जड़ें जमा ली थीं और जो नवीनता के अभाव में दिनोदिन खोखली तथा अशक्त होती जा रही थीं। विकास के संपूर्ण मार्ग अवरुद्ध होकर उसे जर्जर बना चुके थे। आधुनिक युग के पूर्व तक आते आते ओड़िया साहित्य के ये दोष अपनी चरम सीमा को पहुँच गये थे।

जीवन और साहित्य के ठीक इसी अवरुद्ध वातावरण में ओड़िशा पर अंग्रेजों ने अधिकार जमाया और इस अधिकार के साथ ही साथ विजित जाति विजेता की सभ्यता और साहित्य के सम्पर्क में आई। फलतः उसके जीवन तथा साहित्य के आंगिक और आत्मिक तत्वविभव में परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। आगे चलकर इसी परिवर्तन ने ओड़िया साहित्य में अचिन्तनीय क्रान्ति उपस्थित की और निर्धारित तथा परंपरित रूढ़ मान्यतायें सारहीन समझी जान लगीं। फलतः आधुनिक कवियों ने प्राचीनता का केंचुल उतार फेंका और नवीनता का स्वागत खुलकर किया। किंतु विदेशी शासक की सभ्यता अथवा चिन्ताधारा के संपर्क में आते ही सहसा कोई उल्लेखनीय परिवर्तन उपस्थित नहीं हुआ बल्कि प्रभावशाली और स्पष्ट परिवर्तन का इतिहास विजेता और विजित के सांस्कृतिक संघर्ष के फलस्वरूप, संपर्क के वर्षों बाद शुरू हुआ। इस संघर्ष का उदय प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा-सभ्यता के मेल से हुआ जब कि विजित जाति विजेता के

प्रति प्रारंभिक अजनबीपने को भूलकर उसकी संस्कृति और सभ्यता को काफी हद तक समझने-बूझने और हृदयंगम करने लगी थी। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि साहित्य निर्माण के आदर्शों में महान् परिवर्तन उपस्थित करने वाले मूल कारण थे यही मेल और संघर्ष। यहाँ आकर साहित्य का स्वर एकदम बदल गया। विषय, शैली आदि में पहले से विशेष अन्तर हो गया और उसमें देशी-विदेशी प्रभावों, संस्कारों और नवीन कल्पनाओं का समावेश होने लगा।

यदि हम भक्तचरणदास (१८वीं सदी) की "कलाकलेवर चौतीसा" और मधुसूदन राओ की "भारत भावना" (१८८३ ई०) नामक काव्य रचनायें लें और उनका तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि मध्ययुगीन और आधुनिक साहित्य-निर्माण का लक्ष्य किस प्रकार पृथक्-पृथक् था। उपरोक्त दोनों रचनाकारों में लगभग सौ वर्षों का साधारण अन्तर है किंतु उनकी रचनाओं के आदर्शों में बहुत बड़ा अन्तर मिलता है। "कलाकलेवर चौतीसा" सोलह वर्णों की पंक्तिवाले रामकेरी नामक छन्द में लिखी गई है, जिसमें कृष्ण तथा गोपियों का प्रेम वर्णित है। दूसरी रचना भारत भावना है जो स्पेंसीरियन छन्द में है। यह प्रधान रूप से जातीयता (नेश्नैलिटी) के भावों से ओतप्रोत और भारत के प्राचीन इतिहास में केन्द्रित है। पहली रचना भाषा, भाव, अलंकार, छन्द आदि सभी दृष्टियों से मध्ययुगीन साहित्य धारा से प्रभावित है और दूसरी नितांत परिवर्तित एवं गतिशील दृष्टियों से उद्भावित तथा नवीनताओं से स्पंदित है।

पहली रचना मध्ययुगीन साहित्यादर्शों पर आधारित है। रामायण, महाभारत और भागवत तत्कालीन साहित्य के प्रेरक ग्रन्थ थे। किंतु पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित होने के कारण अपने स्वर-झंकार, माधुर्य, भाषा के निराडंबर स्वरूप, भावाभिव्यक्ति की स्वाभाविकता तथा रूप विभव की दृष्टि से, दूसरी रचना मध्ययुगीन रचनाओं से नितांत भिन्न है। यह कविता जातीयता की भावना को लक्ष्य करके लिखी गई है। जातीयता के ऐसे भावों का आगमन इस देश की मिट्टी में विशेष कर साहित्य के क्षेत्र में सर्वथा एक नई वस्तु थी। इस प्रकार पिछले अस्सी वर्षों के भीतर विभिन्न समयों में, विभिन्न चिन्ताधाराओं ने ओड़िया साहित्य में जिस विचित्र शैली को जनमाया है, वह अभूतपूर्व, अभिनव तथा विस्मयकर है।

देश की स्वाधीनता के लुप्त होने के साथ ही साथ विदेशी शासनसत्ता सर्वप्रथम नगरों में केन्द्रीभूत हुई थी, अतः नगर ही एकमात्र जनजीवन का नियंत्रक और संचालक रहा। फल यह हुआ कि पहले का देहाती जीवन अपना सब सौन्दर्य और आकर्षण खो बैठा। नये शासन और आधुनिक शिक्षा-प्रसार की नीति पहले पहल नगरों में ही प्रवर्तित, परीक्षित और कार्यान्वित हुई थी। अतः आधुनिक साहित्य केवल नागरिक जीवन में ही सीमित रह गया। आधुनिक शिक्षा प्राप्त मध्यमवर्ग ने विदेशी साहित्य के अनुकरण पर तथा नागरिक जीवन से आलोक ग्रहण कर नये आधुनिक साहित्य की सृष्टि की। यही कारण है कि पहले पहल इस साहित्य का कोई भी संबंध जनजीवन के साथ प्रतिष्ठित नहीं हुआ। यह नितांत एकांगी और मध्यमवर्गीय साहित्य था अतएव इसे नागरिक साहित्य कहें तो अनुचित नहीं। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली,

उसके उपयोग लायक पाठ्य पुस्तकें, आधुनिक शिक्षित मध्यमवर्गीय समाज तथा आधुनिक साहित्य इन चारों में जो अन्योन्याश्रित संबंध है, उसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के जिस प्रांत में, जितना ही पहले आधुनिक शिक्षा-प्रणाली चली, उस प्रांत की पाठ्य-पुस्तकों तथा मध्यमवर्गीय समाज ने उतना ही शीघ्र अभ्युत्थान किया है। फलतः उस प्रांत का आधुनिक साहित्य उतना ही पहले विकसित हो सका। आधुनिक बंगला साहित्य की ओर दृष्टिपात करने पर इस कथन की वास्तविकता सहज ही प्रमाणित हो जाती है। उत्कल में वही मध्यमवर्गीय समाज तथा साहित्य बहुत वर्षों के बाद प्रकट हुआ। इसका कारण यही था कि इस उपेक्षित प्रांत में उचित समय पर नई शिक्षा का प्रसार नहीं हो पाया था। आधुनिक ओड़िया साहित्य कहने से जो आज समझा जाता है, वास्तव में वह १८७० ई० के बाद ही उत्पन्न हुआ था।

मिशनरी युग या रुचि-परिवर्तन का युग १८०३-१८४२

अंग्रेजों के आधिपत्य के साथ ही साथ देश में बहुत पहले से कार्यरत ईसाई मिशनरियों का जाल फैलने लगा। ईसाई धर्म-प्रचार के लिए यह आवश्यक था कि वे प्रचार-क्षेत्र की भाषा संस्कृति आदि को अच्छी प्रकार समझ सकें और धार्मिक बातों को उसमें व्यक्त भी करें। धर्म-प्रचार के इसी उद्देश्य को लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में विलियम केरी, मार्शमान और वाड साहब ने बंगला-गद्य साहित्य को बढ़ाया ही नहीं वरन् उसे एक नया रूप भी दिया। ठीक इसी प्रकार ओड़िया भाषा में भी गद्य-रचना हुई। केरी साहब ने सर्वप्रथम दूसरों की सहायता से बाइबिल (१८०९) तथा धर्म संबंधी अनेक पुस्तकें ओड़िया गद्य में लिखीं। किंतु उनका प्रधान कर्म-क्षेत्र बंगाल था, अतएव बंगला भाषा और साहित्य की अपेक्षा वे ओड़िया भाषा और साहित्य के प्रति बहुत कम कार्य कर सके। ईसाई धर्म प्रचार के निमित्त उन्होंने भारत की ३५ भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद कराया था। उसी सिलसिले में ओड़िया अनुवाद की व्यवस्था भी की गई थी। इस कार्य को केरी साहब ने स्वयं अपने हाथ में लिया किंतु इसके बाद ही ओड़िया गद्य में पाठ्य पुस्तकों की रचना का भार मिशनरी सटन साहब के ऊपर पड़ा। अतएव केरी साहब उसके अतिरिक्त और कुछ न कर सके।

सन् १८१३ में कंपनी की घोषणा के अनुसार शिक्षा विभाग के लिये वार्षिक व्यय की पृथक् व्यवस्था अवश्य हुई किंतु अनेक वर्षों तक ओड़िया को इसका कुछ भी अंश प्राप्त नहीं हुआ। मिशनरियों ने यहाँ सर्व प्रथम सन् १८२२-२३ ई० में १५ देशी विद्यालयों की स्थापना की जिसके द्वारा आधुनिक शिक्षा प्रसार की नींव पड़ी। इस कार्य के लिये धनी लोगों से आर्थिक सहायता ली गई और कार्यकर्त्ताओं तथा संचालकों ने अदम्य उत्साह और धैर्य से शिक्षा-प्रसार में महत्वपूर्ण योग-दान दिया। इन कार्य कर्त्ताओं के सामने कई व्यावहारिक कठिनाइयाँ थीं जिनको दूर किये बिना कुछ भी करना संभव नहीं था। ऊपर बताया जा चुका है कि इन लोगों का उद्देश्य धर्म-प्रचार था। अतएव जिस क्षेत्र में प्रचार-कार्य होता था, वहाँ की भाषा का यथेष्ट ज्ञान

उन्हें आवश्यक था। भाषा-ज्ञान के लिये इन्हें वहाँ से किसी प्रकार की सुविधा थी नहीं। न तो-व्याकरण ही था और न अभिधान। इस कमी को पूरी करने के लिये उन्होंने जिस उत्साह और लगन का परिचय दिया उसके लिये ओड़िया भाषा-भाषी उनके चिर ऋणी रहेंगे। आवश्यकता और अनिवार्यता का अनुभव करके सटन साहब ने व्याकरण और अभिधान रचना में हाथ लगाया। फलतः इन्होंने अंग्रेजी में ओड़िया व्याकरण (इंट्रोडक्टरी ग्रामर आव् दी ओड़िया लांगवेज, १८३१ ई०) और अभिधान (ओड़िया डिक्शनरी, १८४१ ई०) की रचना कर इस कमी को दूर कर दिया। इधर, आधुनिक शिक्षा के लिये कंपनी सरकार ने जो प्रयत्न आरंभ किया था उसी सिलसिले में पुरी में एक अंग्रेजी स्कूल खुला (१८३५ ई०)। किंतु सन् १८४० तक शिक्षा की दिशा में कोई प्रगति न हुई। इस उपेक्षा और अन्यमनस्कता के काल में मिशनरी प्रचारकों ने शिक्षा का बीड़ा उठाया। सटन साहब ने विद्यालय-स्थापन के साथ-साथ उपयोगी पाठ्यपुस्तकों की रचना के लिये भी प्रयास किया। इस प्रकार मिशनरी के प्रचारकों ने ओड़िया में आधुनिक शिक्षा की नींव डाली, उसके प्रसार के लिये पाठ्यपुस्तकों की रचना की और प्रत्येक संभव उपायों द्वारा उसे गति प्रदान की। परंतु इन सभी प्रयत्नों के मूल में ईसाइयत के प्रचार की भावना ही कार्य कर रही थी। ओड़िया साहित्य और भाषा में सुसम्बद्धता और नवीनता लाने का उनका ध्येय कदापि नहीं था और न वे इन कार्यों के द्वारा धर्म-प्रचार के लिये उचित क्षेत्र और वातावरण ही तैयार करना चाहते थे। इस तैयारी में ओड़िया भाषा और साहित्य का कल्याण अपने आप होता गया। उन्होंने विद्यालयों और मुद्रणालयों की स्थापना की, आधुनिक शिक्षा के योग्य पाठ्य पुस्तकों का प्रणयन और पत्रिकाओं का संपादन किया और इन चार साधनों को मुख्य रूप से धर्म प्रचार का अस्त्र बनाया।

इसी क्रम में सन् १८३७ में कटक मिशन प्रेस स्थापित हुआ और १८४९ में ज्ञानारुण नामक मासिकपत्र निकाला जाने लगा। इस प्रकार शिक्षा प्रसार का कार्य धर्मप्रचार का केवल बाह्य स्वरूप ही था जिसके लिये सटन साहब ने बाध्य होकर कुछ पाठ्य पुस्तकें रची थीं।

इसके अतिरिक्त शासनकार्य में नियुक्त होनेवाले तत्कालीन उच्च अधिकारी ओड़िया भाषा से अपरिचित होते थे। फोर्ट विलियम कालेज से बंगला की योग्यता प्राप्त करनेवाले सिविलियन ओड़िशा के शासन कार्य में नियुक्त होते थे। कारण था ओड़िया से बंगला का नैकट्य और शब्द तथा उच्चारण का निकटतम साम्य! इससे उन अधिकारियों को शासन कार्य में कोई विशेष असुविधा भी नहीं होती थी। इनमें कुछेक ओड़िया भी जानते थे। किंतु उन लोगों ने इसे बंगला सीखने के बाद सीखा था। सटन साहब ने भी यही किया था। फल यह हुआ कि उनकी ओड़िया पाठ्य पुस्तकों की भाषा बंगला-अनुवाद की भाषा हो गई। इसी अनुवाद के आधार पर उन्होंने ओड़िया गद्य के जिस स्वरूप का जन्म दिया वह कृत्रिम, बँगला-प्रभाव से ग्रस्त और अव्यावहारिक था। केरी साहब के बाइबिल की ओड़िया भी इसी अनुवाद के नाते बहुत अंशों में बंगला की प्रकृति से ओतप्रोत थी। लेकिन तुलना करने पर यह जान पड़ता है कि केरी

साहब के बाइबिल की ओड़िया की अपेक्षा सटन साहब की पाठ्य पुस्तकों की ओड़िया बंगला के प्रभाव से कुछ मुक्त थी।

सन् १८४२ से १८७० तक की अवस्था

प्रथम दो दशकों में (१८२२-४२) मिशनरियों ने शिक्षा-प्रसार और पाठ्य पुस्तक रचना की जो नींव डाली थी, वह इस आलोच्य काल (१८४२-७०) के बीच तनिक मजबूत बन गई थी। अर्थाभाव के कारण सन् १८२३ में स्थापित कटक इंगलिश चैरिटी स्कूल को मिशनरियों ने १८४१ में कंपनी को सौंप दिया। उसी समय से यह विद्यालय ओड़िशा के शिक्षा-प्रसार का मुख्य केंद्र बन गया। पहले यह हाईस्कूल था, बाद में एफ० ए० (१८६८) और बी० ए० (१८७६) की कक्षायें भी खोली गईं। आजकल इसी का नाम रैवेंशा कालेज है। आगे चलकर दो और हाई स्कूल बालेश्वर और पुरी में खुले (१८५३ ई०)। १८७० ई० तक ओड़िशा में केवल तीन ही हाई स्कूल थे। उस समय हाई स्कूल की शिक्षा ही ओड़िशा में उच्चशिक्षा समझी जाती थी। सन् १८४४ ई० में लार्ड हार्डिंज के आदेश से समूचे बंगप्रदेश में जो १०१ देशी विद्यालय खोले गये थे, उनमें से ओड़िशा के हिस्से में केवल ८ ही पड़े थे। उपरोक्त तीन हाई स्कूलों के अतिरिक्त ये आठ स्कूल भी सरकार के प्रत्यक्ष दायित्व में चलते थे जिसमें ओड़िया भाषा ही पढ़ाई जाती थी। किंतु अंग्रेजी शिक्षा की उपादेयता अधिक समझी जाने के कारण आगे चलकर इन विद्यालयों में से कई बंद हो गये थे।

सन् १८४२ में कंपनी सरकार ने उत्तरभारत के समस्त विद्यालयों के लिये उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें चलाने की एक योजना बनाई। २० जून सन् १८४२ ई० को शिक्षा कौंसिल के सेक्रेटरी श्री एच० वी० बेली ने विभिन्न स्थानों की शिक्षा-कमेटियों को एक सर्कुलर भेजा था जिसमें प्रचलित पाठ्य पुस्तकों की दशा और उनकी उन्नति के लिये प्रस्ताव मांगा गया था। इस पर कटक की शिक्षा-कमेटी ने ओड़िशा में प्रचलित समस्त पाठ्य पुस्तकों के विवरण सहित, नई पुस्तकों के प्रणयन का प्रस्ताव दिया था। इसी कार्य के अंतर्गत सटन साहब ने बंगला से ओड़िया में अनुवाद करने के लिये विश्वंभर विद्यालंकार के नाम का समर्थन किया था। इस समय ओड़िया की जो पाठ्य पुस्तकें तैयार की गई थीं उनमें विभिन्न वर्ग के विद्यार्थियों के मानसिक विकास की ओर ध्यान दिया गया था। पहले सटन साहब और पं० विश्वंभर विद्यालंकार तथा बाद में मि० लेसी और जे० फिलिप्स आदि लेखकों ने विभिन्न विषयों की पुस्तकें लिखकर शिक्षा-प्रसार में विशेष योग दिया था। किंतु यह सब होते हुए भी लगता है कि लगभग ५० वर्षों (१८२२-७०) के इस काल में नई शिक्षा को प्रचलित करने का जो प्रयास ओड़िशा में किया गया, उसमें कोई संतोषजनक प्रगति नहीं हो पाई। इसमें निम्नांकित कारणभूत कठिनाइयों को उपस्थित किया जा सकता है—

(क) विशाल बंग-प्रदेश के विभाग रूप में होने के कारण ओड़िशा उसकी अपेक्षा अत्यन्त अवहेलित और उपेक्षित रहा। यद्यपि बंगाल के साथ ओड़िशा के इस राजनैतिक बंधन

के नाते ओड़िया साहित्य के विकास में लाभकारी योग मिले, फिर भी हानियां कम नहीं थीं।

(ख) शिक्षा प्रसार में बरती जाने वाली अनुदार नीति के कारण संपूर्ण बंग प्रदेश के लिय स्वीकृत आर्थिक सहायता केवल आधुनिक वंगप्रदेश में ही व्यय की जाती थी। ओड़िशा की जनसंख्या के अनुपात के अनुसार जो धनराशि यहाँ व्यय की गई, वह बंगाल के किसी जिले में व्यय की जाने वाली रकम से भी कम थी। तत्कालीन विभागीय इंस्पेक्टरों के उल्लिखित मंतव्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बेतुकी और अवांछनीय शिक्षा संबंधी नीति के कारण ओड़िशा को बहुत हानि उठानी पड़ी।

(ग) आधुनिक शिक्षा के प्रति इस प्रांत के लोगों की गंभीर वितृष्णा भी शिक्षा में बाधक हुई। मिशनरियों ने प्रकाशित पुस्तकों के द्वारा शिक्षा का प्रसार किया था। किंतु ये लोग देश-वासियों के धर्म की कड़ी आलोचना करते थे। इसलिये लोग धर्महानि के भय से मिशनरी स्कूलों के अतिरिक्त आधुनिक विद्यालयों तक में भी अपने बच्चों को पढ़ने के लिये नहीं भेजते थे। यहाँ तक कि जनता में एक ऐसा संस्कार बद्धमूल हो गया था कि छपी पुस्तक पढ़ने से धर्म का लोप हो जायगा। लोकचित्त के इसी संस्कार के साथ ही साथ आधुनिक शिक्षा के प्रति उसकी वितृष्णा भी शिक्षा की गति में अवरोधक सिद्ध हुई।

किंतु बहुत दिनों तक यह स्थिति नहीं रह सकी। शिक्षा के प्रति लोगों का मनोभाव क्रमशः बदलता गया। इस परिवर्तन के मूल में सरकारी नौकरी के पाने का प्रलोभन था। सन् १८३५ में लार्ड मैकाले की शिक्षा-योजना में स्कूलों में अँग्रेजी भाषा की प्रधानता स्वीकार की गई थी। सन् १९४४ में लार्ड हार्डिंज के आदेशानुसार सरकारी नौकरी के लिये आधुनिक शिक्षा एक मात्र साधन रूप में अनिवार्य हो गई। जीने के लिये नौकरी और नौकरी के लिये आधुनिक शिक्षा की आवश्यकता थी। फलतः अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी और इस पर जीविकार्जन के निर्भर हो जाने से लोग उसकी ओर आकृष्ट होने लगे। किंतु खेद का विषय है कि ऐन ऐसे समय जब कि आधुनिक शिक्षा की ओर लोग आग्रहपूर्वक अग्रसर होने लगे थे, सरकार शिक्षा व्यय में नितांत कंजूँसी करने लगी।

जिस शिक्षित निम्न मध्यमश्रेणी के निरंतर अध्यवसाय के कारण ओड़िया साहित्य का विकास होने लगा था, उसका जन्म सन् १८४० के पूर्व नहीं हुआ था। यद्यपि इस श्रेणी का आविर्भाव १८४० ई० में ही हो गया था, तथापि वह अच्छी तरह प्रकट हुई १८७० ई० के बाद ही। सन् १८४० से १८७० के बीच धीरे-धीरे इसका विकास हुआ। सन् १८६८-७० में ओड़िया भाषा का उच्छेद कर ओड़िशा के स्कूलों और न्यायालयों में बंगला भाषा चलाने की जो अपचेष्टा की गई थी, वह इसी नूतन आविर्भूत शिक्षित निम्नमध्यम श्रेणी और अधिकारी वर्ग की अपूर्व कल्याण भावना से ही संचालित थी। सन् १८६५-६६ के घोर अकाल से ओड़िया जाति की रीढ़ टूट गई थी, साथ ही इस भाषा-विलोप आंदोलन ने उसके हृदय में गहरी चोट पहुँचाई।

इसी आघात की प्रतिक्रिया का फल था कि सन् १८७० के पश्चात् सर्वथा एक नई साहित्यिक सृष्टि के लिये लोग उत्तेजित हो उठे थे।

आधुनिक ओड़िया साहित्य के प्रारंभिक दशक (१८७०-८० ई०) के छोटे समय में यथार्थवादी साहित्य की सृष्टि के लिए जो अभिनव उन्माद और उत्साह ओड़ियों के हृदय में उत्पन्न हो गया था, वह सचमुच आलोकप्रद और विस्मयकर है। विचारणीय है कि यदि घोर दुर्भिक्ष और भाषा-विलोप आन्दोलन न हुए होते तो ओड़िया भाषा और साहित्य के संरक्षण तथा संवर्द्धन के लिए ओड़िया और राजपुरुष इतने सचेष्ट और सचेत न होते। अतः ये दोनों इसके लिए परम आशीर्वाद सिद्ध हुए। बंगला साहित्य की अपेक्षा ओड़िया के आधुनिक साहित्य ने ५० वर्षों बाद जो विकास किया, उसके दो ही मुख्य कारण हम लक्ष्य कर सकते हैं। स्वतंत्रता के लोप होने के पश्चात् बंगाल की भाँति दूसरे प्रांतों में भी देश की सर्वांगीण उन्नति का महान् दायित्व, राजा महाराजाओं के हाथ से निकलकर जनसाधारण के ऊपर पड़ा। बंगाल में भूमि के स्थायी बंदोबस्त के कारण धनी जमींदारों की एक अलग श्रेणी ही प्रादुर्भूत हुई जो जनता का शोषण करने लगी थी। किंतु बंगाल का यह जमींदार वर्ग आधुनिक शिक्षा से अनुप्राणित होकर देश की भलाई के लिये प्रयत्नशील था और शिक्षा के अधिकाधिक प्रचार के नाते वहाँ निम्नमध्यम-वर्ग भी सिर उठा रहा था। इसी नवोत्पन्न शिक्षित मध्यमवर्ग ने नये जमींदारों और सरकार की प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता से सन् १८२० के बाद से ही स्वतंत्र नवसाहित्य का निर्माण प्रारंभ कर दिया था। किंतु ओड़िशा की दशा इससे नितांत भिन्न थी। शिक्षा-प्रसार की अवहेलना के कारण यहाँ इस शिक्षित मध्यमवर्ग का विकास १८७० ई० से प्रारम्भ हुआ। ओड़िशा में भूमि की घोर अव्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त कलकत्ते में ओड़िशा की जमींदारियों के नीलाम होने का जो अवांछित विधि-विधान बना, उसके कारण सन् १८१८ के पूर्व ही यहाँ की दो तिहाई जमींदारियाँ कलकत्तावासी बंगाली कर्मचारियों के हाथ चली गईं। अतः इस प्रांत का परंपरागत प्राचीन जमींदार-वर्ग तहस-नहस हो गया। दूसरी ओर साहित्य निर्माण का नेतृत्व करनेवाला शिक्षित वर्ग अत्यंत गरीब था। आधुनिक शिक्षादीक्षा से अनभिज्ञ होने के कारण सन् १८७० तक यहाँ का रियासती राजन्यवर्ग भी साहित्य-विकास के लिये कुछ भी सहयोग नहीं कर सका था। अतएव सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि सन् १८७० तक इस प्रांत के साहित्य-विकास के लिये अनुकूल परिस्थितियों और कारणों का नितांत अभाव था।

सन् १८६९ ई० में ओड़िशा के विद्यालयों में ओड़िया भाषा चलाने की सरकारी आज्ञा जारी की गई। सरकारी अधिकारियों—विशेषकर ओड़िशा के कमिश्नर रेवेंशा साहब तथा स्कूल इंस्पेक्टर आर० एल० मार्टिन ने शिक्षा प्रसार के लिये पूरा प्रयत्न किया। तब जाकर कहीं विद्यालयोपयोगी विविध पाठ्य पुस्तकें तैयार हो सकीं। इस पहले क्षेत्र के प्रधान अगुये मिशनरी लोग ही थे लेकिन अब यहाँ के बंगाली निवासी, मराठी और ओड़िया भी सामने आये। वास्तव में १८७० से १८८० का यह आलोच्य काल पाठ्य पुस्तक-रचना अथवा रुचि परिवर्तन का द्वितीय विकास युग है। चूँकि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से इस प्रांत में अंग्रेजी साहित्य और ज्ञान-विज्ञान

का प्रचार करना ही आधुनिक शिक्षा का चरम लक्ष्य था, इसलिये पाठ्यपुस्तकें भी उसी नीति का अनुसरण करने को विवश थीं। इसके पूर्व विद्यालयों में साधारण अक्षर-ज्ञान के पश्चात् छान्द, चौतिशा, काव्य (अधिकतर धर्ममूलक रचनाओं) पर ही जोर दिया जाता था जिसके कारण लोगों की एक विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति बन जाती थी। आधुनिक शिक्षा के प्रवर्तन से उस चित्तवृत्ति में एक महान् परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा। जीवन के उपभोग की नई दृष्टि साहित्य के रसास्वादन की स्वतंत्र मनोवृत्ति और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के सहारे पार्थिव जगत् के प्रति ज्ञान प्राप्त करने की जो स्पृहा लोगों के मन में जागृत हुई, वह केवल आधुनिक प्रणाली की पाठ्यपुस्तकों के द्वारा शिक्षा ग्रहण करने के ही कारण थी। इसलिये जैसे जैसे पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से भलीभाँति परिचित होकर ओड़िया साहित्य के निर्माताओं ने जनता के सामने नये साहित्य को रखना आरंभ किया, वैसे ही वैसे पाठ्य पुस्तकों के द्वारा उस साहित्य का स्वागत करने के लिये अनुकूल वातावरण भी तैयार होता गया, नहीं तो राधानाथ मधुसूदन जैसों की रचनाएँ इतना शीघ्र उचित सम्मान न पा सकतीं।

इस प्रकार इस काल में (१८७०-८०) पाठ्यपुस्तकों के द्वारा नये साहित्य के रसास्वादन की क्षमता उत्पन्न करने के साथ ही साथ आधुनिक साहित्य का प्रथम उत्थान भी हुआ। सर्वप्रथम बालेश्वर जिले में ही इस नये प्रसार के साहित्य ने आत्मप्रकाश की सुविधा पाई क्योंकि यह आधुनिक साहित्य की जन्मभूमि बंगाल के निकट है। संयोग से उसी समय राधानाथ और मधुसूदन ने भी उसी जिले को अपना प्रारंभिक कार्यक्षेत्र बनाया। उनके जैसे नये लेखकों के सहयोग तथा कुमार बैंकुठनाथ दे जैसे जमींदार की अनुकूलता से सन् १८७३ में ओड़िया का वास्तविक साहित्य-मासिक पत्र 'उत्कल दर्पण' प्रकाशित हुआ। इस पत्रिका के लेखों में राधानाथ जी का मेघदूत (संस्कृत का अनुवाद), इतालीय युवा (गद्यानुवाद), विवेकी (प्रबन्ध), मधुसूदन की कई कविताएँ––जिनमें कुछ अनुवाद भी हैं और अंग्रेजी के अनुसरण पर लिखित तथा अनूदित अनेक निबन्ध मुख्य कहे जा सकते हैं। उत्कल दर्पण के प्रकाशन के ५ वर्ष बाद १८७८ की अप्रैल से कटक की उत्कल सभा नामक एक सांस्कृतिक संस्था के मुखपत्र के तौर पर 'उत्कल मधुप' नाम का मासिक पत्र भी निकलने लगा। इसमें श्री रामशंकर राय जी द्वारा लिखित ओड़िया का अधूरा उपन्यास तथा सौदामिनी और प्रेमतरी नाम से अंग्रेजी कविताओं के अनुवाद प्रकाशित हुए थे। उसी के साथ कवि-सम्राट् उपेन्द्रभंज के कोटि ब्रह्माण्ड-सुन्दरी काव्य की कड़ी आलोचना भी निकली थी। सचमुच ये दोनों साहित्य पत्रों––उत्कल दर्पण तथा उत्कल-मधुप ने केवल दो दो वर्षों के भीतर ही जनता के मन में जो प्रेरणा ला दी थी उसीने आगे चलकर विशाल आकार धारण किया।

किंतु सच तो यह है कि इस समय (१८७०-८०) ओड़िया साहित्य के रूप और विषय (आंगिक और आत्मिक रूप विभव) में कोई व्यापक परिवर्तन नहीं हुआ। फिर भी इनमें जो थोड़ा बहुत परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा था, उसकी बिलकुल उपेक्षा नहीं की जा सकती। संस्कृत और अंग्रेजी से गद्य-पद्य के अनुवाद, काव्य, उपन्यास, आधुनिक गद्य, साहित्य, प्रबन्ध, साहित्य-

समालोचना की रचना इसी समय से आरंभ हो गयी जिसने परवर्ती नाटकों, काव्यों, गल्प साहित्य की सृष्टि के लिये उपयुक्त वातावरण तैयार किया था। यद्यपि पहले का बंगला मिश्रित गद्य इस समय पूरी तरह तिरोहित नहीं हो गया, फिर भी आधुनिक ओड़िया गद्य बंगला के प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त होकर स्वतंत्र विकास करने में समर्थ हो सका। मधुसूदन के विभिन्न प्रबन्ध तथा 'उत्कल मधुप' की साहित्यिक समालोचनाएँ उन्नत ओड़िया गद्य की प्रथम मार्ग-दर्शिका ही रहीं। इन कई रचनाओं से लोगों ने यह अनुभव किया कि गद्य में उन्नत चिन्तन, बलिष्ठ अभिव्यंजनाशक्ति तथा सार्थक शैलियों के वहन करने की यथेष्ट क्षमता है।

राधानाथ और मधूसूदन के परस्पर सहयोग से 'कवितावली' का प्रथम और तृतीय प्रकाशन क्रमशः सन् १८७६ और १८८५ ई० में हुआ। यह आधुनिक ओड़िया काव्य-क्षेत्र का प्रथम और सार्थक अवदान है। उस समय की सैकड़ों पाठ्यपुस्तकें आज हमारे सामने से लुप्त हो गई हैं, परन्तु पाठ्य पुस्तक होने पर भी कवितावली अपनी बलिष्ठ रूपसंपद के लिये आज भी महत्वपूर्ण बनी हुई है। इस पुस्तक की कविताएँ भाव और शैली (आंगिक और आत्मिक रूप-विभव) की दृष्टि से सर्वथा नूतन, स्वतंत्र और मौलिक काव्य प्रतिभा की द्योतक हैं। राधानाथ का वेणीसंहार नामक काव्य पुराण रीति से रचित होने पर भी प्रांजल भाषा, सुनियन्त्रित यतिपात और उपधामिलन आदि में उसकी अपनी स्वतंत्र विशेषता है। अलेक्जेंडर सेल कार्क नामक अंग्रेजी कविता पर आधारित मधुसूदन की 'निर्वासितर' विलाप कविता को अपनी शब्द-योजना, ललित स्वर-झंकार और भावाभिव्यक्ति की स्वाभाविकता के कारण एक विशेष गौरव प्राप्त हैं। इसमें कुछ प्राचीन छंदों के आधार पर निर्मित कुछ सरल छंदों के साथ साथ अंग्रेजी छंदों, जैसे 'आकाशप्रति' का 'एकांतरमित्र' और 'निशीथचिंता' का 'स्पेन्सीरियन स्टैंज़ा' का भी अनुसरण किया गया है। इसके अतिरिक्त राधानाथ की 'भारतेश्वरी' कविता में तुकांत पदों का आग्रह मिलता है, फिर भी वह अंग्रेजी छन्दों से प्रभावित है। मधुसूदन की भारती-वन्दना का रूपगत तथा छन्दगत वैचित्र्य ओड़िया साहित्य में बिलकुल एक नई चीज है। कवितावली की कविताओं का भाव-पक्ष (आत्मिक गौरव) तो और भी चमत्कारपूर्ण और विचित्र है। शृंगार-बहुल मध्ययुगीन ओड़िया साहित्य में, विशेषकर पुराणों में, कहीं कहीं वीर रस की भी झलक मिल जाती है। लेकिन लघु कविता के लघु परिसर में साधारणतया इस रस का सम्यक् विकास नहीं हो पाया था। जातीयता के सर्वथा नये भावों से ओतप्रोत राधानाथ की वेणीसंहार और शिवाजिक उत्साहवाणी नामक रचनाओं में वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है। मध्ययुगीन साहित्य में करुण-रस सर्वदा शृंगार रस के आश्रित था किंतु "निर्वासितर विलाप" अथवा "सीता-वनवास" कविता में करुण रस दूसरे रसों का अनुगामी न होकर स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठित हुआ है। जीवनचिन्ता और विशेषकर आकाशप्रति कविता में यद्यपि भारतीय आर्य संस्कृति की धार्मिक चिंता दिखाई पड़ती है तथापि यह ब्राह्म धर्मावलंबी मधुसूदन के ब्राह्ममत से पूरी तरह परिपुष्ट है। शरत् प्रभात कविता में जिस ग्रामीण विषय-वस्तु की प्रतिष्ठा है वह इस साहित्य का सर्वथा एक अभिनव प्रयोग है। धनिकवर्ग का भोगमय जीवन जिस साहित्य का प्रधान उपजीव्य विषय है क्या

उस साहित्य में ग्रामीण विषयों का उपस्थान परिवर्तन की सूचना नहीं देता ? वास्तव में इन कविताओं के कलापक्ष और भावपक्ष (आंगिक और आत्मिक रूप विभव) का विश्लेषण करने पर हम आधुनिक ओड़िया कविता के आभिमुख्य और अभिव्यक्ति के स्वरूप पर कुछ धारणा बना सकते हैं। लगातार ५० वर्षों के इस दीर्घ काल में पाठ्य पुस्तकों के द्वारा इस देश के लोकचित्त में जिस साहित्यिक रुचि का विकास हुआ था, उसी का बाह्य प्रकाश राधानाथ और मधूसूदन की कवितावली है।

आधुनिक ओड़िया साहित्य की प्राणप्रतिष्ठा का युग (सन् १८८१-९७ ई०)

साहित्य-विकास का प्रथम अध्याय

दस साल के एक छोटे अरसे के भीतर उत्कल दर्पण (१८७३) और उत्कल मधुप (१८-७८) मासिक पत्रों तथा उत्कल दीपिका (१८६६) बालेश्वर संवाद-वाहिका (१८६८), उत्कल हितैषिणी (१८६९), उत्कल पुत्र (१८७३), विदेशी (१८७३) आदि पाक्षिक पत्रिकाओं ने लोकचित्त में साहित्य सृष्टि के लिये जिस उत्साह और उत्तेजना का वातावरण पैदा किया था उसके आशु परिणामस्वरूप परवर्ती १६।१७ वर्षों (१८८१-९७) के भीतर आधुनिक ओड़िया साहित्य एक विकसित और सुदृढ़ मूलाधार पर प्रतिष्ठित हो सका था। वास्तव में, यह युग (१८८१-९७) आधुनिक ओड़िया साहित्य की प्राणप्रतिष्ठा का युग है। नाटक, उपन्यास, काव्य, गीति-काव्य, समालोचना, पर्यटन और प्रबन्ध आदि साहित्य के प्रायः सभी विभाग इसी समय अपने स्वतंत्र और संपूर्ण रूप से महिमान्वित हुए थे। यद्यपि पहले की बंगलामुखी ओड़िया भाषा पूर्ण रूप से तिरोहित नहीं हुई थी फिर भी लोगों में यथार्थ, शुद्ध और अनाविल ओड़िया गद्य का आदर बढ़ चला था। मधुसूदन की प्रबन्धमाला (१८८०) तथा दूसरे धर्मतत्त्व मूलक प्रबन्ध और नवसंवाद (१८८७) पत्रिका की गुरुगंभीर शुद्ध भाषा ने ओड़िया गद्य के प्राकृतिक विकास की दिशा में महत्वपूर्ण योग दिया। राधानाथ के भ्रमण वृत्तान्त (१८८७) अथवा पुस्तक समालोचना का परिमाण अधिक न होने पर भी उनकी उपादेयता किसी प्रकार कम नहीं थी। रामशंकर राय के बनाये कांची-कावेरी (१८८१), वनमाला (१८८२), कलिकाल (१८८३), आदि विभिन्न नाटक और प्रहसन, उमेशचन्द्र सरकार का पद्ममाली उपन्यास (१८८८); मधुसूदन की भारत वन्दना (१८८३), आकाशप्रति (१८८५), नवसंवाद (१८८७), आशा (१८८९) एवं उच्चचित्ताश्रयी धर्मभावमूलक गीति कविताएँ आदि आलोच्य युग के प्रथम भाग के श्रेष्ठ अवदान हैं। इसी समय के भीतर कई नये लेखकों का आविर्भाव हुआ। उनमें सर्व श्री मणि-चरण महापात्र, चन्द्रमोहन महाराणा, साधुचरण राय और रेवाराय प्रधान हैं। ओड़िया गीति-काव्य के अभ्युदय और विकास के क्षेत्र में इन लोगों का निरलस अध्यवसाय अविस्मरणीय है। सृष्टि और प्रतिष्ठा की दृष्टि से साहित्य के इन सभी विभागों की अपेक्षा आज काव्य और महाकाव्य ही महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। इस क्षेत्र में श्री राधानाथ अद्वितीय और असाधारण सिद्ध होते हैं। उनकी केदारगौरी (१८८६), चन्द्रभागा (१८८६), नंदिकेश्वरी (१८८७),

उषा (१८८८), पार्वती (१८८९) और बाद में लिखी चिलिका (१८९०), महायात्रा (१८९२), ययातिकेशरी (१८९४), काव्य रचनाएँ समूची उन्नीसवीं सदी के ओड़िया साहित्य की समुज्ज्वल मणियाँ हैं।

सन् १८८१-९० के बीच जिस साहित्य ने एक अभिनव रूप-संपद से विमण्डित होकर अभूतपूर्व विकास किया था वह १८९१-९७ के बीच एक सार्थक और संपूर्ण परिप्रकाश अवस्था तक आ गया था। उत्कल-प्रभा मासिक पत्रिका (१८९१) इस विकास का प्रथम और प्रधान कारण थी। २० साल पूर्व लोगों के मन में जिस नये निर्माण के प्रति उत्साह पैदा हो गया था और भिन्न भिन्न समयों में विभिन्न दिशाओं में प्रगति कर रहा था, वह अब इसी उत्कल प्रभा का आश्रय लेकर अपनी पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँच गया था। सर्वश्री गणपति दास, विजयचन्द्र मजुमदार, विश्वनाथ कर, अभिन्न नायक, लाला रामनारायण राय आदि के अनेक उच्चकोटि के प्रबन्ध मधुसूदन का "ऋषि प्राणे देवावतरण" (१८९१) मणिचरण महापात्र, चन्द्रमोहन महारणा, फकीरमोहन सेनापति, दामोदर मिश्र, गोविन्दचन्द्र महापात्र आदि विभिन्न लेखकों की विभिन्न गीति कविताएँ; श्री रुद्रनारायण षडंगी और श्री कन्हैयालाल वसु के विभिन्न काव्य; रामशंकर का विवासिनी उपन्यास (१८९२)और श्री राधानाथ राय के चिलिका, महायात्रा तथा ययाति-केशरी आदि काव्य अपनी अभिनव कलात्मकता के कारण ओड़ियासाहित्य में अद्वितीय और अनुपमेय हैं। यह न भूलना चाहिये कि ये सारी रचनायें पहले उत्कल प्रभा में ही प्रकाशित हुई थीं। इसी समय (१८९१-९७) राधानाथ की प्रतिभा का चरम परिस्फुरण हुआ था। मधुसूदन की गीति-कविता जो इसके पूर्व ही विकसित हो चुकी थी, इस समय परिणत अवस्था की ओर गतिमुख हो उठी थी। अतएव साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि सन् १८८१-९७ ई० तक के समय का प्रथम चरण आधुनिक साहित्य का वास्तविक उन्मेषकाल और अन्तिम चरण उसका चरम-उत्कर्ष काल है। इस प्रकार संपूर्ण १९वीं शताब्दी में (अंतिम चरण के अतिरिक्त) जिनकी लेखनी ने ओड़िया साहित्य को समृद्ध तथा विकासोन्मुख किया, उनमें श्री राधानाथ राय तथा श्री मधुसूदन अग्रणी हैं।

श्री राधानाथ राय जी की शिक्षा केवल एफ० ए० तक थी लेकिन उन्होंने अंग्रेजी, ग्रीक बंगला, हिंदी, संस्कृत तथा मध्ययुगीन ओड़िया साहित्य पर अभूतपूर्व दक्षता प्राप्त की थी। उनकी सारी कृतियों में उनके विशाल पाण्डित्य, बहुशास्त्रदर्शिता तथा गंभीर अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। सन् १८६४ से १९०३ ई० तक के ४० वर्षों तक वे शिक्षाविभाग में नियुक्त रहे। प्रथम ८ वर्षों तक उन्होंने शिक्षक जीवन बिताया था, शेष प्रायः ३२ साल तक शिक्षाविभाग में इंस्पेक्टर रहने के कारण उन्हें बहुत बार संपूर्ण उत्कल के भ्रमण का सौभाग्य मिला था। जीवन के इस जीवंत और ठोस अनुभूति के साथ उनके विशाल पाण्डित्य तथा प्रकृष्ट रचनात्मक प्रतिभा के संयोग ने उन्हें ओड़िया में बिल्कुल नवीन और स्वतंत्र काव्य रचना की बलिष्ठ प्रेरणा दी थी। अंग्रेजी कवि स्काट की तरह इन्होंने ओड़िशा के प्राचीन इतिहास, पारंपरिक रीतिनिति और कहानियों तथा किंवदन्तियों का पहले पहल जीवंत चित्रण किया। ओड़िशा के गिरि-कानन, ह्रद-

पुष्करिणी, नदी-निर्झर आदि प्रकृति के रूपों के नये नये सुरम्य चित्रों से काव्य ग्रंथ विभूषित होने लगे थे। यदि सार्थक रसबोध के साथ उनके काव्यों में प्रकृति निरीक्षण की गंभीर तथा प्रत्यक्ष अनुभूति न होती तो वे अपने काव्य में प्रकृति के जीवंत और मनोहर रूपों की प्रतिष्ठा न कर पाते।

राधानाथ के साहित्य की कलागत और भावगत (आंगिक और आत्मिक) रससंपद पूर्णतया नवीन और असाधारण है। आलंकारिक भाषा, काव्यगत नायक नायिकाओं के पूर्व-जन्म का इतिहास (लेकिन सभी काव्यों में नहीं), श्रृंगार रस की अधिकता अनेक स्थानों पर संस्कृत तथा ओड़िया साहित्य का श्लोकानुवाद या छायानुवाद, पारंपरिक काव्य-रीति के अनुसार सामन्तवादी सभ्यता का चित्रांकन आदि साहित्य के कई बहिरंग उपादान इनके साहित्य में हैं। यह सब देखकर राधानाथ जी को मध्ययुगीन ओड़िया साहित्य के अन्तिम प्रतिनिधि साहित्यकार अथवा उनके साहित्य को मध्ययुगीन साहित्य के नवीन संस्करण के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु दोनों प्रकार के साहित्यों की इन कई समानताओं को अलगकर यदि हम रचना-ध्येय, सृष्टि के उत्स, रसास्वादन की यथार्थ पद्धति, छन्द-सौंदर्य और विषयवस्तु आदि की दृष्टि से उनके समूचे साहित्य पर दृष्टिपात करें तो उपरोक्त अभिमत की असारता स्वतः प्रमाणित हो जाती है। हमें लगता है कि राधानाथ जी की रचना की सूक्ष्म कला-दृष्टि और सौंदर्यानुभूति में जो सूक्ष्मविचार-बुद्धि और सार्थक रस-पिपासा है, वह उनके निरन्तर पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन के कारण ही संभव हुई है। नये युग में रहते हुए भी वे प्राचीन साहित्य के कई उपादान संग्रह करने को बाध्य थे। लेकिन ये उपादान ही उनकी काव्य-कीर्ति के परमोज्ज्वल अवदान नहीं बल्कि वाह्य रूप मात्र हैं। राधानाथ-साहित्य का यथार्थ रूप-विभव जिन विदेशी साहित्यों के प्रभाव से निर्मित हुआ था, वे ही उनकी साहित्य-सृष्टि के प्रेरक और आदि उत्स हैं। इस प्रेरणा के ये जितने ही विचित्र और नित्य नवीनता से परिपूर्ण हैं, इनका साहित्य उतना ही अभिनव और मनोमुग्धकर है।

राधानाथ और उनका साहित्य प्राच्य-पाश्चात्य सभ्यता के संघर्ष का एक अमृतमय परिणाम है। पिछली शताब्दी में जिस शिक्षित मध्यम श्रेणी का आविर्भाव हुआ था, वही देश की सर्वांगीण उन्नति के लिये अग्रसर हुआ। राधानाथ ही ऐसे प्रथम और प्रधान साहित्यकार हैं जिन्होंने आधुनिक ओड़िया साहित्य के क्षेत्र में उस श्रेणी का पूर्ण प्रतिनिधित्व किया था। ओड़िया साहित्य में उपरोक्त संघर्ष की सर्वश्रेष्ठ कार्यकारिता सर्वप्रथम इन्हीं में दिखाई पड़ी। उनके केदार-गौरी, चन्द्रभागा, नंदिकेश्वरी, उषा, पार्वती तथा ययातिकेशरी काव्यों की कथा-वस्तुओं, महायात्रा के छन्द वैचित्र्य तथा कल्पना और चिलिका खण्ड काव्य के परिवेश तथा परिप्रकाश की अन्तदृष्टि में सभ्यताओं का यह संघर्ष स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि केदारगौरी, चन्द्रभागा नन्दिकेश्वरी, उषा, पार्वती और ययातिकेशरी ये छः काव्य ग्रीक और अंग्रेजी साहित्य की विषय-वस्तुओं पर प्रतिष्ठित हैं, फिर भी पढ़ते समय साधारणतः पहले तो इनमें बैदेशिकता के संकेत नहीं मालूम पड़ते। दूसरे देश की भौगोलिक परिस्थिति, प्रकृति-वर्णन और इतिहास (संपूर्ण ऐतिहासिक सत्य पर नहीं) के माध्यम से विदेशी कथावस्तु को इस देश की कहानियों किंवदन्तियों

(केदार गौरी की कहानी भी काव्य के लिखे जाने के बाद की है) के साथ इस प्रकार मनोहर ढंग से मिला दिया गया है कि इन काव्यों को इस देश की मिट्टी की ही उपज मानने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। कथाकार और शिल्पनिपुण राधानाथ जैसी रचनात्मक प्रतिभा और अपूर्व काव्य-निर्माण की क्षमता केवल ओड़िया साहित्य ही नहीं, संपूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी के समृद्ध बंग-साहित्य में भी मिलना कठिन है।

विदेशी साहित्य ही राधानाथ जी की दृष्टिभंगी की सृष्टि का प्रधान उत्स रहने के कारण लोगों ने पहले पहल इनके साहित्य को अधिक सम्मान नहीं दिया, क्योंकि उन्होंने अपने साहित्यगत चरित्र-चित्रण में इस देश के सामाजिक नीति-नियम और आचार-व्यवहार की विश्रृंखलता और जीवन तथा धर्म की एक अपूरणीय असंपूर्णता और अभावबोध का निरीक्षण किया था। उस समय जबकि एक सशक्त जातीय भाव इस देश के शिक्षित लोकचित्त को उन्मादित कर चुका था; माँ बाप की आज्ञा के बिना केदार और गौरी के बीच प्रेम संबंध की प्रतिष्ठा और उसी स्वाधीन प्रेम की परिणति में दोनों की मृत्यु, कोणार्क के अधिदेवता प्रेमाभिलाषी अर्कदेव का ऋषिकुमारी चन्द्र-भागा के पीछे पड़ना, चन्द्रभागा का पानी में डूब जाना, अर्कमन्दिर का पतन, राजनन्दिनी नन्दि-केश्वरी का बिधर्मी शत्रु से प्रेमनिवेदन करना, पिता के जैत्रमणि को प्रदान करना और अंत में इस प्रत्याख्याता नारी का मृत्युवरण, योधृवेशी उषा का पुरुषोचित कर्कश जीवनयापन, दौड़ प्रतियो-गिता में राजकुमारों के साथ योगदान और राजपुत्र जयन्त तथा उषा का मृत्युवर्णन, उज्ज्वल गंगवंश के श्रेष्ठ नरपति गंगेश्वर देव का अपनी कन्या कौशल्या से पाप-प्रणय-संपादन, ययाति-केशरी का नारी वेश में प्रेमिका का रूप धारण आदि काव्य की इन कथावस्तुओं में लोगों ने इस देश की जातीय परंपरा के व्याहत होने का अनुभव किया था। राधानाथ का दुर्भाग्य है कि उनके इन काव्यों का प्रणयन ठीक उसी जातीय भावोदय के समय हुआ था। इसलिये लोगों ने इस साहित्य का मूल्यांकन केवल जातीयता के मानदंड से किया और इनके प्रति उनके विचार भी अच्छे नहीं रह गये। इतने पर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सौंदर्य के कलाकार राधानाथ की अमलिन प्रतिभा ने इन काव्यों में एक विशिष्ट रस-संपद की सृष्टि की है। नर-नारियों की स्वाधीन चित्तवृत्ति का स्वाभाविक परिप्रकाश, राजप्रासादबन्दिनी राजकुमारी के प्रकृष्ट नारीत्व की प्रतिष्ठा में ही सार्थकता का प्रतिपादन, प्रेम के प्रकाश में हृत्तंत्रियों के सूक्ष्मतम स्पंदन का चित्रण, मन की सहज दुर्बलताओं में जीवन का अनवद्य चित्रांकन आदि इस देश के परंपरित काव्य-उपादान के लिये विराट् व्यतिक्रम ही हैं। किंतु इसी व्यतिक्रम में राधानाथ की महान् काव्य-प्रतिभा का अक्षय सौंदर्य भी प्रस्फुटित हुआ है। इनके साहित्य की समीक्षा करते समय विदेशी साहित्य की कथावस्तु को प्राधान्य कदापि नहीं देना चाहिए। वस्तुतः इस प्रसंग में हमें निम्नांकित तीन विषयों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(१) विदेशी कथा-वस्तुओं का आहरण,
(२) इस आहरण का इस देश की मिट्टी से साम्य-दर्शन और
(३) उभय उपादानों का अंतिम समीकरण।

जो लोग इनके साहित्य का आदर नहीं कर सके, उन्होंने प्रथम विषय को ही दृष्टि में रखकर अपनी अंतिम राय दे दी है। राधानाथ ने किस प्रकार अपनी अद्‌भुत् प्रतिभा के बल से विदेशी कथावस्तु को इस देश की मिट्‌टी के साथ मिला कर अपूर्व कृतित्व का अर्जन किया है और इस संयोग से काव्य- सौंदर्य में करुण रस की प्रतिष्ठा का जो प्रयास किया है, इस श्रेणी के पाठक इस ओर बिल्कुल ध्यान ही नहीं दे सके। किंतु ध्यान देने की बात है कि शेष दो विषय जो पहले पूर्णरूप से विदेशी थे, वे कवि के अमर कर-स्पर्श से देशी वातावरण में फलफूल कर इस देश की ही उपज हो उठे हैं। संपूर्ण रूप से निर्जीव होने पर भी मूल विषय-वस्तु ने राधानाथ के काव्य को एक स्वतंत्र रूप विभव से मंड़ित कर दिया है जो इस देश के लिये स्वप्न ही था। इनके काव्य का करुण रस ही इस रूप की अशेष और सर्वश्रेष्ठ आत्मिक रस-संपत्ति है। यह संपत्ति जिस प्रकार अभिनव, अविस्मरणीय और उज्ज्वल है, इसके परिशीलन के लिये आवश्यक अभि-रुचि भी उसी प्रकार अद्वितीय, अपूर्व और अदृष्टपूर्व होनी चाहिये। यह निश्चित रूप से प्रमाणित किया जा सकता है कि यह अभिरुचि पाश्चात्य तथा ग्रीक साहित्य के दुःखांत आदर्श से नियंत्रित है।

प्रकृति-प्रेमी राधानाथ को प्रकृति-चित्रण में जो अपूर्व दक्षता प्राप्त थी, वह उनके दूसरे काव्यों में आंशिक रूप से और 'चिलिका' में पूर्णरूप से परिलक्षित होती है। गतानुगतिक काव्य नियम अर्थात् काव्य में भिन्न भिन्न चरित्र-चित्रण, विभिन्न छंद-संयोजन, आरंभ में देव देवी-स्तुति, कथावस्तु का उल्लेख, निर्दिष्ट रस परिपाक के लिये अनुकूल वातावरण की सृष्टि आदि—का इस चिलिका में पूर्ण अभाव है, फिर भी यह एक खंडकाव्य है। ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि 'चिलिका' की प्रकृति ही इस काव्य की नायिका है और विभिन्न कथाएँ इसी को केंद्रित किये हुई हैं। प्रकृति को नायिका मानकर विभिन्न कथावस्तुओं के सहारे प्रकृति-चित्रण की अनवद्य रूप-विभा द्वारा उसे अखंड सौंदर्य प्रदान कर देना, उच्च कोटि की प्रतिभा की अपेक्षा रखता है। प्रकृति के अखंड रस का साक्षात्कार कर राधानाथ ने उसके विभिन्न विभाग को कम-नीय और लोभनीय भाषा से विमंडित किया है। ललित सौंदर्य-बोध और सशक्त काव्य-प्रतिभा इस काव्य की प्रत्येक पंक्ति में परिदृष्ट है।

इसका परिणाम यह हुआ कि अमर कवि के अमर कर-स्पर्श से जड़ प्रकृति का प्राणहीन और अन्तःसार-शून्य पदार्थ नूतन जीवन्यास पाकर नये स्पन्दनों से उज्जीवित हो उठा है। चिलिका काव्य में अनेक स्थानों पर दूसरे साहित्य का श्लोकगत अनुसरण दिखाई पड़ता है, तथापि इस काव्य में; कलापक्ष (रूपविभव), स्वतंत्र रससौन्दर्य, काव्यसृष्टि की परिकल्पना आदि के द्वारा सर्वोपरि काव्य की समग्रता का जो सामंजस्य बोध होता है, वह वास्तव में अभिनव और असा-धारण है।

केवल महायात्रा काव्य ही राधानाथ के समूचे कविजीवन और उनकी सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा के स्फुरण का निर्दशन है। यह काव्य महाभारत में वर्णित युधिष्ठिर के महाप्रयाण के अनुसरण पर लिखा गया है, फिर भी यह महाभारत की नक़ल नहीं है। इस काव्य में भारत का इतिहास

वर्णित है, किंतु वह सामान्य इतिहास ही नहीं बल्कि अनेक उपादानों से गठित एक महाकाव्य है। इस देश के पुराणों और इतिहासों की विषय-वस्तु का अस्थिकंकाल लेकर और उसमें विदेशी साहित्य के उपादान मिलाकर राधानाथ ने एक जीवन्त काव्य शरीर खड़ा किया है। इस काव्य के प्रधान उत्स मर्जिय का इलियड काव्य, दान्ते का डिबाइन कॉमेडी और मिलटन का पैराडाइज लस्ट हैं। यदि हम यह कहें कि इसकी रचना बंगीय कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनाद-बध नामक काव्य के अनुसरण पर हुई है तो इसका अर्थ यह होगा कि हम महायात्रा के सृष्टि-सौन्दर्य को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर रहे हैं। ऐतिहासिक माध्यम से जाति का अधोपतन बतलाकर एक गंभीर करुण रस की प्रतिष्ठा करना, महायात्रा की सृष्टि का प्रधान लक्ष्य है। यह करुण-रस राधानाथ के दूसरे काव्यों के पात्रों में केन्द्रित होकर उपस्थित हुआ है। लकिन महायात्रा में यह समग्र जाति को केन्द्रित किये हुए है। इस करुण रस का अभिनव रूप अमित्राक्षर छन्द के स्वर-झंकार की सहायता से प्रतिष्ठित हुआ है। इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं कि कविकल्पना की सुदूरप्रसारी चिन्ताराशि, यादुकरी शब्द-योजना, वर्णन परिपाटी की अपूर्व चित्रमयता, सृष्टि-परिकल्पना की मौलिक दृष्टिभंगी, अमित्राक्षर छन्द के वैचित्र्य आदि ने काव्य के लोभनीय परिसर के बीच कवि प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है।

राधानाथ साहित्य इस देश के लिये पूर्णरूप से नया है। इस साहित्य-सौन्दर्य के परिशीलन के लिये एक स्वतंत्र अभिरुचि और रसबोध की आवश्यकता है। इसकी संगीत-माधुरी का अनुभव करने के लिये अलग कान की जरूरत है। इसकी कलात्मकता के पर्यालोचन के लिये स्वतंत्र चक्षु की जरूरत है। जिनकी ऐसी अभिरुचि, ऐसे नाक-कान नहीं हैं, राधानाथ साहित्य उनके लिए वास्तव में ग्रीक-लैटिन ही है।

भक्त कवि मधुसूदन राओ (सन् १८५३-१९१२ ई०) जब कटक कालेज में अपनी एफ० ए० की पढ़ाई कर रहे थे उस समय वे उसी कालेज के दर्शन के अध्यापक, ब्राह्म धर्मावलंबी श्री हरनाथ भट्टाचार्य से प्रभावित होकर श्री प्यारीमोहन आचार्य के साथ ब्राह्म धर्म में दीक्षित हुए थे। इस ब्राह्म धर्म ने ही आगे चलकर उनके व्यक्तिगत जीवन तथा साहित्य साधना को नियंत्रित किया था। आलोचना करने पर हम सहज ही जान सकेंगे कि ब्राह्मधर्म, मधुसूदन का व्यक्तिगत जीवन और उनकी रचनाएँ—ये तीनों परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। उनकी रचनाएँ उक्त दोनों की एक सार्थक परिणति हैं। जीवन का सारा समय ओड़िशा शिक्षा विभाग में बिताते हुए उन्होंने ओड़िया पाठ्य पुस्तकों के दारुण अभाव का अनुभव किया था। इसी अभाव को दूर करने के लिये उन्होंने कई पाठ्य पुस्तकों की रचना की है। उनके लेखों में अनेक स्थानों पर हम स्रष्टा मधुसूदन की अपेक्षा उनके शिक्षकरूप को ही अधिक देखते हैं। फिर भी उनकी पाठ्य पुस्तकें विभिन्न विशेषताओं से परिपूर्ण हैं। इसीलिये इस देश की स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े पिछले साठ सालों तक मधुबाबू की वर्णबोध पुस्तक से अक्षरशिक्षा ग्रहण करते आ रहे थे। ओड़िया भाषा के अंतर्गत इस युग में जैसा गौरवपूर्ण स्थान इस पुस्तक का था वैसा अन्य किसी पुस्तक का नहीं। पाठ्य पुस्तकों में भी मधुबाबू के गंभीर भक्ति-भाव, ईश्वर-प्रेम और जातीयता-बोध

स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। परन्तु दार्शनिक चिन्ताओं से युक्त जो कई कविताएँ उनके जीवन के दृष्टिकोण तथा रचनात्मक-अंतर्दृष्टि का परिचय दती हैं, वे ही ओड़िया साहित्य के यथार्थ अवदान के रूप में जनता द्वारा गृहीत हैं।

कुछ अंग्रेजी कविताएँ और संस्कृत काव्यों (बाल रामायण, उत्तर रामचरित) के अनुवादों को छोड़कर मधुसूदन ने केवल ओड़िया गद्य और गीति कविता के द्वारा ही अक्षय कीर्ति अर्जित की है। पहले पहल उन्हीं के हाथों सुधर-सँवर कर बंग भाषा मिश्रित ओड़िया गद्य एक सुरुचि-संपन्न और मार्जित रूप में दिखाई पड़ा था। वे ही संस्कृत-बहुल गद्य साहित्य के जन्मदाता, प्रतिष्ठाता तथा ओड़िया प्रबन्ध साहित्य के आदि-प्रवर्तक हैं। इसके अतिरिक्त वे ओड़िया गल्प साहित्य (यह साहित्य उच्च कोटि का नहीं है) के जनक हैं। नाटक (अनुवाद), प्रबन्ध तथा गल्प में हाथ डालने एवं ओड़िया चतुर्दश पदी कविता (सानेट) के विभिन्न छन्दों का अनुसरण करने पर भी मधुसूदन केवल गीतिकविताओं के द्वारा ही अमर होकर रहे हैं। लक्ष्य करने की बात है कि ये कविताएँ उनके जीवन की अभिवृद्धि के साथ उत्तरोत्तर क्रमिक रूप में ही गतिमुखर हुई हैं।

पं० शिवनाथ शास्त्री के द्वारा प्रतिष्ठित 'साधारण ब्राह्म समाज' में होते हुए भी मधुसूदन का अखंड विश्वास केशवचन्द्र सेन के 'नवविधान' पर ही था। उनके धर्ममत तथा कविप्रतिष्ठा का अनुध्यान करने पर मधुसूदन की रचनाओं में, एक महत् उदार मनोभाव के साथ प्राचीन भारतीय धर्मसंस्था के प्रति अखंड ममता प्रकट करने वाले साधारण 'ब्रह्म समाज' का आदर्श दिखाई पड़ता है।

मधुसूदन की जीवन-चिन्ता (सन् १८७३) कविता में वर्णित संपृक्त और सार्थक जीवन की अनुचिन्ता, भारतीय धर्मदर्शन के आत्मा-परमात्मा और उनके मधुर मिलन पर प्रतिष्ठित है। परमात्मा के साथ मिल जाना ही जीवात्मा की सर्वश्रेष्ठ कामना है—यह मर्मवाणी उनकी परवर्ती कविताओं में अधिक स्पष्ट रूप में प्रख्यापित हुई है। जान पड़ता है कि मधुसूदन ने १८८० ई० तक केवल धर्म-विषयक चिन्ता की है और बाद में इसे ही यथार्थ साहित्यिक गौरव से विभूषित किया है। अगर १८७० ई० से १८८० ई० तक का समय उनके जीवन की तैयारी का युग मान लिया जाय तो १८८१ से ९० तक के समय को उनके उन्मेष का युग कहा जा सकता है। आकाश प्रति (१८८५) आदि कविताओं में जिस दार्शनिक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है वह १८९१-९७ के भीतर अपनी पूर्णावस्था तक पहुँच गया था। ऋषि प्राणे देवावतरण नामक कविता में जो दिव्य दृष्टि ऋषि के प्राण में वास्तविक सत्य की उपलब्धि कर सकी थी वही दिव्य दृष्टि भक्त कवि मधुसूदन के अपने हृदय-कंदर में एक चिन्मयी भगवत शक्ति के रूप से आविर्भूत है। हिमाचले उदय उत्सव (१९१२) कविता में वही दिव्य दृष्टि केवल अनुसंधान करने के लिये समर्थ हुई थी।

यदि अन्य रचनाओं को छोड़ केवल जीवन-चिन्ता, आकाशप्रति, ऋषिप्राणे देवावतरण और हिमाचले उदय उत्सव—इन चार कविताओं की भाषा, भाव प्रकाशन-शैली तथा दार्शनिक

दृष्टिकोण की आलोचना की जाय तो हम अनुभव कर सकते ह कि मधुसूदन के धर्मवाद को प्रकाशित करने वाले साहित्यिक उपादानों की क्रमशः किस प्रकार अभिवृद्धि हुई है। जिस प्रकार राधानाथ पाश्चात्य शिक्षा संघर्ष के अमृतमय फल हैं, उसी प्रकार मधुसूदन उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचारित ब्राह्म धर्म आन्दोलन के प्रतीक हैं। ऋषिकंठ की यह उदात्तवाणी कि 'आनन्द से इस जगत् का जन्म हुआ है, आनन्द में इसकी परिवृद्धि है और आनन्द में ही इसका अवसान होता है, ऋषिप्राण मधुसूदन के जीवन की सर्वश्रेष्ठ पथप्रदर्शिका थी। एक सर्व-शक्तिमान, अचिन्त-नीय विराट् पुरुष की अनन्त शक्ति ही जगत् का एकमात्र सत्य है और उसी के मंगलमय आशीर्वाद को प्राप्त करना प्राणिजीवन की अन्तिम अभिलाषा है, यही मधुसूदन के जीवन की परम और चरम आकांक्षा थी। जीवन का यह आदर्श उनकी कई कविताओं में यथार्थ साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। मधुसूदन ने ऋषियों की आँखें पाई थीं। उसी ने उनके जीवन तथा ओड़िया साहित्य को नये जीवन से उद्भासित कर दिया था।

राधानाथ काव्यभाषा के संस्कारक थे। सहज, सरल, निराडम्बर, भाषा की लोभनीय परिपाटी, उन्नत भाव की अभिव्यक्ति के समय क्लिष्ट कल्पना का वर्जन, वर्णनों में अत्यन्त स्वाभाविकता, अलंकार और छन्द की कठिन योजनाओं का परिहार आदि राधानाथ साहित्य की इन्हीं विशेषताओं का अनुसरण प्रायः सभी परवर्ती लेखकों, यहां तक कि सत्यवादी लेखकों के समुदाय ने भी किया था। मधुसूदन साहित्य में परिष्कृत रुचि के प्रथम प्रवर्तक तथा उन्नत दार्शनिक चिन्तनों के आदि प्रख्याता थे। इसी रुचि और चिन्तन धारा ने भावग्राही दास, चतुर्भुज पटनायक, साधुचरण राय तथा रेवाराय आदि लेखक-लेखिकाओं को पर्याप्त मानसिक खाद्य दिया था। २०वीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों में हम प्रेम का जो संयत रूप देखते हैं वह मधुसूदन द्वारा प्रवर्तित इसी रुचि के द्वारा नियन्त्रित हुआ था।

उन्नीसवीं शताब्दी के ओड़िया साहित्य का परिशीलन करते समय राधानाथ और मधुसूदन के अतिरिक्त एक अन्य श्रेष्ठ साहित्यिक श्री रामशंकर राय पर भी हमारी दृष्टि पड़ती है। प्रारंभ में काव्य (प्रेमतरी) और उपन्यास में हाथ डालने पर भी वे नाटककार के रूप में विशेष प्रसिद्ध हैं। ओड़िआ साहित्य के प्रथम उपन्यासकार रामशंकर ने 'बिबासिनी' उपन्यास की रचना के पूर्व 'पद्ममाली' नाम का एक और उपन्यास लिखा था। स्रष्टा के अमृत करस्पर्श से निर्जीव इतिहास भी नवीन चेतना से स्पन्दित हो जाता है। पद्ममाली की अपेक्षा बिबासिनी उपन्यास इस अभिमत की सत्यता को काफी हद तक प्रमाणित कर देता है। मरहट्टा राजत्व की अराजकता और अपशासन को आधार बनाकर जिस कलात्मक शैली के द्वारा यह उपन्यास उपस्थित किया गया है, वह चत्मकारपूर्ण है। परन्तु यह बात सच है कि परवर्ती युग में फकीरमोहन के उपन्यासों ने 'बिबासिनी' की लोकप्रियता को बहुत कम कर दिया है।

१८७० ई० से जिस जातीयता के भाव ने इस देश के लोकचित्त में एक अपूर्ण उन्माद की सृष्टि की थी, उसे रामशंकर की 'कांची कावेरी' नाटक के भीतर यथार्थ अभिव्यक्ति मिली। यह नाटक नाट्य साहित्य के कठिन नियमों में पूरी तरह से आबद्ध है। ओड़िया का प्रथम नाटक

होने पर भी वह नाट्य रस की निष्पत्ति कराने में पूर्ण समर्थ है। रामशंकर के दूसरे नाटक और प्रहसन उस समय तक यथेष्ट लोकप्रिय हो चुके थे लेकिन आभ्यंतर सौन्दर्य तथा रंगमंच की दृष्टि से आज इन नाटकों और प्रहसनों का मूल्य बहुत कम है। लेकिन इसे तो स्वीकार ही करना पड़ता है कि एक नये साहित्य का रस ग्रहण करने के लिये जिस नवीन दृष्टिकोण और अभिरुचि की आवश्यकता होती है, वह इन नाटकों में अवश्य है। इनके नाटकों में से कुछ तो पौराणिक हैं और कुछ उस समय के समाज की दुर्बलताओं को आधार बनाकर रचे गये हैं। रामशंकर प्राचीन कुसंस्कारों को दूर करने के पक्षपाती थे। किन्तु प्राचीन संस्था और धर्म में वे कुछ भी परिवर्तन नहीं चाहते थे, इसलिये 'सनातन धर्म संरक्षिणी सभा' का नेतृत्व ग्रहण कर उन्होंने हिंदू धर्म में सुधार की आवश्यकता समझी थी। कई उपनिषदों के अनुवादों और धार्मिक निबन्धों से उनका धर्ममतवाद स्पष्ट हो जाता है। रामशंकर ने उपन्यास और नाटक की जो परंपरा चलाई, कालांतर में श्रीयुत फकीरमोहन और गोदावरीश उसके यथार्थ उत्तराधिकारी बने।

आधुनिक ओड़िया साहित्य के विकास का द्वितीय पर्व

(१८९७–१९२०)

सन् १८०३ से १९०३ ई० के पूरे सौ वर्षों तक लांछित और अवहेलित ओड़िया जाति का प्राण केन्द्र कक्षच्युत होकर दिग्भ्रांत तथा चैतन्यशून्य होकर पड़ा रहा। दिसंबर सन् १९०३ ई० में इस जाति के यथार्थ नायक श्री मधुसूदन के द्वारा जातिप्राण की रुद्ध और दमित अभीप्सा पहले पहल संगठित हुई। जातीय आशा-आकांक्षा के मूर्त प्रतीक 'उत्कल-सम्मिलनी' ने (१९०३) 'उत्कल साहित्य समाज' (१९०३) के साथ साहित्य निर्माण की नई प्रेरणायें दीं। बीसवीं सदी के पहले के बीस वर्षों का ओड़िया साहित्य इन दो संस्थाओं के द्वारा अच्छी तरह प्रभावित हुआ था।

उन्नीसवीं सदी के अन्त में नूतन अभ्युत्थित साहित्य की गति कई कारणों से रुद्ध हो गई थी। 'इन्द्रधनु' और 'बिजुली' नाम के दो सामयिक साहित्य पत्रों ने क्रमशः प्राचीन (उपेन्द्र भंज) और आधुनिक (राधानाथ) साहित्य की जयध्वजा उठाई थी। लेकिन साहित्य समालोचना के पवित्र नाम पर इन पत्रों ने अनेक बार जिस व्यक्तिगत कुत्सा की रटना की, उससे राधानाथ ही विशेष क्षतिग्रस्त हुए। उसी समय से राधानाथ के पक्ष और विपक्ष क लेखक राधानाथ साहित्य की अन्तर्दृष्टि का निरीक्षण किये बिना ही उसके बहिरंग स्वरूप पर घोर शंकालु हो उठे। साथ ही ये लोग ओड़िया साहित्य को दूसरी एक स्वतंत्र धारा में प्रवाहित करने के लिये प्रयत्नशील हुए। अतः सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि इन्द्रधनु और बिजुली के साहित्यिक विवाद ने राधानाथ की परंपरा को पूरी तरह से अवरुद्ध कर एक दूसरी ही धारा का आह्वान किया था। इसलिये जो काव्य राधानाथ परंपरा के श्रेष्ठ निदर्शन हैं वे सब इसी समय से अनादृत होने लगे और उसके स्थान पर उपन्यास, गल्प, नाटक, प्रबन्ध तथा गीति कविता आदि अधिकार

कर बैठे। उत्कल साहित्य (मासिक पत्र जनवरी, १८९७) के प्रतिष्ठाता श्री विश्वनाथ ने साहित्य की इस धारा को अधिक गतिशील किया था। वास्तव में उत्कल साहित्य ही इस नवसाहित्य का जन्मदाता और पालनकर्ता है। ओड़िशा के जनप्रिय उपन्यासकार एवं व्यास कवि फकीरमोहन ने इस साहित्य का प्रतिनिधित्व किया था।

व्यास कवि फकीरमोहन सेनापति (१८४३-१९१८) तरुण वय में (१८६९) ओड़िया के रक्षा-समर के एक अद्वितीय सेनापति थे। आगे चलकर सन् १८९७ से वे इस साहित्य की यथार्थ प्राणप्रतिष्ठा में एक असाधारण शिल्पी बने। प्रारंभ में जब कि वे बालेश्वर में शिक्षक थे, उन्होंने ओड़िया पाठ्य पुस्तकों के अभाव को हटाने के लिये 'भारतवर्ष का इतिहास' (१८६९) जैसी कई पुस्तकें लिखीं। लेकिन १८७१ से ९६ तक ओड़िशा की विभिन्न रियासतों के शासन कार्य में रहने के कारण उन्हें साहित्य-सेवा से वंचित रहना पड़ा। पुत्र-शोक में पत्नी के सन्तोष के लिये उन्होंने संस्कृत रामायण का अनुवाद किया था। मूल महाभारत और भगवद्गीता भी उन्हीं के द्वारा अनूदित हुई थीं। पत्नी-वियोग में उन्होंने जिन कई गीति-कविताओं की रचना की थी, वे 'पुष्पमाला' और 'उपहार' में संगृहीत हैं। पुत्र तथा पत्नी-वियोग और शोक ने ओड़िया साहित्य को समृद्ध करने के लिए उन्हें सहायता की है।

फकीरमोहन की वास्तविक साहित्य-रचना १८९७ ई० से आरंभ हुई है। समालोचना प्रबन्ध, गीतिकविता और काव्य (बौद्धावतार) आदि में हाथ डालने पर भी वे उपन्यास और क्षुद्र गल्पों के कारण ही अमर यश के भागी बने हैं। इनका साहित्य इनकी अपनी वंशपरंपरा तथा व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों पर ही प्रतिष्ठित है। २५ वर्षों के दीर्घकाल तक शासक-जीवन बिताने के कारण उन्हें लोक-चरित्र के व्यापक अध्ययन का सुयोग मिला था। लोकचरित्र के निरीक्षण की यथार्थ अन्तर्दृष्टि, मनुष्य की दुर्बलताओं के लिये मन में असीम संवेदनशीलता, सर्वोपरि जीवन के अमृतरसास्वादन के लिये मन की तीव्र अभिलाषा ने सेनापति साहित्य को अत्यन्त उन्नत कला-सृष्टि में बदल दिया है।

फकीरमोहन के चारों उपन्यास (लछमा, छमाण आठगुण्ठ, मामुं और प्रायश्चित्त), ओड़िशा की राजनीतिक और सामाजिक भित्ति पर प्रतिष्ठित और उपन्यास-सृष्टि-संपद में गरीयान् हैं। इन उपन्यासों में हम दो सौ साल (१७२० से १९२०) के उत्कलीय सामाजिक जीवन की झाँकी का दर्शन करते हैं। इनमें मरहट्ठों के अपशासन और अत्याचार तथा ब्रिटिश युग की सामाजिक परिस्थिति का सुन्दर चित्रांकन किया गया है। जीवन्त समाज ही इन उपन्यासों की पृष्ठभूमि है। अतः इनके चरित्र अत्यन्त प्राणवंत और मुग्धकर बन पड़े हैं। मरहट्टा-अपशासन के निर्मम कषाघात से उत्कल की सामन्तवादी सभ्यता किस प्रकार अतलगर्भ में पड़ी है, उसका मर्मन्तुद और हृदय-विदारक चित्र लछमा में दिया गया है। ब्रिटिश युग के प्रारम्भ में इस देश के पुराने जमींदार अपना पारंपरिक गौरव खो बैठे थे। कुछ ऐतिह्य हीन नये जमींदार किस प्रकार निर्लज्जतापूर्वक जनता का रक्त शोषण करने लगे थे, इसका एक विशद चित्र जमींदार रामचन्द्र मंगराज के चरित्र में प्रस्फुटित हुआ है। इसके अतिरिक्त आधुनिक

शिक्षाभिमानी शिक्षित निम्न मध्यवर्ग ने देश की भाग्य-डोरी को हस्तगत कर किस प्रकार जाति का शोषण किया था, उसका चित्र मामुं और प्रायश्चित्त में दिखाई पड़ता है।

शोषण और निष्पेषण सेनापति के उपन्यासों के प्राण-केन्द्र हैं। अतः करुण रस की अपूर्व मूर्च्छना साहित्य के वास्तविक स्वर में अनुभूत हुई है। जहां शोषित और निष्पेषित तथा मूक और अकर्मण्य हैं वहीं शोषण की तीव्रता अधिक घनीभूत होती है। सेनापति के उपन्यास इसी घनीभूत और मर्मभेदी करुण रस के मूर्त प्रतीक हैं। अपमानित, लांछित और अत्याचार से जर्जरित इस अभिशप्त जाति का करुण-क्रन्दन, सेनापति जी की प्रत्यक्ष अनुभूति तथा कला की सूक्ष्म अभिव्यक्ति पर प्रतिष्ठित है। अतः इन उपन्यासों का सौंदर्य साधारण पाठकों के मन को भी विमुग्ध कर देता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के शेष ३० वर्षों के भीतर इस देश की नूतन अभ्युत्थित एवं शिक्षित मध्यवित्त श्रेणी ने देश, जाति तथा समाज की मंगल-कामना से जिस विप्लव का सूत्रपात किया था, उसके फलस्वरूप इस देश की परंपरागत सामाजिक संस्था कठोर आलोचना का शिकार हुई। इसी समय प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा के संघर्ष के कारण अंग्रेजी शिक्षा के कई कुफल सिर उठाकर खड़े हो गये। ये दोनों कुफल या कुसंस्कार (पारंपरिक कुसंस्कार और अंग्रेजी-शिक्षा-प्रसूत कुसंस्कार) सेनापति के क्षुद्र गल्पों में यथार्थ रूप से चित्रित हैं। ये कहानियाँ संस्कार-मुखी युग में लिखी जाने पर भी साधारण प्रचारमुखी साहित्य के अंगीभूत नहीं हैं। लोगों के मन से कुसंस्कारों का हटाना ही गल्पकार का प्रधान लक्ष्य था। लेकिन यह लक्ष्य अन्य एक अभिनव उपाय से साधित था। इसी उपाय या पंथ ने इन कहानियों की रचना को शाश्वत सौन्दर्य प्रदान किया है। स्त्री-शिक्षा के प्रति वितृष्णा, अंग्रेजी सीखने पर मद्यपान और वेश्यालय जाना, शिक्षा पाने के बाद मां-बाप का अनादर करना, नव-विवाहिता स्त्री का दिन में स्वामी का मुख न देखना, मामूली सरकारी नौकरी पाने पर उद्धत स्वभाव का हो जाना, स्वामी की नौकरी के गुमान में स्त्री का दूसरों को अपमानित करना, धर्म के नाम पर पाखण्ड और शठता का परिप्रचार और आत्मीयता दिखाकर निरीह लोगों के शोषण की मनोवृत्ति आदि मनुष्य के मन की इन सभी दुर्बलताओं ने अलग-अलग परिवेशों में उपस्थित होकर सेनापति की कहानियों को सौन्दर्य प्रदान किया है। सेनापति मानवधर्मी थे और मनुष्य की दुर्बलताओं से घृणा करते थे। किंतु मनुष्य ही उनकी समस्त आन्तरिक संवेदनाओं का केन्द्र था। इसलिये जिन कुसंस्कारों पर उन्होंने निर्मम आघात किया है उन्हीं के अभिनेता ही उनके गल्पसाहित्य की रमणीय सृष्टि बने। उन्होंने इस अत्याचार पर आघात करने के लिये हास्यरसात्मक भाषा या परिस्थिति का आश्रय लिया है। पाठक इसी हास्यरस के उत्ताल स्रोत से चलकर एक हृदयविदारक करुणालय में पहुँच जाता है। फलतः सामाजिक संस्कारों का लक्ष्य हास्यरस के भीतर से होकर करुणारस में परिणत हो गया है। समूचे गल्प में झंकृत करुण रस की यह अपूर्व मूर्छना ही सेनापति की कलाकृति का अनवद्य अवदान है। दलित, निष्पेषित, अत्याचार से पीड़ित प्राणों की करुण झंकार ही उनके उपन्यास और कहानियों का प्राणकेन्द्र बनकर आया है। उन्नीसवीं सदी की अवहेलित ओड़िया जाति का

शोषित हृदय सेनापति-साहित्य के इस प्राणकेन्द्र में प्रतिबिंबित तथा प्रतिध्वनित है। इस जाति के पोषण और शोषण के ऐसे चित्र अन्य किसी रचना में प्राणवंत नहीं हो सके हैं।

हास्य और विद्रूप, चरित्र-चित्रण और भाषा, सेनापति साहित्य की एक-एक अभिनव सार्थक सृष्टि हैं। इनके उत्कल-भ्रमण (१८९२) में जिस शुद्ध हास्यरस और विद्रूप की नींव पड़ी थी, आगे चलकर वही उनके उपन्यासों और छोटी कहानियों में सशक्त कौशल के साथ प्रतिष्ठित हुई है। इनके पहले पिटीपिटाई घरेलू भाषा और वातावरण साहित्य के प्रधान उपजीव्य उपादान थे। किन्तु फकीर मोहन उपेक्षित गाँव की सन्तान थे, जिन्होंने अपने मुंह की स्वाभाविक भाषा में ही साहित्य सौध का निर्माण किया। सेनापति-साहित्य के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो ओड़िया जाति ने इस देश की भाषा तथा मनुष्य को पहले-पहल ही देखा हो, मानो ओड़िया ने सेनापति-साहित्य में पहले-पहल अपनी आत्म-सत्ता के आविष्कार की सुविधा पाई हो और इस साहित्य की चेतना से शून्य इस जाति का प्राण पहली बार प्रतिस्पन्दित हो उठा हो। सेनापति जी की भांति जाति तथा मनुष्य के आविष्कार का इतना विपुल गौरव और किसी ने नहीं अर्जित किया है। राधानाथ और मधुसूदन पाश्चात्य और प्राच्य सभ्यता के प्रतीक हैं लेकिन फकीरमोहन ओड़िया प्राण के यथार्थ प्रतिनिधि हैं। राधानाथ की परिकल्पना जितनी महान् है उतनी ही विराट् है। इनके साहित्य का ललित सौन्दर्य जनता के लिये संपूर्ण रूप से दुरधिगम्य है। मधुसूदन को लोग शिक्षक के रूप में देख सकते हैं किंतु कवि के रूप में वे जनता के लिये अबोध्य हैं। परन्तु फकीरमोहन ने हमें यह माटी की सन्तान दी है इसीलिये वे इतने अपने और निकट के लगते हैं। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि सेनापति के साहित्य की जनप्रियता इसी अभिमत पर प्रतिष्ठित है।

'उत्कल साहित्य' ने नवयुग की जिस सूचना के द्वारा कवियों को उद्बुद्ध किया था, वह नन्दकिशोर और गंगाधर आदि कवियों से परिपुष्ट हुआ। श्री नन्दकिशोर बल (सन् १८७५-१९२८ ई०) ने गांव की धूलमाटी, हवापानी, श्वास-प्रश्वास को काव्य की सरल और तरल भाषा में प्रकाशित किया था। गाँवों के प्रवचनों, कहावतों और संगीत के द्वारा उन्होंने काव्य में देहाती जीवन की प्रतिष्ठा नये ढंग से की थी। अपने एकमात्र उपन्यास कनकलता में वे एक विप्लवी और समाज-संस्कारक के रूप में आये हैं। राजपूत जाति के बलिष्ठ आत्मत्याग को लक्ष्य कर उन्होंने जिस तीव्र जातीयता से ओतप्रोत काव्य की रचना की है उसी ने उन्हें ओड़िशा से संबंधित अनेक जातीय कविताओं को लिखने की प्रेरणा दी है। ओड़िया गीति काव्य के इतिहास में मधुसूदन के बाद नन्दकिशोर का ही स्थान निर्देश किया जा सकता है। शिशुमनोरंजन के साहित्य में आपने अपूर्व दक्षता अर्जित की थी। उनकी कविताओं में गांव की आनन्द-माधुरी तथा ग्राम-सौन्दर्य की अमलिन रूपविभा पाठक के हृदय में अमिट छाप डालती है। श्री गंगाधर मेहेर (सन् १८६२-१९२४ ई०) ने आधुनिक शिक्षा-दीक्षा से वंचित होकर भी आधुनिक साहित्य के निर्माण में जो अपूर्व कविप्रतिभा दिखाई है, वह इस साहित्य में अद्वितीय और दुर्लभ है। उन्होंने पहले मध्ययुगीन ओड़िया साहित्य के आदर्श पर अपना कवि-जीवन शुरू किया था किन्तु आगे चलकर

दिये हैं। गोविन्दचन्द्र शूरदेव ने भी यात्राओं में संस्कार उपस्थित कर लोकचित्त में आनन्द एवं मार्जित रुचि पैदा करने की असामान्य साधना की है।

आलोच्य समय (१८९७-१९२०) में निबन्ध, समालोचना और गवेषणा की प्रगति बिलकुल सन्तोषजनक नहीं है। निबन्ध साहित्य को राधानाथ जी के सुयोग्य पुत्र श्री शशिभूषण राय का अवदान असीम है। पण्डित गोपीनाथ नन्द ने कई संस्कृत नाटकों तथा खण्ड काव्यों का ओड़िया में अनुवाद किया और ओड़िया भागवत, दाण्डी रामायण, खासकर सारला महाभारत की आलोचना में उन्होंने जिस सुतीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि, गंभीर पाण्डित्य, बहुशास्त्र-दर्शिता और अगाध ज्ञान का परिचय दिया है, वह असाधारण तथा अपूर्व है। पाली, प्राकृत और संस्कृत भाषा का अध्ययन कर उन्होंने "ओड़िया भाषातत्व" लिखा जो अपने आप में बेजोड़ है। आपने ओड़िया अभिधान का संकलन करके भी विशेष यश कमाया है। नन्दजी ने ओड़िआ कविता में संस्कृत गण नियम का अनुसरण किया था। पंडित मृत्युन्जय रथ के गवेषणात्मक निबन्ध, सारलादास की जीवनी का संग्रह और महाभारत की आलोचना से इस देश के आलोचकों को यथेष्ट सहायता मिली है। इनके अतिरिक्त ओड़िया साहित्य के कवियों के जीवनीसंग्रह तथा उनके काव्यों के अनुशीलन में श्री श्याम सुन्दर राजगुरु ने जैसा नेतृत्व किया, इस साहित्य में आज भी अविस्मरणीय है।

उत्कल सम्मिलनी (१९०३) की प्रतिष्ठा बंगविच्छेद आन्दोलन (१९०५) और बिहार ओड़िशा प्रदेश के गठन (१९१२) आदि की घटनाओं ने बीसवीं सदी के प्रथम चरण के ओड़िया शिक्षित युवकों में नवोत्साह और बलिष्ठ जातीय भाव का संचार किया था। उत्कल सम्मेलन के स्थापक श्री मधुसूदन दास इस नवजागरण के जन्मदाता हैं और उत्कल मणि गोपबन्धु दास इसके वास्तविक प्राण-प्रतिष्ठाता हैं। श्री गोपबंधु दास ने अन्य सहकर्मियों की सहायता से सत्यवादी के बकुल-विद्यालय को केन्द्र बनाया जिसमें जातीय भावना का स्रोत बहाकर नूतन ज्ञानालोक का वितरण किया था और जो इस जाति के इतिहास में एकान्त अभिनव और विस्मयकर है। परंपरागत प्रणाली में केवल छात्रों को परीक्षा उत्तीर्ण कराने की नीति छोड़कर उनके मनुष्यत्व का ठीक-ठीक विकास कराना इस वन विद्यालय शिक्षा का चरम लक्ष्य था और इसकी पूर्ति के लिये सत्यवादी के कार्यकत्ताओं ने अपने स्वार्थों का कम त्याग नहीं किया। उन कर्म-प्रवण कार्यकर्त्ताओं के क्रिया-कलाप उनकी रचनाओं में भी प्रतिफलित हुए हैं। समाज-सुधार, देशभक्ति तथा नरनारायण सेवा यही तीनों उनके कार्य तथा साहित्य के आभिमुख्य थे। गोपबन्धु इन तीनों के प्राण-केन्द्र थे। नीलकण्ठ, गोदावरीश, कृपासिन्धु, लिंगराज और हरिहर उनके इसी मंत्र से दीक्षित हुए थे। इनके साहित्य के अनुशीलन से पता चलता है कि ये सब के सब गोपबन्धु की चिन्ताधारा के जीवन्त परिप्रकाश ही हैं। हरिहरदास ने तो उसी दिन से जनसेवा को अपने जीवन का एकमात्र पथ चुन लिया। पण्डित लिंगराज यथार्थ पण्डित ही थे। संस्कृत के अमूल्य ग्रन्थ रामायण का ओड़िया में अनुवाद कर आप विपुल यश के अधिकारी बने हैं। कृपासिन्धु मिश्र ने ओड़िशा इतिहास की रचना में जिस बलिष्ठ भित्ति की स्थापना की है, वह एकान्त अभिनव है। आपके

"कोणार्क" और "बारबाटी" ग्रन्थ इतिहास तथा साहित्य दोनों दृष्टियों से अत्यन्त मूल्यवान् और उपादेय हैं। इनका साहित्य इस अभिमत का यथार्थ साक्षी है कि निर्जीव इतिहास भी भाषा केजादू से प्राणवन्त हो उठता है। उक्त पांच व्यक्तियों में से नीलकण्ठ और गोदावरीश साहित्य के वास्तविक स्रष्टा हैं। बहुलता तथा उपादेयता की दृष्टि से इन दोनों ने जो कृतित्व अर्जित किया है वह अद्वितीय और नमस्य है। नीलकण्ठ दास जी की ४८ वर्ष की लंबी साहित्य साधना का विचार करने पर तो स्तंभित होना पड़ता है। प्राथमिक जीवन में सत्यवादी स्कूल के शिक्षक नीलकण्ठ का परिचय हम कवि और सुधारक के रूप से पाते हैं। विभिन्न निबंधों, विशेषकर मेरी मूछ (मो निश) के द्वारा उन्होंने जिस प्रकार ब्राह्मण समाज को व्यंग्य-विद्रूप की तलवार से व्यतिव्यस्त कर इस देश में समाज-सुधार का एक विराट् आन्दोलन खड़ा किया था, उसकी स्मृति लोगों के मन में अब तक है। इनके "प्रणयिनी", "दास नायक" प्रभृति अनुवाद तथा "खार-वेल" काव्य में कविचित्त की एक अपूर्व निष्ठा और सृष्टि प्रेरणा का आदि उन्मेष साफ परिलक्षित होता है। कोणार्क काव्य नीलकण्ठ-कविप्रतिभा की उपयुक्त मानस सन्तान है। उग्र जातीयता बोध के महनीय कल्पना-विलास के साथ यथार्थ के मधुर समन्वय ने इस काव्य को एक मनोहर कृति में परिणत कर दिया है। सन् १९२१ के बाद से हम कवि नीलकण्ठ को एक राजनीति विशारद नेता के रूप में देखते हैं। उसी समय से सन् १९३४ तक उनके राजनीति में आने के कारण उन्हें फिर साहित्य सेवा की सुविधा नहीं मिल सकी। सन् १९३४ से अर्थात् नवभारत मासिक पत्रिका के संपादन के समय से नीलकण्ठ जी की रचनात्मक प्रतिभा का विनियोग ओड़िया साहित्य की समालोचना में हुआ दिखाई पड़ता है। भगवद्गीता की मनोहर व्याख्या ओड़िया सभ्यता और संस्कृति की अपूर्व प्रख्यापना, जगन्नाथ धर्म के दर्शन की प्रतिष्ठा, ओड़िया साहित्य की परिणति का क्रमिक प्रदर्शन—ये सभी समालोचना साहित्य में दार्शनिक नीलकण्ठ की बलिष्ठ अभि-व्यक्तियाँ हैं। युक्ति की सशक्तता, भाषा की संक्षिप्तता, भावाभिव्यक्ति की चिरनूतनता विषय वस्तु के पर्यालोचन की मौलिकता आदि नीलकण्ठ के समालोचना साहित्य की विशषताएँ हैं। युक्ति की पुनरुक्ति और धर्मालोचना के समय असहिष्णुता आदि कई दोषों को छोड़कर नीलकण्ठ का समालोचना साहित्य ओड़िया साहित्य में अद्वितीय है।

पंडित गोदावरीश असल में गीति-कवि हैं। उन्होंने नाट्यकार बनने की भी कोशिश की पर उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। आज उनके नाटकों को मंचगौरव नहीं प्राप्त है। इन्होंने निबन्ध, समालोचना, उपन्यास तथा क्षुद्र गल्प में भी हाथ डाला है, लेकिन केवल गाथा कविता में ही अमर हो सके हैं। "कलिका" और "किशलय" में उनकी प्रतिभा का प्राथमिक उन्मेष देखने को मिलता है। इनमें निष्कपट हृदय कन्दर से निःसृत निर्झर के झर्झर नाद की भांति सरल तरल भावराशि प्रवाहित हुई है। सत्यवादी का बकुल-बन उनके साहित्य में मूर्तिमान हो उठा है। 'आलेखिका' उनकी प्रतिभा का श्रेष्ठ अवदान है। साधारण घरेलू भाषा और सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन के परिवेश में, जातीयता के उज्ज्वल आलोक से दीप्तिमन्त और गंभीर करुणा मूर्च्छना में परिसमाप्त होकर, अतीत इतिहास की गौरव-गाथाओं ने

इस पुस्तक के प्रत्येक कविता को जिस तरह सार्थक सृष्टि में रूपायित किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

सत्यवादी चिन्ता धारा उपयुक्त अवसर पर उत्पन्न हुई थी। यह एक सामाजिक स्फुरण नहीं है। इस स्फुरण की ज्योति जितनी प्रकाशपूर्ण तथा अभिनव थी उसकी कार्यशक्ति भी उतनी ही व्यापक और बलिष्ठ थी। इसके स्रष्टाओं ने ससीम के भीतर जन्म लेकर जिस असीम का संकेत दिया है उसके लिए परवर्ती युग के युवचित्त में एक प्रलयाग्नि धधक उठी थी।

आधुनिक ओड़िया साहित्य का तीसरा पर्व (१९२१–३६)

सन् १९२१ के प्रारंभ में इंडियन नेशनल कांग्रेस ने महात्मा गान्धी जी के नेतृत्व में अहिंसात्मक असहयोग मन्त्र में दीक्षित होकर सारे भारत में जातीयता की जो आग जलाई थी, उससे उत्कलबरी नहीं रह सका था। इसी अभिनव मन्त्र में दीक्षित होकर श्री बांछानिधि महान्ति और श्री वीर किशोरदास आदि कई कवियों ने सरल तरल भाषा तथा सुमधुर संगीतात्मक कविताओं के द्वारा जिस नूतन अग्निमयी उत्तेजना का प्रवाह इस देश में प्रवाहित किया था, वह आज भी लोकचित्त में अंकित है। गोपबन्धु जी के अथक परिश्रम से 'उत्कल सम्मिलिनी' सामयिक रूप से कांग्रेस के साथ मिल गई थी। फलतः उत्कल का जातीय भाव महाभारतीय भाव में बदल गया। सन् १९२१ के पहले और बाद की ओड़िया जातीय कविताओं के निरीक्षण से मालूम पड़ता है कि उसमें क्रमशः उत्कल और फिर भारत को मुख्य स्थान दिया गया है। भारत को विदेशी शासकों की लौह शृंखला से मुक्त करने और स्वाधीन भारत की प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिये इस अहिंसा आन्दोलन न साहित्य निर्माण की दिशा में भी जिस आश्चर्यजनक उन्मादना की सृष्टि की थी, उसके सर्वश्रेष्ठ प्रतीक उत्कल के सत्यवादी बकुलवनविद्यालय के अधिनायक सर्वस्वत्यागी गोपबन्धु दास हैं। इसके पहले गोपवन्धु ने यथावसर अपनी विभिन्न चिन्ताओं के आश्रय से कई छोटी-छोटी कविताओं की रचना की थी जिनमें उत्कल के अधःपतन तथा निपीड़ित जनता के प्रति गंभीर सहानुभूति का स्पष्ट चित्रण हुआ था। सन् १९२३–२४ में जब वे बिहार के हजारी-बाग जेल में कारादण्ड भोग रहे थे, उसी समय उन्होंने "काराकविता", "बन्दीर आत्मकथा", "धर्मपद", "गोमहात्म्य" और ब्रह्मतत्त्व आदि पुस्तकों की रचना की थी। उन पुस्तकों में उनके व्यक्तिमानस के अनिन्द्य चित्र दिखाई पड़ते हैं। उग्र जातीय भाव, अत्याचारी विदेशी शासक के कुशासन के प्रति कठोर विद्रूप, देश के अधःपतन के प्रति गंभीर सहानुभूति, देश और जाति की कल्याण-कामना में आत्मोत्सर्ग की मनोवृत्ति—ये सभी उन रचनाओं में अपने प्रकाश से उद्दीप्त हो उठे हैं। 'धर्मपद' गोपबन्धु के कवि-मानस की एक अमर सन्तान है। इसकी निर्जीव कहानी प्रतिभा के स्पर्श से एक नये आलोक में उद्भासित हो उठी है। ओड़िया लोगों के मन की जड़ता दूर करना, कूपमण्डूकपना छोड़ समूचे भारत तथा विश्व के प्रति इनकी दृष्टि को विकसित करना, ओड़ियाओं के हृदय में प्रलय की ज्वाला प्रज्ज्वलित करना और उन्हें नये जीवन से भर देना ही गोप-

बन्धु के जीवन का उद्देश्य था। अनुमान है कि उन्हीं के हाथों 'समाज' पत्रिका के द्वारा ओड़िया गद्य अपनी स्वाभाविक अवस्था की ओर पुनः लौट आया।

गोपबन्धु जी के साहित्यिक अवदान परिमाण में अधिक नहीं हैं पर उपादेयता में असीम हैं। उनके अग्निमय व्यक्तित्व का सार्थक प्रभाव पहले विशेष रूप से १९२१ के बाद नारी-कवि कुन्तलाकुमारी पर पड़ा था। 'रघु अरक्षित', 'नअतुण्डी' आदि उपन्यासों के द्वारा कुन्तलाकुमारी ने ओड़िया मध्यवर्ग के चित्रांकन में फकीरमोहन की परंपरा निभाई थी। वे वस्तुतः गीति कवियित्री थीं। उनकी कविताओं में देश-प्रेम का अखंड स्रोत प्रवाहित है। उनमें एक भक्त कवि की तरलभाव राशि का उद्वेलन है। ये कविताएँ उनके हृदय का यथार्थ परिचय देती हैं। संयम के अभाव के कारण उनकी गीति-कविताओं में जगह-जगह पर काव्य-नियमों का व्यक्तिक्रम भी मिलता है, फिर भी नन्दकिशोर और गोदावरीश के बाद गीति-कविता के राज्य में उन्हीं का स्थान है।

आलोच्य समय (१९२१–१९३६) के भीतर प्राची समिति नाम की एक सांस्कृतिक संस्था ने मध्ययुगीन साहित्य के शुद्ध संस्करण के प्रकाशन तथा गौड़ीय धर्म दर्शन के प्रख्यापन का बीड़ा उठाया था। इसके प्रतिष्ठित होने (सन् १९२७) के बहुत पहले अध्यापक आर्त्तवल्लभ महान्ति ने कई पुस्तकों के शुद्ध संस्करण प्रकाशित कर ओड़िया साहित्य की ओर लोगों की दृष्टि आर्कषित की थी। प्राची समिति के प्रतिष्ठाता और परिचालक श्री आर्त्तवल्लभ महान्ति ने अपने गंभीर पाण्डित्य, निरलस अध्यवसाय और असीम साधना से इन शुद्ध संस्करणों के द्वारा मध्ययुगीन साहित्य के गौरव के अनुभव करने की सुविधा दी है। ग्रन्थों के शुद्ध संस्करण के साथ-साथ पाण्डित्यपूर्ण टीका और तथ्यपूर्ण मुखबन्ध लिखकर उन्होंने समालोचना साहित्य की यथेष्ट उन्नति की है। सर्वश्री अध्यापक करुणाकर कर, अध्यापक लक्ष्मीकान्त चौधुरी, अध्यापक घनश्यामदास, सुधाकर पटनायक तथा बिच्छंदचरण पटनायक आदि गवेषकों, साहित्यिकों तथा ऐतिहासिकों के सहयोग से श्री आर्त्तवल्लभ महान्ति जी ने गवेषणा और समालोचना की जिस मूलभिति की स्थापना की है (कम से कम मध्ययुगीन साहित्य क्षेत्र में) वह ठोस और प्रशंसनीय है।

बंग कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने १९१३ ई० में नोबेल पुरस्कार पाया था। प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) के कारण रवीन्द्र साहित्य १९२० तक भारत में अच्छी तरह प्रचारित नहीं हो पाया था। लेकिन १९२० के बाद भारतीय साहित्यिक रवीन्द्र साहित्य खासकर 'गीतांजलि' के साहित्यिक गौरव तथा रहस्यवाद की ओर आकृष्ट हुए। भारत के दूसरे लेखकों की तरह ओड़िशा के कई कालेजों के छात्र इसी समय रवीन्द्र साहित्य से प्रभावित हुए थे। सर्वश्री अन्नदाशंकर राय, शरतचन्द्र मुखर्जी, कालिन्दीचरण पाणिग्राही, वैकुण्ठनाथ पटनायक और हरिहर महापात्र इन पांच व्यक्तियों ने शान्तिनिकेतन की (सबुजपत्र) पत्रिका के आदर्श से अनुप्राणित होकर एक स्वतंत्र साहित्यिक धारा का सूत्रपात किया था। इनकी कुछ कविताएँ पहले १९३१ ई० में ('सबुज कविता' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुईं। इसके अतिरिक्त इन लोगों ने सबुजसमिति नामक एक सांस्कृतिक संस्था स्थापित कर उसके मुखपत्र के रूप में 'युगवीणा' नामक एक मासिक पत्रिका

का प्रकाशन भी किया था। इसीलिए साधारणतया लोग इनको सबुजकवि और इनके साहित्य को 'सबुज साहित्य' कहते हैं। इनमें से केवल दो व्यक्ति कालिन्दी और वैकुण्ठ, १९३० से आज तक अबाध रूप से साहित्य समृद्धि करते आ रहे हैं।

यदि सबुज साहित्य के नाटक, गीति-कविता, उपन्यास, क्षुद्र गल्प, समालोचना-गवेषणा, भ्रमण साहित्य आदि प्रत्येक विभाग के साहित्यिक गौरव का अनुशीलन किया जाय तो उसमें एक युवकोचित रचना-शक्ति और अमेय आत्म-प्रकाश की अभिलाषा दिखाई पड़ती है। 'समर ओ साहित्य', 'वसन्तगाथा' और पद्मपाखुड़ा पर श्री अन्नदाशंकर तथा 'मथुरामंगल' पर श्री कालिन्दी चरण की समालोचना में आलोचना की दृष्टि भंगी, विषय-आहरण और पर्यवेक्षण की चमत्कारिता—खासकर मथुरामंगल की आलोचना की गंभीर गवेषणात्मक प्रवृत्ति—वास्तव में प्रशंसनीय है। वैकुण्ठनाथ के एकमात्र नाटक "मुक्तिपथे" में नारी-स्वतंत्रता की जैत्र-पताका फहराई गई है। कालिन्दीचरण की लघु कथाओं में विषयवस्तु के निर्वाचन तथा परिवेषण की नूतनता, शैली (आंगिक विभाग) की चमत्कारिता, विषय वस्तु की स्वाभाविकता आदि विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। क्षुद्र गल्पों का रूपात्मक और तत्त्वात्मक (आंगिक और आत्मिक) अध्ययन करते समय फकीरमोहन के बाद कालिन्दीचरण जी की कहानियों पर ही दृष्टि जमती है। अन्नदाशंकर की 'बिलात चिठी' तथा 'वासन्ती' उपन्यास एक अभिनव प्रयास का अमृतमय फल है। नये लेखकों और लेखिकाओं के सम्मिलित प्रयास पर प्रतिष्ठित यह उपन्यास मानो ओड़िया उपन्यासों में एक नवीन पदक्षेप है। सामाजिक कुसंस्कारों के विरोध की जययात्रा ही उस उपन्यास का लक्ष्य नहीं है बल्कि इन्हीं सामाजिक कुसंस्कारों के आधार पर उसकी रचना हुई है। वह भी कोई बहुत बड़ी सामाजिक समस्या नहीं है। फिर भी इस दुर्बल सामाजिक समस्या को मूलाधार मानकर इसमें चरित्र-चित्रण का जो मनोहर चित्रपट अंकित किया गया है, वह वासन्ती के पहले के ओड़िया उपन्यासों में देखने को नहीं मिलता। वासन्ती युग के उपन्यासों में उपन्यासकारों की दृष्टि घटना पर रहती थी। परस्पर विरुद्धात्मक घटनाओं के घात-प्रतिघात से किस प्रकार पात्रों का मानसिक द्वन्द्व विचित्र गति से धावित होता है, पहले के उपन्यासकारों ने जैसे इसकी ओर दृष्टि ही नहीं दी थी। वासन्ती के लेखक और लेखिकाएँ इस गौरव के प्रथम अधिकारी हैं।

सबुज साहित्य की गीति कविताएँ शैली और विषय (आंगिक तथा आत्मिक रूप विभव) के नाते पाठकों की दृष्टि आकृष्ट करती हैं। अन्नदाशंकर की कुछ कविताओं की पर्यालोचना करने से इन कविताओं पर एक निश्चित धारणा बनाई जा सकती है। साधारण पाठक इन कविताओं में प्रतिष्ठित सामाजिक संस्था के प्रति विद्रोह की घोषणा, पार्थिव जगत् के साधारण मनुष्य से अपने को दूर रख सुदूर परी-राज्य में विचरण करने की मनोवृत्ति का पोषण, साधारण प्रेम की अपेक्षा एक ज्ञानमय सौन्दर्यमूलक प्रेम पर निष्ठा, ऐकान्तिक प्रकाश, साधारण विषय और भाषा को असाधारण रूप से विभिन्न छंदों में प्रयोग, एक स्वप्नमय जगत में विचरण करने की अनन्त पिपासा, छन्दमय भाषा को द्रुतगति छंद रूप देने के प्रयास में ओड़िया भाषा की विशेषता का विनाश

आदि इसकी कुछ विशेषताएँ हैं। सबुज (हरा रंग) नूतन स्पंदन और बलिष्ठ जीवन का और सबुज हीनता प्राण-शून्यता का द्योतक है। नूतन सृष्टि के लिये, एक सजीव अभिलाष पोषण तथा आहरण के आंगिक परिवेश के भीतर युवचित्त की परिपूर्ण अभिव्यक्ति की प्रतिष्ठा ही सबुज साहित्य का स्वरूप है। इस साहित्य का स्थिति-काल केवल दस साल का है, फिर भी ओड़िया साहित्य में इसका आगमन अप्रासंगिक, अवान्तर, अहेतुक या अस्पृहणीय नहीं है। इस साहित्य की कई कविताओं में कुछ अवांछित उपादानों का समावेश देखकर संपूर्ण साहित्य को अस्वीकार कर देना ठीक नहीं। मधुसूदन ने ओड़िया गीति-कविताओं की जो नींव डाली थी, वह श्री नन्दकिशोर, मदनमोहन, पद्मचरण तथा गोदावरीश के द्वारा यथेष्ट रूप से पल्लवित हुई है। फिर भी सन् १९२० तक इसकी शैली (आंगिक रूप-विभव) में कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ था। कविता के इस रूप-वैचित्र्य के संपादन का श्रेय सबुज साहित्य को ही है।

सबुज कवि तथा सबुज साहित्य का रूप लगभग १९३० के बाद बदल गया था। १९३० के बाद ओड़िया में जिस स्वतंत्र साहित्य ने सिर उठाया, उसमें सब्ज कवियों ने अपने को मिला दिया था। अतः इसके बाद उन्हें तथा उनके साहित्य को 'सबुज' नाम देना कोई विशेष अर्थ रखता है—ऐसा हम नहीं सोचते।

कालिन्दीचरण का उपन्यास "माटिर मणिष" (१९३१) सबुज कवियों के मानसिक परिवर्तन का एक स्पष्ट संकेत है। सबुज कवि मिट्टी के हवापानी और मनुष्य को छोड़कर परी राज्य में ही विचरण करते हैं, ऐसा विचार रखनेवालों के लिये ही शायद 'माटिर मणिष' का उपहार उपस्थित किया गया है, जिसमें माटी की प्रकृत सन्तान को चित्रित करने की कोशिश की गई है। माटिर मणिष का एक मुख्य पात्र बरजू आदर्श गांधीवादी है। कालिन्दीचरण का परवर्ती उपन्यास "लुहार मणिष" पढ़ने पर यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि गान्धी आन्दोलन में केन्द्रित होकर जो साहित्य इस देश में गढ़ उठा था, उसका प्रथम आलोक माटिर मणिष उपन्यास है। फकीर-मोहन के बाद उपन्यास-जगत् में माटिर मणिष न ही ग्राम्य जीवन का एक जीवन्त चित्र प्रदान किया है। कालिंदी बाबू के 'मुक्तागड़र क्षुधा' तथा 'अमर चिता' उपन्यास ओड़िया साहित्य के विशिष्ट अवदान हैं।

आलोच्य समय (१९२०—३६) श्री मायाधर मानसिंह की कविप्रतिभा के उन्मेष और विकास का युग है। सन् १९२६ से आज तक कवि मानसिंह जी ने जिस साहित्य की रचना की है, वह परिमाण और रूप-वैचित्र्य दोनों दृष्टियों से प्रणिधान योग्य है। गीति कविता, काव्य, नाटक, उपन्यास, गल्प, भ्रमण साहित्य, साहित्यालोचना, ओड़िया ज्ञान-कोश (संकलन) आदि, साहित्य के विभिन्न रूपों तथा विषय-वस्तुओं की विशिष्टताओं द्वारा मानसिंह (रूप और पद से) महान् लगते हैं। ऐसा नहीं लगता कि कहानी या उपन्यास में उन्होंने विशेष कृतित्व अर्जित किया है। इनके नाटक तीव्र जातीय भाव पर प्रतिष्ठित होने पर भी उनका मंचमूल्य आदि नहीं है। उनका काव्य "कमलायन" विषयवस्तु की दृष्टि से अभिनव है और साहित्य-समीक्षा तो अत्यंत उपादेय है। अन्य कृतियों के रचना-सौन्दर्य ने उनके कविचित्त को जिस प्रकार प्रभावित किया है उसे उन्होंने

उसी प्रकार अत्यन्त मनोहर भाषा में निर्भीकतापूर्वक प्रकाशित किया है। यह विचार-बोध उनका अपना ही है। आगे चल कर इस विचार-बोध ने अनेक लेखकों को योग्य मानसिक खाद्य पहुँचाया है। इन सबके बाद गीति-कविताएँ ही मानसिंह की कवि-प्रतिभा के विशिष्ट अवदान हैं। जातीयता-बोध और प्रेम उनकी अधिकांश कविताओं के मूलपिण्ड हैं। यह जातीयता भाव नूतन छन्द-योजना के महनीय परिवेश के भीतर प्रतिष्ठित है। प्रेममूलक कविताओं में पार्थिव जगत् के नरनारियों के प्रेम ने ही मुख्य स्थान पाया है। इस प्रेम में विराट् दर्शन तो अवश्य है परन्तु उच्चादर्श नहीं है। किंतु उस साधारण प्रेम की वाणी चलचंचल छंदों के ताल में नृत्य-मुखर हो उठी है। मानसिंह जी का प्रथम वाणी-अवदान "धूप" ही प्रेममूलक ओड़िया गीति कविता-राज्य में रस-वाणी का एक सार्थक नैवेद्य है। "साधवझिअ" कविता में प्रेम की जो अभिनव प्रकाश-भंगी नूतन छन्द के नूपुर निक्वण के साथ मुखरित हो उठी थी, वही प्रेम का वैचित्र्य "पुष्पिता" नाटिका, "शुभदृष्टि" कविता, "पुजारिणी" गीति-नाट्य और विशेष रूप से "कोणार्कर लास्य लीला" नामक कविता में चरम अवस्था को पहुँच गया है। इन रचनाओं की सृष्टि-परिकल्पना, संगीत तथा छन्द-संयोजना, रस और रूप के प्रकाश की अभिनव व्यंजना, इस साहित्य में संपूर्ण नूतन है। कवि-कल्पना की महनीय शक्ति से कोणार्क की जड़-निर्जीव पाषाण मूर्तियाँ नृत्यचंचला, भावविह्वला तथा प्राणपरिपूर्ण हो उठी हैं। कला-प्राण ओड़िया जाति का शिल्पचूड़ामणि कोणार्क मन्दिर, सत्यवादी मंजुबकुलवन के अधिदेवता साक्षीगोपाल, नौयात्रा-प्रिय ओड़िया वणिक् की अपूर्व जीवन-कहानी तथा पुराण की कथावस्तुओं के भीतर मानसिंह की कवि-प्रतिभा का अमर सृष्टि-सौन्दर्य विकसित हुआ है। इन स्थानों में अतीत ही अनिन्द्य विभा और नूतन रूपमाला से, उद्भासित हो उठा है। जेमा, कमलायन, बुद्ध आदि रचनाओं में हम नये छन्दों के सहारे काव्यों का एक एक आंगिक प्रयोग देख पाते हैं।

इस समय (१९२०–३६) के भीतर नाट्यकार अश्विनीकुमार घोष, ग्राम (पल्ली) कवि सच्चिदानन्द राउतराय, छन्दरसिक राधामोहन गड़नायक, निबन्धकार कुलमणि दास, वैष्णव चरणदास, निकुंजकिशोर दास, उपेन्द्रकिशोर दास आदि कवियों और लेखकों की रचनात्मक प्रतिभा का उन्मेष और विकास हुआ था। 'बारुणी' (१९२६) पत्र ने अपनी छोटी जिन्दगी में ही ठेठ ओड़िया भाषा तथा ओड़िया चेतना का परिचय देने में सफलता पाई थी। गोदावरीश के बाद नाट्यकार अश्विनीकुमार घोष ने विभिन्न पौराणिक और किंवदन्ती विषयमूलक नाटकों की रचना कर इस जाति के प्राण में जो नाट्य रस उड़ेला, वह अविस्मरणीय है। नाटक के आंगिक रूप-विभव तथा आत्मिक रस-संपद की रक्षा करते हुए उन्होंने जिन कई नाटकों में पारदर्शिता दिखाई है, उनमें से कोणार्क भी एक है। सच्चिदानन्द का 'पाथेय' और 'पूर्णिमा' सबुज साहित्य के आदर्श पर आधारित है। 'पल्ली श्री' में उनकी सार्थक कवि-प्रतिभा का चरम निदर्शन मिलता है। उस पुस्तक की (पहिल रज) कविता में ओड़िया जीवन का जो निर्दोष चित्र खींचा गया है, वह काव्यिक प्रकाश भंगी, सुमधुर अलंकार-संयोजना और वास्तविक जीवन की कहानी के कारण अत्यन्त हृदयस्पर्शी हुआ है। इस समय उनकी कई एक हास्यरसात्मक कविताएँ भी निकली हैं।

किन्तु आज हम जिस विप्लवी सच्चिदानन्द को जानते ह वे १९३६ ई० के बाद के गण कवि सच्चिदानन्द ही हैं। राधामोहन गड़नायक की कविप्रतिभा आज भी म्लान नहीं हुई है। उनकी 'विप्लवी राधानाथ' नामक कविता पुस्तक में कवि राधानाथ पर उनके तीक्ष्ण रस-बोध का जो परिचय मिलता है, वह परवर्ती साहित्यालोचनाओं में अच्छी तरह विदित है। कालिदास नाटक में कवि कालिदास के कला-सर्जन की जो तीर्यक् दृष्टि-भंगी दिखाई पड़ती है, वह उनकी समस्त गीति-कविताओं में भी परिलक्षित होती है। गोदावरीश मिश्र के बाद राधामोहन गड़नायक गाथा-कविता रचना के एक निपुण कलाकार हैं। उनकी मधुर छंद-योजना तथा विषय-वस्तु की नवीन परिकल्पना के कारण इस जाति का अतीत वैभव अत्यंत हृदयग्राही हो उठा है। गड़नायक की गीति-कविताओं को पढ़ते समय उपयुक्त भावद्योतक मधुर शब्दों का प्रयोग, सौन्दर्य निहित कथावस्तु का आहरण, रस तथा वैचित्र्य-उत्पादक विषय-विन्यास, कलात्मक सौन्दर्य के प्रख्यापन के लिये कवि-चित्त की एक अखण्ड रसपिपासा आदि विशेषताएँ पाई जाती हैं।

सन् १९३६ से ४७ तक का ओड़िया साहित्य

चिर-अवहेलित ओड़िया प्राण में अपने स्वतंत्र प्रान्त गढ़ने की जो अभिलाषा थी, वह १९३६ ई० में कुछ अंशों में सिद्ध हुई। स्वतंत्र प्रान्त बन जाने के बाद जाति के अवचेतन मन पर अपनी स्वतंत्र स्थिति की प्रतिष्ठा के लिये अपूर्व जागरण और उत्साह का उदय हुआ है। जिस युग में जाति की यह आत्मचेतना उद्‌बुद्ध हुई, उसके पहले कांग्रेस ने गान्धी जी के नेतृत्व में अखिल भारतीय संग्राम चलाया था। उसने उस जागरण और समर-पिपासा को अधिक तीव्रतर बना दिया था। प्रान्तीय तथा भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों के साथ आन्तर्जातिक राजनीति ने मिलकर इस मनोवृत्ति को एक नये आलोक में उद्‌भासित किया। गण के सर्वांगीण मंगल-साधन के लिये देश में श्रेणीहीन समाज की प्रतिष्ठा, समाज में व्यक्ति का सर्वाधिक सम्मान स्वीकार, असामाजिक विभेद और अविचार का दूरीकरण, विशेष रूप से निष्पेषित, शोषित, अवहेलित जनता को धन और मान भोगने वाले मुट्ठी भर सुविधावादियों के चंगुल से मुक्ति-प्रदान—कार्ल मार्क्स की यह उदात्त अमृत वाणी परीक्षित होकर संसार के विचारशील लोगों का—चिंतन विषय बन गई। इस साम्यवाद की नीति ने ओड़िशा में जो रूप धारण किया, उसके प्रवर्तक हैं कामरेड श्री भगवती-चरण पाणिग्राही। इन्होंने नवयुग साहित्य संसद नामक एक सांस्कृतिक संस्था की प्रतिष्ठा की थी। संस्था के मुखपत्र के रूप में 'आधुनिक' मासिक पत्र का प्रकाशन भी समधर्मी लेखकों की सहायता से संपन्न हुआ। इससे साहित्य सृष्टि की मनोवृत्ति में एक अचिन्तनीय परिवर्तन की मजबूत नींव पड़ी। इसके पहले स्वप्न-विलासी सबुज कवि कालिन्दीचरण तथा वैकुण्ठनाथ ने अपने भाव-विह्वल स्वप्न-संसार तथा इन्द्रियातीत रहस्यवाद के कूटजाल से धीरे-धीरे मुक्त होकर यथार्थवादी, विद्रोहात्मक कविता का मात्र आरंभ ही किया था। इन दोनों लेखकों ने आलोच्य समय (१९३६–४७) के भीतर इस नूतन साहित्य की गति से होड़ लेकर विद्रोहात्मक कविता-रचना में विशेष सहायता की। यही नूतन साहित्य आज प्रगतिशील साहित्य कहलाता है।

यह साहित्य अनेक प्रसिद्ध और और अप्रसिद्ध लेखकों की वरणीय रचनाओं से परिपूर्ण है। सर्वश्री कृष्णचन्द्र कर, गोकुलानन्द रायचूड़ामणि, सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी, मोहनदास, नवकृष्ण चौधुरी, मनमोहन मिश्र, अनन्त पटनायक और सच्चिदानन्द राउतराय जैसे अनेक लेखकों ने इस नूतन चिन्ताधारा में दीक्षित होकर साहित्य को समृद्ध बनाया है। इनमें से शेषोक्त तीन व्यक्ति इस साहित्य के यथार्थ कर्णधार हैं। अनन्त पटनायक अपनी अनेक कविताओं द्वारा मार्क्सीय चिन्ताधारा के परिप्रचार के साथ-साथ साहित्य की गौरव-प्रतिष्ठा में यत्नशील बने। आजकल की नवीन कविताओं से बराबरी करने के लिये वे जिस प्रकार की दुर्बोध्य भाषा का अनुसरण कर रहे हैं, उसमें वे कहाँ तक चिन्तन गौरव के अधिकारी बन सकेंगे, यह एक विचारणीय विषय है। सच्चिदानन्द की विप्लवी मनोवृत्ति "चित्रग्रीव" उपन्यास तथा "अभियान" कविता पुस्तक से सूचित होती है। ये कविताएँ पूर्ण रूप से प्रचारमूलक हैं। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि इनका चिरन्तन मूल्य नहीं है। समय के विशाल प्रांगण में इन कविताओं ने सामयिक मधुर नुपुर-ध्वनि सुनाई है, फिर भी सच्चिदानन्द की रचनात्मक प्रतिभा की सशक्त आधारशिला के रूप में इन्हें अब स्वीकार कर लेना चाहिए। "बाजीराउत" कविता में जो समर्थ व्यक्तिपूजा का अर्घ्य दिया गया है उसमें उनकी विप्लवी चिन्ताधारा यथार्थ साहित्यिक रूप-विभव से महीयान हो उठी है। इनकी अमृत लेखनी के बल पर ही ढेंकानाल के मामूली खेवैये का बेटा निष्पेषित, शोषित समाज का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ हो सका है। सामाजिक कुसंस्कारों, अन्यायों और अत्याचारों को केन्द्रित कर सच्चिदानन्द ने साधारण उत्कलीय जीवन की अभिव्यक्ति के लिये जो कई एक कहानियाँ लिखी हैं, वे मार्क्सीय चिन्ताधारा की राजनीतिक पोशाक फेंक कर एक अपूर्व शिल्पगौरव से विमण्डित हुई हैं।

१९३६ से गीति-कविता, गल्प, उपन्यास, नाटक और आलोचना—प्रत्येक विभाग का आंगिक और आत्मिक रूप-विभव अपूर्व परिवर्तनों से होकर गुजरा है। परंपरित शिल्प के आदर्श से अनुप्राणित होकर सर्वश्री मानसिंह, गड़नायक तथा कुंजबिहारी दाश आदि कवि इस समय संगीतमय भाषा तथा छन्द-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा में यत्नवान् बने। लेकिन इसी समय से यह भी दीख पड़ता है कि गीति-कविता अपना सारा सौन्दर्य खो बैठी है और इसके स्थान पर गद्य साहित्य अधिकार जमा बैठा था। प्राथमिक अवस्था में गीति-कविता के अपने संगीत धर्म का कुछ ही हद तक संरक्षण हुआ था और आगे चलकर वह भी तिरोहित हो गया। अतः गद्यमय जीवन में गद्यात्मक रूप विभव ही गद्य कविता के श्रेष्ठ आंगिक रूप के तौर पर स्वीकृत हुआ था। इस काल में कविता के बाह्य रूप में गद्य रूपान्तर ही एकमात्र परिवर्तन नहीं बल्कि निर्दिष्ट भावद्योतक भाषा ने भी पूरी तरह से नया वेश ग्रहण किया था। परंपरित शिल्प-सौन्दर्य के द्योतक अलंकार, उपमान, भावप्रकाशक शब्द आदि इस समय छोड़ दिये गये और उनकी जगह एक ऐसी भाषा आई जो इस देश के लोगों की जीवन-यात्रा के मार्ग में बिल्कुल नई थी। जीवन की परिधि तथा दृष्टि का परिसर बढ़ जाने के कारण कविता में विदेशी अलंकार, उपमान यहां तक कि विदेशी शब्द भी बिना किसी बाधा के अपना आसन जमाने लगे। ये लेखकगण इस परिवर्तन से भी संतुष्ट नहीं हो सके।

वे कविता की भाषा को और भी नये रूप में उपस्थित करने में यत्नशील रहे। उन्होंने निर्दिष्ट भाव-द्योतन के निमित्त आनुषंगिक प्रतीकात्मक शब्द संग्रह कर कविताओं को एक ऐसा रूप दिया, जिससे वे अधिकांश पाठकों के लिये अत्यंत दुर्बोध्य होने लगीं। कविता का यह आंगिक प्रयोग पहले पहल अनेक प्रमादों के भीतर गुजरा था। लेकिन धीरे-धीरे जब लोगों के रस ग्रहण का मान-दण्ड बदलने लगा और लेखक भी दक्ष होने लगे तो इस प्रयोग के विकास में कठिनाई न रही। उदाहरणस्वरूप सच्चिदानन्द राउतराय की "भानुमतीर देश" कविता की भाषा पहले दुर्बोध्य लगती थी; किन्तु ठीक तरह से पढ़ने पर अब कठिनाई नहीं रही। कविता की इस प्रतीकात्मक भाषा की शैली लेखक के गंभीर रसबोध और सौन्दर्यमूलक अभिव्यक्ति पर प्रतिष्ठित होकर पाठक के अचेतन मन में किस प्रकार घनीभूत रस का पर्यवेक्षण करती है, वह पिछले दस वर्षों के भीतर लिखी गई अनन्त पटनायक, गुरुचरण महान्ति आदि की कविताओं से आसानी से समझा जा सकता है।

इस समय के साहित्य में कविताओं, गल्पों, उपन्यासों और नाटकों के आत्मिक रूप-वैचित्र्य का परिचय मिलता है। अधिकतर प्रत्यक्ष शोषण अथवा इसका दूसरा कोई रूप ही रचनात्मक साहित्य का मुख्य विषय वस्तु हुआ करता था। लेकिन यदि यह शोषण किसी राजनीतिक मतवाद की पर्यालोचना में सीमित न रहे तो वह साहित्यिक रस-प्रतिष्ठा का सहायक होता है। इसी बात को दूसरे ढंग से कहा जा सकता है कि शोषण रचना की विषय वस्तु होने पर भी केवल उसके मूल का परिचय ही साहित्य को गौरवान्वित नहीं करता बल्कि उसी शोषण को केन्द्रित कर उसे एक विशिष्ट रूप - विभव की बलिष्ठ भित्ति पर खड़ा करना ही ऐसी रचना का वास्तविक लक्ष्य है। जिस समय विषय-निर्वाचन तथा उसके समुचित उपस्थापन के कारण रचना का भीतरी सौन्दर्य एक अभिनव रूप पाकर स्वतः स्पन्दित हो उठता है, उस समय उसका आत्मिक रस-विभव अपनी सौन्दर्यमूलक आंगिक परिकल्पना पर पूरी तरह से निर्भर रहता है। इन दोनों के मधुर तथा प्रीतिकर समन्वय से यथार्थ साहित्य सौरभ प्रकाशित होता है। इस समय के गल्प, उपन्यास अथवा नाटक के कला और भाव पक्ष (आंगिक तथा आत्मिक रूपविभव) में यथेष्ट परिवर्तन परिलक्षित होता है। फकीर मोहन के उपन्यासों तथा कहानियों में चाहे जैसी विषयवस्तु हो, उनका विन्यास अनेक स्थानों पर निहायत मामूली और चमत्कारिता से शून्य है। किन्तु सन् १९२० से ३६ तक के कहानी तथा उपन्यास लेखकों ने रचना की रस-द्योतना के लिये उसके आंगिक रूप-विभव में वैचित्र्य स्थापन का भरसक प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न आलोच्य समय (१९३६–४७) के भीतर अधिक स्पष्ट और गतिशील हो उठा है।

पात्रों के अवचेतन मन के निगूढ़ भावों के उद्घाटन से ही रचना का आत्मिक रूप या अन्तःसौन्दर्य बहुत बढ़ जाता है। यह विचित्र जगत् जिन विचित्र जीव-समूहों को अपने वक्ष में लिए प्रतिक्षण परिवर्तन के भीतर से गुजरता है, मनुष्य और उसका मन उनमें से सबसे अधिक विस्मयकर सृष्टि है। मन की यह गति अधिक अचिन्तनीय और अवर्णनीय होने लगी है, क्योंकि

उसे प्रतिक्षण अनुकूल या प्रतिकूल घटना-संघातों का सामना करना पड़ता है। जब अनेक समस्याओं के कारण सामाजिक जीवन ध्वस्त अथवा खण्ड विखण्ड हो जाता है, सामाजिक जीवन का मूल्यबोध तीव्रतर परिवर्तनों के भीतर से होकर गुजरता है, व्यक्ति की आत्मसंचेतनता आत्म-केन्द्रित प्रतिष्ठा में ही पर्यवसित होने लगती है। राजनीतिक घटपरिवर्तन पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन-धारा पर निष्ठुर आक्रमण कर उसके स्वाभाविक प्रवाह में अनावश्यक परिवर्तन लाता है, उस समय मनुष्य मन की प्राकृतिक क्रिया में प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। दुनिया को और दुनिया के मनुष्य मन की इस प्रतिक्रिया को हम देखते हुए भी नहीं देखते। लेकिन निपुण कला-शिल्पी मनुष्य-मन की इस प्रतिक्रिया पर अन्तर्दृष्टि डालता है और अपनी अपूर्व प्रतिभा से उसे अविस्मरणीय रस-रूप देता है। समाज की मिट्टी और हवा से मनुष्य को लेकर उसके विचित्र मन के घात-प्रतिघातों तथा हृदय के सैकड़ों विचित्र स्पन्दनों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्यालोचना करना आलोच्य युग के गल्प, उपन्यास और नाटक का श्रेष्ठ आत्मिक-विभव है। अचेतन मन की सुप्त कामनाएँ, परिस्थिति तथा पात्र के संघात से नये नये रूप धारण करती हैं। उसी नवीन रूप-वैचित्र्य का खोजी निपुण कलाकार किस प्रकार उस अवचेतन मन को नये सिरे से उपस्थित करता है—यही इस समय के साहित्य का एक विशिष्ट रूप है।

१९४७-७ का ओड़िया साहित्य

१९३६–४७ के भीतर ऐसे अनेक लेखक मिलते हैं जो अब भी लेखनी चला रहे हैं। अतः इस काल-विभाग का अध्ययन करते समय इन दोनों समयों के लेखकों पर ध्यान देना चाहिए। इसीलिए १९३६–४७ के साहित्य-विकास में उनकी स्वतंत्र आलोचना नहीं की गई है। इस प्रसंग में एक बात याद रखनी चाहिए कि देश के सामाजिक विशेषतः राजनीतिक वातावरण के साथ ही साथ लोगों के मन में नूतन जीवन-बोध की जाग्रत चेतना अनुभूत हुई है। लोगों के दृष्टिकोण का परिसर बढ़ गया है तथा देश में राजनीतिक 'वाद' आ पहुँचे हैं। इसके अतिरिक्त अनेक साहित्यिक आदर्श धाराएँ भी आई हैं। नूतन जीवन-बोध की नई अनुभूति और विदेशी साहित्य के संपर्क से प्रसूत विविध आंगिक और आत्मिक रूप-विभव, दोनों ने पहले १९३६ से ४७ तक के भीतर निर्मित नव साहित्य रचना का जो संकेत दिया था वही १९४७ से ५७ के भीतर बलिष्ठ रूप में ज्योतित है। इसलिए इन दोनों युगों के साहित्य के स्वर में कोई विशेष पार्थक्य नहीं दिखाई पड़ता। इनमें केवल परिमाण और परिणति के ही भेद परिलक्षित होते हैं; वैसे तो रूप या स्वरगत प्रभेद इनमें जैसे है ही नहीं।

पिछले दस-बीस वर्ष के ओड़िया साहित्य की समीक्षा करते समय समग्र साहित्य की गति, प्रकृति अथवा आभिमुख्य का एक परिचय देना जितना आसान और निरापद है, प्रत्येक लेखक की सारी रचनाओं पर कोई स्थिर अभ्रान्त अभिमत प्रकट करना उतना ही कठिन और प्रमादों से खाली नहीं है। यद्यपि इन बीस वर्षों के भीतर दिखाई पड़ने वाली साहित्य की परिमाणगत विशालता और विभिन्नता, आंगिक और आत्मिक रससंपद की विचित्रता तथा

अभिनवता, सर्वोपरि रचनाओं में अन्तर्निहित स्वर-सौन्दर्य का तारतम्य आदि ऐसी ही कुछ अलंघनीय परिस्थितियाँ ही सार्थक-समीक्षा के पथ पर प्रतिबन्धक के रूप में दिखाई पड़ती हैं तथापि साधारण रूप से इन लेखकों को चार भागों में बाँटा जा सकता है।

(क) १९२० से ३६ के भीतर ख्याति-प्राप्त कुछ लेखक। ये इन चार वर्गों में वयोज्येष्ठ हैं। इनकी साहित्य-साधना दीर्घकाल से स्थायी रहने के कारण ये पिछले २० वर्षों के अलावा इन १० वर्षों से भी सर्वश्रेष्ठ लेखक का गौरव पाते आ रहे हैं। लेकिन यदि उनकी रचनाओं की अन्तःप्रकृति की पर्यालोचना की जाय तो देखा जायेगा कि इनकी सारी रचनात्मक प्रतिभा साधारणतः १९३६ नहीं तो १९४० तक म्लान हो गई है। १९३६ के बाद जिस नूतन साहित्यिक गोष्ठी ने आत्म-प्रकाश किया है, उसकी दृष्टि में ये वयोज्येष्ठ लेखक अपने अतीत शिल्प-कौशल के लिए केवल नमस्य ही होने योग्य हैं। लेकिन साधारण मानविक दुर्बलता की तरह इन पहली श्रेणी के लेखकों को उनकी आज की रचना के लिए भी लोग जो उच्च आसन दे रहे हैं, इससे सार्थक साहित्य समीक्षा में अनेक भ्रान्तियों की सम्भावना है।

(ख) १९३६ के कुछ पूर्व या कुछ बाद के साहित्य क्षेत्र में आनेवाले लेखकों के बलिष्ठ अवदान के कारण ही १९३६–५७ का साहित्य यथार्थ रूप से परिपुष्ट हुआ है। गल्प,उपन्यास में श्री गोपीनाथ महान्ति, कान्हुचरण महान्ति, गोदावरीश महापात्र, नित्यानन्द महापात्र, राजकिशोर पटनायक, राजकिशोर राय आदि, नाटक में श्री कालीचरण पटनायक आदि, कविता में अनन्त पटनायक, मनमोहन मिश्र, सच्चिदानन्द राउतराय, राधामोहन गड़नायक, कुंजबिहारी दाश जैसे लेखकों ने इस समय के भीतर अपूर्व कृतित्व अर्जित किया है। इनमें से किसीकी प्रतिभा आज अन्तिम अवस्था को पहुँच चुकी है। फिर भी यह सच है कि इनमें से अधिकांश ने अपनी अमलिन प्रतिभा की दीप्ति द्वारा भविष्य की दुनिया गढ़ने में मन-प्राण दे दिये हैं। इनकी विकासोन्मुखी प्रतिभा का आदि भाग सुस्पष्ट, मध्यभाग उज्ज्वल, रचनात्मक महिमा से महीयान् और अन्तिम भाग भविष्य के अंधेरे में विलुप्त है।

(ग) पिछले दस वर्षों के कुछ पूर्व या बाद में आविर्भूत लेखक वर्ग, जिनमें से अधिकतर व्यक्ति आज केवल प्रस्तुति के मार्ग पर खड़े हैं, उनकी रचनाओं का आदि काल सुस्पष्ट, लेकिन बहुतों का यह मार्ग तमसाच्छन्न और अमीमांसित है। इनका भविष्य आशा और नैराश्य दोनों से विजड़ित है। इनका प्रारंभिक काल मजबूत भित्ति पर प्रतिष्ठित नहीं है। इसलिए इन पर अभिमत देना असंगत, अवांछनीय और असामयिक है। भविष्य के उज्ज्वल आलोक से आलोकित होने के अतिरिक्त इनका और कोई साधन नहीं है। ऐसा दिन आयेगा जब कि ये ही लोग आगामी साहित्य का सुवर्ण सौध गढ़ेंगे। उस समय के समालोचक इनकी आज की रचनाओं की पृष्ठभूमि पर यथार्थ साहित्य-समीक्षा करने में समर्थ हो सकेंगे। इनमें से अनेक हैं स्कूल-कालेजों के विद्यार्थी अथवा विश्वविद्यालय से सद्य समागत किसी कार्यालय के मसीजीवी, स्वल्प वेतन वाले कर्मचारी।

यद्यपि इनकी रचनाएँ अभी सन्देह के क्षेत्र में हैं तथापि इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि ये ही जाति के भविष्य की आशा के उज्ज्वल आलोक के सदृश हैं।

(घ) एक वर्ग के लेखक और हैं जिनकी साहित्य-साधना की आयु प्रायः दस साल या उससे कम की है। साधनाकालीन विशिष्ट गौरव इन्हें नहीं प्राप्त है, फिर भी इन्होंने बहुत कम समय में अपनी रचनात्मक प्रतिभा तथा निरवच्छिन्न अध्यवसाय के बल पर जो साहित्यिक यश अर्जित किया है, वह वास्तव में सराहनीय है। समय की दृष्टि से ये (ग) श्रेणी के अन्तर्गत गिने जाने योग्य होने पर भी इनकी गिनती (ख) श्रेणी में करना उचित है। एक उदाहरण लीजिये। श्री सुरेन्द्र महान्ति की साहित्य सेवा दस साल से अधिक की नहीं है। लेकिन १९३६ से लिखते आनेवाले श्री गोपीनाथ महान्ति अथवा श्री राजकिशोर राय की कहानियों से सुरेन्द्र महान्ति की कहानियों की टेकनीक तथा आत्मिक-सौन्दर्य की तुलनात्मक पर्यालोचना करने पर हम शेषोक्त लेखक की कहानियों से विशेष मुग्ध होते हैं। केवल कहानी ही नहीं समालोचना, नाटक, एकांकिक, उपन्यास आदि क्षेत्रों में भी थोड़े ही समय में कृतित्व अर्जित करनेवाले कई लेखक देखने में आते हैं। ऐसे लेखकों की संख्या अवश्य ही कम है किंतु इनकी साधना का आदि भाग जैसा उज्ज्वल है, भविष्य भी वैसा ही सन्देह-शून्य है।

समय के प्रकोष्ठ के भीतर लेखकों को चिह्नित कर उनकी रचनाओं में अन्तर्निहित सौन्दर्य का अवधारण करना यद्यपि अवैज्ञानिक समालोचना है, तथापि प्रतिभा का विकास, पारिपार्श्विक परिस्थिति और समय के द्वारा नियन्त्रित होने के कारण, इस प्रकार के विभागी-करण में हम विशेष अयथार्थता नहीं देखते। लेकिन वर्तमान क्षेत्र में समय के अनुसार लेखकों के इन विभागों का प्रकृत लक्ष्य आधुनिक ओड़िया साहित्य के भविष्य पर कुछ आलोकपात करना ही है। भारत के अन्य प्रान्तीय साहित्य के साथ साथ गति करनेवाले ओड़िया साहित्य के आगामी लेखकों के विषय में ज्योतिषी की भविष्यवाणी की तरह कोई निःसन्देह अभिमत प्राकाश करना अप्रासंगिक तथा असंगत है। परन्तु यह साहित्य भविष्य में उन्नति की ओर ही गति करेगा, ऐसा अनुमान तो सत्य ही है। यह हम इन चार विभागों से ही जान सकते हैं। यही कारण है कि इन चार विभागों में से केवल पहले भाग को छोड़कर शेष तीन विभागों, यहां तक कि दूसरे विभाग के लेखकों की प्रतिभा आज भी घटी नहीं है। अन्तिम दो विभागों के लेखकों के साहित्यिक जीवन का तो श्रीगणेश ही हो रहा है।

उन्नीसवीं सदी के प्रथम ७० सालों का समय ओड़िया गण जीवन के लिये एक घनघोर अन्धकार-युग है। यह उस समय शासकों के अपशासन में शोषित और निष्पेषित था। इस शोषण तथा निष्पेषण की तीव्रता और व्यापकता असीम थी, क्योंकि उस समय इस शोषण के विरुद्ध सिर उठाने की शिक्षा या सामर्थ्य इस जाति में थी ही नहीं। सन् १८६५—६६ के नअंक दुर्भिक्ष और खासकर १८६९—७० के भाषा-उच्छेद आन्दोलन ने इस जाति के जीवन में सामयिक चित्तविप्लव पैदा किया था। इस विप्लवात्मक मनोवृत्ति ने पाठ्यपुस्तक की रचना तथा आधुनिक शिक्षा और साहित्य की वृद्धि की दिशा में बड़ी सहायता की थी। यह

चित्तविप्लव केवल दो-एक शहरों में रहनेवाले मुट्ठी भर शिक्षितों के भीतर ही आबद्ध था।

अतः यह कहा जा सकता है कि अगणित जनता के जीवन से इसका कोई संबंध नहीं था। शासितों की उन्नति के लिये शासकों की कोई विधिबद्ध कर्म-प्रवणता नहीं दिखाई पड़ी, इसलिए जनता का जीवन-परिसर किसी प्रकार के परिवर्तन की ओर उन्मुख नहीं हुआ था। इसी अपरिवर्तनीय सामाजिक जीवन के भीतर पादरी और ब्राह्मणों में केन्द्रित समाज-संस्कार नाम का एक क्षीण संघर्ष पैदा हुआ था। आधुनिक शिक्षा-सभ्यतावर्जित, समाजबोधरहित इस जाति का हृदय जिस प्रकार स्पन्द-शून्य था, उसी प्रकार आधुनिक ओड़िया साहित्य का पहला हिस्सा भी बहुत सीमा तक वैचित्र्य-शून्य था।

'इन्द्रधनु' और 'बिजुली' (१८९३–९४) के द्वारा प्राचीन और आधुनिक साहित्य-मनोवृत्ति के लेखकों ने उन्नीसवीं सदी के अन्त में एक बार पुनः जिस चित्तसंघर्ष का सूत्रपात किया था, उसी के परिणाम-स्वरूप यह साहित्य एक दूसरे स्वतंत्र मार्ग पर अग्रसर होने लगा। इस समय से १९२० तक उत्कल सम्मिलनी, उत्कल साहित्य समाज, बंगबिच्छेद, स्वतंत्र बिहार ओड़िशा प्रदेश का गठन और प्रथम महायुद्ध आदि के कारण इस देश में अनेक परिवर्तनों के होते हुए भी साहित्य के क्षेत्र में आशानुरूप परिवर्तन नहीं हुआ, क्योंकि पहले की भाँति इस समय भी सामूहिक रूप से गणजीवन के हो जाने की कोई सम्भावना नहीं थी। असहयोग आन्दोलन से १९३६ तक गणजीवन ने किसी प्रत्यक्ष सामाजिक संग्राम के भीतर आने की सुविधा नहीं पाई थी। द्वितीय महायुद्ध (१९३९) से उत्पन्न सामाजिक और आर्थिक अव्यवस्था ने अलबत्ता जाति को पहली बार तीव्रतर जीवन-संग्राम का सम्मुखीन बनाया था। १९४० के पहले से इस देश में जो सामाजिक और राष्ट्रीय परिवर्तन हुए थे, वे सामूहिक गणजीवन को प्रभावित तथा नियन्त्रित करने में समर्थ नहीं हुए थे। लेकिन द्वितीय महायुद्ध के बाद व्यापक रूप से होने वाले परिवर्तन को लक्ष्य किया जा सकता है। १९४२ के अगस्त आन्दोलन तथा १९४७ की स्वतन्त्रता-प्राप्ति ने इस परिवर्तन की गति को और भी अधिक तीव्र बना दिया। पिछले दस वर्ष के भीतर स्वतन्त्र भारत का नागरिक जीवन अभूतपूर्व परिवर्तन के भीतर होता हुआ स्वतन्त्र जीवनबोध पर प्रतिष्ठित हो सका है। ओड़िशा में राजाओं और जमींदारों का शासन बन्द होने के बाद सामाजिक जीवन धारा में भी एक नवीन मूल्यबोध के ज्ञान का सूत्रपात हुआ है। आजकल के भूसंस्कार ने भी इस देश के मध्यम वर्ग को एक नये मार्ग पर चलाया और पूर्वोक्त मूल्यबोध को तीव्रतर बना दिया है। अर्थनैतिक प्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के कारण साहित्य सर्जन करने वाले शिक्षित मध्यम वर्ग के मन में एक हताश भाव पैदा हो गया है। आज का साहित्य इस हताश और क्रान्तिकारी मनोवृत्ति के द्वारा विशेष रूप से नियन्त्रित हो रहा है। पिछले कई सालों से जीवन उपभोग तथा जीवन के मानदण्ड में बहुत उन्नति दिखाई पड़ती है। एक ओर आर्थिक अवनति और दूसरी ओर जीवन के मानदण्ड में उन्नति—इन दोनों के संघर्ष के कारण मन का अन्तर्विप्लव साहित्य में स्पष्ट झलकता है। आज प्रत्येक लेखक आत्मस्थिति की प्रतिष्ठा के लिये प्रयत्नशील है क्योंकि

आज का लेखक अर्थनीतिक अव्यवस्था और सामाजिक परिवर्तन का प्रत्यक्ष शिकार बन गया है ।

इस यान्त्रिक युग के बहुविध वैज्ञानिक आविष्कारों ने संसार का नक्शा बहुत दिनों से बदल दिया है। लेकिन ओड़िशा पर इसका प्रभाव केवल १९४० ई० से दिखाई देता है। १९४० ई० के बाद से विभिन्न राजनीतिक मतवादों ने, तथा साहित्यिक मानदण्ड ने इस देश के शिक्षित वर्ग के मन में एक नवीन जीवन जिज्ञासा तथा जीवनादर्श की गंभीर रेखा खींच दी है। जीवन के छोटे दायरे के भीतर रहने पर भी लेखक देश के बृहत्तर परिवर्त्तन तथा सारी पृथ्वी की चिन्ता, आदर्श तथा उद्भावनों से अपने को दूर नहीं रख सकता। इसलिए वह एक ही स्थान में रहकर सारे देश तथा पृथ्वी के साथ संपर्क बनाये रख सकता है। आज के साहित्य में जो हाहाकार, दुःख, दैन्य तथा शोषण स्थान पा चुके हैं, वह दुनिया की चिन्ता और साहित्यादर्श के द्वारा प्रभावित है।

ओडिया साहित्य की अभिवृद्धि के लिये पिछले दस सालों के भीतर कई अनुकूल वातावरण भी पैदा हो गये हैं। स्वतन्त्र 'उत्कल विश्वविद्यालय' के स्थापन (१९४४ ई०) के कारण शिक्षित वर्ग को विकास का मौका मिला है। भारतीय साहित्य अकादमी साहित्य के प्रसार के लिए सहायता दे रही है। इधर उत्कल विश्वविद्यालय भी इस दिशा में काफी अर्थ व्यय करता है। इसके अतिरिक्त देश के कई ख्यातनामा साहित्यिक पत्र-लेखकों को प्रोत्साहित करने में लगे हुए हैं। इनमें से 'झंकार' पत्रिका अग्रगण्य है। इस पत्रिका का कलेवर ओड़िशा के अधिकांश लेखकों के उन्नत लेखों से परिपुष्ट रहता है। इस पत्रिका के इतने उन्नत स्तर को पहुँचने का सारा श्रेय ओड़िशा के एक लब्ध प्रतिष्ठ ऐतिहासिक तथा साहित्यिक डाक्टर श्री हरेकृष्ण जी महताब को है जिनके सदुद्यम से इसका प्रकाशन संभव हुआ है।

डाक्टर महताब जी में अपूर्व और विस्मयकर संगठनशक्ति है। झंकार और प्रजातन्त्र प्रचार समिति का 'विषुव मिलन' इस शक्ति के मूर्त्तिमन्त प्रतीक हैं। 'विषुव मिलन' इस समिति का वार्षिक साहित्यिक अनुष्ठान है और प्रति वर्ष वैशाख संक्रान्ति के दिन अनुष्ठित होता है। इसमें देश के भिन्न भिन्न स्थानों से विभिन्न मतवादी साहित्यिकों का मिलन होता है, साहित्यिक आलोचनाएँ होती हैं। इसमें संदेह नहीं कि इससे लेखकों के मन में साहित्य निर्माण के लिए गंभीर अनुराग और नव आशा-उत्साह का संचार होता है।

साहित्य की रचनात्मक प्रगति के अतिरिक्त साहित्य समालोचना तथा गवेषणा में भी पिछले दस सालों के भीतर सन्तोषजनक उन्नति हुई है। इस दिशा में साहित्य के अध्यापक लोग जिस विचारधारा की नींव डाल रहे हैं, आशा है कि वह परवर्ती पीढ़ी के लिये काफी सहायक सिद्ध होगी। ओड़िया भाषा और ध्वनितत्त्व, ओड़िया लिपि का क्रम विकास, ओड़िशा में बौद्ध-धर्म, ओड़िया पल्ली गीत तथा कहानियाँ—ऐसे कई विषयों में जो मौलिक गवेषणा की गई है, वह अत्यन्त सराहनीय है। आदि युग से लेकर आधुनिक युग तक के साहित्य की विभिन्न दिशाओं में जो गंभीर और सुचिंतित आलोचनाएँ की जा रही हैं, उससे समालोचकों का उन्नत रुचिबोध,

नूतन दृष्टिकोण तथा बलिष्ठ सृष्टि प्रयास स्वतः परिस्फुट है। विज्ञान, इतिहास तथा अर्थनीति के कुछ अध्यापक भी अपने-अपने विषयों पर सुविचारित लेख ओड़िया में प्रकाशित कर साहित्य की अभिवृद्धि में सहायता कर रहे हैं। साहित्य के यथार्थ विकाश के लिये आज जिस प्रकार एक सर्वव्यापक प्रयास का संकेत दिखाई पड़ता है, इससे निःसन्देह कहा जा सकता है कि यह साहित्य आगे चलकर यथेष्ट उन्नति करेगा।

भारतीय संस्कृति को उत्कल की देन

पं० नीलकण्ठ दाश

भारत के अन्य प्रांतवासियों में से चाहे बहुतों को यह न ज्ञात हो कि यहाँ उत्कल अथवा ओड़िशा नामक कोई प्रांत है किंतु प्रसिद्ध तीर्थ होने के कारण जगन्नाथ धाम का ज्ञान प्रायः सब को है। हिंदू धर्म और व्यवस्था पर आस्था रखनेवाले लाखों यात्री प्रतिवर्ष भारत के कोने-कोने से यहाँ आते हैं। उत्तरी और पश्चिमी प्रदेशों के पैदल तीर्थयात्री भी यथावसर ओड़िशा की रियासतों से होकर गाते-बजाते हुए यात्रा करते देखे जाते हैं। अब तो ऐसे यात्रियों की संख्या कम हो गई है, किंतु रेलगाड़ी चलने के पूर्व पैदल यात्रा की ही प्रथा थी। उस समय उनके गीतों में यह सुना जाता था—

> बौद्ध-रूपे बैठ रहे समुद्र किनारे,
> साधु माँगे दर्शन महाप्रसाद।

श्री जगन्नाथ जी के दर्शन के लिए आये हुए यात्रियों में ओड़िया लोग पंडों के आत्मीय अथवा निजी व्यक्ति होते हैं, आसामी और बंगाली उनके नजदीकी होते हैं और अन्य यात्री अतिथि-स्वरूप होते हैं। अपने चाल-चलन और यात्री-सेवा में पंडे पहले अत्यंत उदार, विनीत और चिरस्मरणीय होते थे। संभव है, अब भी परंपरानुसार उनमें ये गुण पाये जाते हों। यात्रा में आये हुए सभी यात्री पुरी के इन्हीं पंडों के अतिथि होते, निःशुल्क भोजन और स्थान पाते तथा बदले में वे श्री जगन्नाथ जी को 'भोग' या 'आटिका' चढ़ाते समय अपनी सामर्थ्य के अनुसार पंडों को जो कुछ भी दे देते, वे उसी से संतोष कर लेते थे। प्रायः देखा गया है कि यात्रीगण महीनों इसी प्रकार पुरी में रहने के पश्चात् केवल आठ आने 'आटिका' चढ़ाकर बिदा ले लेते हैं और बहुत से यात्री तो इस तरह का आतिथ्य पाने के बाद अपना राहखर्च भी उन्हीं से उधार लेकर चल देते हैं।

परन्तु इस अतिथि-सत्कार में अब एक स्वतंत्र नीति बरती जाती है। वह यह कि ओड़िशा के यात्री जब पुरी आते हैं तो घरेलू होने के नाते पंडे उनके रहने और खाने की कोई व्यवस्था नहीं करते हैं। पड़ोसी आसाम और बंगाल से यदि कोई यात्री आता है तो उन्हें एक दिन के लिए स्थान और भोजन की सुविधा दी जाती है। लेकिन भारत के अन्य भागों से आये हुए यात्री की उपरोक्त आवश्यकताएँ इच्छानुसार पूरी की जाती हैं।

ऐसी विराट्, विशाल और उदार सेवा-पद्धति और भी कहीं है, ऐसा देखने-सुनने में नहीं आता। इस रीति से भारत को ओड़िशा का जो दान है, वह वर्णन करने की बात नहीं। इस

दान में आधिभौतिक सुविधा, सुयोग से लेकर आंतरिक और आध्यात्मिक परिप्रचार का जो प्रभाव है, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। जगन्नाथ की कथा के कारण भी भारतवर्ष बहुत प्राचीन काल से पृथ्वी में परिचित होता आ रहा है। प्राचीन बेबीलोन तथा परवर्ती काल में कैसी अवस्था थी, पृथ्वी में श्री जगन्नाथ का कसा नाम था, अरब, फारस के खलीफा के शासन-काल में इसकी क्या अवस्था थी, यह सब जानने का कोई विशेष आधार नहीं है। यद्यपि ओड़िशा में कुशल मुद्राएँ अधिक संख्या में आविष्कृत हुई हैं किन्तु इस सूत्र से फारस आदि देशों पर श्री जगन्नाथ का सामाजिक और आध्यात्मिक प्रभाव क्या था, इसका कुछ विशेष संकेत नहीं मिलता।

योरोपीय लोगों के आगमन-काल से बाह्य देशों के साथ भारत के संपर्क का उल्लेख ईसाइयों के आलेखों में, कथा-कहानी के रूप में, मिलता है। प्रायः तीन सौ वर्ष पहले मिशनरियों द्वारा योरोप में बिलकुल झूठी बातें प्रचारित की गई थीं। इनमें से अमेरिका के बेवस्टर साहब के कोश में (पुराने संस्करण में) "जगरनौत" शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में यही बात है। उसमें श्री जगन्नाथ जी के किम्भूतकिमाकार रूप-वर्णन के साथ-साथ हिन्दुओं द्वारा जगन्नाथ की कुत्सित पूजा भी वर्णित है।

इसमें सुनी-सुनाई बातें बहुत हैं। विदेश में सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ऐतिहासिक और भौगोलिक विवरण दे देना आज भी कोई नई बात नहीं है। पृथ्वी में बहुत से स्थानों और घटनाओं के संबंध में ऐसी ही किंवदन्तियाँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए सिकन्दरकालीन यूनानी लेखकों ने भारत के संबंध में जो कुछ लिखा है उसमें एक बात यह भी है कि काश्मीर, सिन्धु आदि स्थानों में चींटियाँ मिट्टी खोदकर सोने का चूर्ण निकाला करती थीं। वही सोना लोग उपयोग में लाते तथा राजा को कर के रूप में भी देते थे। इसके अतिरिक्त यह भी लिखा है कि इन चींटियों का मुँह नुकीला होता था और उनका कद था सियार या चूहे के बराबर।

हमारे पुराण तथा आख्यायिकाएँ भी इस तरह के दोषों से बरी नहीं हैं। रामायण में बंदरों और भालुओं की कथाएँ, महाभारत में भीम का जल में होकर पाताल लोक को जाना, साथ ही साथ "वासुकी" देश की कथाएँ उल्लेखनीय हैं। इस तरह की पौराणिक मिथ्या बातें पृथ्वी में सर्वत्र मिल सकती हैं।

जो भी हो, परन्तु यह अटल सत्य है कि श्री जगन्नाथ धाम की कथा सारे भारत में प्रसिद्ध थी और इसी सूत्र से सारी पृथ्वी में प्रचारित हुई थी। श्री जगन्नाथ धाम की कथा से भारत को कितने, कब और किस प्रकार के दान मिले हैं और किस क्रम से यह सब हुआ, अब इसी बात का विचार कर लेना उचित होगा।

अवश्य ही ओड़िशा के अन्य दान बहुत से हैं। उदाहरण के तौर पर यहाँ के व्यापारियों या महाजनों का अत्यंत प्राचीन काल से समुद्र पार जाकर व्यापार करना, एक ऐतिहासिक सत्य है। खोजों से मालूम हुआ है कि इसी के द्वारा सिंहल, पूर्वी द्वीपसमूहों से होकर इन व्यापारियों ने अमेरिका के मैक्सिको, पेरू आदि स्थानों में भी अपना उपनिवेश स्थापित किया था। विद्वानों

का मत है कि इन व्यापारियों का प्रभाव, उन देशों की वेश-भूषा और सामाजिक रीति-नीति में आज भी देखने को मिल जाता है।

ओड़िशा के शैलोद्भव राजाओं ने इन व्यापारियों के पश्चात् पूर्वी द्वीपसमूहों में अपना विशाल राज्य स्थापित किया था। यह प्राय: सातवीं-आठवीं शताब्दी की बात है। उस समय से प्राय: चार सौ वर्षों तक यह साम्राज्य वैसे ही बना रहा। आज भी सिंहल, ब्रह्मा तथा पूर्वी द्वीपों में उस काल के भारतीय व्यापार और राजत्व के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। अब भी ब्रह्म देश और पूर्वी द्वीपों में विलंग या कलिंग नामक जाति मिलती है। सिंहल में तेरहवीं शताब्दी तक यह नियम था कि वहाँ के राजा यदि पुत्रहीन होते और उनकी इच्छा गोद लेने की होती तो वे सिर्फ कलिंग राजवंश के राजकुमार को ही गोद लेते थे।

ऐसी बहुत सी सूचनाएँ मिलने पर भी संबंधित सामग्री को खोज निकालने तथा सब कुछ स्पष्ट रूप से समझा देने का अवकाश यहाँ नहीं है। यहाँ केवल श्री जगन्नाथ की कथा कही जायगी। यही भारतीय संस्कृति को उत्कल का महादान है।

श्री जगन्नाथ का दूसरा नाम पुरुषोत्तम है। इस नाम से वे सारे भारत में परिचित हैं। इन्हीं पुरुषोत्तम की कथा को जरा सूक्ष्मता से विचारें तो लाभदायक निष्कर्ष पर पहुँचने में सरलता होगी। पुरुष की कहानी भारत में अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित है। वेद के मंत्रों में इसका प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद का पुरुषसूक्त बहुतों को गप्प मालूम पड़ेगा। वहाँ पुरुष शब्द अवश्य ही थोड़े विशेष अर्थ में व्यवहृत हुआ मालूम पड़ता है। यहाँ पुरुष का अर्थ मानव या देहधारी मनुष्य हो सकता है, बल्कि शरीर पर ही यहाँ विशेष जोर दिया गया है।

पशु के मांस को काट कर यज्ञ जैसा कर्म यहाँ विश्व पुरुष को काट कर संपादित किया गया है और उस यज्ञ के पशु पुरुष से ब्राह्मण, क्षत्रिय से लेकर पशु-पक्षी, यहाँ तक कि चन्द्र-सूर्य के उत्पन्न होने की बात कही गई है। बाद में वेद के दर्शन की कल्पना में पुरुष का जो आध्यात्मिक संकेत मिलता है, वह यहाँ है या नहीं, ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, शायद नहीं है।

सांख्यदर्शन की यह पुरुष-कथा अपने अर्थ में स्वतंत्र है। यह अध्यात्म है और यह कितना प्राचीन है, कहा नहीं जा सकता, तो भी वेद तथा उपनिषद् में लिखा है—

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया,
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

अर्थात् "दो समान पक्षी एक दूसरे को सखा समझकर एक ही वृक्ष पर रहते हैं।" किन्तु अर्थ में व्यक्ति का संकेत जीव और आत्मा के प्रति है और उस व्यक्ति में विश्वात्मा और परमात्मा का आश्रय है। असल में, यहाँ इन्हीं दो बातों पर ध्यान दिया गया है। आगे चलकर जो पुरुषोत्तम भाव पैदा हुआ वह यही परमात्मा है। जीव ही पुरुष रूप में प्रकट हुआ है।

सांख्यदर्शन के दार्शनिक भाव में जीव को पुरुष और निर्जीव को प्रकृति के रूप में प्रकाशित करने का प्रयत्न किया गया है। जैन दर्शन में पुरुष प्रकृति के मूलतत्त्व के रूप में प्रकाशित

हुआ था। जिस प्रकार जीव प्रत्येक प्राणी में अलग-अलग माना जाता है उसी प्रकार अजीव को भी नाम-भेद के आधार पर असंख्य रूपों में मानकर उसकी कल्पना और व्याख्या की जाती थी।

इसी जैन दर्शन के जीवाजीवाभेदमूलक द्वैतवाद से सांख्यदर्शन का विकास हुआ था। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि सांख्यदर्शन मौलिक जैन दर्शन से नया है। ऐसा समझने का कारण यह है कि प्रकृति के असंख्य प्रकाशों को तत्त्व रूप में अनेक न समझकर सांख्य में पहले सारी प्रकृति को एक माना जाता था। पुरुष ठीक जैन दर्शन के जीव के समान असंख्य था। हो सकता है कि पुरुष की यह कथा ऋग्वेद की पुरुष-धारणा से मिली हो। यह सब होने पर भी कहा जाता है कि ऋग्वेद के पुरुष में मनुष्य के शरीर और आत्मा का भाव यथेष्ट विकसित नहीं है।

अतएव वेद का पुरुष भाव जैन दर्शन से चाहे अर्वाचीन हो या प्राचीन, सांख्य का सारा आध्यात्मिक पुरुष-भाव जैन के जीवभाव से लिया गया है, क्योंकि जैन की अजीव धारणा ही सांख्य में अधिक श्रृंखलित और दार्शनिक रूप में प्रकाशित हुई है। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि जैन धर्म के वैदिक याग-यज्ञ और जाति-भेद के विरोध में पैदा होने की जो धारणा बहुत-से प्राच्य-तत्त्व-वेत्ताओं, खासकर यूरोपीय प्राच्य-तत्त्व-वेत्ताओं की है, वह ठीक नहीं है। लेकिन अत्यंत प्राचीन उपनिषद् का पुरुष-प्रकृति भाव जैन के जीवाजीव-भाव से लिया गया है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। इस संबंध में कुछ और कहने का मौका यहाँ नहीं है।

कहने की बात यह है कि मनुष्य की (साधारणतः अति आदिम मनुष्य की भी) एक स्पष्ट विश्वप्रभाविनी शक्ति की धारणा बाद में ईश्वर आदि नाना भावों में प्रकाशित हुई। कालांतर में उससे योग दर्शन के प्रधान पुरुष को (या जिस किसी भी पुरुष को प्रधान मान कर उसे) अधम भाव से आत्म-नियोग करने का एक दार्शनिक विकास हुआ। सारांश यह है कि इसमें पुरुष तथा प्रकृति के नियामक के रूप में एक प्रधान पुरुष की कल्पना की गई थी। उसी का नाम है पुरुषोत्तम। पुरुषोत्तम की यह कथा योगदर्शन के समान ही पुरानी है।

सांख्यदर्शन से योगदर्शन का उद्भव-काल निश्चय ही कौटिल्य या चन्द्रगुप्त से प्राचीन है; क्योंकि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सांख्य और योग की बातें एक साथ हैं। हो सकता है, उसी दार्शनिक भाव से पुरुषोत्तम की कथा और भी "हेतुमत" और "विनिमित्त" भाव से वैष्णव धर्म में पहुँची हो।

अभिप्राय यह है कि पुरुषोत्तम के साथ भारतीय वैष्णव धर्म का एक तरह से शाश्वत सम्पर्क है। योग-दर्शन के इसी प्रधान पुरुष और उससे निकले हुए पुरुषोत्तम को वैष्णवों ने धीरे-धीरे अपना उपास्य देव, ईश्वर या विष्णु समझकर उसका नाम पुरुषोत्तम रख दिया। विष्णु का वह नाम भारत में अब तक प्रतिष्ठित है। यही भारत में सर्वत्र विष्णु के प्रधान नाम और परिचय के रूप में वर्णित होता है।

इस वैष्णव धर्म के आदि-काल और उत्पत्ति-कथा का विचार करने पर मालूम होता है

कि इसका आदि नाम वासुदेव धर्म है। वैयाकरण पाणिनि के समय में यह एक प्रचलित धर्म था। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के शिलालेखों से भी इस विषय में निर्दिष्ट संकेत मिलते हैं।

वासुदेवः सर्वमिति, स महात्मा सुदुर्लभः।

अर्थात् "वासुदेव सब कुछ है, यों समझनेवाला महापुरुष अत्यंत दुर्लभ है।" यह वासुदेव भाव भक्तों द्वारा कल्पित और प्रतिष्ठित ईश्वर के अवतार भाव से निकला था। अनुमान है कि यह सांख्य या योग-दर्शन काल के पश्चात् ही प्रकाशित हुआ होगा। बहुत संभव है कि यह वासुदेव विष्णु या यादव कुल के कृष्ण ही हों। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के रचनाकाल में कृष्ण, विष्णु, ईश्वर और पुरुषोत्तम सब एक हो गये थे। गीता के पंद्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम योग है। किन्तु सांख्य के पुरुष या योग दर्शन के प्रधान पुरुष गीता के पुरुषोत्तम से बिलकुल नई व्यवस्था में विवेचित हुए हैं। यहाँ इस व्याख्या की आवश्यकता नहीं है, किन्तु उसमें अवश्य ही विश्वात्मा के साथ जीवात्मा का संपर्क हुआ है और दोनों एक हुए हैं। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि श्री जग-न्नाथ की भूमि में जो पुरुषोत्तम उस समय लोगों में उपास्य रूप में प्रतिष्ठित थे वे सभी अवतारों के अवतार कृष्ण ही हैं। इस संबंध में गीता के निम्न श्लोकांश पर ध्यान देना आवश्यक है—

अतोऽहं लोके वेदे च, प्रथितः पुरुषोत्तमः।

अर्थात् इसलिए मैं वेद और उपासक लोगों में पुरुषोत्तम नाम से प्रतिष्ठित हूँ। यहाँ लोगों में प्रतिष्ठित पुरुषोत्तम नामक किसी उपास्य देव के प्रति स्पष्ट लक्ष्य किया गया है। यह अवश्य ही बहुत दिनों पहले की बात है। अब जिस रूप में गीता है, उसमें पुरुषोत्तम कहीं न कहीं अवश्य हैं।

पहली बात यह है कि महाभारत का पहले का नाम जय था। उसके बाद उसका नाम भारत पड़ा। तत्पश्चात् महाभारत नाम से वह संपादित और प्रकाशित हुआ। पहले से हो या न हो, महाभारत रूप में संपादित होते समय उस ग्रन्थ में विष्णु अर्थात् वासुदेव रूपी विष्णु के साथ वैष्णवों की प्रतिष्ठा और प्रतिपत्ति अच्छी तरह प्रकट हो गई है। यह समझना कठिन न होगा कि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता जैसा अंश विशेषकर तत्कालीन वैष्णवों की कृति है। किंतु वह समय क्या था? प्रतीत होता है कि वह भारत के "जय" या 'भारत' नाम के समय का काल नहीं है। यह ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी के भीतर या उससे थोड़ा और प्राचीन हो सकता है, क्योंकि भगवद्‌गीता की रचना तक शाक्यमुनि बुद्ध के मध्यम मार्ग के अन्तर्गत जैन धर्म का संस्कार अच्छी प्रकार प्रतिष्ठित हो चुका था। इसका स्पष्ट संकेत गीता के छठवें अध्याय में मिलता है। इसमें ध्यान-योग के साधनामूलक अंग-प्रत्यंग की बात कहकर मोक्ष को 'निर्वाण परमा शान्ति' नाम दिया गया है। उसके ठीक बाद कहा गया है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन !
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु,
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।

अर्थात्—अतिभोजी (पेटू या विलासी), एकदम उपवासी (इन्द्रियभोग-हीन), खूब सोनेवाला (आलसी), अति जाग्रत् (सब कुछ कर डालने को व्याकुल) लोगों से योग-साधना नहीं होती किन्तु जो उचित आहार-विहार करता है और उसी प्रकार से कर्म करता है, उसी नियम के अनुसार सोना-उठना, खाना-पीना ठीक रखता है उसकी योग-साधना का कष्ट दूर हो जाता है।

सारांश यह है कि योग-साधना में बहुत से व्रत-उपवास तथा ऊर्ध्वबाहु, पंचाग्नि आदि की साधना की जाती है। वैसा करने पर मोक्ष साध्य नहीं होता। साधारण मनुष्य का-सा जीवन बितानेवाला तथा अनासक्त भाव से रहनेवाला ही योगी होता है। गीता में कहीं भी अद्भुत कर्म या अतिसाधना का उल्लेख नहीं है। सामान्य मानव के समान रहकर मोक्ष की साधना करने पर जोर दिया गया है। मन या बुद्धि से ही साधना होती है, शारीरिक कर्मों द्वारा नहीं। अवतार और योगी-वैरागी के आश्चर्यजनक कार्य भी मोक्ष-साधना के अंग नहीं हैं।

अतएव गीता, शाक्यमुनि बुद्ध के पश्चात् की रचना है और फिर इस अनुमान में कोई कठिनाई नहीं रह जाती कि शंकराचार्य के भाष्य-रचना-काल की अनेक शताब्दियों पूर्व गीता अच्छी तरह से प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

एक बात और है कि गीता में वर्णित शाक्यमुनि बुद्ध के मध्यम मार्ग का महायान से कोई संबंध नहीं है। मौलिक बुद्ध या थेरवादी बौद्धों के बुद्ध साधना द्वारा सिद्ध व्यक्ति हैं। वे बुद्ध भगवान् नहीं हैं। महायान लोगों के मत से वे तो करुणामय भगवान् थे तथा नाना प्रकार से ध्यानी और नारी-सहवास में निबद्ध बुद्ध के रूप में प्रकाशित हुए थे। यह सब बाद की घटना है। लेकिन महायान के बुद्ध प्रायः ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी के हैं। अतः गीता इससे प्राचीन है।

यदि मान लिया जाय कि गीता की पुरुषोत्तम-कथा इसी समय या इससे पूर्व की है तो यह सिद्ध हो जाता है कि इस समय तक पुरुषोत्तम की मान्यता लोगों में प्रतिष्ठित हो गई थी। ऐसे प्रमाण नहीं मिलते जिनसे यह पता चल सके कि प्राचीन भारत में पुरी या पुरी के अतिरिक्त और कहीं भी पुरुषोत्तम नाम के उपास्य देवता थे। गत चार-पाँच शताब्दियों के बीच श्री जगन्नाथ और उनकी रथयात्रा आदि के अनुकरण पर यह (पुरुषोत्तम) नाम अनेक देव-मूर्तियों के लिए प्रयुक्त होने लगा था; किन्तु इस लेख में उन सबका विवरण नहीं उपस्थित किया जा सकता। यही समझ लेना अलम् होगा कि वे सभी देवमूर्तियाँ केवल इस पुरुषोत्तम-संस्कृति के प्रचारित प्रकाश हैं। अतः यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि पुरी में पुरुषोत्तम की मान्यता की बात कम से कम श्रीमद्भगवद्गीता के काल से अर्वाचीन नहीं है। मालूम होता है कि गीता का काल भी कम से कम वासुदेव धर्म के तीन चार सौ वर्षों से अधिक अर्वाचीन नहीं है। इसी सिलसिले में यहां एक

स्वतंत्र बात भी कही जा सकती है कि गीता के रचना-काल तक पुरुषोत्तम पुरी या पुरुषोत्तम क्षेत्र भी भारतवर्ष में एक सांस्कृतिक पीठ के रूप में विख्यात हो चुका था।

यह पुरुषोत्तम कौन हैं, इस पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। सिंहल के दाठावंश तथा महावंश आदि में कहा गया है कि बुद्धदेव के शिष्यों ने उनकी चिता से उनकी बाईं ओर का विशिदंत लेकर थेरक्षेम के हाथों कलिंगराज ब्रह्मदत्त के पास भेज दिया था।

बौद्ध आख्यायिकाओं में ब्रह्मदत्त की बहुत कहानियाँ मिलती हैं। उन्हीं में दूसरे देशों के राजाओं के नाम भी ब्रह्मदत्त के साथ जुड़ गये हैं। कलिंगराज बौद्ध थे या अन्य मतावलंबी थे, इस संबंध में विचारने की भी आवश्यकता है। बुद्ध ने अपने जीवन-काल में कलिंग के साथ कोई संपर्क रखा हो, इसका भी प्रमाण नहीं मिलता। उत्तर भारत की किसी किंवदंती में बुद्ध के शिष्यों द्वारा ऐसे दाँत के भेजे जाने का कोई उपाख्यान भी नहीं मिलता। यह उपाख्यान केवल लंका का है।

सिंहल में, खासकर उसी दाठावंश में, कलिंग के इस बुद्ध-दाँत का एक लंबा इतिहास है। उसमें लिखा है कि आठ सौ वर्षों से अधिक समय तक सारे उत्तर भारत, विशेषतः मगध के सम्राटों और मुख्य व्यक्तियों ने इस दाँत को कलिंग से बलपूर्वक छीन लेने का घोर प्रयत्न किया था। उत्तर भारत तथा मगध आदि स्थानों में इस दाँत के अद्भुत प्रभाव और प्रचंड आधिपत्य के संबंध में अनेक उपाख्यान मिलते हैं। उत्तर भारत को या उस काल के भारतवर्ष को इस प्रकार से प्रभावित करनेवाली और किसी दूसरी बात का उल्लेख आज तक नहीं मिला। यह सब इतिहास का अन्तिम पर्याय होता है। इस कलिंग राजा की राजकुमारी और दामाद—दंतकुमारी और दंतकुमार—के साथ गुप्त रूप से यह दाँत सिंहल को भेज दिया गया था। उसका ठीक समय सन् ३१० ई० है। दाठावंश से प्राप्त दाँत की यह कहानी "स्टोरी आफ दी टूथ" नामक एक पुर्तगाली मिशनरी के संगृहीत ग्रन्थ में भी मिलती है।

यह दाँत नाना स्थानों में रहा और फिर क्रमशः नाना स्थानों में भेज दिया गया। लेकिन यह बात लोगों में प्रचलित हो गई है कि अनेक स्थानों में भेजे जाने पर भी यह दाँत अपने प्रथम स्थान में ही अविचल रूप से बना रहा और उसके स्थान पर नकली दाँत भेज दिया गया था।

इस स्थान या पुरुषोत्तम क्षेत्र की भारतव्यापी विभूति के संबंध में और भी एक उपाख्यान है। केवल उपाख्यान ही नहीं, इतिहास में भी इसका संकेत है। ईसवी सन् से पूर्व की शताब्दी या एक सौ साल और पहले कलिंग में खारवेल नामक एक सम्राट् थे। उनका एक शिलालेख भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि की हाथीगुफा में मिला है। उससे मालूम होता है कि इस ओड़िशा में (अधिक संभव है पुरुषोत्तम पुरी में) एक "जिनासन" था। वह जिनासन क्या था, यह समझ में नहीं आता। किन्तु उसकी पूजा के लिए या उसे हिन्दू उपास्य बनाने के लिए भारतवर्ष में, विशेष-कर मगध में अनेक शताब्दियों तक बड़ा आग्रह रहा।

खारवेल से अनेक शताब्दियों पूर्व मगध के नन्द राजा कलिंग को जीत कर यह जिनासन उठा ले गये थे। उन्होंने उसे न तो फेंका और न तोड़ा ही। अधिक संभव है कि उनका उद्देश्य

उसे हिन्दू देव के रूप में पूजा करने का रहा हो, क्योंकि नन्द राजा हिन्दू थे। उस समय देवमूर्तियों को ध्वंस करने की प्रथा थी ही नहीं। चारों ओर देवी-देवताओं की मूर्तियों तथा स्मारकों आदि की बड़ी कदर थी। यह केवल भारतवर्ष में ही नहीं बल्कि प्राचीन सुमेरु, बेबीलोन, असुरदेश आदि के इतिहास में भी यही विशेषता मिलती है।

खारवेल ने उसी जिनासन को वापस लाने के लिए मगध की विजय-यात्रा की और तत्कालीन मगध सम्राट् को जीतकर वे उसे पुनः ओड़िशा को उठा लाये थे।

इसके अतिरिक्त ओड़िशा में 'देवल तोला' नामक एक परम्परा और एक लिखित ग्रन्थ भी है। वह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। उस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि वह अत्यंत प्राचीन होने पर भी आधुनिक ओड़िशा लिपि में लिखा हुआ है और आधुनिक स्कन्दपुराण से लिया गया है। किन्तु ऐसा नहीं है। स्कन्दपुराण की किंवदंती से उसका मिलान करके कोई भी समझ सकता है कि उसके साथ उसका कुछ भी संबंध नहीं है। स्कन्दपुराण इससे अधिक आधुनिक है। मुझे अब तक तत्संबंधी कोई भी तालपत्र नहीं मिला लेकिन उस विषय में विशेष विचार करने की यहाँ आवश्यकता भी नहीं है।

उसमें लिखा है कि वर्तमान जगन्नाथ के साथ जो मूर्तियाँ हैं वे सब वहाँ नहीं थीं। उस स्थान में "नील माधव" नामक किसी एक उपास्य देव की पूजा होती थी। बहुत संभव है, वह "नील माधव" एक काला (मगुनी) पत्थर हो; क्योंकि ओड़िशा के पाल, कहड़ा आदि राज्यों में अब भी शबर जाति के लोग "नील माधव" नामक एक काले पत्थर की पूजा करते हैं।

"नील माधव" के विषय को खोजपूर्ण ढंग से उपस्थित करने के लिए एक स्वतंत्र आलोचना की आवश्यकता है। यहाँ इसका उद्देश्य केवल यह स्पष्ट करने के लिए है कि इस "नील माधव" की प्रतिपत्ति भारतवर्ष में खूब थी। उससे प्रभावित होकर भारतवर्ष के राजाओं, सम्राटों तथा विशिष्ट व्यक्तियों ने इसे अपनाया और विष्णु रूप में इसकी पूजा करने को तैयार हुए। उसी सूत्र के अनुसार "नील माधव" वैष्णव या विष्णु रूप से प्रभावित होकर श्री जगन्नाथ नाम से मान्य हुए हैं। यही जगन्नाथ पुरुषोत्तम हैं।

बुद्धदंत किंवदंती से जिनासन और नीलमाधव का क्या संबंध है और इन दोनों के साथ पुरुषोत्तम किस प्रकार मिलकर श्री जगन्नाथ बने, यह सब अब भी ऐतिहासिक गवेषणा की वस्तु बना हुआ है। इस सम्बन्ध में और कुछ कहना सिर्फ किंवदंती के उपाख्यान का उपाख्यान गढ़ना होगा।

परन्तु अब हमें इस पर विचार करना है कि भारतीय संस्कृति में उत्कल का क्या प्रभाव है। प्राचीन परम्परा की जो बात ऊपर कही गई है उसमें इस प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है। अब थोड़ा इतिहास द्वारा प्रमाणित विषय लेता हूँ। आशा है, गवेषक इस पर विचार करेंगे।

मुसलमानों की विजय-यात्रा के साथ सन् १०२६ ई० में गजनी के सुलतान महमूद के हाथों पश्चिमी भारत के सोमनाथ पीठ का विध्वंस हुआ था। सोमनाथ भारतवर्ष के लिए क्या था, यह आज समझना कठिन है। वहाँ की हजारों देव-दासियों और उनसे अधिक पुरोहितों ने अत्यंत

समारोह के साथ भारत की धर्मध्वजा सँभाल रखी थी। वहाँ करोड़ों रुपयों की वार्षिक आमदनी होती थी। आधुनिक समय में जिस प्रकार जगन्नाथ और तिरुपति (वेंकटेश्वर) के निकट जन-समागम और समारोह होता है, इससे कहीं अधिक समारोह उस समय वहाँ होता था। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि तत्कालीन भारत का यह अपने ढंग का एकमात्र हिन्दू तीर्थक्षेत्र था।

इसके बाद प्रायः दो शताब्दियों के भीतर ही भारतवर्ष का हिन्दू जगत् मुसलमानों की विजय से, विशेष रूप से देवमंदिरों और पीठों आदि के सर्वनाश से, अत्यंत जर्जरित हो उठा था। इधर बख्तियार खिलजी की बंग-विजय से और उधर मलिक काफूर की दिल्ली से कन्याकुमारी तक की विजय-यात्रा की प्रचंड ज्वाला से हिन्दुओं को आराम से साँस लेना भी दूभर था। इसी समय ओड़िशा में कलिंग के गंगवंशियों ने साम्राज्य-विस्तार भी किया। उनमें प्रधान और प्रथम सम्राट् गंगेश्वर या चोड़ गंगदेव थे। वे शैव थे जो बाद में घोर वैष्णव बन गये।

उन्होंने पुरुषोत्तम क्षेत्र नामक हिंदुओं की पीठस्थली में जगन्नाथ का वर्तमान उत्तुंग देवालय बनवाना आरंभ किया। उससे पूर्व भारत की धर्म-धारणा और ईश्वर तथा विष्णुभक्ति इसी पुरुषोत्तम क्षेत्र में पर्य्यवसित और परिपुष्ट हुई थी। अतः भारत की संस्कृति का केन्द्र भी यही पुरुषोत्तम पुरी हुआ। इसका भारतव्यापी प्रभाव आज भी सारे देश में सुविदित है।

इस प्रकार भारतवर्ष को उत्कल का यह दान और समय-समय पर प्रचारित होनेवाला ओड़िशा का यह पवित्र प्रभाव, ऐतिहासिक गवेषणा का गंभीर विषय होने पर भी भारत की संस्कृति में अत्यंत स्मरणीय है।

भारतीय संस्कृति को ओड़िशा की देन

प्रो० प्रह्लाद प्रधान

भारतीय संस्कृति को ओड़िशा की क्या देन है, इसको ठीक-ठीक कहना अत्यंत कठिन है। आखिर ओड़िशा तो भारत के बाहर नहीं है और भारत की स्थिति से ओड़िशा की स्थिति या ओड़शा की स्थिति से भारत की स्थिति भी अलग नहीं है। भारत के विभिन्न अंगों या प्रान्तों की संस्कृति को लेकर ही भारतीय संस्कृति बनी है, इसलिए भारत और ओड़िशा में दाता-ग्रहीता का विचार करना असंगत और असंभव है, क्योंकि दोनों अभिन्न हैं—अंग-अंगी हैं।

उदाहरण-स्वरूप यहाँ एक घटना का उल्लेख करने से मेरा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा। मैं जब चीन में था तो सन् १९५० ई० में तिब्बत के पन् चन् लामा एक बार पेकिंग गये थे। दलाइ लामा के समान वे भी जीवन्त बुद्ध माने जाते हैं और तिब्बत की भाँति चीन के भी बौद्धों और विशेष कर लामा-बौद्धों पर उनका प्रभाव बहुत अधिक है। महाबोधि सोसाइटी की तरफ से उनके स्वागत के लिए पेकिंग के "पे हाय" या "उत्तर समुद्र" (=कृत्रिम ह्रद) में अवस्थित लामा मन्दिर में एक आयोजन किया गया था। उन दिनों मैं वहाँ के भदन्त फा च्युन फाशि: से अभिधर्म कोश भाषा का चीनी अनुवाद पढ़ने उस विहार में जाया करता था। भारतीय होने के कारण उस स्वागत में शामिल होने के लिए मुझे विशेष अनुमति दी गई थी।

उनके दर्शन का एक विशेष नियम है। दर्शन के समय उनको एक खाता देना पड़ता है जो अवश्य ही बाध्यतामूलक नहीं है। खैर, एक टुकड़ा 'खाता' खरीदने के लिए मुझे करीब दो रुपये देने पड़े। ये रुपये मैंने पहले दिन दिये। तब तक न तो खाता का अर्थ ही मेरी समझ में आता था और न उसके स्वरूप के बारे में कोई धारणा थी। दूसरे दिन देखा तो यह करीब ६ इंच चौड़ा और दो गज लम्बा एक टुकड़ा कपड़ा था, जो अब भी जगन्नाथ पुरी में बेचा जाता है। जगन्नाथ पुरी में अब उसका उपयोग काछा या लँगोट के रूप में किया जाता है। 'खाता' चीनी शब्द की भाँति नहीं लगता है और यह 'खादी' शब्द के चीनी ध्वन्यंतर सा लगता है। जगन्नाथ पुरी में अब भी धोती को 'खदी' कहते हैं।

दूसरे दिन, जब कि पन् चन् लामा आनेवाले थे, हम लोग बहुत पहले से जाकर उस लामा मन्दिर में एकत्रित हुए। उस दिन बड़ी संख्या में भिक्षु-भिक्षुणियाँ और उपासक-उपासिकाएँ जमा होने लगीं। किसी के हाथ में अगरबत्ती तो किसी के हाथ में चीनी धूपदानी, किसी के हाथ में चँवर तो किसी के हाथ में और कुछ था। जब पन् चन् लामा के आने की सूचना आई तो हम सब लोग सीढ़ियों के दोनों तरफ, दो कतारों में, खड़े हो गये। सीढ़ियाँ अनेक थीं इसलिए पंक्ति भी

लम्बी हो गई। हम लोग कुछ नीचे की सीढ़ियों की तरफ आगे चले गये ताकि वहाँ से उनका प्रथम अभिनन्दन करें। शंखध्वनि, अलट चामर के साथ सदल-बल उनके पहुँचते ही हम लोगों ने अभिवादन-पूर्वक उनका स्वागत किया और उनके पीछे हो गये। जिनके हाथ में धूप अगरबत्ती वगैरह थी, वे जलाने लगे। इस प्रकार वे जैसे-जैसे आगे बढ़े, सीढ़ियों के दोनों तरफ खड़ी भिक्षु-भिक्षुणियाँ और उपासक-उपासिकाएँ पंक्ति के पीछे होती गईं और इस प्रकार स्वागत-पंक्ति बढ़ती गई।

जब वे मन्दिर में पहुँचे तो एक ऊँचे आसन पर बैठ गये। वह आसन उस मन्दिर की विशाल बुद्ध-मूर्ति के ठीक सामने बनाया गया था। उसकी ऊँचाई उस बुद्ध-मूर्ति के भद्रासन के बराबर थी। वे उस आसन पर, उस मूर्ति की तरफ पीठ कर, बैठ गये। उनकी प्रारम्भिक पूजा के बाद हम लोगों को दर्शन की अनुमति मिली। हम लोग एक कतार बनाकर एक-एक करके उनके सामने गये। अब 'खाता' की आवश्यकता हुई। उनको 'खाता' चढ़ाकर या भेंट में देकर उनके चरणों में हम लोगों ने प्रणाम किया। स्वीकृति के रूप में आशीर्वाद देकर बेत के दो टुकड़ों से, जिसके अग्रभाग में एक फुर्ला (Tussel) झूलता था, वे हम लोगों के मस्तक स्पर्श करते गये। उनको पार करते ही 'खाता' के बदले बीच में गाँठवाले लाल कपड़े का एक टुकड़ा मिलता था जिसे देने के लिए एक आदमी खड़ा था। यह क्रिया बहुत देर तक चली। उसके बाद उन्होंने तिब्बती भाषा में सूत्रोपदेश दिया—कण्ठस्थ सूत्रपाठ सुनाया। अनुशासन के बाद भोग लगाने की क्रिया शुरू हुई। अरवा चावल के भात को चीनी कटोरी में भरकर उसके बीच चीनी मिट्टी से तैयार एक चीनी चम्मच रख दी गई थी। कुछ कटोरों में तरकारी वगैरह भी थी। उन कटोरों से एक-एक लेकर कुछ लामा एक पंक्ति में उनके सामने ले गये। वहाँ भोग लगने के बाद उसको प्रसाद के रूप में बाँट दिया गया और उसमें से कुछ कण पाने के लिए काफी धूम भी मची। इसके बाद दोनों तरफ खड़े होकर दो विद्वानों न शास्त्रार्थ किया और शास्त्रार्थ के बाद सभा समाप्त हुई।

इस समारोह को देखकर मुझे जगन्नाथ पुरी और जगन्नाथ जी की याद आई। जगन्नाथ पुरी में भी 'खाता' के समान एक प्रकार का कपड़ा बिकता है जो अन्यत्र मैंने नहीं देखा है। पुरी मन्दिर में भी पंडों के खुण्टिआओं के बेत की मार प्रसिद्ध है। 'श्री कपड़ा' के नाम से लाल रंग का वस्त्र-खण्ड जगन्नाथ धाम में बहुत बिकता है और इस विश्वास से खरीदा और धारण किया जाता है कि यह जगन्नाथ जी का श्रीअंग-सेवित वस्त्र है। भोग-मंडप में जब भोग जाता है तो सूआर (सूपकार) लोग भी पक्वान्न को कतार में ले जाते हैं और भोग लग जाने के बाद जाति-निर्विशेष में अभड़ा या प्रसाद सेवन प्रसिद्ध है। सुखाये हुए प्रसाद (भात) को निर्माल्य रूप में यात्री लोग बहुत दूर-दूर तक ले भी जाते हैं।

जगन्नाथ जी और पन् चन् लामा की इस पूजा-विधि को देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि दोनों में बहुत कुछ साम्य है और एक के ऊपर दूसरे का प्रभाव है, एक को दूसरे की देन है। तो हम लोग इसे किसको किसकी देन कहेंगे ? अवश्य तिब्बत को भारत की या तिब्बती संस्कृति को भारतीय संस्कृति की देन कहना पड़ेगा। यही ओड़िशा और भारत की संस्कृतियों का संबंध है; दोनों अभिन्न हैं। दोनों को अलग-अलग विचार करना असंभव है।

एक और उदाहरण लिया जाय। यह अविसंवादित है कि बौद्ध धर्म पृथ्वी को भारत की देन है। अनेक बौद्ध भिक्षुओं ने विभिन्न देशों में जाकर बौद्ध धर्म प्रचारित और स्थापित किया था। इसमें अनेक राजाओं का हाथ है। भिक्षुओं को भेजकर बौद्ध धर्म के प्रचार की दिशा में राजाओं में सर्वप्रथम कदम उठाया अशोक ने। पाली साहित्य की बौद्ध-परंपरा से ज्ञात होता है कि बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए सम्राट् अशोक ने काश्मीर और गान्धार में माध्यान्तिक स्थविर, महिष-मंडल में महादेव स्थविर, वनवासी में रक्षित स्थविर, अपरान्त में महारक्षित स्थविर, हिमवन्त या हिमालय में मध्यम स्थविर, स्वर्णभूमि में शोण और उत्तर स्थविरों तथा ताम्रपर्णी लंका में महेन्द्र स्थविर को भेजा था। सम्राट् अशोक ने उनको कब भेजा? कलिंग-समर के बाद, जब वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए तब। इससे क्या यह नहीं सूचित होता कि कलिंग भूमि में एक प्रबल संस्कृति थी जिससे वे अत्यंत प्रभावित हुए और बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर चण्डाशोक से धर्माशोक में परिवर्तित हो गये? एक प्रबल पराक्रमी दिग्विजयी और विजयी सम्राट् के लिए यह कम परिवर्तन की बात नहीं है। कलिंग भूमि की संस्कृति से ही अनुप्रेरित होकर उन्होंने चारों तरफ धर्म-प्रचार के उद्देश्य से भिक्षुओं को भेजा था। कलिंग भूमि में एक महत्त्वपूर्ण संस्कृति का प्रसार था, नहीं तो धउली, जउगढ़, भुवनेश्वर (परशुरामेश्वर) में एकाधिक अशोक-अनुशासनों का कोई मतलब नहीं होता। संस्कृति-विहीन अशिक्षित अनपढ़ों के लिए अभिलेखों का कोई अर्थ नहीं होता। खैर, जो कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि अशोक-के संसार को बौद्ध धर्म के दान के मूल में कलिंगसमर और कलिंग-संस्कृति थी। लेकिन यह कहना गलत होगा कि बौद्ध धर्म कलिंग की देन है। जब हम लोग भारत के बाहर चले जाते हैं तो कलिंग हो या तिलिंग, सब अंग भारत से अभिन्न हो जाते हैं। चाहे अंग हो या बंग, विभिन्न देशों या प्रान्तों की अलग-अलग स्थिति मानी जाती है। अंगों को लेकर ही शरीर बनता है, शाखाओं को लेकर ही वृक्ष बनते हैं, उसी प्रकार विभिन्न प्रान्तों की संस्कृतियों को लेकर ही भारतीय संस्कृति बनी है। ओड़िशा भी संस्कृति का एक प्रधान केन्द्र था, इसलिए प्रायः सभी धार्मिक संप्रदाय और उनके तीर्थ यहाँ पाये जाते हैं। खंडगिरि में बौद्ध गुफाएँ, उदयगिरि में जैन गुफाएँ, भुवनेश्वर में शैव क्षेत्र, कोणार्क में सौर क्षेत्र, याजपुर में गिरिजा (देवी) क्षेत्र, पुरी में विष्णु क्षेत्र वर्तमान हैं। हरिदासपुर स्टेशन के नजदीक चण्डीखोल पर्वत गाणपत्य संप्रदाय का एक पीठस्थल सा मालूम होता है। वहाँ 'महाविणा' या 'महाविना' नाम से एक शिवलिंग की पूजा होती है जो असल में 'महाविनायक' की मूर्ति है। इस मूर्ति को पत्थरों से ढँक कर एक शिवलिंग का रूप दे दिया गया है लेकिन गौर से देखने से पता चलता है कि गणेश मूर्ति का सिर्फ यह ऊपरी भाग है। उसमें कान, कपाल और सूँड़ का अभी तक कुछ अंश दिखाई देता है।

लकुलीश पाशुपत का अवतार हुआ था भृगुकच्छ के कायावतार या कायावरोहण में, किन्तु उनकी मूर्ति मिली है भुवनेश्वर में जो ओड़िशा म्युजियम में सुरक्षित है। कभी ओड़िशा में लकुलीश पाशुपत संप्रदाय का अत्यंत प्रचार था। भुवनेश्वर में उनके चार शिष्यों—कौशिक, गर्ग, मित्र और कारुष्य और अठारह गुरुओं के साथ लकुलीश की मूर्ति मिलती है। बालेश्वर कालेज में भी चार शिष्यों के साथ उनकी एक मूर्ति रखी गई है।

तंत्र-काल में भी ओड़िशा को एक केन्द्र माना गया है। निःश्वास तंत्र में तंत्र के पाँच केन्द्र—जालंधर, पूर्णगिरि, श्रीपर्वत, ओडियान और कामाख्या माने गये हैं। जालंधर पंजाब का आधुनिक जालंधर ही है। पूर्णगिरि पूना को कहते हैं। श्रीपर्वत गुंटूर जिले में है और उसे वज्रयान का उत्पत्ति-स्थल माना जाता है। ओडियान या उड्डियान ओड़िशा है। कामाख्या तो उसी नाम से प्रसिद्ध है ही। कालिका पुराण में चार पीठों का उल्लेख है—उड्र, जालशैलक (जालंधर), पूर्णपीठ और कामरूप। उसमें श्रीपर्वत का उल्लेख नहीं है। उसी में अन्यत्र देवी कोठ का उल्लेख मिलता है। ओड़िशा में तंत्र का बहुत प्रचार था, अभी तक है। इसीलिए ओड़िशा को एक पीठ माना गया था और एक तांत्रिक बंध भी उड्डियान बंध के नाम से आज तक चला जाता है। यही भारत को ओड़िशा की देन है। तंत्र को शिव-प्रवर्तित माना जाता है। इसलिए षट्चक्र-भेदन के बाद स्वाधिष्ठान चक्र में शिव का साक्षात्कार ही अभीष्ट है। बौद्ध धर्म में जब तंत्र का प्रवेश हुआ तो वहाँ बुद्ध, बोधिसत्त्व या युगनद्ध ही साक्षात्कार के विषय हुए, प्रक्रिया वही रही। उसी प्रकार पंचसखा युग में हम देखते हैं कि नित्य गोलोकबिहारी युगल राधाकृष्ण ही स्वाधिष्ठान चक्र में साक्षात्कार के विषय के रूप में स्थापित हुए। षट्चक्र-भेद की प्रक्रिया में विशेष कोई अन्तर नहीं है। संक्षेप में ओड़िशी वैष्णव धर्म का यही मूलतत्त्व है।

ओड़िशा की यही एक विशेषता है कि अपने-अपने धर्म में रहते हुए भी लोग दूसरों के धर्म या संप्रदाय के प्रति पूर्ण सम्मान दिखाते हैं। पंचसखाओं को लें तो देखेंगे कि बलराम दास रामतारक मन्त्र के उपासक थे, जगन्नाथ दास सोलह नाम या बत्तीस अक्षर मंत्र के उपासक थे, यशोवंत दास श्यामानन्दी थे और श्याम पंचाक्षर के उपासक थे, अनन्त दास सूर्यनारायण एकाक्षर मंत्र के उपासक थे और अच्युतानन्द दास अणाक्षर मंत्र के उपासक थे। लेकिन पाँचों पंचसखा थे। उनमें पूर्ण हृद्यता थी। तिक्तता का लेश भी नहीं था। वे सभी वैष्णव कहलाते थे, फिर भी बलराम दास ने गोरखपंथी सप्तांगयोगसार टीका लिखी थी। यशोवन्त दास ने शिवस्वरोदय का अनुवाद किया था और गोविन्दचन्द्र गीता लिखी थी। एक अन्य परंपरा के अनुसार बलराम दास विष्णु श्याम (स्वामी) पंथी कृष्ण-मंत्र के उपासक, जगन्नाथ दास आकेश नासार्ध तिलक, हरिमंदिरधारी अति बड़ी संप्रदाय के राधामंत्र के उपासक थे, शिशु अनन्त ऊर्ध्व पुण्डरीक तिलक-धारी रामानन्द संप्रदाय के गोपाल मंत्र के उपासक थे। यशोवन्त दास नासार्ध तिलक बैठी और कपाल में हरिमंदिरवाले मध्वाचार्य सम्प्रदाय के श्याम पंचाक्षर मंत्र के उपासक तथा अच्युतानन्द दास नासाग्र से केश पर्य्यंत हरिमंदिरवाले निमाइ संप्रदाय के राजमंत्र या प्रेमषोड़शी मंत्र के उपासक थे। लेकिन सब के सब योगमार्ग-प्रेरक ज्ञान-मिश्रा भक्ति के साधक थे और जगन्नाथ महाप्रभु को लेकर ही उनकी साधना केन्द्रित थी। जगन्नाथ ही सबके उपास्य थे।

पुरी का जगन्नाथ मंदिर एक विचित्र मंदिर है और जगन्नाथ महाप्रभु विचित्र महाप्रभु हैं। जगन्नाथ मंदिर को विष्णुमंदिर माना जाता है। लेकिन बेढ़े के भीतर ऐसा कोई देवता नहीं है जो वहाँ न हो। बेढ़े में काशी विश्वनाथ, पातालेश्वर, यमेश्वर आदि कई शिवमंदिर हैं। सत्य-नारायण ठाकुर, लक्ष्मी, सरस्वती तो हैं ही, मंगला, विमला, भुवनेश्वरी भी हैं। विमला कुच-

पीठ मानी जाती हैं जो भैरवी चक्र का एक अंग भी है। कहते हैं, विमला देवी को जब तक भोग नहीं लगाया जाता है, तब तक महाप्रसाद नहीं होता और उनके मंदिर में साल में एक दिन मछली का भोग लगता है। बेढ़े में गणेश हैं और भंड गणेश भी, जिनकी मूर्ति घोर तांत्रिक है। वे इसीलिए भंड गणेश कहलाते हैं कि एक स्त्रीमूर्ति को हाथ में उठाकर उसके योनिमार्ग को अपने शुंड से स्पर्श करते हैं। वहाँ सब देवताओं का समान रूप से समागम होता है।

मंदिर में अधिष्ठाता मुख्य देवताओं को लें तो वहाँ भी विचित्र समागम है। वहाँ जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा की पूजा होती है। साधारणतया जगन्नाथ कृष्ण माने जाते हैं और बलभद्र उनके बड़े भाई तथा सुभद्रा उनकी बहन। कृष्ण, बलराम की पूजा तो ठीक है लेकिन देवता रूप में सुभद्रा की पूजा करने का विधान कहीं नहीं मिलता। साथ-साथ तीनों की पूजा किस शास्त्र और संप्रदाय के अनुसार है? इसलिए इन मूर्तियों के बारे में नाना प्रकार की कल्पना-जल्पना होती है। पंडित नीलकंठ दास जी ने अन्यत्र प्रतिपादन किया है कि जगन्नाथ जैन हैं। उनका कहना है कि सब तीर्थंकरों के पीछे नियमित रूप से नाथ शब्द है। नाथ जैन संप्रदाय के हैं और दूसरे संप्रदाय-वालों ने 'नाथ' शब्द इन्हीं से लिया है। कितने ही लोग इनको बौद्ध मानते हैं। ओड़िया साहित्य में बहुत जगह जगन्नाथ को 'बउध रूप' या 'प्रबुद्ध' कहा गया है। पुरी मंदिर के सिंह दरवाजे पर नवग्रह मूर्ति की जगह दशावतार और नवम अवतार बुद्ध की जगह पर जगन्नाथ जी की एक मूर्ति है। कितनों की कल्पना यहाँ तक दौड़ी है कि दन्तपुरी का अवशेष 'पुरी' है और जगन्नाथ मूर्ति के भीतर जो रहस्यपूर्ण वस्तु है वह बुद्ध की दन्तधातु है। डा० हरेकृष्ण महताब का कहना है कि बौद्ध धर्म के त्रिरत्नों—बुद्ध, धर्म और संघ—में धर्म के प्रतीक के रूप में जगन्नाथ जी की मूर्ति है।

बलभद्र ठाकुर के बारे में मैंने 'झंकार' में प्रतिपादन किया है कि वे शिव के अवतार हैं। प्रेम भक्ति ब्रह्मगीता में यशोवन्त दास ने कहा है कि बलभद्र रुद्र के अवतार हैं। उन्होंने और भी कहा है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर योगमाया से संभूत हुए; बलभद्र रूपी रुद्र ने योगमाया का स्मरण किया और अन्य दोनों ने उसकी निंदा की। इसलिए योगमाया ने योनि-निंदा के कारण शाप दिया कि विष्णु बार-बार योनि में उत्पन्न हों। इस प्रकार वे कृष्ण और जगन्नाथ रूप में उत्पन्न हुए तथा ब्रह्मा स्त्री होकर सुभद्रा के रूप में उत्पन्न हुए। सुभद्रा के शरीर में राधा भी रहीं।

इस आलोचना से मेरा यह मतलब नहीं है कि पुरी मंदिर की त्रिमूर्ति क्या है और क्या नहीं है। इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ कहना मुश्किल है। ओड़िशा की संस्कृति का यही वैशिष्ट्य है। जगन्नाथ नामकरण में भी यही तात्पर्य निहित है। 'जगन्नाथ' कोई विशेष देवता नहीं है। यह नाम किसी एक देवता का नहीं है। बुद्ध, जिन, कृष्ण, विष्णु, शिव, सबका नाम 'जगन्नाथ' है। इसीलिए 'जगन्नाथ' नाम चुना गया है। मूर्ति का भी ऐसा रूप चुना गया है कि सबके लिए सब अवसरों पर उपयुक्त हो सकता है। एक बार एक कलाकार ने कहा कि जगन्नाथ मूर्ति की आँखों को इस ढंग से काटा गया है कि किसी भी वेश में यह खप जाती है, उपयुक्त हो जाती है। यहाँ तक कि कुष्ठ रोगियों के सेवक एक ईसाई सज्जन जगन्नाथ को कुष्ठ रोग का प्रतीक मानते हैं। कुष्ठ रोग में जिस प्रकार हाथ-पैर ठूँठे हो जाते हैं, जगन्नाथ भी ठूँठे हो गये हैं। जगन्नाथ की

जिस प्रकार पूजा की जाती है, कुष्ठ रोगियों की भी उसी प्रकार सेवा करनी चाहिए। इसी से ओड़िशा की संस्कृति का महत्त्व प्रतिपादित होता है। इस प्रकार बिना किसी सांप्रदायिक विशेष और विरोध के यहाँ सभी देवताओं का समावेश किया जाता है। कोणार्क मंदिर में एक फलक है जिसमें एक सिंहासन में महिषमर्दिनी दुर्गा की मूर्ति है और एक सिंहासन में शिवलिंग और जगन्नाथ की मूर्ति है। पुरी मंदिर के भी एक फलक में दुर्गा, शिवलिंग और जगन्नाथ एक साथ हैं। वे सब समान रूप से सबके उपास्य हैं।

जगन्नाथ केवल आर्यों के नहीं, आर्येतरों के भी देवता हैं। प्रवाद है कि पहले वे शबर जाति के देवता थे। विश्वावसु नीलाचल वन के भीतर दारु ब्रह्म के रूप में उनकी पूजा करता था। मालव के राजा इन्द्रद्युम्न को स्वप्नादेश हुआ। इसलिए उन्होंने अपने ब्राह्मण मंत्री विद्यापति को खोज करने के लिए भेजा। लेकिन विश्वावसु शबर ने उनको संधान नहीं दिया अत: विद्यापति ने विश्वावसु की लड़की से प्रणय कर तथा उसकी सहायता से दारु ब्रह्म को देखा। फिर वहाँ से जाकर इंद्रद्युम्न को ले आया। अंत में दोनों का विवाह हो गया और विश्वावसु शबर के वंशधर 'दइता' कहलाये और विद्यापति के वंशधर 'पति'। दइता-पतियों को आज तक पूजा का अधिकार है और रथयात्रा के समय वे ही पूजा करते हैं। यही ओड़िशा की संस्कृति है। यहाँ के देवता जाति-निर्विशेष के देवता हैं और उनकी पूजा के सभी अधिकारी हैं। ओड़िशा उत्तरी और दक्षिणी भारत के तथा आर्य और आर्येतर संस्कृति के बीच अवस्थित है, इसलिए यहाँ दोनों का समान रूप से समन्वय हुआ है। यहाँ भाषा, संगीत, नाट्य आदि सभी में दोनों का संमिश्रण हुआ है।

इतना ही नहीं कि यहाँ के देवताओं में जगन्नाथ, बलभद्र, सुभद्रा में सिर्फ सभी का समन्वय और पूजाधिकार है बल्कि इनका अन्न भोग सबका महाप्रसाद भी है। ब्राह्मण-शूद्र सब एक ही साथ भोजन करते हैं। इसमें उच्छिष्ट तक का विचार नहीं है। जहाँ जाति-विचार इतना प्रबल है वहाँ अन्न भोग को सभी बिना किसी द्वेष भाव के सहज रूप में स्वीकार कर लेते हैं। यही ओड़िशा की संस्कृति है। ओड़िशा में कई जगह अन्न महाप्रसाद (अभड़ा, अबढ़ा—अपरिवेषित) के रूप में बिना जात-पाँत के विचार के एक ही साथ ग्रहण किया जाता है। विष्णुक्षेत्र जगन्नाथपुरी में, शिवक्षेत्र लिंगराज भुवनेश्वर में और रघुनाथक्षेत्र ओडगां में महाप्रसाद का प्रचलन है। यह सिर्फ ओड़िशा में है, भारतवर्ष में अन्यत्र कहीं नहीं। संक्षेप में यह सब भारतीय संस्कृति को ओड़िशा की देन कही जा सकती है।

भारतीय संस्कृति को उत्कल की देन

डा० हरेकृष्ण महताब

भारतीय संस्कृति का अर्थ व्यापक है। भारतीय समाज में विभिन्न श्रेणियों के द्वारा इसका विभिन्न अर्थ किया जाता है। यह एक बहुत ही साधारण उदाहरण है। इससे मेरे कथन का अभिप्राय समझ में आ सकता है। बात यों है—भारतीय समाज की एक विशिष्ट श्रेणी के मत में गोमांस-भक्षण करना भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है। लेकिन उसी भारतीय समाज में एक दूसरी श्रेणी भी है जिसके मत में—उदाहरण-स्वरूप कंध, कोल्ह आदि आदिम जातियों का—गोमांस भक्षण करना धर्म है और गाय का दूध पीना पाप। भारत जैसे गणतांत्रिक देश में बिना जाति-धर्म-भेद के प्रत्येक भारतीय को समान नागरिक अधिकार प्राप्त हैं। कोई समाज अपनी विचार-धारा को भारतीय संस्कृति नहीं कह सकता और यह समीचीन भी नहीं हो सकता। इस बात को जितना जल्दी देश के लोग समझ लें, उतना ही अधिक भारत के संगठन में मंगलमय होगा।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति का अपना इतिहास है। गत हजारों वर्षों की अवधि में देश में चार स्वतंत्र सभ्यताएँ (संस्कृति) एक-एक करके फैलीं, और परस्पर के आघात-प्रतिघात से अंत में दो ही मुख्य शेष रह गईं। एक है आर्य संस्कृति और दूसरी है प्राक्-आर्य-संस्कृति। आर्यों ने रामायण, महाभारत आदि पुराणों में विभिन्न जातियों के संघर्ष और विजय का वर्णन करके संस्कृति की प्रधानता की प्रतिष्ठा की है। अवश्य ये पुराण परवर्ती युग में लिखे गये हैं। लेकिन इस सारी भिन्नता या विभेद को पार करके गौतम बुद्ध ने एक नया धर्म चलाया—उसके प्रचार और प्रसार का उद्यम किया था। अवश्य उस समय से लेकर आज तक बहुत वर्ष बीत चुके हैं। हम भगवान् बुद्ध को भारतीय संस्कृति का प्रतीक मानते हैं। कारण, भगवान् बुद्ध ने जिन्दगी भर करुणा और सहनशीलता का प्रचार किया था और उसी को धर्म माना था। इसका प्रधान कारण सामाजिक प्रतिक्रिया भी था। हो सकता है कि इसी वजह से हो या अन्य परिस्थिति से हो, लेकिन बुद्धदेव के निर्वाण से प्रायः ३०० वर्ष तक उनका धर्म उतना व्यापक न हो सका। अंत में अशोक ने ही उस महान् धर्म के प्रचार का कार्य सम्पन्न किया था। हमारे उत्कल (कलिंग) में ही सम्राट् अशोक ने घोषणा की थी, कि युद्ध की विजय सच्ची विजय नहीं है। उसके बाद से ही सारी संस्कृति के संयोग से वे संविधान करने का विधिवत् उद्यम करने लगे थे। अशोक के सारे अनुशासनों का अध्ययन करने पर विस्मित होना पड़ता है। वह विस्मय-कर विषय यह है—उन्होंने बौद्धधर्म-प्रचार के प्रसार की कथा का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। हाँ, प्रत्येक शिलालेख में उन्होंने ब्राह्मण और श्रमण दोनों का समान रूप से वर्णन किया है। लोगों

को स्वधर्म में लाने के लिए वे जीवन भर उद्यम करते रहे। उनकी जनशिक्षा थी कि लोग एक दूसरे के प्रति सुन्दर, शुद्ध आचरण करें। किसी एक खास धर्म का प्रचार न करके उन्होंने सिर्फ शुद्ध आचरण की शिक्षा पर जोर दिया था।

उन्होंने स्वतंत्र कलिंग-अनुशासन में अपने कर्मचारियों को आदेश दिया था कि सीमान्त-वासी आटविक जाति के लोग यदि पूछें कि राजा ने हमारे लिए क्या किया, तो उनसे कहना कि राजा तुमको अपनी सन्तान की तरह स्नेह, श्रद्धा और प्रेम करते हैं। आज कई शताब्दियाँ बीत चुकी हैं; लेकिन धउली और जौगढ़ के अनुशासन आज भी प्रेम और स्नेह-सन्देश पग-पग भेदकर झंकृत हो रोमांचित कराते हैं। यही संदेश है भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र।

भारतीय संस्कृति का मौलिक उपादान है सहनशीलता और विभिन्न धर्मों और मतों के प्रति सम्मान तथा सहानुभूति। गत दो हजार वर्षों के दर्म्यान अशोक के इन महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्यों में, समय समय पर बहुत-सी बाधाएँ आई हैं, परन्तु सहनशीलता का मौलिक तत्त्व क्रमशः, धीरे-धीरे, भारतीय संस्कृति में घुल-मिल गया है।

यह संयोग की बात है कि भारतीय संस्कृति की नींव, हमारे ओड़िशा में, अशोक के हृदय-परिवर्तन से हुई है। भारत के इस भूभाग या इलाके में कुछ ऐसी विशेषता थी जिसके फल-स्वरूप ऐसी युगान्तकारी घटना घटी थी। कलिंग की जनता ने असीम साहस के साथ युद्ध किया था। उसमें उसने अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी। कलिंग की जनता का असीम साहस अशोक के हृदय-परिवर्तन का कारण बना होगा। इसके सिवा कुछ नहीं कहा जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि जिस सदाचार और सहनशीलता से भारतीय संस्कृति की नींव पड़ी उसके भी प्रचार का श्रीगणेश यही भुवनेश्वर था।

यह मूल नीति की प्रतिक्रिया भारत के कई स्थानों में दिखाई पड़ी थी। परिणामस्वरूप अव्यवस्था होने लगी। परन्तु हमारे इस भूभाग में दोनों नीतियाँ (सिद्धान्त) दृढ़ता से प्रतिष्ठित हुई हैं। जितने धर्म और धार्मिक सम्प्रदायों का अभ्युत्थान यहाँ हुआ है, वे सारे के सारे ऐसे आपस में मिल गये कि ओड़िशा का एक भी मन्दिर किसी एक धार्मिक सम्प्रदाय का नहीं रहा। सभी मन्दिर सभी सम्प्रदायों के हैं। पुरी और भुवनेश्वर के दोनों मुख्य मन्दिरों में ब्राह्मण और अब्राह्मण पुजारी सेवक का कार्य करते हैं। गाँवों में आज भी ग्राम-देवताओं के पूजक अधिकांश अब्राह्मण और आदिम जाति के लोग हैं। सांस्कृतिक संयोग की प्रगति इस प्रकार हुई है कि आदिम जातियों की बहुत सी श्रेणियाँ भारत की अन्य दूसरी जातियों में भी मिल गई हैं। भारत के अन्य भागों में आदिम जातियों की जो समस्या है वह ओड़िशा में वैसी नहीं है। यहाँ वोट-सूची में दर्ज आदिम जातियों के साथ अन्य सवर्ण जातियों से विवाह-सम्बन्ध स्वच्छन्द रूप से होता है। आदिवासी जमींदारों के यहाँ ब्राह्मण पुरोहित होते हैं। आदिवासी और अनादिवासियों में जो विरोध अन्यत्र दिखाई पड़ता है, वह उत्कल में नहीं है। सैकड़ों वर्षों से ओड़िशा में जगन्नाथ महाप्रभु देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। यहाँ सभी धर्मों और सम्प्रदायों का भेद-भाव दूर होता है और एक जगन्नाथ धर्म ही रह जाता है।

अवश्य, पुराणों के बारे में इतनी बात याद रखनी पड़ेगी कि ये पुराण आदिवासी जातियों में कभी भी जनप्रिय नहीं हो सके। आजकल कई प्रान्तों में आदिवासी-भाषा में पुराणों का अनुवाद करवाकर प्रचार किया जा रहा है। मेरे मत से इससे कोई खास सफलता नहीं मिल सकती; वरन् कुशल लेखकों को चाहिए कि वे इन पुराणों को नये सिरे से लिखें। संघर्ष और विजय पर जोर न देकर सहनशीलता और संयोग पर जोर देकर पुराण लिखे जायँ। बड़े ही खेद की बात है कि अँग्रेज लेखकों ने हमारे समाज के एक अंग को एबोरिजन या आदिवासी कहा है और उसे समाज से बिलकुल अलग कर दिया। उन लेखकों ने इनका इतना बुरी तरह से चित्रण किया कि ये मानों बिलकुल असभ्य हैं। लेकिन सच बात तो यह है कि इन लोगों की सभ्यता और सदाचार अत्यन्त उच्चकोटि का रहा है। अवश्य यह सभ्यता-संस्कृति आर्य सभ्यता-संस्कृति से कुछ भिन्न है। भारतीय संस्कृति-संयोग की दृष्टि से, आदिवासी-सभ्यता को समान स्थान देना पड़ेगा और आर्य तथा प्राक्-आर्य सभ्यता के बीच एक साम्य सुन्दर नवीन संस्कृति का प्रतिपादन करना पड़ेगा। समय आने पर इस सत्य की सभी उपलब्धि करेंगे और अशोक ने ओड़िशा में संयोग का जो कार्य-क्रम आरम्भ किया था वह अब भारत भर में पूर्ण होगा।

हिंदी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

श्री परशुराम सिंह एम० ए०

भविष्य के गर्भ की थाह लेते हुए साहित्य की वर्तमान गति-विधि का संबंध अतीत के उन सूत्रों से जोड़ा जा सकता है जो उसे अक्षुण्ण रूप से, प्रत्यक्षतः या परोक्षतः प्रभावित करते रहते हैं। अतीत का यही प्रभाव वर्तमान साहित्य की पृष्ठभूमि होता है जो और स्पष्ट शब्दों में संस्कृति है । वास्तव में संस्कृति है क्या ? दर्शन, राजनीति, इतिहास, परंपरा आदि का मिश्रित रूप ही संस्कृति है। यह रूप एक दिन का या एक वर्ष का नहीं होता। शत-सहस्र वर्षों की मानव-भावनाएँ और उसके उद्‌गार संस्कृति का निर्माण करते हैं। इसी संस्कृति को साहित्य युगानुकूल प्रवृत्तियों की धूप-छाँह से निःसृत होता हुआ भी प्रदर्शित करता है। किसी भी देश का साहित्य अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के बिना अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध नहीं कर सकता। साहित्य अगर दर्पण है, तो प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की क्षमता उसमें होनी ही चाहिए। हाँ, साधारण दर्पण की ग्राह्य-सीमा संकुचित और एकदेशीय होती है, पर साहित्य-दर्पण विशाल है और वर्तमान को दर्शाते हुए अतीत को भी प्रतिबिम्बित करता है, साथ ही भविष्य का भी आभास देता है। इसलिए किसी भी साहित्य के विकास का परिचय प्राप्त करने से पूर्व उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझना और जानना अति आवश्यक हो जाता है। आज का हिन्दी-साहित्य-वृक्ष, जो युग-वक्ष पर अपनी शीतल, स्निग्ध और स्फूर्तिदायिनी छाया फैलाता जा रहा है, उसकी शाखाएँ भी उसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से पालित-पोषित हैं। इस पृष्ठभूमि की उत्कृष्टता पर ही साहित्य की उत्कृष्टता निर्भर करती है। यही पृष्ठभूमि उसकी उन्नति अथवा पराभव का कारण बनती है; यही उसे प्रेरणा देती है या गतिहीन बना डालती है। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के इस महत्त्व को दृष्टि में रखकर ही हम आज के हिन्दी साहित्य का यथोचित मूल्यांकन कर सकते हैं।

मोटे तौर पर हिन्दी साहित्य को हम आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल में विभाजित कर सकते हैं। यह विभाजन या अन्य विस्तृत विभाजन साहित्य में ऐसी नपी-तुली सीमांत रेखाएँ नहीं खींचते, जो एक काल की छाया दूसरे काल पर नहीं पड़ने देतीं अथवा यह सूचित करती हैं कि एक काल की विचार-धारा का संबंध दूसरी से नहीं होता। विचार-धाराएँ कभी भी सीमा-बद्ध नहीं होतीं। वे प्रवाहित होती रहती हैं, कभी वेग से, कभी क्षीण होकर। इन धाराओं की शिथिलता या प्रखरता का कारण वही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि होती है। काल-विभाजन का इतना ही प्रयोजन है कि वह एक विशाल विस्तृत रूप को पृथक्-पृथक् कर ग्रहण करने में सहायता पहुँचाता है और अन्त में सम्पूर्ण रूप या सत्य का बोध करा देता है। मध्यकाल से आदिकाल का

नितान्त विच्छेद और आधुनिक काल से मध्यकाल का पूर्ण दुराव हमें उचित और वांछित स्थल पर नहीं ले जा सकता। विभाजित होती हुई भी यह काल-परिधियाँ एक दूसरे को छूती हैं।

आदिकाल की साहित्यिक निधि वज्रयानी और सहजयानी सिद्धों, नाथ-पंथी योगियों, जैन धर्मावलंबियों और वीरता तथा शृंगार का वर्णन करनेवाले चारणों से प्राप्त होती है। इस काल के साहित्य में हमें किसी निश्चित गंतव्य अथवा संगठित अभियान की तैयारी नहीं मिलती। वह साहित्य न अंधकार में निमज्जित है, न प्रकाश से अभिभूत। जनता की रुचि-अरुचि का प्रश्न नहीं, वरन् साहित्यकार की ही रुचि उसे नचाये चलती है। भिन्न-भिन्न यानों और पन्थों का अर्थ ही होता है खण्डनात्मक प्रवृत्ति की प्रबलता और एक पर दूसरे की प्रधानता की भावना। सिद्धों और योगियों ने साहित्य को धर्म का वाहन बनाया, लेकिन सद्वृत्तियों के रत्नों की लदाई नहीं की; लादी उस पर कामुकता, आचार-विहीनता और इन्द्रियलोलुपता। कुछ ने संयम और आचार की बातें कीं, लेकिन समाज का एक बड़ा भाग उन्हीं का क्रीड़ा-क्षेत्र बना रहा। चारणों और भाटों की रचनाएँ भी सुसंबद्ध नहीं हैं। इन आश्रय-जीवी कवियों ने बहुत अंशों में झूठी प्रशंसा का राग अलापा है। वीरता जो एक दिव्य गुण है, उसका स्रोत यहाँ शृंगार ही मिलता है। तात्पर्य यह कि धर्म और वीरत्व इस काल के सिद्धों, योगियों और चारणों के विषय रहे; लेकिन फिर भी किसी दिव्य भावना, भव्य अनुभूति और परिष्कृत रुचि का बिम्ब नहीं दिखाई पड़ता।

इसका कारण हमें तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों के अवलोकन से प्राप्त हो सकता है; क्योंकि ये ही परिस्थितियाँ भावनाओं के स्रोत और निर्माण का कारण बनती हैं; उच्च राजनीतिक व्यवस्था, शांति तथा सुरक्षा का विधान करती हैं, जिसके फलस्वरूप साहित्य में उत्कृष्ट रचनाओं का प्रादुर्भाव होता है। सुसंगठित समाज व्यक्ति के स्वस्थ और पुष्ट मस्तिष्क का परिचायक होता है और आडम्बरहीन धर्म व्यक्ति के निर्मल, विकारहीन तथा प्रगतिशील विवेक का द्योतक। इस पृष्ठभूमि पर रचित साहित्य की उत्तमता अपार होती है। पर हमारे आदिकाल की यह पृष्ठभूमि ऐसी प्रौढ़ और सुव्यवस्थित नहीं थी। राजनीति पारस्परिक कलह और विदेशी आक्रमणों से पंगु बन गई थी। संगठन की भावना का सर्वथा लोप हो गया था। जनता के हृदय में इस ओर से पूर्ण उदासीनता थी।

धर्म की यह दशा थी कि वह प्रकाश का वाहक न बनकर चमत्कार प्रदर्शन करनेवाला जादूगर हो रहा था। उसकी ध्वनि जनता के लिए पहेली बन रही थी। व्यावहारिक-पक्ष में वह कल्याणप्रद नहीं था। अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति और उनके प्रदर्शन के लिए जैसे होड़ लग गई थी। कहीं-कहीं निष्ठा और संयम के भी स्वर सुनाई पड़ते थे, लेकिन उनकी स्थिति वैसी ही थी, जैसी झंझा-प्रताड़ित वातावरण में दीप की। सामाजिक स्थिति भी उत्साहवर्धक नहीं थी। उसमें भी अवनति के चिन्ह प्रकट होने लगे थे। श्रेष्ठता का मापदंड कर्तव्य नहीं रह गया था। उच्चता और लघुता जाति-पाँति के पलड़े पर तौली जा रही थी। छुआछूत की भावना बढ़ रही थी और श्रेष्ठता के भ्रम में समाज की विशालता संकीर्णता की ओर फिसलती जा रही थी।

साहित्य की अवस्था भी वही थी। उस काल के सामने संस्कृत, प्राकृत और देशी भाषाओं का साहित्य था। संस्कृत अपनी उच्चता पा चुकी थी। अब उसकी गिरावट के दिन नजर आ रहे थे। अलंकार और वर्णन-कौशल पर ही लेखनी की शक्ति की परीक्षा हो रही थी। प्राकृत की भी अवस्था उसी मार्ग का अनुसरण कर रही थी। अपभ्रंश और देशी भाषाओं की रचनाएँ अधिकतर धार्मिक विचारों को लेकर चल रही थीं। देश की उथल-पुथल, जनता की आकांक्षाओं और व्यक्ति के दायित्व की उन्हें चिन्ता नहीं थी। हर ओर नवोन्मेष का अभाव दिखाई दे रहा था।

इसी पृष्ठभूमि पर—राजनीतिक, सामाजिक, और धार्मिक अस्थिरता के इसी आधार पर हिन्दी के आदिकाल की आधार-शिला खड़ी हुई। हर ओर एक अव्यवस्था, असंगठन तथा उच्छृंखलता फैल रही थी और उसी का प्रतिबिम्ब लेकर साहित्य को आगे चलना था। जहाँ तक उसके गुण का संबंध है, उसने युग के प्रतिबिंब को ग्रहण किया; लेकिन कोई ऐसा व्यक्तित्व नहीं उत्पन्न किया जो उस अस्थिरता पर अपनी पैनी दृष्टि गड़ा कर उसके अन्तः को पढ़ सके तथा आगे का मार्ग प्रदर्शित कर भविष्य का आलोक दिखा सके।

इसके बाद हमारे सामने मध्यकाल आता है। मध्यकाल की साहित्यिक सृष्टि आदिकाल से बहुत अधिक और विभिन्न मार्गगामिनी हुई। धर्म ने साहित्य पर जो एकाधिकार स्थापित किया था वह सर्वथा नहीं मिटा, वरन् भिन्न-भिन्न दिशाओं में उसके शत-सहस्र स्रोत फूट निकले और इन स्रोतों में प्रवाहित-भक्ति का आवरण ओढ़े, जीवन की विलासिता ने भी अपना रूप सँवारा। फलस्वरूप शृंगारिक कविताओं का भी अंबार-सा लगा। चूँकि यह सब एक ही बार न होकर कालक्रमानुसार हुआ, इसलिए हम इस मध्यकाल की दो परिधियाँ खींचें—एक पूर्व मध्य की, दूसरी उत्तर-मध्य की।

पूर्व मध्यकाल की रचनाएँ भक्ति को लेकर चलीं। भक्ति की दो श्रेणियाँ हुईं—निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति। निर्गुण भक्ति के भी दो रूप हुए—एक ज्ञानमार्गी, दूसरा प्रेममार्गी। ज्ञानमार्गियों ने अपने सामने उपलब्ध सभी सामग्रियों को अपनाया—नाथपंथियों का योग, उपनिषदों का ज्ञान तथा भिन्न-भिन्न पौराणिक कथाएँ। सबसे अपने काम की चीजें लीं और उसे अपने योग्य बनाया। सामाजिक कुव्यवस्था तथा धार्मिक आडम्बर ने भी उन्हें सहायता पहुँचाई। जिस प्रकार भी इनके ज्ञान के प्रचार में सहायता पहुँची, उसे इन्होंने अपनाया। इसी लोभ ने इन्हें सूफियों के प्रेम को अपने ज्ञान के आश्रय में लेने को बाध्य किया। इस धारा के प्रवर्तक कबीर और उनके अनुयायी थे।

प्रेममार्गी रूप विशेषकर उन मुसलमान कवियों और फकीरों का था, जिन्होंने इस्लाम के प्रचार की महिमा तलवार के बल पर उचित न समझकर उदारता और सहानुभूति के मार्ग से उचित समझी थी। उन्होंने प्रेमाख्यान रचे और उनमें हिन्दू घरों की कहानी अपनाकर इस्लाम की रूह भर दी। हाँ, इस ओर सजग रहे कि कहीं जनता में अरुचि न फैलने पावे और इस हेतु उसी के रंग में अपने को प्रदर्शित किया। यह जायसी, कुतबन, मंझन आदि का कारवां था।

निर्गुण भक्ति के साथ ही सगुण भक्ति की धारा भी चली, जिसने जनता के हृदय को राम और कृष्ण की भावनाओं से आप्लावित किया। यह धारा बड़ी सबल रही। इसने ज्ञान की दुरूहता को एक ओर ठेलकर सगुण उपासना की बोधगम्यता उपस्थित की। फलस्वरूप रामभक्ति और कृष्णभक्ति शाखा जनता के आकर्षण का केन्द्र बनी और उसके संस्कारों के अनुरूप सिद्ध हुई। वर्षों अनन्तर यद्यपि इस पावन-पुनीत भक्ति शाखा के भी ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर हुए, फिर भी यह हिन्दी साहित्य की गौरव-पूर्ण निधि बनी रही। इसके प्रकाश-स्तंभ सूर और तुलसी थे।

अब हम उस पृष्ठभूमि को देखें, जिसने पूर्वमध्यकाल की उन भावनाओं को जन्म दिया। सर्वप्रथम राजनीतिक अवस्था को देखें, जो हर समय प्रधान स्थान रखती है। आदिकालीन राजनीति से मध्यकालीन राजनीति और भी अधिक संघर्षमयी और उद्वेलित थी। विदेशी आक्रमण रुके नहीं थे। देश के भीतर भी अशांति थी। पारस्परिक कलह और विद्वेष बढ़ते ही जा रहे थे। राजपूतों की वीरता आपस में ही तलवार बजाकर मिट रही थी। सर्वस्व लुटान को वे तैयार थे, पर मूँछ की ऐंठन ढीली करना नहीं चाहते थे। परिणाम-स्वरूप वे विदेशी आक्रमणकारियों के हाथ एक-एक कर परास्त हुए और देश पर परतंत्रता की जंजीरें झनझना उठीं। राजपूतों के राज्य छिन गये, तलवारों का जौहर पड़ा रह गया। जनता ने आँखों के सामने प्रतापी वीरों और राज्यों को मिटते देखा और साथ - साथ अपनी दुर्गति भी देखी। सोमनाथ का ध्वंस हुआ और अनेकानेक श्रद्धामयी मूर्तियों पर प्रहार हुए। जनता देखती रह गई, पर धर्म की हानि होने पर अवतार लेनेवाले प्रभु का आगमन नहीं हुआ। उसकी आस्था अपने ईश्वर से हटने लगी और प्रत्यक्ष तलवार-धारी का ही ईश्वर शक्तिशाली जान पड़ा। इस विकट स्थिति में कवियों के सामने भक्तिमार्ग के सिवाय और दूसरा चारा भी नहीं था। इसे एक तरह का पलायन-वाद ही समझना चाहिए, क्योंकि एक भी ऐसा कवि नहीं दिखाई पड़ता, जिसने आई विपत्ति का सामना करने के लिए संगठन की भेरी बजाई हो। कबीर की आवाज में सुधारक की फटकार है और तुलसी का काव्य परोक्ष रूप से चरित्र-गठन का संकेत करता है। सूर तो इन दोनों से नितांत अलग हैं। उनके हृदय में भक्ति की मस्ती और वेदना दोनों हैं। लेकिन यह भी एक आश्चर्य ही है कि ऐसी उथल-पुथल और संघर्षपूर्ण राजनीतिक स्थिति में भी भक्ति की आवाज निनादित होती रही। इस राजनीतिक-संघर्ष में राज्य-लिप्सा तो थी ही, साथ ही धर्म-प्रसार की भावना भी प्रबल थी। देश की तलवार विदेशी-राज्य-लिप्सा को पूर्णतः रोक रखने में भले ही असफल रह गई हो, पर धर्म-प्रसार की भावना को भक्त-कवियों ने एक शक्तिशाली चुनौती दी और इस तरह देश की प्राणरक्षा की।

सामाजिक अवस्था भी पतनोन्मुख थी। जातीय भेद-भाव का रंग काफी गहरा हो गया था। अब ऊँच-नीच की भावना का भी उन्मेष हुआ। जिनके राज्य छिन गये थे, वे अपने को जन-साधारण की पंक्ति में समझने को तैयार नहीं थे। साथ ही जिन लोगों ने नया-नया इस्लाम का बाना पहना था वे विधर्मी करार दिये गये और बड़ी भयानक घृणा उनके हृदय में भी भर गई।

नीच समझी जानेवाली जातियों में भी धीरे-धीरे घृणा की आग सुलग रही थी। जब उन्होंने देखा कि उच्च कहे जानेवाले लोगों में कोई वास्तविकता नहीं रह गई, तो उन्होंने भी उनकी उच्चता को चुनौती दे डाली। अगुआ कबीर हुए। अन्त्यजों के लिए इन्होंने ज्ञानमार्गी भक्ति की राह खोल दी और साफ-साफ एलान किया कि कोई छोटा-बड़ा नहीं, कर्तव्य छोटा और बड़ा बनाता है। ईश्वर की दृष्टि में सब समान हैं। समाज में जहाँ एक ओर इस तरह का विक्षोभ उत्पन्न हो रहा था, वहाँ दूसरी ओर सामंजस्य की भावना का भी उद्भव हो रहा था। हिन्दू और मुसलमान पड़ोसी बन कर एक दूसरे को समझने का प्रयास कर रहे थे। फलस्वरूप साहित्य के क्षेत्र में प्रेममार्गी सूफियों और कृष्ण की उपासना करनेवाले अनेक मुसलमान कवियों के दर्शन हुए। पहले की झिझक मिटती जा रही थी और उसकी जगह मुलायमियत आ गई थी। कुछ दूरदर्शी और नर्मदिल मुसलमान बादशाहों ने भी हिन्दुओं के प्रति अपनी सदाशयता दिखा कर और उनके व्यक्तित्व का आदर कर समाज को कुछ सप्राण किया। साहित्य के क्षेत्र में दोनों का सहयोग दोनों के सामाजिक जीवन के सामंजस्य का परिणाम है।

धार्मिक स्थिति भी डावाँडोल थी। मुसलमानों के क्रूर व्यवहार और धर्म-प्रसार से हिंसात्मक विधानों के कारण जनता के हृदय से आस्तिकता की भावना ही दूर होती जा रही थी। राजाओं का पराभव इसलिए हुआ कि उनके पास राज्य था, पर निरीह जनता पर बज्रप्रहार इसलिए हो रहा था कि वह काफिर थी, हिन्दू थी। दूसरी ओर शैव, शाक्त और वैष्णव अपनी खंडनात्मक और मंडनात्मक नीति में लगे हुए थे। कुछ अंशों में उन्होंने सिद्धों की गुह्य साधना को भी अपनाया। साथ ही मुसलमानों का एकेश्वरवाद और योगियों की उपासना-पद्धति का पल्ला पकड़ समाज का वह दलित अंश जाग रहा था, जिसे आज तक धर्म की छाया ही नहीं मिली थी। कुछ दूरदर्शी प्रवर्तकों ने विष्णु के अवतार की कल्पना की। राम और कृष्ण उनके रूप बतलाये गये। साहित्य में राम के जिस रूप की सृष्टि हुई, कृष्ण के उस रूप की नहीं हो सकी। उनका सरस रूप ही रखा गया, जो पीछे चल कर भक्ति की आड़ में विलास-वासना को प्रश्रय देनेवालों का सहारा बना। इस तरह धर्म के क्षेत्र में अनेकानेक आदर्शों की नींव पड़ी, जिन सबका प्रभाव इस काल के साहित्य में पाया जाता है।

राजनीति, समाज और धर्म की इसी पृष्ठभूमि में भक्तिकाल के साहित्य का निर्माण हुआ। भक्त कवियों और संप्रदायों का निर्माण करनेवालों को भले ही मुक्ति मिल गई अथवा आत्म-संतोष प्राप्त हुआ हो, पर वे ऐसे साहित्य की सर्जना नहीं कर सके, जिसकी दृष्टि व्यापक हो और जनता के अभावों को आँकने की जिसमें शक्ति हो। भक्त जिस ऊँचाई पर पहुँचकर टिका रह सकता है, वहाँ पूरा जन-समूह नहीं ठहर सकता। वह पृथ्वी का वासी है और निरन्तर मिट्टी की ओर ही उन्मुख होता है। इस क्रिया में वह भटकता है, गिरता है, पर भटकने और गिरने के दिन भी समाप्त होते हैं और उसे गंतव्य मिलता है। पूर्व मध्यकाल की भक्ति-भावना उत्तर मध्यकाल म भी चलती रही, पर पूरे रंग में नहीं। उत्तर मध्यकाल के साहित्यकार कुंभनदास के इस सिद्धांत, "संतन कहा सिकरी सों काम" को माननेवाले नहीं थे। उन्हें किसी न किसी तरह की 'सिकरी'

की बड़ी आवश्यकता थी। उस आवश्यकता की पूर्ति का साधन उन्होंने भक्तिकाल से एकत्र किया।

उत्तर मध्यकाल का साहित्य प्रधानतः रीति और शृंगार का साहित्य है। उक्ति-वैचित्र्य और शृंगार-वर्णन ही इसकी विशेषता है। यों तो पूर्व मध्यकालीन काव्य-परंपराएँ सर्वथा निर्मूल नहीं हो गई थीं, पर प्रमुखता रीति और शृंगार की ही थी। पूर्ववर्ती काव्य-परंपरा भी इस रंग से दूर नहीं हो सकी। रीति और शृंगार का रंग राधाकृष्ण-विषयक वर्णनों पर पूरा कसकर जमा, यहाँ तक कि राधाकृष्ण साधारण नायक-नायिका की श्रेणी में घसीट लाये गये। पूर्व मध्य से उत्तर मध्य में इतना अन्तर क्यों हुआ, इसका उत्तर तत्कालीन परिस्थितियाँ देंगी।

राजनीतिक पृष्ठभूमि कलहपूर्ण होती हुई भी सह्य हो गई थी। इस समय विशेषकर मुगलों का राज्य था, जिन्हें दरबार का ठाठ प्रिय था और राजा के रंग में रँगने के इच्छुक सामन्त तथा सरदार भी थे। ज्यों-ज्यों मुगल बादशाहत का अंत होता गया, त्यों-त्यों देशी शक्तियाँ उभरती गईं, स्वतंत्र होती गईं और मुगल दरबार का आदर्श अपने सामने रखती गईं। विलासिता, वैभव और झूठी प्रशंसा के इच्छुक इन राजाओं, सामन्तों और नवाबों के दरबारों ने अपने प्रशंसकों के लिए फाटक खोल दिये। शृंगार और उक्ति-वैचित्र्य मनोरंजन के तो साधन हैं ही, साथ ही उनको प्रोत्साहन भी मिला।

सामाजिक स्थिति भी शोचनीय थी। दुःख दूर करने के सामूहिक प्रयत्न होते दिखाई नहीं पड़ते थे। राजनीतिक कुव्यवस्था ने जिस विलासिता और लोलुपता को जन्म दिया था, वह केवल शोषण और उत्पीड़न पर आधारित थी। जन-साधारण के कष्टों की सुनवाई नहीं थी और स्वयं वह भी संगठित नहीं था। जनता के बीच से ही यदि कोई प्रभावशाली और प्रतिभा-संपन्न निकल सका, तो झूठी प्रशंसा सुनाकर तथा वाग्वैचित्र्य दिखाकर वह दरबार को प्रसन्न कर सकता था और अपना समय भी सानंद बिता सकता था। जन-साधारण की दृष्टि यद्यपि नैतिकता-पूर्ण थी फिर भी कोरे त्याग की भावना का लोप हो रहा था और लोग परलोक के साथ-साथ लोक की भी चिन्ता करने लगे थे। आदर्शवादिता यथार्थता को जन्म दे रही थी, बलिदान और त्याग का स्थान भोग की प्रवृत्ति ले रही थी। थोड़े परिश्रम से प्रतिभासंपन्न व्यक्ति वाहवाही और धन दोनों उपार्जित कर सकता था।

साहित्यिक पृष्ठभूमि की ओर देखने से पता चलता है कि भावनाओं की अभिव्यंजना पूर्ण मात्रा में पूर्ववर्ती भक्ति-काव्य में हो चुकी थी। सूफियों के प्रबन्ध, कबीर के गीत, मीरा के भजन, तुलसी के विनय के पद और सूर का गोपियों का विरह-वर्णन, सबके सब भावनाओं का भण्डार लेकर खड़े थे। दूसरी ओर परवर्ती संस्कृत-आचार्यों के लक्षण-ग्रन्थों की भरमार थी। अतः इस काल ने काव्य-प्रतिभा तथा आचार्यत्व दोनों को गुम्फित करने का प्रयत्न किया और फलस्वरूप रीति-परंपरा चल पड़ी। आचार्यत्व के प्रलोभन ने कभी-कभी इस काल की काव्य-प्रतिभा को अवरुद्ध कर डाला, पर यह धारा इतनी तीव्र और आकर्षक थी कि आचार्य और कवि अपनी सीमाओं और शक्ति को भूलकर इसमें संतरण का प्रयास करने लगे थे। जो भी हो, इस युग ने

यह प्रदर्शित कर दिया कि जनता कोरे त्याग और आदर्शों के चक्कर में और अधिक नहीं रह सकती थी। उसे भी अपनी प्रतिभा और शक्ति का मूल्य चाहिए था, भले ही वह प्रशंसा कर ही प्राप्त हो। तत्कालीन परिस्थिति में इससे अधिक संभव भी नहीं था।

यों तो हिन्दी साहित्य के कालों की कहानी संघर्ष और भीषण उथल-पुथल के मध्य से होकर गुजरी है, पर जो प्राञ्जलता और व्यापकता उसे आधुनिक काल में प्राप्त हुई वह पूर्ववर्ती कालों में उपलब्ध नहीं थी। यद्यपि अन्य कालों की भी पृष्ठभूमियाँ थीं, पर साहित्य ने जैसे अपने लिए छाँटकर, चुनकर एक अछूता मार्ग बना लिया था, जो जीवन और संघर्ष के चौकोर अंकन से नितांत अलग था। उसने जीवन के विशिष्ट रूपों, अंगों और तथ्यों का ही समावेश किया। समय के उलट-फेर और संघर्ष से वह उदासीन रह एक शाश्वत सत्य की टोह में लगा रहा। साथ ही उसकी अनुभूतियाँ विशेषकर पद्य में ही अभिव्यक्त हुईं। गद्य तो नाममात्र का था। पर आधुनिक काल अनेकानेक परिस्थितियों के संघर्ष और सामंजस्य का परिणाम है। पद्य के साथ-साथ यह गद्य की भी जोरदार कहानी है। वर्षों से पतनोन्मुख एवं जर्जर समाज के ऊर्ध्वमुख होने के प्रयत्नों, धार्मिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों को मिटा देने की प्रतिज्ञाओं तथा दासता की जंजीर को तोड़ फेंकने की क्रांतियों का यह सजीव चित्र है। इस युग के साहित्य ने चिर-उपेक्षित को श्रेष्ठासन पर बैठाया, जीवन को उसकी कुरूपता और सुंदरता के साथ ग्रहण किया और सीमा की प्राचीर गिरा कर उन्मुक्तता का दर्शन पाया। जीवन की अनुभूतियों को ग्रहण करने तथा उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए उसने अनेक अंगों और उपांगों की सृष्टि की। विपदाओं से यह जा भिड़ा, संघर्षों से मुँह नहीं मोड़ा और संगठन की रागिनी छेड़ पृथक्करण की भावना को दूर भगाया। नवीन चेतना और नवीन विचारों से सशक्त हो इसने नवजागरण का शंख फूँका। राष्ट्रीय चेतना इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। पूर्ववर्ती धाराओं का इस काल में नितांत लोप नहीं हो गया, लेकिन उनके ग्रहण और अभिव्यंजन की पद्धति बदल गई। भक्ति-काल की धारा एक नई सज-धज के साथ प्रवाहित हुई और वीरगाथा की धारा ने एक नई भावना से प्रेरणा ली। हाँ, जो धाराएँ अशक्त थीं, जिनमें सामर्थ्य नहीं थी, वे अवश्य मरणासन्न हो गईं। कबीर, सूर, तुलसी, चन्द, भूषण आदि कवियों का एक नया रूप हमारे सामने उपस्थित हुआ। इस काल में गद्य की बहुत अधिक रचनाएँ हुईं और उसका विकास भी विविधतासम्पन्न रहा।

आधुनिक काल की इस विशालता, सजीवता और सजगता का कारण उसकी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है।

राजनीति के क्षेत्र में शिवाजी के पदार्पण ने एक नई चेतना का प्रादुर्भाव किया। विशाल मुगल साम्राज्य को हराकर एक संगठित हिन्दू-राज्य कायम करना शिवाजी का लक्ष्य था। उन्होंने उन सभी गलतियों का परित्याग किया, जिनके कारण देश की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई थी। अपने संघर्षमय जीवन में वे छत्रपति हुए भी, लेकिन उनके दुर्बल उत्तराधिकारियों को मुगलों से हारते देर नहीं लगी। साथ ही मुगल सल्तनत की नींव भी हिल चुकी थी और औरंगजेब की मृत्यु ने उसे और भी दुर्बल बना डाला। मराठे पुनः राज्य-स्थापना का स्वप्न देख रहे थे कि नई विदेशी

शक्ति का पराक्रम बढ़ने लगा। यह शक्ति अंग्रेज जाति की थी। १७५७ में प्लासी की लड़ाई के बाद उनके पाँव निश्चित रूप से जम गये। फिर १८०३ में उन्होंने दिल्ली पर भी अधिकार जमा लिया। उनकी इस प्रभुता को देश के जागरूक व्यक्ति देख रहे थे, वे सोये नहीं थे। १८५७ में उन्हें उखाड़ फेंकने का प्रयत्न हुआ; पर संगठन की दुर्बलता के कारण वह सफल होकर भी अस-फल हुआ। कंपनी के हाथ से देश के शासन की बागडोर पार्लियामेंट के हाथ में गई और भारतीय संगठन तथा जातीय उत्साह को दबाने का बड़ा युक्तिपूर्ण प्रबन्ध हुआ। १८८५ में जिन उद्देश्यों को लेकर कांग्रेस की स्थापना हुई थी, वह उनसे बहुत दूर हो गई और स्वाधीनता-संग्राम का नेतृत्व करने लगी। बंग-भंग कानून ने स्वतंत्रता की ज्वाला को और भी प्रोत्साहन दिया और साथ ही अनेक क्रांतिकारी संस्थाओं की भी नींव पड़ी। प्रथम महायुद्ध ने भारत के प्रति अंग्रेजों की दुराशयता को और भी प्रकट किया। इसी समय गांधी जी ने कांग्रेस में प्रवेश किया। स्वतंत्रता-संग्राम की जड़ें दृढ़ होती गईं और जनता में अधिकार की भावनाएँ जोर पकड़ती गईं। गांधी जी के नेतृत्व ने देश को एक नई शक्ति दी और एक नई दिशा की ओर निर्देश किया। स्वराज्य के लिए सत्याग्रह का विधान हुआ, जो उत्तरोत्तर प्रबल होता गया। अंग्रेजों की नृशंसता भी बढ़ती गई। द्वितीय महायुद्ध छिड़ा और समाप्त हुआ। भारत ने सहयोग से हाथ खींचा और "भारत छोड़ो" का नारा बुलंद हुआ। नेता कारागार में डाल दिये गये, पर जनता ने क्रांति का शंख फूँका। भारतीय वीर-शिरोमणि सुभाष ने विदेशों में सैन्य संगठन कर दूसरी ओर से अंग्रेजों को ललकारा। फलस्वरूप देश स्वतंत्र हुआ, पर अंग्रेजों की कूटनीति ने देश का बँटवारा करा डाला। जल, थल एवं नभ पर सीमा की रेखाएँ खींचीं और साथ ही अलग होते-होते हिन्दू-मुसलमानों ने एक दूसरे के खून से होली खेली। फिर सब शांत हुआ। यह थी राजनीतिक परिस्थिति जिसका प्रभाव आधुनिक हिन्दी साहित्य पर बेजोड़ पड़ा।

धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों को हम स्वतंत्रता-संग्राम की प्रेरक शक्ति कह सकते हैं। इन आन्दोलनों ने इस संग्राम को दृढ़ता, विश्वास और संगठन की शक्ति प्रदान की। अंग्रेजों के आगमन से धार्मिक और सामाजिक शक्तियों को एक नई परिस्थिति का सामना करना पड़ा। अंग्रेज ज्ञान और विज्ञान की शक्ति से संपन्न थे। देश में उन्होंने इसके सहारे नये परिवर्तन किये। आने-जाने के नये साधन, नये कानून, छापने की नई मशीनें आदि के आविर्भाव ने समाज और धर्म के अंधविश्वासों, उसकी रूढ़ियों और जड़ता को एक चुनौती दी। इस चुनौती ने देश के सुप्त गौरव को झकझोर डाला। अतीत गौरव का स्मरण कर तथा वर्तमान की दुरवस्था को देखकर देशवासी सजग और भयभीत हो उठे। युग ने स्वामी दयानंद, राजा राममोहन राय, महादेव गोविंद रानडे प्रभृति व्यक्तियों को जन्म दिया, जिन्होंने आर्यसमाज, ब्रह्म-समाज, महाराष्ट्र समाज का संगठन कर देश के अंधकार को दूर भगाया। कुहासा फटा और एक नई चेतना से देश की शिराएं झनझना उठीं। लोगों ने पुरानी लकीरें छोड़ीं, नये प्रभात को पहचाना और इसके प्रकाश में अपने लुप्त गौरव को प्राप्त करने की चेष्टा की। इन्हीं प्रवृत्तियों ने राष्ट्रीय चेतना को जगाया। जब लहर में गति आई, तो उसने अनेकानेक लहरों को जन्म दिया। हिन्दी

को इस परिस्थिति में एक बहुत बड़ा पार्ट अदा करना था और उसे उसने सफलतापूर्वक निभाया।

इन परिस्थितियों के अलावा विज्ञान ने और दूर-दूर देशों के सम्पर्क तथा उनके विचारों एवं दर्शनों के आदान-प्रदान ने भी एक नई ज्योति जलाई। अंग्रेज पादरियों ने ईसाई धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया, जिसके लिए उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी को अपनाया। जनता के साथ विचारों के आदान-प्रदान के लिए भी एक भाषा की आवश्यकता महसूस हुई। साथ ही शासन-कार्य-संचालन के लिए अँगरेजी पढ़े-लिखे कर्मचारियों की भी आवश्यकता हुई। नये ढंग के स्कूल और कालेज खुले। हिन्दी का रूप सर्वप्रथम फोर्ट विलियम कालेज में गढ़ा गया।

हिन्दी साहित्य को इस बदलती परिस्थिति का सामना करना पड़ा। कविता के क्षेत्र में बिना परिवर्तन किये भी गद्य की नितांत आवश्यकता थी। हिन्दी ने युग की इस पुकार का स्वागत किया और भारतेन्दु युग ने हिन्दी गद्य का लालित्य प्रदर्शित किया। उसके बाद से तो उसका रूप बनता-सँवरता ही चला गया। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों पड़ हिन्दी का सरल-सुष्ठु रूप सामने आया। बाद में पद्य के क्षेत्र में भी खड़ी बोली में प्रयास हुए और आज तो वह एक सर्वांगीण और सशक्त भाषा है। आज जो उसे राष्ट्रभाषा और राजभाषा का पद मिलने जा रहा है, इसका कारण उसकी व्यापकता और सुबोधता तो है ही, साथ ही उसकी संघर्ष करने की शक्ति और दायित्व की भावना भी है।

हिंदी साहित्य : एक विहंगम दृष्टि

श्री हरिमोहन प्रसाद श्रीवास्तव, एम० ए०, ओ० ई० एस०

हिंदी भाषा की झलक आठवीं शताब्दी से ही मिलने लगती है। लोकजीवन से उद्भूत लोक-भाषा को माध्यम बनाकर सिद्धों ने इस भाषा में काव्य-रचना प्रारंभ की थी। यद्यपि उस काल की भाषा पर अनेक प्रांतीय भाषाओं, यथा मराठी, उड़िया, बँगला, आसामी, गोरखा, पंजाबी, गुजराती आदि का उतना ही अधिकार है जितना हिंदी का; किंतु इससे यह बात अवश्य प्रकट हो जाती है कि इन सब भाषाओं से हिंदी का मूलतः भेद नहीं है, और जब आज हिंदी राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकी है, उसे इस बात का गर्व होना चाहिए कि उसका एक बहुत बड़ा परिवार है जिसके प्रत्येक सदस्य ने अपने-अपने साहित्य की एक विशाल संपत्ति खड़ी कर ली है, जो उसी की है। हिंदी साहित्य के इतिहास में इन सभी भाषाओं के साहित्यकारों को यथायोग्य स्थान जब तक नहीं दिया जायगा, तब तक हिंदी का इतिहास न तो पूरा कहा जा सकेगा और न उसकी व्यापकता ही बढ़ सकेगी। हिंदी ने अन्य प्रांतीय भाषाओं पर अपना व्यापक प्रभाव डाला है और उनसे यथेष्ट रूप में प्रभावित भी हुई है; किंतु साहित्य के इतिहासकारों ने हिंदी के विकास की जो सीमा-रेखा खींची है, उसके अनुसार हिंदी साहित्य का विभाजन निम्नलिखित कालों में किया जा सकता है—

१. आदिकाल (८वीं शताब्दी से ११वीं शताब्दी तक)
२. वीरगाथाकाल अथवा मिश्रित काल (११वीं से १४वीं शताब्दी तक)
३. भक्तिकाल (१४वीं से १७वीं शताब्दी तक)
४. श्रृंगारकाल (१६वीं से १९वीं शताब्दी तक)
५. आधुनिककाल (१९वीं से अद्याधुना)

८वीं से लेकर ११वीं शताब्दी तक का काल एक मिश्रित युग है, जिसमें अनेक धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक परिवर्तन होते हैं; अनेक विचारधाराओं का आगमन और विलयन होता है तथा अनेक भाषाओं को हम खड़ी होते देखते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह युग बाहरी आक्रमणों और भीतरी फूट का युग है। बौद्धधर्म के पतन के परिणाम-स्वरूप महायानशाखा शैव-संप्रदाय का सहारा लेकर वज्रयान के रूप में तंत्र, मंत्र, पंचमकारों के वामाचारीय रूप को लेकर जनता को आश्चर्य-चकित कर रही थी; नाथपंथी साधु विशुद्ध शैवमार्ग की यौगिक प्रणाली पर चल रहे थे; सिद्धों की संध्या भाषा, नाथों की सधुक्कड़ी भाषा और जैनियों द्वारा प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा के

विकास का यही युग था। यह एक अजीब घोलमेल का समय था, इसीलिए सामाजिक अथवा साहित्यिक चित्तवृत्ति के अनुसार साहित्यकारों को इस युग के नामकरण में कठिनाइयाँ हुई हैं। यद्यपि महापंडित राहुल ने इसको सिद्ध-सामंत युग कहा है; किंतु यह नाम उस युग की आत्मा को पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं कर पाता है। अस्तु, बहुत उपयुक्त न होते हुए भी आदिकाल के अतिरिक्त कोई दूसरा नाम अब तक जम नहीं पाया है।

तीन सौ वर्षों में रचित साहित्य के भीतर पैठकर जब प्राप्त सामग्री के आधार पर हम इसकी आत्मा को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं तो वह हमें दो गवाक्षों के पास भटकाती है, एक तो बिलकुल आध्यात्मिक, दूसरा साहित्यिक। आध्यात्मिक झरोखे का दृश्य बड़ा ही कुतूहलपूर्ण, रोचक और भयकारी है। एक ओर वज्रयानी संप्रदाय के ८४ सिद्ध अपने अलौकिक चमत्कारों से जनता के ऊपर प्रभाव का आतंक जमा रहे थे। उनकी साधना के साधन मद्य और मानिनी (डोमिन से लेकर धोबिन तक) बने हुए थे; बिना इनके निर्मुक्त सेवन के 'महासुख' की प्राप्ति असंभव थी। युगनद्ध (स्त्री-पुरुष) नग्न सहवास की मुद्राएँ प्रचलित हुईं और इनमें रहस्य की गुह्य भावना का समावेश करके दूसरा सांकेतिक अर्थ भी व्यंजित करने का प्रयास किया गया। विलास और व्यभिचार के अतिरिक्त (जो निरर्थक ही सिद्ध हुआ) जनता पर आध्यात्मिकता का प्रभाव तो न पड़ा, हाँ समाज में एक चरित्रहीनता की लहर दौड़ गई। कौलाचार और कापालिक मत इन्हीं वज्रयानियों की देन हैं। इनके काव्य की भाषा देशी मिश्रित अपभ्रंश थी। महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री ने बँगला अक्षरों में जब 'दोहाकोश' प्रकाशित कराया तब इनकी सूचना मिली। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भी वज्रयान संबंधी अनेक रचनाओं का उद्धार किया और नागरी लिपि में "बौद्ध गान व दोहा" का संपादन किया है। इन ८४ सिद्धों—यथा सरहपा, लुइपा, कण्हपा आदि—नामों के अन्त में "पा" शब्द आदरसूचक भाव से जोड़े जाने की प्रथा थी।

दूसरी ओर नाथसंप्रदायवालों की दशा इनसे बहुत अच्छी मिलेगी। यद्यपि कुछ लोगों ने नाथपंथियों को वज्रयानियों के भीतर ही मिलाकर देखने की चेष्टा की है किंतु यह भ्रम इसलिए हो गया है कि इन योगियों में भी शिव-शक्ति की भावना के कारण शृंगार का आभास दिखलाई पड़ता है, यद्यपि वज्रयानियों के व्यभिचारी आचरण से ये बिलकुल अलग रहे। वास्तव में इन पर पंतजलि के योग-दर्शन का प्रभाव हठयोग के रूप में पड़ा था। इन नाथों की संख्या नौ रही है। सिद्ध जलंधर को आदिनाथ माना गया है। हिंदी के आदिकालीन साहित्य के ऊपर जितना प्रभाव इन नाथों का पड़ा है, उतना सिद्धों का नहीं। तत्कालीन हिंदू जनता के साथ ही साथ मुसलमानों पर भी इनके ईश्वरवाद का प्रभाव पड़ा; क्योंकि जहाँ ये हठयोगी पद्धति पर ईश्वर में विश्वास करते थे, वहीं मूर्तिपूजा, तीर्थ-यात्रा जैसे पाखंडों का खंडन भी। अंतस्साधना को प्रधान लक्ष्य मानकर बाह्याडंबरों की व्यर्थता पर इन लोगों ने करारी चोट की थी। इनका विश्वास था कि नाद और बिन्दु के योग से जगत् की उत्पत्ति हुई है। सिद्धों का यह प्रभाव लक्ष्य करने योग्य है। नाथों में गुरु गोरखनाथ का साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्त्व है। ऐसा कहा

जाता है कि हिंदी गद्य के आद्य लेखक भी गोरखनाथ ही थे; किंतु यह सत्य नहीं है। गोरखसार की भाषा से और उसमें वर्णित विषय के ढंग से प्रतीत होता है कि वह गोरखनाथ के किसी शिष्य द्वारा बाद में लिखा गया होगा।

परवर्ती काल में इन सिद्धों और नाथों की रचनाओं का प्रभाव निर्गुणोपासक कवियों पर खूब पड़ा। कबीर का योगदर्शन, हिंदू-मुसलमानों को उनकी फटकार, पूजा, तीर्थाटन का तिरस्कार, उलटवासियाँ, रहस्य-भावना आदि इन्हीं नाथों और सिद्धों के प्रभाव हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने इनको साहित्य की कोटि में जो नहीं माना है, वह बहुत अंशों तक गलत नहीं है। वास्तव में साधारण जनता पर इनका आध्यात्मिक प्रभाव भले ही रहा हो; किंतु साहित्य के लिए जिस रागात्मिका वृत्ति को प्रेरित करने की आवश्यकता होती है, कम से कम वह तो सिद्धों और नाथों के साहित्य में नहीं मिलती। साथ ही साथ साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग भाषा होता है, उसके अध्ययन के निमित्त इनकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि सिद्धों और नाथों का साहित्य एक विशिष्ट ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य रखता है किंतु उसमें उतनी साहित्यिक गरिमा नहीं है।

दूसरे झरोखे से आपको निश्चय ही साहित्य की छविमयी झाँकी मिलेगी। स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल और अब्दुर्रहमान के काव्य निश्चय ही साहित्य के गौरव ग्रंथ हैं। इनमें अब्दुर्रहमान (अद्दहमाण) को छोड़कर प्रायः सभी कवि जैन थे। स्वयंभू बहुत ही सशक्त कवि थे—प्रकृति के अध्ययन और प्रकृति के वर्णन में बेजोड़ थे। नारी-रूप-वर्णन और तत्कालीन सामन्तों की विलास-केलि को जैसे कवि ने बहुत निकट से देखा था। ये व्याकरण और छन्दशास्त्र के भी अद्भुत ज्ञाता थे। पउमचरिउ, हरिवंश पुराण, काव्य ग्रंथों के अतिरिक्त स्वयंभू छन्द नाम से इनका एक प्रसिद्ध छन्द ग्रंथ भी है। इस प्रकार पुष्पदंत का भी जैन साहित्य में बहुत ही ऊँचा स्थान है। इनकी अनेक कृतियों का पता चलता है—महापुराण, जसहरचरिउ तथा णायकुमार-चरिउ। ये बहुत ही करुण और स्वाभिमानी थे। कुछ लोगों ने शिवसिंह सेंगर द्वारा उल्लिखित कवि पुष्प के साथ इनका साम्य खोजना चाहा है। इन जैन कवियों में अनेक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण कवि हुए हैं जैसे हेमचन्द्र, सोमप्रभ सूरि, विनयचंद्र सूरि, धर्मसूरि तथा विजयसिंह सूरि आदि। किंतु ये परवर्ती कवि हैं और इनके समय तक आते-आते हिंदी कविता का मौलिक विकास होना प्रारंभ हो गया था।

"संदेस रासक" का लेखक अब्दुर्रहमान हिन्दी का पहला मुसलिम कवि है। लोक-जीवन की कथाओं को लेकर इस कवि ने अत्यंत मार्मिक ढंग से काव्य-रचना की है। इसकी भाषा अव-हट्ठ थी, बाद में जिसकी सूचना ज्योतिरीश्वर के वर्णरत्नाकर और विद्यापति की कीर्तिलता में मिलती है।

जैन कवियों की भाषा अपभ्रंश है। इस भाषा के साहित्य पर प्रायः सभी उत्तर-पूर्वी भाषाओं का समानाधिकार है। कहना न होगा कि अपभ्रंश साहित्य की अमूल्य संपत्ति का उद्धार करने में विदेशी विद्वानों यथा हरमन याकोबी, पिशेल प्रभृति का बहुत हाथ रहा है। एक समय

ऐसा भी था जब अपभ्रंश की रचना साहित्य के उच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी और उसने लोक-जीवन से अनेक तत्त्वों को ग्रहण कर परवर्ती साहित्य में अनेक परम्पराएँ स्थापित कीं। कालान्तर में इस भाषा का स्थान देशी भाषा ने ले लिया।

आदिकालीन साहित्य की उपलब्धि के लिए जहाँ हम विदेशी विद्वानों के प्रति कृतज्ञ हैं, वहीं हमारे यहाँ के विद्वानों ने भी इस दिशा में अत्यंत प्रशंसनीय कार्य किये हैं। प्रो० हीरालाल जैन, राहुल सांकृत्यायन, मुनि जिनविजय जी, आदिनाथ उपाध्ये, नाथूराम प्रेमी, पी० एल० वैद्य आदि ने अपने अथक परिश्रम से इसका उद्धार ही नहीं, संशोधन और संपादन भी किया है। पहले अपभ्रंश का साहित्य जितना अंधकाराच्छन्न था उतना अब नहीं रह गया है। नये-नये ग्रंथों के प्रकाश में आ जाने के कारण इसके संबंध में उठनेवाली बहुत-सी आशंकाओं का निवारण हो गया है और कालान्तर में परवर्ती साहित्य पर इसका कितना अधिक प्रभाव पड़ा है, यह स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। हिन्दी में मात्रिक छंदों की देन अपभ्रंश की ही विशेषता है। राग-रागिनियों में गाये जानेवाले गीतों की परम्परा जहाँ जयदेव से मानी जाती थी, अब उसका श्रेय भी सिद्धों को ही देना पड़ेगा। रासक की परम्परा और लोक-जीवन में प्रचलित कथा आख्यायिकों तथा कथानक रूढ़ियों का बाद में अपनाया जाना, जीवन की भूमि से उठे हुए इसी साहित्य की देन है।

वीरगाथाकाल अथवा मिश्रित-काल

अपभ्रंश साहित्य के बाद का जो साहित्य इतिहासकारों द्वारा कालानुसार विभाजित किया गया उसे वीरगाथाकाल के नाम से जाना जाता है। आधुनिक खोजों के अनुसार जिस प्रकार के साहित्य के कारण यह नाम दिया गया है, अब उसके आधार पर इस नाम का बहुत अधिक महत्त्व नहीं रह गया है। खुमान रासो, बीसल देव रासो तथा पृथ्वीराज रासो में से पहली दो तो बहुत बाद की रचनाएँ सिद्ध हो गई हैं। (१) पृथ्वीराज रासो के संबंध में भी बहुत बड़ा विवाद उठा था; किंतु मुनि जिनविजय जी को जब से पाँच छप्पय रासो के प्राचीन ग्रंथों में मिल गये तब से यह तो नहीं कहा जा सकता कि रासो पूरा का पूरा जाल है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि रासो का जो बृहत् रूप आज है, वह वास्तव में उतना बड़ा नहीं था। अनेक प्रक्षिप्त अंश जोड़ दिये गये हैं। ग्यारहवीं से लेकर १४वीं शताब्दी तक का काल ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत उथल-पुथल का था। युद्ध और विलास दो वस्तुएँ राजन्यवर्ग की शोभा थीं। अस्तु, चारणों ने या तो राजा की प्रशंसा करके अपनी ओजस्विनी वाणी से उनको युद्ध के समय उत्साहित किया अथवा उनकी तुष्टि के लिए शृंगार-प्रधान कविताओं की रचनाएँ कीं। वीर और शृंगार रस की प्रवृत्ति तत्कालीन काव्य में प्रकट है, जो बहुधा प्रबन्ध और वीरगीतों के रूपों में अभिव्यक्त हुई। शुक्ल जी ने इसी आधार पर इसका नाम वीरगाथाकाल रखा था। इस नाम की सार्थकता के लिए पृष्ठभूमि में ऐतिहासिक घटनाओं और परिस्थितियों के सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती (किंतु जो आधार था उसी के सन्दिग्ध हो उठने पर यह प्रश्न विचारणीय

अवश्य हो सकता है। फिर "प्राकृत पैंगलम" में पाये गये अनेक कवियों के फुटकल उद्धरण जो हिंदी से संबंधित हैं, उनको भी विचार की वस्तु बनाना चाहिए था। गुरुवर डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी जी ने उन गुजराती रचनाओं की—जिनका कुछ न कुछ संबंध हिंदी से है—ओर भी संकेत किया है, और यह सुझाया है कि उन्हें भी साहित्य के इतिहासकारों को परखना चाहिए था। जो भी हो, भट्ट केदार, मधुकर, जगनिक और श्रीधर ऐसे कवि भी हैं जिनमें वीरगाथा की प्रवृत्तियों का आभास दिखलाई पड़ता है। इन कवियों ने क्रमशः "जयचंदप्रकाश" (महाकाव्य), जयमयंक-जस-चंद्रिका, आल्हा, तथा रणमल छन्द नामक ग्रंथ रचे जिनमें से दो की तो केवल सिंधायक दयालदास कृत "राठौड़ा री ख्यात" से सूचना मिलती है। आल्हा के काव्य का ग्रन्थ अब तक कहीं नहीं मिला, केवल उसके गीत गानेवालों तक ही सीमित हैं। इस दृष्टि से भी इसे वीरगाथा-काल का मानना अधिक उपयुक्त नहीं लगता। इन सब के अतिरिक्त वे अन्य कवि ही वास्तविक रूप से मुख्य हो उठे हैं जो फुटकल में डाल दिये गये हैं। अस्तु, इस काल का नामकरण या तो खुसरो और विद्यापति के काव्य के आधार पर करना चाहिए था अथवा आदि-काल की सीमा-रेखा को कुछ और दूर तक खींच देना चाहिए था।

इस काल को मिश्रित अथवा उदय-काल कहने का मेरा तात्पर्य केवल यही है कि इसमें अनेक प्रकार की भाषाओं का प्रयोग अथवा मिश्रण दिखलाई पड़ता है। छन कर कोई साफ-सुथरी भाषा नहीं आई थी। किंतु इससे सभी साहित्यिक प्रवृत्तियों यथा कथानक रूढ़ियों, कवि-समय, छंद-पद्धति और काव्यरूपों का पूरा-पूरा प्रभाव परवर्ती साहित्य पर पड़ा है। इसने लौकिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से हिंदी को अपनी संपूर्ण विरासत सौंपी है इसलिए इसकी उपेक्षा तो की ही नहीं जा सकती। सच तो यह है कि हिंदी इस काल के सभी प्राण-तत्त्वों को लेकर अपनी नवीन काया में उदित हुई है। जिस प्रकार माता के सभी गुणों को ग्रहण कर सन्तान उसके शरीर से बाहर आ जाने पर अपनी एक अलग सत्ता स्थापित कर लेती है, उसी प्रकार हिंदी ने कालान्तर में अपने नये परिवेश में अलग से ही अपनी एक इयत्ता बना ली। खुसरो प्रभृति कवियों का काल यही था। हिंदी भाषा अथवा खड़ी बोली की स्पष्ट रूप-रेखा का पता खुसरो से ही चलता है। बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न और सर्वथा मौलिक ढंग से प्रयोगवादी इस व्यक्ति ने हिन्दी साहित्य और भाषा को ही नहीं, वरन् भारतीय संस्कृति के अनेक कलात्मक पक्षों को प्रभावित किया है यथा साहित्य, भाषा, छंद तथा संगीत-वाद्य, कंठ्य आदि। नवीनता और आविष्कार की वृत्ति जैसे इसमें सहज रूप से प्रकृति-प्रदत्त थी।

पश्चिम की ओर जहाँ खुसरो की भाषा में साहित्य का रूप अपना नवीन रूप ग्रहण कर रहा था, वहीं हिंदी की पूर्वी भाषा में विद्यापति जैसे महान् कवि का अभ्युदय भी १४६० के आसपास तिरहुत के राजा शिवसिंह के समय में हुआ। इनके कृष्ण-लीला-संबंधी पदों ने कृष्ण-भक्ति साहित्य पर व्यापक प्रभाव डाला। मिथिला से लेकर बंगाल तक घर-घर इनके गीत मधुर कंठस्वरों में गूँजते रहे। चैतन्य महाप्रभु तो विद्यापति के गीतों को गाते-गाते बेहोश तक हो जाते

थे। गंडकी के किनारों की उदासी को संभवतः मैथिल-कोकिल के उपरांत आज तक कोई दूर नहीं कर पाया।

भक्ति-काल

वीरगाथा-काल के समाप्त होते-होते साहित्य को प्रभावित करने के अनेक कारणों का संयोग अपने-आप हो गया। देश की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक स्थितियों का संघटन कुछ इस प्रकार हुआ कि जनमानस की चित्तवृत्तियों का स्वरूप इस योग्य हो गया कि संभावित अनेक नवीनताओं को ग्रहण कर सके। क्रमशः मुसलमानी शासकों के आतंक और राजपूत रजवाड़ों के आपसी झगड़ों ने जनता के जीवन से सारे उत्साह और उल्लास को समाप्त कर दिया था। नाथों, सिद्धों और सन्तों की यौगिक पद्धति के चमत्कार का प्रभाव जनता पर अवश्य था; किंतु उनकी रूखी उपासना-पद्धति हृदय की रागात्मिका वृत्ति को कोई उत्तेजना देने में समर्थ नहीं हो पा रही थी। ऐसे सिद्धों और नाथों ने जहाँ एक ओर अन्धविश्वास, रूढ़ि, परंपरा, कर्मकांड, तीर्थाटन आदि के रहस्यों का पर्दाफाश किया, वहीं दूसरी ओर उनके "यानों" की अवस्था स्वतः विलासिता के मायाचक्र में पड़कर निन्दनीय हो गई थी। मानव की श्रद्धा, उपासना और माधुर्य-भावनाओं को कहीं शरण नहीं थी। ऐसे ही समय में दक्षिण से जो भक्ति की लहर उठी वह धीरे-धीरे उत्तर तक व्याप्त हो गई। सन् १६७३ में रामानुजाचार्य ने जिस सगुण भक्ति का प्रवर्तन किया था, वही जनता के लिए वरदान बन गई और प्रतिभाशाली कवियों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो गया।

भक्ति-काल की मुख्य साहित्य-विधाओं को देखते हुए विद्वानों ने उसे दो भागों में विभाजित कर दिया है—निर्गुणात्मक और सगुणात्मक। इन दोनों में भी दो-दो शाखाएँ हैं। निर्गुणभक्ति को ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी तथा सगुण भक्ति को कृष्ण-संबंधी तथा राम-संबंधी संप्रदायों में बाँटा जा सकता है।

निराकार ब्रह्म को माननेवाले निर्गुणवादियों ने उपनिषदों के ब्रह्मज्ञान और योग-साधना को मिलाकर अपने काव्यदर्शन को प्रतिपादित किया है। कहना न होगा कि यह भारतीयों के लिए कोई नई वस्तु नहीं थी। हाँ, एक जो बहुत बड़ा लाभ और उपकार इस प्रकार के कवियों द्वारा हुआ वह यह कि दलित, जड़ और मिथ्याडंबरों में फँसी जनता को एक ऐसी दृष्टि और तेजस्विता अवश्य मिली, जिससे उनके अन्दर अपने को कुछ समझने की भावना जागृत हुई। वैसे इनका प्रभाव शिष्ट और समुन्नत समझे जानेवाले उच्च वर्ण के लोगों पर तो न पड़ा किंतु शूद्र और अस्पृश्य समझी जानेवाली जातियों ने इस मार्ग का अनुसरण किया। कबीर, दादू, रैदास, धर्म-दास, नानक, सुन्दरदास, मलूकदास आदि अनेक कवि हुए हैं जिनकी वाणियाँ आज भी झाँझ-करताल के साथ संगीतमय लहरी में उत्तर भारत के गाँवों और नगरों को गुँजाती रहती हैं। कुछ कवि तो अत्यन्त ही प्रतिभाशाली थे जैसे कबीर, दादू, मलूकदास आदि। इनमें सबसे ऊँचा स्थान कबीरदास का है। जीवन की जीवित अनुभूतियों को लेकर इस मसि और कागद न छूनेवाले

कवि ने अपनी अनगढ़ भाषा में ही ऐसे काव्यरत्नों को प्रसूत किया है, जिनकी मौलिकता से परवर्ती कवि प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। आधुनिक काल में भी रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसी प्रतिभाओं ने काव्य में जीवन-दर्शन का जो कुछ दृष्टिकोण व्यक्त किया है, उसमें कबीर की अनुभूतियों का बहुत बड़ा हाथ है। लौकिक माध्यम से अलौकिकता का स्पर्श करानेवाले पद साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। निर्बंध जीवन और मुक्त-चिन्तन, श्रद्धा-विगलित हृदय और समूचे विश्व के पाखण्डों को चुनौती देनेवाला कबीर का अहम् एक अद्भुत आकर्षण रखता है।

सूफी सन्तों के प्रभाव से विकसित होनेवाली निर्गुण धारा का एक दूसरा प्रेममार्गी रूप है। इन कवियों ने प्रायः लोक-जीवन में प्रचलित प्रेम-कथाओं को आधार बनाकर ब्रह्म से मिलने का प्रयास किया है। प्रेम की जिस शुद्ध पीड़ा को लेकर ये कवि चले हैं, वह सम्पूर्ण रूप से मानवीय है। किसी विशेष संप्रदाय अथवा मत-प्रतिपादन की उसमें छूत तक नहीं दिखलाई पड़ती। सम्भवतः यही कारण है कि इनके प्रेम ने मुसलमानों को भी अपनी ओर उसी तरह आकर्षित किया जिस तरह हिंदुओं को किया था। इस धारा के बहुत थोड़े कवियों का नाम इतिहास में आता है जैसे कुतुबन, मंझन, जायसी, कासिमशाह, नूरमुहम्मद आदि। इनकी रचनाएँ हैं क्रमशः मृगावती, मधुमालती, पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम, हंस-जवाहिर, रौजतुल हकामत, अनुराग-बाँसुरी और इंद्रावती। मंझनकृत मधुमालती हाल ही में श्री शिवगोपाल द्वारा संपादित होकर प्रकाश में आई है, जिसका साहित्यिक मूल्यांकन उचित प्रकार से किया जायगा किंतु इन सबमें श्रेष्ठ कवि जायसी हैं जिनका पद्मावत हिंदी साहित्य का अनूठा रत्न है। वैसे कहा जाता है कि जायसी के चार ग्रंथ—मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावली हैं। शुक्ल जी को मृगावती और मधुमालती का पता तो चल गया था किंतु शेष दो उनको नहीं मिल सके थे।

सूफी संत-परंपरा से प्रभावित इन प्रेममार्गी कवियों में प्रायः मुसलमान ही हैं। एक पंजाबी हिंदू सूरदास ने "नलदमयंती कथा" नाम से एक कहानी लिखी थी, पर वह निकृष्ट कोटि की थी। वैसे कालान्तर में "चतुर्मुकुट की कथा" तथा "यूसुफ जुलेखा" नाम से दो ग्रन्थ और लिखे गये पर बाद में यह परंपरा समाप्त हो गई।

इन प्रेममार्गी कवियों ने मुसलमान होकर भी हिंदू कथाओं को अपने काव्य का माध्यम बनाया था, हिन्दुओं की भाषा को अपनाकर सूफी भावों की अभिव्यक्ति की थी, इसलिए इन लोगों ने इन दो जातियों के बीच जैसे मध्यस्थ का कार्य किया और शुद्ध हृदय की पीड़ा तथा विरह की तीव्र अनुभूतियों द्वारा दोनों संप्रदायों के हृदय को बिलकुल निकट ला दिया। प्रायः रूप (छन्द) और वस्तु, दोनों ही दृष्टियों से इन कवियों में कोई विशेष अन्तर नहीं था। पाँच-पाँच चौपाई के बाद दोहा रखने की प्रवृत्ति थी। किंतु नूरमुहम्मद ने दोहे के स्थान पर बरवै का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं इन कवियों में योग-संबंधी बातों की झलक भी दिखलाई पड़ जाती है पर प्रेमिका, प्रेमी, दूत, विरह, प्रयत्न और मिलन जैसे इनके काव्य के संधिस्थल हैं जो प्रायः जीव, गुरु, पीड़ा, गोरखधंधा और जीव-ब्रह्म-मिलन के प्रतीक लगते हैं।

भक्ति की दूसरी धारा सगुणोपासना की हैं। इसमें विष्णु के दो अवतारों राम और

कृष्ण को लेकर दो धार्मिक संप्रदायों की स्थापना क्रमशः रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य जी ने की थी। रामानुजाचार्य द्वारा प्रवर्तित श्री संप्रदाय की बागडोर जब राघवानन्द जी के बाद रामानन्द जी के हाथ में आई तो उन्होंने भक्ति का द्वार मनुष्य-मात्र के लिए खोल दिया। यद्यपि वे लोकहित के लिए वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा नहीं करते थे तथापि उपासना के क्षेत्र में वे जातिपाँति, वर्ण-भेद जैसी तुच्छ भावनाओं को भी प्रश्रय नहीं देते थे। इसी का परिणाम था कि उनके बारह शिष्यों (अनंतानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानंद, नरहर्यानंद, भावानंद, पीपा, कबीर, सेन, घना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी) में कबीरदास और रैदास जैसे भी प्रमुख शिष्य थे। इन्हीं शिष्यों ने रामानन्द जी के मत का प्रचार और विस्तार करके गद्दियाँ स्थापित कीं, जिनके द्वारा रामभक्ति का निरंतर विकास होता गया। राम को आराध्य देव मानकर अनेक भक्ति-संबंधी छिटपुट पद गाये जाते रहे। किंतु कालांतर में चलकर गोस्वामी तुलसीदास जी जैसे विश्वकवियों में श्रेष्ठ कवि ने अपनी अमृत वाणी द्वारा हिंदी साहित्य को एक ऊँचे धरातल पर ला खड़ा किया। इस विश्वशिरोमणि कवि ने "रामचरितमानस" की रचना कर तत्कालीन धर्म, ज्ञान, दर्शन और अध्यात्म-संबंधी अनेक विवादों, शैव और वैष्णवों के झगड़ों तथा राजनीतिक स्थितियों के कारण हताश जनता में समन्वय की भावना भरी और उनकी टूटती हुई वह श्रद्धाभक्ति जो निर्गुणवादियों के निराकार ब्रह्म और यौगिक पद्धति द्वारा पथच्युत कर दी गई थी, उसमें फिर से एकत्व और प्राण-संजीवनी का संचार किया। उन्होंने केवल नाना-पुराण-निगम-आगमों से तत्त्व ग्रहण कर रामचरितमानस को एक पौराणिक शक्ति ही नहीं प्रदान की वरन् जीवन के सभी क्षेत्रों से अनुभूति ग्रहण कर तत्कालीन प्रचलित सभी काव्यरूपों और भाषा-पद्धतियों को अपनाकर साहित्य में नवीन प्रयोग भी किया। अपने पूर्ववर्ती छप्पय, कवित्त, पद, दोहा-चौपाई से लेकर घर-घर में गाये जानेवाले सोहर तथा नहछू जैसे लोक-छन्दों में अपनी मधुर रचनाएँ कीं। जहाँ हम शुद्ध अवधी का स्वरूप जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, बरवैरामायण और रामलला-नहछू आदि में पाते हैं वहीं विनयपत्रिका, गीतावली और कृष्णगीतावली में ब्रजभाषा के माधुर्य का आस्वादन भी करते हैं। यही नहीं, उन्होंने साधारण अवधी भाषा में संस्कृत का पुट देकर तथा मुहावरों को माँजकर एक शुद्ध साहित्यिक भाषा का स्वरूप रामचरितमानस में विकसित किया। उत्तर भारत में घर-घर में, बात-बात में उद्धृत की जानेवाली चौपाई का महत्त्व केवल राम-जैसे महत्त्वपूर्ण नायक का चित्रण कर देने मात्र से ही नहीं है, वरन् उनके काव्य में त्याग, शौर्य, क्षमा, शील, विनय आदि के जो उदाहरण मिलते हैं, वे व्यक्ति से लेकर परिवार और परिवार से समस्त मानव-जाति को प्रेरणा देनेवाले संजीवनी तत्त्व हैं जो म्रियमाण व्यक्ति, जाति और राष्ट्र को प्रत्येक स्थिति से ऊँचा उठाने का संदेश देते हैं। महल से लेकर झोपड़ी तक व्याप्त हो जानेवाले उस महाकवि का यही रहस्य है। जैसे-जैसे हिंदी साहित्य का प्रचार और प्रसार बढ़ता जायेगा वैसे-वैसे गोस्वामी तुलसीदास का महत्त्व भी संसार को ज्ञात होगा। रूसी लेखक और प्रसिद्ध साहित्यकार वारान्निकोव ने रामचरितमानस का उन्हीं छंदों में अनुवाद कर विश्व के अन्य साहित्यिकों के सामने एक प्रशंसनीय उदाहरण प्रस्तुत किया है।

वैसे तुलसीदास के उपरान्त रामभक्ति शाखा के अनेक कवि हुए हैं जैसे स्वामी अग्रदास जी, नाभादास जी, प्राणचंद चौहान, हृदयराम आदि किंतु उनका उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। कालान्तर में जब कृष्ण-भक्ति की प्रेम-भावना का प्रचार अत्यधिक बढ़ गया तब उसका प्रभाव रामभक्ति शाखा पर भी पड़े बिना न रहा। परिणामस्वरूप इस भक्ति-मार्ग में भी "स्वसुखी" शाखा के नाम से पति-पत्नी भाव को लेकर रामचरणदास जी ने एक भक्ति की पद्धति चलाई जिसमें भक्त अपने को पत्नी और राम को पति मानकर उपासना करता है। अस्तु, काम-कला, विलास-लीला में इन भक्तों ने राम को कृष्ण से पीछे नहीं रहने दिया। इसी प्रकार जो लोग सखीभाव से राम की उपासना सखा मानकर करने लगे उन्होंने एक अलग "तत्सुखी" शाखा की स्थापना की। चित्रकूट को वृंदावन मानकर वहाँ के कुंजों में राम को सखीभाव से क्रीड़ा करने के लिए क्रीड़ाकुंज तक स्थापित कर दिये गये। "रामभक्ति के रसिक संप्रदाय" के नाम से अभी-अभी डा० भगवती-सिंह का एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसमें इस संप्रदाय-संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का विवरण प्राप्य है।

जिस प्रकार अयोध्या रामभक्ति का प्रधान केन्द्र रहा, उसी प्रकार मथुरा और गोकुल कृष्णोपासना के प्रमुख तीर्थस्थल हैं। वल्लभाचार्य जी ने भक्ति के दो अवयवों—श्रद्धा और प्रेम—में से केवल प्रेमलक्षणा भक्ति को ही साध्य मानकर पुष्टि संप्रदाय की स्थापना की और अपनी उपासना-पद्धति का नाम पुष्टिमार्ग रखा तथा गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी के मन्दिर की स्थापना की जो भोग और प्रदर्शन की सामग्री से पूर्ण था। इसमें भक्तजन कृष्ण-संबंधी पदों को बनाकर गाया करते थे। बाद में वल्लभाचार्य जी के सुपुत्र विट्ठलनाथ जी जब गद्दी पर बैठे तो उन्होंने आठ श्रेष्ठ कवियों को चुनकर "अष्टछाप" की स्थापना की (सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास)। अष्टछाप के इन कवियों के अतिरिक्त गदाधर भट्ट, हितहरिवंश, मीराबाई, स्वामी हरिदास, सूरदास, नंदमोहन, श्रीभट्ट, व्यासजी, रसखान, ध्रुवदास आदि अनेक प्रसिद्ध कवि हो चुके हैं। किन्तु अष्टछाप के सूरदास और नंददास तथा उससे ऊपर कवियों में रसखान अत्यधिक प्रसिद्ध कवि हैं।

कृष्णभक्त कवियों ने श्रीकृष्ण की उपासना के लिए जो माधुर्य भाव अपनाया था, उसके अनुकूल कृष्ण की बाल्यावस्था और यौवनावस्था ही पड़ती है। इसके अतिरिक्त गीता के कृष्ण का ओजस्वी रूप इन कवियों की कविता का वर्ण्य विषय नहीं बन सका। सूरदास जी इनमें निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। अपनी अंधी आँखों से कृष्ण की बाल-लीलाओं और उनसे संबंधित श्रृंगार के दोनों पक्षों—वियोग और संयोग—की मार्मिक स्थितियों का जितनी बारीकी से इन्होंने वर्णन किया है, उतना कोई आँखोंवाला कवि भी नहीं कर सका था। वर्णन की सजीवता, चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ, रूपक, भाषा की प्रांजलता, मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना, मनोवैज्ञानिक स्थितियों की सफल अभि-व्यक्ति में सूरदास अपना सानी नहीं रखते। लक्षणा और व्यंजना तो भ्रमर-गीत के प्रसंग में जैसे कवि की अनुवर्तिनी बनकर चलती हैं। सूरदास ने ब्रजभाषा का जो प्रयोग पहले-पहल किया, उससे यह मान लेना कि ब्रजभाषा की कोई सुव्यवस्थित परम्परा रही होगी ही, अनुचित न होगा।

हिंदी साहित्य में सूर और तुलसी दोनों ही समान रूप से आदृत और समान आसन के अधिकारी हैं। मौलिकता की दृष्टि से सूरदास का महत्त्व तुलसी से अधिक है, यह कहना अनुचित नहीं होगा। दूसरे कवि हैं नंददास जिनके भ्रमरगीत-सार का माधुर्य कुछ अंशों में सूर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। रसखान कृष्ण के मुसलमान भक्तों में से हैं जिनके रसपूर्ण कवित्त और सवैये ब्रजभाषा के श्रेष्ठ रत्न हैं।

भक्तिकाल वास्तव में हिंदी साहित्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण काल है। इसमें न केवल तुलसी और सूर जैसे विश्वकवि ही मिले, अपितु केशवदास ऐसे महाकवि भी, जिन्होंने रस, अलंकार, छन्द आदि शास्त्रों का निरूपण किया। बरवै छन्द के प्रवीण मुसलमान कवि अब्दुर्रहीम खानखाना, कादिर, मुबारक, प्रकृति-वर्णन के कवि सेनापति, पुहकर, सुंदर आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कवियों ने अपनी सरस्वती से हिंदी साहित्य का भांडार समृद्ध किया है। इस काल का महत्त्व न केवल रामचरितमानस, हरिचरित्र, रुक्मिणी-मंगल, सुदामाचरित्र, रामचंद्रिका, वीरसिंहदेवचरित, लक्ष्मणसेनचरित, पद्मावत, अखरावट, तथा अर्द्धकथानक आदि अनेक ऐतिहासिक, पौराणिक, आत्मकथात्मक आदि काव्य-ग्रंथों के कारण ही है, वरन् इस काल में ब्रजभाषा गद्य का साहित्य भी अपनी संपूर्ण महत्ता के साथ विकसित हो रहा था। मौलिक और अमौलिक दोनों प्रकार की रचनाएँ उसमें हो रही थीं। कुछ साहित्यकारों का यह मत, कि ब्रजभाषा में गद्य की रचना हुई ही नहीं अथवा बहुत ही कम हुई है, ठीक नहीं है। संभवतः उन लोगों के लिए वही बात है जो आचार्य शुक्ल के आदिकाल के संबंध में आधुनिक विद्वानों द्वारा कही गई है अर्थात् ब्रजभाषा गद्य का साहित्य उस समय तक उतना प्रकाश में नहीं आया था। अस्तु, इन मौलिक और अमौलिक प्रकार की रचनाओं में रामभक्ति, कृष्णभक्ति तथा पुराण, महाभारत, नीति, चरित्र-लीला-वर्णन आदि सभी प्रकार के विषयों पर रचनाएँ प्राप्त हैं। इसी प्रकार अमौलिक श्रेणी में टीकाओं और अनुवादों का स्वरूप परिलक्षित किया जा सकता है जो विषय की विविधता तथा साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से न तो नगण्य है, न कम ही कहे जा सकते हैं। अस्तु, यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि भक्तिकाल हिंदी साहित्य का स्वर्णकाल था, जिसमें साहित्य के सभी अंगों के विकास की संभावना पूरी तरह चरितार्थ हो रही थी।

श्रृंगारकाल

भक्तिकाल के उपरान्त जिस काव्य-साहित्य का प्रणयन हुआ उसे प्रायः रीतिकाव्य की संज्ञा से विभूषित किया जाता है; किंतु "रीति" के नामानुसार उस काल (१७००-१९००) की प्रवृत्तियों की पूरी तरह अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, क्योंकि कुछ कवि ऐसे भी थे जो रीति-ग्रंथों की परंपरा से हटकर अत्यंत सुन्दर कविताएँ लिख रहे थे। अस्तु, श्रृंगार रस थोड़ा व्यापक और कम दोषपूर्ण नामकरण लगता है, यद्यपि श्रृंगार की रचनाएँ भी प्रारंभिक काल से होती चली आ रही थीं। अस्तु, जैसा कहा जा चुका है, काव्यप्रवृत्तियों के अनुसार इस काल को दो मुख्य धाराओं में बाँटा जा सकता है : (१) रीतिबद्ध और (२) रीतिमुक्त : रीतिबद्ध में भी प्रायः दो प्रकार

की प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। एक तो शास्त्रीयता-प्रधान, दूसरा काव्य-प्रधान। शास्त्रीयता का जो स्वरूप केशव की कविप्रिया से प्रकट हुआ था वह स्वीकृत नहीं हुआ, वरन् उनके पचास वर्ष बाद चिन्तामणि त्रिपाठी के "काव्य-विवेक", "कविकुल-कल्पतरु" और "काव्य-प्रकाश" के आधार पर काव्यांगों के निरूपणार्थ अनेक लक्षण-ग्रन्थों की एक परंपरा सी खुल गई। जो भी कवि होता था वह आचार्य बनने के लिए यह आवश्यक धर्म समझता था कि वह लक्षणों की ओर संकेत जरूर करे। अलंकार, छंद, रस, नायक-नायिका-भेद आदि ही काव्य के विषय बनने लगे, जिनमें सर्वाधिक मुख्यता नायक-नायिका-भेद को दी गई। कृष्णभक्ति के माधुर्य भाव ने जो रूप बदला तो वह इसी क्षेत्र में आकर गिरा और अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गया। दूसरे प्रकार के रीति-ग्रंथों के कर्त्ता कवि अधिक थे और आचार्य कम। इसलिए उन लोगों ने शास्त्रीयता की अपेक्षा काव्यत्व के ऊपर अधिक ध्यान दिया, जिसका परिणाम यह अवश्य हुआ कि हिंदी में मुक्तक काव्यों की एक मनोहारी परम्परा स्थापित हो गई। काव्य के व्यावहारिक तत्त्व को रीतिकाल ने अत्यधिक संकुचित कर दिया था। विषयों में न तो विविधता रह गई, न भावों में नवीनता। किंतु उस काल के कुछ उत्तम कवियों में चिंतामणि त्रिपाठी, बेनी, बिहारीलाल, मतिराम, भूषण, नेवाज, देव आदि थे। यद्यपि इस काल में बहुलांश कविताएँ श्रृंगार रस की हुई हैं किंतु भूषण जैसे कवि भी थे जिन्होंने अपनी ओजस्विनी वाणी से हिंदू जाति में वीर रस का संचार किया था।

रीतिमुक्त कवियों को उस काल का रोमेन्टिक (स्वच्छन्दतावादी) कवि समझना चाहिए, जो शास्त्र और लक्षण ग्रंथों की परम्परा को अन्य रीतिवादियों की तरह स्वीकार न करके आत्मानुभूतियों की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति को ही महत्त्व देते थे। इसलिए उनके काव्य में अनुभूतियों की तीव्रता और अभिव्यंजना की नवीनता जितनी आकर्षक और मर्मस्पर्शी बन सकी है, उतनी रीतिवादी कवियों की नहीं। उक्ति-वैचित्र्य, भावविदग्धता और कल्पनाशक्ति में घनानंद तथा आलम जैसे कवि तो आधुनिक छायावादी कवियों तक से होड़ ले सकते हैं। जीवन के वास्तविक अनुभवों की सच्ची अभिव्यक्ति उनकी पहली शर्त होती थी। आग्रह और परंपरा के प्रति यह स्वर पूर्णतया विद्रोही था।

श्रृंगारकाल में यद्यपि भक्तिकाल की भाँति प्रबंधकाव्य बन सके हैं जैसे हम्मीरहठ (चन्द्रशेखर), छत्रप्रकाश (लाल कवि), हम्मीर रासो (जोधराज), सुजानचरित्र (सूदन) तथा महाभारत आदि; किंतु कुछ लंबी कविताएँ जिन्हें आचार्य शुक्ल ने वर्णनात्मक प्रबंध कहा है—दानलीला, मानलीला, जलविहार आदि कुछ प्रसंग-गत विषयों पर सुंदर रचनाएँ मिलती हैं। किंतु जहाँ हाथी, घोड़े और बारात आदि का वर्णन आता है वहाँ वे भी उबानेवाली हो उठती हैं। नीति, भक्ति, उपदेश, प्रशस्ति आदि के ढंग की रचनाएँ भी पर्याप्त हुई हैं। छन्दों में घनाक्षरी, सवैया, दोहा, चौपाई तथा कुंडलियों का प्रयोग ही विशेषतः हुआ था। भक्तिकाल के पदों की पद्धति भी घनानंद, रसनिधि, नागरीदास प्रभृति कवियों में द्रष्टव्य है। ब्रजभाषा अब तक अवधी को काव्यक्षेत्र से बाहर करके साहित्य के पद पर निरंकुश भाव से आसीन हो चुकी थी।

आधुनिक काल

किंतु आधुनिक काल का प्रारंभ होते ही साहित्य के दरबार में खुसरो के काल से निरंतर हाजिरी देनेवाली उपेक्षिता, 'खड़ी बोली' से उसका जमकर सामना हुआ। इस बोली ने सीधे ब्रजभाषा पर आक्रमण नहीं किया बल्कि इतने काल तक जैसे वह उसके दुर्बल पक्षों की टोह लेती रही। उसे यह पता चलते देर न लगी कि ब्रजभाषा का हृदय जितना शक्तिशाली था उतना पैर नहीं। इसलिए गद्य की ओर से ही वह बढ़ी और उसके सभी क्षेत्रों पर उसने अधिकार कर लिया। भारतेंदु काल तक आते-आते उसने पद्य पर भी अपना दावा पेश कर दिया। बड़ी कशमकश और तू-तू, मैं-मैं के बाद वह काव्यक्षेत्र की सम्राज्ञी भी बन बैठी। लेकिन इसको एक सगी बहन उर्दू से भी सामना करना पड़ा, जिसका पालन-पोषण बड़े लाड़-प्यार से गिलक्राइस्ट साहब कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में (हिंदुस्तानी नाम से) कर रहे थे। लेकिन यह चीज बहुत दिनों तक न चली। सदासुखलाल, इंशा अल्ला खाँ और लल्लूलाल जी ने जिस भाषा का प्रचलन किया वह उर्दू की अपेक्षा कहीं हिंदीपन लिये थी। कालेज के दूसरे पंडित सदल मिश्र थे जिन्होंने हिन्दी गद्य की ओर और ध्यान दिया। जागरण के इस युग में खड़ी बोली का प्रचार करने में कई प्रकार की स्थितियों ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण योग दिया है जैसे अंग्रेज कर्मचारियों को देशी भाषा की शिक्षा दी गई; स्कूलों और पाठशालाओं में हिंदी भाषा के माध्यम से पढ़ाई प्रारंभ करने के निमित्त पाठ्य पुस्तकों का निर्माण किया गया; मिशनरियों द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार, प्रेस और अनेक समाचारपत्रों का प्रकाशन तथा प्रतिद्वंद्विनी उर्दू भाषा ने भी काफी सहयोग दिया। इसके अतिरिक्त कई प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष शक्तियों का भी खड़ी बोली के प्रचार में काफी हाथ रहा, जैसे आर्यसमाज जैसी समाजसुधारक संस्थाओं के आन्दोलन, राष्ट्रीय कांग्रेस संस्था की अनुप्रेरणा, पत्र-पत्रिकाएँ इत्यादि। फिर भी कहना न होगा कि खड़ी बोली का प्रारंभिक साहित्य भी भाषा-संबंधी कशमकश से गुजर रहा था। उर्दू, ब्रजभाषा और हिंदी की त्रिवेणी साहित्य के उपकूलों से प्रवाहित हो रही थी।

इसी समय एक अत्यंत प्रतिभाशाली व्यक्ति का हिंदी में आविर्भाव हुआ। वह थे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, जिन्होंने हिंदी साहित्य के केन्द्र में अवस्थित होकर उसके संपूर्ण वृत्त को परिचालित किया था। रचनात्मक और क्रियात्मक दोनों ही ढंग से उन्होंने हिन्दी की सेवा की, प्रेरणा दी, माँजा-खरादा और उसका एक स्तर स्थापित कर दिया। जहाँ उन्होंने २० नाटक, ८ आख्यान उपन्यास, २७ काव्य, ७ स्तोत्र, १८ परिहास प्रहसन, ८ अनुवाद, ८ धर्म-इतिहास-संबंधी लेख तथा अनेक राजभक्ति, देशप्रेम, साहित्यप्रेम सम्बन्धी लेख लिखे वहीं उन्होंने चार नवीन रसों की स्थापना की। अवधी हिंदी, खड़ी बोली, उर्दू आदि के अतिरिक्त गुजराती, बँगला और अनेक प्रांतीय भाषाओं में भी रचनाएँ कीं। ब्रजभाषा में जहाँ सूर, बिहारी, मतिराम, पद्माकर की विशेषताओं में उनके दर्शन होते हैं, वहीं लोक-जीवन की आत्मा को मुखरित करनेवाले छंदों, होली, कजली, लावनी, भजन आदि में भी उन्होंने रचनाएँ उपस्थित कीं। वे व्यक्ति नहीं संस्था थे, साहित्य-

मंदिर के दीपक नहीं प्रकाश-स्तम्भ थे । उस समय के लेखक बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, सुधाकर द्विवेदी, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्णदास प्रभृति विद्वान् और साहित्यकार उनकी नीति के ऊपर ही चलनेवाले थे । १८ वर्ष की ही अवस्था में उन्होंने "कविवचन-सुधा" नामक पत्र निकाला जिसमें राजनैतिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि सभी विषयों के लेख रहते थे; सन् १८७३ में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' निकाली और कविता के विकास के लिए "कविता-वर्द्धिनी सभा" तथा "कवि-समाज" आदि संस्थाओं की स्थापना की । समस्यापूर्त्ति की प्रथा भी इन्होंने ही चलाई थी । यही नहीं, साहित्य-रचना को प्रेरणा देने के लिए इन्होंने कवि परमानंद को बिहारी-सतसई के संस्कृत अनुवाद पर ५००) का तथा सुधाकर द्विवेदी को एक दोहे पर १००) का पुरस्कार दिया था । उनकी दानशीलता और रईसी की कहानियाँ काशी में आज भी चलती हैं । जिस तरह उनका हृदय विशाल था, उसी तरह उनके कार्य भी महान् थे । क्या राजनैतिक, क्या सामाजिक, क्या साहित्यिक, कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं था जहाँ भारतेन्दु जी सबसे आगे न रहे हों । यही कारण है कि अपनी अतुलनीय प्रतिभा द्वारा उन्होंने हिंदी साहित्य में अपना एक युग ही स्थापित कर दिया । ३५ वर्ष जैसी अल्पावस्था में जितना महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने कर दिया उतना भारतवर्ष में शायद ही किसी व्यक्ति ने किया हो। उनकी रसिकता और उनकी शौकीनी यहाँ तक थी कि घर में इत्र के दिये जलाये जाते थे । आधुनिक हिंदी साहित्य में इतनी बहुमुखी प्रतिभा का कोई भी व्यक्ति पैदा नहीं हुआ, यह कहने में किसी को संकोच नहीं होगा ।

भारतेन्दु युग में जहाँ ब्रजभाषा में काव्य रचना करनेवाले कवि सेवक, सरदार, ललित-किशोरी, ललितमाधुरी, ईसुरी, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, नाथूराम शंकर शर्मा, जगन्नाथप्रसाद 'भानु', श्रीधर पाठक, म० म० सुधाकर द्विवेदी, राधाकृष्णदास, हरि औध, बालमुकुन्द गुप्त, भगवानदीन, रत्नाकर, पूर्ण, सत्यनारायण कविरत्न प्रभृति लोग थे, वहीं अवधी में प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, शिवसंपत्ति शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी, सिरस आदि कवि हुए। खड़ी बोली में भी इन्हीं में से अधिकांश कवि उस समय कविताएँ लिखते रहे जिनकी काव्यवस्तु प्रायः समाज-सुधार, राष्ट्रीय चेतना, व्यंग आदि से भरी होती थी । जहाँ तक गद्य का प्रश्न है, उसकी सर्वांगीण उन्नति उस समय हुई । इस बात का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि भारतेन्दु के काल ही में कलकत्ता, बनारस, जोधपुर, लाहौर, बिहार आदि अनेक स्थानों से प्रायः पच्चीस साहित्यिक पत्रिकाओं का हिन्दी में प्रकाशन हो रहा था ।

साहित्य के निर्माण के साथ ही हिंदी के प्रचार की आवश्यकता भी उस समय भारतेन्दुजी ने अनुभव की थी । बलिया में उनका एक बड़ा ही मार्मिक भाषण हुआ था । उनके उपरांत काशी में नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना बाबू श्यामसुंदरदास, पंडित रामनारायण मिश्र तथा ठा० शिव-कुमार सिंह ने की । इस सभा के द्वारा हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि, देवनागरी का प्रचार, भाषा का प्रचार, तब से आज तक बड़े ही व्यवस्थित और प्रशंसनीय रूप में होता चला आ रहा है । संवत् १९५६ में सरकार ने ४००) वार्षिक सहायता देकर सभा द्वारा अप्रकाशित हिंदी के ग्रंथों के खोज-

कार्य को आगे बढ़ाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु युग में हिंदी साहित्य की बहुमुखी अभिवृद्धि, उसका प्रचार-प्रसार बड़े ही जोश-खरोश के साथ हुआ।

महावीरप्रसाद द्विवेदी का युग

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि के लिए जो व्यापक आधार-शिला प्रस्तुत की थी, उस पर ईंट रखकर महल निर्माण करने का श्रेय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी को है। ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली को (काव्य में) लेकर जो विवाद छिड़ा हुआ था, उसके प्रतिपक्षियों का कहना था कि खड़ी बोली में काव्य-रचना के उपयुक्त छन्द मिल ही नहीं सकते। द्विवेदी जी ने संस्कृत के अनेक छंदों में काव्य-रचना करके यह सिद्ध कर दिया कि वह काव्य-रचना के पूर्णतया अनुकूल है। इस प्रकार जहाँ छंदों का पुनर्जागरण किया वहीं उन नये लेखकों को, जो लिखना प्रारंभ कर रहे थे, किंतु व्याकरण की अशुद्धियों की ओर ध्यान न देते थे, शुद्ध भाषा लिखना सिखाया। यह सौभाग्य की ही बात थी कि 'सरस्वती' पत्रिका के वे संपादक थे, जिसके कारण तत्कालीन अनेक लेखकों से उनका संपर्क हुआ। भाषा के संबंध में उन्होंने जो कठोरता बरती उसके परिणामस्वरूप हिंदी भाषा का एक ऐसा स्तर हो गया, जिसे लेकर वह तत्कालीन अन्य प्रांतीय भाषाओं के साहित्यकारों के सामने अपना सिर ऊँचा रख सकती थी। द्विवेदी जी ने न केवल भाषा और छंदों का सुधार ही किया वरन् संस्कृत के विशाल साहित्य से हिंदीवालों का परिचय अपने लेखों द्वारा कराकर उन्होंने विचार, अनुभूति और व्यापकता का नया क्षेत्र खोल दिया। मराठी और बँगला का अध्ययन भी उनका था। अस्तु, उनकी गतिविधि से परिचित होकर ये हिन्दी को समयानुकूल बनाने का बराबर प्रयत्न करते रहे। उनके लेखों और पुस्तकों की एक लम्बी तालिका है जो उनकी जिज्ञासु और अध्ययनशील मनोवृत्ति को प्रकट करती है। संस्कृत साहित्य और हिंदी साहित्य, भाषा तथा आलोचना संबंधी विषयों के अतिरिक्त उन्होंने जलचिकित्सा, नाट्यशास्त्र, पुरातत्त्व प्रसंग, विज्ञानवेत्ता, विदेशी विद्वान्, संपत्तिशास्त्र आदि विषयों पर भी अपनी लेखनी चलाई थी। इसके अतिरिक्त आलोचना का कार्य यद्यपि भारतेन्दु के समय से ही प्रारंभ हो गया था पर उसका शास्त्रीय और व्यावहारिक रूप द्विवेदी जी के करकमलों द्वारा ही संपादित हुआ। अपनी प्रौढ़ लेखनी से उन्होंने जिन कवियों को उत्साहित कर तैयार किया उनमें श्री मैथिलीशरण गुप्त का नाम सबसे पहले आता है।

वास्तव में द्विवेदी युग आन्दोलन तथा साहित्य की श्रीवृद्धि का युग है। गद्य, पद्य, व्याकरण, दर्शन, अलंकार, छंद आदि के अतिरिक्त निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि साहित्य के विविध अंगों की उन्नति भी हुई। इस काल के लेखकों और कवियों में प्रमुख हैं बालमुकुन्द गुप्त, रामचरित उपाध्याय, कामताप्रसाद गुरु, रामदास गौड़, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रूपनारायण पांडेय, मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी', मैथिलीशरण गुप्त, लोचनप्रसाद पाण्डेय और रामनरेश त्रिपाठी आदि।

भारतेन्दु युग से लेकर द्विवेदी युग तक ही साहित्यिक प्रवृत्तियों मात्र का अब तक हमने निरूपण किया है, जिसमें मुख्यता प्रायः काव्य की ओर ही रही है। यद्यपि इस बीच गद्य की

अधिकाधिक उन्नति हुई और लोगों का ध्यान भी गद्य साहित्य को ही विस्तृत करने की ओर रहा। अस्तु, गद्य की जिन शैलियों का उद्भव और विकास इस बीच हुआ उसकी ओर एक विहंगम दृष्टि न डालना उचित न होगा। गद्य की विविध विधाओं अर्थात् निबंध, आलोचना, नाटक, कहानी आदि के विकास के संबंध में थोड़ी सी चर्चा कर देना आवश्यक है।

निबंध—पहले हम निबंध साहित्य को ही लें। जो ब्रजभाषापन, संस्कृतपन और अरबी-फारसीपन लिये हुए शैलियाँ थीं उनका रूप क्रमशः प्रेमसागर और नासिकेतोपाख्यान, राजा लक्ष्मण सिंह के लेखों तथा राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की भाषा में दिखलाई पड़ता है। भारतेन्दु न अपने लेखों में चलती भाषा का स्वरूप रखा और एक नई शैली की उद्भावना की। प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट ने उस चुहुलबाजी से भरी शैली को अपनाकर वर्णनात्मक, विचारात्मक, कथात्मक सभी प्रकार के विषयों पर निबंध लिखे। इस प्रकार निबंधों में लेखकों का व्यक्तित्व भी झलक सा उठा है। ठाकुर जगमोहन सिंह की शैली का रूप साहित्यिक है। काव्यमयी भाषा में गद्य को जितना अधिक स्पष्ट ये कर सके उतना प्रेमघन जी नहीं। प्रायः इनके प्राकृतिक वर्णन आकर्षक होते हुए भी संस्कृत की आलंकारिक शैली की याद दिला देते हैं।

द्विवेदी युगीन निबंधों में लेखकों का व्यक्तित्व अधिक उभरा है। भाषा और साहित्य, विज्ञान और आविष्कार, यात्राभ्रमण, धर्म, अध्यात्मक, इतिहास, पुरातत्त्व, आदि सभी प्रकार के विषयों के प्रयोग द्वारा निबंध का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत और व्यापक हो गया। भारतेन्दु कालीन निबंधों के समान ये निबंध भावात्मक और कल्पनात्मक न होकर ज्ञानसंवर्द्धन, रुचि-परिष्कार तथा विविध विषयों की सूचना देनेवाले सिद्ध हुए। उस युग के प्रमुख निबंधकार हैं महावीर-प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, मिश्रबन्धु, सरदार पूर्णसिंह, गहमरी, गुलेरी, बाबू श्यामसुंदरदास, रामदास गौड़, गौरीशंकर हीराचंद ओझा और बदरीनाथ भट्ट आदि।

नाटक

भारतेन्दु के पूर्व ब्रजभाषा में "आनन्दरघुनन्दन नाटक" (विश्वनाथ सिंह) तथा गोपाल-चंद का नहुष नाटक था। कोई सुंदर परंपरा नाटकों की नहीं थी, इसलिए उन्होंने इस ओर अथक परिश्रम किया। कुछ तो उनके मौलिक नाटक हैं और कुछ अनुवाद। मौलिक नाटकों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चंद्रावली, विषस्य विषमौषधम्, नीलदेवी आदि तथा अनूदित नाटकों में विद्यासुंदर, पाखंड-विडम्बन, मुद्राराक्षस आदि हैं। पं० बदरीनारायण चौधरी ने भी कई नाटक लिखे। लाला श्रीनिवासदास का प्रह्लादचरित्र, रणधीर और प्रेममोहिनी, बाबू तोताराम का केटोकृतांत नाटक (अनुवाद) लिखे गये। केशवराम भट्ट, पं० राधाचरण गोस्वामी, राधा-कृष्णदास, कार्तिकप्रसाद खत्री कुछ प्रमुख नाटककार हुए। कहा जा सकता है कि नाटकों की उन्नति कोई सन्तोषजनक नहीं थी, विशेषकर मौलिक नाटकों की। हाँ, बँगला से बा० रामकृष्ण वर्मा, कृष्णकुमारी, गोपालराम गहमरी तथा रूपनारायण पाण्डेय प्रभृति लेखकों ने और अंग्रेजी से जयपुर के गोपीनाथ एम० ए० ने शेक्सपियर के कुछ नाटकों का और मथुराप्रसाद चौधरी ने मैकबेथ

का अनुवाद किया। संस्कृत के नागानंद, मृच्छकटिक, महावीरचरित, उत्तररामचरित, मालती-माधव आदि का अनुवाद राय बहादुर लाला सीताराम बी० ए० ने किया। इसी प्रकार ज्वाला-प्रसाद मिश्र, पं० सत्यनारायण कविरत्न आदि ने कुछ और संस्कृत के नाटकों का अनुवाद किया। मौलिक नाटकों के लेखक बहुत कम रहे। उनमें कुछ ही प्रमुख हैं जैसे पं० किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, पं० बलदेवप्रसाद मिश्र, शिवनंदन सहाय, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' आदि।

प्रायः इन (मौलिक) नाटकों के विषय पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा समकालीन जीवन से संबंधित होते थे।

कथा-साहित्य

इंशा अल्ला खाँ की रानी केतकी की कहानी, लल्लूलाल जी की सिंहासनबत्तीसी, बैताल-पचीसी तथा सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान से आधुनिक युग के कथा-साहित्य का विकास माना जा सकता है। वैसे उपन्यासों का श्रीगणेश भी भारतेन्दु काल से ही मानना चाहिए। लाला श्रीनिवासदास, ठा० जगमोहनसिंह, भट्टजी, गौरीदत्त, कार्त्तिकप्रसाद, मिश्रजी (प्र० ना०), हरिऔध आदि लेखकों ने उपन्यास लिखे। लेकिन उपन्यासों के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन देवकी-नंदन खत्री के तिलस्मी उपन्यास चन्द्रकांता-संतति ने किया। गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यासों की भी काफी धूम रही है। मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त अंग्रेजी, बँगला और उर्दू से भी काफी संख्या में अनुवाद किये गये।

कहानियों का आरंभ 'सरस्वती' की पुरानी फाइलों में देखने को मिल जाता है। संवत् १९५७ से संवत् १९६४ तक क्रमशः किशोरीलाल गुप्त, मास्टर भगवानदास, रामचन्द्र शुक्ल, गिरिजादत्त वाजपेयी तथा 'बंग महिला' की इंदुमती और गुलबहार, प्लेग की चुड़ैल, ग्यारह वर्ष का समय, पंडित और पंडितानी, दुलाईवाली कहानियों में से कुछ ही मार्मिक बन पड़ी थीं। कथा-साहित्य का यह क्षेत्र द्विवेदी युग तक बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं समझा गया था।

आलोचना

भारतेन्दु के पूर्व आलोचना का सैद्धान्तिक रूप रीतिकालीन कवियों की टीकाओं में था; किंतु बिलकुल नगण्य। वास्तव में आलोचना का भी सूत्रपात भारतेन्दु के ही समय में हुआ, वह भी सांकेतिक रूप में। काव्य-संबंधी आलोचना प्रायः शिष्ट नहीं समझी जाती थी इसलिए इस अंग को उतना प्रोत्साहन नहीं मिला। फिर भी भारतेन्दु, प्रेमघन, भट्ट, मिश्र आदि के लेखों में थोड़ी बहुत प्रवृत्ति अवश्य लक्षित की जा सकती है, विशेषतः उन निबंधों में जो ब्रजभाषा और खड़ी बोली को लेकर लिखे गये। द्विवेदी युग में अवश्य ही अध्ययन और विवेचन-संबंधी लेख दृष्टिगत होते हैं। कवियों के गुणदोषों का परिचय, विश्लेषण सरस्वती में होता रहा। मिश्रबंधु, अम्बिकादत्त व्यास, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, किशोरीलाल गोस्वामी, बदरीनाथ भट्ट

आदि उस युग के प्रसिद्ध विचारक और आलोचक रहे। आलोचना का वास्तविक विकास तो पंडित रामचन्द्र शुक्ल की दृढ़ लेखनी से हुआ। द्विवेदी युग की प्रवृत्ति प्रायः ऐतिहासिक, शास्त्रीय, सैद्धांतिक तथा तुलनात्मक समीक्षा की रही।

छायावाद युग

आधुनिक काल में जिस साहित्य-धारा के अन्तर्गत हिंदी का सर्वश्रेष्ठ साहित्य उत्पन्न हुआ वह छायावादी कहलाया। पाश्चात्य साहित्य और उससे प्रभावित अन्यदेशीय साहित्य के संपर्क में आने से हिंदी साहित्यकारों को जो नई दृष्टि मिली, उसने परंपरागत वस्तु, भाव और वर्णन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। आत्मानुभूति और आत्माभिव्यंजना के लिए स्थूल-जगत् तथा सूक्ष्म-भाव-व्यापारों को प्रतीकात्मक ढंग से उपयोग में लाया गया। रूप, रंग, गुण, स्पर्श के जिस प्रकृत और छाया रूपों का अनुभव सूक्ष्म ढंग से किया गया उसके प्रभाव-स्वरूप चित्रात्मकता, प्रकृति का मानवीकरण, मानव का प्रकृतीकरण, बाह्य का आभ्यन्तरीकरण और अभ्यन्तर का बाह्यीकरण की प्रवृत्ति कवियों में अपने आप जाग गई। व्यक्तिवादिता का स्पर्श पाकर, इस प्रकार एक नवीन काव्यालोक का हिंदी में उदय हुआ, जिसमें गुह्य अथवा रहस्य का झिलमिला स्वरूप जीवन की अभिव्यक्तियों को लेकर उतरा। संकेत और अन्योक्तियों में गूढ़ व्यापारों की अभिव्यंजना होने लगी। जहाँ काव्य की प्रवृत्ति मानव-मन के व्यापारों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति में थी वहाँ वह छायावादी कहलाई और जहाँ अनुभूतियों की तीव्रता अलौकिक भाव व्यापारों से संबंध जोड़ने लगती वहाँ वह रहस्यवादी होकर प्रकट हुई। इस धारा के सर्वप्रमुख कवि हैं, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, निराला, महादेवी वर्मा। ये चारों ही किसी भी भारतीय साहित्य के उच्च कवि से टक्कर ले सकते हैं। प्रसाद के जोड़ का कवि तो भारतीय ही नहीं आधुनिक विश्व साहित्य में भी मिलना कठिन है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि हिन्दी का साहित्य उन्नत और ऊँचा नहीं है। यह बिलकुल भ्रान्त धारणा है, वैसे ही जैसे कोई अन्धा कहे कि सूरज नहीं होता।

उस समय ठीक छायावादी कला के अन्तराल से एक स्वच्छन्द धारा भी प्रस्फुटित हो रही थी जो जीवन की सहज अभिव्यक्ति को सहज भाव से प्रकट करने का प्रयास कर रही थी। इस काव्यधारा के कवियों को रहस्यवादी अंचल नहीं सुहाया। जीवन और प्रकृति जिन नाना रूपों में मनोविकारों को प्रभावित करते हैं, उन्हें कलात्मक ढंग से कहना ही ऐसे लोगों का लक्ष्य था। डा० हरवंशराय बच्चन, डा० रामकुमार वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, उदयशंकर भट्ट, नरेन्द्र, शिवमंगलसिंह 'सुमन', डा० शंभूनाथ सिंह, माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारीसिंह 'दिनकर', रामेश्वरप्रसाद शुक्ल 'अंचल', सियारामशरण गुप्त, गुरुभक्तसिंह 'भक्त', श्यामनारायण पाण्डेय, सोहनलाल द्विवेदी आदि ऐसे ही कवियों में से हैं। इन कवियों की भाव-तरंगिणी नाना रूपों और रंगों को लेकर प्रवाहित होती है। जीवन की विविधता के जितने आभास संभव हैं, उन सबका रसात्मक रूप स्वच्छन्दतावादी कवियों के मधुर काव्य में मिल जायगा।

सबसे बड़ी विशेषता छायावाद और छायावादोत्तर कवियों की यह रही है कि कविता में उन्होंने अन्य सभी ललित कलाओं के गुणों का—जैसे संगीत से संगीतात्मकता, नाटक से सजीवता, चित्र से चित्रात्मकता—समन्वय करके, जीवन की एक नयी व्यंजना का कलात्मक दृष्टिकोण अपनाया है।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद

छायावादोत्तर काल की ये दोनों शैलियाँ प्रायः छायावाद से भिन्न मानी जाती हैं; किंतु सच तो यह है कि ये छायावाद के विकास के परिणाम-स्वरूप ही हैं। छायावाद जहाँ स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था, प्रगतिवाद वहीं पुनः सूक्ष्म के प्रति स्थूल अथवा दूसरे शब्दों में अयथार्थ के प्रति यथार्थ का विद्रोह था। मार्क्सवादी सिद्धांतों को लेकर जब तक यह काव्य जनता, जीवन और वास्तविकता का संदेशवाहक था तब तक तो यह काव्य की प्रेरणा की वस्तु रहा; किंतु ज्योंही इस सिद्धांत से च्युत होकर एक विशेष मतवाद का पोषक हो गया, अपनी साहित्यिक महत्ता खो बैठा। परन्तु इसने छायावाद के विलासोपकरण से साहित्यकारों का ध्यान खींच कर उनमें ओज, शक्ति और पौरुष को पुनः उद्दीप्त किया। इस धारा के कवि प्रायः वही हैं जो छायावाद के उन्नायक थे और स्वच्छन्दतावाद के अनुगामी केदारनाथ अग्रवाल, डा० रामविलास शर्मा, नागार्जुन आदि अनेक कवियों ने इसमें योग दिया।

इस प्रगतिवादी काव्यधारा के साथ राष्ट्रीय गुलामी से मुक्त होने की प्रबल आकांक्षा मिल गई। परिणामस्वरूप जो राजनैतिक साम्यवाद साहित्य को अपना प्लेटफार्म बनानेवाला था, न बना सका। क्षेम की क्रान्ति लेकर स्वाधीनता का स्वर फूट निकला, करो या मरो, अंग्रेजो भारत छोड़ो, की प्रतिक्रिया से दीप्त होकर गोपालसिंह नेपाली, सोहनलाल द्विवेदी, दिनकर आदि कवियों ने क्रान्तिकारी भावनाओं से ओतप्रोत कविताएँ लिखनी शुरू कीं।

प्रयोगवाद

इस प्रकार छायावाद और प्रगतिवाद ने मिलकर साहित्य के प्रायः सभी अभावों को दूर कर दिया। काव्य-चेतना के लिए जितने भी पोषक तत्त्व, दर्शन, सिद्धान्त अथवा अनुभूतियाँ प्रचलित थीं, उन सबका समाहार हिंदी साहित्य में प्रायः हो गया था इसलिए काव्य की गति कुछ अस्थिर पड़ गई। आश्चर्य की बात है कि सम्पूर्णता की इस स्थिति को अनेक आलोचकों ने गति-रोध की संज्ञा दी। वास्तव में वह विराम और विजय की स्थिति थी, जिसमें आश्वस्त होकर कवि की चिन्ताधारा अपनी अभिव्यक्ति के नये रास्ते ढूँढ़ रही थी। संभव था कि काव्य में जितनी जल्दी प्रयोगवाद आ गया उतनी जल्दी न आया होता तो शायद स्थिति कुछ और भी परिपक्व होती। किंतु नवीनता और प्रयोग का मायामृग दिखाकर यशातुर कुछ व्यक्तियों ने बिना किसी जीवन-दर्शन के जो भुलावा दिया उसका परिणाम तत्काल बहुत अच्छा न हुआ। सब अपनी-अपनी डफली और अपने-अपने राग में मस्त हो गये। नतीजा यह हुआ कि मैदान खाली देखकर

सबने दौड़ लगानी शुरू कर दी। यह न सोचा कि उनकी छाती में कितनी साँस है, कितना दम है। सौ में चार ही ऐसे प्रयोगवादी मिलेंगे जिनको रीढ़ है, और जो वास्तव में प्रयोग का अर्थ समझते हैं, जिन्होंने पाश्चात्य साहित्य में उगते हुए तत्त्वों को हिंदी में अपनाने का सफल प्रयास किया है। ऐसे लोगों में गिनाने लायक नाम केवल केदारनाथ अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, अज्ञेय (सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन), गिरिजाकुमार माथुर का ही है। शेष या तो छायावाद की रोमैन्टिक परंपरा के कवि हैं, या फुसलाकर छोड़ दिये गये कच्ची बुद्धि और चेतनावाले भ्रान्त बालक।

वास्तव में प्रयोग, प्रयोगशीलता अथवा प्रयोगवाद अपने में कोई मानी नहीं रखता; लेकिन उसकी कर्तृत्वशक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसने साहित्य को जीवन की विशाल भूमि पर लाकर छोड़ दिया है। वस्तु, भाव, कला और शैली के लिए अनेक संभावनाओं की गुंजाइश कर दी है। जीवन और काव्य के प्रति कोई व्यापक दृष्टिकोण (मेरा अर्थ दर्शन से है) न होने के कारण अभी यथार्थ रूप से प्रयोग आरंभ ही नहीं हुआ है—जिसका अर्थ स्पष्ट यह है कि हम एक किसी बहुत बड़ी प्रतिभा की प्रतीक्षा में हैं।

आधुनिक गद्य-साहित्य

द्विवेदी काल तक ही गद्य की प्रायः सभी विधाओं का उत्स खुल गया था—नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना। परवर्ती काल में कहा जाय तो ये अंकुर विकसित होकर विशाल वृक्ष बन गये। प्रत्येक अंग की अद्‌भुत और व्यापक संवर्द्धना हुई। काव्य के साथ ही साथ गद्य में हिंदी में जितनी अभिवृद्धि हुई है संभवतः भारतवर्ष की किसी भी भाषा में नहीं। साथ ही अन्य अनेक विधाओं की सृष्टि भी हुई जैसे—गद्य काव्य, एकांकी, रेडियो रूपक, रिपोर्ताज, शोध आदि। प्रत्येक क्षेत्र में एक से एक बढ़कर लिखनेवालों को हिंदी साहित्य ने जन्म दिया, जिनका क्रमपूर्ण संक्षिप्त परिचय देना ही उचित होगा।

निबंध—प्रायः निबंध के जितने प्रकार हो सकते हैं—वर्णनात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, आदि (ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, शोध संबंधी, आलोचना, दार्शनिक, समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक) सभी पर सशक्त और समर्थ लेखकों द्वारा निबंध लिखे गये हैं। हिंदी के प्रमुख निबंधकार हैं—रामचंद्र शुक्ल, राय कृष्णदास, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी, माखनलाल चतुर्वेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, डा० रघुवीरसिंह, सियारामशरण गुप्त, महादेवी वर्मा, शान्तिप्रिय द्विवेदी, बेनीपुरी, अज्ञेय, वियोगी हरि, डा० नगेन्द्र, शिवपूजनसहाय, जैनेन्द्र, गुलाबराय, डा० धीरेन्द्र वर्मा, ललिताप्रसाद शुक्ल, विनयमोहन शर्मा, परशुराम चतुर्वेदी, विद्यानिवास मिश्र, इलाचन्द्र जोशी, प्रभाकर माचवे आदि आदि।

नाटक

नाटक की दोनों पद्धतियाँ हिंदी में अपनाई गईं, पाश्चात्य और पूर्वी। साथ ही लोकनाट्य जैसे स्वांग, रामलीला, रासलीला आदि के रूप यद्यपि लिखित साहित्य में उतने नहीं हैं किंतु

उनका व्यावहारिक पक्ष उत्तरी भारत की सांस्कृतिक परंपरा को अब तक जीवित करता आ रहा है। कहा जा चुका है कि भारतेन्दु के समय में ही नाटकों का लेखन प्रारंभ हो गया था किंतु उसका विकास आगे चलकर प्रसाद और प्रसादोत्तर नाटककारों ने किया। ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रायः सभी प्रकार के नाटकों की परंपरा हिंदी में प्रारंभ हुई। 'प्रसाद युग' के प्रमुख नाटककारों में उल्लेख योग्य नाम हैं—जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, प्रेमचंद, उग्र, गोविन्दवल्लभ पंत, कौशिक, जी० पी० श्रीवास्तव, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, लाला सीताराम, गोपालराम गहमरी आदि। प्रसादोत्तर नाटककारों में मुख्य हैं—श्री हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, वृन्दावनलाल वर्मा, रामकुमार वर्मा, अमृतलाल नागर, रघुवीरशरण मित्र, विष्णु प्रभाकर , जगदीशचन्द्र माथुर, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', लक्ष्मीनारायण लाल आदि।

एकांकी

एकांकी नाटकों का विकास भी प्रसाद से ही मानना चाहिए। उनके 'एक घूँट' के पहले एकांकी का स्वरूप हिंदी में नहीं मिलता। बर्नार्ड शॉ और इब्सन ने हिन्दी के एकांकी साहित्य को बहुत प्रभावित किया है जिसका उदाहरण भुवनेश्वरप्रसाद का 'कारवां' है। एकांकी नाटकों के विषय भी विविध और व्यापक हैं। इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करनेवाले व्यक्ति हैं, डा० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, प्रेमी, गोविन्ददास, 'अश्क', सद्‌गुरुशरण अवस्थी, जगदीशचंद्र माथुर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीशरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा आदि ।

रेडियो रूपक

रेडियो के प्रचार के कारण दृश्य नाटकों की अपेक्षा ऐसे नाटकों की आवश्यकता पड़ी जो श्रव्य हों और जिन्हें प्रसारित किया जा सके। ध्वनि के माध्यम से रसानुभूति करानेवाले इस प्रकार में शिल्प-विधि की कुशलता अत्यधिक आवश्यक होती है। इसमें प्रमुख हैं जगदीशचंद्र माथुर, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, भगवतीचरण वर्मा और अमृतलाल नागर, प्रभृति ।

उपन्यास

सामाजिक, जासूसी, तिलस्मी तथा ऐतिहासिक नाटकों का विकास द्विवेदी युग तक हो चुका था। परवर्ती काल में साहित्य में नये वादों के जन्म से वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से जिस प्रकार काव्य प्रभावित हुआ उसी प्रकार उपन्यास-साहित्य भी हुआ। प्रेमचंद इस युग के उपन्यास-सम्राट् हैं । उनके अतिरिक्त कौशिक, प्रसाद, जी० पी० श्रीवास्तव, वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, निराला, राहुल, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', 'अज्ञेय', यशपाल, रांगेय राघव प्रभृति कुछ ऐसे

उपन्यासकार हैं, जिनका साहित्य किसी भी भारतीय उपन्यासकार के समकक्ष हो सकता है। अत्याधुनिक काल में फणीश्वर नाथ 'रेणु' के मैला आँचल और परती परिकथा ने उपन्यास-क्षेत्र की परंपरा को बहुत आगे बढ़ा दिया है। नागार्जुन, गुरुदत्त, किशनचन्द, हंसराज तथा लक्ष्मी-नारायण लाल से इस क्षेत्र में काफी आशाएँ हैं।

कहानी

"सरस्वती" के उपरान्त हिंदी कहानी के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है। प्रेमचंद, प्रसाद, राय कृष्णदास, गोविन्दवल्लभ पंत, हृदयेश, सुदर्शन, वाजपेयी, निराला, बख्शी, अज्ञेय, जैनेन्द्र प्रभृति प्रायः सभी उपन्यासकारों के अतिरिक्त आजकल जिनकी कहानियाँ अत्यंत लोक-प्रिय हुई हैं, उनमें सर्वप्रमुख हैं, 'अंचल', अमृतराय, ओंकार शरद, कमला देवी, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय आदि।

समालोचना

वास्तविक आलोचना का विकास तो पंडित रामचंद्र शुक्ल के काल में ही हुआ, यद्यपि इसका सूत्रपात द्विवेदी युग में ही हो चुका था। शुक्ल जी ने सामाजिक, वैयक्तिक और ऐतिहासिक परिपार्श्व में आलोचना की जो पद्धति अपनाई वह बिलकुल नयी थी। उन्हीं की देखा-देखी भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में भी आलोचना का प्रारंभ हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि शुक्लजी अपने समय के भारतवर्ष के सर्वश्रेष्ठ आलोचक थे। साहित्य का क्रमबद्ध इतिहास लिखकर उन्होंने साहित्य का इतिहास लिखनेवालों को एक रास्ता बताया। पूर्व प्रचलित सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलो-चना का जो रूप था उसे शुक्ल जी ने बदल दिया और तर्कपूर्ण मूल्यांकन का तरीका बताया। हिंदी साहित्य के अनेक कवि तुलसी, घनानंद आदि को प्रकाश में लाने का श्रेय उन्हीं को है। भारतीय साहित्य-शास्त्र और पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के समन्वय द्वारा उन्होंने आलोचना का स्तर जैसा उठाया वैसा अब तक कोई भी आलोचक नहीं कर सका है। उस काल के प्रमुख आलोचक हैं—रामचंद्र शुक्ल, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० दीन-दयाल गुप्त, ललिताप्रसाद शुक्ल, डा० नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि।

हिंदी साहित्य में आज आलोचना का क्षेत्र बहुत ही सम्पन्न और दुरुस्त है। आज के जिन आलोचकों के नाम लिये जा सकते हैं वे हैं—डा० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, बच्चन सिंह, शिवनाथ एम० ए०, नलिनविलोचन शर्मा आदि।

हिंदी के विभिन्न क्षेत्रों में इधर सर्वांगीण रूप से कार्य हो रहा है। राहुल जी, डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदी, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० नगेन्द्र, डा० दीनदयाल गुप्त, श्री अगरचन्द नाहटा, श्री प्रभुदयाल मीतल, प्रभृति शोधकर्ताओं के प्रयत्न से हिंदी में साहित्य के बहुत से लुप्त हुए ग्रंथों का प्रकाशन और सम्पादन होने के साथ ही साथ उन अनेक प्रकारों के, जिनके संबंध में सामग्री के अभाव में उचित निष्कर्ष नहीं निकाले जा सके थे, समाधान होते जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त काशी

नागरीप्रचारिणी सभा, राष्ट्रभाषा-प्रचार सभाएँ तथा अन्य हिंदी की संस्थाएँ हिन्दी-प्रचार और प्रसार के लिए जो व्यापक प्रयत्न कर रही हैं, उसके द्वारा अन्य अहिंदी प्रांतों के लेखकों तथा साहित्यकारों की रचनाओं से भी हिंदी साहित्य का ज्ञान-भंडार बढ़ता ही रहा है। आये दिन पत्र-पत्रिकाओं की संख्या की अभिवृद्धि हिंदी के नये लेखकों को प्रकाश में लाने का कार्य तो कर ही रही है किंतु उसके साथ ही साथ हिंदी की लोकप्रियता भी निरंतर ही बढ़ाती जा रही है। जिन लोगों का यह कहना है कि हिंदी का साहित्यिक स्तर उतना ऊँचा नहीं है, जितना अन्य भाषाओं का, वे बिलकुल भ्रम में हैं। यह उनका पूर्वाग्रह है जो उनकी आँखों को बन्द किये रहता है। भारतवर्ष की किसी भाषा के साहित्य से हिंदी का साहित्य घटकर नहीं है और यह नितांत सत्य है कि जितना रचनात्मक और आलोचनात्मक कार्य साहित्य के विभिन्न अंगों को लेकर हिन्दी में हो रहा है, उतना शायद किसी भी भाषा में नहीं है। बहुत लोग हिंदी बोलते हैं इसलिए नहीं, वरन् उसका साहित्य भी इतना यथेष्ट, सर्वांगपूर्ण और सम्पन्न है कि उसको राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त होना ही है।

उत्कल के तीर्थ और उनका माहात्म्य

श्री विपिनविहारीनाथ, एम० ए०, बी० एल०

ओड़िशा का प्राचीन नाम कलिंग था। अशोक के १४वें शिलालेख में इसका 'अविजिता कलिंग' नाम मिलता है। समयानुसार नाम में कई परिवर्तन होते रहे। फिर गंगवंश के शासन-काल में 'उत्कल' नाम पड़ा। १३वीं शताब्दी के मुसलमान ऐतिहासिकों ने इसका नाम जाज-नगर बताया था; किंतु १५वीं शताब्दी में उत्कल नाम फिर से आ गया। आज का उत्कल या ओड़िशा, ओड़ियाभाषी जनता के एक विशाल प्रदेश में सीमाबद्ध है।

वैतरणी नदी के किनारे पर अवस्थित जाजपुर नगरी तथा उसके आस-पास का भू-भाग विरजा क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध है। लगता है, ओड़िशा के भौमवंशी राजाओं के शासनकाल में इसका नाम केवल 'विरजा' ही था। इस क्षेत्र में ब्रह्माणी के द्वारा विरजादेवी की प्रतिष्ठा हुई थी, जिनके दर्शन से सात पुरुषों तक का उद्धार हो जाता है।[1] इस क्षेत्र में स्थापित विरजा देवी के दर्शन से सात पुरुषों के उद्धार की कथा हिंदू समाज में बहुत दिनों से प्रचलित है। यही प्रसिद्धि उसे तीर्थरूप में प्रतिष्ठित करने का प्रधान कारण है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि यहाँ सर्वपापहारिणी वैतरणी नदी बहती है जिसके पवित्र जल में स्नान करने से मनुष्यों के सारे पाप कट जाते हैं।[2] इसी नदी के तट पर धर्म ने यज्ञ किया, रुद्र ने पशु-हरण किया और पाण्डवों ने तर्पण किया था।[3]

---

१. विरजे विरजा माता ब्रह्माणी सम्प्रतिष्ठिता।
यस्याः संदर्शनान्मर्त्यः पुनात्यासप्तमं कुलम्॥—ब्रह्मपुराण

२. आस्ते वैतरणी तत्र सर्वपापहरा नदी।
यस्यां स्नात्वा नरश्रेष्ठः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥—ब्रह्मपुराण

× × ×

ततो वैतरणीं गच्छेत् सर्वपापप्रमोचिनीम्।
विरजं तीर्थमासाद्य विराजति यथा शशी।
प्रतरेच्च कुलं पुण्यं सर्वपापं व्यपोहति।
गोसहस्रफलं लब्ध्वा पुनाति स्वकुलं नरः॥—महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८५।

३. आस्ते स्वयम्भूस्तत्रैव क्रोडरूपी हरिः स्वयम्।
दृष्ट्वा प्रणम्य तं भक्त्या परं विष्णुं व्रजन्ति ते॥—ब्रह्मपुराण ४२।४,५।

इस क्षेत्र में स्वयम् शिव की प्रतिष्ठा के कारण इसका माहात्म्य और भी बढ़ गया है। ये विष्णु के क्रोड़-समान हैं। उनको भक्तिपूर्ण हृदय से प्रणाम करनेवाले विष्णुलोक पाते हैं। मृत्यु के बाद विष्णुलोक पाने की कामना विरजा क्षेत्र में स्थापित स्वयम् शिव जी के दर्शन से ही पूर्ण होती है। इसी से यह क्षेत्र प्राचीन काल से एक तीर्थ माना गया है। इस क्षेत्र में पिंडदान करने से पितृपितामह आदि को अक्षय तृप्ति प्राप्त होती है।[1] यहाँ विरजा देवी के ईशान कोण में स्थित पूर्वपुरुषों को मुक्ति देनेवाला परम पवित्र नाभिगया तीर्थ है।[2] विरजा क्षेत्र का यह माहात्म्य सर्व-विदित है कि उपरोक्त नाभिगया तीर्थ में पिण्डदान करने से पूर्वपुरुषों को मुक्ति मिलती है। इसी तीर्थ के कारण यह क्षेत्र हिंदुओं में बहुत प्रसिद्ध है।

जब जगन्नाथ-सड़क जाजपुर से होकर जाती थी उस समय जाजपुर तीर्थयात्रियों का एक दर्शनीय स्थान था। किंतु जब से वह कबाटबंध के कारण हटा दी गई और रेलमार्ग जाजपुर से बहुत दूर पड़ गया, उसी समय से यह यात्रियों की पहुँच से काफी दूर हो गया है।

उपरोक्त माहात्म्य से स्पष्ट है कि विरजाक्षेत्र अत्यन्त प्राचीन काल से पिंडदान, विष्णु-लोक-प्राप्ति का स्थान, सप्तपुरुषों के उद्धार की तीर्थ-भूमि और पापमोचनहारी पुण्यस्थली के रूप में मान्य है।

इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में कई अन्य पवित्र स्थान हैं जिनके कारण यह और भी लोकप्रिय बन गया है। यहाँ कपिल, गोग्रह, सोम, अलावु, मृत्युञ्जय, क्रोड़, वासुक और सिद्धेश्वर नामक अष्ट तीर्थ हैं। इन तीर्थों का विधिपूर्वक सेवन करने से मुक्ति और ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।[3] यहाँ वराहमंदिर में मुक्तिदायक विष्णु के वाराह अवतार[4],

---

१. विरजे यो मम क्षेत्रे पिंडदानं करोति वै।
स करोत्यक्षयां तृप्तिं पितॄणां नात्र संशयः॥—ब्रह्मपुराण ४२।९

२. तत्र श्री विरजे क्षेत्रे देव्या ईशानकोणतः।
गयानाभिर्महापुण्य पितॄणां मुक्तिदायकः॥—कपिलसंहिता।

३. कपिले गोग्रहे सोमे तीर्थे चालावुसंज्ञिते।
मृत्युंजये क्रोडतीर्थे वासुके सिद्धकेश्वरे।
तीर्थेष्वेतेषु मतिमान् विरजे संयतेन्द्रियः,
गत्वाष्टतीर्थं विधिवत् स्नात्वा देवान् प्रणम्य च।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विमानवरमास्थितः।
उपगीयमानो गंधर्वैर्मम लोके महीयते। वायुपुराण, अ० ४२-६, ७

४. वराहरूपी भगवान् तत्रास्ते मुक्तिदायकः।—कपिलसंहिता।

आखंडलपति महादेव[१], मुक्तिप्रदाता मुक्तेश्वर लिंग[२] और भवपाश-विमोचन त्रिलोचन प्रतिष्ठित हैं।[३]

इन देवताओं के कारण विरजा क्षेत्र का माहात्म्य बहुत ही अधिक बढ़ गया है। वायु-पुराण का कथन है कि गंतदैत्य के नाभि-कूप के समीप विरजा देवी विराजित हैं। यहाँ पिंडदान करने से त्रिसप्तकुलों का उद्धार होता है। इसके अतिरिक्त महेन्द्र गिरि द्वारा गंतदैत्य के दोनों पैर निश्चल कर दिये गये हैं। यहाँ पिंडदान करके मानव सात कुलों का उद्धार कर सकता है।[४]

उपरोक्त इन स्थानों के अतिरिक्त कपिलसंहिता में यहाँ के अनेक छोटे-छोटे तीर्थों का वर्णन आया है। उसके अनुसार गोग्रह नामक एक श्रेष्ठ तीर्थ भी यहाँ है। इसके तट पर ऋषि और मुनि निवास करते थे। उस स्थान पर नियमित स्नान करने से मनुष्य गोलोक जाता है।[५] वहीं चंद्रमा द्वारा निर्मित सोमतीर्थ है जिसमें स्नान करने का फल चंद्रलोक की प्राप्ति है।[६] सोम-तीर्थ के पश्चात् वहाँ गीदड़ों की योनि से मुक्ति देनेवाला और मेरु के समान पुण्य का दाता अलावु[७] तथा मनोकामनाओं को पूर्ण करनेवाला सिद्धिदाता क्रोड़ और सिद्धेश्वर नामक तीर्थ[८] हैं। यहाँ के कपिलदेव और वाराही देवी के दर्शन से मुक्ति मिलती है।[९] इसी क्षेत्र

---

१. आखण्डलस्तु तत्रास्ते पार्वतीशो जगद्गुरुः।—कपिलसंहिता।

२. यत्र मुक्तेश्वरं लिंगं मुक्तिदं पापनाशनम्।—वही।

३. त्रिलोचनस्तु तत्रास्ते भवपाशविमोचनः।—वही।

४. आक्रांतं दैत्यजठरं धर्मेण विरजाद्रिणा।
नाभिकूपसमीपे तु देवी जा विरजास्थिता।
तत्र पिंडोदकं कृत्वा त्रिःसप्तकुलमुद्धरेत्।
महेंद्रगिरिणा तस्य कृतौ पादौ सुनिश्चलौ।
तत्र पिंडादिकृत् सप्तकुलानुद्धरते नरः।—वायुपुराण, अ० १०६।८४, ८५, ८६।

५. तत्रैव गोग्रहं तीर्थं मुनीन्द्रैरुपसेवितम्।
तत्र स्नात्वा च विधिवत् गोलोकस्थलं लभेत्।—कपिलसंहिता।

६. सोमतीर्थवरं चास्ते निर्मितं वै हिमांशुना।
स्नात्वा तत्र नरश्रेष्ठ चंद्रलोकं च गच्छति।—कपिलसंहिता।

७. अलावुसंज्ञकं नाम तत्रास्ते विरजे द्विजाः।
अल्पपुण्यं भवेत् तत्र मेरुतुल्यं न संशयः।—वही।

८. क्रोडतीर्थं च तत्रास्ते परमं पावनं महत्।
तीर्थं सिद्धेश्वरं नाम सिद्धिदं सर्वकामदम्।—वही।

९. स्नात्वा वै सागरे मर्त्यो दृष्ट्वा च कापिलं हरिम्।
पश्येद्देवीं च वाराहीं याति त्रिदशालयम्।—ब्रह्मपुराण ४२-११

में देवताओं द्वारा स्तुत मृत्युंजय नामक एक तीर्थ और है जिसमें स्नान करने से मृकण्डु-तनय ने मृत्यु पर विजय पाई थी।[1]

विरजा क्षेत्र के उपरोक्त माहात्म्य प्रकट करते हैं कि यह अत्यंत प्राचीन काल से बहुत ही प्रसिद्ध तीर्थ रहा है। इस सुरम्य नगरी में निर्मित अधिकांश मंदिर मुसलमानों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। उनमें विरजा मंदिर, वराहनाथ मंदिर और हीरापुर के पास गोपीनाथ जी का मंदिर अब तक विद्यमान है। विरजा मंदिर की मरम्मत कई बार की जा चुकी है। इसका प्रमाण मंदिर की भीतरी दीवार और स्तम्भ में मिलता है। हीरापुर के निकट गोपीनाथ जी का मंदिर है, जो अत्यंत सुन्दर और नक्काशी से पूर्ण है। जाजपुर नगरी में एक प्रस्तर-निर्मित स्तम्भ है जो थोड़ा झुक गया है। इसकी ऊँचाई ३३ फुट है। इसका दारुकार्य अत्यंत सुन्दर है। विरजा क्षेत्र सैकड़ों वर्षों से पवित्र तीर्थस्थान और सुन्दर नगरी के रूप में प्रसिद्ध है। यह बहुत दिनों तक भौमिक राजाओं की राजधानी भी रहा है।

कपिलास क्षेत्र

विरजा क्षेत्र के बाद कपिलास क्षेत्र का माहात्म्य वर्णन करने योग्य है। यह क्षेत्र ढेंकानाल गड़ से १२ मील दूर, पहाड़ के शिखर पर है। विरजा क्षेत्र (जाजपुर) और एकाम्र क्षेत्र (भुवनेश्वर) के बीच कैलास पर्वत पर स्थित है। यहाँ सर्वपापहारी श्री शिखरेश्वर महादेव हैं।[2] कैलास-धाम का स्थान अत्यंत मनोरम और शान्त है। पुराणों में वर्णन आता है कि रावण ने जब कैलास पर्वत को उठाया तो कैलास का एक श्रृंग विच्छिन्न होकर अलग आ पड़ा। तब से इसका कपिलास नाम पड़ा। वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य अत्यंत रमणीय है, जिसका पता इन श्लोकों से चलता है—

बकुलैश्चम्पकैर्वृक्षैः सपुष्पैरुपशोभितैः।
सपत्रैश्च तु पुन्नागैः नारिकेलैः सचामरैः।
अशोकैर्मालितीभिश्च माधवीभिः कदंबकैः।
सेवतिकाभिः कुंदैश्च कंचनैः श्वेतरक्तकैः।
एवं नानाविधैर्वृक्षैः नानाविधवरैरपि।
विश्वनाथस्य तत्स्थानं पुनीतं वै समन्ततः।

—कपिलसंहिता

---

१. तत्र मृत्युंजयं नाम तीर्थं देवगणैः स्तुतम्।
मृकण्डुतनयो यत्र स्नात्वा मृत्युं जिगाय च।—क० सं०।

२. विरजैकाम्रमध्ये कैलासं च श्रुतं द्विजाः।
सर्वपापहरो देवस्तत्र श्रीशिखरेश्वरः।—वही।

यहाँ पितृ-पितामह को मुक्तिदायक, शिखरेश्वर के ईशान कोण में स्थित अमृत के समान पुनीत जल से पूर्ण एक तीर्थकुंड है। इस कुंड में स्नान करने पर सौदास राजा को मुक्ति मिली थी।[१]

इसके मध्य में श्री शिखरेश्वर या चन्द्रशेखर के निवास करने के कारण कैलास पर्वत की पवित्रता कई गुना बढ़ गई है। इसी शिखरेश्वर मन्दिर के पास पापनाशक कुण्ड और पुराण-प्रशंसित पयोमृत कुण्ड है। इनका जल परम पवित्र है। इस पापनाशक कुण्ड का नाम 'जम्भ-कुण्ड' है। इस कुण्ड में पतितपाविनी गंगा की निर्मल धारा गिरती है। इसमें स्नान करके शिखरेश्वर की समवेत पूजा करने पर मनुष्य सिद्धि लाभ करता है।[२] पुराणों के निम्न वर्णन इसके माहात्म्य को प्रकट करते हैं—

> कैलासे शंकरस्थाने ये सेवन्ति नरोत्तमाः।
> इहभोगफलप्राप्तिर्मुक्तिस्तेषां करे स्थिता।
> कैलासनिलयं शम्भोर्दुर्ल्लभं मुक्तिदायकम्।
> यत्र देवगणाः सन्ति नित्यं शम्भोः समीपतः।
> आलोक्य शिखरेशं च पूजयित्वा प्रणम्य च।
> सुरभीमारणं दोषं क्षिप्त्वोर्ध्वं च व्रजेन्नरः।
> ब्रह्माद्या देवताः सर्वाः कांक्षन्ति च मुहुर्मुहुः।
> भूमिलोकं कदा गत्वा द्रक्ष्यामः शिखरेश्वरम्।

इस प्रकार पुराणों ने कैलाश को परमपवित्र और मुक्तिप्रद तीर्थ माना है। इसे वाराणसी क्षेत्र भी कहते हैं।

यह ओड़िशा के अन्यतम तीर्थों में से एक है। शिवरात्रि के अवसर पर कैलास का नयनाभिराम दृश्य और यात्रियों का समागम दर्शनीय होता है। यहाँ नरसिंहदेव प्रथम और चन्द्रकेशरी नामक एक अन्य राजा के भी शिलालेख पाये गये हैं।

---

१. तस्मिन्नद्रौ द्विजश्रेष्ठास्तीर्थमस्ति पयोमृतम्।
अग्रे श्रीशिखरेशस्य ऐशानं दिशमास्थितम्।
बरेण्यं परमं पुण्यं पितॄणां मुक्तिदायकम्।
यत्र स्नात्वा च सौदासो राजा मुक्तिं अवाप ह॥

२. तत्रैव तीर्थप्रवरं मदंगे पापनाशिनीम्।
जम्भकुण्डमिति ख्यातं किंचिदाग्नेयमास्थितम्।
पतन्ति तत्र गांगानि वारीणि शुभदानि च।
जम्भकुण्डे नरः स्नात्वा पूजयित्वा महेश्वरम्।
नरः सिद्धिमवाप्नोति मत्प्रसादान्न संशयः।
तत्र गत्वा मनुर्जप्त्वा लभते भक्तिरुत्तमा।—क० स०।

कृत्तिवास क्षेत्र अथवा एकाम्रकम्

ओड़िशा के तीर्थों में कृत्तिवास क्षेत्र भारत-विख्यात है। प्राचीन काल से यह बहुत ही पवित्र और प्रतिष्ठित माना जाता है। छठीं और सातवीं शताब्दी में इस पुण्यभूमि पर अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ था। इन मंदिरों को विभिन्न राजवंशों के शासकों ने समय समय पर बनाकर इस तीर्थ का गौरव बढ़ाया था।

दशवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में उत्कीर्णित ब्रह्मेश्वर मन्दिर के शिलालेखों से पता चलता है कि भुवनेश्वर का नाम एकाम्र था। गंगवंशी राजाओं के शिलालेखों में इसका नाम कृत्तिवास क्षेत्र (कृत्तिवास कटक) खुदा हुआ है। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि काशी के समान यह सर्व-पापनाशक है। वहाँ एक कोटि लिंग हैं। अष्ट तीर्थों में यह एकाम्र नाम से प्रसिद्ध है।[1] यहाँ सभी लोगों के हितार्थ स्वयं भुक्ति-मुक्तिदाता कृत्तिवास वृषध्वज शिव वास करते हैं।[2]

बिंदुसरोवर—बिन्दु सरोवर तीर्थ के माहात्म्य का वर्णन चन्द्रा देवी के अनन्त वासुदेव मन्दिर के शिलालेख में भी मिलता है। शिलालेख में कहा गया है कि उपमा में सागर सा अतुल-नीय, पथिकों की क्लान्ति को मिटानेवाला, अमृततुल्य बिन्दु सरोवर तीर्थ को लोगों के हितार्थ शिव जी ने बनाया था। इसका जल शिव जी की जटा से बहते हुए गंगा-जल सा पवित्र और निर्मल है। इससे किसी दूसरे तीर्थ की तुलना नहीं की जा सकती है। यह तीर्थ प्राणिमात्र के दुःख और संताप का नाशक है।[3] ब्रह्मपुराण का कथन है कि रुद्रदेव ने पृथ्वी के सभी पवित्र तीर्थों, नदियों, सरोवरों, तालाबों, कूपों और सागरों से अलग अलग एक एक बूँद जल देकर संसार के हितार्थ ऋषियों के साथ इसी क्षेत्र में एक तीर्थ का निर्माण किया था। रुद्र द्वारा निर्मित उस तीर्थ का नाम बिंदुसरोवर है।[4] इस बिंदुसरोवर में स्नान करने से अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता

---

१. शृणुध्वं मुनिशार्दूल प्रवक्ष्यामि समासतः।
सर्वपापहरं पुण्यं क्षेत्रं परमदुर्लभम्।
लिंगकोटिसमायुक्तं वाराणसिसमं शुभम्।
एकाम्रकेति विख्यातं तीर्थष्टकसमन्वितम्।—ब्रह्मपुराण, अ० ४१। १०, ११।

२. आस्ते तत्र स्वयं देवः कृत्तिवासा वृषध्वजः।
हिताय सर्वलोकस्य भुक्तिमुक्तिप्रदः शिवः।

३. यस्मिन् बिन्दुसरः सरस्वदसदृगदृक पेय पाथः यत्
पान्थः शान्तिहरं सुधा जनिता निःस्यन्दवपुः शाम्भवी।
यद्बिन्दोरपि नानुयान्ति पदवीं तीर्थानि तानि स्फुटं
भूतानुग्रहनिर्मितं पुरजिता लोकैकशोकापहं॥

४. पृथिव्यां यानि तीर्थानि सरितश्च सरांसि च।
पुष्करिण्यस्तडागानि वाप्यः कूपाश्च सागराः।

है।[१] यहाँ जो लोग ब्राह्मणों को धन आदि का दान देते हैं उन्हें अन्य तीर्थों की अपेक्षा सौ गुना अधिक फल मिलता है। इसके किनारे पिंडदान करने से पितृगण तृप्त होते हैं।[२] यदि नर या नारी श्रद्धा या अश्रद्धापूर्वक बिना किसी तिथि-विचार के वैशाख आदि मासों में इस क्षेत्र में आकर तथा बिंदुसर में स्नान कर वहाँ के विरूपाक्ष, वरदायिनी दवी शिवा, चंडगण, कार्त्तिकेय, गणेश, नन्दी, कल्पवृक्ष और सावित्री का दर्शन करे तो उसे शिवलोक मिलता है।[३]

ब्रह्मतीर्थ—इस तीर्थ का भी बहुत बड़ा माहात्म्य है। ब्रह्मेश्वर मंदिर के अभिलेख में उसे सिद्धतीर्थ में अवस्थित कहा गया है। उसमें कहा गया है कि एकाम्र कानन वन के सिद्ध-तीर्थ में कोलावती पृथ्वी देवी के मुकुट-समान ब्रह्मेश्वर मन्दिर का निर्माण हुआ था।[४] इस तीर्थ के नामकरण के विषय में स्वर्णाद्रि महोदय का कथन है कि ब्रह्मयज्ञ से समुद्भूत ब्रह्मकुंड भुवनेश्वर में है। वहाँ पहुँचकर ब्रह्मेश्वर के दर्शन करने से मुक्ति मिलती है। इसी से इसका नाम ब्रह्मतीर्थ पड़ा है।[५]

तेभ्यः पूर्वं समाहृत्य जलबिन्दून् पृथक् पृथक्।
सर्वलोकहितार्थाय रुद्रः सर्वसुरैः सह।
तीर्थं बिंदुसरो नाम तस्मिन् क्षेत्रे द्विजोत्तमाः।
चकार ऋषिभिः सार्धं तेन बिंदुसरः स्मृतम्।—ब्रह्मपुराण—४१।५१,५४।

१. स्नात्वैवंविधिवत्तत्र सोऽश्वमेधफलं लभेत्।—वही—४१।५७।

२. ये तत्र दानं विप्रेभ्यः प्रयच्छंति धनादिकम्।
अन्यतीर्थशतगुणं फलं ते प्राप्नुवन्ति वै।
पिंडं ये संप्रयच्छन्ति पितृभ्यो सरसस्तटे।
पितॄणामक्षयां तृप्तिं ते कुर्वन्ति न संशयः।—ब्रह्मपुराण।

३. तस्मिन्क्षेत्रोत्तमे गत्वा श्रद्धयाश्रद्धयापि वा।
माधवादिषु मासेषु नरो वा यदि वांगना।
यस्यां कस्यां तिथौ विप्राः स्नात्वा बिंदुसरोम्भसि।
पश्येद्देवं विरूपाक्षं देवीं च वरदां शिवाम्।—ब्रह्मपुराण ४१।८९।
गणं चंडं कार्त्तिकेयं गणेशं वृषभं तथा।
कल्पद्रुमं च सावित्रीं शिवलोकं स गच्छति।—ब्रह्मपुराण ४१।९०।

४. एकाम्रे सिद्धतीर्थे चतुरमरकुली नाट्यशालासमेतः
कोलावत्या तयैष क्षितिमुकुटनिभं कारितं कीर्तिराजम्।—ब्रह्मेश्वर मन्दिर का अभिलेख।

५. ब्रह्मकुण्डं च तत्रास्ते ब्रह्मयज्ञसमुद्भवम्।
तत्र गत्वा मुनिश्रेष्ठाः पश्येत् ब्रह्मेश्वरं हरम्।
ब्रह्मयज्ञोद्भवं तीर्थं तत्रास्ते जनपावनम्।—स्व० म०।

श्री परशुरामेश्वर मन्दिर, भुवनेश्वर
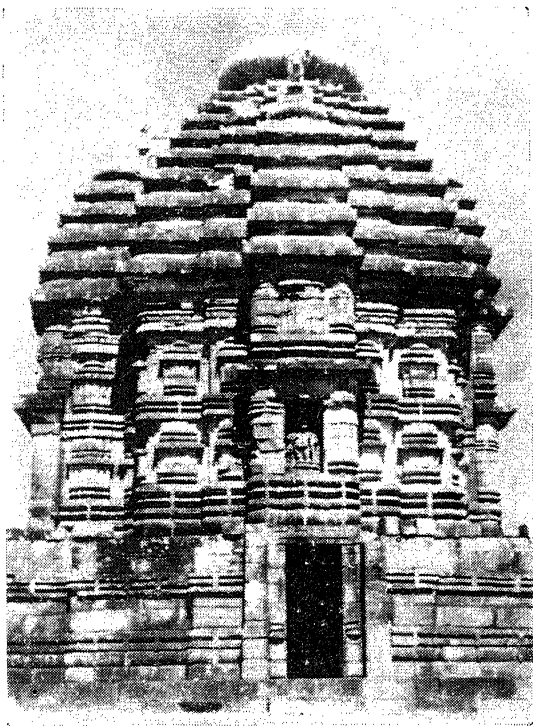
भास्करेश्वर मन्दिर, भुवनेश्वर
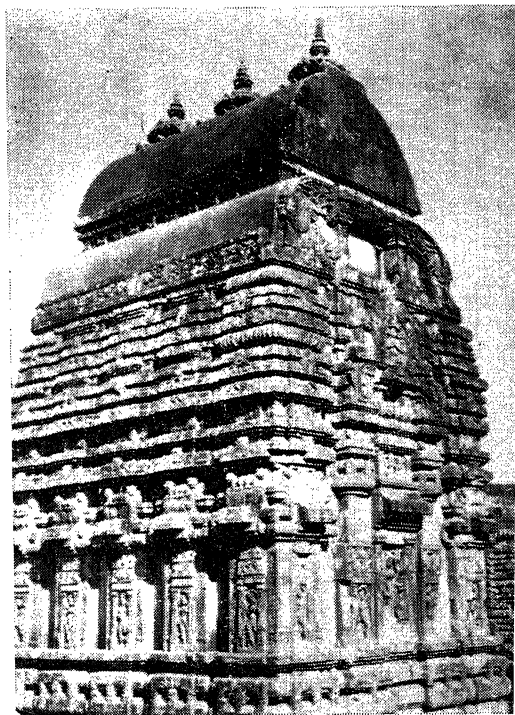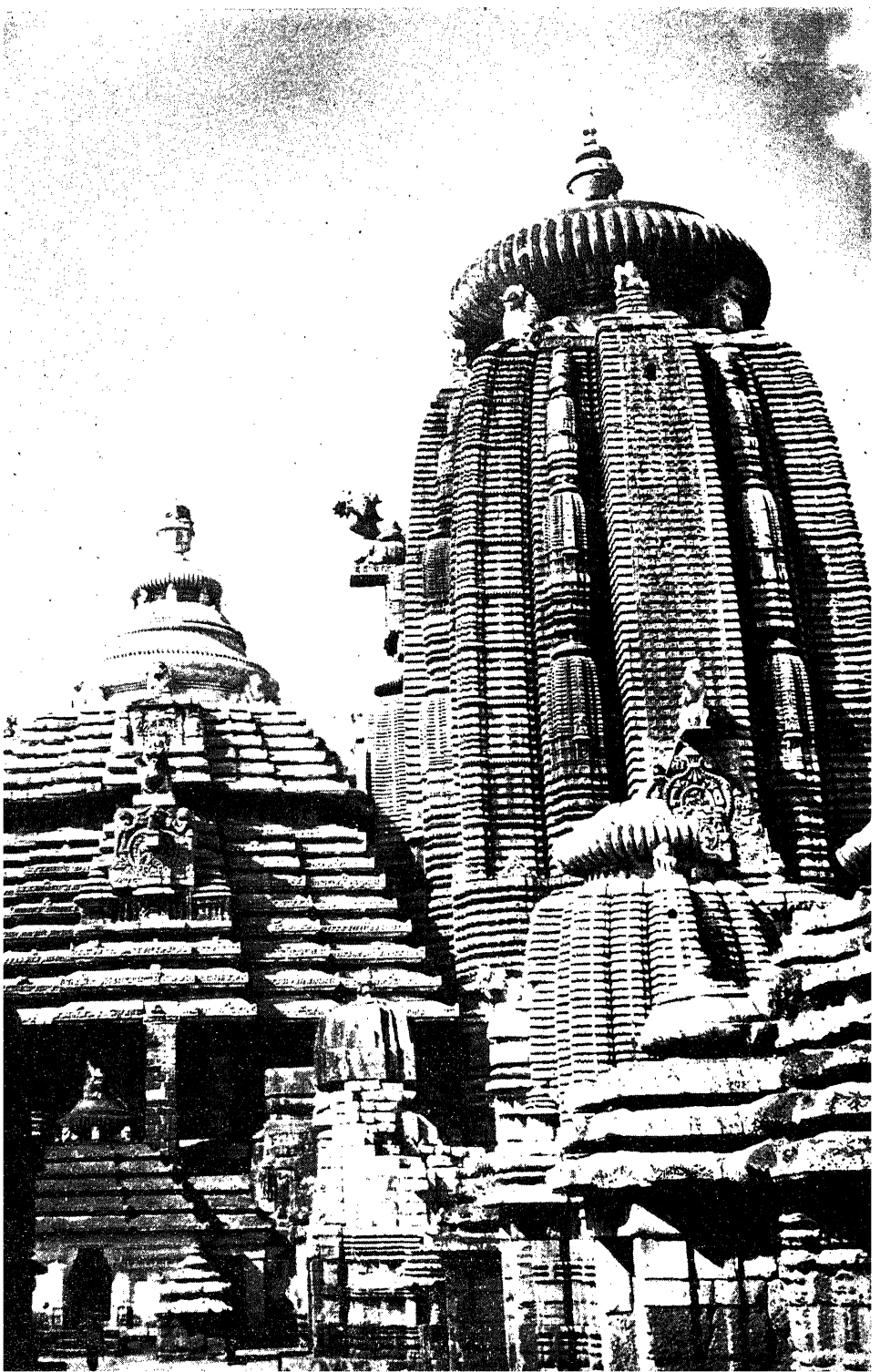
वोइताल मन्दिर, भुवनेश्वर

श्री श्री लिङ्गराज मन्दिर, भुवनेश्वर
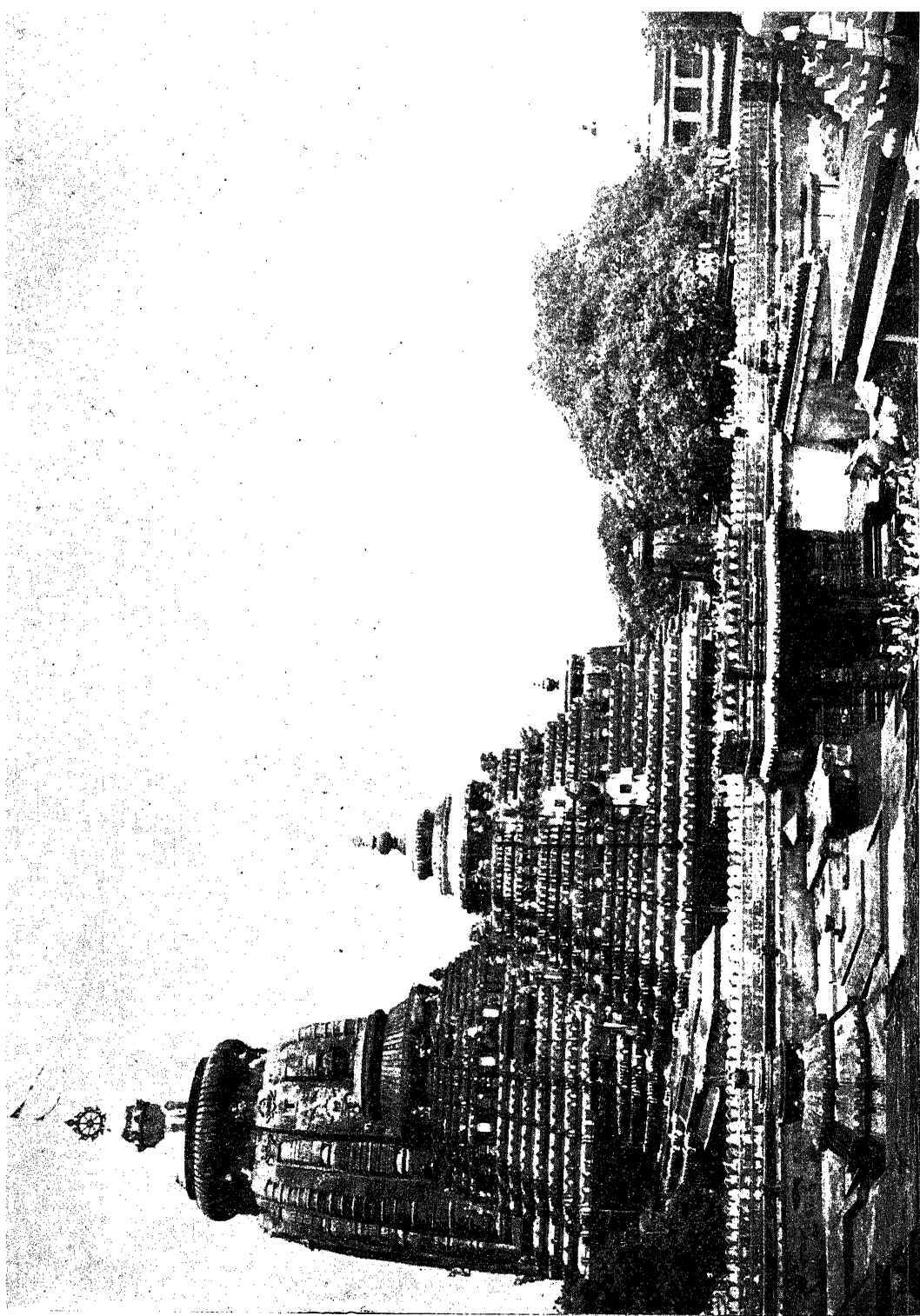
श्री जगन्नाथ मन्दिर * पुरी

नरेन्द्र सरोवर, पुरी
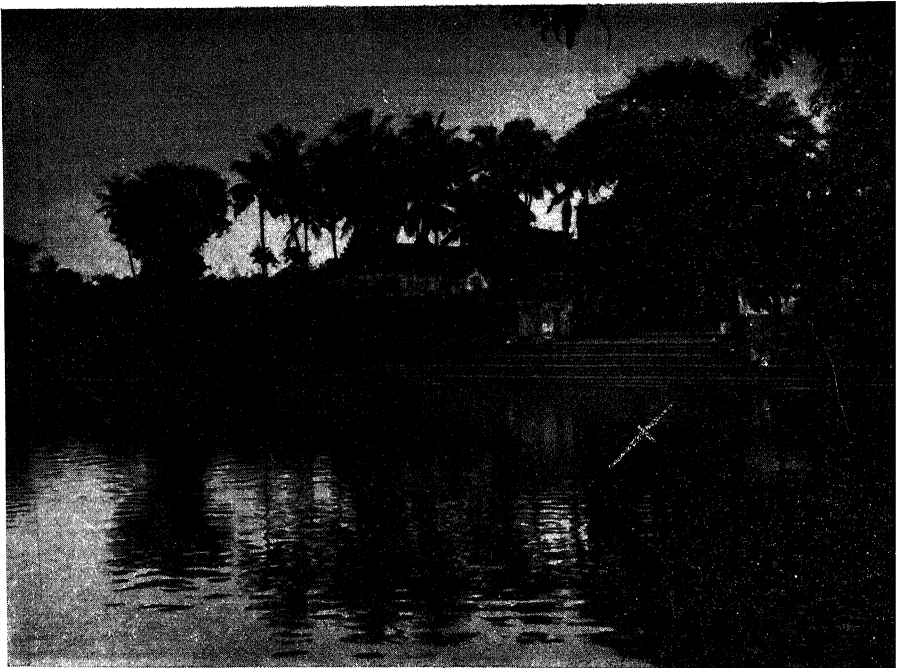
इन्द्रद्युम्न सरोवर, पुरी

मार्कण्डेय सरोवर, पुरी
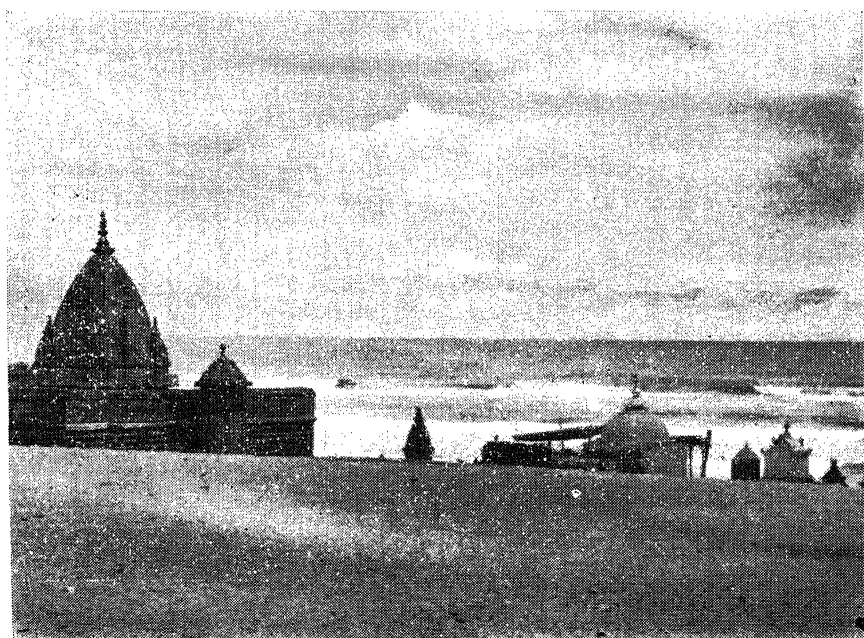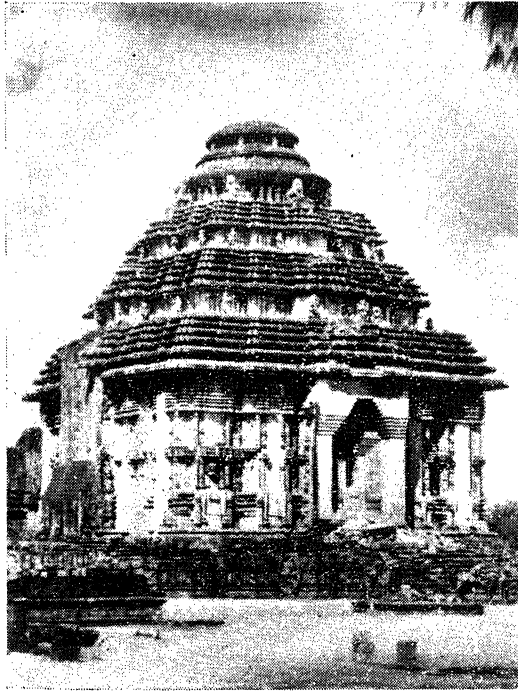
(ऊपर) सूर्यमन्दिर, कोणार्क (नीचे) गज-सिंह मूर्त्ति, कोणार्क
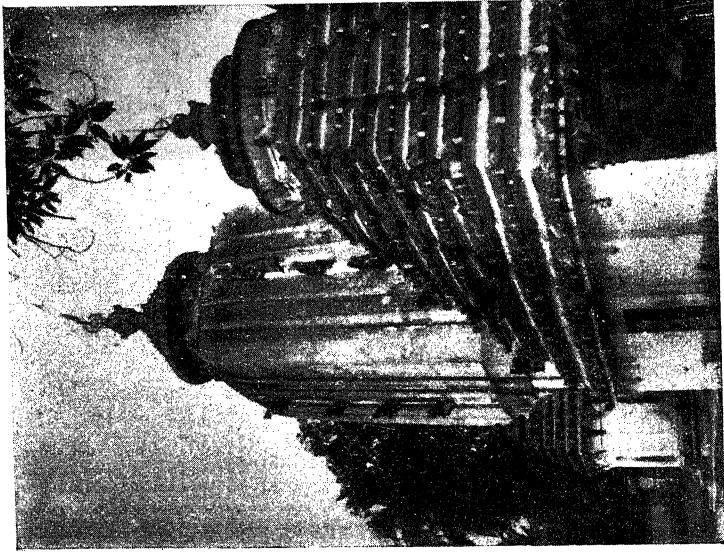
श्री विरजा मन्दिर—जाजपुर
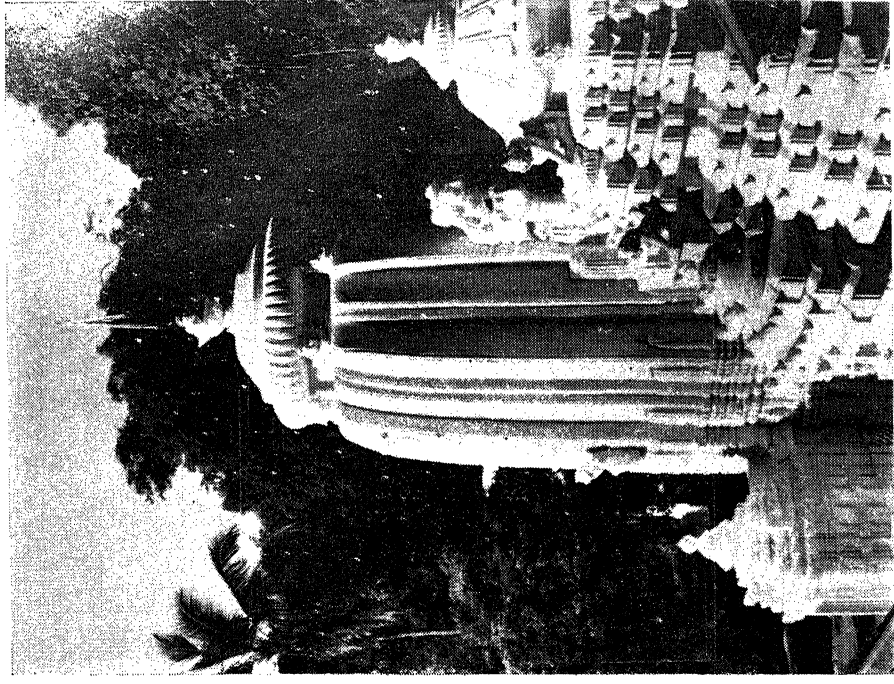
श्री चन्द्रशेखर मन्दिर—कपिलास, ढेङ्कानाल

मेध वा मेघेश्वर तीर्थ—मेघेश्वर मन्दिर के शिलालेख से पता चलता है कि स्वप्नेश्वर देव ने १२वीं शताब्दी में मेघेश्वर तीर्थ में[1] मघेश्वर नामक एक शिवालय का निर्माण कराया था। यह तीर्थ अत्यंत पवित्र और पापनाशक तथा पुण्यवर्द्धक है।[2] इसमें स्नान करके पितरों को जल देने से इन्द्रलोक प्राप्त होता है।[3]

सिद्धतीर्थ—इसी तीर्थ में मेघेश्वर की स्थापना एवं महिमा का उपरोक्त उल्लेख मेघेश्वर मंदिर के शिलालेख और स्वर्णाद्रि महोदय में भी किया गया है। ये सभी एकाम्र तीर्थ (भुवनेश्वर) के अंतर्गत हैं।

भुवनेश्वर के सिद्धेश्वर तीर्थ में स्नान करने पर सारी कामनाएँ पूरी होती हैं[4] और त्रिभुवन के तीर्थों का फल मिलता है।[5]

अलावू तीर्थ—एकाम्र कानन में अलावू (अलाल) नामक एक प्रसिद्ध तीर्थ है। इस तीर्थ में स्नान कर अलालेश्वर जी के दर्शन करने से मनुष्य नन्दीलोक को जाता है।[6] स्वर्णाद्रि महोदय में लिखा है कि इन्द्रवाक् नामक ब्राह्मण ने यहाँ एक लाख वर्ष तक तपस्या की थी। उसकी तपस्या से महादेव जी ने प्रसन्न होकर उसे वर माँगने को कहा। विप्र ने अपने भिक्षा-पात्र को एक पवित्र जलकुण्ड में बदलने तथा उसे तीर्थ की ख्याति पाने का वर माँगा। इस प्रकार यह स्थान शिव जी के द्वारा अनुमोदित होकर तीर्थ बन गया।

रामतीर्थ—भुवनेश्वर में रामतीर्थ या अशोक तीर्थ नामक एक दूसरा प्रसिद्ध तीर्थ है, जहाँ स्नान करने पर मनुष्य विष्णुलोक को जाता है।[7] यहीं रामचन्द्र जी ने शिव जी की पूजा की थी, इसी से इसका रामेश्वर नाम पड़ा। 'स्वर्णाद्रि महोदय' में वर्णन है कि रामचन्द्र जी ने लंका में राक्षसों का वध करके अयोध्या को लौटने पर असुरों को मारने के पाप से मुक्ति पाने के लिए गुरु वशिष्ठ से परामर्श लिया। वशिष्ठ जी ने उन्हें एकाम्र तीर्थ में एक शिवालय की

---

१. मेघेश्वरं च तत्रास्ते तीर्थं परमपावनम्।—स्व० म०।

२. मेघे तीर्थे नरः स्नात्वा संतर्प्य पितृदेवताः।
मेघेश्वरं समालोक्य शक्रलोकमवाप्नुयुः।—वही।

३. तत्र मेघेश्वरं तीर्थं पापघ्नं पुण्यवर्द्धनम्।—वही।

४. तीर्थं सिद्धेश्वरं नाम सिद्धिदं सर्वकामदम्।—क० स०।

५. सिद्धेश्वरे मनोज्ञे च प्रसन्नसलिले शुभे।
स्नातं येन दिनैकं च स्नातं तेन जगत्त्रये।—वही।

६. अलावूतीर्थं तत्रास्ते शोभितं तत् स्वरूपतः।
तत्र स्नात्वा शिवं दृष्ट्वा नन्दीलोकं व्रजेत् नरः।—स्व० म०।

७. अशोकझरसंज्ञा या स्नात्वा रामेश्वरं हरम्।
दृष्ट्वा पापक्षयं कृत्वा विष्णुलोकमवाप्नुयात्।—वही।

स्थापना करने का उपदेश दिया था। उसके अनुसार श्री रामचन्द्र ने रामेश्वर शिव जी की स्थापना करके पूजा की थी।

एकाम्रचन्द्रिका नामक ग्रन्थ में रामेश्वर तीर्थ अष्टतीर्थों में श्रेष्ठ माना गया है।[१] इससे बढ़कर कोई दूसरा तीर्थ नहीं है।[२] इसका दूसरा नाम अशोक झर है।[३]

कोटितीर्थ—स्वर्णाद्रि महोदय में वर्णन है कि प्राचीन काल से इन्द्रादि देवताओं ने मिलकर इसी शिवक्षेत्र में एक यज्ञ किया था। भुवनेश्वर महादेव इस यज्ञ से सन्तुष्ट हो गये। तभी से वह तीर्थकोटि के नाम से प्रसिद्ध हो गया। ऐसा माना जाता है कि इस तीर्थ में स्नान करने से करोड़ों यज्ञों का फल प्राप्त होता है।[४]

कपिलतीर्थ—स्वर्णाद्रि महोदय में उल्लेख है कि कपिल मुनि ने इस स्थान पर बहुत वर्षों तक तपस्या की थी। उनकी तपस्या से संतुष्ट होकर भुवनेश्वर महादेव ने इस तप-स्थली का नाम कपिलेश्वर रखा था। उसी दिन से यह पवित्र भूमि भक्तों के लिए प्रसिद्ध हो गई है और आज कल यहाँ कपिलेश्वर ग्राम बसा हुआ है। यहाँ स्नान करने पर सारे तीर्थों का फल प्राप्त होता है।[५] इस पापहारी तीर्थ में विधिपूर्वक स्नान करने से अभिमत फल के साथ शिवलोक की प्राप्ति होती है।[६]

ऊपर लिखे हुए भुवनेश्वर के इन आठ तीर्थों के अतिरिक्त पुराणों में अनेक तीर्थों का

---

१. सर्व तीर्थवरः श्रीमान् पावनः सर्वदेहिनाम्।
रामेश्वर इति ख्यातस्त्रिषु लोके भविष्यति।—एकाम्रचन्द्रिका।

२. अशोकात् अधिकं तीर्थं नास्त्यत्र पृथ्वीतले।—स्व० म०।

३. रामकुण्डं च तत्रास्ते अश्वमेधांगसम्भवम्।
अशोकझर-विख्यातं सर्वपापहरं द्विजाः।—वही।

४. कोटितीर्थात् परं तीर्थं अन्यक्षेत्रे न विद्यते।
कोटितीर्थे नरः स्नात्वा सर्वपापात् प्रमुच्यते।
अग्निष्टोमसहस्राणि वाजपेयशतानि च,
कर्त्तुश्च यत् फलं प्रोक्तं कोटितीर्थजलप्लुतः।
तत्फलं समवाप्नोति सकृत् स्नानात् न संशयः।—एकाम्रचन्द्रिका।

५. तत्र श्रीकपिलं कुण्डं सर्वतीर्थफलप्रदम्।
तस्मिन् स्नात्वा च तं दृष्ट्वा अक्षयं फलमाप्नुयात्।—स्व० म०।

६. स्नात्वा च कापिलं तीर्थं विधिवत् पापनाशनम्।
प्राप्नोत्यभिमतान् कामान् शिवलोकं स गच्छति।—ब्रह्मपुराण ४१।९०।
यः स्तंभं तत्र विधिवत् करोति नियतेन्द्रियः।
कुलेकवंशमुद्धृत्य शिवलोकं स गच्छति।—वही ४१।९१।

वर्णन मिलता है। आठ तीर्थ बिंदुसरोवर, सिद्धतीर्थ, ब्रह्मतीर्थ, मेघेश्वर तीर्थ, अलावू तीर्थ, रामतीर्थ या अशोक झर, कोटि तीर्थ और कपिल तीर्थ हैं।

अन्यान्य तीर्थ—देवीपदतीर्थ लिंगराज मंदिर के पूर्वी भाग में अवस्थित है। इसमें स्नान करने पर अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है।[१]

गन्धवती तीर्थ—भुवनेश्वर के पास गन्धवती (गँगुआ) नदी बहती है। पुराणों के अनुसार यह नदी उत्कल में प्रयाग के तीर्थराज के समान मान्य है। इसमें स्नान करने से मुक्ति मिलती है। यह प्रच्छन्नरूपिणी गंगा के नाम से प्रसिद्ध है।[२]

पुरी या शंखक्षेत्र—लगभग ७१७ ईसवी में इन्द्रभूति द्वारा लिखित ज्ञानसिद्धि नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि उस समय तक पुरी में जगन्नाथ जी की पूजा का महत्त्व चारों ओर स्थापित हो गया था। गंगवंशी राजाओं के द्वारा दिये गये ताम्रपत्रों से पता चलता है कि पुरुषोत्तम क्षेत्र और महोदधि का माहात्म्य भारत भर में फैल गया था। इसी पुरुषोत्तम क्षेत्र का दूसरा नाम पुरी है। नीलाद्रि महोदय तथा अन्य ग्रन्थों से पता चलता है कि इसका दूसरा नाम शंखक्षेत्र भी था और इसका क्षेत्रफल पाँच कोस का था।[३] यह नीलाचल नाम से भी विख्यात है।[४]

ओड़िशा में यह एक अन्यतम तीर्थ है और इसका माहात्म्य युगों से सुविदित है। इस पुरुषोत्तम क्षेत्र के अंतर्गत महोदधि, इंद्रद्युम्न, मणिकर्णिका आदि अनेक तीर्थ हैं।[५]

महोदधि तीर्थ—पुरुषोत्तम क्षेत्र के नाना तीर्थों में यह भी एक तीर्थ है जो वैष्णवों की पुण्यस्थली है। इस तीर्थ के स्पर्श से ही यह (महोदधि) तीर्थराज के नाम से प्रसिद्ध हो गया है।

---

१. देवीपदद्वयं तत्र तीर्थं त्रैलोक्यपावनम्।—ब्रह्मपुराण।

२. नाम्ना गन्धवती ख्याता याति गंगा सरित्वरा।
तत्रैव च प्रयागस्तु तीर्थराजः प्रकीर्तितः।
प्रच्छन्नरूपिणी गंगा शिवोपासनतत्परा।—स्व० म०।
स्नात्वा गंधवतीतीर्थं दृष्ट्वा ब्रह्मेश्वरं हरम्।
स्वकुलैरेकविंशत्या ब्रह्मलोकमवाप्नुयात्।

३. पंच क्रोशायतियुतं शंखाकारं मनोहरम्।
शंखाकारोऽपि तन्मध्ये राजते नीलभूधरः।—नीलाद्रि महोदय।

४. नीलाचलसमुल्लासं पापराशिविनाशनम्।—वही।

५. नानातीर्थसमायुक्तम् कोटिब्रह्मांडदुर्लभम्।
गन्तुं समर्थास्ते सर्वे ये वै भक्ता जनार्दने।
यत्क्षेत्रस्पर्शतो विप्राः समुद्रतीर्थराट् स्मृतः।—वही।

इस क्षेत्र में सहस्रों यात्री आदिकाल से स्नान करके पुण्य लाभ करते आ रहे हैं। इसे ब्रह्मपुराण में तीर्थराज कहा गया है।[1]

इन्द्रद्युम्न तीर्थ—वाचस्पति मिश्र के तीर्थ-चिन्तामणि और नीलाद्रि महोदय नामक ग्रन्थों में इन्द्रद्युम्न सरोवर भी एक तीर्थ के रूप में वर्णित है। इसमें स्नान कर पितरों को जल देने से एक लाख अश्वमेध यज्ञों का फल प्राप्त होता है।[2]

मणिकर्णिका तीर्थ—नीलाद्रि महोदय ग्रन्थ में मणिकर्णिका का भी वर्णन एक तीर्थ के रूप में किया गया है। इसके दर्शन मात्र से ब्रह्महत्या आदि पाप नष्ट हो जाते हैं।[3]

श्रीमान् सुन्दरानन्द विद्याविनोद विरचित श्रीक्षेत्र नामक पुस्तक में लिखा है कि पुरुषोत्तम क्षेत्र में मार्कण्डेय, श्वेतगंगा, रोहिणीकुण्ड, महोदधि और इन्द्रद्युम्न ये पाँच तीर्थ हैं। ये पंचतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं।[4] इनमें मार्कण्डेय क्षेत्र का उल्लेख पुराण में इस प्रकार किया गया है—(उत्तर में जगन्नाथ जी मार्कण्डेय से कहने लगे) हे विप्रेंद्र, मेरे आदेशानुसार आप परम कारुण्य भुवनेश्वर देव के लिंग की प्रतिष्ठा कर शीघ्र एक शिवालय का निर्माण करें और उत्तर दिशा में अपने नाम से एक शिवालय के निर्माण के साथ-साथ ह्रदनायक एक तीर्थ भी स्थापित करें। यह तीर्थ नरलोक में बहुत ही प्रसिद्ध होगा। इसके सेवन से सभी प्रकार के पाप कट जायंगे।[5]

---

१. लवणोदः हरेः स्थानं शयनस्य नदीपतिम्।
सर्वपापहरं पुण्यं सर्ववांछाफलप्रदम्।
विशिष्टं सर्वभूतानां प्राणीनां जीवधारणम्।
सुपवित्रं पवित्राणां मंगलानां च मंगलम्।
तीर्थानां उत्तमं तीर्थमव्ययं यादसांपतिं।—ब्रह्मपुराण ४४।४८-५१।

२. ततो गच्छेद् द्विजश्रेष्ठास्तीर्थं यज्ञांगसम्भवम्।
इन्द्रद्युम्नसरोनाम यत्रास्ते पावनं शुभम्।—वही, ६३।१।
इन्द्रद्युम्न इति ख्यातः खातः परमपावनः।
तत्र तीर्थे नरः स्नात्वा सन्तर्प्य पितृदेवताः।
अश्वमेधसहस्रस्य फलं प्राप्नोति निश्चयम्।—नीलाद्रिमहोदय (ब्रह्मपुराणानुसार)

३. तृतीयावर्ततः श्रीमान् तीर्थोऽस्ति मणिकर्णिका।
पश्यतां जगतां वापि ब्रह्महत्यादिपापहा।—वही।

४. मार्कण्डेयं वटं कृष्णं रौहिणेयं महोदधिम्।
इंद्रद्युम्नः सरश्चैव पंचतीर्थविधिः स्मृतः।—ब्रह्मपुराण ६०।४१।

५. ममादिष्टेन विप्रेन्द्र कुरु शीघ्रं शिवालयम्।
तत्प्रभावात् शिवलोके तिष्ठ त्वं च तथाक्षयम्।

ब्रह्मपुराण में इस तीर्थ का विवरण जगन्नाथ देव और ब्रह्मा के वार्तालाप के माध्यम से उपस्थित किया गया है। जगन्नाथ जी ब्रह्मा से कहते हैं—दक्षिणी सागर के तट पर जहाँ न्यग्रोध वृक्ष है वहीं दस योजन के विस्तृत क्षेत्र में पुरुषोत्तम क्षेत्र भी है। इस क्षेत्र के वृक्ष कल्पपूर्व के हैं। अनेक उल्कापातों से भी वे नष्ट नहीं होते। वहाँ मैं स्वयं रहता हूँ। उस वटवृक्ष के दर्शन और छाया से अन्य पाप क्या, ब्रह्महत्या से भी मुक्ति मिल जाती है।[1] इसमें चक्र और नरेन्द्र नामक दो और तीर्थ हैं। नी० म० में अन्य कई तीर्थों का भी उल्लेख है।[2]

कोणार्क या अर्कक्षेत्र—ब्रह्मपुराण में इस तीर्थ का उल्लेख आया है। उसमें ब्रह्मा मुनियों से कहते हैं कि समुद्र के तट पर दिवाकर का सुन्दर तीर्थ अवस्थित है। यह क्षेत्र चारों ओर से बालुका की राशि से आकीर्ण है।[3] वहाँ सूर्य का जगत्प्रसिद्ध पुण्यक्षेत्र है। वह एक योजन के विस्तार में फैला हुआ है।[4] इस क्षेत्र में साक्षात् सहस्रांशु दिवाकर वास करते हैं। वे साधकों को भोग और मोक्ष प्रदान करते हैं।[5] यहाँ पहुँचकर जब तक सूर्य को यथाविधि अर्घ्यदान न दे ले तब तक विष्णु, शिव अथवा सुरेश्वर किसी की पूजा न करे।[6]

वेनातवनामांकितं कुरु विप्र शिवालयम्।
उत्तरे देवदेवस्य कुरु तीर्थं सुशोभनम्।—ब्रह्मपुराण ५६। ६८।
मार्कण्डेयह्रदो नाम नरलोकेषु विश्रुतः।
भविष्यति द्विजश्रेष्ठ सर्वपापप्रणाशनः।—वही ५६।७२,६३।

१. दक्षिणस्योदधेस्तीरे न्यग्रोधो यत्र तिष्ठति।
दश योजनविस्तीर्णं क्षेत्रं परमदुर्लभम्।
यस्तु कल्पे समुत्पन्ने महल्लुल्कानिवर्हणे।
विनाशो नैवमभ्येति तत्रैवाहमवस्थितः।
दृष्टमात्रे वटे तस्मिन्छायामाक्रम्य चासकृत्॥
ब्रह्महत्या प्रमुच्येत पापेष्वन्येषु का कथा।
प्रदक्षिणा कृता यैस्तु नमस्कारश्च जंतुभिः।
सर्वे विधुतपाप्मानस्ते गताः केशवालयम्।—ब्रह्मपुराण।

२. एतादृशं महाक्षेत्रं नानातीर्थसमन्वितः।—नी० म०।

३. लवणस्योदधेस्तीरे पवित्रे सुमनोहरे।
सर्वत्र बालुकाकीर्णे देशे सर्वगुणान्विते।—ब्रह्मपुराण २८-११।

४. क्षेत्रं तत्र रवेः पुण्यमास्ते जगतीविश्रुतम्।
समन्ताद् योजनं साग्रं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्।—वही, २८।१७।

५. आस्ते तत्र स्वयं देवः सहस्रांशुर्दिवाकरः।
कोणादित्य इति ख्यातो भुक्ति-मुक्ति फलप्रदः।—वही, २८-१८।

६. यावन्न दीयते चार्घ्यं भास्कराय यथोदितम्।
तावन्न पूजयेद् विष्णुं शंकरं वा सुरेश्वरम्।—वही, २८।४०।

कपिलसंहिता में वर्णन है कि कृष्ण भगवान् के पुत्र शाम्ब को पिता के अभिशाप से कुष्ठ रोग हो गया था। वे इसी कोणार्क क्षेत्र में सूर्य भगवान् की तपस्या कर रोग-मुक्त हुए थे। उस ग्रन्थ के अनुसार इस अर्क क्षेत्र में निम्नलिखित कई तीर्थ हैं—

चन्द्रभागा तीर्थ—शाम्ब को चन्द्रभागा नदी में सूर्य का विग्रह प्राप्त हुआ था। मन्दिर में उस विग्रह को प्रतिष्ठित कर, वे उसकी पूजा करने लगे और अन्त में रोग-मुक्त हो गये।[१]

इसी अर्क क्षेत्र में सूर्य गंगा,[२] मंगल,[३] शाम्ब,[४] रामेश्वर[५] आदि कई प्रसिद्ध तीर्थ हैं। इसी कोणार्क में चैत्र शुक्ल सप्तमी के दिन मदनभंजिका नामक एक मेला लगता है। इसका प्रमाण वाचस्पति मिश्र के तीर्थ-चिन्तामणि ग्रन्थ में मिलता है।[६]

बाँकी चर्चिका—अर्क क्षेत्र के इन तीर्थों के अतिरिक्त कटक जिले के बाँकी नामक स्थान में चर्चिका देवी का मंदिर है। प्राचीन काल में जगन्नाथ दर्शन के निमित्त मालवदेश से आते हुए

---

१. चन्द्रभागा महापुण्या देवलोकप्रदायिनी।
प्रासादं कारयित्वा च स्थापयित्वाथ सत्वरम्।
विमुक्तरोगः सहसा ययौ द्वारावतीं पुरीम्।

२. सूर्यगंगाजले स्नात्वा सूर्यलोकं व्रजेन्नरः।
सूर्यगंगासमं तीर्थं नास्ति नास्ति महीसुराः।—कपिलसंहिता।

३. तत्र श्रीमंगलं तीर्थं देवानां मंगलप्रदम्।
मंगले च नरः स्नात्वा मंगलम् प्राप्नुयात् ध्रुवम्।

४. तत्र श्रीशाल्मलीभाण्डं तीर्थम् त्रैलोक्यपावनम्।
सर्वपापहरं गुह्यं सिद्धगन्धर्वसेवितम्॥—वही।
यत्र स्नात्वा रविः साक्षात् रविदीधितिमाप्नुयात्।—वही।

५. रामेश्वरस्तु तत्रैव वेलायां च नदीपतेः।
रामेश्वरं प्रयत्नेन येऽर्चयन्ति नरोत्तमाः।
तेषां इष्टवरं विप्राः रामचन्द्रः प्रयच्छति।—वही।
आस्ते तत्र महादेवस्तीरे नद-नदीपतेः।
रामेश्वर इति ख्यातः सर्वकामफलप्रदः।
ये तं पश्यन्ति कामारिं स्नात्वा सम्यग् महोदधौ।
प्रणिपातैस्तथा स्तोत्रैर्गीतैर्वाद्यैर्मनोहरैः।
राजसूयफलं सम्यग् वाजीमेधफलं तथा।
प्राप्नुवन्ति महात्मानः स्वंसिद्धि परमां तथा।—ब्रह्मपुराण २८।५६-५८।

६. चैत्रे मासि सिते पक्षे यात्रा मदनभंजिकाम्।
यः करोति नरस्तत्र पर्वोक्तं सफलं लभेत्।—ब्रह्मपुराण २८।८३,८४।

राजा इन्द्रद्युम्न नारद की आज्ञा से चर्चिका देवी को साष्टांग प्रणाम कर बहुत प्रसन्न हुए थे। उनकी स्तुति करते हुए उन्होंने कहा था—हे देवी, मुझ पर दया करो जिसके कारण मैं जगन्नाथ का दर्शन कर सकूँगा।[१]

प्राची नदी-माहात्म्य—ऊपर लिखे तीर्थों के समान प्राची नदी के किनारे स्थित पवित्र स्थानों और देव-मंदिरों का वर्णन तीर्थ के रूप में कपिलसंहिता में नहीं मिलता, लेकिन हिन्दुओं के मत से प्राची नदी पवित्र मानी जाती है। यद्यपि यह तीर्थ नहीं है तो भी पुण्यवर्द्धन की दृष्टि से इसका माहात्म्य सर्व-विदित है। कपिलसंहिता में इन स्थानों, तीर्थों का माहात्म्य वर्णित है।[२]

प्राची नदी के अतिरिक्त उत्कल की परम पवित्र और सभी पापों को हरनेवाली महानदी या चित्रोत्पला भी एक प्रसिद्ध नदी है। यह विंध्यपर्वत से निकल कर दक्षिण सागर में मिलती है। यह गंगा की भाँति महास्रोता है।[३] पुराणांतर में लिखा है कि कलियुग में चित्रोत्पला गंगा के समान है।

ऊपर लिखे तीर्थ ओड़िशा में प्रधान माने जाते हैं। प्रतिवर्ष सहस्रों हिन्दू यात्री इन तीर्थों का दर्शन कर कृतार्थ होते हैं।

---

१. **सीमामुत्कलदेशस्य विभजन्तीं वनांतरे।**
मार्गस्थां चर्चिकां प्राप चर्चितां मुण्डमालया।
अवतीर्य रथाद्राजा विनतो नारदाज्ञया।
साष्टांगपातं तां नत्वा तुष्टावानंदचेतनः।
चराचरगुरुं देवं नीलाचल-निवासिनम्।
अनुगृहीष्व मां देवी यथा पश्ये स्वचक्षुषा।—स्कन्धपुराण, अध्याय ११ ।

२. **महीपाल शृणुष्वाथ प्राचीं गुप्तसरस्वतीम्।**
एकाम्रकाननात् पूर्वं योजनान्ते महीपते।
नाम्ना प्राचीति विख्याता सरिदास्ते सरस्वती।
क्रोशे क्रोशे तटे लिंगं ततः प्राची सरस्वती।
तस्यां स्नात्वा महीपाल ज्योतिर्लोकं व्रजेन्नरः।
सर्वपुण्यप्रदा धन्या वैकुण्ठभुवनप्रदा।
साक्षात्सरस्वती प्राची नान्यथा नृपसत्तम।
तत्र विल्वेश्वरो नाम विल्वमूलाश्रितो हरः।
अमरेशं समालोक्य नरो, ह्यमरतामियात्।
तस्यास्तटे महेशस्तु कपिलेश्वरसंज्ञकः।
एवं बहूनि लिंगानि सन्ति तस्यास्तटे शुभे।

३. **नदी तत्र महापुण्या विन्ध्यपादविनिर्गता।**
चित्रोत्पलेति विख्याता सर्वपहरा शिवा।
गंगातुल्या महास्रोता दक्षिणार्णवगामिनी।
महानदीति नाम्ना सा पुण्यतोया सरिद्वरा।—ब्रह्मपुराण ४६।४-५ ।

उत्कल की नौयात्रा तथा नौवाणिज्य

डॉ० नवीनकुमार साहू

ओड़िशा के इतिहास में नौका-चालन और नौका-व्यापार के महत्त्वपूर्ण विषय का एक गौरवपूर्ण अध्याय है। भारतेतर स्थानों में, भारतीय धर्म और संस्कृति को प्रचारित करने तथा बृहत्तर भारत के निर्माण करने में नौजीवन का बहुत बड़ा योग है। प्राचीन कलिंग के उपकूल नौका-चालन के योग्य अनेक नदियों द्वारा गठित थे तथा गंगा से गोदावरी तक कटावदार फैले होने के कारण जहाजरानी के उपयुक्त थे। सामने ब्रह्मदेश, चंपा, सुवर्ण द्वीप और सिंहल आदि देशों का आकर्षण तथा सागर की मदमाती और लुभावनी लहरों की पुकार कलिंग जाति के अन्तर में, विदेश-यात्रा की स्पृहा को आन्दोलित कर देती थी। यही कारण है कि प्राचीन काल से ही कलिंग जाति नौका-चालन में कुशलता एवं पारदर्शिता प्राप्त कर सकी थी।

यह निश्चय करना तो असंभव है कि ब्रह्मदेश, सुवर्ण द्वीप और सिंहल आदि देशों में सबसे पहले जाकर भारतीय सभ्यता का विस्तार और प्रसार किसने किया था; किंतु इतना तो निश्चित है कि उपरोक्त प्राचीन उपनिवेशों से भारत का घनिष्ठ संबंध था। ग्रीक भूगोलवेत्ता टोलेमी की भूगोल-विषयक खोजों और जीरेनी के कथनों के आधार पर यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो जाता है कि कलिंग युद्ध (ईसा पूर्व २६१) के पूर्व ही ब्रह्मदेश में कलिंग-उपनिवेश प्रतिष्ठित हो गया था। अन्य प्रमाण इस संबंध की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं जो निम्न हैं—

स्टांप फोर्ड राफलस नामक व्यक्ति ने जावा द्वीप के आदिम उपनिवेश के संबंध में कई जनश्रुतियाँ एकत्रित की हैं। उन संगृहीत जनश्रुतियों में एक से पता चलता है कि कलिंग देश के २० हजार परिवारों ने जावा द्वीप में सर्वप्रथम उपनिवेश की स्थापना की थी।

बौद्ध धर्म ग्रंथ ''समंत पसाठिका'' में लिखा है कि अशोक के पुत्र महेन्द्रसिंह बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ सिंहल गये थे। उनके साथ कलिंग के आठ बौद्ध परिवार भी थे। कलिंग के उन्हीं परिवारों के द्वारा सिंहल में बौद्ध सभ्यता फैली थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कलिंगवासियों ने समुद्र लाँघकर विदेशों में उपनिवेश-स्थापन का कार्य किया था और साथ ही भारतीय सभ्यता को विस्तृत करने में अपूर्व साहसिकता का परिचय दिया था।

ब्रह्मदेश, जावा, सिंहल आदि समुद्र पार के देशों में कलिंगवासियों द्वारा प्रथम उपनिवेश-स्थापन की जो सूचनाएँ ऊपर दी गई हैं उनसे इतिहास कहाँ तक सहमत है, इसे जान लेना उचित है। किंतु ई० पू० की घटनाओं और भारतीय नौकाचालन तथा उपनिवेश-विस्तार-संबंधी

प्रस्तर खोदित नौवाणिज्य का एक नमूना (ओड़िशा म्यूज़ियम)

एक जहाज का चित्र

साधव बहुओं की •बोहित वन्दापना।
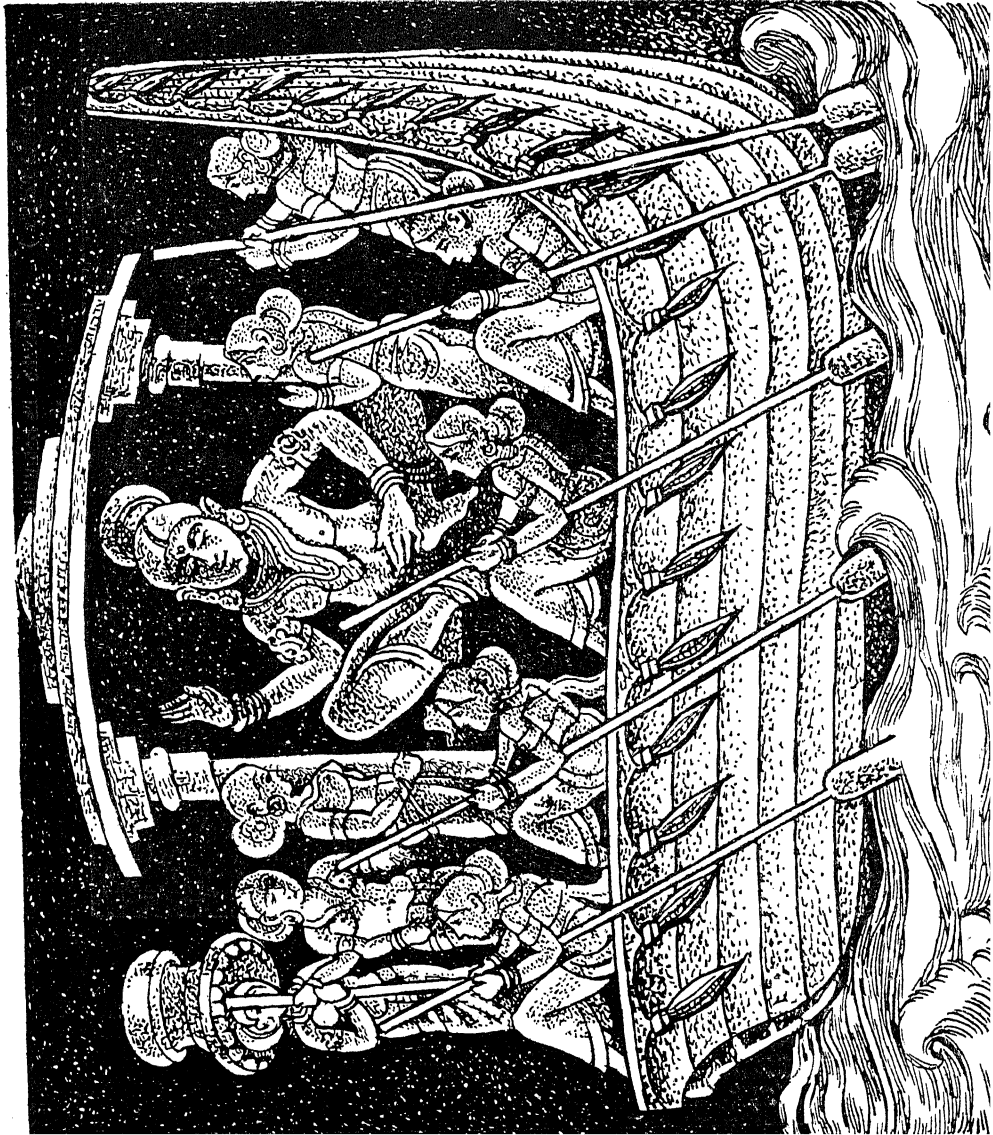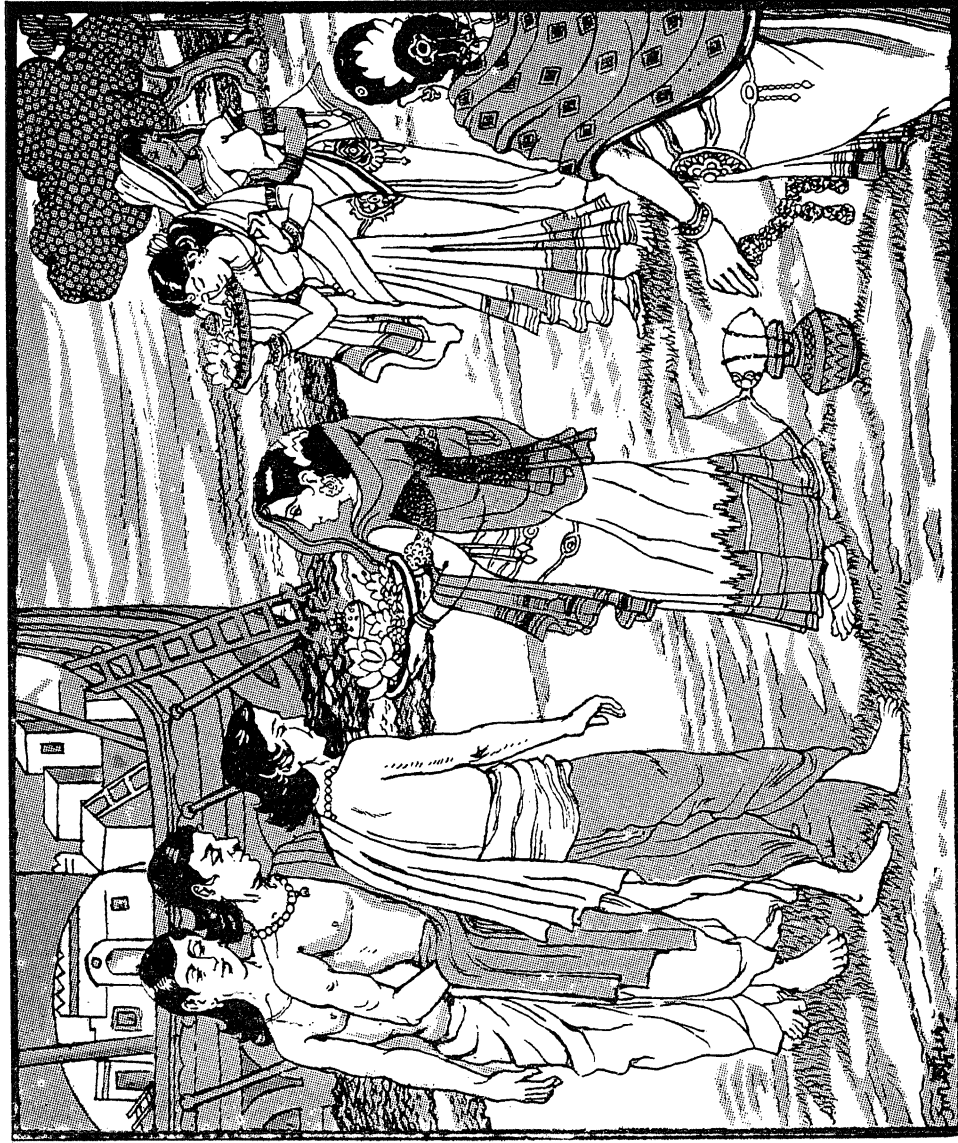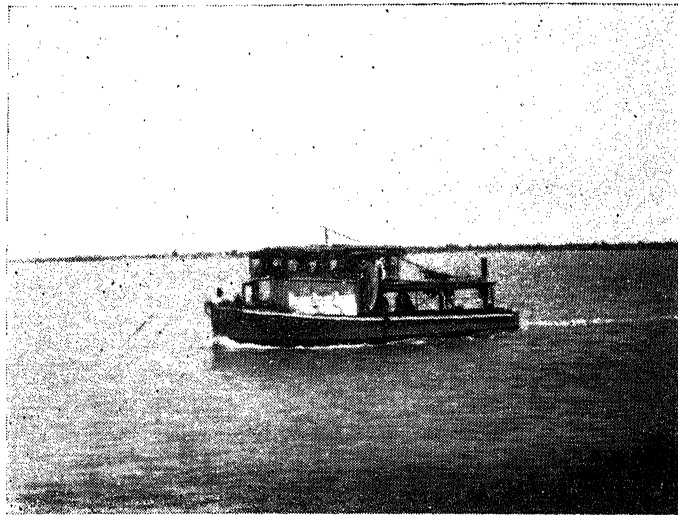
भविष्य सुखसमृद्धि का प्रतीक पारादीप बन्दरगाह के दो दृश्य

विवरणों के ज्ञान के लिए प्रायः जनश्रुतियों पर ही निर्भर होना पड़ता है। इसके संबंध में विश्वसनीय ऐतिहासिक विषय-सामग्रियों का नितांत अभाव है।

ईसा की पहली शती में भारतीय नौजीवन की कहानी जानने के लिए अनेक विश्वसनीय विवरण प्राप्त होते हैं। उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसवी सन् की पहली और दूसरी शताब्दियों में भारत से होनेवाली दक्षिण-पूर्व एशिया की समस्त यात्राएँ कलिंग-उपकूल से ही होती थीं। इसके अतिरिक्त यात्रा का अन्य कोई मार्ग ही नहीं था। ईसा की प्रथम शती में लिखित "फेरिपल्स आफ दी एरिथ्रिएनसी" नामक पुस्तक के लेखक का कहना है कि उस समय के सभी जहाज भारतीय समुद्र के पूर्वी उपकूल के किनारे-किनारे एक बंदरगाह को जाते थे, जहाँ से गंगा का मुहाना विशेष दूर नहीं था। वहीं से समुद्र के भीतर प्रवेश कर सुवर्ण द्वीप जाना संभव होता था।

फेरिपल्स के लेखक का "भारतीय समुद्र के पूर्वी उपकूल" का पोताश्रय यदि ताम्रलिप्ति नहीं तो पालूर बंदरगाह ही रहा होगा जिसको उसने पूर्वी भारतीय उपकूल के बृहत्तम बंदरगाह के रूप में स्वीकार किया है। उसके लेख से विदित होता है कि उस समय के समुद्री जहाज उपकूल से होते हुए पालूर तक आते थे और वहाँ से सुवर्ण द्वीप आदि को जाने के लिए समुद्र में प्रवेश करते थे।

उपरोक्त दोनों सुविख्यात ग्रीक लेखक स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं कि ईसा की दूसरी शती तक ब्रह्मदेश, मलाया, जावा आदि द्वीपों के साथ केवल कलिंग उपकूल का ही सीधा संपर्क था। अतएव जनश्रुतियों में प्राप्त तथ्यों से इस ऐतिहासिक सत्य का मेल हो जाता है कि उन देशों में कलिंग ने ही सर्वप्रथम अधिवासी उपनिवेश स्थापित किया था।

ब्रह्मदेश का उपकूल कलिंग उपकूल से निकट होने के कारण इनमें वाणिज्य तथा सांस्कृतिक संबंध बहुत पहले प्रतिष्ठित हो गया था और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ईसवी सन् की पाँचवीं शती तक ब्रह्मदेश के विभिन्न स्थानों में कलिंग-अधिवासियों के छोटे-बड़े उपनिवेश स्थापित हो चुके थे। उस समय ब्रह्मदेश के मध्यांचल में प्यु जाति और दक्षिणांचल में मन् जाति रहती थी। प्यु जाति के लोग कलिंग से आये थे। मन् जाति का निवास-स्थान पेगु अंचल का "उसस्" नामक स्थान बताया जाता है जो उस देश का नामांतर-मात्र है।

प्यु जाति की राजधानी में बहुत से मन् निवास करते थे। मन् जाति के निवास-स्थल "उसस्" नामक स्थान के निकट एक ओर मन् अधिष्ठित राज्य था, जिसे "तैलंग" कहा जाता है। यह तैलंग कदाचित् त्रिकलिंग का नामांतर है। भारत में त्रिकलिंग की अवस्थिति पर विद्वानों में मतभेद है; किंतु ओड़िशा के गंग और सोमवंशीय राजाओं के दान-पत्रों से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि कोशल और कलिंग के मध्यवर्ती अंचल में त्रिकलिंग राज्य स्थित था।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि इसी त्रिकलिंग राज्य के अधिवासी ब्रह्मदेश के तैलंग अंचल में रहते थे। तैलंग राज्य धनधान्य से परिपूर्ण और उन्नत राज्य के रूप में ख्याति-प्राप्त था तथा मन् जाति के लोगों का प्रधान भू-खंड था।

आज तक इसी प्राचीन राज्य के नामानुसार ब्रह्मदेश में मन् जातियों को तैलंग कहा जाता है। प्यु राज्य के पूर्वोत्तर उत्कल नामक मनों का एक और उपनिवेश था। इस नाम से यह

अनुमान सहज ही लग जाता है कि यह उत्कल का नामांतर भर है। ब्रह्मदेश के इन विभिन्न अंचलों के नामकरण से पता चलता है कि उड्र, त्रिकलिंग और उत्कल राज्य के अधिवासी ईसा के बाद की शतियों में वहाँ पूरी तरह बस गये थे और अपनी-अपनी जन्मभूमि के अनुसार वहाँ का नामकरण करते थे।

इन प्रमाणों के आधार पर प्राचीन काल में कलिंग और ब्रह्मदेश के बीच नौ-वाणिज्य के घनिष्ठ संपर्क का अनुमान सिद्ध हो जाता है। यह संपर्क व्यावसायिक तथा आर्थिक आधारों पर प्रतिष्ठित होते हुए भी विशेष रूप से सांस्कृतिक था। मन् और प्यु जातियों की स्थापत्य और ललित कलाएँ कलिंग-वासियों की निजी कीर्ति हैं। मूर्ति-निर्माण की शैलियों में अपूर्व साम्य होने से यह प्रमाणित हो गया है कि मध्ययुगीन ओड़िशा तथा ब्रह्मदेश की तत्कालीन मूर्ति-कला में कोई पार्थक्य नहीं है। सुविख्यात मन् राजा क्यानजिथा की जो प्रतिमूर्ति आनंद मंदिर में सुरक्षित है उसे देखने से यह धारणा होने लगती है कि वे कलिंग-वासी ही थे, ब्रह्मदेश के अधिवासी नहीं। जनश्रुतियों से पता चलता है कि आनंद मंदिर ओड़िशा के गंधमादन-निवासी आठ बौद्ध-भिक्षुओं के परामर्श से बना था और खंडगिरि वाले "अनंतगुफा" के अनंत शब्द के अनुकरण पर यह ब्रह्मदेश की बोली में अनंद हो गया है।

ब्रह्मदेश के समान सिंहल के साथ कलिंग का संपर्क भी बहुत प्राचीन और घनिष्ठ है। मणि-माणिक्यों के देश के रूप में सिंहल बहुत दिनों तक विख्यात था। उसके साथ कलिंग का कारोबार बहुत पुराना था। सिंहल के निकटस्थ समुद्र में भयंकर तूफान चलते थे जिसके कारण समुद्र-पोतों के जलमग्न होने की अनेक कहानियाँ भारतीय प्राचीन साहित्य में मिलती हैं। बलाहस्स जातक में सिंहली समुद्र में घटी एक भयानक नौ-दुर्घटना का रोमांचकारी वर्णन मिलता है। इस दुर्घटना में ५०० व्यवसायियों की जल-समाधि हुई थी। विवादपूर्ण होते हुए भी समुद्र-पथ से सिंहल और कलिंग राजवंशों के बीच मैत्रीपूर्ण आर्थिक तथा सांस्कृतिक संबंध स्थिर हो गये थे। ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी में अशोक के पुत्र महेन्द्र और कन्या संघमित्रा की, ताम्रलिप्ति बंदर से हुई, सिंहल-यात्रा का वर्णन 'महावंश' में मिलता है। ईसा की तीसरी शताब्दी में कलिंग-राजा गुहशिव की लड़की हेममाला और दामाद दन्तकुमार दन्तपुर बंदर से बुद्ध का दंत-धातु लेकर पड़ोसी सिंहल को गये थे। इसका उल्लेख दाठा धातु बुश ग्रंथ में किया गया है।

सिंहलवासियों को कलिंगवासियों द्वारा प्रदत्त बुद्ध के दन्त-धातु-दान को महादान के रूप में स्वीकार किया गया था और अभी तक यह दन्तधातु सिंहलियों के धार्मिक जीवन में केंद्रित होकर पूजा जाता है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में चीनी परिव्राजक फाहियान पाटलिपुत्र नगर से नौका द्वारा ताम्रलिप्ति को गया। उसने वहाँ से जहाज द्वारा सिंहल की यात्रा आरंभ की थी।

सातवीं शताब्दी में उड्र देश के चेलितोला नामक बन्दरगाह से सिंहल की यात्रा सुविधाजनक मानी जाती थी। इसीलिए उक्त बन्दरगाह में जहाजों की भीड़ रहा करती थी। दूर देशों की यात्रा करनेवाले बहुत से जहाज उसी बन्दरगाह में आकर एकत्र होते थे। इसका उल्लेख तत्कालीन चीनी पारिव्राजक हुएनसांग ने किया है।

चेलितोला के समुद्रतट पर ताराच्छादित सन्ध्या के समय खड़े होकर हुएनसांग ने सिंहल-गामी जहाजों को देखा था और हठात् उक्त द्वीप में स्थित बुद्धदन्त का स्मरण कर वह आत्म-विभोर हो गया था। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो बुद्धदन्त में लगी हुई मणि की किरणों से दक्षिण दिशा का चक्रवाल आलोकित हो उठा हो। व्यापारियों और अन्य यात्रियों के साथ कलिंग के कई बौद्ध-यात्री हर साल दन्त-पूजा करने के लिये सिंहल जाते थे। उक्त द्वीप के राजा अग्निबोधी (६०१-६११) के राजत्व-काल में कलिंग के राजा, रानी और मंत्री ने प्रजावर्ग के कई व्यक्तियों के साथ वहाँ की धर्मयात्रा की थी। इसका उल्लेख बौद्ध ग्रंथ चेलिवंश में मिलता है। सिंहल राजा विजयबाहु ने कलिंग-राजकुमारी तिलकसुन्दरी के साथ विवाह किया था, यह भी उसी ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ से इतना और ज्ञात होता है कि कलिंग राजवंश के बहुत से राजपुत्र सिंहल के सिंहासन पर बैठ चुके थे।

सिंहल के इतिहास के अनुसार बारहवीं शताब्दी के पूर्व कलिंग के राजा गोपराज के दो पुत्रों—निशकमल्ल और साहसमल्ल—के बारी बारी से सिंहल द्वीप में राज्य करने की सूचना मिलती है।

कलिंग और सिंहल के इस घनिष्ठ संपर्क के कारण दोनों देशों के नौ-वाणिज्य में काफी उन्नति हुई थी। सिंहल द्वीप से बड़े-बड़े कछुए, मुल्यवान् सीपियाँ और मणि-मुक्ताएँ कलिंग को आती थीं। कभी-कभी तो धान, अदरक, यव आदि का भी आयात होता था। कलिंग और सिंहल में बड़े-बड़े हाथियों का आदान-प्रदान होना मेगस्थनीज के वर्णन में आया है। मेगस्थनीज और कौटिल्य दोनों ने कलिंग के हाथियों की विशालता तथा साहसिकता की प्रशंसा की है किन्तु मेग-स्थनीज ने अपेक्षाकृत सिंहल के हाथियों को और भी विशालकाय बताया है। बहुत दिनों तक सिंहल और कलिंग के बीच हाथियों का यह कारोबार चलता रहा और धीरे-धीरे वहाँ इसी के कारोबारियों की बस्ती भी बसने लगी थी। उस समय के चीनी लेखक ने उन्हें होलियाने कलिंग कहा है। चिलका झील को घेरते हुए आधुनिक गंजाम और पुरी जिले का कुछ अंश कलिंग उपकूल के नये राज्य के रूप में स्थापित हुआ था। उसका नाम था कंगोद, और उस राज्य का निर्माता था शैलोद्भव वंश। जहाँ तक मालूम होता है, यह प्रदेश इस वंश के राज्य-काल में जावा के रूप में प्रसिद्ध था। बहुत से गवेषकों का अनुमान है कि जावा में जो शैलेन्द्र वंश का साम्राज्य फैला था, उसी से शैलोद्भव राजवंश संभूत है। यही शैलेन्द्र साम्राज्य धीरे-धीरे जावा, सुमात्रा तथा मलाया तक में फैल गया। शैलेन्द्र बौद्ध धर्म की महायान शाखा के पृष्ठपोषक थे। जावा द्वीप के सुविख्यात बोरोबुदुर, चण्डी, क्लासन मन्दिर आज तक उनकी अमर कीर्ति के रूप में खड़े हैं।

बोरोबुदुर मन्दिर में कई प्रकार के जहाज के चित्र अत्यंत सावधानी से उत्कीर्ण हैं। उन चित्रों से उस समय के जहाज-निर्माण की प्रणाली का पता चलता है। उस समय जहाज के निम्न भाग बड़ी-बड़ी लकड़ियों (काठगड़) द्वारा बड़ी मजबूती से बनाये जाते थे। इससे समुद्र की हिलोरों में जहाजों के नष्ट होने का डर नहीं रहता था। जहाज के बीच यात्री अपना-अपना सामान लेकर बैठते थे। यह अंश चिकने पायों द्वारा दोमंजिला मकान के समान बनाया जाता था।

इस प्रकार के जहाज बहुत भारी होते थे। उस भार को सँभाल रखने के लिए पाल लगाते थे। इसे बड़े कौशल से, छाते के समान, सजाया जाता था। वह पाल जहाज की सीमा-रेखा से बाहर फैला होता था। मस्तूल कोई सीधे, तो कोई टेढ़े बनाये जाते थे। पाल जब हवा से फूल उठते थे तब वे जहाज के संतुलन को ठीक रखने में समर्थ हो जाते थे। ईसा की सप्तम और अष्टम शताब्दियों में ऐसे बहुत से जहाज कलिंग में बनाये जाते थे। आज भी कलकत्ता के आशुतोष म्युजियम में, भुवनेश्वर से प्राप्त, दो पत्थर-निर्मित जहाज सुरक्षित हैं। उनमें से एक का आकार-प्रकार ठीक बोरोबुदुर जहाज के साथ मिलता-जुलता है। ओड़िशा म्युजियम में संरक्षित जहाज का एक चित्र भी बहुत अंशों में इसी प्रकार का है। आशुतोष म्युजियम के अन्य जहाज अजन्ता में अंकित व्यापारी जहाज के समान सुन्दर ढंग से बनाये गये हैं। किंतु ओड़िशा की शिल्प-चातुरी के अनुसार इस जहाज का ऊपरी भाग आमलक शिखा (विशिष्ट-मन्दिरचूड़ा) के द्वारा अलंकृत है। परिव्राजक फाहियान जिस जहाज में बैठकर चीन गय थे वह अजन्ता के पोत-चित्र के समान था। भारत के पूर्व उपकूल में भी इस ढंग का जहाज बनाया जाता था और इस कौशल का अनुसरण बहुत दिनों तक किया गया था। इसमें कोई संदेह नहीं कि आशुतोष-म्युजियम का, आमलक-चूड़ावाला, विशिष्ट प्रकार का जहाज परवर्ती काल का है किंतु यह स्पष्ट विदित होता है कि अजन्ता में अंकित चित्र की अपेक्षा बोरोबुदुर के जहाज अधिक उन्नत तथा जटिल प्रणाली में गठित हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में दक्षिण भारत में चोलवंश का अभ्युदय हुआ और साथ ही कलिंग की नौशक्ति के पतन का इतिहास भी आरंभ हुआ। चोल-अभिलेखों से पता चलता है कि राघवराज चोल (सन् ९८५--१०१४ ई०) ने कलिंग के गंगराज को हराकर, उनके १२ हजार द्वीप बलपूर्वक छीन लिये थे। ऐतिहासिकों का कहना है कि आज के लाकाडाइउस और मालाडाइउस वही द्वीप हैं। ये सभी तब तक कलिंग के अधीन थे। फिर राजराज चोल के पुत्र राजेंद्र चोल (१०१४-१०४४) ने उड्र और दंडभुक्ति राज्यों को भी जीत लिया। इसी के राज्यकाल में शैलद्र राजवंश का श्री-संपन्न साम्राज्य भी चोलवंश के अधीन हो गया। चोलवंश का अभ्युत्थान पूर्ण रूप से सामरिक शक्ति पर आधारित था जो राजेन्द्र चोल के समय में बहुत प्रबल हो गई थी। किंतु उसके पश्चात् यह वंश दुर्बल पड़ने लगा। फलतः इसका प्रभाव मंद पड़कर शिथिल हो गया।

उस समय हिंद महासागर में अरब नौ-चालकों की प्रतिपत्ति और क्षमता विशेष रूप से बढ़ गई थी। धीरे-धीरे उस अंचल का नौ-वाणिज्य दुर्दांत अरब जातियों की मुट्ठी में चला गया। ओड़िशा के तत्कालीन गंगवंशी और सूर्यवंशी राजा युद्ध-रत थे, अतः नौ-वाणिज्य की गौरवमय परंपरा की रक्षा का इनमें से किसी ने ध्यान नहीं दिया।

पुरी के जगन्नाथ मंदिर की भीत पर जहाज का जो चित्र अंकित है वह ओड़िशा के ह्रासोन्मुख नौ वाणिज्य का एक सांकेतिक निदर्शन है। ओड़िशा म्युजियम और आशुतोष म्युजियम में संरक्षित जहाजों के समान यह समुद्रगामी जहाज नहीं है। यह तोरण और मण्डप से सज्जित एक छोटी सी विहार-नौका है। इसे देखने से प्रतीत होता है कि विपद-संकुल समुद्र में संघर्ष कर

देशांतर अथवा द्वीपांतर को जाने की अपेक्षा, उस समय के लोगों का उद्देश्य सुसज्जित नौका में जल-विहार का आनंद लेना रह गया था।

इतिहास भी इसी तथ्य का अनुमोदन करता हुआ प्रतीत होता है। किंतु इसके कई प्रमाण हैं कि सत्रहवीं शताब्दी तक ओड़िशा का नौ-वाणिज्य लुप्त नहीं हुआ था। मुगल-काल में पिपिली तथा बालेश्वर में जहाज के कारखाने थे जो विशेष उन्नत थे। इन कारखानों में बड़े बड़े पालवाले विशिष्ट प्रकार के जहाज बनते थे। सन् १६६४ में बंग सूबेदार शाएस्ता खाँ ने पुर्तगीज जलदस्युओं का दमन करने के लिए बालेश्वर और पिपिली बंदरगाहों के कई जहाज लिये थे। उस समय भी ओड़िशा के उपकूलों में छोटे-बड़े कई बंदरगाहों का विकास हुआ था। बालेश्वर उपकूल में बालेश्वर तथा पिपिली के अतिरिक्त सारथा, छनुया, लइछनपुर, चुरामन धाम्रा, कटक में हरिहरपुर पारा-द्वीप, मरीयपुर, पुरी में अस्तरंग और मणिक पाटणा और गंजाम में गंजाम आदि बंदरगाह तत्कालीन नौ-वाणिज्य केन्द्रों में पर्याप्त प्रसिद्ध थे। इन बंदरगाहों से वस्त्र, नमक, चावल, नारियल, कपड़ा और अन्यान्य पण्य द्रव्य ब्रह्मदेश, टेनासेरिम, मलाया और सिंहल आदि देशों को भेजे जाते थे। संबलपुर और अन्य कई रियासतों में निर्मित कुटीर उद्योग की कला-वस्तुएँ महानदी, ब्राह्मणी, बैतरनी, आदि नदियों के द्वारा मँगाई जाती थीं और विदेशों को भेजी जाती थीं। इसीलिए इन नदियों के किनारे बहुत से समृद्धिशाली नगर बस गये थे। महानदी-तट के बैदेश्वर, कंटिलो, पद्मावती और कटक आदि नगर इस वाणिज्य के कारण उन्नत हो गये थे।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में भी ओड़िशा के सामुद्रिक-वाणिज्य ने कई लेखकों और कवियों को प्रभावित किया था। सोलहवीं शती के कवि कर्ण ने अपनी "पाला" में कई स्थानों पर ओड़िशा के नौ-वाणिज्य का उल्लेख किया है। कवि-सम्राट् उपेंद्रभंज ने "लावण्यवती" नामक काव्य में, ओड़िशा तथा सिंहल के नौ-वाणिज्य-संबंध को केंद्र मानकर "तअपोइ", 'कुहुक मण्डल चढ़ेइ", "चारि महाजन पुअ" आदि कहानियाँ अत्यंत प्रभावशाली ढंग से लिखी हैं। ये रोमांचकारी कहानियाँ ओड़िशावासियों के प्राणों में आज भी स्वाभिमान, उत्साह और चेतना का संचार करती हैं।

मालूम होता है कि पुर्तगीज जलदस्युओं की लूट-पाट ने ओड़िशा के नौ-वाणिज्य में मर्मांतक आघात पहुँचाया था। इन दस्युओं के अत्याचार से अनेक ओड़िया सौदागरों का सर्वनाश हो गया। यही कारण है कि समुद्रयात्रा धीरे-धीरे संकटग्रस्त होकर नौ-वाणिज्य के लिए अवरोधक सिद्ध हुई। पुर्तगालियों के पश्चात् अन्य विदेशी व्यापारियों ने ओड़िशा के उपकूलों पर अपनी व्यापारिक कोठियाँ बनाना आरंभ कर दिया। बालेश्वर बंदरगाह पर पुर्तगालियों, डचों, अंग्रेजों और फारसियों के वाणिज्य-गोदाम खुलने लगे और व्यापार क्षेत्र में विदेशियों का प्रभाव दिनोंदिन बढ़ने लगा। ओड़िया व्यापारी इन विदेशियों से होड़ नहीं कर सके, अतएव उनका व्यापार सीमित और कुंठित हो गया। किंतु ओड़िशा के व्यापारिक रंगमंच के पटाक्षेप में केवल विदेशी और जल-दस्यु ही कारण नहीं थे वरन् प्रकृति भी उसके पतन में सहायक हुई। नदियों के मुहाने बालू से भरने लगे। फलस्वरूप वे समुद्र के उपकूलों से हटने लगीं अथवा उथली हो जाने के कारण जहाजों

के गमनागमन के योग्य न रह गई। अतएव ओड़िशा के उपकूलों से होनेवाला केवल ओड़ियों का ही नहीं, विदेशियों का व्यापार भी मंद पड़ने लगा।

इतना होते हुए भी यह सोचना गलत है कि ओड़िशा का उपकूल नौ-वाणिज्य के विकास के लिए अनुपयुक्त है। धाम्रा, महानदी तथा देवी आदि नदियों के मुहानों में पोताश्रय के लिए कई उत्कृष्ट प्राकृतिक सुविधाएँ मौजूद हैं। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि यदि इन सभी उपकूलों का विकास किया जाय तो ओड़िशा की गौरवमय नौ-परंपरा पुनः जीवित हो सकती है। सन् १८६६-६७ के दुर्भिक्ष के समय से ही महानदी के मुहाने पर स्थित पाराद्वीप में एक पोताश्रय निर्माण की परि-कल्पना, भारत सरकार ने की थी। सरकार के "फेमिन कमीशन" ने यह अनुकूल रिपोर्ट दी थी कि यदि पाराद्वीप में एक पोताश्रय बन जाय तो हुगली से लेकर बंबई तक के उपकूल में यह एक विशिष्ट बंदरगाह के रूप में विकसित हो जायगा। इस रिपोर्ट के फलस्वरूप कटक केन्द्र में पड़ा केनाल की खुदाई आरंभ हुई और १९०५ में पाराद्वीप की उन्नति के लिए एक वृहत् योजना भी प्रस्तुत हुई; किंतु दुर्भाग्यवश वह योजना विदेशी सरकार द्वारा पूरी न हो सकी। आज पुरानी परिस्थितियाँ बिलकुल बदल गई हैं। ओड़िशा की खनिज संपद् को विदेश भेजने के लिए पाराद्वीप की विकास-योजना अनिवार्य और आवश्यक हो गई है।

यद्यपि आज ओड़िशा का प्राचीन और ख्यातिप्राप्त नौ-वाणिज्य लुप्त हो गया है किंतु उसके गौरवपूर्ण इतिहास की चेतना उसकी नाड़ियों में अब भी वर्तमान है। आज भी ओड़िशा में दीवाली के दूसरे दिन प्रातःकाल "बोंइत बंदाण" और कार्त्तिक पूर्णिमा के दिन "बोइत मसाण" नामक पर्वों को अत्यंत समारोह के साथ मनाया जाता है। इस तरह यहाँ की संस्कृति के अभिन्न अंग रूप में अतीत की गौरवशालिनी स्मृतियाँ जन-जीवन में चेतना का संचार करती रहती हैं। ओड़िशा के वे दिन अतीत के गर्भ में विलीन हो गये हैं लेकिन आज भी प्रत्येक बहन "तअपोइ" की रोमांचकारी कथा की याद दिलाती है। यह निश्चित है कि अतीत की यह अनवद्य चेतना, ओड़िशावासियों के नौ-जीवन के पुनर्जागरण के लिए निरंतर उद्बुद्ध करती रहती है।

उत्कल का कुटीर शिल्प

डॉ० भिकारीचरण पटनायक

प्राचीन काल में ओड़िशा के कुटीर शिल्प का स्थान बहुत ऊँचा था। ओड़िया लोग कुटीर शिल्प के प्रसाद से सर्वदा सुखी जीवन व्यतीत करते थे। यद्यपि यह एक कृषि-प्रधान देश है तथापि लोग वर्ष भर खेती में लगे न रहकर खाली समय में अपने घर के लिए आवश्यक पदार्थ बनाकर अपनी जरूरत पूरी करते और बनी हुई चीजों को बेचते तथा उसी पैसे से अपने दूसरे खर्च चलाते थे। औरतें रसोई तथा घर के अन्य कामों से जब अवसर पातीं तो नाना प्रकार के कारु-कार्य तथा कुटीर शिल्प के विशिष्ट पदार्थ बनाती थीं। क्रमशः इन चीजों का आदर विदेशों में बढ़ने लगा और ऐसी एक श्रेणी की उत्पत्ति हो गई जो इन चीजों को दूर विदेशों के बाजार तक पहुँचाने की फिक्र में रहा करती थी। इसका फल यह हुआ है कि वे समुद्रवाही पोत भी बनाने और चलाने में समर्थ हुए। इससे निश्चित है कि प्रकृति की क्षमता उनमें पर्याप्त थी। वायु की गति, नदी तथा समुद्र के स्रोत और लहरों के बलाबल आदि का अध्ययन कर और उसी पर निर्भर रह कर वे पोत द्वारा ओड़िशा की कुटीर शिल्पजात वस्तुओं की बिक्री समुद्र के उस पार के देशों में अधिक मूल्य में करते थे।

ओड़िशा के लोग अपनी शिल्पोपयोगी सामग्री के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रहते थे। अपने अपने गाँव के आसपास पैदा होनेवाले काठ, बाँस, लता, पत्र और घास को इकट्ठा कर हाथ से ही ऐसी चीजें बनाते थे जिसे देखकर कोई भी मुग्ध हो जाता था और विदेश के लोग तो उसके लिए अधिक मूल्य भी देने में नहीं चूकते थे। इन चीजों के बनाने के लिए जिन यन्त्रादि की आवश्यकता होती थी, उन्हें भी वे अपने गाँव या पासवाले गाँव में बनवा लेते थे। इन प्रयोजनों के आधार पर बढ़ई, लोहार आदि जातियों की सृष्टि हुई। क्रमशः इन वस्तुओं की उन्नति होने लगी। कुटीर-शिल्प के उपयोगी यन्त्रों के अतिरिक्त निर्मित वस्तुओं को देश-विदेश भेजने के लिए आवश्यक समस्त वाहन और उन्हें बनाने के यन्त्र भी गाँव-गाँव में बनाने की उन्हें शिक्षा मिली थी।

प्रस्तर शिल्प—ओड़िशा में शिल्पोपयोगी जितनी सामग्रियाँ मिलती हैं उनमें से पत्थर भी एक है। पत्थरों पर वे लोग जैसी हस्तकला दिखाते थे, उस नमूने के पत्थर ओड़िशा में आज भी बहुत हैं। विदेशों याने युरोप, अमेरिका आदि के लोग यहाँ के कोणार्क, पुरी, भुवनेश्वर आदि के शिलपकार्य देखकर आश्चर्यचकित होते हैं। अनेक लोग तो विश्वास ही नहीं कर पाते कि इन्हीं ओड़िया लोगों के पूर्वपुरुष ही इन प्रस्तर-शिल्पों के कलाकार थे; क्योंकि आजकल लोग एक साधारण भवन के निर्माण में मापयन्त्रों से लेकर ऐसे अनेक यन्त्रों का प्रयोग करते हैं जो वैज्ञानिक

विचक्षणता से निर्मित हैं। किन्तु ये पत्थर के काम जिस समय के हैं, उस समय इनके बनानेवालों ने किन यन्त्रों की सहायता ली थी और वे यन्त्र कहाँ और कैसे थे, यह वे सोच ही नहीं पाते हैं। जब वे इन प्रकाण्ड मन्दिरों में खचित मूर्तियाँ तथा उस समय के विभिन्न उत्कीर्णित चित्रों और प्रत्येक मूर्ति की स्वाभाविक भावभंगी देखते हैं तो उनकी चिन्ता-शक्ति विचलित-सी हो जाती है। केवल इन प्रसिद्ध स्थानों में ही नहीं, उत्कल के कई छोटे-छोटे गाँवों में भी इस प्रकार की शिल्प-चातुरी आज भी देखने को मिल जाती है।

आजकल सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने कई स्थानों में खुदाई करके भू-गर्भ से जिन मूर्तियों का उद्धार किया है उनमें भी कुटीर-शिल्प की चमत्कारिता दिखाई पड़ती है। खिचिंग, शिशुपाल-गढ़ आदि से भू-गर्भ से प्राप्त मूर्तियाँ इस चमत्कार के ज्वलंत प्रमाण हैं।

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि उस समय शिल्पशिक्षा के लिए कोई विद्यालय नहीं था। लोग अपनी अपनी झोपड़ियों में इस प्रकार की उत्कृष्ट शिल्प-कला का उद्-भावन करते थे और अपनी चिन्ता-धारा का प्रयोग कर हाथों के द्वारा ही अपूर्व कृतित्व कर दिखाते थे। उस समय जो व्यक्ति जिस विषय में विचक्षण था वह किसी भी जिज्ञासु और इच्छुक को अपनी विद्या सिखा देता था। इस प्रकार प्रत्येक कुटीर एक एक क्षुद्र शिल्पानुष्ठान ही था। फिर जिन बड़े-बड़े मन्दिरों आदि को देखकर लोग आज चकित हो जाते हैं उनको बनाने के लिए न तो बड़े-बड़े इंजीनियर थे, न उनका सहकारी वर्ग। उस समय राजा लोग सीधे कारीगरों को प्रोत्साहित करते थे और कारीगर अपना शिल्पकौशल दिखाने की भरसक कोशिश करते थे। उस समय आजकल की जैसी सहयोग समितियाँ नहीं थीं; लेकिन शिल्पियों का अवश्य ही सहयोग संगठन रहा होगा, नहीं तो इतने बड़े बड़े काम कैसे बन पाते!

प्रस्तरशिल्प की तरह यहाँ लौहशिल्प का भी चरम उत्कर्ष हुआ था। कोणार्क मन्दिर के अहाते में पड़ी हुई लोहे की कड़ियों का लोहा देखकर उनकी निर्माण-प्रणाली के विषय में पता लगाना असंभव-सा लगता है। यह इसलिए नहीं कि उस समय के लोग अपनी कार्यप्रणाली लिपिबद्ध नहीं करते थे बल्कि आजकल ताड़पत्रों की जो पुरानी पोथियाँ मिल रही हैं उनमें शिल्प-संबंधी कुछ बातें भी मिलती हैं। लेकिन बहुत सी ऐसी पोथियाँ नष्ट हो गईं या चोरी चली गईं हैं, जिनसे तत्संबंधी सूचना मिलती। आज तक इस लौहशिल्प के गूढ़ रहस्य का उद्घाटन नहीं हो पाया है। कोणार्क मन्दिरवाली एक एक कड़ी का वजन २०-२५ टन से कम नहीं है। इतने ऊँचे मन्दिर कैसे बनाये गये और इतने बड़े-बड़े पत्थर तथा लोहे किस प्रकार इतनी ऊँचाई पर पहुँचाये गये, जब कि आजकल के क्रेन आदि का नामोनिशान नहीं था; यह सोचकर आश्चर्य करना पड़ता है। इसके विषय में विभिन्न व्यक्ति विभिन्न कल्पना करते हैं। दूसरे यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि इतने दिनों बाद भी इन लोहे की कड़ियों में मोर्चा भी नहीं लगा है। यही उनकी निर्माण-प्रणाली की खूबी है। यह भी जानना कठिन है कि जिन औजारों से ये पत्थर तराशे गये हैं वे औजार उस समय के लोहारों की भाथियों में ही बनाये गये होंगे। लोहे के ये बड़े बड़े औजार ही नहीं, उसी कोणार्क की नवग्रह मूर्तियाँ—जो कि मुगुनी नाम के एक पत्थर को काटकर बनाई गई हैं—

★ उत्कल का कुटीर शिल्प ★

पत्थर की मूर्त्तियाँ और उसका कारीगर
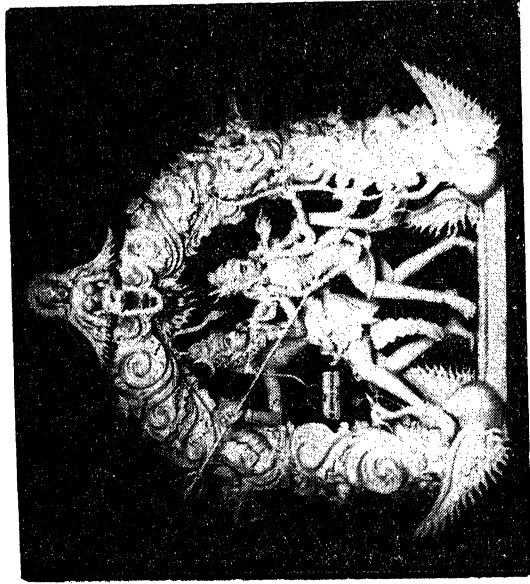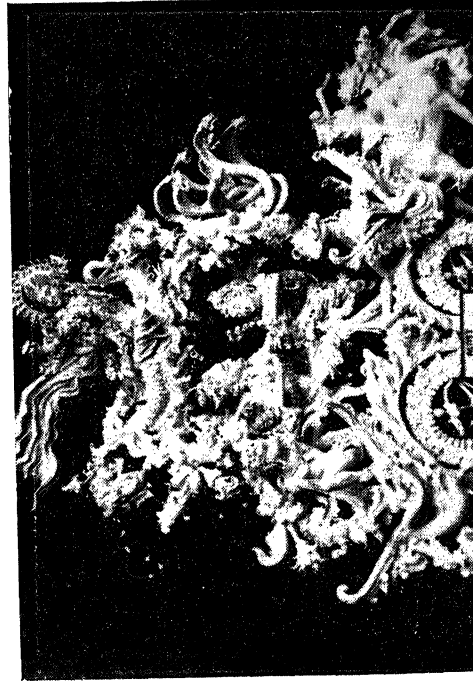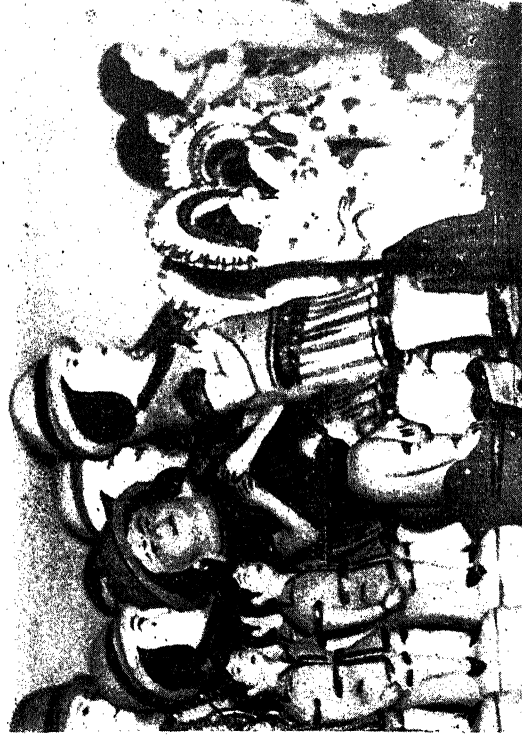
★ उत्कल का कुटीर शिल्प ★

मृण्मय मूर्त्तियों तथा खिलौनों के कुछ नमूने

मृण्मय मूर्त्तियों तथा खिलौनों के कुछ नमूने

★ उत्कल का कुटीर शिल्प ★

चाँदी के तारकसी काम तथा कारीगर
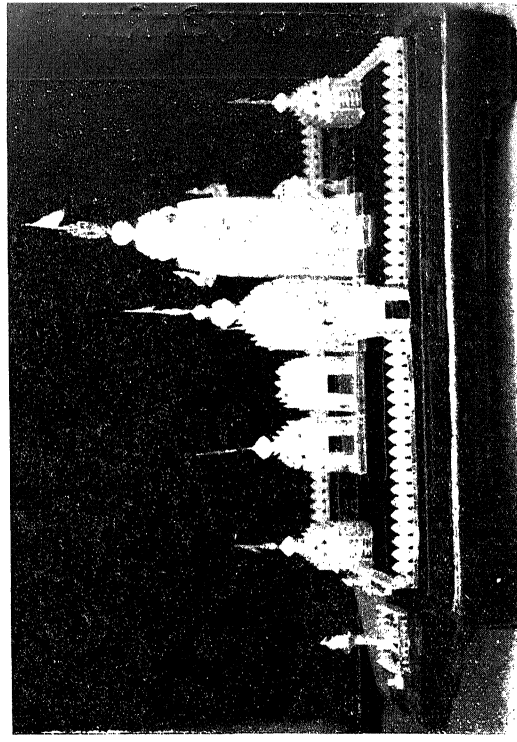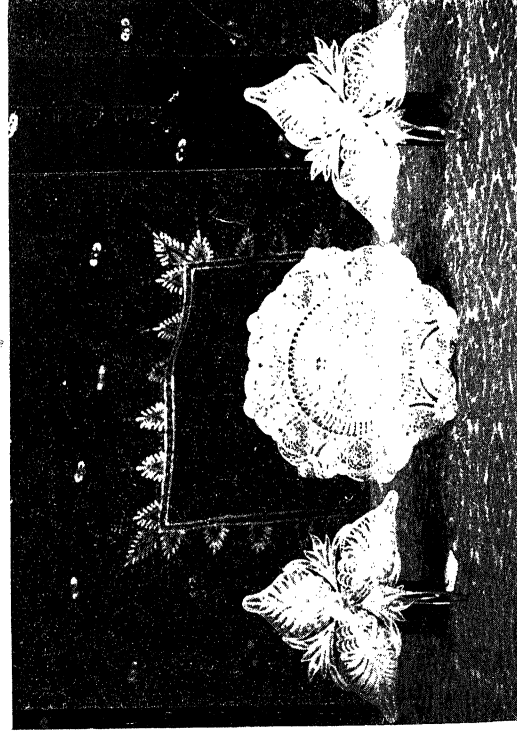
★ उत्कल का कुटीर शिल्प ★

बयन शिल्प

बयन-शिल्प

सिंग के खिलौने

बढ़ई छकड़े के चक्के बना रहा है

चमड़े का शिल्प

काठ के खिलौने

वेंत का काम
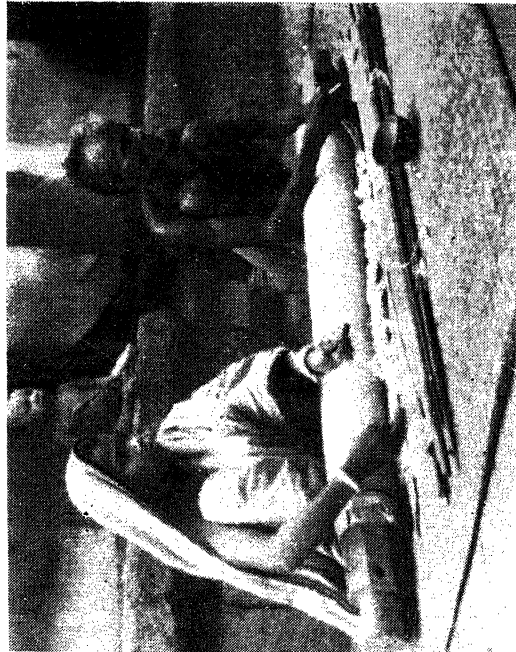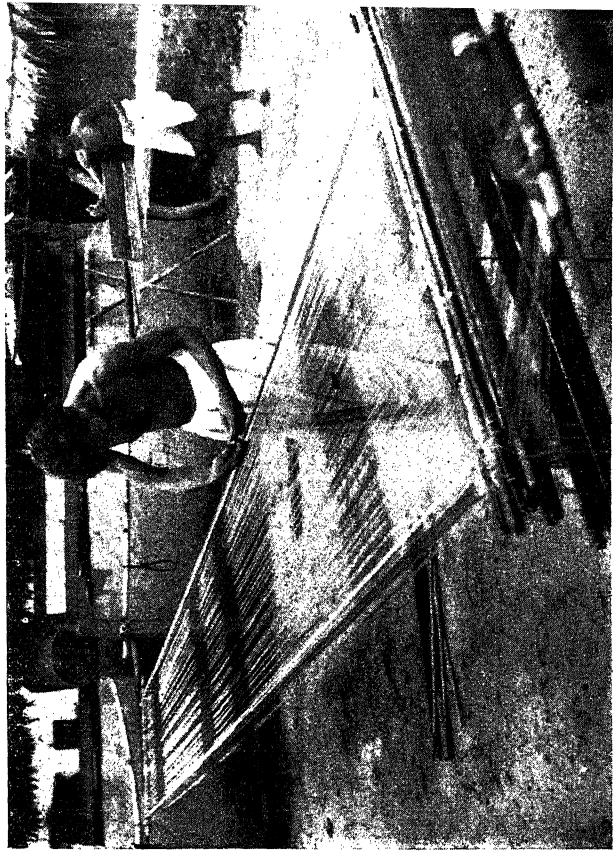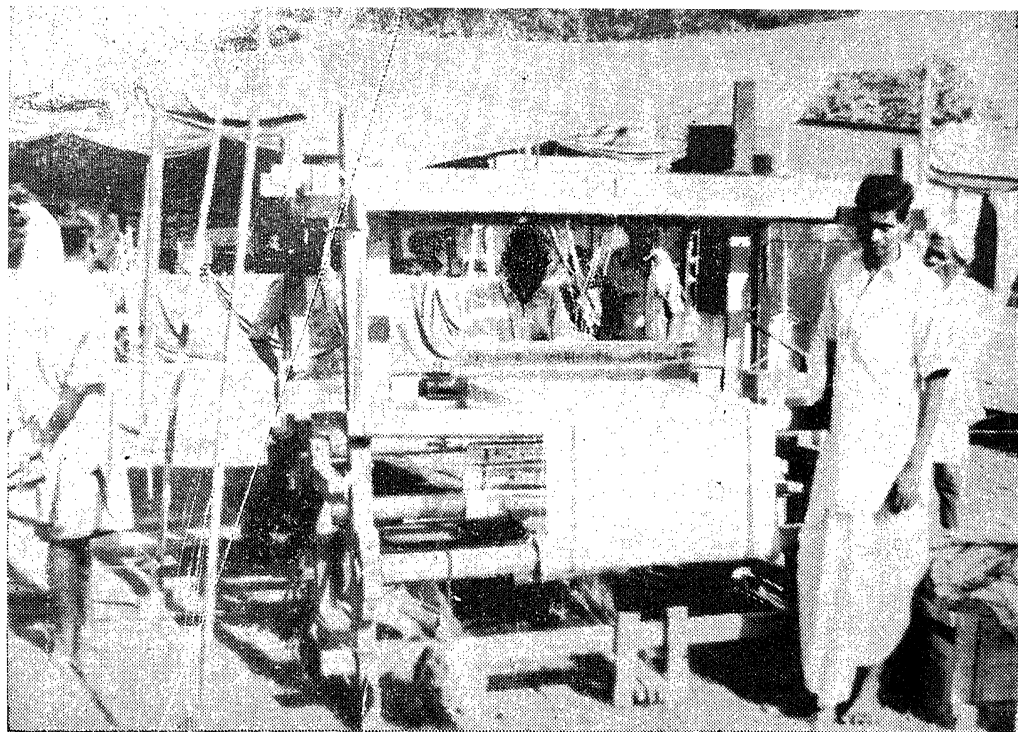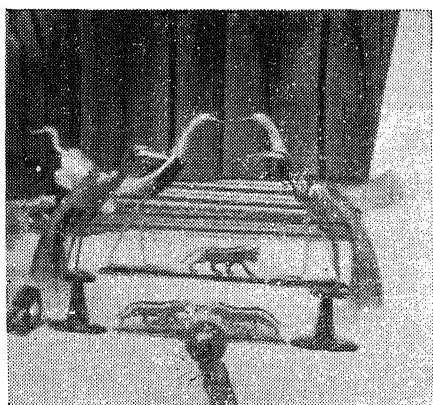
काइञ्च और काठ के काम
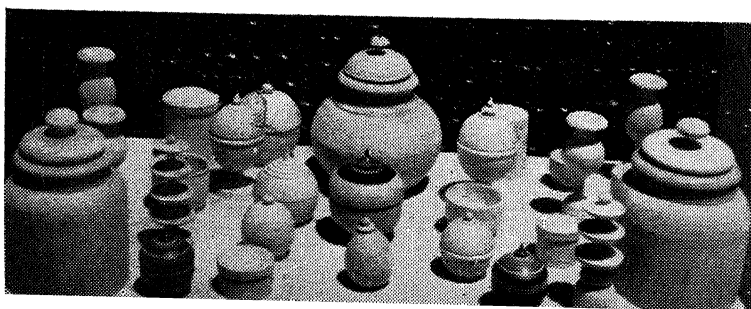
लकड़ी से बने पात्र

उनके लिए ही बहुत सूक्ष्म हथियारों का व्यवहार हुआ होगा। पत्थर पर काम करने के लिए ही नहीं, उस समय लड़ाइयों में व्यवहृत तीर, बर्छा, खण्डा, तलवार आदि का निर्माण भी इन्हीं ओड़िशा के लोहारों की भाथियों से होता था। यह लोहा यहीं के पहाड़ों से प्राप्त लोह प्रस्तर से बनाया जाता था। अब लोहा बनाने का यह उद्योग यन्त्रशिल्प के प्रभाव से एकदम बन्द सा हो गया है।

काष्ठ और मृत्तिका शिल्प--पत्थर और लोहे की तरह ओड़िया जाति ने काष्ठ और मृत्तिका शिल्प में भी कृतित्व हासिल किया था।

प्राचीन काल में सम्पन्न लोगों के घर बनाने में काठ के जो उरा, गुज, चौकाठ और किवाड़ आदि बनते थे, उन पर बढ़ई लोग नाना प्रकार का कारुकार्य दिखाते थे। इसके अतिरिक्त गृहोपकरण अर्थात् संदूक, बक्स, पलँग, पालकी आदि में भी कला-चातुरी का अभाव नहीं रहता था। आजकल अवश्य रुचि-परिवर्तन के कारण उन चीजों को कोई पसन्द नहीं करता परन्तु उन्हीं कारीगरों के वंशधर अब आधुनिक रुचि के अनुसार काठ की उत्कृष्ट और समयोपयोगी वस्तुएँ बनाकर लोगों को सन्तुष्ट करते हैं। बड़े-बड़े शहरों, खासकर कटक के बढ़इयों के काठ के सामान इतने अच्छे और सुन्दर होते हैं कि प्रान्त के बाहर के दूसरे शहरों के लोग अधिक वेतन देकर उन्हें कार्य में नियुक्त करते हैं। कटक आदि में निर्मित काठ की वस्तुएँ कलकत्ते आदि बड़े शहरों को भेजी जाती हैं।

स्वर्ण एवं रजत-शिल्प

सोना-चाँदी का काम ओड़िशा में बहुत दिनों से प्रचलित है। कटक की तारकशी का काम बहुत दिनों से प्रसिद्ध है। सन् १८५१ ई० की लंदन-विश्वप्रदर्शनी में कटक की तारकशी की चीजें प्रदर्शित हुई थीं। हाथ से इस प्रकार की चीजें भी बन सकती हैं, यह देखकर सभी मुग्ध हो गये थे। लेकिन नाना प्रकार की विदेशी चीजों की आमदनी के कारण, परिश्रम के मुकाबले में, ये चीजें महँगी होने लगीं और व्यवसाय मंदा पड़ने लगा। इसी उत्कृष्ट शिल्प के अध:पतन पर स्वर्गीय मधुसूदन की दृष्टि पड़ी थी। वे बीसवीं सदी के प्रारंभ में इस उद्योग की उन्नति में जी-जान से लग गये। उन्होंने यहाँ के सोनारों को प्रोत्साहित करने के लिए एक संस्था भी बनाई और विदेश से कुछ विचक्षण कारीगरों को अधिक वेतन पर बुलाया। कुछ दिनों की परीक्षा के बाद देखा गया कि वे विदेशी कारीगर बहुत दिनों तक प्रयत्न करके भी यहाँ के बारह-चौदह वर्ष की उम्रवाले सोनार के लड़कों के साथ होड़ नहीं कर सके। इससे सिद्ध होता है कि सोने-चाँदी की तारकशी का काम कटक के सोनारों का एक अस्थिमज्जागत और पारंपरिक संस्कृति जैसा है। मधु बाबू अपने कारखाने में युगोपयोगी रुचि के अनुकूल विभिन्न वस्तुएँ बनवाकर इँगलैंड, अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों को भेजने लगे और इसकी ख्याति भी खूब बढ़ी। अब भी दिल्ली, बम्बई और कलकत्ता आदि स्थानों में इन चीजों का व्यापक बाजार खुला है तथा अन्य प्रान्तों के पूँजीपति इन सोनारों से चीजें बनवाकर यहाँ बेचते हैं और बाहर भी भेजते हैं। कटक में सोने-चाँदी के ऐसे कई कारखाने हैं।

भारत सरकार की शिल्प-विकास योजना के अंतर्गत कटक में एक समिति स्थापित की गई है। सन् १९५२-५३ में इस समिति को कार्यकारी पाण्ठि के लिए ५०,०००) और दर्शनागार के लिए ६०००) अर्थात् कुल ५६,०००) की सरकारी सहायता मिली है। ५५-५६ में एक शिक्षा-केन्द्र खोलने के लिए १००००) की तथा १९५७-५८ में ओड़िशा के बाहर एजेंटों की नियुक्ति के लिए ७४००) की सहायता दी गई है। परन्तु शिल्पियों के संगठन के अभाव से कार्य की प्रगति में बाधा पड़ रही है।

काँसा, पीतल—ओड़िशा में काँसे और पीतल की कारीगरी भी विशेष रूप से उन्नत है। बालेश्वर के निकटवर्ती रेमुणा के काँसे के बर्तनों की निर्माण-प्रणाली आज तक दूसरे स्थानों के कारीगर जान ही नहीं सके हैं। कण्टिलों के काँसे और पीतल के बर्तन अधिक परिमाण में ओड़िशा के बाहर भेजे जाते हैं। आधुनिक यन्त्रों और औजारों के सहारे सुलभ मूल्य में काँसे-पीतल की सुन्दर चीजें बनाने के लिए छः समवाय समितियाँ बनी हैं। इन समितियों को भारत सरकार से कुल एक लाख रुपये का ऋण तथा ४६,२७०) की सहायता मिली है। इन समितियों ने १९५७, ५८ ई० में ३,२६,०१३) की चीजें बनाईं और ३,०९,७६३) की चीजें बेची हैं। झुवन, घंटीभुंडा, बालिअन्ता और बेलगुण्ठा आदि स्थान इस शिल्प के प्रधान केन्द्र हैं। बेलगुण्ठा की पीतल की मछलियों को देखकर सभी मुग्ध होते हैं। इन मछलियों की चालढाल जीवन्त मछलियों की चाल-ढाल जैसी ही है। इस शिल्प के प्रसार के लिए गंजाम जिले की शेरगड़ बहुमुखी समवाय समिति के द्वारा एक उत्पादन केन्द्र खोलने की योजना तथा व्यवस्था की गई है। राज्य सरकार की मंजूरी पाने पर कार्यकारी पूँजी तथा अनुदान की रकम मिल जायगी और यह योजना आरंभ हो जायगी।

वयन शिल्प (बुनाई)—वयन शिल्प में ओड़िशा के लोग न कभी पीछे रहे हैं और न इस समय हैं। अनेक स्थान ऐसे हैं जहाँ की कोई न कोई एक विशेषता होती है। संबलपुर के परदे भारत के दूसरे प्रान्तों तथा भारत के बाहर भी बड़े पैमाने में बिकते हैं। बाँध-प्रणाली द्वारा कपड़े बुनने की रीति का अन्य प्रान्त के लोग, कोशिश करने पर भी, भली भाँति अनुकरण नहीं कर सके हैं।

वयन शिल्प की उन्नति के लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना में पर्याप्त व्यवस्था है। प्रान्त भर में ४१६ तन्तुवाय सहयोग समितियाँ स्थापित हुई हैं और उन्हें २५४२१९८) रु० के ऋण दिये गये हैं। सरंजाम बनाने के लिए दिये गये १८७४८०) में से आधी रकम अनुदान की है और आधी ऋण की। आदिवासी जुलाहों के घर बनाने के लिए दो तिहाई धन ऋण के तौर पर और एक तिहाई धन सहायता के तौर पर दिया गया है।

इन समितियों के अतिरिक्त सरकार की ओर से परिचालित एक वाणिज्य समिति भी बहुत दिनों से है। प्रान्त के ५८ स्थानों पर बिक्री भण्डार भी हैं। १९५७-५८ तक ४५ लाख रुपयों के हाथ के बुने कपड़े बिके हैं। मिल के कपड़ों से इनके मूल्य में समता लाने के लिए १४९१, २७४) की सरकारी सहायता भी दी गई है।

फिर भी ओड़िशा के जुलाहों में से केवल एक तिहाई भाग को, जो इन समितियों के सदस्य बन गये हैं, यह सुविधा प्राप्त होती है। दूसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि के भीतर ५० प्रतिशत जुलाहों को सदस्य बना लेने की आशा की जा रही है।

चर्म शिल्प—ओड़िशा के चर्म शिल्प में भी कई विशेषताएँ थीं और हैं। यहाँ के 'खोल' और मृदंग आदि वाद्ययन्त्र दूसरे स्थान, खासकर बंगाल में अधिक आदृत होते हैं। स्वर्गीय मधुसूदन ने जब देखा कि शिल्प की उन्नति पर ही इस जाति की उन्नति निर्भर है तो वे एक के बाद एक कई उद्योगों पर ध्यान देने लगे। तारकशी के बाद चमड़े और सींग के शिल्प पर आपकी नजर पड़ी। कटक में सींग का काम अच्छा चलता था; लेकिन वे चीजें समयोपयोगी रुचि के अनुकूल नहीं बनती थीं। मधुबाबू न उन कारीगरों को नये ढंग की चीजें बनाना सिखाया और उनकी चीजों को भेजकर ओड़िशा के बाहर व्यापक बाजार भी बनाया। आजकल कटक तथा पारलाखेमंडी से सींग की चीजें देश-विदेश को भेजी जाती हैं।

चमड़े का उद्योग इतना आसान न था। मधुबाबू ने इस उद्योग के विकास के लिए उत्कल टैनरी नामक एक लिमिटेड कंपनी बनाकर और विदेशों से बहुत से यन्त्र तथा कल-पुर्जे मँगाकर एक विशाल कारखाना बनाया। इस उद्योग की शिक्षा के लिए कई व्यक्तियों को विदेश भेजा। खुद भी इसके बारे में जहाँ जो कुछ साहित्य मिलता, पढ़कर अमल में लाते थे। विभिन्न केन्द्रों के शिक्षा-प्राप्त कारीगरों को कारखाने में नियुक्त करके भी उन्हें संतोष नहीं होता था और खुद पठित ज्ञान के सहारे कुछ नये तथ्य भी सिखाते थे। कुछ दिनों के बाद उनके कारखाने की चीजों का आदर बहुत बढ़ गया।

कलकत्ते के बाजार में उस समय जब उत्कल टैनेरी के जूतों की पेटियाँ खुलतीं तो फ़ुटपाथ पर भीड़ सी लग जाती थी। अपने कारखाने से सर्वश्रेष्ठ पदार्थ निकले, इस आशय से अधिक खर्च करने में मधुबाबू कभी मुँह नहीं मोड़ते थे, यहाँ तक कि जरा-सी भूल पर उस चीज को नष्ट कर दिया जाता था। एक बार सेना विभाग के लिए बूट जूतों का बहुत बड़ा आर्डर मिला। सारा का सारा माल तैयार हो गया तो एक बूट में किसी जगह पर उन्हें किसी एक काँटी के बिठाने में कारीगर की गलती मालूम पड़ी। इतनी बात के लिए उस बूट के साथ-साथ सभी बूटों को नष्ट कर दिया गया और दूसरे ग्राहकों को, चाहने पर भी, नहीं दिया गया। यही कारण था कि मधुबाबू के कारखाने की बनी चीजों में भूल रह जाने की धारणा किसी भी आदमी के मन में पैदा नहीं हो सकती थी।

यहाँ यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि पहले घड़ियाल, गोह और साँप के चमड़े का व्यवहार नहीं किया जाता था। मधुबाबू ने इन चमड़ों से उत्कृष्ट चीजें बनवाना आरंभ किया और उसमें उन्हें अच्छी सफलता भी मिली।

चर्म उद्योग में बहुत अधिक धन व्यय हो जाने के कारण अन्त में मधुबाबू गरीब अवश्य बन गये थे परन्तु उनकी प्रेरणा से जो हजारों उत्कृष्ट कारीगर इस देश में पैदा हो गये हैं और इस उद्योग का जो विकास हुआ, उसके लिए यह जाति उनकी चिरकृतज्ञ रहेगी।

आजकल ओड़िशा खादी और ग्रामोद्योग बोर्ड के द्वारा इस शिल्प के प्रसार के लिए प्रयत्न हो रहे हैं।

ओड़िया जाति ने नाना विषयों में अपनी उद्भावनी-शक्ति का परिचय दिया है। पुरी जगन्नाथ जी के दर्शन के लिए समूचे भारत से लाखों लोग आते हैं और मन्दिर का प्रसाद या भोग खाकर तृप्त होते हैं। मन्दिर की रंधन-प्रणाली की एक विशेषता है। यहाँ जितने प्रकार के भोग बनाये जाते हैं, उनकी संख्या एक सौ से बहुत अधिक होगी।

गाँवों के गृहस्थों के पारिवारिक जीवन में भी ऐसे अनेक कार्य दिखाई पड़ते हैं जिनसे कला और सौन्दर्य-ज्ञान का यथेष्ट परिचय मिलता है। ओड़िशा के करणों (कायस्थों) के यहाँ की महिलाएँ बाप, चाचा तथा बड़े भाई आदि के नहाने के बाद चन्दन घिस कर उसे चित्र-विचित्र के साथ रखती हैं, पहनने की धोती-चादर चुनती हैं। भोजन के समय पीढ़े पर, विभिन्न भोजन-पात्रों के नीचे और पर्व-त्योहारों के अवसर पर फर्श, भीत तथा किवाड़ों पर चौरठ से अनेक प्रकार के चित्र बनाती हैं। खासकर दीवारों पर भांगचिता नाम की जो तसवीर बनाती हैं, उसमें बुद्धि का कौशल दिखाया जाता है। आजकल की शिक्षित लड़कियों में, जो शहरों में रहकर स्कूल-कालेजों में पढ़ती हैं, भले ही इस कला की कमी हो, लेकिन देहात की महिलाओं में यह अभ्यास आज भी अक्षुण्ण है।

शादी-ब्याह आदि में यहाँ जितने प्रकार की खाद्य-सामग्रियाँ प्रस्तुत की जाती हैं, उतने प्रकार शायद ही किसी दूसरे प्रान्त में हों। शादी के समय बहू को सजाने में और तत्सम्बन्धी यानवाहनों की सजावट में भी जिस कला-चातुरी का परिचय मिलता है, ओड़िशा में उसकी अपनी एक अलग विशेषता है।

इन बातों से अनुमान किया जा सकता है कि ओड़िया जाति के प्रत्येक रक्तबिन्दु में शिल्प-कला अनुप्राणित है जो यथावसर आसानी से विकसित की जा सकती है। कटक की कुटीर उद्योग-शाला (पुअर काटेज इंडस्ट्री) इसका प्रमाण है। गरीबों को उद्योग-धन्धों के द्वारा सहायता देना इस अनुष्ठान का उद्देश्य है। यहाँ के लोगों की यह हालत है कि उनके लिए मामूली दो-चार आने खर्च कर कोई चीज या कुछ यन्त्र-औजार खरीदना भी संभव नहीं होता। अतः जो चीजें उनके घरों के आसपास किसी तरह के व्यवहार में न आकर नष्ट हो जाती हैं उन्हीं से कुछ व्यव-हारोपयोगी चीजें बनाने की प्रणाली सिखाना इस संस्था का उद्देश्य है। इसके द्वारा जितनी चीजें प्रस्तुत होती हैं उनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है।

पुआल—इस देश में धान की खेती काफी होती है। पुआल सभी जगह मिलता है। घर के छप्पर तथा चारे में यह खर्च होता है। इस अनुष्ठान के शिक्षण के फलस्वरूप गाँवों की बहू-बेटियाँ इसी पुआल से विभिन्न प्रकार के आसन और चटाइयाँ बनाती और उन पर तरह-तरह की चित्रकारी करती हैं। उन्हें देखने पर उन लड़कियों के कलाज्ञान तथा धैर्य का परिचय मिलता है। उसी पुआल से विभिन्न प्रकार के पंखे, शरबत पीने के नल आदि भी बनाये जा सकते हैं।

काइँश—काइँश एक किस्म की घास है जो आसानी से मिल सकती है। पहले इससे

काम पर हरिजनों का एकाधिकार था, अब वह नहीं रहा। अब तो ब्राह्मण, कायस्थ, क्षत्रिय घराने की बहू-बेटियाँ पहँसुल के द्वारा बेंत की सुन्दर चीजें बना रही हैं।

ताड़—ताड़ ओड़िशा के सभी अंचलों में होता है। इस पेड़ के सभी हिस्सों का व्यवहार करने की प्रणाली निकाली गई है। इसके पत्तों से नाना प्रकार की डलियाँ बनाई जाती हैं। पत्तों की रीढ़ और खाड़ियों से परदे, चिक तथा पटुए से बैग आदि कई चीजें बनती हैं।

खजूर—खजूर के पत्तों का उपयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है। इससे लोग मोटी चटाइयाँ और झाड़ू बनाते हैं। अब आजकल की रुचि के अनुसार इससे टेबुल मैट, गद्दियों पर बिछाने की चटाइयाँ, बैग, तरह-तरह की मेज, आलमारी, मोटर गाड़ी झाड़ने के ब्रुश आदि बनाये जाते हैं। ये ब्रुश ऐसे होते हैं कि लोग इन्हें किसी ऊन से बनने का भ्रम करते हैं। इसकी सींक से टेबुल-मैट, खिलौने, जूते, टोपियाँ आदि बनती हैं।

नारियल—ओड़िशा के समुद्री अंचलों में नारियल बहुत होता है। नारियल की जटा और चुन्नी से तो रस्सी बनाई जाती है पर अब उसके पाँवपोछ और गद्दे भी बनाये जाते हैं। पत्तों की खाड़ियों से नाना प्रकार की डलियाँ बनती हैं। खोपड़े से फूलदान, कप आदि बनाये जाते हैं। बेल के खोपड़े से भी कप बनते हैं।

बाँस—बाँस ओड़िशा के प्रायः प्रत्येक गाँव में मिलता है और जंगलों में तो प्रचुर परिमाण में होता है। पहले घर तथा डलियों, टोकरियों, छड़ियों आदि के बनाने में इसका व्यवहार होता था। अब उससे तिपाई, टेबुल और सुन्दर छड़ियाँ बनाई जाती हैं। बाँस की हर गाँठ के पास चारों ओर जो सुपेलियाँ होती हैं उनसे टेबल मैट, डब्बे, प्लेट रखने के आसन तथा छोटे-छोटे पंखे बनाये जाते हैं।

केला—ओड़िशा के प्रत्येक गाँव में लोग केले की खेती करते हैं। जिसके पास अधिक जमीन या बगीचा नहीं है वह भी, घर के आसपास, दो-चार पेड़ लगा देता है। लोग उसके फल, फूल और केले के बीच का सफेद डंडा खाकर पेड़ के दूसरे हिस्से को फेंक देते हैं। किन्तु अब उसके तने से तन्तु निकालकर उससे आसन तथा टेबुल और तिपाई पर बिछाने लायक कपड़े भी बनाये जा सकते हैं।

ईख—ईख में फूल फूलने के बाद लोग उसे जला देते हैं। इससे सुन्दर स्क्रीन, परदे और टेबुल बनाने के बदले इसकी चटाइयाँ कम मूल्य में बनती हैं।

नालिया—यह एक घास है। यह समुद्रोपकूल इलाके में खूब पैदा होती है। इससे केवल टोकरियाँ बनाई जाती थीं। अब इससे लोभनीय चटाइयाँ, बैग और कई शौक की चीजें बनाई जाने लगी हैं। इन चीजों का आदर भी खूब बढ़ गया है। बोबेई घास सोला और शुआँबेल से भी कई नई चीजें बनने लगी हैं।

वज्रछुंची—एक प्रकार की तृणजातीय वनस्पति है। यह सहजन के आकार में जमीन से निकलती है। इसमें पत्ते नहीं होते। जहाँ यह पैदा होती है, वहाँ बहुत दूर तक फैल जाती है। इससे गलीचा, आसन आदि चीजें बनती हैं।

अणचरा एक पौधा है। यह बरसात में पहाड़ी इलाके में होता है। इसे काटकर लोग झाड़ू बनाते हैं। इसके छिलके के रेशों से जो कपड़ा बनाया जाता है, उसे देखने पर रेशम का भ्रम होता है।

अंडी—ओड़िशा में सर्वप्रथम १९२६ ई० में इसकी खेती, पुअर काटेज इण्डस्ट्री के द्वारा, प्रचलित हुई थी। सिर्फ चार साल के भीतर प्रान्त में चारों ओर इसका प्रसार हो गया। स्कूल के छात्रों से लेकर मध्यम वर्ग के गृहस्थों तक ने इसे अपना लिया था। इसके बाद सरकारी विकास विभाग ने इसके प्रचार का भार अपने हाथ में लिया; किन्तु अधिक उन्नति होने के बदले बिलकुल बन्द सा हो गया। फिर इस संस्था के द्वारा इसका क्रमशः पुनरुद्धार किया गया। अब यह कार्य सरकारी विभाग को हस्तान्तरित कर दिया गया है। ओड़िशा में कटक, जगतसिंहपुर, डमण्डा, आठगड़, चम्पेश्वर, इन्दुपुर, माटिआशासन, देओगां, छतामखाना, पलाशपंगा, पटांगी, जगन्नाथ प्रसाद, जि० उदयगिरि—इन १३ स्थानों में इसके केन्द्र बनाये गये हैं। पहले सरकार की ओर से अंडे बाँटे जाते हैं। फिर लोग कोषा पैदा करने के बाद काफी अण्डे निकालते हैं। सरकार उन्हें खरीदकर फिर लोगों में बाँट देती है। लोगों से कोषा खरीदने और अण्डी की कताई, बुनाई सिखाने के लिए कर्मचारी नियुक्त रहते हैं।

इसके लिए चार समवाय केन्द्र खोले गये हैं, फिर भी आवश्यकता के अनुसार उत्पादन बहुत कम होता है।

न टूटनेवाले खिलौने—बच्चे लिखने के बाद बहुत-सा कागज फेंक देते हैं। उसके उपयोग के लिए पहले यहाँ के बच्चों को इसी रद्दी कागज और फटे कपड़ों के टुकड़ों से गुड़िया बनाने की क्रिया सिखाई गई। पर इससे मुँह, हाथ, पैर सुन्दर न बनने के कारण उसी कागज को पानी में भिगोकर उसे पीसकर तथा कुछ गोंद मिलाकर गुड़ियों के हाथ, मुँह सुन्दर बनाने की कोशिश की गई। इस काम के लिए वैज्ञानिक प्रणाली है। लेकिन उसमें कई दुर्लभ रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता होती है। अतः अपनी उद्भावित प्रणाली में यह संस्था क्रमशः अच्छे-अच्छे सुन्दर न टूटनेवाले खिलौने बनवाने लगी। अब तो इसी प्रणाली से बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ, रिलीफ मैप, ग्लोब, स्टैच्यू और खासकर मेडिकल तथा स्कूल-कालेजों में व्यवहृत मनुष्य-शरीर के अंग-प्रत्यंग के नमूने बनाये जाते हैं। इन चीजों का आदर दिनोंदिन बढ़ने लगा है।

ईंट—पुअर काटेज इंडस्ट्री ने घरेलू ढंग से ईंटें, खपड़े तथा टाइल बनाने की प्रणाली निकाली है। ओड़िशा जैसे गरीब प्रान्त में लोग बाँस और पुआल से ही अपनी-अपनी झोपड़ियों की छत बनाते हैं। अब इन चीजों की कीमत दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। फिर आग का भय तो हमेशा लगा ही रहता है। इधर गरीबों के पास इतने पैसे कहाँ हैं कि वे बार-बार छत बनाते रहें या कोठा मकान बना लें। अतः छोटे पैमाने में खपड़े और टाइल अपने-अपने घर पर बना लेने की शिक्षा दी जा रही है। कोई भी आदमी प्रायः हफ्ते के भीतर खपड़े और टाइल बनाना सीख सकता है और उसे घर पर पका भी सकता है। रोज कुछ समय परिश्रम करने से लोग थोड़े ही दिनों में अपने घर के लायक खपड़े, टाइल और ईंटें बना सकते हैं। हाँ, यह सच है कि ईंटें पकाने

के लिए जो प्रणाली चालू है उसमें एक साथ हजारों ईंटें एक भट्ठी के लिए चाहिये लेकिन इस संस्था ने एक साथ १००० या ५०० ईंट पकानेवाला चूल्हा बनाया है जो घर के आँगन में ही बना लिया जा सकता है।

अन्त में कहना यह है कि यद्यपि वैदेशिक शासन के घात-प्रतिघात के कारण ओड़िशा के शिल्प में बाधा पहुँची है तो भी इस जाति की उद्योग-शक्ति एकदम नष्ट नहीं हो गई। चाहे व्यक्ति हो या देश, उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति ही यह है कि अवसर मिलने पर उसकी शक्ति का विकास आसानी से हो सकता है। बाधकों या प्रतिबन्धों से उस शक्ति का क्रमशः लोप होना असंभव नहीं है। शिल्प के बल पर यह जाति कभी सौभाग्यशाली थी और इसे खोकर ही इसकी हालत बिगड़ गई। आजकल यह बात सभी समझने लगे हैं। इसलिए नाना प्रकार की योजनाएँ बनाई जा रही हैं। लेकिन जो-जो उद्यम पुराने समय से चालू हैं उनके परिचालन की सुव्यवस्था होनी चाहिए। केवल बड़े-बड़े डिपार्टमेंट खोलकर उच्च पद पर शिक्षित कर्मचारियों की नियुक्ति कर देने या कुछ नियमावली बना लेने पर ही काम नहीं चलेगा। ये नियम प्रायः शिल्प पर ध्यान रखकर नहीं बनाये जाते बल्कि विभागीय कार्य-नियन्त्रण की सुविधा को ध्यान में रखकर बनाये जाते हैं। देहात की स्त्रियों को सिखाने से वे जिन चीजों को आग्रह के साथ बना सकती हैं और उनकी चीजें खरीद लेने पर ही उन्हें रोटी मिल सकती है, उनसे उन चीजों को खरीद कर साथ-साथ पैसा देने की व्यवस्था न तो सरकार की ओर से हो पाती है और न इस दायित्व को लेनेवाली संस्था को प्रोत्साहित ही किया जाता है। कारीगर अगर काम करने के बाद अपनी मजदूरी न पा सके तो कार्य में उसकी प्रवृत्ति नहीं रहेगी। फल यह होता है कि जिनकी सुरक्षा के लिए इस विभाग की सृष्टि हुई है उनकी ओर उदासीनता बरती जाती है। ऐसा नहीं होना चाहिए। जगह-जगह पर बड़े-बड़े शिल्प-अनुष्ठान खोले जा रहे हैं। उनमें बड़े-बड़े कार्यकर्ता हैं और उनकी व्यवस्थाएँ भी बड़ी हैं। लेकिन इन बड़े कारखानों से जाति के जितने लोगों का मंगल हो सकता है, उनकी संख्या बहुत कम है। गाँव-गाँव के घर-घर में जितने बेकार हैं या जिन लोगों को आंशिक बेकारी रहती है, उनका दुःख दूर करने के लिए ये बड़े कारखाने समर्थ नहीं होंगे। लोगों की बेकारी दूर कर उन्हें उन्नत जीवन बिताने का अवसर देने के लिए कुटीर-शिल्प ही प्रधान साधन है। अगर योग्यता के साथ गाँव के कारीगरों से चीजें बनवाकर उन्हें ठीक समय पर मूल्य दिया जा सके और उन चीजों की बिक्री की सुव्यवस्था की जाय तो साधारण जनता का अशेष उपकार हो सकेगा। सरकारी शिल्प विभाग के अलावा समवाय विभाग का ध्यान भी इस ओर अवश्य गया है। लेकिन इन विभागों का कार्य व्यवस्थित नहीं हो पाया है। इन कार्यकर्ताओं को लोगों की प्रवृत्ति, आवश्यकता तथा पारिपार्श्विक परिस्थिति से परिचित होकर तदनुसार कार्य-प्रणाली अपनानी चाहिए।

ओड़िशा में संगीत की स्थिति

श्री श्यामसुन्दर धीर, कविचन्द्र कालीचरण पट्टनायक

प्राचीन भारत के कलिंग और उत्कल का कुछ अंश लेकर हमारा यह उत्कल प्रदेश गठित हुआ है। भारतवर्ष में जब से वेद की सृष्टि हुई है तभी से संगीत कला का प्रचलन है। भारतीय संगीतशास्त्र की पद्धति का अनुसरण करती हुई ओड़िशा की संगीत कला आज तक चली आ रही है।

भारतीय संगीतशास्त्र में सर्वप्रथम "मार्गी" संगीत की सृष्टि हुई है। इसी से "देशी संगीत" उत्पन्न हुआ। भारत के विभिन्न प्रदेशों में उस "देशी" संगीत की जो रीति प्रचलित हुई वह उस प्रदेश में उस प्रदेश के देशी संगीत के नाम से अभिहित हुई। संगीतरत्नाकर में शार्ङ्गदेव ने लिखा है –

देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरंजनम्।
गानं च वादनं नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते॥[१]

इस समय मार्गी संगीत का प्रचलन नहीं है और देशी संगीत भारतीय संगीत के नाम से परिचित है।

शास्त्रीय संगीत को सरल भावों में लोगों के सामने रखने के लिए क्रमशः भरत नाट्य-शास्त्र, नारदसंहिता, संगीतरत्नाकर, बृहद्देशी, पारिजात और दंतिल आदि कई शास्त्र लिखे जा चुके हैं। इनमें भरत, हनुमत, शैव, कृष्ण इन चारों मंत्रों के अनुसार संगीत की आलोचना की गई है। इनके बीच किसी मत में यह भी उल्लेख हुआ है कि ६ राग, ३६ रागिनियाँ हैं; किसी में ६ राग, ३० रागिनियाँ और उनकी वंशलता के साथ कई रागपुत्र और पुत्रवधू के रूप भी बताये गये हैं। इनमें हनुमत-मतानुसार उत्कल में अधिकतर ६ राग, ३० रागिनियों का संगीत चलता आ रहा है। भारत के अन्यान्य प्रान्तों में भी इसी प्रकार का प्रचलन है।

ओड़िशा में ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के महामेघवाहन सम्राट् खारवेल के राजत्वकाल से संगीत कला के प्रकृष्ट निदर्शन विद्यमान हैं। विभिन्न प्रदेशों की लोकरुचियों, भाषाओं और उच्चारण के भेदों से संगीत की उपस्थापनाएँ भिन्न-भिन्न रूप में हुई हैं। इसी को संगीत के जन्म-

---

१. संगीतरत्नाकर श्लोक—२३
आनन्दाश्रम ग्रंथांक ३५ स्वरध्याय।

दाता "भरत मुनि" ने प्रवृत्ति कहकर भारत के नाना स्थानों में 'चतुष्टयप्रवृत्तयः' नाम से उल्लिखित किया है।

उन्होंने नाट्यशास्त्र में कहा है—

चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोक्तृभिः ।
अवन्ती दाक्षिणात्या च पांचाली चौड़ मागधी ॥[1]

उड़ को ओड़िशा कहते हैं। उस देश में जो संगीत प्रचलित है उसको 'ओड़िशी' संगीत कहा जाता है—

"अबला बालगोपालैर्क्षितिपालैर्निजेच्छया ।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते ॥[2]

इस प्रकार उत्कल में ओड़िशी संगीत सदैव भारतीय संगीत के शास्त्रीय अनुसरण पर, अपनी स्वतंत्रता और विशेषत्व के साथ प्रचलित होकर विकसित हो रहा है।

इस समय भारत में भारतीय देशी संगीत की दो धाराएँ प्रचलित हैं। एक हिन्दुस्तानी और दूसरी कर्नाटकी है। ओड़िशा का राजनैतिक शासन विदेशी लोगों के अधीन रहने के कारण संगीत क्षेत्र में कुछ बाधा आई है और 'ओड़िशी' संगीत के प्रचार और प्रसार पर उसका असर पड़ा है। इसलिए वर्तमान समय में लोग विभिन्न स्थानों में विभिन्न संगीतशास्त्र के नियमानुसार प्रचलित विभिन्न प्रकार के संगीत नहीं गा सकते।

प्राचीन पंडितों ने स्वर और लय को संगीत की आत्मा माना है। बिना लय के तुकबन्दी और राग-रागिनी नहीं हो सकती। राग-रागिनी से रहित होने पर संगीत का मनोरंजक तत्त्व नष्ट हो जाता है। लय और स्वर के सहारे प्रत्येक देश की भाषा के शब्द या मात्रा का उच्चारण होता है। इससे गीत, प्रबन्ध, छन्दादि की उत्पत्ति हुई है। उसी लय के सहारे अक्षर उच्चारण करने के समय कई मात्राएँ गणना के अनुसार सम, विषम संख्याओं में निश्चित की जाती हैं। लय की सहायता से नाट्यशास्त्रकारों ने ताल को उत्पन्न किया है। आचार्यों ने इस ताल के विभिन्न प्रकार के भेद किये हैं। किसी के मत से ७ ताल हैं तो किसी के मत में ९ हैं। इस प्रकार ताल की संख्या १०१ से लेकर १२० तक बढ़ गई है। इन तालों को मार्गी ताल कहते हैं। इससे उत्पन्न कई प्रकार के ताल आज विभिन्न स्थानों में व्यवहृत होते हैं। उत्कल के वर्तमान प्रचलित ताल "नव ताल" के अन्तर्गत हैं। इसका उल्लेख ओड़िशा के संगीत-मुक्तावली ग्रन्थ में है। यथा भरते—

---

१. भरत नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, त्रयोदश अध्याय। श्लोक २५ क सन् १८१४, प्रथम मुद्रण। पृष्ठ १४७।

२. त्रिवेन्द्रम अनन्तशयन संस्कृत-ग्रन्थावली। १९२८ में प्रकाशित बृहद्देश्या पृष्ठ २, श्लोक १३ क।

आदिर्यती निशारु स्वात्व तालत्रिपुटस्तथा
रूपको झम्पको मण्ठ एकताली प्रकीर्त्तिता।
एभिस्तु नवभिस्तालैः कल्पितः सुत उच्यते।
एते मुख्या हि विख्याता प्रबन्धांगत्रया पुनः
एकोत्तरशतं तालास्तेऽपि वाच्या क्रमादिह।"

(गीतप्रकाश में भी लिखित है।)

इन तालों की गति कुछ विलंबित है, फिर भी यह द्रुत लय के भेद में प्रचलित है। संगीत-रत्नाकर में यह भी लिखा है—

"लय - ग्रह - विशेषेण तालानां नवता मता।
तालविश्रामतोन्येन विश्रामेण लयो नवः॥

(प्रबन्धार्थ श्लोक ३६४)

इस तरह ओड़िशी संगीत में तालों का व्यवहार है। ओड़िशा में प्रचलित देशीय ताल जैसे—अट्टताल, आठताल, कुतुक, एक ताल, रूपक, त्रिपुटा, मठ, झम्पा, आदि, यति, निशारु, आत् ताल, झुला-सरिमाल और पहपट आदि हैं। चौताल, धमार, और त्रिताल आदि तालों के गाने प्राचीन काल से प्रचलित हैं। इसके अतिरिक्त खेमटा, कव्वाली, कहरवा, दादरा आदि तालों के गाने प्राचीन कवियों के लेखों से हमें मिलते हैं।

इसके बाद प्राचीन काल में हमें कई देशी ताल देखने को मिलते हैं, जैसे—ब्रह्म ताल, पंचम सवारी, शूल ताल आदि प्रचलित होने के बहुत से प्रमाण पाये जाते हैं। प्रचार और साधना के अभाव में क्रमशः उसका लोप होता जा रहा है। आजकल किसी किसी स्थान पर ओड़िशी संकीर्तन में दशकोशी, लोपां आदि कितने ही ताल प्रचलित हैं। ऊपर लिखे तालों के अतिरिक्त ओड़िशा में कई प्रचलित वाद्य-यन्त्र हैं। वीणा, सितार, एसराज, तानपूरा, बेहेला, सारंगी, वंशी आदि उच्च कोटि के वाद्य-यन्त्र प्रयुक्त होते आ रहे हैं। कई अच्छे किस्म के मृदंग या मर्द्धल, पखावज, बायाँ तबला, मन्दिरा, कन्सी आदि भी प्रचलित हैं। इसके बाद मध्य जातीय खोल, ढोलक, करताल, सिंघा, बीर काहाली, शंख, घण्ट, घण्टा आदि प्रचलित हैं और निम्न जातीय वाद्य केन्दरा, नागेश्वर, महुरी, भेरी, तुरी, उबका और नागरा, नाउघुड़की, डम्बरु, ढोल, बड़काठ, घउसा, धुमुरा, चांगु, घसा ढोलकी आदि नाम से संबोधित होते हैं।

गीत, वाद्य और नृत्य का स्वतंत्र रूप से विकास होने पर ओड़िशा में संगीत का प्रचलन हुआ। सन् १५६० के पश्चात् उत्कल की स्वाधीनता का लोप होने पर लगभग २०० वर्षों तक नायक-नायिका-भाव-संपन्न शृंगार रस से पूर्ण गीत प्रचलित रहा। आधुनिक ओड़िशा में शास्त्रीय उच्चांग और ओड़िशी संगीत की चर्चा कम है। लेकिन जिस समय ओड़िशा स्वाधीन था उस समय संगीत-चर्चा के विशेष प्रचार के प्रमाण मिलते हैं। गोविंद-लीलामृत से पता चलता

है कि ओड़िशा के शास्त्रीय संगीत की रीति उस समय इतनी समुन्नत थी कि उसके साधक हरिदास गोस्वामी से शिक्षा प्राप्त कर तानसेन ने भारत के मोगल सम्राट् अकबर के दरवार में विशेष ख्याति अर्जित की थी। उस प्राचीन ओड़िशा की सांगीतिक रचना का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है।

यथा—झंपकतालेन-नट रागेण

अकृष्ट दिवस कर तनय तनय बुद्ध
बल तीर्थ गमन कृत सकल कृत शुद्धे।
रक्ष मामक्ष घृत पद दन्त बक्रे
धरणी भुजि धृत रोष हतरात चक्रे
थोंग किट झँ झँ कृत तत्थाद्रिक द्रांदाम
निगम सरिध पध कटि दिमिक दिमि ताभा।

त्रिपुट तालेन-वसन्तरागेण

शिखर मण्डल मण्डितोत्तम कुण्डलैक विराजितम्।
चण्डकर सूत दण्ड खण्डन पण्डितं त्रिदशार्च्चितम्।
यादवान्वय दुग्ध वारिधि कुमुद बान्धवमीश्वरम्।
भावयामि भवन्तमर्हनिशं ब्रह्मरूपमनश्वरम्।
इत्यादि—(संगीत नारायण)

गुण्डकिरि राग:

कलयति नयनं दिशि दिशि वनितं
पंकजमिव मृदु मारुत चलितं (१)
केलि विपिनं प्रविशति राधा
प्रतिपद समुदित मनसिज बाधा। ध्रुव।
जनयतु रूद्रण जेश मुदितं
रामानन्द कवि गदितं (२)—जगन्नाथवल्लभ नाटक।

इस तरह विभिन्न राग-रागिनियों के गीत प्रचलित हैं। वर्तमान युग के परिवर्तन के साथ-साथ ओड़िशा में उसके विभिन्न प्रकार प्रचलित हैं। कालक्रम के अनुसार चर्चा के अभाव के कारण यह अपभ्रष्ट हो गया। उसी समय से ओड़िशी भाषा में एक प्रकार का संगीत दिखाई पड़ता है। इसके पहले जयदेव का 'गीतगोविन्द' संस्कृत की निकटतम ओड़िया भाषा में लिखा हुआ है। पहले के लिखे गीतों से जयदेव के गीतों का साम्य है।

ओड़िशी संगीत में जो राग-रागिनियाँ प्रचलित हुई हैं वे मूलतः भारतीय संस्कृत शास्त्र के अन्तर्गत हैं। इस तरह उच्चांग संगीत के अतिरिक्त संगीत के क्षुद्र गीतों के अन्तर्गत गिनी जानेवाली रचनाएँ ओड़िशा में छान्द, चउतिशा, चौपदी के रूप में प्रचलित हैं। और भी अनेक प्रकार के देहाती गीत जैसे बासि गीत, योगी गीत, चषा गीत विशेष अवसरों और पर्व-त्योहारों में गाये जाते हैं। शास्त्रीय क्षुद्र गीत के अन्तर्गत सघुबा, अधुबा, पांचाली और चित्रपदा आदि ओड़िशा में चउतिशा और छान्द के नाम से प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त ग्राम्य गीत में तुन्दा, केला गीत, हलुआ गीत, नाउरी गीत, झेति घोड़ा आदि व्यावसायिक कार्यों और पर्व-त्योहारों में चले आ रहे हैं। इनके ज्वलंत उदाहरण गीतप्रकाश, संगीतनारायण, संगीतमुक्तावली, संगीत-सरणी से प्रमाणित हैं।

वर्तमान ओड़िशा में जितने राग प्रचलित हैं वे राग दूसरी जगह कहीं नहीं मिलते। वे सभी मूल संस्कृत शास्त्र के अन्तर्गत हैं। जैसे—तोडि, परज, पंचम बिराड़ी, तुकसर (ढवक) हाबित् आदि राग-रागिनियाँ हैं।

संगीत की भाँति ओड़िशी नृत्य मत भी भारतीय शास्त्र-रीति का अनुसरण करता है। भारतीय नृत्यशास्त्र में नृत्य के दो भेद हैं—तांडव और लास्य। पुरुष व्यक्ति के नृत्य को ताण्डव नृत्य कहते हैं। ये वीर, महोत्साह और रौद्र रस के होते हैं। स्त्री नृत्य को लास्य कहा जाता है। यह श्रृंगार-रस-प्रधान होता है। इस तरह ओड़िशी ढंग से शास्त्रीय-नृत्य प्राचीन काल से प्रचलित है। मन्दिर की दीवालों में उत्कीर्णित नृत्य मूर्तियाँ इनकी साक्षी हैं। ओड़िशा की स्वाधीनता के लोप होने के बाद नृत्य, नाट्य और नृत्य-चर्चा के पृष्ठपोषकों का अभाव हो गया। कालचक्र से ताण्डव नृत्य प्रायः लोप हो गया है। लास्य नृत्य अति कामाचार के कारण सिर्फ कवियों के गीतों का भाव ही व्यक्त करता है। इसके अतिरिक्त चर्चा और पृष्ठपोषकों के अभाव के कारण लोग अनेक नृत्य भूल गये हैं। वर्तमान प्रचलित ओड़िशी नृत्य कर्पूरहीन वस्त्र की तरह है। वस्तुतः ओड़िशी नृत्य पूरा का पूरा शास्त्रीय ढंग पर है। इसमें संशय नहीं कि शुद्ध रीति के अनुसरण करने पर वह आदर्श स्थानीय होगा। शास्त्रों में नृत्य के जो जो विभाग देखे जाते हैं जैसे—काठी-जाकण, बाजाबाती, हलायन और मण्डली नृत्य—वे प्रायः सभी प्रचलित हैं। उनका आदर छउ, पाइक केउट (घोड़े का नाच), शवर, आदिवासी, पाला, दासकाठिआ, चात्रा दल आदि के रूप में होता है। इसकी उन्नति के लिए यत्नवान् होना चाहिए। उपरोक्त ग्रंथों से ओड़िशा की संगीत-धारा की सुरक्षित अवस्था का पता चलता है और उसके बाद स्वर्गीय पटायत बलदेव चंद्रधीर का भारत-संगीत विदित है। उसका प्रचार केवल ओड़िशा में ही नहीं, सारे भारतवर्ष में है। इसमें राग, ताल, नृत्य, वाद्य आदि अपने लक्षणों के साथ प्रदर्शित हैं। उसके अप्रकाशित रहने और शास्त्रीय रीति-चर्चा का अभाव होने के कारण ओड़िशी संगीत की रूप-रेखा प्रचारित नहीं हो सकी। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि यदि प्राचीन काल की भाँति उसकी शिक्षा दी जाय, तो ओड़िशी संगीत सारे भारत तथा पृथ्वी में उच्च स्थान प्राप्त करेगा। इसके लिए सामूहिक चेष्टा या सहयोग की आवश्यकता है।

ओड़िया नाटक एवं रंगमंच

श्री वनमाली मिश्र

ओड़िया नाटक का आरंभ उतना ही प्राचीन है जितनी कि मनुष्य की अनुकरणात्मक प्रवृति। यद्यपि यह रहस्यों से आच्छादित है, तो भी इसका उद्गम कई शताब्दियों पूर्व अतीत के गर्भ में खोजा जा सकता है।

ओड़िशा का सांस्कृतिक इतिहास ढाई हजार वर्षों से अधिक प्राचीन है। यह कलाओं और कलाकारों की भूमि है। पुरी, भुवनेश्वर और कोणार्क के मंदिर उनकी रचनात्मक प्रतिभा के ज्वलंत प्रमाण हैं। यह प्रदेश ही जिस उत्कल नाम से विदित है, उस शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ ("उद्गता कला यस्मिन् देशे स देश उत्कल" अर्थात् जहाँ कला का उत्कर्ष दिखाई पड़ता हैं) इसके तात्पर्य को अच्छी तरह प्रकट कर देता है।

विकास के पाँच चरण

प्रथम चरण—प्रथम चरण का विकास कई युगों को मिलाकर ईसा की ७वीं शताब्दी में समाप्त होता है। उस समय संपूर्ण भारत में संस्कृत ही सबसे उन्नत भाषा थी और पंडित तथा सामंत उसी की विभिन्न शाखाओं के संरक्षक थे। हमारे पास इसके प्रमाण हैं कि उत्कल में भी मंच और अभिनय की चर्चा पहले थी। ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शती में महामेघवाहन सम्राट् खारवेल के द्वारा हाथीगुफा लेख में एक रंगमंच प्रस्तुत किये जाने के संकेत आज भी मौजूद हैं। हमें यहाँ की एक शिलालिपि से निम्नांकित संदर्भ मिलता है जो उस समय की प्रचलित पाली भाषा में लिखित है। वह लेख यों है—

चौथी पंक्ति—'ततिये पुनवसे'

पाँचवीं पंक्ति—गंधव-वेदबुधोदय-दय-नत-गीत-वादित-संदसनादि-उसव-समाज कारापनादिच कीड़ापयति नगरि" इसका संस्कृत अनुवाद इस प्रकार है—

> "तृतीय पुनर्वर्षे गन्धर्ववेदे बुधः दर्प नृत्यगीतवादित्र-
> सन्दर्शनैः उत्सव समाज-कारणाभिश्च क्रीडयति नगरीम्।"[१]

---

१. खारवेल इंस्क्रिप्शन्स : रेफरेंस—ओल्ड ब्राह्मी इंस्क्रिप्शन्स इन द उदयगिरि एण्ड खंडगिरि केव: पृष्ठ ३७।

द्वितीय चरण—कुछ विद्वानों की राय में ओड़िशा में ओड़िया भाषा आठवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच पाली, मागधी और शौरसेनी से उत्पन्न हुई है। यह उदयगिरि, खंडगिरि और धौलीगिरि की गुफाओं में उत्कीर्ण अभिलेखों से स्पष्ट है कि पाली ही तत्कालीन उत्कलीय जन-साधारण की अभिव्यक्ति का सर्वसामान्य साधन थी। अस्तु, 'बौद्धगान ओ दोहा' के नवीन संस्करण से प्राप्त कान्हपाद, लुईपाद और अन्य बौद्ध सिद्धाचार्यों की रचनाएँ बोलचाल की जिस तत्कालीन भाषा में रची गई थीं, वह प्राचीन ओड़िया का निदर्शन ही है। विभिन्न विभाषाओं में रची जानेवाली विभिन्न प्रकार की साहित्यिक रचनाओं के इस मोड़ ने संस्कृत के प्रभुत्व और सर्वोत्कृष्टता को समाप्त कर दिया। इस समय तक नाटकों का अभिनय न तो राजप्रासादों और न संस्कृत के जानकार लोगों तक ही सीमित रहा बल्कि सामान्य जनता इस प्रकार के अभिनयों में रुचि लेने लगी थी और चूँकि उन लोगों की समझ में संस्कृत नहीं आती थी अतः वे नाटकों में प्राकृत पद्यों और कथोपकथनों के समावेश की माँग करने लगे ताकि वे उसे सरलतापूर्वक हृदयंगम कर सकें। अतएव संस्कृत से अधिकाधिक अनुरक्ति और प्राकृत के प्रति दुर्भावना रखनेवाले पंडितों ने जनता की माँग के आगे घुटने टेक दिये। उन्हें आशंका हुई कि यदि इस प्रकार की माँग को ठुकरा दें तो निश्चय ही वे अपने उन अनुयायियों की सहानुभूति को खो देंगे जो उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। इससे उनके यश को बहुत बड़ा धक्का लगेगा। इस प्रकार वे संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषा का समावेश करने को बाध्य हो गये जो नाटक के द्वितीय स्तर के विकास में प्रथम चरण सिद्ध हुआ।

भुवनेश्वर-समूह के मन्दिरों का युग ८०० ई० से लेकर १००० ई० के बीच आँका गया है। भुवनेश्वर के मुक्तेश्वर, राजारानी, लिंगराज और बैताल मंदिर में ऐसे शिल्पिक कौतुक मिले हैं जो प्राचीन ओड़िशा की कलात्मक प्रतिभा के मूक साक्षी हैं। इन मंदिरों के स्थापत्य में 'मुद्राओं', "आसनों" और अनेक वाद्ययंत्रों से युक्त नृत्य के ऐसे दृश्य अंकित हैं जो तत्कालीन समाज का विशद चित्र उपस्थित करते हैं। भुवनेश्वर के शिवमंदिरों के चतुर्दिक् होनेवाले धार्मिक कृत्य और तत्संबन्धी पर्व तथा शानदार प्रदर्शन उस काल के नियमित लक्षण थे। शिवसंबंधी उपाख्यानों में शिवगौरी-विवाह एक बहु-प्रचलित विषय था और प्रत्येक वर्ष ग्रीष्मकालीन शीतल षष्ठी के अवसर पर विवाह के ये दृश्य गान, नृत्य और भजनों के रूप में ग्रामीणों के सम्मुख उन लोगों द्वारा प्रदर्शित होते थे जो विभिन्न प्रकार के अभिनयों के लिए सुसज्जित होते थे। भिन्न भिन्न अवसरों पर शिव के अन्य कृत्य—जैसे राक्षसों से उनका युद्ध, गणों के मध्य उनकी भव्यता आदि—भी प्रदर्शित किये जाते थे।

इस प्रकार दूसरे स्तर के विकास का द्वितीय चरण प्रारंभ हुआ। तब एक सशक्त परिष्कृत साहित्यिक शैली का प्रादुर्भाव हुआ जिसने एक निश्चित और सुस्थापित साहित्य का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार इस विकास का चरम उत्कर्ष १५वीं शताब्दी के संत कवि सारलादास के ओड़िया महाभारत में उपस्थित हुआ। पुरी के जगन्नाथ मंदिर का निर्माण १२वीं शती के अंत में हो गया था तथा कोणार्क का मंदिर जिसे 'ब्लैक पैगोडा' भी कहते थे और जो कभी संसार का

८वाँ आश्चर्य कहा जाता था, १३वीं शती में निर्मित हुआ। ये दोनों मंदिर स्थापत्य कला के अत्यंत उत्कृष्ट नमूने हैं। उनमें स्थापत्य कला के माध्यम से मानव-समाज के भिन्न-भिन्न दृश्यों को अत्यंत आलंकारिक ढंग से प्रदर्शित किया गया है। कोणार्क की 'मुखशाला' के ऊपरी भाग में चित्रांकित अपूर्व दृश्यों को देखकर लोग बहुत ही प्रभावित होते हैं। यद्यपि काल के क्रूर हाथों द्वारा कोणार्क मंदिर का शिखर नीचे लुढ़क आया है किंतु प्राचीन उत्कल की स्थापत्य और मूर्तिकला के आश्चर्य के रूप में उसके शीर्षभाग का भग्नावशेष अभी तक वर्तमान है। इसमें लगभग आधे दर्जन सुंदरियों के दृश्य प्रदर्शित हुए हैं। इनमें से कुछ तो गाने की मुद्रा में नाचती हैं, दूसरी शृंगी बजाती हैं और कुछ ढोल, झाल तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के वाद्ययंत्र बजाती हैं। यह इतनी उत्कृष्टता के साथ उत्कीर्ण हुआ है कि समूचा दृश्य नृत्य के साथ आधुनिक 'सिम्फनी आर्केस्ट्रा' का स्वरूप उपस्थित कर देता है। वस्तुतः यह केवल मूर्तिकारों की काल्पनिक उपज ही नहीं होगी, निश्चय ही समाज का कोई न कोई आधार उनके पीछे रहा होगा। भुवनेश्वर के मंदिरों के चतुर्दिक् होनेवाले धार्मिक कृत्यों, पर्वों और शानदार प्रदर्शनों का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उन्हीं की भाँति महाप्रभु जगन्नाथ मंदिर के चारों ओर वैष्णवों के भी पर्वों, त्योहारों और आचारों की ऐसी ही दीर्घ परंपरा और शृंखला थी जो गाँवों तक फैली हुई थी। जन्माष्टमी के दिन कृष्णजन्म, कंस का क्रोध (जिसे मारने के लिए कृष्णावतार हुआ था), देवकी की विवशता, वसुदेव का कारागार से भागना आदि दृश्य लोगों को दिखाये जाते थे। कृष्ण के अन्य महान् कृत्य, उनकी वीरता इत्यादि के दृश्य अन्य पर्वों के दिन प्रदर्शित किये जाते थे। इन अभिनयों में काव्यमय भाषण और हास्यपूर्ण कथोपकथन भी होते थे जो इन्हें सजीव बना देते थे। इससे नाटक का वह रूप जो अभी तक अविकसित अवस्था में था, शनैः-शनैः सुस्थापित हुआ।

पात्रों का परिचय देने में इस समय तक के नाटककार "नाट्यशास्त्र" का अनुगमन करते थे और संस्कृत नाट्य-कला द्वारा निर्देशित होते थे। इसलिए इन नाटकों के अभिनय में अनेक असाध्य प्राविधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था जो अनुभवों के द्वारा भिन्न-भिन्न विकास-स्तरों पर कम होती गईं। पड़ोसी राज्यों की संस्कृति, उनके विकास तथा नाटक के क्षेत्र में उनकी सफलता ने भी अपना प्रभाव डाला तथा भावों के आदान-प्रदान और अनुकूलता के द्वारा एक दूसरे के अनुभव का लाभ उठाया। एक प्रदेश के लोगों द्वारा किसी नाटक के अभिनीत होने के समय दूसरे प्रदेश के नाटककार, अभिनेता और आलोचक आमंत्रित किये जाते थे ताकि उस संबंध में उनकी राय ली जा सके। इस प्रकार आपस में सद्व्यवहार और भावों के आदान-प्रदान द्वारा उत्कल का नाट्य साहित्य बहुत आगे बढ़ गया।

विकास के इस स्तर पर कपिलेन्द्र देव, पुरुषोत्तम देव और प्रतापरुद्र आदि सूर्यवंशी सम्राटों के राजत्वकाल में प्रतिभासंपन्न कलाकारों द्वारा नाट्य और अभिनय कला पर्याप्त विकसित हुई। ये सम्राट् नाट्य कला के महान् पोषक थे। पहले तो नाटक की विषय-वस्तु महाग्रन्थों और पुराणों से ली जाती थी लेकिन ये राजा शांति के समय अपनी सेना के सदस्यों द्वारा अपनी विजय-यात्राओं को नाटक के रूप में प्रदर्शित करने के लिए प्रोत्साहित किया करते थे। इस प्रकार प्रहसन या मूक

अभिनय से चलकर उससे नितांत भिन्न ऐतिहासिक नाटकों का विकास हुआ। युद्धोपरांत राज-महलों के सैनिकोत्सवों की समाप्ति पर अवकाश में घर जानेवाले इन सैनिकों ने अपने-अपने गाँव जाकर इन नाटकों का प्रचार किया।

यद्यपि इस स्तर तक नाटक संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार प्राकृत में ही लिखे जाते थे तथापि किसी ने ओड़िया में नाटक लिखने का साहस नहीं किया था। १५वीं शताब्दी में ओड़िशा के प्रसिद्ध राजा कपिलेन्द्र देव ने संस्कृत भाषा में लिखित अपने परशुराम व्यायोग नाटक में अमरराग का एक ओड़िया संगीत सन्निवेशित किया। इस कार्य ने जनसाधारण को नाटक की ओर आकृष्ट किया और प्राचीन परंपरा की इस चुनौती के कारण ये ओड़िया नाटक के पथ-प्रदर्शक बने।

प्रतापरुद्र के समसामयिक राय रामानन्द ने संस्कृत में जगन्नाथवल्लभ नाटक लिखा था। उस नाटक की भूमिकाओं में पुरुष और स्त्री नट-नटियों के रूप से लिये गये थे। यह नाटक स्वयं राय रामानन्द के निर्देश के अनुसार अभिनीत हुआ था। चैतन्य-चरितामृत से पता चलता है कि चैतन्य देव इस नाटक का गीतगोविन्दादि के साथ पाठ करते थे।

इसके अतिरिक्त महापुरुष अच्युतानन्द दास लिखित 'नित्यरासलीला' उन्हीं के भक्तों द्वारा लगातार पाँच दिनों तक प्रदर्शित होती थी।

तृतीय चरण—इस समय ओड़िशा में अर्द्धनाटकीय मनोरंजनों के विभिन्न रूपों का विकास प्रारंभ हुआ। १७वीं और १८वीं शताब्दी में प्रसिद्ध कवि उपेन्द्रभंज, सामंत सिंहार, दीनकृष्ण दास, गोपालकृष्ण, कविसूर्य बलदेव रथ और अन्यों ने अपने अमर काव्यों तथा मधुर गीतों को उचित रागों और वृत्तों में लिखा।

ओड़िशा तब गाँवों में बसता था और ओड़िया-जीवन धर्म तथा सादगी से अत्यंत प्रभावित था। उनके सीधे-सादे रस्म-रवाज गीतों और नृत्यों से जीवित हो उठते थे। किसी लड़के के जन्म के अवसर पर पौराणिक ईश्वर सत्यनारायण के लिए "पाला" का प्रदर्शन किया जाता था और हरिजन्म के पवित्र दिन गोप-गोपियों के भिन्न-भिन्न प्रकार के वेश धारण कर लोग खुली हवा में गीतों और प्रदर्शनों के साथ मनोरंजन किया करते थे। "पाला" कथोपकथन सहित गीत का एक प्रकार था। एक "पाला" दल में पाँच-छः व्यक्ति होते थे। "पाला" का यह प्रदर्शन नाटकों से नितान्त भिन्न है। प्राचीन ओड़िया साहित्य में ये विचित्र स्मरणशक्ति और पांडित्य का प्रदर्शन करते हैं।

रामनवमी के आसपास नौ दिनों तक रामलीलाएँ होती थीं। राम का पूरा जीवन, उनके जन्म से लेकर रावण की मृत्यु तक, कई दृश्यों की शृंखला में दिखाया जाता था। भिन्न-भिन्न वेशभूषा से सुसज्जित अभिनेता पहले संस्कृत पद्यों को राग और नृत्य के साथ गाते थे और फिर उस पद्य को नाटकीय भाषण, आजकल के मुक्त छंद के रूप में उपस्थित करते थे।

इन धार्मिक रीति-रवाजों के साथ-साथ "यात्राओं" का भी प्रचलन था। इन यात्राओं में से अधिकांश की विषय-वस्तु धार्मिक होती थी और ये दृश्य-रहित नाटक के रूप में प्रदर्शित

की जाती थीं। उनमें बहुत अधिक गीत होते थे। अनेक अवसरों पर, सामाजिक घटनाओं पर उपहासात्मक आलोचनाएँ भी होती थीं जो इन "यात्राओं" के धार्मिक ढाँचों के बीच रख दी जाती थीं। इन यात्राओं ने कभी भी जीवन के अनुकरण का प्रयत्न नहीं किया। वे केवल गीतों, नृत्यों, हास्यमय चुटकुलों और वाक्पटु कथोपकथनों द्वारा ग्रामीण श्रोताओं के मनोरंजन का प्रयत्न करती रहीं ताकि लोग आसानी से समझ सकें। उचित प्रदर्शन के लिए अनेक अभिनेताओं की आवश्यकता होती थी किन्तु उनकी वेशभूषा बहुत पुराने ढंग की थी और वाद्ययंत्र तो और भी अधिक भद्दे ढंग के होते थे। इसलिए उस दल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में सहूलियत होती थी।

वीरकिशोर देव के समय १८वीं शताब्दी के मध्य में "गौरीहरण" नामक एक नाटक पुरी में लिखा और खेला गया था। इन नाटककारों ने हिंदी गीतों का भी समावेश अपने नाटकों में किया। वे कदाचित् अपने तत्कालीन मरहठा शासक को प्रसन्न करने के लिए ही ऐसा करते थे। सन् १९३४ ई० में एक दूसरा नाटक "पद्मावती-हरण" ढेंकानाल के एक नाटककार द्वारा लिखा गया। इनके अतिरिक्त नाटककारों के इतिहास में रघुनाथ परीछा और जगमोहन लाला ये दो प्रसिद्ध नाम हैं। श्री परीछा का 'गोपीवल्लभ नाटक सन् १८६८ ई० में प्रकाशित हुआ था। सन् १८७० में इन्हीं का एक दूसरा "बाबाजी" नाटक नशीली वस्तुओं के विरोध में लिखा गया था। उसके पीछे एक सामाजिक उद्देश्य था। इस प्रकार १८०० ई० तक नये और प्रगतिशील नाटकों के लिए रास्ता बन चुका था।

तब श्री रामशंकर राय का काल आया जिन्होंने सच्चे अर्थ में नाटकों को उपस्थित किया। इस समय के ओड़िया नाटकों की एक विशेषता यह है कि दो विभिन्न प्रकार के नाटक एक दूसरे के साथ दो विभिन्न प्राकृतिक भागों में विकसित होते रहे। उत्तरी ओड़िशा, कटक, पुरी और बालेश्वर आदि समुद्रतटीय जिले प्रगतिशील किस्म के नाटकों के आकर्षण में आये। दक्षिणी ओड़िशा के गंजाम जिले और उसके आस-पास के मंजूषा, चिकिटि पारला आदि ओड़िशा के स्थानों में कालिदास के संस्कृत नाटकों के नमूने के तौर पर, नाट्यसूत्र को अपना मार्गदर्शक मानकर, नाटक रचे जाते रहे। इन दोनों क्षेत्रों में जो नाटक विकसित हुए वे, रचना और विषय की दृष्टि से, एक दूसरे से नितान्त भिन्न थे। उत्तरी भाग के नाटककार, जिनके अगुआ रामशंकर थे, साधारण जनता की भाषा का प्रयोग करते थे और उसमें दैनिक जीवन के हास्यपूर्ण दृश्यों तथा जनसाधारण के भावों का समावेश करते थे। जिन गाँवों और शहरों में वे रहते थे उनमें पाये जानेवाले जीवन को उन्होंने सच्चे रूप में प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त नाटकों के लेखक स्वयं साधारण स्थिति के व्यक्ति थे। इसलिए उन्होंने अपनी चिंताधारा को अपने नाटकों में दरशाया। अतः उन नाटकों के प्रदर्शित होने पर दर्शक अपने जीवन के सभी भागों को इतनी सजीवता के साथ प्रदर्शित देखकर मंत्रमुग्ध हो जाते थे। इनका नाटक सर्वप्रथम कोठपदामठ के तत्कालीन महन्त श्री रघुनाथ पुरी गोस्वामी जी की सहायता से अभिनीत हुआ। रामशंकर बाबू प्रत्येक वर्ष वसन्तपंचमी के दिन एक नये नाटक का अभिनय इसी कोठपदा मंच में कराते

थे। यह समय १९वीं सदी का अन्तिम भाग था। दक्षिणी भाग के नाटककार, जिनमें से अधिकांश राजा ही थे और जिन्होंने विद्वत्ता और विद्वानों का पोषण किया था, अपने उत्तरदायित्व के प्रति सदैव चैतन्य रहते थे ताकि उनकी ओड़िया संस्कृति और भाषा तेलगुभाषी लोगों द्वारा तिरोहित न हो जाय। उनके नाटकों में शब्दाडंबर, संस्कृत के समास और लंबे-लंबे ऐसे शब्द-समूह होते थे जिनका समझना साधारण लोगों के लिए बहुत कठिन था। नाटकों के शीर्षक ही उनके रूप और विषय के अंतर को प्रकट करते थे, जब कि उत्तर का एक नाटककार "सीताविवाह" लिखता था तो दक्षिण का राजा नाटककार उसे "जानकी-परिणय" लिखता था। इसका फल यह हुआ कि दक्षिण में "प्रकृति-प्रणय", "उन्मत्त राघव", "परिमला-सहगमन", "पांचाली पहापहरण प्रताप", "बनदर्पदलन" आदि कालिदास और भवभूति के संस्कृत नाटकों के नमूने पर लिखे गये ओड़िया नाटक बिलकुल कृत्रिम थे।

उत्तर में रंगमंच की स्थापना के बहुत पूर्व दक्षिण में जनसाधारण के रंगमंच की स्थापना हो चुकी थी। पार्लाखेमुंडी के पद्मनाभरंगालय में पंडित गोपीनाथ द्वारा शकुन्तला का एक स्केच (रेखाचित्र) खेला गया था और तुरंत बाद में राजा पद्मनाभदेव और उनके बंधुओं द्वारा पौराणिक नाटक जनता को दिखाये गये थे। पार्लाखेमुंडी के एक नये नाटक दल ने कटक में उत्कल-सम्मिलनी के वार्षिकोत्सव पर ध्रुव नाटक खेला था। ओड़िया नाटक के इन दो विभिन्न प्रकारों में इसने एक प्रकार का झगड़ा खड़ा कर दिया। ये कटुतापूर्ण झगड़े बहुत दिनों तक दो विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा चलाये जाते रहे किंतु अंत में प्रगतिशील दल की विजय हुई। चिकिटि के राजा राधामोहन राजेन्द्र देव, दक्षिण के एक दूसरे नाटककार थे जिनका नाम उल्लेखनीय है। उनके कुछ नाटक जैसे "परिमला सहगमन," "पांचाली पटा, प्रताप" और पौराणिक कथाओं या महाकाव्यों पर आधारित थे। इन नाटकों की मुख्य विशेषता यह है कि वे महाकाव्यों के नमूने के सच्चे उदाहरण हैं। मंजूषा के राजा किशोरचंद्र देव इस प्रकार के एक दूसरे रचनाकार थे और खड़ियाल के राजा उन्हीं का अनुसरण करते थे। रामशंकर राय के समसामयिकों में कामपाल मिश्र और भिकारीचरण पटनायक को विशेष यश मिला था। भिकारीचरण पटनायक का "कटक-विजय" यह प्रकट करता है कि रामशंकर राय के स्थापित संप्रदाय का विकास किस प्रकार हो रहा था। किंतु ये नाटक परंपरा से बिलकुल अछूते नहीं रह सके। उनमें कुछ-कुछ काल्पनिक और अपौरुषेय तत्त्व भी थे। जैसे नियति, माया पुरुष, विधाता पुरुष, अदृष्ट कुमारी इत्यादि भी इनमें पाये जाते हैं। वे नाटक को एक बहुत लंबी प्रस्तावना के बाद प्रारंभ करते थे।

जाजपुर के निवासी स्वर्गीय कामपाल मिश्र ने "सीताविवाह" और 'वसन्तलतिका' नाम के दो नाटक लिखे हैं। 'सीताविवाह' नाटक ओड़िशा के नगरों और पुरपल्ली में सैकड़ों बार खेला गया और अत्यन्त लोकप्रिय बना। दुर्भाग्य से आप पागल हो गये, नहीं तो आपकी बलिष्ठ लेखनी से और कई ऐसे नाटक अवश्य निकलते जिससे उत्कल साहित्य अत्यंत समृद्ध हो सकता। कामपाल बाबू ने पहले पहल सूत्रधार, नट, नटी आदि का नाटक से बहिष्कार किया था। पं० मृत्युंजय रथ ने 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद किया और पं० हरिहर मिश्र ने 'परशुराम-विजय' आदि कई

नाटक लिखे। रा० ब० भिकारी पटनायक ने 'कटक-विजय' नाटक लिखकर काफी यश अर्जित किया। यह एक ऐतिहासिक नाटक था और अंग्रेजों के कटक अधिकार के संबंध में लिखा गया था। उन्होंने कई नाटक लिखे; लेकिन उनमें से ''नन्दिका'' नाटक ही सबसे अधिक मंचोपयोगी रहा।

इस स्थान पर उन लीलाओं, स्वांगों और यात्राओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है जो उस समय तक काफी उन्नत हो चुके थे। उनमें से अधिकांश भिखारी-बंधु, मगुनी और पद्मनाभ की रचनाएँ स्वाँग साहित्य संबंधी थीं। गोपालदास, श्री वैष्णवपाणि और श्री बालकृष्ण महान्ति ने गत ५० वर्षों में सैकड़ों स्वांगों, यात्राओं और नाट्यों की रचना की है।

चतुर्थ चरण---ओड़िया नाट्य साहित्य के अगले चरण का प्रारंभ पं० गोदावरीश मिश्र, धनेश्वरदास और नाट्यसम्राट् अश्विनीकुमार घोष की रचनाओं से होता है। मिश्र जी ने प्रथम विश्वयुद्ध के समय अपना पुरुषोत्तमदेव नाटक लिखा और श्री घोष ने सन् १९१५ में अपना ''भीष्म'' प्रकाशित कराया। घोष महाशय अपनी प्रारंभिक रचनाओं में अतुकांत पदों का ही प्रयोग करते थे। उन पर तत्सामयिक बंगाल का प्रभाव पड़ा था। उन्होंने नट, सूत्रधार इत्यादि बहुत से काल्पनिक पात्रों का भी समावेश अपने नाटकों में किया। वे अपने नाटकों में लंबे-लंबे भाषणों का प्रयोग करते थे और कुछ दृश्य तो ऐसे होते थे जिनमें एक ही व्यक्ति प्रस्तुत होकर एक लम्बा भाषण देता था और भाषण के अंत के साथ ही यवनिका पतन होता था।

इस समय कटक में 'उषा' और 'वासंती' नाम के दो रंगमंच स्थापित हुए और उनमें बहुत से नाटक अभिनीत हुए। खास तौर से वासंती रंगमंच बहुत दिनों तक योग्यता के साथ अभिनय कर अत्यन्त लोकप्रिय हो गया था। कुछ नये नाटककारों का भी आविर्भाव हुआ। इनमें अध्यापक श्री रामचन्द्र महापात्र तथा लाला नगेन्द्रकुमार राय का नाम उल्लेखनीय है। महापात्रजी और लाला जी के नाटक काफी लोकप्रिय रहे। काली बाबू के 'हरिश्चन्द्र' और 'ध्रुव' नाटक भी इसी समय की देन हैं।

श्री कृष्णप्रसाद वसु एक अच्छे नाटककार और संगीतज्ञ हैं। इन्होंने कई गीति नाट्य लिखे हैं। ये पहले शहरों में काम शुरू न कर दूर देहातों में गये और भिन्न-भिन्न स्थानों में कई अपेरा पार्टियों का संगठन किया तथा उन्हें निर्देश भी दिया। इनके सारे लेख अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक और लोकप्रिय हैं। इन्होंने साधारण जनता की उन्नत रुचि का काफी विकास किया है।

१९१६-१७ ई० में उत्कलीय रंगमंच के इतिहास में एक स्मरणीय परिवर्तन हुआ। स्व० गोविन्दचन्द्र शूरदेव ने कुछ गीतिनाट्य लिखकर तथा एक नाट्यदल का संगठन कर ओड़िशा के विभिन्न स्थानों में प्रायः ७ साल तक अभिनय का प्रदर्शन किया। इन्हीं गीति नाट्यों के लिए शूरदेव जी सदा के लिए स्मरणीय रहेंगे। वे अपने दल के लिए नाटक लिखते थे, निर्देश देते थे, यहाँ तक कि परदे रँगने तक का काम भी अपने हाथों करते थे। इनके बाद श्री मोहनसुन्दर देव गोस्वामी तथा कविचन्द्र कालीचरण पट्टनायक ने 'राधाकृष्ण लीला' के दो अलग-अलग दल बनाकर योग्यता के साथ रंगमंच चलाया। इन दोनों की रचनाओं में भाषा, वाद्य और संगीत

के रागों में बहुत अंतर रहा। गोस्वामी जी जब कि 'भक्ति' का प्रचार करते थे, काली बाबू ओड़िशी गीतवाद्यों के पुनरुत्थान तथा गणसाहित्य के प्रसार में लगे रहे।

सन् १९२२ में ओड़िशा में सबसे पहले बलंगा में श्री वनमाली पति के द्वारा बलंगा-थियेटर पार्टी नामक एक व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना हुई; किंतु कुछ ही दिनों के बाद इसे असमय में ही भंग कर देना पड़ा और उसका प्रभुत्व श्री अश्विनीकुमार घोष ने क्रय कर लिया तथा नाम बदलकर आर्ट थियेटर रक्खा। उसके साथ भी यही दुर्घटना हुई और उसी के ढाँचे पर अन्नपूर्णा थियेटर बना। इन रंगमंचों पर जो नाटक खेले जाते थे उन्हें कई प्रकार की प्राविधिक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं। दृश्यों का ऐसा प्रबन्ध नहीं था कि एक के बाद दूसरा एक श्रृंखला में दिखाया जा सके। दो दृश्यों के बीच में, जब कि यवनिका पतन होता था तो, कई मिनटों तक दूसरे दृश्य के प्रदर्शन की तैयारी में लग जाता था। श्री अश्विनीकुमार ने अब तक तीस से अधिक नाटक लिखे हैं। उन्होंने पौराणिक नाटकों से प्रारंभ कर ऐतिहासिक, जीवनचरितात्मक और सामाजिक नाटक लिखे। आजकल वे सामाजिक कथावस्तुओं पर ही नाटक की रचना करते हैं। उनके 'कोणार्क' और 'अभिनय' नाटकों में इब्सन और फ्रायड का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है।

अन्तिम चरण—ओड़िशा के आधुनिक नाटककारों में कविचंद्र कालीचरण पटनायक अग्रणी हैं। वे आधुनिक ओड़िया रंगमंच के उन्नायक हैं। उन्होंने नाटक में विकसित टेकनीकों का समावेश किया है। श्री पटनायक ने अपना जीवन एक रासपार्टी के प्रबंधक और गीतिनाट्यों के रचनाकार के रूप में प्रारंभ किया किन्तु उनकी नाट्यप्रतिभा उनके अनेक नाटकों में परिलक्षित हुई है। उन्होंने इस पवित्र उद्देश्य के साथ नाटक का लिखना प्रारंभ किया ताकि देश के लोग अपने अतीत के शौर्यपूर्ण कार्यों को जान जायँ तथा देश के प्रति अपने कर्तव्यों से सजग होकर विगत गौरव से परिचित भी हो जायँ। उनका "अभियान", "पुरुषोत्तम देव" और "पद्मावती" से संबंधित एक प्राचीन कथा पर आधारित है। किंतु नाटक के शीर्षक से अभियान की ही प्रकृति का बोध होता है। इसका शाब्दिक अर्थ तो "आगे बढ़ो" है और नाटककार चाहता है कि उसके देशवासी जीवन के सभी क्षेत्रों में अपने शूरवीर पूर्वजों की भाँति उन्नतिशील बनें। उन्होंने इस सुन्दर प्रयत्न के द्वारा गीतगोविंद के अमर गायक जयदेव, अत्यंत प्रसिद्ध ओड़िया भागवत के रचनाकार जगन्नाथदास और ओड़िया महाभारत के रचयिता सारलादास आदि देश के जातीय कवियों के चरित्र को बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया। इन नाटकों ने उनकी कीर्ति में चार चाँद लगा दिये और ओड़िशा के राजा गजपति ने उन्हें "कविचंद्र" की पदवी प्रदान की। यह पदवी कवियों के लिए सर्वोच्च सम्मान है। बाद में इस राज्य के साहित्यिकों ने उन्हें नाट्याचार्य की पदवी प्रदान की। वे सबसे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने समस्यात्मक विषयों पर अपनी लेखनी चलाई। 'भात', 'रक्तमाटी', 'फटामुंई', 'बेकार' उनके सर्वश्रेष्ठ समस्या-नाटक हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने पहले पहल इस राज्य की राजधानी में 'ओड़िशा थियेटर' नामक एक स्थायी और व्यावसायिक रंगमंच की स्थापना की। यह प्रदर्शनगृह साल भर रोज चला करता था, जब कि इसके पहले कहीं भी तीन दिन से अधिक नाटक नहीं खेले जाते थे। बिजली की सुविधा के कारण

श्री कालीचरण ने अपने नाटकों में दृश्यों का बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध किया ताकि दृश्यों के बदलते समय इंटरवल न होने पाये और किसी अंक की समाप्ति तक अभिनय चलता रहे। उस प्रबन्ध का टेकनिकल नाम 'कवर' और 'डिसकवर' है। वे एक ही साथ अच्छे गायक, अच्छे अभिनेता और सुयोग्य रंगमंच-निर्देशक भी हैं। आजकल जितने भी व्यक्ति व्यावसायिक अभिनय में लगे हैं वे या तो काली बाबू की उपज हैं या ओड़िशा थियेटर की। संक्षेप में, उन्होंने भावी नाटककारों का पथ प्रशस्त कर दिया है। उन्होंने स्वगत और जनान्तिके का व्यवहार उठा दिया है। ग्राम्य जीवन के प्रदर्शन में पल्ली-संगीत तथा पल्लीनृत्य का समावेश किया है। ज० ना० दास नाटक में ओड़िशी नृत्य पहले पहल मंच पर दिखाया गया था। सन् १९४५ में अन्नपूर्णा थियेटर के दो भाग हो गये। 'अ' भाग ओड़िशा के कोने-कोने में दौरा करता है और 'ब' भाग कटक में स्थित है। व्यावसायिक कलाकार समिति (प्रोफेशनल आर्टिस्ट्स एसोसियेशन) एक दूसरा रंगमंच "जनता रंगमंच" नाम से स्थापित करने में सफल हुई है। अतः कटक में आजकल दो प्रदर्शन-गृह हैं जो सालभर चलते रहते हैं। इस प्रकार बंगाल को छोड़कर ओड़िशा ही एक ऐसा अद्वितीय राज्य है जहाँ पर दो-दो प्रदर्शनगृह चल रहे हैं।

आधुनिक नाटककारों में सर्वश्री रामचन्द्र मिश्र, भंजकिशोर पटनायक और श्री गोपाल छोटराय के नाटक सामाजिक समस्याओं पर प्रतिष्ठित और विनोद तथा रहस्यमय कथोपकथनों से परिपूर्ण हैं। इन नाटकों के प्रति साधारण जनता विशेष रूप से आकृष्ट है। मंचोपयोगी, खासकर रेडियो उपयोगी एकांकी लिखने में इन्होंने दक्षता पाई है।

मिश्र जी का "घर संसार", जिसने एक मानदंड स्थापित कर दिया है, नाट्यशाला-प्रेमियों के हृदय में बहुत दिनों तक अपना स्थान बनाये रक्खेगा। दूसरे नाटककार भी उसी का अनुसरण कर रहे हैं। नाटककारों में श्री मनोरंजन दास का नाम भी उल्लेखनीय है जिन्होंने राजनैतिक विषय-वस्तुओं पर व्यंग्यों के लिखने में पटुता प्राप्त की है। उनकी रचनाओं में जान गाल्सवर्दी का प्रभाव देखा जा सकता है। इनकी शैली का अनुकरण श्री गोपाल छोटराय ने किया है। इनके 'भरसा' नामक नाटक में मजाकिया चुटकुले और राजनैतिक समस्याओं की आलोचना की दृष्टि से बर्नार्ड शा का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

इनके अतिरिक्त अब बहुत से होनहार नाटककार तथा एकांकीकार सामने आ रहे हैं। श्री उदयनाथ मिश्र ने बड़ी योग्यता के साथ सामाजिक नाटक प्रस्तुत किये और उन्हें मंच पर अभिनीत भी कराया। इनके ट्रस्टी, लावण्यवती, नरके विप्लव, विवाह आदि नाटक जनता में आदृत और प्रशंसित हो रहे हैं। खास कर लावण्यवती लिखकर इन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। एकांकी नाटक लिखने में भी ये सिद्धहस्त हैं। 'कोयला के पानी' तथा 'आदर्श परिवार' इनके हास्यरस-पूर्ण सफल एकांकी हैं। यों तो एकांकी नाटककारों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जा रही है लेकिन जो पहले के नाटक, उपन्यास या कहानी-लेखक के रूप से परिचित हैं, वे भी एकांकी नाटक लिखने लगे हैं। आजकल के एकांकीकारों में सर्वश्री कविचन्द्र कालीचरण, अध्यापक प्राणबन्धु कर, डा० हरेकृष्ण महताब, श्री कालिन्दीचरण पाणिग्राही, नित्यानन्द महापात्र, सुरेन

महान्ति, श्रीमती सावित्री राउत के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री प्राणबन्धु कर का आधुनिक ओड़िया एकांकीकारों में अपना विशिष्ट स्थान है। इनका एकांकी श्वेतपद्मा नि० भा० एकांकी-प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुआ है।

कुछ लेखक दूसरी भाषाओं के नाटकों और एकांकियों का ओड़िया में अनुवाद कर नाटक साहित्य को परिपुष्ट कर रहे हैं।

रंगमंचों में प्राविधिक दृष्टि से काफी उन्नति हुई है और वे कुछ सीमा तक आधुनिक साधनों से सज्जित हैं। अब चूँकि व्यावसायिक नाटककार अधिकाधिक व्यावसायिक होते जा रहे हैं, अतः भविष्य की आशाएँ इन्हीं उदीयमान लेखकों पर अटकी हुई हैं।

ओड़िशा में कृषि की उन्नति के विभिन्न उपाय

सर्व श्री गोपालचन्द्र दास, विश्वनाथ साहु, रामसुखसिंह

हजारों वर्ष पहले उत्कल एक समृद्धिशाली राज्य था। पुरी का जगन्नाथ मंदिर, भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर, कोणार्क, खंडगिरि, उदयगिरि की गुफाएँ इस समृद्धि के मूक साक्षी हैं। मादला पांजि के अध्ययन से यह पता चलता है कि गंग वंश और उसके बाद के सूर्य वंश का राज्य-काल उत्कल के इतिहास में स्वर्ण युग था। उस समय यहाँ शिक्षा, कला, शिल्प, व्यापार और खेती की तूती बोल रही थी। अनंग भीमदेव के समय भूमि का लगान ३५ लाख माढ़[1] सोना और जंगल तथा व्यापार से कुल वार्षिक आय ४७ लाख ८८ हजार माढ़ सोना था। इस भूमि-कर (३५ लाख माढ़ सोने) की कीमत ३ करोड़ ६ लाख और १० हजार रुपये के बराबर होती है। खाद्य सामग्री की देश में बहुलता थी। अनाज, फलादि खूब अधिक पैदा होते थे। ४ काहाण कौड़ी वर्तमान रुपये के बराबर थी अर्थात् १ पण[2] कौड़ी लगभग १ पैसे के बराबर थी।

एक सेर कटकी चावल की कीमत १० कड़ा कौड़ी थी और एक सेर रुई की कीमत १ पण १० गंडा कौड़ी। एक मुसलमान लेखक ने लिखा है कि घोड़े और गायें इतनी संख्या में थीं कि एक घोड़े की कीमत सिर्फ दो जिता थी। गाय-बैल तो कीमत देकर खरीदे ही नहीं जाते थे। लोग जीवन की सारी चीजें विनिमय द्वारा प्राप्त करते थे।

मुकुन्द देव के हाथ से राज्यसत्ता छिनकर सुलेमान के हाथों चली जाने के बाद से ही ओड़िशा का आर्थिक पतन आरंभ हुआ। सन् १५७८ ई० में मसुमखाँ ने ओड़िशा को जीतकर अकबर के साम्राज्य में मिलाया। टोडरमल ने उत्कल का बन्दोबस्त कर मालगुजार जमींदारों की सृष्टि की। संपूर्ण ओड़िशा रियासत तथा मोगलबंदी ऐसे दो भागों में विभक्त हुआ। बाद में मराठों के शासन ने ओड़िशा की खेती और आर्थिक अवस्था को और भी दुर्बल बना दिया। वर्गियों के भय से लोग काँप उठते थे और डर के मारे ठीक तरह से खेती न कर पाते थे। अच्छा खाना-पहनना तथा घर बनाकर रहना भी उनके लिए कठिन हो गया था। सन् १८०३ ई० में ओड़िशा अंग्रेजों के हाथ में पड़ा। जमींदारों की सृष्टि इँगलिश शासन की विशेष बात थी। इनके शासन में भूमि के असली मालिक जमींदार बने। अतिवृष्टि और अनावृष्टि के कारण उत्कलवासी बारंबार अकाल के शिकार बनते थे। सन् १८०६ ई० से सन् १८६७ ई० तक लगातार एक-दो

---

१. **१ माढ़ = आधा भर।**

२. **४ कड़ा = १ गंडा।**
२० गंडा = १ पण।
१६ पण = १ काहाण।

प्राचीन प्रणाली से हल किया जा रहा है
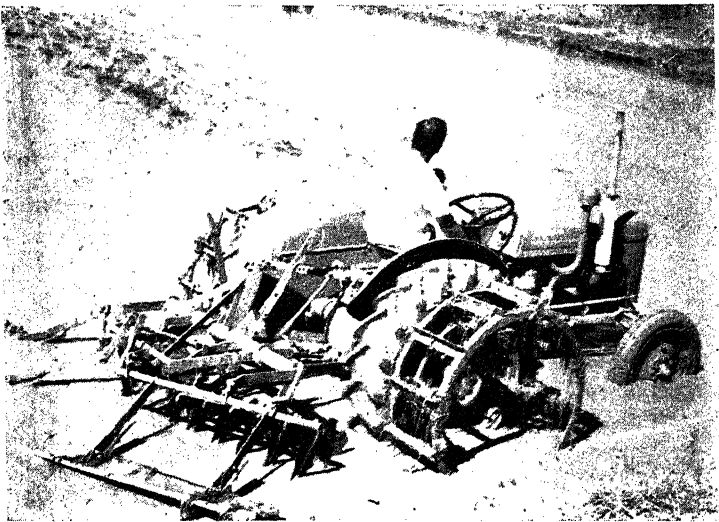
खेत में ट्राक्टर चल रहा है
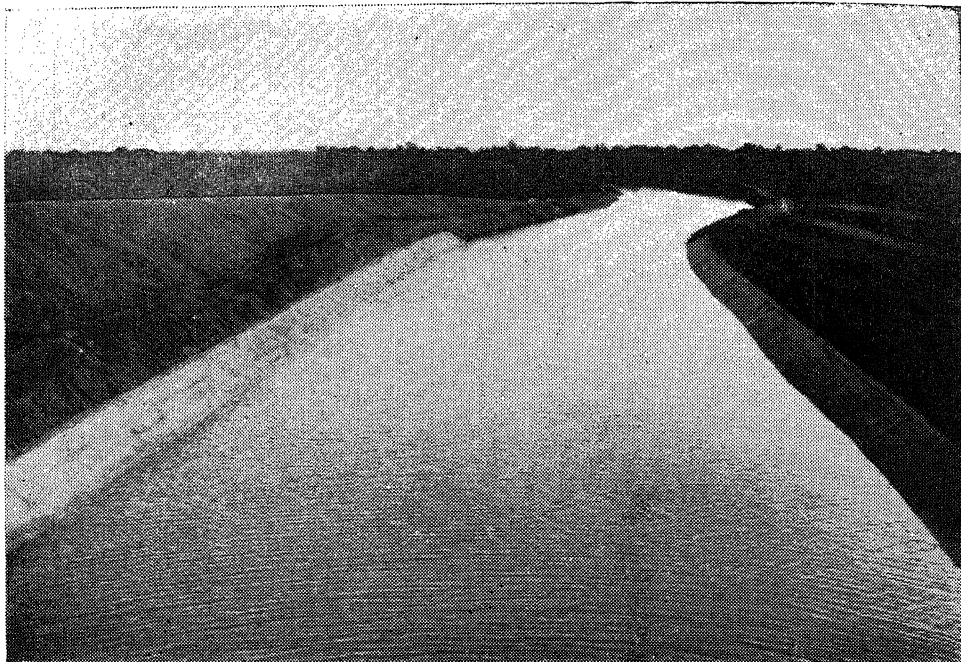
ओड़िशा में नहरों के सहारे खेती की उन्नति के लिये सिंचाई की व्यवस्था

ढेकली के द्वारा सिंचाई—बाग का एक दृश्य

घुरलीजोर क्षुद्र जलसेचन योजना के मुख्य स्लुइस से बहनेवाले जलप्रवाह का दृश्य

KABANG
IRRIGATION PROJECT
C.D. BLOCK, SUNDARGARH
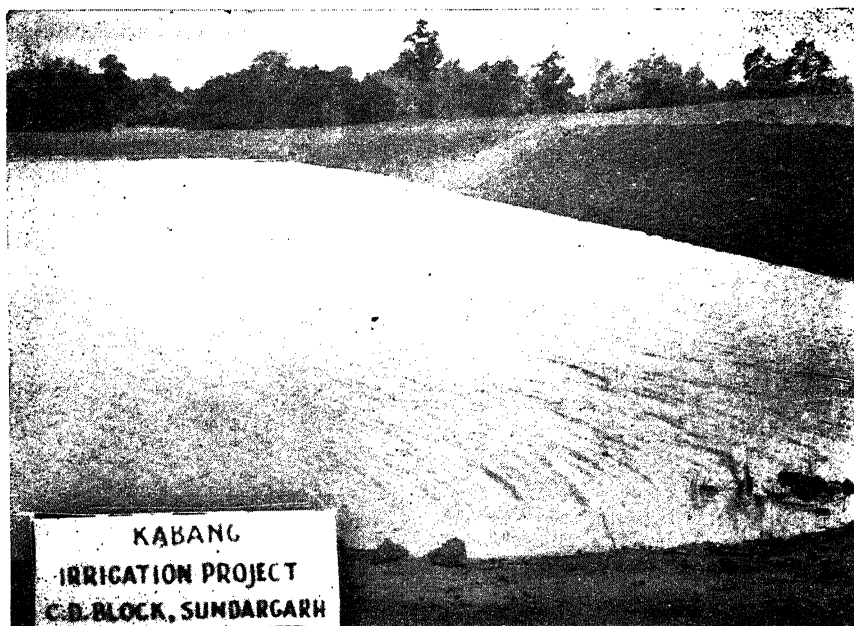
जिला सुन्दरगढ़ कवांग जलसेचन योजना का एक दृश्य

❁ उत्कल में कृषि की उन्नति ❁

(बगल में) आदर्श गेहूँ की खेती का एक नमूना

(नीचे) धान गवेषणा केन्द्र, कटक में प्रदर्शित आदर्श कृषि क्षेत्र

प्राचीन प्रणाली से धान की खेती

जापानी प्रणाली से धान की खेती

उत्कल में कृषि की उन्नति

(बगल में) धान की कटाई (प्राचीन पद्धति से)

(नीचे बायीं ओर) धान की कटाई (आधुनिक प्रणाली से)

(नीचे दायीं ओर) ईख की पेराई

फल और सब्जियाँ १.६
विभिन्न प्रकारकी फसल ४.०
मकई और मडुआ जातीय ४.०
दाल जातीय ९.५
धान ८०.९

भेषज तथा मादक जातीय फसल ०.७
रेशेदार ०.७
विविध आवश्यकीय फसल १.७
तेलहन ४.८
खाद्य फसल ९१.७
पशु खाद्य ०.२
मसाला जातीय ०.३
शकर जातीय ०.६
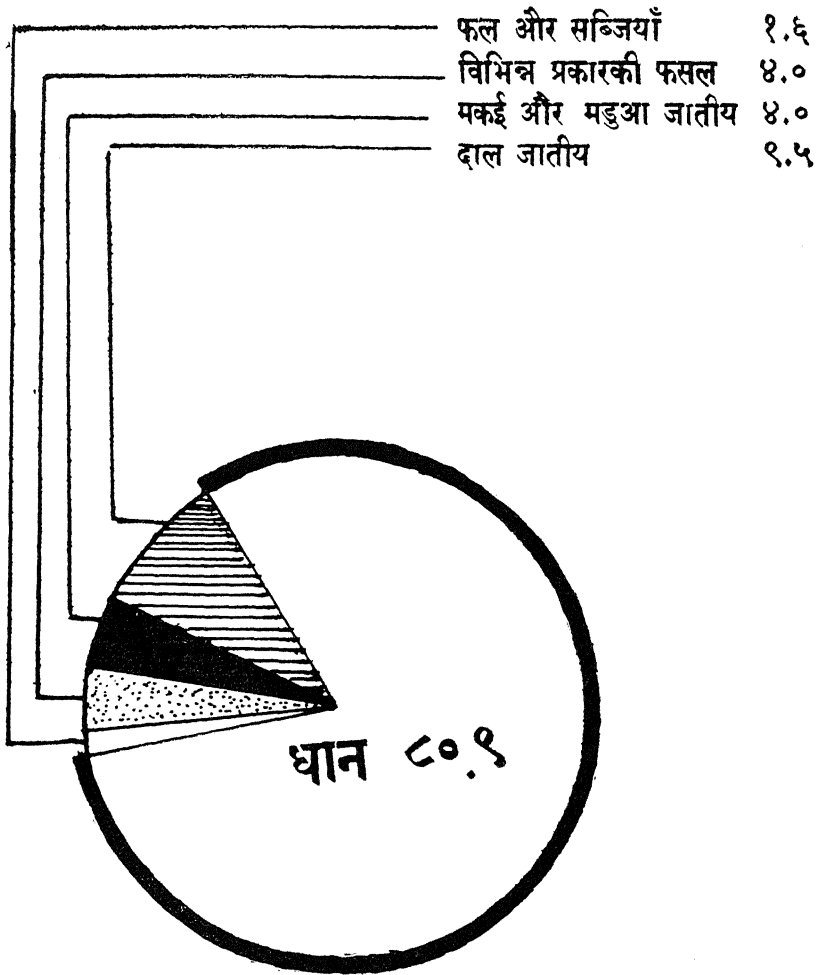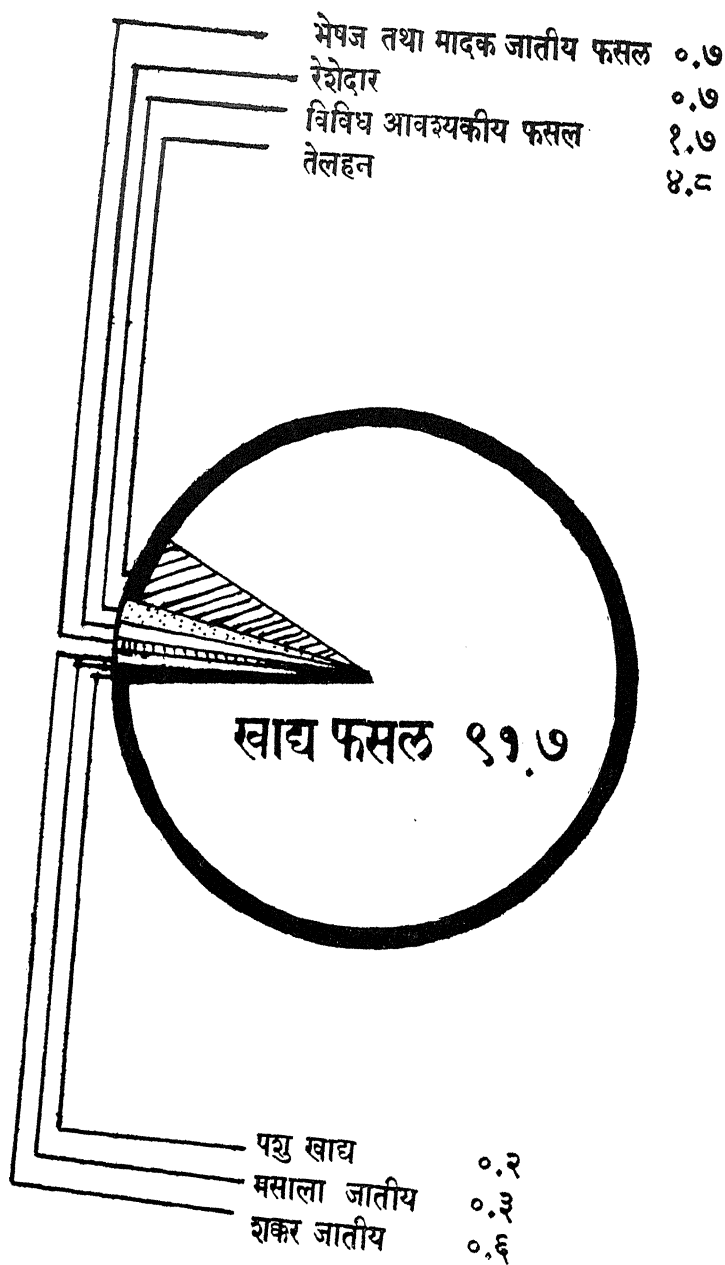
वर्ष के अंतर पर अकाल पड़ा करता था। १८६६-६७ का अकाल 'नअंक' अकाल नाम से प्रसिद्ध है। सरकारी रिपोर्ट से मालूम होता है कि इस दुर्भिक्ष में कम से कम एक-चौथाई लोग मरे थे। इस 'नअंक' दुर्भिक्ष ने ओड़िशा की कृषि और कृषि-अर्थनीति में एक नई क्रान्ति उपस्थित की। तभी से कृषि की स्थायी उन्नति के लिए सिंचाई की व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ।

अँग्रेजी शासन-काल में ओड़िशा पहले वंग देश के साथ और बाद में बिहार के साथ मिलाया गया था। इसलिए देश की कृषि में कुछ विशेष उन्नति नहीं हुई। सन् १९३६ ई० से ओड़िशा एक स्वतंत्र प्रदेश बना। १५ अगस्त सन् १९४७ में भारत स्वतंत्र हुआ। लोगों को आशा थी कि स्वाधीन होने पर देश में घी-दूध की नदियाँ बह उठेंगी। पर ऐसा कुछ न हुआ वरन् आज खाद्य-समस्या तथा कृषि-संबंधी अर्थनीति और भी शोचनीय हो उठी है।

खाद्य-समस्या के कारण और उसके समाधान के उपाय पर विचार करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। खाद्याभाव होने पर कोई मानव-समाज जीवित नहीं रह सकता। क्षुधा-राज्य अराजकता को निमंत्रित किया करता है। व्यक्ति यदि क्षुधा से व्याकुल हो तो उसे चैन कहाँ? अतः देश में शान्ति तथा समृद्धि के लिए खाद्य-समस्या का समाधान और देश की कृषि संबंधी अर्थनीति की उन्नति आज की सर्वप्रधान समस्या है।

कृषि में आनेवाली बाधाएँ

(१) अतिवृष्टि और अनावृष्टि—भारतवर्ष में कृषिकार्य मौसमी वायु पर निर्भर है। मौसमी वायु के नियत समय में तथा नियमानुसार चलने से कृषि उत्तम होती है। उसमें थोड़ा भी परिवर्तन होने पर बाढ़, नहीं तो सूखा अवश्य ही कृषि की हानि किया करता है। पिछले ८० वर्षों की जलवायु की स्थिति से पता चलता है कि ओड़िशा में प्रति आठवें या दसवें वर्ष बाढ़ अथवा सूखा आया करता है। इस बाढ़ और सूखे का विवरण सारिणी नं० १ में दिया गया है।

ओड़िशा में बाढ़-सूखा

सारिणी नं० १—

सन्	बाढ़	सूखा
१८७५	०	
१८८३	०	
१८९६	०	
१९००	०	
१९०१		०
१९२४		०
१९२५	०	
१९३३	०	
१९३६	०	
१९५५	०	०
१९५७		०

प्रकृति को नियंत्रित करने के लिए विज्ञान मनुष्य को नये-नये साधन और सुविधा-सामग्री देता जा रहा है। विज्ञान की सहायता से मनुष्य देश को उन्नत बनाने में पूर्ण समर्थ हुआ है। नदी की बाँध-योजना तथा सिंचाई-व्यवस्था द्वारा बाढ़ और सूखे पर एक तरह से नियंत्रण-सा हो गया है। महानदी की हीराकुद बाँध-योजना और शालंदी बाँध-योजना द्वारा बाढ़ और सूखे से ओड़िशा के हरे-भरे अंचल की काफी हद तक रक्षा हो सकेगी।

(२) **जनसंख्या-वृद्धि**—विश्व की जनसंख्या अनाज के उत्पादन की अपेक्षा अधिक द्रुतगति से बढ़ती जा रही है। विश्व-विख्यात अर्थशास्त्री मालथूस ने सबसे पहले संसार को चेतावनी दी थी कि एक दिन जनता खाद्याभाव का अनुभव करेगी। लेकिन उस वक्त लोगों की यह कल्पना ही नहीं थी कि एक दिन पृथ्वी जनभाराक्रांत हो जायेगी। लोगों का खयाल था कि गरीबी, दुर्दशा, महामारी तथा युद्धों से लोग मरते रहेंगे अतः पृथ्वी की जनसंख्या न तो बढ़ेगी और न घटेगी। परन्तु विज्ञान की उन्नति, स्वास्थ्यरक्षा की योजनाएँ, विश्व-शान्ति के प्रयत्न लोक-संख्या और लोकसमाज की आयु में वृद्धि करती जा रही हैं। ओड़िशा की जनसंख्या-वृद्धि का इतिहास देखने से मालूम होता है कि सन् १८९१ ई० में इसकी आबादी कुल ९४ लाख थी। सन् १९५१ ई० में यह १ करोड़ ४६ लाख हो गई। इन साठ सालों में ५२ लाख तक जन-संख्या बढ़ गई! ओड़िशा के विभिन्न स्थानों पर जनसंख्या की अधिकता की मात्रा सारिणी नं० २ में दी गई है।

जनसंख्या

सारिणी नं० २—

अंचल	जिला	क्षेत्रफल (वर्गमील)	कुल जनसंख्या (हजार के हिसाब से)	प्रति वर्गमील की जनसंख्या
समुद्रतटीय	कटक	४,२१०	२५२९	६००
	बालेश्वर	२,३१८	११०६	४७७
	पुरी	४,०४३	१५७०	३८८
	गंजाम	४,७२४	१६२६	३०४
उत्तरीय मालभूमि	मयूरभंज	४,०३४	१०२९	२५५
	सुन्दरगढ़	३,७५७	५५२	१४७
	केउँझर	३,२०६	५५८	१८३
महानदी की उपत्यका	संबलपुर	६,७३५	१३०१	१९३
	ढेंकानाल	४,१६१	८३९	२०१
	बलांगिर पाटना	३,४७८	९१८	२६३
पूर्वीघाट पर्वत	फुलबाणी	४,०२०	४५६	११०
	कोरापुट	९,८४४	१२७०	१२९
	कलाहांडि	४,३८८	८५९	१९६
		५९,०१८	१४,६४४	२४९

कटक, पुरी, बालेश्वर और गंजाम जिलों में आबादी बहुत घनी है। महानदी की उपत्यका तथा पार्वत्य अंचल में आबादी घनी होती जा रही है। जब कि चीन देश में प्रतिवर्गमील १२६ एवं जापान में २०७ लोग रहते हैं, ओड़िशा में प्रतिवर्गमील २४९ लोग रहते हैं। इसलिए ओड़िशा घनी आबादी वाला प्रदेश हो चुका है। पिछले दस वर्षों की जन-वृद्धि के अनुपात को देखने पर ज्ञात होता है कि इस समस्या के उत्कटतर होने में अधिक समय नहीं लगेगा।

अर्थनीतिज्ञ प्राध्यापक इष्ट की राय में एक मनुष्य को साल भर के भरण-पोषण के लिए कम से कम ढाई एकड़ भूमि चाहिए। प्राध्यापक राधाकान्त मुखर्जी के मत से भारतीय संस्कृति, समाज और खान-पान की दृष्टि से प्रति मनुष्य को डेढ़ एकड़ भूमि आवश्यक है। ओड़िशा में कुल कृषि-उपयोगी भूमि १ करोड़ २५ लाख एकड़ है और जनसंख्या १ करोड़ ४६ लाख है। अतः संपूर्ण वर्ष के भरण-पोषण के लिए प्रतिमनुष्य ८ एकड़ भूमि पड़ी। पृथ्वी के भिन्न-भिन्न देशों में प्रति मनुष्य कृषि-भूमि तथा खाद्य के उत्पादन का परिमाण सारिणी नं० ३ में दिया गया है।

विश्व के विभिन्न देशों में प्रति व्यक्ति कृषि-भूमि एवं खाद्य-उत्पत्ति की मात्रा

सारिणी नं० ३—

देश	प्रति आदमी खेत (एकड़)	प्रति एकड़ उत्पन्न खाद्य का परिमाण (केलारी)	उत्पन्न खाद्य की मात्रा (केलारी)
उत्तरी अमेरिका	४—०	२,५००	१०,०००
दक्षिणी अमेरिका	१·५	४,७००	७,०५०
पश्चिमी यूरोप	०·०७	७,५००	५,२५०
सोवियत् रूस	२·०	२,३००	४,६००
पूर्वी एशिया	०·५	५,५००	२,७५०
दक्षिणी एशिया	०·८	३,६००	२,९००
भारतवर्ष	०·९	३,८००	२,८००
ओड़िशा	०·८	३,५००	२,५००

शिल्प-प्रधान देश प्रति वर्गमील अधिक आबादी को खिला सकता है परन्तु कृषि-प्रधान देश में प्रति वर्गमील में २०० से अधिक लोगों का रहना कष्टसाध्य है। ओड़िशा की तरह न्यूजीलैंड, मिस्र, स्पेन, और फ्रांस की समृद्धि कृषि-अर्थनीति पर निर्भर करती है। पर इन देशों की प्रति वर्गमील आबादी की तुलना में ओड़िशा की आबादी अधिक है।

देश	प्रतिवर्गमील जन-संख्या
१—न्यूजीलैंड	११. ८०
२—मिस्र	३४ ००
३—फ्रांस	१८४. ००
४—ओड़िशा	२४९ ००

भारत के अन्य प्रान्तों की अपेक्षा ओड़िशा में कल-कारखानों की संख्या कम है और शहरातियों की अपेक्षा देहातियों की संख्या अत्यधिक है। बंबई राज्य के २१ प्रतिशत नगरों के ७९ प्रतिशत आदमी देहातों में रहते हैं। लेकिन ओड़िशा में ४ प्रतिशत शहरों और ९६ प्रतिशत लोग देहातों में रहते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में ५६ प्रतिशत, फ्रांस, कनाडा तथा जापान में ५० प्रतिशत लोग शहरों में रहते हैं। ओड़िशा में ९६ प्रतिशत लोग खेती पर निर्भर करते हैं। सारिणी नं० ४ में भारत के अन्य प्रान्तों के शहरों तथा देहातों की जनसंख्या का अनुपात दिया गया है।

शहरी और ग्राम्य जनसंख्या का अनुपात

सारिणी नं० ४—

अंचल	अनुपात	
	नगरनिवासी	ग्रामवासी
बंबई	२०·९	७९·१
मद्रास	१३·६	८६·४
उत्तर प्रदेश	११·२	८८·८
मध्य प्रदेश	९·७	९०·३
पश्चिमी बंगाल	७·३	९२·७
ओड़िशा	४·०	९६·०

खाद्य-समस्या के समाधान और कृषि-अर्थनीति की समृद्धि के लिए कृषि उन्नति-योजना ओड़िशा की मुख्य समस्या है।

(३) **एक-फसली खेती**—ओड़िशा की कृषि-अर्थनीति की दुरवस्था का प्रथम कारण यह है कि ओड़िशा का किसान सिर्फ खाद्य फसल की खेती में अपनी सारी शक्ति लगा देता है; आर्थिक फसल के ऊपर वह उतना ध्यान नहीं देता। धान ओड़िशा का प्रधान खाद्य तथा मुख्य अर्थकरी फसल है। ओड़िशा की कुल १ करोड़ २५ लाख एकड़ कृषिभूमि में से एक करोड़ लाख एकड़ भूमि में खाद्य फसल पैदा की जाती है। इस १ करोड़ ८ लाख एकड़ भूमि में से ९३ लाख एकड़ में धान तथा बाकी १५ लाख में अन्यान्य फसलें होती हैं। अर्थात् ८१ प्रतिशत भूमि में खाद्य फसल और १९ प्रतिशत भूमि में मक्का, ज्वार, मँडिया, बाजरा, साग-सब्जी तथा दालीय फसलें उपजाई जाती हैं। सारिणी नं० ५ में ओड़िशा की विभिन्न फसलों के क्षेत्रफल दिये गये हैं।

ओड़िशा में विभिन्न प्रकार की फसलों का क्षेत्रफल कृषिभूमि का कुल क्षेत्रफल १२५२४७१९ एकड़

सारिणी नं० ५—

फसल की श्रेणी	फसल	क्षेत्रफल (एकड़)	कुल क्षेत्रफल और सैकड़ा एकड़
खाद्य फसल	शारदा धान	८,२२५,४९६	
	बिआली धान	१,००३,१०५	
	डालुआ धान	७९,२२७,७	
	गेहूँ	११,६५६	
	ज्वार	६६,५१९	
	जौ	९६०	
	बाजरा	९,०४०	
	माँड़िया	३१४,३९६	
	मक्का	५४,११२	
	मूँग	१८५,८६४	
	अन्यान्य खाद्य और दालीय फसलें	११४९,९०५	
	विविध खाद्य फसलें	११,८४९	
	फल तथा साग-सब्जी	१८४,३५६	१०८९६५२४९१·७
तेलहन	तीसी	२१,६८४	
	तिल	२८७,९७६	
	सरसों	७०,६२८	
	मूँगफली	५४,९४३	
	नारियल	१०,९४९	
	रेंड़ी	४४,२४६	
	अन्यान्य	११७,४८१	६०७९०७ / ५८६२२३४·८
मसाला	मसालाजातीय फसल	२०,२३४	२०२३४
शर्कराजातीय	गन्ना	६२,१४३	६२१४३
तंतुजातीय	कपास	९,०००	
	पाट	५१,०००	
	काउँरिया	९,२४४	६९२४४
रंग जातीय	रंगप्रद	१,२४५	१२४५

सारिणी नं० ५ का शेष

फसल की श्रेणी	फसल	क्षेत्रफल (एकड़)	कुल क्षेत्रफल और सैकड़ा एकड़
मादक और भेषज	काफी	१३५	
	तम्बाकू	३२,६७५	
	गाँजा	२५०	
	अन्यान्य	६,८३१	३९,८९१
गो चारा	गो चारा	१२,६७१	१२,६७१
अखाद्य फसल	अखाद्य फसल	१२३,३८३	१२३,३८३

प्रचलित खाद्य—शरीर-रक्षा और दैनिक आवश्यकीय कार्य-साधन के लिए खाद्य का मुख्य उद्देश्य शक्तिदायक होना है। इस शक्ति को 'कालोरी' स्केल से नापा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य-परिषद् के मत से प्रति मनुष्य को २८०० से ३००० कालोरी शक्ति प्रदान करनेवाला भोजन करना चाहिये। भारत की जलवायु की दृष्टि से प्रतिदिन २६०० कालोरी शक्ति दे सकनेवाला भोजन आवश्यक है। इस खाद्य में देह की मांस-पेशी के गठन और क्षतिपूर्ति के लिए प्रोटीन, तथा देह को शक्ति देनेवाले श्वेतसार और तैल्य पदार्थ की आवश्यकता पड़ती है। इन चीजों के सिवा प्रायः १९ प्रकार के लवणांश चाहिये। शरीर की हड्डियों के निर्माण के लिए 'कैलशियम' और 'फासफोरस', रक्त के लाल अणुओं के निर्माण के लिए लौह की आवश्यकता होती है। शरीर की तंदुरुस्ती और कर्मठता के लिए 'विटामिन' आवश्यक होते हैं। किन्तु कौन-सा पुष्टकारी पदार्थ कितना आवश्यक है, यह व्यक्ति पर निर्भर है। एक सामान्य सबल और स्वस्थ आदमी के लिए प्रतिदिन ४० से ६५ ग्राम 'प्रोटीन', ४०-५० ग्राम तैल्य पदार्थ, ३-१० ग्राम कैलशियम, ४-१५ ग्राम फासफोरस एवं २० मिलीग्राम लौह धातु की आवश्यकता है। इसके साथ ३००० इकाई विटामिन 'ए', ३०० इकाई विटामिन 'बी', तथा ३०-५० मिलिग्राम विटामिन 'सी' आवश्यक है। यह सब पदार्थ एक ही खाद्य में नहीं मिलते। अतः प्रत्येक आदमी के लिए एक ही प्रकार का खाद्य न होकर नाना प्रकार के खाद्यों का सम्मिश्रण होना चाहिए। भारतीय जलवायु में एक आदमी के दैनिक जीवन धारण के लिए निम्न मात्रा में खाद्य आवश्यक है—

१—शस्य जातीय	
(क) चावल	१० औंस
(ख) दूसरे अनाज	५ ,,
२—दाल	३ ,,
३—शर्करा	२ ,,

४—साग-सब्जी
 (क) साग — २ औंस
 (ख) दूसरे साग — ६ ,,
५—फल — २ ,,
६—दूध — ८ ,,
७—तैल्य पदार्थ — २ ,,
८—मांस — २ ,,

ओड़िशा की जनसंख्या १ करोड़ ४६ लाख है। लस्क के गुणक (Lusk's Co-efficient) प्रयोग के अनुसार यह आबाल-वृद्ध जनसंख्या १ करोड़ २८ लाख युवकों की जनसंख्या के बराबर होगी। इन १ करोड़ २८ लाख युवकों के लिए वर्ष भर के विभिन्न प्रकार के खाद्य-परिमाण को सारिणी नं० ६ में दिया गया है।

ओड़िशा का वार्षिक खाद्य

सारिणी नं० ६—

खाद्य	परिमाण (टनों में)	
१. शस्य जातीय	१,१२८,०६५	
(क) चावल		
(ख) अन्यान्य शस्य	६६४,०३२	
२. दाल	३९२,०१०	
३. शर्करा	२६१,३४०	
४. सब्जियाँ		
(क) साग	२६१,३४०	
(ख) अन्य साग-सब्जी	७८४,०२०	१३,०६,७००
५. फल	२६१,३४०	
६. दूध	१,०४५,३६०	
७. तैल्य प्रदार्थ (तेलहन)	२६१,३४०	
८. मछली और मांस	२६१,३४०	

ओड़िशा में प्रचलित कृषि-पद्धति और फसल की खेती के अनुसार विभिन्न तरह की फसलों के वार्षिक उत्पादन की मात्रा सारिणी नं० ७ में दी गई है। इस उत्पादन की मात्रा में से बेहन रखते समय हानि की मात्रा निकाल देने से ज्ञात होता है कि ओड़िशा केवल धान में ही धनी है। साल में प्रायः ७५७ हजार मन चावल की बचत होती है। परन्तु दालीय फसल, शर्करा, तैल्य फसल, मसाला, मादक और भैषज द्रव्य, साग-सब्जी, फल, दूध और मछली का अभाव हुआ करता है।

इस बचत और अभाव की मात्रा सारिणी नं० ८ में दी गई है। हमारी इस बची हुई शक्ति का उपयोग पड़ोसी प्रदेशों द्वारा होता है। ये प्रदेश शिल्प या व्यापार के केंद्र हैं और पाट, गन्ना, कपास जैसी अर्थकरी फसलें पैदा किया करते हैं।

ओड़िशा की विभिन्न खाद्य फसलों की वार्षिक आय

सारिणी नं० ७—

क्रम संख्या	फसल	कुल	प्रतिएकड़ आय (पौंडों में)	कुल आमदनी (टनों में)	(टनों में)
१	धान				
	शारदा धान	८,२२५,५००	८००	२,७१९,१७३	
	बिआली धान	१,००३,१००	६४०	३२,६४१	
	डालुआ धान	७९,३००	७२०	२३५,९३४	
	कुल	९,३०७,९००	२,१६०	३,०८७,७४८	३,०८७,७४८

सारिणी नं० ८—

फसल	आय का कुल परिमाण	खाद्य के लिए	खाद्य की कुल आवश्यकता का परिमाण			बचत (+) अभाव (—)
			लोगों के लिए		कुल	
चावल	३,०८७ —२७९					
दाल	१७६					
सब्जियाँ और फल	२५२·५ ११० ९०					

प्रति एकड़ अर्थकरी फसल का मूल्य धान की फसल के मूल्य से बहुत अधिक होता है, अतः ये प्रदेश थोड़े मूल्य में ओड़िशा से धान संग्रह कर लेते हैं, साथ ही खाद्य फसल के बदले अर्थकरी फसल पर अधिक भार देकर धनी बन बैठे हैं। इधर ओड़िशा का किसान सिर्फ धान की फसल पर अधिक बल देता है, अर्थकरी फसल में वह उतनी श्रद्धा नहीं रखता। अतः अपने गुजारे के लिए वह धान बेचने को बाध्य होता है। प्रतिमन धान की कीमत प्रतिमन पाट, गुड़, चीनी, कपास की

अपेक्षा बहुत कम होती है। एक सामान्य कृषक ७-८ रुपये मन की दर से अपना धान बेचता है। इतनी सस्ती दर से ओड़िशा प्रतिवर्ष पड़ोसी प्रदेशों को लाखों टन धान और चावल भेजा करता है। यहाँ से निर्यात होनेवाले धान के कई वर्षों के आँकड़े निम्नांकित हैं—

वर्ष	धान रफ्तनी की मात्रा (टनों में)
१९४३-४४	६२६२४
१९४४-४५	८१९५१
१९४५-४६	८४९११
१९४६-४७	१२५१४९
१९४७-४८	१३९९२०
१९४८-४९	१२७७००

ओड़िशा बहुत ही कम दर में धान का निर्यात करता है और अधिक दर में वह आवश्यक वस्तुएँ तथा खाद्य पदार्थ बाहर से मँगाने को बाध्य होता है। अन्य प्रदेशों से खरीदे जानेवाले खाद्य पदार्थों तथा कपड़ों की वार्षिक मात्रा के आँकड़े सारिणी नं० ९ में दिये गये हैं।

सारिणी नं० ९—

श्रेणी	विशेष विवरण	
खाद्य शस्य	गेहूँ	१,६५०
	माँडिआ	१३०
		१,७८०
दाल		२७२
		१,८७०
		२,१४२
सब्जियाँ		१,७८६
		५३६
		२,३२२
फल		
		७८८
		१०
		७९८
		९४४
		९४४
		५०·२
		१,०९,९६१ वेल
		४२

(४) **भूमि की समस्या**—भूमि की समस्या कृषि-अवनति का दूसरा कारण है। समाज में विप्लव का भी प्रधान कारण यही है। प्रति युग में पूँजीवाद के विरुद्ध कुछ न कुछ आन्दोलन चलता रहा है। साम्यवादी रूस ने राज्य के सामन्त, जमींदार तथा खेती न करनेवाले स्वत्वाधिकारी-वर्ग को क्रान्तिकारी मार्ग से लोप करके भूमि को राष्ट्रीय संपत्ति बना लिया है। जमीन की समस्या से ही चीन के च्यांग-काई-शेक का शासन लुप्त हुआ है। चीन के शासक माउत्से तुंग के शासन में खेती न करनेवाले जमींदार या मध्य स्वत्वाधिकारी-वर्ग के लिए स्थान ही नहीं है। कृषि की वास्तविक उन्नति तथा संगठन करने के लिए भूमि को राष्ट्रीय संपत्ति बनाकर तथा कृषकों में उसे वितरित कर सर्वनिम्न और सर्वोच्च भूमि के परिमाण को निर्धारित कर देना अत्यावश्यक है। भूमि तथा कृषि की शोचनीय दशा के कारण भारत में इस व्यवस्था की शीघ्रातिशीघ्र आवश्यकता है। विभिन्न देशों की कृषि-समृद्धि का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि यह भूमि-संस्कार देश को आगे बढ़ाने में बहुत सहायक हुआ है। साथ ही, आये दिन जमींदारों एवं जमीन के सच्चे खेतिहरों में होनेवाले झगड़ों का अधिकांश में लोप हो गया है। सन् १८२२ ई० में इंगलैंड में छोटे-छोटे किसानों के हाथ भूमि हस्तांतरित की गई थी। एक किसान के लिए कम से कम १४ एकड़ भूमि की व्यवस्था की गई थी। डेनमार्क में बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ खरीदकर छोटे-छोटे किसानों में बाँट दी गई हैं।

जापान में सन् १८६८ ई० में सामन्तवाद का एकदम लोप कर दिया गया था। वहाँ सन् १९१० ई० तक आधी भूमि कृषकों के हस्तगत हो गई थी। उपर्युक्त देशों में इन्हीं भूमि-सुधारों से केवल वर्ष में ३-४ फसलें क.टी जाती हैं और उनका उत्पादन-परिमाण भी बहुत बढ़ गया है।

कृषि-उन्नति की प्रणाली—स्वतंत्रता के बाद से देश की सामूहिक समृद्धि हर एक के चित्त का विषय बन गई है। समाजवादी ढाँचे में देश को संगठित करके जनसाधारण का जीवन-स्तर ऊँचा करने के लिए पंचवर्षीय योजना आरंभ हुई है। पहली योजना में कृषि-उत्पादन को प्राथमिकता दी गई थी। दूसरी योजना में शिल्पोन्नति पर जोर दिये जाने पर भी कृषि के महत्त्व को कम नहीं किया गया है। कृषि और शिल्प का समान विकास ही समाज और देश को उन्नत कर सकता है।

हमारे पड़ोसी देश चीन ने शिल्पोन्नति पर जोर देने के साथ कृषि-उत्पादन पर भी यथेष्ट ध्यान दिया है। इसी से पिछले दस वर्षों में वह कृषि-उत्पादन में काफी आगे बढ़ गया है। चीन देश के समान ही भारत भी एक कृषि-प्रधान देश है। कृषक की उन्नति ही देश की उन्नति है। कृषि ही शिल्प-उद्योग के लिए कच्चा माल जुटाया करती है। अतः नये ओड़िशा के संगठन में कृषि की उन्नति का महत्त्व सर्वप्रथम है। ओड़िशा के शिल्प-विकास में अर्थ तथा कच्चे माल बड़े बाधक बने हुए हैं। अन्य देशों के साथ समृद्धिशील होने के लिए भारत की शिल्प और कृषि-विकास योजना का महत्त्व अपरिहार्य है।

यदि कृषि-विकास पर मुख्य रूप से ध्यान देकर धन लगाया जाय तो शीघ्र ही ओड़िशा उन्नति के पथ पर अग्रसर हो जायगा।

धान की खेती का क्षेत्रफल घटा देने से विभिन्न अर्थकरी फसलें फल, साग-सब्जी, तेलहन, तंतुफसल, गो-जातीय चारों की फसल, मादक द्रव्य जातीय फसल की खेती के लिए यथेष्ट भूमि मिल जायेगी। बाढ़ आने और सूखा पड़ने पर केवल धान की कृषि के कारण कृषक की जो आर्थिक दुर्दशा होती है, उससे वह एक हद तक त्राण पा जायेगा। धान का क्षेत्रफल कम कर देने पर भी वैज्ञानिक प्रणाली की सहायता से प्रति एकड़ उपज की वृद्धि के साथ-साथ धान की वर्तमान उपज की मात्रा कायम रखी जा सकती है।

सन् १९५६ ई० में चीन देश की प्रति एकड़ उपज १५ हंडरवेट थी। ऐसी कल्पना है कि उस देश में कृषि-विकास की योजना के अनुसार १९६७ ई० में प्रति एकड़ धान की उपज स्थान-विशेष में २४, ३० और ४८ हंडरवेट होगी। इस हिसाब के अनुसार सन् १९५६ ई० में चीन की कुल उपज १८४ मिलियन टन थी। सन् १९६७ ई० में चीन कुल ४००० मिलियन टन धान पाने की आशा करता है। इस योजना के अनुसार चीनी कृषक बाढ़, सूखा तथा तूफान आदि प्राकृतिक विपत्तियों से भी त्राण पाने में समर्थ हुआ है। चीनवासी आशा रखते हैं कि वर्तमान प्रतिव्यक्ति ६ हंडरवेट अनाज की उपज के बदले १० हंडरवेट अनाज की उपज होगी अर्थात् प्रतिव्यक्ति ४ हंडर अधिक आमदनी होगी।

फसल योजना (Crop Planning)—धान का क्षेत्रफल कम करने और विविध फसलों की खेती (Diversified Farming) का अवलंबन करने के लिए फसल की योजना पहले जरूरी है। मिट्टी, जलवायु, प्रकाश, गर्मी, एवं स्थानीय दशा के ऊपर फसल निर्भर करती है। सभी फसलें सभी स्थानों में नहीं होतीं। इसी दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने अपने देश को पाँच भागों में विभक्त करके प्रत्येक अंचल के लिए क्रमानुयायी फसल की खेती, खाद, खली, सार का प्रयोग, शस्य सरबराह योजना अलग-अलग कर रखी है। इसी से वह देश कृषि-जातीय व्यापारिक पदार्थों में इस समय बहुत धनी है। परन्तु ओड़िशा में इस तरह के प्राकृतिक विभाग से धारावाहिक फसल की योजना नहीं की गई है।

ओड़िशा प्रदेश का प्राकृतिक विभाग एवं फसल योजना—प्राकृतिक गठन, जलवायु तथा मिट्टी के अनुसार ओड़िशा को निम्न चार भागों में विभक्त किया गया है :—

(१) उत्तरीय मालभूमि या भूयाँ पीढ़ अंचल।
(२) महानदी उपत्यका या झाड़ुआ अंचल।
(३) पूर्वीघाट पार्वत्य अंचल।
(४) समुद्री तट का समुद्री अंचल।

(१) उत्तरीय मालभूमि—मयूरभंज, बणाई, गांगपुर, बामंडा, पाललहड़ा, केन्दुंझर तथा तालचेर की ब्राह्मणी नदी का उत्तरी अंचल इस विभाग के अंतर्गत हैं। यह भाग लौह धातुओं से युक्त और पहाड़ों से पूर्ण है। बीच बीच में गेगुटी पत्थरों से भरी हुई खानें भी मौजूद हैं। अतः इस भूभाग में लोहा, चूना, काली भुगुनी और खड़िया पत्थर काफी मिलता है। दक्षिणी-पश्चिमी

मौसमी वायु बंगोपसागर से निकलकर इस अंचल पर से गुजरती है, अतः शीघ्र वर्षा होती है। यहाँ साल में ५८'' से ६७'' तक वर्षा होती है। गर्मी में खूब लू चलती है।

इस क्षेत्र की मिट्टी लाल है। मृत्तिका-विज्ञान में इस प्रकार की मिट्टी को 'लाल मिट्टी' (Red Earth) कहते हैं। इस मिट्टी में बालुआ अंश आलुमिना या पंकीले अंश से अधिक होता है। इसमें लौहांश भी अत्यल्प है। किंतु यह सूक्ष्म आकार में नीचे घुलकर बह गई है। इसमें चूना, पोटाश सामान्य मात्रा में हैं। इस भाग के कुचिंडा अंचल में काली मिट्टी मिलती है। इस काली मिट्टी को रेन-जिना ((Ren-zina) कहते हैं। इसमें चूने का अंश अधिक होता है। अमर्दा और बालडिडा अंचल में चिकिड़ा और वन-मिट्टी अधिक है। इस मिट्टी को प्लानोंसोल (Planonsol) कहते हैं।

(२) **महानदी उपत्यका**—ब्राह्मणी नदी का दक्षिणी तट एवं महानदी तथा उसकी उपनदियों— इब, अंग और तेल आदि—का अववाहिका भाग इस विभाग में पड़ता है। संबलपुर, बालांगीर, सोनपुर, रेढ़ाखोल, आठमलिक अनुगुल, हिन्दोल, ढेंकानाल, बौद, दसपल्ला, नयागढ़ और नरसिंहपुर आदि स्थान इस उपत्यका के भीतर आते हैं। इस अंचल के पश्चिमी और मध्य भाग में कार्बनीफेरस युगों से मौजूद है, अतः कोयला कई स्थानों में देखा जाता है। संबलपुर के पहाड़ कुड़ापा जाति के पत्थरों से गठित हैं और आठमलिक, बौद एवं अनुगुल के पहाड़ गंडवाना श्रेणी के पत्थरों से बने हैं। ढेंकानाल से तिगिरिया तक के पहाड़ उद्धर्व गंडवाना पत्थरों के बने हैं। उस भूभाग में दक्षिणी-पश्चिमी मानसून से वर्षा होती है। गरमी में अत्यंत गरमी पड़ती है। वायु की आर्द्रता कम रहती है, अतः दिन में लू चलती है और रात में साधारणतया ठंडा रहता है।

इस भूभाग में चार किस्म की मिट्टी मिलती है, यथा—पीली, काली, पुरातन खद्दर, गेरुआ लाटराइट। इब, चम्पाली उपत्यका में पाई जानेवाली मिट्टी पीली मिट्टी है। यहाँ पानी की अधिकता भी है। जान्तव पदार्थों के अभाव में यह मिट्टी शीघ्र अनुर्वर हो जाती है।

काली कपास मिट्टी—बलांगीर पटना के लोइसिंहा, बइरा, सरलगा येत तुषरा, सइतला अंचल, रेढ़ाखोल, आठमलिक, अनुगुल, बौद, दशपल्ला और नयागढ़ में पर्याप्त काली मिट्टी पाई जाती है। लोइसिंहा अंचल में ऊपरी सतह की फ़ुट–डेढ़ फ़ुट मिट्टी काली है पर नीचे की तह सफेद जैसी है। इसे छुई मिट्टी कहा जाता है। इसमें से पानी शीघ्र नीचे नहीं जा सकता। यह काली मिट्टी गरमी में फट जाती है और वर्षा ऋतु में फूल उठती है तथा दलदली हो जाती है। इसमें अच्छी तरह जुताई नहीं होती। अनुगुल, जड़पड़ा अंचल की काली मिट्टी में छोटे-बड़े गेंगुटी पत्थर मिले रहते हैं। अतः मिट्टी खारी होती है। इसमें पोटाश का अंश अत्यधिक मात्रा में है; परन्तु फासफोरस बहुत पैदा होता है।

पुरातन खद्दर—यह बड़गड़, अताबिरा, भेडेन, बिनिका अंचलों में मिलती है। इस भू-भाग की भूमि ऊँचाई-निचाई की दृष्टि से आट, माल, बेर्णा और बाहाल आदि चार भागों में विभक्त है।

(३) **पूर्वी घाट का पहाड़ी इलाका**—पूर्वी घाट की पर्वतमाला सबसे प्राचीन है। कोरा-

पुट, पार्लाखेमिडी माल, फ़ुलवाणी और बालिगुड़ा सबडिविजन और कालाहाँडी का धर्मगढ़ तथा सदर डिविजन इस इलाके में पड़ते हैं। दक्षिणी-पश्चिमी मौसमी वायु तथा बंगोपसागर एवं अरब-सागर की शाखा से कोरापुट, बालिगुड़ा एवं कालाहाँडी जिले के प्रदेशों में वर्षा होती है इसलिए इस अंचल में पहले वर्षा होती है। उत्तरी-पूर्वी मानसून से इलाके में सामान्य वर्षा होती है।

इस अंचल की मिट्टी साधारणतः गेरुई, लाटराइट है। इसका रंग लाल या गेरुआ है। तइला और पदर मिट्टी पथरीली और कुछ ठोस होती है। आदिवासी इसी में पोढ़चास करते हैं, अतः यहाँ की मिट्टी धुलकर बालू हो गई है। लाटराइट मिट्टी अनुपजाऊ है। इसमें वनस्पति खाद्य बहुत कम मात्रा में रहता है और पोटास या चूना बिलकुल नहीं है।

(४) **समुद्रतटीय भाग**—इसमें कटक, पुरी, बालेश्वर तथा गंजाम के इलाके पड़ते हैं। यह अंचल सुवर्णरेखा, बूढ़ाबलंग, सालंदी, वैतरणी, ब्राह्मणी, महानदी और उसकी शाखाओं तथा रिषिकुल्या आदि नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी एवं समुद्री बालू से बना है। किसी समय समुद्र पूर्वीघाट के पहाड़ों के नीचे था। इस भूभाग के पहाड़ एक समय द्वीप के समान थे। इस अंचल को डालीजोड़ा, मोगल-बंदी और तलमाल में विभक्त किया गया है।

डालीजोड़ा—यह पार्वत्य और वन्य प्रदेश है। यहाँ की मिट्टी लाल और रुगुड़िया है। मोगलबंदी की मिट्टी दोरसा, बालुई अथवा मटाल है। तलहटी की मिट्टी मटाल और पटुपड़ा है।

उत्तरीय मालभूमि—यह अंचल ओड़िशा के सारे क्षेत्रफल का एक चौथाई अंश घेरे हुए है। इसमें प्राग् ऐतिहासिक आदिवासी अधिकता से बसे हुए हैं। इन आदिवासियों की डाही और बिरिंगा खेती ने पहाड़ी और पार्वत्य अंचल को मिट्टी से शून्य कर दिया है। वैतरणी, ब्राह्मणी और महानदी की तलेटियाँ बालुका-पूर्ण हैं। प्रतिवर्ष बाढ़ प्रलय ढाती है।

मिट्टी का संरक्षण खेती की भूमि के विनियोग का उत्तम मार्ग है। उत्तरी माल-अंचल लोहे और चूने से पूर्ण होने के कारण ओड़िशा का एक शिल्पप्रधान भाग बन सकता है। शिल्प-अंचल के लोगों के लिए खाद्य, साग-सब्जी, फल और दूध आदि जुटाना इस प्रान्त की खेती का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। धान तथा सावाँ आदि अनाजों की खेती घटाकर गोचारण और दूध व्यवसाय के लिए तृणभूमि की खेती (Grass Land Farming) को मुख्य स्थान देना चाहिए। घास मानव-सभ्यता और वृष्टि का प्रधान प्रतीक है। सावाँ, कुअेरी और कांगु घास से पैदा हुए हैं। इस जाति की घास के बीज या रस मानव के खाद्य तथा नरा और गज चारे के रूप में व्यवहृत होते हैं। पृथ्वी की जलवायु के अनुसार विभिन्न प्रकार की घास मानव-सभ्यता और वृष्टि का प्रतीक है। प्राचीनतम महाद्वीप एशिया की भारतीय और चीनी सभ्यता का प्रतीक 'धान' है। यूरोपीय महाद्वीप और भूमध्यसागरीय सभ्यता का प्रतीक गेहूँ है तथा नई दुनिया (अमेरिका) का प्रतीक मक्का है।

सूर्य सारी शक्ति का भंडार है। घास हमारे लिए इस शक्ति के व्यवहार का साधन है। हम इस परिवर्तित शक्ति को शस्य, दूध और मांस में पाते हैं। इस शक्ति के बल से ही हम रोज नाना प्रकार के काम करने में समर्थ होते हैं। मनुष्य को डेढ़ घंटे तक चलने, आधे घंटे तक काठ

चीरने या तीन घंटे तक बासन माँजने में जितनी शक्ति आवश्यक है उतनी शक्ति आधे सेर वजन की घास में निहित है। मैदान की घास से चौगुनी शक्ति अनाज के दानों में निहित रहती है।

घास पृथ्वी की नाइट्रोजन को अपनी जड़ों द्वारा प्रोटीन में बदल देती है। यह प्रोटीन ही प्राणी की जीवनी शक्ति है। इससे हमारे शरीर के क्षय की पूर्ति तथा मांसपेशियों की रचना होती है। अमेरिका की वार्षिक आय में से सात प्रतिशत आय केवल घास से ही होती है। घास चरकर गायें, बकरियाँ और भेड़ें पुष्ट होती हैं। अमेरिका वार्षिक ८ करोड़ पौंड वजन का मांस गायों बकरियों और भेड़ों से प्राप्त करता है। घास के कारण ही अमेरिका के कृषक दूध, मलाई, मक्खन, पनीर आदि बेचकर प्रतिवर्ष ४०० करोड़ रुपये कमाते हैं। हिसाब लगाकर देखा गया है कि संयुक्त राज्य अमेरिका जितनी वार्षिक आय मोटर-इस्पात उद्योग द्वारा करता है उससे कहीं अधिक आय वह घास की खेती से करता है। वह मांस के व्यापार से बारह सौ करोड़, दूध के व्यापार से छः सौ करोड़, सूखी घास से दो सौ करोड़, गेहूँ, जौ, ओट, बाजरा आदि अनाजों और ईख आदि घास जातीय शस्यों से नौ सौ करोड़ मुद्रा कमाता है। घास की खेती के कारण संयुक्त राष्ट्र अमेरिका बाढ़ की यंत्रणा से २५ सौ करोड़ मुद्राओं के कलपुर्जों, घरबार और अचल सम्पत्ति तथा ४० सौ करोड़ मुद्रा मूल्य के अनाज की रक्षा कर पाता है।

मक्का और घास की खेती का मृत्तिकाक्षय पर प्रभाव

सारिणी नं० ११—

मिट्टी की किस्म	जमीन का ढलाव	प्रतिएकड़ क्षय होने वाली मिट्टी की मात्रा (टनों में)		प्रति एकड़ बहने वाले पानी का सैं० भाग	
		मक्का जातीय फसल	घास की फसल	मक्का जातीय फसल	घास जातीय कृषि
पटुआ दोरसा	९.०	३८.३	.०३	१८.७	१.३
दोरसा	८.०	५०.९	.१६	२७.१	८.१
महीन बालुई दोरसा	७.७	१८.९	.०२	१२.५	१.०
पंकीली दोरसा	१०.०	३१.२	.३१	१२.४	१.९
महीन बालुई दोरसा मिट्टी	८.७	२४.०	.०८	१९.९	१.०
एजन्	१६.५	६१.१	.००५	१४.४	०.३
चिकटा मिट्टी	४.०	२०.६	.०२	१३.६	.०५
काली मिट्टी	२.०	७.८	.०८	१०.५	१.२

घास ही मृत्तिका-क्षय का अवरोध करती है। वह मैदान के पानी को रोक रखती है। वर्षा का पानी भूमि को पारकर झरने में चला जाता है। इससे बाढ़ के आने की कोई आशंका नहीं रह जाती। घास ही विशाल सड़कों, रास्तों, घाटों और तालाबों को बाँधे रहती है, खेल के मैदान

को कोमल बनाये रखती है, पहाड़-पर्वतों की मिट्टी को बाँधे रहती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के हाइयो राज्य में परीक्षा करके देखा गया है कि एक वर्ष में दोरस मिट्टी की एक एकड़ भूमि में मक्का की खेती करने से ९९·३ टन मिट्टी घुल जाती है; लेकिन उसी भूमि में घास की खेती करने से केवल ०·०२ टन मिट्टी घुलती है। साल भर में जो वर्षा होती है उसमें से प्रति सै० ४०·३ भाग पानी, धान और मक्का की खेती से, बह जाता है किन्तु घासवाली भूमि में से सिर्फ ४·८ भाग पानी बह पाता है। धान, सावाँ, कुअेरी, कोशला और मक्का के खेतों में ऊपर की एक इंच भूमि डेढ़ साल के भीतर क्षयग्रस्त हो जाती है। किन्तु घास के खेतों में से एक इंच मिट्टी के क्षय होने में ७५०० वर्ष लगेंगे। मक्का-जातीय फसलों के खेतों एवं घास के खेतों से प्रतिवर्ष कितनी मिट्टी घुल जाती है तथा वर्षा का कितना अंश नदी-नालों में बह जाता है, यह सारिणी नं० ११ में दिखाया गया है।

घास की खेती ही मृत्तिका-संरक्षण का विशेष साधन है। यही, मिट्टी से पेड़-पौधों के पुष्टि-कारक पदार्थों को, वर्षा द्वारा धुल जाने से बचाती है। घास की जड़ बड़ी पतली होती है, किन्तु परीक्षा द्वारा देखा गया है कि एक घास के पौधे की सारी सूक्ष्म जड़ों को एक में जोड़ देने से वह ५ मील से भी ज्यादा लम्बी बन जाती है। इसी सूक्ष्म जड़ से एक प्रकार का लासा निकलकर भूमि को सीमेंट की तरह बाँध लेता है। इसी सूक्ष्म जड़ के कारण मिट्टी रवादार होकर खुरखुरी बनी रहती है। इससे भूमि में पानी और हवा का प्रवेश अच्छी तरह हो जाता है। घास के सड़कर मिट्टी में मिलने से मिट्टी भुरभुरी और उपजाऊ बन जाती है। उपजाऊ भूमि ही अधिक अनाज देती है। वैज्ञानिक कारडन के मत में—Grassland Agriculture represents a definite advance towards stabilized agriculture. It is not a reversion to pastoral practices. It cuts across all phases of agricultural production and therefore commands a high degree of manurial ability. घास की खेती के लिए तृण और छुई जाति की फसलें अधिक उत्तम हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में फेक्स, केंटकीनील, राइतृण, दूब, जानसन नेपियर घास, जुआर आदि व्यवहृत होते हैं।

छुई जातीय फसलों में बरसीम, क्लोवर, बरगुड़ी वेलविटबीन, कुटुज गुंआरा, भेज आदि घासें आती हैं। उत्तर मालभूमि की मिट्टी और जलवायु में होने योग्य घासों को चुनना होगा। घास और हरे-भरे मैदान के लिए बिहन रखना वैज्ञानिक कौशल है। उत्तम गोचरभूमि और पुष्टिकर घास के लिए एक ही जाति की खेती न करके विभिन्न प्रकार की घासों और छुई जातीय फसलों को मिलाकर खेती करनी चाहिए। यह मिश्रण वैज्ञानिक तत्त्वों पर निर्भर करता है।

सिर्फ दूध के लिए ही नहीं, बकरी, भेंड़ और मुर्गी आदि के पालन के लिए गोचर-भूमि और घास की खेती अति आवश्यक है। उत्तरी माल अंचल में आदिवासियों की अधिकता है। ये लोग बकरी, भेंड़, सुअर और मुर्गी पालते हैं। घास की खेती द्वारा इन जीव-जंतुओं का पालन-व्यवसाय खूब उन्नत हो सकता है। भेड़ें घास को अच्छी तरह खाती हैं। एक एकड़ चरागाह से ही प्रतिवर्ष भेड़ का ७-८ मांस प्राप्त किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में परीक्षा करके देखा

गया है कि एक सौ पौंड सुअर के मांस के लिए चार सौ पौंड दाना देना पड़ता है, किंतु गोचर-भूमि में चरने से सौ पौंड मांस के लिए उन्हें किसी प्रकार का दाना नहीं देना पड़ता ।

महानदी की घाटी—महानदी उपत्यका की समस्या संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की तेनेसी नदी की समस्या से मिलती-जुलती है। बाढ़ और सूखा तेनेसी नदी के तटवासियों को आये दिन दुखी किया करता था। किंतु तेनेसी नदी की बाँध योजना ने जादू के समान इस उपत्यका को परी राज्य में बदल दिया है। तेनेसी बाँध योजना सिर्फ बिजली पैदा करती है। इस विद्युत् के सदुपयोग द्वारा इस परी राज्य की सृष्टि हुई है। इसी प्रकार महानदी उपत्यका की हीराकुद बाँध योजना से विद्युत् शक्ति की प्राप्ति के साथ-साथ सिंचाई में भी सुविधा हुई है। ७४०००००० एकड़ फ़ुट जल, जो समुद्र में व्यर्थ बह जाया करता था वह, आज मानव-सेवा में लग सकेगा। संबलपुर, बलांगीर जिले में ६ लाख ७२ हजार एकड़ भूमि की सिंचाई के लिए पानी मिल सकेगा। इसके अतिरिक्त इस योजना से २ लाख ७० हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न की जा सकेगी। वह इस उपत्यका की समस्या (१) जल का उपयोग तथा (२) बिजली द्वारा सिंचाई और शिल्प उद्योग की समृद्धि में सहायक होगी।

हीराकुद बाँध योजना से बड़गड़ की नहर ३ लाख ८० हजार एकड़ और शासन नहर ७१ हजार दो सौ एकड़ भूमि की सिंचाई करेगी। खरीफ की शत-प्रतिशत और रबी की ४८ प्रतिशत एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी। पहले ये सभी इलाके अनाज की उपज के लिए सिर्फ वर्षा पर निर्भर रहते थे। यहाँ की वार्षिक औसत वर्षा ६० इंच है। यह वर्षा आषाढ़ मास से आश्विन मास तक रहती है। यहाँ वर्ष में आठ मास तक तालाब और कटा पर निर्भर रहना पड़ता था। अतः वर्ष में ६ माह तक लोग खेती करते और शेष ६ मास आलसी बनकर बैठे रहते थे।

सिंचाई की व्यवस्था से कृषि में अनेक परिवर्तन सम्भव हो गये हैं। अब एक फसल के बदले अनेक फसलें तथा बहुविध कृषि होने लगी है। सिंचाई के लिए प्राप्त जल में भूमिनाशक लवणांश अत्यल्प मात्रा में है। अतः इसके द्वारा खेती के लिए पूरे वर्ष सिंचाई होती रहने पर भी भूमि के गुण की हानि होने की आशंका नहीं है। महानदी के पानी में एक हजार भाग में से सिर्फ ८ से २६ भाग तक लवणांश है। जल के एक हजार भाग में ६० भाग तक का लवणांश मिट्टी का गुण नष्ट नहीं कर सकता, इसलिए महानदी के जल से सिंचाई होने पर भूमि के गुण नष्ट नहीं हो सकते।

इस इलाके की मिट्टी पुरातन खद्दर, मटाल, मटाल दोरसा, बालिया दोरसा, और काली कपास की मिट्टी एवं जगह-जगह की लाल रुगुड़िया जमीन की उँचाई-निचाई के भेद से विभक्त की गई है। इस इलाके की भूमि को आट, माल, बेर्णा और बहाल भागों में विभक्त किया गया है। आट, माल ऊँची भूमि है, यहाँ पानी लगने की आशंका नहीं रहती। पानी देने से भूमि शीघ्र मुलायम हो जाती है। बेर्णा, बहाल नीची भूमि हैं, अतः यहाँ काफी देखभाल करके पानी देना पड़ता है। सिंचाई की दृष्टि से यह भूमि तीन भागों में बाँटी जाती है—ऊँची भूमि (७४ प्रति सै०), बेर्णा (१४ प्रति सै०) और बहाल (१२ प्रति सै०)।

बिजली के सदुपयोग के लिए शिल्प उद्योग का प्रसार अत्यंत जरूरी है। शिल्प उद्योग के लिए कच्चे माल को उत्पन्न करने की आवश्यकता है। पड़ोसी प्रदेशों के कृषि-शिल्प की उन्नति के लिए भी यदि हम ध्यान दें तो हमें रूई, चीनी, तेल, फल और साग-सब्जी तथा दुग्धजातीय शिल्प का विकास करना होगा। महानदी उपत्यका की मिट्टी तथा जलवायु इन फसलों की उत्पत्ति के लिए बहुत अच्छी है। अतः वर्तमान प्रचलित फसल के बदले कपास, गन्ना, दालीय फसल; मक्का और ज्वार, आम, कमला, अमरूद फलजातीय फसल; विभिन्न साग-सब्जी एवं घास की खेती (Grassland Farming) करनी होगी। सारिणी नं० १२ में महानदी उपत्यका की प्रचलित खेती-पद्धति दी गई है।

महानदी उपत्यका में प्रचलित कृषि-पद्धति

सारिणी नं० १२—

क्रम सं०	भूमि-प्रकार	खेती की विभिन्न फसलें		मंतव्य
		खरीफ	रबी	
क	आट	बिआली धान, मूँगफली तिल आदि तेलहन, का-उँरिया	कुलुथ, बीरी, बरगुड़ी।	वर्षा पर निर्भर करती है।
ख	माल	धान, मूँगफली	सरसों	,,
ग	बेर्णा	धान	खेसारी	,,
घ	बाहाल	धान	,, चैती मूँग	,,
ङ	बाड़ी और बच्छीं	गन्ना, साग-सब्जी, मक्का	तम्वाकू, ओली, प्याज, साग-सब्जी	सिंचाई द्वारा

धान, मूँगफली, काँउतिया आदि यहाँ की प्रधान फसलें हैं। शीतकालीन फसलें नहीं के बराबर हैं। अब सिंचाई से धान के साथ-साथ अर्थकरी फसलें भी पैदा की जा सकती हैं।

धान—वर्षा होने पर यह ज्येष्ठ मास में बो दिया जाता है किन्तु सिंचाई की सुविधा होने से अण-तृतीया धान बोया जा सकता है और चैत्र के अंत में ही बिहन डालकर वैशाख में रोपनी की जा सकती है। इस प्रकार एक मास पूर्व ही धान की खेती हो सकेगी। दूसरे, छींटकर पैदा करने के बदले रोपड़ प्रणाली द्वारा धान की खेती अधिक संभव होगी। कहावत है—'रुआ धान धुआ'। जापानी प्रणाली में छिटुआ के स्थान पर रोपे हुए धान को अधिक पसन्द करते हैं। रोपण प्रणाली में उन्नत यंत्र की मदद से मिट्टी गोड़ी जा सकती है। इससे प्रति एकड़ पैदावार भी अधिक होगी। इस रोपण प्रथा के साथ उत्तम बिहन, अधिक खाद के प्रयोग और रोग, कीड़े-मकोड़े आदि फसल के दुश्मनों के आक्रमण से बचाने के लिए दवा की व्यवस्था होने पर प्रति एकड़ उपज बढ़ जायेगी। सिंचाई के कारण सूखे का डर न रहेगा। बाहाल जैसी नीची जमीन में भी कार्तिक, अगहन तक

धान की कटाई करके डालुआ धान की फसल की जा सकती है। इसलिए महानदी उपत्यका में इस समय जितनी भूमि में धान की खेती की जाती है उससे कम जमीन में ही इतना ही धान पैदा किया जा सकता है।

आट-माल भूमि में धान की फसल न करके ईख, कपास, मूँगफली, तेलहन, अरहर आदि दालीय फसल और सागसब्जी, फल आदि पैदा किया जा सकता है। वर्तमान धान की जमीन में से २० प्रति सैं० कम करके यह अर्थकरी फसल पैदा की जा सकती है।

नूतन कृषि-पद्धति—वर्तमान कृषि-पद्धति को बदलकर खरीफ एवं रबी की फसलों में कौन फसल कितने अनुपात में पैदा की जा सकती है, इसे सारिणी नं० १३ में दिया गया है।

खरीफ व रबी में विभिन्न फसलों का अनुपात

सारिणी नं० १३—

फसल की किस्म		प्रतिशत अनुपात	
		खरीफ	रबी
१—	शस्य	४०%	१०%
२—	छुँई	१०%	८%
३—	शर्कराप्रद	१०%	१०%
४—	रेशाजातीय	१०%	२%
५—	तेलहन	५%	५%
६—	मसाला व मादक	२०%	२%
७—	गो-चारा	२%	२%
८—	हरी खाद	१०%	
९—	साग-सब्जी	२%	७%
१०—	गोचर भूमि	४%	४%
११—	बगीचा	५%	५%
		१००%	५०%

पर्यायक्रम से फसलों की खेती—नाइट्रोजन और जान्तव पदार्थ मिट्टी की उर्वरता के परिमापक हैं। परती और कुमारी मृत्तिका में ये दोनों यथेष्ट मिलते हैं। इसी से इस भूमि से एक ढेला उठाने से वह शोल के समान हलका मालूम पड़ता है। कुमारी भूमि में बार-बार खेती करने से नाइट्रोजन एवं जान्तव पदार्थों का क्षय होता है। भूमि की उर्वरता घट जाती है। ४० वर्ष की खेती के बाद कुमारी भूमि में कितना परिवर्तन होता है, उसका विवरण सारिणी नं० १४ में दिया गया है।

खेती से भूमि की उर्वरता में परिवर्तन

सारिणी नं० १४—

मिट्टी	एक घनफुट मिट्टी का तौल (पौंडों में)		एक एकड़ की मिट्टी में जान्तव पदार्थ की मात्रा (टनों में)		मिट्टी में हवा-पानी के प्रबन्ध के लिए छिद्र अनुपात (सैकड़ा)	
	परती भूमि	कृषि भूमि	परती भूमि	कृषि भूमि	परती भूमि	कृषि भूमि
०—१ फुट	६५.५	८१.७	६६.०	४४.७	६०.३	५०.५
१—२ ,,	७०.३	८६.७	——	——	५८.१	४७.६
२—३ ,,	७६.६	९१.०	——	——	५३.५	४४.८
औसत परिमाण	७०.५	८६.५	६६.०	४४.७	५७.३	४७.६

इस हिसाब से मालूम होता है कि बार-बार एक ही फसल की खेती होने से भूमि का जान्तव पदार्थ नष्ट हो जाता है और मिट्टी की बनावट में भी परिवर्तन हो जाता है। फलस्वरूप जमीन की शक्ति घट जाती है और फसल की पैदावार भी कम हो जाती है। लेकिन पर्याय-क्रम की खेती से भूमि की शक्ति बढ़ती है और पैदावार भी अधिक होती है।

अत्युत्तम छुईंजातीय फसल—खाद्य फसल को सामान्यतः दो भागों में बाँटा जाता है—(१) शस्य (Cereals), (२) छुईंजातीय (Lequmas)। इनमें शस्य तो नाइट्रोजन-भक्षक और छुईंजातीय फसल नाइट्रोजन-रक्षक है। मूंग, उर्द, कुलथी, अरहर, धनिया, सनई, मटर प्रभृति छुईंजातीय फसलें हैं। ये अपनी जड़ों में हवा के साथ नाइट्रोजन संचित किये रहती हैं। अच्छी छुईंजातीय फसल एक मौसम में ६० से १०० पौंड तक नाइट्रोजन वायु जमा रखती है। अतः प्रत्येक शस्य फसल के बाद कोई न कोई छुईंजातीय फसल अत्यन्त आवश्यक है।

सारिणी नं० १५—

	प्रथम भाग बगीचा	द्वितीय भाग बगीचा	तृतीय भाग बगीचा
प्रथम वर्ष	जड़-प्रधान फसल	रेशायुक्त मूल	छुईंजातीय
द्वितीय वर्ष	छुईंजातीय फसल	जड़प्रधान फसल	रेशायुक्त फसल
तृतीय वर्ष	रेशायुक्त जड़-प्रधान फसल	छुईंजातीय फसल	जड़प्रधान फसल

फसल के स्वभाव की दृष्टि से उन्हें सामान्यतः तीन भागों में बाँटा जाता है—(१) जड़-प्रधान फसल (Top Root Crop), (२) रेशायुक्त जड़प्रधान (Fibrous Root Crops),

(३) छुईंजातीय फसल (Lequminous Crops)। जड़प्रधान फसल के वाद रेशायुक्त जड़-प्रधान फसल एवं तीसरे वर्ष छुईंजातीय फसल पैदा करना आवश्यक है। इसका विवरण सारिणी नं० १५ में देखा जा सकता है।

धान, मक्का, जौ, गेहूँ, आदि अनाज रेशायुक्त जड़प्रधान फसलें हैं। इनकी खेती बार-बार करने से भूमि की उर्वरता किस प्रकार घट जाती है और इनके साथ छुईं जातीय फसल की खेती करने से वह किस प्रकार बढ़ जाती है, इस संबंध में जो निष्कर्ष दिये गये हैं, उन्हें सारिणी नं० १६ में देखा जा सकता है।

फसल पर्याय और जमीन की उर्वराशक्ति

सारिणी नं० १६—

	प्रतिएकड़ उपादान की मात्रा	
	हिउमस (टनों में)	नाइट्रोजन (पौंड के हिसाब से)
परती रहनेवाली भूमि	१७.५	२१७६
३० वर्षतक मक्का की खेती	६.४	८४०
३० वर्ष तक जौ की खेती	११.४	१४२५
३० वर्ष तक गेहूँ की खेती	११.०	१३१५
मक्का, जौ, गेहूँ, छुईंजातीय फसल	१३.४	१७८०

प्रतिवर्ष धान, मक्का, गेहूँ की खेती से हिउमस और नाइट्रोजन मिट्टी से विलुप्त हो जाते हैं। किन्तु इन फसलों के साथ छुईंजातीय फसल की खेती से इन दोनों का क्षय नहीं होता।

हरी खाद—अमेरिका में प्रति एकड़ ४० टन गोबर की खाद या हरी खाद खेत में डालते हैं। इससे १० टन हिउमस मिलता है। इस १० टन का चतुर्थांश अंगार अम्ल में बदल जाता है। इससे ढाई टन वजन का अन्न उत्पन्न होता है। हिउमस के प्रयोग से अन्न अधिक पुष्टिकारक हो जाता है तथा विटामिन की मात्रा बढ़ जाती है। हीराकुद जल द्वारा सिंचित भूमि में धनियाँ, सनई और मटर आदि हरी खाद की खेती होनी चाहिए। महानदी उपत्यका में फसल की एक प्रयोगमूलक सूचना सारिणी नं० १७ में दी गई है।

पर्यायक्रम से होनेवाली खेती द्वारा भूमि की उर्वरता के साथ-साथ पैदावार भी बढ़ती है और विभिन्न शिल्पोद्योग के लिए कच्चा माल भी मिलता है। दो या तीन वर्षीय फसल-पर्याय का सहारा लिया जा सकता है। इसका विवरण सारिणी नं० १८ में दिया गया है।

सारिणी नं० १८ में बताई गई पर्याय क्रमवाली फसलों में से किसान अपनी सुविधा के अनुसार कोई भी फसल पैदा कर सकता है। एक ही वर्ष के भीतर विभिन्न प्रकार की भूमि में एक फसल के बाद दूसरी फसल पैदा करने का विवरण सारिणी नं० १९ में दिया गया है।

सारिणी नं० १७—

भूमि	फसल की किस्म	वर्षाकालीन	शीतकालीन	ग्रीष्मकालीन
ऊँची आट, माल	(क) अल्पकाली	धान, मक्का	आलू, तम्बाखू, गन्ना	ग्रीष्मकालीन साग-सब्जी
	१-शस्य जातीय	ज्वार	गोचारा, सागसब्जी	गोचारा के लिए ज्वार तथा दूसरी घासें।
	२-रेशेदार	काँउरिया, पाट, सनई।	मक्का, ज्वार, गेहूँ सागसब्जी, तम्बाखू, गन्ना।	
	३-रबी	वरगुड़ी, मूँग, बीरी	आलू, तम्बाकू, गेहूँ, साग-सब्जी।	
	४-तेलहन	तिल	एजन् —	
	५-हरी खाद	धनियाँ, सनई	गन्ना, कपास, आलू, साग-सब्जी।	
	६-साग-सब्जी	भेंडी, गुआँर	गन्ना, कपास, आलू, साग-सब्जी।	
	(ख) बहुकालीन			
	१-रेशे और हरी खाद की बिहन के लिए	सनई, धनियाँ, का-उँरिया पाट	गेहूँ, मक्का, मूँग, गन्ना, कपास	
	२-तेलहन	मूँगफली	गेहूँ, मक्का, ज्वार बाजरा	
	३-रबी	अरहर	दीर्घकालीन साग-सब्जी या "ग्रीष्म-कालीन"	
	४-अन्यान्य फसल	कपास, हल्दी		साग-सब्जी।
	५-साग-सब्जी	कन्दमूल		साग-सब्जी, मक्का ज्वार (गोचारा)
मध्यम भूमि (वाहाल)		रोपनी का धान	रबी फसल	अप्रैल से जुलाई तक तिल, मँडिया, पाट, काउँरिया, सनई।
नीची भूमि (बेर्णा)		धान	रबीफसल-कपास	धान, हरी खाद, रेशेदार फसल।

सारिणी नं० १८ (क)— दो वर्षीय फसल पर्याय

भूमि	वर्ष	खरीफ	रबी	ग्रीष्मकालीन
ऊँची	(क) प्रथम वर्ष	कपास, दाल,	दालीय फसल	साग-सब्जी
आट, माल	द्वितीय वर्ष	हरी खाद।	आट, धान।	तेलहन
	(ख) प्रथम वर्ष	—एजन—	—एजन—	गन्ना।
	द्वितीय वर्ष	गन्ना	गन्ना	गन्ना।
	(ग) प्रथम वर्ष	हरी खाद	गेहूँ	हरी खाद।
	द्वितीय वर्ष	कपास	मटर या सरसों	
	(घ) प्रथम वर्ष	धनियाँ, हरी खाद	गन्ना	गन्ना
	द्वितीय वर्ष	गन्ना (मूली)	गन्ना	ग्रीष्मकालीन सब्जी
	(ङ) प्रथम वर्ष	नलिता।	गेहूँ।	हरी खाद
	द्वितीय वर्ष	धान।	दालीय फसल	
	(च) प्रथम वर्ष	मक्का वा ज्वार	मूँग	पाट की बोआई
	द्वितीय वर्ष	पाट	गेहूँ	साग-सब्जी।
	(छ) प्रथम वर्ष	वर्षाकालीन सब्जी	गन्ना की बोआई	गन्ना
	द्वितीय वर्ष	गन्ना।	गन्ना की पेड़ाई	
	(ज) प्रथम वर्ष	अरहर	अरहर की कटाई	माँड़िया
	द्वितीय वर्ष	कन्दमूल	कन्दमूल की खुदाई	गोचारा
बेर्णभूमि	(क) प्रथम वर्ष	धनियाँ, सनई करके धान रोपना	धान काटना और दालीय फसल वा तेलहन बोना	दालीय फसल
	द्वितीय वर्ष	पाट	आलू या गेहूँ	
	(ख) प्रथम वर्ष	हरी खाद के बाद धान रोपना	गन्ना बोना।	
	द्वितीय वर्ष	गन्ना	गन्ने की पड़ाई	
	(ग) प्रथम वर्ष	नलिता के बाद धान-रोपनी	धान काट करके ग्रीष्मकालीन साग-सब्जी	
	द्वितीय वर्ष	हरी खाद करके धान रोपना	धान काट करके सरसों आदि बोना	
	(घ) प्रथम वर्ष	कपास	गेहूँ	
	द्वितीय वर्ष	हरी खाद करके धान रोपना	धान काटकर दालीय फसल	
	(ङ) प्रथम वर्ष		धान काटकर शीतकालीन कपास लगानाखू बोना	
	द्वितीय वर्ष	कपास तोड़कर धान रोपना।	तम्बा. मूँग तथा तम्बाखू	
	(च) प्रथम वर्ष	हरी खाद करना धान रोपना	बोना, गेहूँ।	
	द्वितीय वर्ष	मक्का, हरी खाद		

त्रैवार्षिक फसल

सारिणी नं० १८ (ख)—

भूमि	वर्ष	खरीफ	रबी	ग्रीष्मकालीन
उंची	(क) प्रथम वर्ष	धनियाँ, (हरी खाद के लिए)	गन्ना बोना	
	द्वितीय वर्ष	गन्ना	गन्ने की पेड़ाई	
	तृतीय वर्ष	मूली, गन्ना	गन्ने की पेड़ाई	मंडिया बोना
	(ख) प्रथम वर्ष	हरी खाद देकर धान की रोपनी	साग-सब्जी	
	द्वितीय वर्ष	गन्ना बोना	गन्ना	
	तृतीय वर्ष	गन्ना, मूली	ग्रीष्मकालीन सब्जी	
	(ग) प्रथम वर्ष	हरी खाद करना	गेहूँ बोना	गन्ने की बुआई
	द्वितीय वर्ष	गन्ना	गन्ने की कटाई	
	तृतीय वर्ष	गन्ना, मूली	गन्ने की पेराई	ग्रीष्म कालीन सब्जी, मंडिया
	(घ) प्रथम वर्ष	कपास	गेहूँ	,, ,, ,,
	द्वितीय वर्ष	काउँरिया का पाट	आलू या गेहूँ	,, ,,गोचारा
	तृतीय वर्ष	आट, धान पाट, अरहर, मूँगफली	साग-सब्जी, दालीय फसल	
बेर्णा	(क) प्रथम वर्ष	हरी खाद के बाद धान	दालीय फसल	
	द्वितीय वर्ष	पाट के बाद धान	सरसों जाति के तेलहन	
	तृतीय वर्ष	हरी खाद के बाद धान		ग्रीष्मकालीन सब्जी
	(ख) प्रथम वर्ष	———	दालीय या तेलहन की फसल	
	द्वितीय वर्ष	कपास		,, ,, गोचारा
	तृतीय वर्ष	हरी खाद के बाद धान		,, ,, सब्जी
बाहाल	(क) प्रथम वर्ष	हरी खाद करके धान रोपना	डालुआ धान करना	
	द्वितीय वर्ष	हरी खाद	शीतकालीन कपास	
	(ख) प्रथम वर्ष	हरी खाद करना और धान रोपना	मूँग या खेसारी बोना	
	द्वितीय वर्ष	नलिता	नलिता के बाद धान रोपना	

सारिणी नं० १८ (ख) का शेष--

जमीन	वर्ष	खरीफ	रबी	ग्रीष्मकालीन फसल
	(ग) प्रथम वर्ष	हरी खाद के बाद धान		केले का लगाना
	द्वितीय वर्ष	केला		
	तृतीय वर्ष	,,		
बाहालजमीन	(क) प्रथम वर्ष	पाट के बाद धान	दालीय जातियाँ	
	द्वितीय वर्ष	धान	,, ,,	
	तृतीय वर्ष	नलिता या पाट	धान	
	(ख) प्रथम वर्ष	हरी खाद के बाद	कपास	
	द्वितीय वर्ष	,, ,,	दालीय फसल	
	तृतीय वर्ष	पाट के बाद धान	परती	

सारिणी नं० १९--

भूमि की किस्म	फसल के बाद फसल	बोने का समय	काटने का समय
धान के लिए अनुपयुक्त	मूँगफली, आलू, मक्का	मूँगफली १५ से ३१ मई आलू ३० अक्टू० से १५ नवम्बर मक्का १५ फरवरी से २८ फरवरी	१५ से ३० सितम्बर ३० जून से १५ फरवरी एक मई से १५ मई
आट, माल	बियाली धान, आलू, मक्का	बियाली धान १५मई से ३१ मई आलू १५ नव० तक मक्का १५ फरवरी	१५ सितम्बर तक जून के अन्त से १५ फरवरी तक ३० अप्रैल तक
	बिआली धान, कपास	बियाली धान, १५ मई से ३० मई कपास ३० अगस्त से ३० सितम्बर तक	१५ सितम्बर तक १५ मई तक
बेर्णो	हरी खाद, लघुधान, गेहूँ	हरी खाद १ से १५ मई लघुधान २० से ३१ जुलाई तक गेहूँ १५ दिसम्बर तक	१ से १५ जुलाई तक ३० नवम्बर तक ३१ मार्च तक

सारिणी नं० १९ का शेष—

जमीन की किस्म	फसल के बाद फसल	बोने का समय	काटने का समय
बेर्णा	२. धान, आलू, मक्का	धान १ जून से १५ जून	अक्टूबर तीसरे सप्ताह तक
		आलू नवम्बर (पहला सप्ताह)	फरवरी प्रथम सप्ताह
		मक्का फरवरी (दूसरा सप्ताह)	अप्रैल मास के शष में
बाहाल	१. हरी खाद, धान, सब्जी (सारू)	हरी खाद १५ से ३१ मई तक	१५ जुलाई तक
		धान ३१ जुलाई तक	१५ दिस० से ३० दिस०
		माण सारू १५ जनवरी तक	१५ मई तक
	२. पाट, धान, मूँग	पाट १५ अप्रैल से १५ मई तक	१५ अगस्त तक
		धान ३१ अगस्त तक	३१ दिसम्बर
		मूँग १५ जनवरी तक	१५ अप्रल तक

पूर्वी भूभाग का पहाड़ी अंचल—यह भूभाग समस्त ओड़िशा का २९ प्रतिशत है। इसमें आदिवासियों की घनी बस्तियाँ हैं। आदिवासी अपनी उसी पुरानी 'पोढु' प्रथा से खेती करते आ रहे हैं। रायगड़ा, रामगिरि, उदयगिरि, कोरापुट और मालकन गिरि आदि अंचलों की ढालुआँ भूमि खेती के योग्य मिट्टी से शून्य हो गई है। अतः कन्ध, सउरा, गड़वा और परजा आदिवासी अपनी जीविका चलाने में असमर्थ हैं। इस भाग की सांस्कृतिक और आर्थिक उन्नति के लिए मृत्तिका की रक्षा करनेवाली खेती की प्रथा अपनाना आवश्यक है। हल्दी इस भाग की मुख्य अर्थकरी फसल है। कोरापुट की तरफ तिल या नाइजर एक दूसरी अर्थकरी फसल है।

इन दो अर्थकरी फसलों में से हल्दी में कन्ध, शालुआ पत्तों की खाद का उपयोग करते हैं। दूसरी खाद उन्हें मालूम नहीं। जान लेने पर भी वे उन खादों का उपयोग नहीं कर सकते। नाइजर की खेती में किसी प्रकार की खाद नहीं दी जाती पर यह एक मृत्तिका-क्षयकारी फसल है। अतः नई फसल तथा प्रचलित फसल की खेती वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार होनी चाहिए।

डुडुमा जलप्रपात की बिजली कृषि-उद्योग में प्रधान सहायक होगी। ओड़िशा प्रदेश आलू की खेती के लिए बिहार से बिहन मँगाता है। बिहन की समस्या पूर्वीघाट के पार्वत्य अंचल में आलू की खेती द्वारा दूर हो सकती है। डुडुमा बिजली द्वारा दो-एक शीतल भांडार बनाये जा सकते हैं, जिनमें आलू की बिहन संचित की जा सकती है। अमेरिका अपने उत्तरी भाग में आलू की खेती करता है। आलू को जमीन से निकालते ही बिहन के लिए दक्षिणी भाग में भेजता है। पूर्वी-घाट के कितने ही पहाड़ी भागों में वर्षा काल में भी आलू की उपज हो सकती है। कार्तिक मास में

उस आलू को भूमि से निकालकर बिहन के लिए समतल मैदानों को भेजा जा सकता है। हर्मन के विकासमूलक प्रयोग द्वारा ताजे खोदे हुए आलू के अंकुरित होने के समय को स्थगित किया जा सकता है। यह ताजा आलू अगहन मास में बिहन के रूप में रखा जा सकता है।

पार्लाखेमिडी का सउरा अंचल कमला के लिए प्रसिद्ध है। फुलवाणी, सुवर्णगिरि, पोटांगी और नंदपुर की तरफ संतरा और समशीतोष्ण-मंडलीय फल उत्पन्न किये जा सकते हैं। फल-संरक्षण और कैनिंग शिल्प-विकास द्वारा किसानों को अधिक पैसा मिल सकता है। ओड़िशा प्रति वर्ष संतरे, केले, आम और टिन में बंद फल, जेली, जाम तथा चटनी आदि बाहर से मँगाता है। उत्तरी मालभूमि, पाललहड़ा और बणाई अंचलों में फलों की खेती हो सकती है। महानदी उपत्यका में फलों के लिए उपयुक्त जलवायु है। यहाँ आम, सपेटा, लीची, अंजीर, बेर, अमरूद, संतरा-जातीय फल और केले पैदा हो सकते हैं। इस काम में विकासमूलक संघ स्थापित करके किसानों को कम कीमतों पर कलमी आम के पौधों को जुटाने, जानकार मालियों की सहायता देने तथा फलों के बगीचों को लगाने के लिए पंचायतों द्वारा आर्थिक सहायता देना आवश्यक है।

मालकन गिरि भूभाग उत्तरी तथा दक्षिणी भारत की संगमस्थली है। घास और बाँस यहाँ अधिक परिमाण में मिलते हैं। इस भूभाग की भूमि में घास और बाँस पैदा करके कागज-उद्योग का प्रसार किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने इस प्रकार की खेती के अयोग्य भूमि के संरक्षण तथा धन-प्राप्ति के लिए घास और पाइन पेड़ की खेती की है। १० वर्ष की पर्याय खेती करके तथा घास और बाँस काटकर कागज-उद्योग का विकास किया है। मालकन गिरि अंचल में 'मोटु' जाति की गायें मिलती हैं। इस जाति की गायों की जनन-प्रणाली में विकास करके दुग्ध-उद्योग बढ़ाया जा सकता है। घास, कृषि और दूध उद्योग के साथ-साथ बकरी, भेड़, शूकर और मुर्गी पालन आदि का उद्योग भी बढ़ाया जा सकता है।

कालाहाँडी जिला के काशीपुर अंचल में काफी, मसाला, सुनामकेइ आदि अर्थकरी फसलें उपजाई जा सकती हैं। सुनामकेइ दक्षिण भारत की मुख्य अर्थकरी फसल है। दक्षिण भारत-वर्ष प्रायः ४ हजार ८६ टन सुनामकेइ (Cassia augustifolia) के पत्ते और ८० टन फल फ्रांस, इटली, बेलजियम, बर्मा, सिंहल, जापान, आस्ट्रेलिया एवं संयुक्त राष्ट्र अमेरिका को भेजता है। किसानों को इससे लगभग सात लाख रुपये मिल जाते हैं। सुनामकेइ मृदु विरेचक होती है। यह मद्रास प्रान्त के मदुराई, रामनाथपुर, तिरुचिनापल्ली एवं तिरुनेरवेल्ली जिले में उपजती है। इसे सींच-सींचकर उत्पन्न किया जाता है। इसे कुलथी की खेती में भी मिलाकर उप-जाया जाता है।

प्रति एकड़ पाँच सेर सुनामकेइ का बीज आवश्यक होता है। ५-६ दिनों में बीज अंकुरित होता है। दिसम्बर तक पेड़ में फूल आ जाते हैं, फल लग जाते हैं। प्रति एकड़ ७५० पौंड पत्ते एवं ७५ पौंड फल मिलते हैं। सिंचाई करने से प्रति एकड़ १४०० पौंड सूखा पत्ता एवं १५० पौंड फल मिलता है। सुनामकेइ छुईंजातीय फसल है। अतः इससे मिट्टी की उर्वरता भी बढ़ती है। हीराकुद की नहरों से सींचे जानेवाले भूभाग में भी यह पैदा की जा सकती है।

रायगड़ा और नवरंगपुर की मिट्टी और जलवायु गन्ने की खेती के लिए अनुकूल है। रायगड़ा में सिर्फ एक ही चीनी का कारखाना है। गन्ने की खेती के प्रसार के द्वारा इन्द्रावती और कोलाबा नदी की उपत्यका में एक और चीनी का कारखाना चलाया जा सकता है।

कालाहाँडी जिले की तेल, सगड़ा, वाहाड़ा आदि नदियों के अंचल में गेहूँ की खेती का प्रसार किया जा सकता है। भारतीय कृषि-गवेषणा-केन्द्र की तरफ से गेरुआ-प्रतिरोधक गेहूँ उत्पन्न किया गया है। मध्य प्रदेश के कई किस्म के गेहूँ भी इस भूभाग में पैदा किये जा सकते हैं। ओड़िशा में शिक्षा और सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ गेहूँ का भी उपयोग बढ़ता जा रहा है। अतः आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रतिवर्ष बाहर से गेहू मँगाना पड़ता है। महानदी उपत्यका और पूर्वी भूभाग के पार्वत्य अंचल में गेहूँ की खेती होने पर उसे बाहर से नहीं मँगाना पड़ेगा। इस इलाके के अन्तर्गत जातीय संप्रसारण योजनावाले अंचल की छोटी सिंचाई योजना गेहूँ, आलू, शीतकालीन साग-सब्जी, गन्ना तथा कपास की खेती में काफी सहायक होगी।

समुद्रीय तटवर्त्ती अंचल—हीराकुद बाँध योजना से कटक, पुरी जिले की त्रिकोण भूमि में १८ लाख ६७ हजार एकड़ भूमि की सिंचाई की व्यवस्था हो सकती है। यह भूभाग बाढ़ और सूखे का क्रीड़ाक्षेत्र है। हीराकुद बाँध योजना इसमें अवश्य ही परिवर्तन लायेगी। नहरी क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्यान्य भू-भाग पहले एक-फसली अंचल ही था। सिंचाई द्वारा इसे दो-फसली और बहुफसली अंचल बनाया जा सकेगा। कटक जिले में सारी कृषि-भूमि का ३१ सैं०, पुरी में १३ सैं०, बालेश्वर में ८ सैं० एवं महानदी उपत्यका अंचल में ५ सैं० भूमि में दो-फसली खेती होती थी। अब त्रिकोण भूमि की सिंचाई योजना द्वारा दो-फसली भूमि का परिमाण ५० सैं० बढ़ जायेगा।

समुद्र-तटवर्ती जिलों में सारी कृषि-भूमि के ९० सैं० भाग में धान होता है। वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा इस धान की भूमि में से २० सैं० घटाकर भी धान की वार्षिक उपज अक्षुण्ण रखी जा सकती है। इस २० सैं० भूमि में पाट, गन्ना, कपास, दालीय फसल, तेलहन पैदा करके किसान की आमदनी बढ़ाई जा सकती है। राउरकेला के इस्पात कारखाने में खाद पैदा होगी। अतः बहुविध फसल की खेती में इस खाद का उपयोग किया जा सकेगा। किसानों को विज्ञान की जानकारी देने के लिए अनुष्ठान होने चाहिए। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने इस अनुष्ठान को "एक्सटेंशन सर्विस" नाम दिया है। पृथ्वी में यह एक आदर्श बन गया है जो कृषकों के लिए अत्यंत हितकर है। उसकी राय तथा परामर्श के अनुसार कृषि-उन्नति के नये-नये तथ्य मालूम हो जाते हैं। प्रत्येक किसान अपने बाप-दादा के समय की प्रथा के अनुसार खेती करता है। पुरानी प्रथा को छोड़कर नयी प्रथा के अनुसार खेती करने के लिए उसे समझाना-बुझाना आवश्यक है। किसान को अनुप्राणित किये बिना खेती के कार्य में कोई भी सुधार असंभव है। एक्सटेंशन सर्विस की मूल नीति है किसान का व्यक्तित्व स्वीकार करना और उसके खेत में, गोशाला में और घर में नये तथ्यों के प्रयोग द्वारा उसे जानकार बनाना।

इस परिवर्तित खेती की प्रणाली को किसान कितने दिनों में ग्रहण कर सकता है, इस संबंध में वैज्ञानिक विलियम न्यूटन क्लर्क की वाणी उद्धरित करने से हम आसानी से इसे जान सकते हैं।

ओड़िशा की वन-संपत्ति

श्री जी० एन० माथुर

यदि वनों का उचित प्रबन्ध किया जाय तो वे मनुष्यों के लिए अनिवार्य बहुत से कच्चे माल उत्पादन कर सकते हैं जो स्वतः परिवर्तनशील होते हैं। वे खनिज पदार्थों की भाँति नहीं हैं, जो संपत्ति में कम योगदान नहीं करते किन्तु जो लगातार शोषण किये जाने पर समाप्त हो सकते हैं। वे जीवित और संवर्द्धनशील वस्तुओं के बने हैं इसलिए उत्पादनों के असीम पुनर्नवीन होनेवाले साधन हैं। ओड़िशा में इस प्रकार की अमूल्य संपत्ति बड़े परिमाण में है। ओड़िशा के पास ८४५० वर्गमील रक्षित वन, १७४२ वर्गमील रक्षित भूमि और क्षेत्र हैं जिन्हें जंगल के लिए सुरक्षित रक्खा गया है। इनके अतिरिक्त २०७ वर्गमील सुरक्षित (प्रोटेक्टेड) वन हैं तथा ७१२१ वर्गमील असुरक्षित वन हैं जिन्हें खेसरा वा देहाती वन कहते हैं। दिनांक १५-११-५७ को ७ हजार वर्गमील पुरानी जमींदारी के जंगल, जो पहले रेवेन्यू विभाग के अंतर्गत थे, अब वन विभाग को हस्तान्तरित कर दिये गये हैं। इस प्रकार जंगलों के क्षेत्रफल का पूर्ण योग करीब करीब २४५२३ वर्गमील हो जाता है।

क्षेत्रफल

ओड़िशा के ६०१३६ वर्गमील क्षेत्रफल में से २४५२२ वर्गमील वन हैं। इस प्रकार जंगलों का क्षेत्रफल राज्य के समूचे क्षेत्रफल का ४१ प्रतिशत है। जंगलों के क्षेत्रफल का यह प्रतिशत बहुत संतोषजनक प्रतीत हो सकता है किन्तु एक जिले में इसकी अधिकता और दूसरे जिले में इसका बिलकुल अभाव अनेक समस्याएँ खड़ी कर देता है। राज्य में जंगलों का यह विषम वितरण, विशेषतः समुद्री किनारों के जिलों में जहाँ की जनसंख्या ४० प्रतिशत है, ७००० वर्गमील के अरक्षित जंगल हैं जहाँ से रैयत अपनी आवश्यक चीजें निकालते हैं और पुरानी जमींदारियों के जंगल, जो कि अधिक शोषण के कारण करीब करीब ऊसर हो गये हैं, एक निराशापूर्ण चित्र प्रस्तुत करते हैं। केवल तिजारती वन, जो कि रक्षित हैं, राज्य के पूरे क्षेत्रफल के केवल १७ प्रतिशत हैं। राज्य के उत्तरी जिले जहाँ से मुख्य नदियाँ निकलती हैं और जो राज्य की बहुत सी सिंचाई योजनाओं—हीराकुद बाँध—को जल प्रदान करती हैं, वहाँ पहाड़ियों के ढालों को सदाबहार जंगलों से ढके रखना अत्यावश्यक है। यदि संभव हो तो इस क्षेत्र में अधिक भूमि, समूची जमीन का लगभग ७ प्रतिशत, वन के लिए रखना चाहिए।

उपरोक्त उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए हमारा प्रस्ताव है कि वर्तमान जंगल के क्षेत्रफल को नववृक्षारोपण द्वारा अधिक बढ़ाना चाहिए।

वनों के भेद

मोटे तौर पर इस राज्य में मुख्य रूप से तीन प्रकार के जंगल देखे जाते हैं। वे ये हैं—

(१) **उत्तरी उष्णकटिबंधीय अर्द्धसदाबहार जंगल**—इस प्रकार के जंगल समुद्रतटीय जिलों—गंजाम, पुरी, कटक, ढेंकानाल और मयूरभंज के कुछ हिस्से—में पाये जाते हैं। समुद्र के निकट होने तथा वायुमण्डल में अधिक वाष्प होने के कारण यहाँ पर सदाबहार किस्म की वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। इस प्रकार के वन में मुख्य लट्ठेवाले पेड़ (टिंबर) अर्जुन, आम, केंडु, चंपा, विस्कोफिया जवानीसिया, राई और अशोक के हैं। इनमें छिटफुट दाबा बाँस भी पाये जाते हैं। इस प्रकार के जंगलों में अधिक लट्ठे नहीं उत्पन्न होते और न उनका क्षेत्रफल ही अधिक है।

(२) **उत्तरी उष्णकटिबंधीय सार्द्र पतझड़वाले साल के जंगल**—इस प्रकार के जंगल अधिक क्षेत्रफल में हैं और अधिक मूल्यवान् भी हैं; क्योंकि इनमें बहुमूल्य साल अधिक मात्रा में पाया जाता है। इस प्रकार का जंगल राज्य के उत्तर-पश्चिम में पाया जाता है और मयूरभंज, केंदुझर, सुंदरगड़, गंजाम, कालाहाँडी और कोरापुट जिलों में फैला हुआ है। वृक्षों के मुख्य भेद—साल, आसन, बीजा, हल्दू, हंगड़ा, धौरा हैं। बाँस के भी जंगल बहुत अधिक क्षेत्रफल में हैं।

(३) **उत्तरी उष्णकटिबंधीय शुष्क पतझड़वाले जंगल**—इस प्रकार के जंगल राज्य के और भी पश्चिमी भाग में पाये जाते हैं जहाँ का जलवायु और भी शुष्क है। बहुमूल्य लट्ठेवाले पेड़-सखुआ छिटफुट टुकड़ों में स्वाभाविक रूप में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमुख पेड़ साल, आसन, धौरा, केंदु, करदा और हल्दू के हैं। बाँसों के जंगलों के भी बड़े टुकड़े पाये जाते हैं। इस प्रकार के जंगल कोरापुट, कालाहाँडी और बलांगीर जिलों में पाये जाते हैं।

इन तीनों प्रकार के मुख्य जंगलों के अतिरिक्त बहुत से सहायक ढंग (सब्सिडियरी टाइप) के जंगल हैं जो (स्मॉल पैचेज़) छोटे टुकड़ों में सीमित हैं। उनमें से कुछ खालिस हैं और कुछ मिश्रित हैं। इस प्रकार के जंगल महानदी, देवी और वैतरणी नदियों के मुहानों पर डेल्टाई जंगलों के रूप में और बालासोर, कटक, गंजाम और पुरी जिलों के समुद्रतटीय साल के जंगलों के टुकड़े और काँटेदार झाड़ियों के सदाबहार जंगल देखे जा सकते हैं। डेल्टाई जंगल, जो कि क्षेत्रफल में ५६००० एकड़ हैं, अभी तक उपेक्षित रहे हैं। किंतु वे बहुत ही लाभदायक हैं, क्योंकि उनमें कुछ बहुमूल्य वस्तुएँ पाई जाती हैं। उनका उर्वर, सघन और बसे मैदान के निकट होना उनकी आवश्यकता को और बढ़ा देता है, क्योंकि पड़ोस की लट्ठे और ईंधन की माँग को ये ही पूर्ण करते हैं।

प्रबन्ध

प्रबन्ध की सुगमता के लिए राज्य का वन-प्रबन्ध इकाइयों में बाँट दिया गया है। इन

प्रबन्ध-इकाइयों को वन-प्रभाग कहते हैं, जो कि एक प्रभागीय वन-अधिकारी (डिवीजनल फारेस्ट आफिसर) के जिम्मे होता है। प्रत्येक प्रभाग रेंजों में बँटा हुआ है और प्रत्येक रेंज फारेस्ट बीट और फारेस्ट गार्डबीट में बँटे हैं। राज्यों के विलयनीकरण के पूर्व वन-अधिकृत प्रदेश की दशा अच्छी नहीं थी। हमारे पास केवल ९ वन-प्रभाग थे और १३९६ वर्गमील संरक्षित, २०९ वर्गमील सीमांकित सुरक्षित और १२६९ वर्ग संरक्षित भूमि थी। राज्यों के विलयन के साथ संरक्षित वनों का क्षेत्रफल १०१६७ वर्गमील बढ़ गया और अब २७ टेरिटोरियल डिवीजन तीन सर्किल कंजर्वेटरों के अधीन हैं जो संरक्षित और दूसरे वनों के प्रबंध की देखरेख करते हैं। वन-संपत्ति के अनुसंधान-विकास और योजना के लिए एक विकास कंजर्वेटर भी है जिसके अंदर एक रिसर्च डिवीजन (अनुसंधान प्रभाग, तीन वर्किंग प्रेन्स कार्यकारी योजना प्रभाग, एक उपभोग प्रभाग (युटिलाइजेशन, डिवीजन) और एक वनरोपण प्रभाग है। इस प्रकार हम लोगों के पास एक दृढ़ आधारित संगठन है जिसके शीर्ष पर चीफ कंजर्वेटर आव फारेस्ट हैं जो प्रबंध और राज्य में बहुत दूर तक फैली हुई वन-संपत्ति की देखभाल करते हैं।

प्रबन्ध का उद्देश्य

दूसरा विचारणीय विषय है प्रबन्ध का उद्देश्य। किस दृष्टि से राजकीय वन इतने श्रम से रक्षित और प्रबन्धित होते हैं? वन मुख्यतः वर्तमान और भावी पीढ़ी की स्वार्थ-सिद्धि की पूर्ति के लिए रक्षित किये जाते हैं। देश की प्राकृतिक और जलवायु-संबंधी स्थितियों की स्थिरता कायम रखने के अतिरिक्त स्थानीय जनता के ईंधन, छोटे लट्ठे, कृषि संबंधी औजारों और चरागाह-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जंगलों को भट्ठों और अन्य कच्चे सामानों का लगातार उत्पादन करना चाहिए ताकि हमारे उद्योगों और रेलवे को भी आवश्यक सामान मिलते रहें और उन जंगलों का यथोचित विकास भी होता रहे। राष्ट्र की विभिन्न प्रकार की माँगों और आवश्यकताओं की शाश्वत पूर्ति के लिए जंगलों का विकास इस सिद्धांत पर होना चाहिए कि वे लगातार उत्पादन करते रहें। इस सिद्धांत के अनुसार हमें उतना ही जंगल काटने की अनुमति है जितना जंगलों का वार्षिक उत्पादन है ताकि हमारी पूँजी और वर्धनशील भंडार ज्यों का त्यों कायम रहे। प्रत्येक किस्म के पेड़ का वार्षिक उत्पादन बहुत अधिक परिमाण में बढ़ाना संभव नहीं है। इस बात का पता लगाया गया है कि किसी क्षेत्र में शोषण करने योग्य किन-किन पेड़ों की वार्षिक वृद्धि हुई है और वे ही पेड़ जंगल से हटाये जाते हैं।

जंगलों का शोषण—वैज्ञानिक ढंग से जंगलों के प्रबन्ध में शोषण का आधार यह होता है कि हम इस बात का पता लगा लें कि किसी वनक्षेत्र या वन विभाग के साथ आगामी १० या १५ वर्षों में हम कौन-कौन से काम करेंगे, पूरे विवरण के साथ इसकी एक योजना बना लें। यह योजना हमें केवल यही नहीं बताती कि कौन-कौन सी वस्तुएँ वनों से लगातार हटाई जायँ बल्कि यह भी बताती है कि वे कहाँ से हटाई जायँ और कहाँ तथा किस प्रकार से उस क्षेत्र को पुनर्जीवित करें जहाँ से शोषण किया गया है। हमारे वनों का शोषण मुख्यतः व्यक्तिगत अधिकरणों (एजेंसियों)

द्वारा होता है—उन खरीदारों द्वारा जो खुले नीलाम में वार्षिक खरीद करते हैं। विभाग द्वारा उन्हीं क्षेत्रों का शोषण होता है जहाँ नीलाम में बोली बोलनेवाले नहीं आते या यदि आते भी हैं तो उनकी बोली उचित कीमत की नहीं होती। राज्य में कागज-उद्योग को प्रोत्साहन देने और कागज की मिलों की स्थापना करने के लिए बाँसों के जंगलों को, लम्बी अवधि के लिए, बिना किसी प्रकार की प्रतियोगिता के मिलों के हाथ ठीके पर दे दिया जाता है।

हमारे वनों की उपज

हमारे जंगलों की मुख्य उपज लकड़ी है जिसकी आवश्यकता हमें जन्म से लेकर मृत्यु तक रहती है। हमारे जंगलों में लट्ठे का उत्पादन करनेवाले कई प्रकार के पेड़ हैं, किन्तु आधुनिक उपभोग की दृष्टि से जो वृक्ष अधिक मूल्यवान् समझे जाते हैं और जिनका शोषण किया जाता है उनका वर्णन नीचे दिया जाता है—

सागौन सभी प्रकार की लकड़ियों का राजा है। हमारे राज्य में लगभग ३०० वर्गमील सागौन के वन हैं। प्राकृतिक रूप से इसके जंगल कालाहाँडी, बालांगीर और कोरापुट के जिलों में पाये जाते हैं तथा पुरी, अंगुल, नयागढ़, बालांगीर और कालाहाँडी डिवीजनों में उनकी बृहत् रोपाई की गई है। ये रोपण सफल भी हुए हैं। अभी तक हम लोगों ने ७८००० एकड़ भूमि में सागौन का रोपण किया है। स्वभावतः इसका लट्ठा बहुत टिकाऊ होता है और बहुविध प्रयोगों के कारण इसकी बहुत बड़ी माँग भी है।

साल (सखुआ) का पेड़ बहुत बड़ा होता है और अन्य लकड़ियों से मिश्रित न होकर विशुद्ध रूप में पाया जाता है। हम लोगों के अधिकांश जंगल साल के ही हैं जिससे राज्य को सबसे अधिक आय है। इसका लट्ठा बहुत टिकाऊ होता है और मकानों, पुलों, रेलवे पटरियों आदि सभी प्रकार के निर्माणात्मक उपयोगों में प्रयुक्त होता है।

पिआसल (Piasal) का पेड़ बहुत बड़ा होता है जो सखुये के साथ उगता है। इसकी लकड़ी पीलापन लिये हुए भूरी होती है जिसमें काली धारियाँ होती हैं। यह दरवाजों और खिड़कियों के चौखट, फर्नीचर और स्लीपरों के काम में आता है। इसकी लकड़ी से एक लाल रंग का लासा निकलता है जिसे कीनो कहते हैं।

सहज या **असन** का भी पेड़ काफी बड़ा होता है और आर्द्र स्थल के वनों में अधिकांशतः पाया जाता है। जहाँ साल प्राप्य नहीं है या अधिक महँगा है वहाँ यह भवन-निर्माण और रेलवे स्लीपरों के काम आता है। चूँकि इसकी लकड़ी सूखने पर फट जाती है इसलिए इसका प्रयोग ऐसे स्थानों पर किया जाता है जहाँ बहुत आर्द्रता होती है। इसका पेड़ टसर रेशम के कीड़ों के पालने के काम में भी आता है।

कुरुम का पेड़ बड़ा होता है और जंगली क्षेत्रों में छिटफुट पाया जाता है। इसकी लकड़ी पीली और साधारणतः कड़ी होती है। यह लकड़ी नक्काशी, खिलौनों, बाबिन, तख्ते और रेलवे स्लीपरों के रूप में प्रयुक्त होती है।
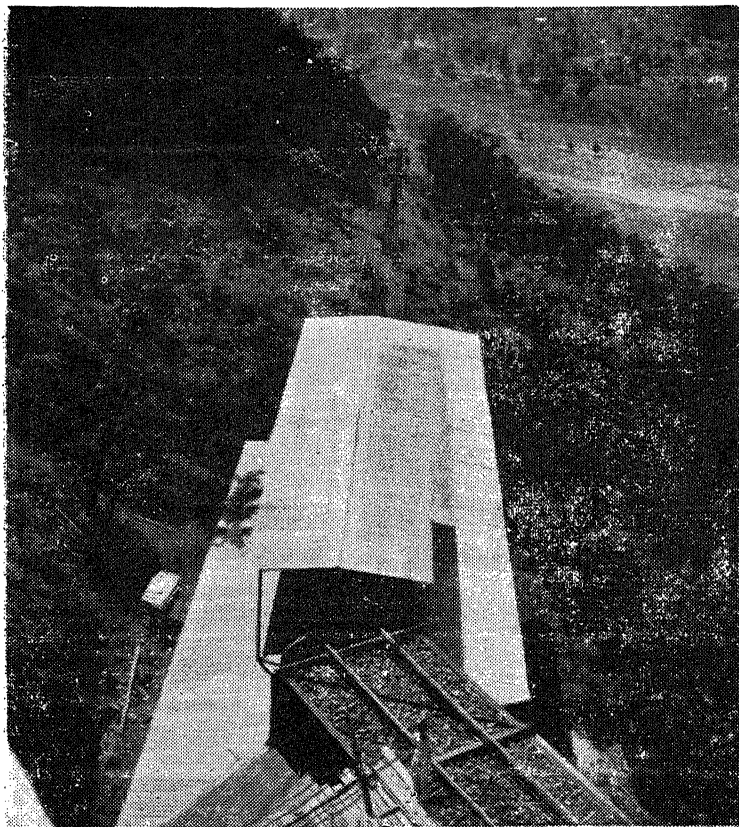
ओड़िशा के पहाड़ी इलाकों से धातुपिण्ड उत्तोलन

निर्यात के लिये रखे गये काठ और बाँस के ढेर

शाल वन
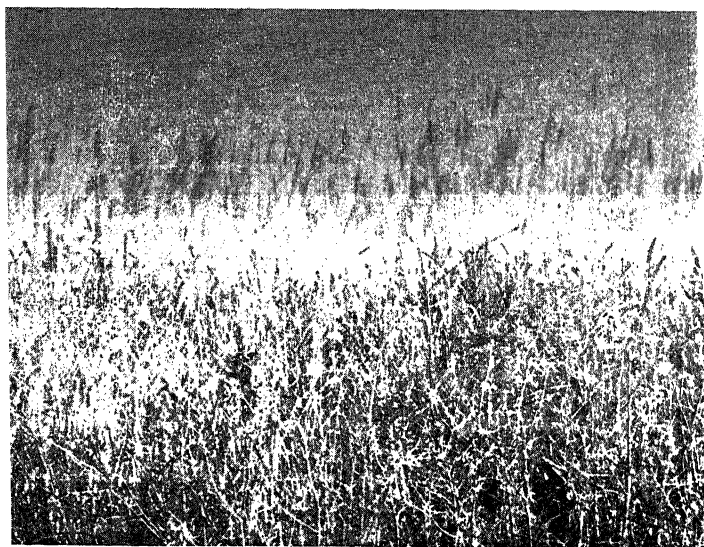
बर्द्धनशील फूलझाड़ू के पौधे

शीशम (सीसो) औसत कद का पेड़ होता है और सूखे स्थलों में पाया जाता है। इसकी लकड़ी कड़ी और टिकाऊ होती है और इसमें सुंदर रवे होते हैं। यह फर्नीचर और गाड़ी के पहिये बनाने के काम आता है।

महुआ का पेड़ बड़ा होता है और उत्तरी जिलों के जंगलों में और बाहर भी पाया जाता है। इसकी लकड़ी कड़ी और टिकाऊ होती है और भवन-निर्माण तथा रेलवे स्लीपरों के रूप में प्रयुक्त होती है। इसका पेड़ अपने फल और फूलों के लिए मूल्यवान् होता है। फूल जानवरों और आदमियों के भोजन के रूप में प्रयुक्त होते हैं तथा इससे शराब भी चुआई जाती है।

गम्हार औसत कद का पेड़ होता है और सब जगह छिटफुट पाया जाता है। इसकी लकड़ी मुलायम और रवेदार होती है। यह साधारणतः तख्ते और फर्नीचर बनाने के काम आती है।

धौरा औसत कद का होता है और पहाड़ियों तथा सूखे स्थलों पर पाया जाता है। इसकी लकड़ी बहुत सुंदर होती है जो खेती के औजार, कुल्हाड़ी के बेंट और मस्तूल बनाने के काम आती है। रेलवे स्लीपरों के रूप में भी इसका प्रयोग होता है।

जाम (जामुन) एक ऊँचे कद का पेड़ होता है जो अधिकतर नालों के किनारे पाया जाता है। इसकी लकड़ी टिकाऊ होती है जो भवन-निर्माण, जमोवट और बैलगाड़ी बनाने के काम आती है। रेलवे स्लीपरों के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

बंधन एक साधारण कद का वृक्ष होता है और छितराया हुआ पाया जाता है। इसकी लकड़ी कड़ी, सुंदर और बहुत टिकाऊ होती है। इसका प्रयोग मकान के खंभों, बल्लों और गाड़ियों के बनाने में किया जाता है।

कंगड़ा का पेड़ समुद्रतटीय जिलों की भूरी मिट्टी में तथा राज्य के पश्चिमी जिलों में, जहाँ इसकी ऊँचाई अधिक होती है, पाया जाता है। इसकी लकड़ी बड़ी कड़ी और टिकाऊ होती है और रेलवे स्लीपरों के काम में आती है।

करला औसतन छोटा होता है और राज्य के सूखे स्थानों में पाया जाता है। इसकी लकड़ी कड़ी, सुंदर और बहुत टिकाऊ होती है। चूँकि इसकी लकड़ी में दीमक नहीं लगते इसलिए गाँवों में बल्लों के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है।

यही भिन्न भिन्न प्रकार की लकड़ियाँ हैं जिनका शोषण अभी किया जा रहा है। राज्य के जंगलों से लट्ठे के रूप में औसतन क्रमशः ८२ लाख और एक करोड़ तिरपन लाख घनफुट लकड़ी उत्पन्न होती है। इनसे औसत वार्षिक आय क्रमशः लट्ठे से ५८ लाख ६२ हजार ४ सौ सत्तर रुपया और ईंधन से १८ लाख ५७ हजार ३ सौ चौहत्तर रुपया होती है।

वनों के लघु-उत्पादन—विभिन्न प्रकार के लट्ठों और ईंधन की लकड़ियों के अतिरिक्त हमारे जंगल अन्य कई प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिन्हें हम लघुवन उत्पादन (माइनर फारेस्ट प्रॉडक्ट) कहते हैं जिससे राज्य को औसतन ४६०३३७० रु० वार्षिक की आय होती है। लघुवन उत्पादन की वस्तुओं का वर्णन निम्नांकित है—

(क) पशु-संबंधी उत्पादन (एनिमल प्रॉडक्ट)

(१) **हाथीदाँत**—यह उन जंगली हाथियों से प्राप्त होता है जो या तो मर जाते हैं या खतरनाक घोषित किये जाने पर मार दिये जाते हैं। इससे ढाई मन हाथीदाँत प्राप्त होता है जिसकी वार्षिक आय २४८८ रु० होती है।

(२) **खाल, सींग और चमड़े**—ये उत्पादन कुछ विभागों में ठीके पर दे दिये जाते हैं जिनसे १२८०५ रु० की आय होती है और उपज ५०० मन होती है।

(३) **तसर के कोये**—ये असन के पेड़ों पर पाले जाते हैं जिनसे व्यापार के लिए तसर का तागा प्राप्त किया जाता है। व्यक्तिगत अधिकरणों (एजेंसियों) द्वारा इनकी खेती की जाती है और वनभूमि में उगाये गये पेड़ों के लिए वन विभाग एक साधारण रकम वसूल करता है। सालाना उपज ७८२३ काहाण की होती है और आय ३३६२८ रुपये की है। इस व्यापार के विकास की बड़ी संभावनाएँ हैं।

(४) **लाह**—इसके छोटे-छोटे कीड़े जब कुसुम, पलाश और बेर के पेड़ों पर लगा दिये जाते हैं तो उनकी शाखाओं को छाँट कर उन कीड़ों के मेल से लाह प्राप्त किया जाता है। चपड़ा और बटन बनानेवाला लाह इसी लाह से बनता है। कुछ वर्षों पूर्व इस राज्य से बहुत अधिक परिमाण में लाह उपजाया जाता था। उत्पादन केन्द्र मयूरभंज, केउंझर और कालाहांडी थे, किंतु अब उत्पादन बहुत लड़खड़ा गया है। केवल मयूरभंज में ५० हजार मन से अधिक लाह उत्पन्न होता था। राज्य सरकार के पास इस समय दो लाह पालने के खेत हैं। एक केऊंझर और दूसरा कालाहांडी डिवीजन में। रायरंगपुर डिवीजन में परिगणित जातीय और ग्रामीण कल्याण योजना के अंतर्गत भी लाह तैयार किया जाता है। इस राज्य का बहुत बड़ा सौभाग्य है कि यहाँ बहुत से कुसुम के पेड़ हैं जो लाह के कीड़ों के पालने के लिए बहुत ही उपयुक्त हैं किंतु दुर्भाग्य से निर्धन परिगणित जातियों ने इसकी गहरी खेती अभी तक नहीं अपनाई है। यहाँ पर इसके विकास का बहुत ही बड़ा क्षेत्र है और ऐसा विश्वास है कि फार्मों से पालतू लाह के कीड़ों की प्राप्ति पर अधिकाधिक लोग इसकी खेती करने को आगे बढ़ेंगे। गरीब आदिवासियों की दशा सुधारने में लाह का उत्पादन बहुत बड़ा सहायक सिद्ध होगा। लाह बिना अधिक कठिनाई के उत्पन्न किया जा सकता है। इससे आय भी अच्छी हो सकती है, क्योंकि इसका दाम भी अच्छा है। यह अत्यंत प्रसिद्ध डालर-उपार्जक है। इसकी वृद्धि केवल उन लोगों की ही दशा नहीं सुधारेगी, जो इसकी खेती करेंगे बल्कि अत्यंत आवश्यक विदेशी विनिमय को कमाकर देश को भी सहायता पहुँचायेगी। राज्य में एक लाह-फैक्ट्री के स्थापन की अत्यंत आवश्यकता है। ऐसी फैक्ट्री के प्रारंभ करने में यहाँ की कम उपज एक बाधक के रूप में है। केन्द्रीय सरकार का लाह विकास स्कंध रायरंगपुर डिवीजन में पालतू लाह के फार्म का केन्द्र स्थापित करने जा रहा है। इस समय वार्षिक उपज २४०० मन और आय ३९५५५ रु० है।

(ख) बाँस और बेत

(५) **बाँस**—अनुमान है कि राज्य में २६७२ वर्गमील में बाँस के जंगल हैं। स्थानीय जनता की माँग की पूर्ति करते हुए एक लाख टन बाँस तीन कागज की मिलों में कागज बनाने के काम आते हैं। इस समय हमारे पास एक कागज की मिल ब्रजराजनगर में है और दो मिलें और स्थापित करने जा रहे हैं—एक चौद्वार में दूसरी कसिंगा में। चौद्वार मिल में काम बहुत आगे बढ़ चुका है। आशा है कि अगले वर्ष इसमें उत्पादन आरंभ हो जायगा। इस राज्य में वनों से बाँस की उपज ३·७५ लाख टन होगी। इस समय बाँसों से वार्षिक आय ८ लाख १८ हजार आठ सौ अड़तीस रुपया है।

(६) **बेत**—समुद्रतटीय जंगलों में सीमित मात्रा में घटिया किस्म के बेत पाये जाते हैं। इसकी वार्षिक उपज १५ मन और वार्षिक आय ५०० रु० है।

(ग) औषधियाँ

(७) **आरारोट**—यह मरंटाअरुन्डिनेशिया नामक एक पत्तीदार मूल से प्राप्त किया जाता है और दवा तथा भोजन के काम में आता है। इसकी वार्षिक उपज ६८ मन है। यह मयूरभंज, कालाहांडी तथा कोरापुट जिलों में पाया जाता है। वार्षिक आय ३११ रु० है।

(८) **इमली**—इसका पेड़ खुले खेसरा बनों में गाँव के निकटवर्ती ऊसर जंगलों में और रक्षित जंगलों के भीतर उजाड़ गाँवों में पाया जाता है। इसकी वार्षिक उपज २२ हजार मन है और आय ३० हजार रुपये। यह अधिकतर राज्य के दक्षिणी जिलों में ही उपजाया जाता है, क्योंकि पड़ोसी आंध्र राज्य में इसकी बड़ी माँग रहती है।

(९) **कुचिला-बीज**—यह स्ट्रिकनांस नक्स वोमिका नामक पौधे का बीज होता है और दवा के काम आता है। यह समुद्रतटीय जिलों में पाया जाता है। इसकी वार्षिक उपज १६१४ मन और वार्षिक आय २५४० रु० है। कीमत कम होने के कारण हाल में इसकी उपज भी कम हो गई है। हम उचित समय में इसकी उपज बढ़ाने की आशा करते हैं।

(१०) **मधु (शहद)**—यह जंगल में रहनेवाली परिगणित जातियों के द्वारा उन मधु-मक्खियों के छत्तों से निकाला जाता है जिन्हें मधुमक्खियाँ जंगली पेड़ों और गुफाओं की शिलाओं पर लगाती हैं। वार्षिक उपज ५५३ मन है और अधिकतर मयूरभंज से ही आती है। इससे रायल्टी के तौर पर ३०५० रु० वार्षिक आय होती है। इस साधन से आय में वृद्धि करने और उन अवांछनीय खरीददारों को दूर करने के लिए, जो मधु इकट्ठा करनेवाली गरीब परिगणित जातियों का शोषण करते थे, इस साल विभाग की ओर से ही मधु इकट्ठा किया गया।

(११) **महुए का फूल**—इस राज्य में जब तक महुआ के नियंत्रण की सत्ता चालू थी तब तक बहुत आय होती थी किंतु अब जब कि महुये के फूलों के आवागमन में कोई रुकावट नहीं

रह गई, यह चोरी से बहुत मात्रा में बाहर भेजा जाता है। तो भी इसकी वार्षिक उपज २९१४७ मन और आय १९६१३ रु० है। इसका प्रयोग शराब चुआने के लिए होता है।

(१२) **मार्किंग नट**—यह सीमीकार्पस अनाकार्डियम पौधे का बीज है। इसकी वार्षिक उपज ५५० मन और आय ४७० रु० है।

(१३) **सर्पगंधा**—यह रौओलफिया सर्पेन्टाइना नामक पौधे की जड़ है। इससे अल्कलायड रिसर्पोपाइन नामक दवा बनाई जाती है। इसका प्रयोग प्रमेह की दवा के रूप में होता है। ओड़िशा में एक रिसर्पाइन फैक्ट्री के स्थापित करने का प्रस्ताव है। इसकी जड़ कोरापुट और कालाहांडी जिलों में अधिकता से पाई जाती है। १९५५–५६ में कालाहांडी में १८६ मन जड़ इकट्ठी की गई थी जिसकी राजकीय आय १३१६५ रुपये थी।

(घ) रेशे और रेशम के कोए

(१४) **सियाली लता**—बौहिनिया बाहली नामक लता से यह मजबूत रेशा निकलता है जिसका प्रयोग कई कार्यों में किया जाता है। इसके पत्ते भी पत्तल के रूप में बेचे जाते हैं। इसके रेशे की वार्षिक उपज १०९४० मन और आय ३८९१ रु० है।

(च) चारा और चरागाह

(१५) **चराई का शुल्क**—पशुओं के लिए ये जंगल चरागाह हैं किंतु अच्छी चराई के लिए आवश्यक है कि किसी भी क्षेत्र में चरनेवाले जानवरों की संख्या सीमित हो। इस राज्य में बहुत अधिक जानवर होने और रक्षित जंगलों में पशुओं को ले जाने की जानवरों के मालिकों की इच्छा के कारण इन जंगलों में बहुत ही कम चरागाह हैं। यह अनुभव करना चाहिए कि किसी क्षेत्र में प्रवेश करने वाले पशुओं की संख्या सीमित होने पर ही उत्तम चराई हो सकती है। रक्षित वनों से चराई का शुल्क औसतन १८७१०४ रु० वार्षिक प्राप्त होता है।

(१६) **पेटभूरी रेशा**—यह रेशा हेलिक्टियर्स इसोरा नामक झाड़ी से उत्पन्न किया जाता है। इसका रेशा पटुए की तरह होता है इसलिए इसे जंगली पाट कहते भी हैं। इसकी वार्षिक उपज ९०८७ मन है। यह कुछ मिलों में पाट के साथ मिलावट करने में प्रयुक्त होता है।

(छ) चारे के अतिरिक्त अन्य घासें

(१७) **फूल झाड़ू**—यह थीसैलोनेमामैक्सिमा नामक घास होती है जो कि घाटियों में नालों के किनारे उगती है। यह कालाहांडी, फुलबानी और कोरापुट जिलों में पाई जाती है। इसी से तिजारती फूल झाड़ू बनती है। इसकी उपज का अधिकांश निर्यात होता है—विशेषत: बंबई में। यह राज्य के उत्पादनों में एक प्रमुख उत्पादन है और इसके विकास में काफी गुंजाइश है। पहले यह ठेकेदारों की एजेन्सियों द्वारा निर्यात होती थी किन्तु अब यह शनैः शनैः सहकारी समितियों के हाथ में जा रही है। यदि ये समितियाँ ठीक ढंग से काम करें तो इस व्यापार की उन्नति

होगी और गरीब जाति के लोग लाभान्वित होंगे। इससे वार्षिक ४ लाख २४ हजार झाड़ू तैयार होती हैं और आय १०२४६५ रु० होती है।

(१८) **सबाई घास**—यह घास बहुत ही अच्छे किस्म के कागज बनाने और रस्सी के लिए कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त होती है। यह उस कटानवाली भूमि में अधिक होती है जहाँ अन्य कोई कीमती पेड़ नहीं लगाये जा सकते। बारीपदा डिवीजन में इसकी रोपाई के लिए ४००० एकड़ का क्षेत्र हम लोगों के पास है। इस घास की सालाना उपज १,२२,७३७ मन और आय १३५०३० रु० है।

(ज) गोंद और रेंजिग

(१९) **गेंदुली का लासा**—यह स्टर्कूलिया उरेंसी नामक पौधे में खरोंच लगाने के बाद निकलता है। यह पेड़ जंगलों के सूखे भाग में पाया जाता है। इसकी वार्षिक उपज ७४८२ मन और आय ३५९९५ रु० है।

(झ) चमड़ा कमाने और रँगाई के पदार्थ

(२०) **मेरा बोलम**—यह हरिदा (टर्मिनैलिया चेबुला) नामक पेड़ का फल होता है। एक लाख ८२ हजार मन से अधिक यह इकट्ठा किया जाता है और इससे वार्षिक आय ६३००० रु० की होती है। ये बीज टैनिन उद्योग में काम आते हैं। कुछ दिनों से इस राज्य में एक टैनिन फैक्ट्री के स्थापित करने की आवश्यकता का अनुभव हो रहा है किन्तु फैक्ट्री अभी तक स्थापित नहीं हो सकी है। छोटे पैमाने पर इस उद्योग की संभावनाएँ हैं।

(२१) **खैर**—खैर के पेड़ (अकैसिया कैचू) से कत्था निकलता है। यह लकड़ी को उबालने के बाद निथार कर बनाया जाता है। इसका पेड़ रक्षित और संरक्षित वनों में पाया जाता है। इससे १,१२,०५० रु० की वार्षिक आय होती है और २१२५ मन कत्था उत्पन्न होता है। निथारने का भद्दा ढंग ही काम में लाया जाता है इसलिए साधारणतः इसका रंग काला होता है।

(२२) **सुनारी छाल**—यह सुनारी (कैशिया फिस्चुला) नामक पेड़ की छाल होती है। इसकी छाल का उपयोग टैनिन उद्योग में होता है। इसकी वार्षिक उपज २१ सौ मन और आय ३४९७ रु० है।

(ट) वनस्पति तेल और तेलबीज

(२३) **कोइना**—(महुआ का बीज) यह महुए का फल होता है और इससे तेल निकाला जाता है। इसकी वार्षिक उपज १९२१७ मन और आय ६१८९ रु० है।

(ठ) पत्तियाँ

(२४) **केंदू का पत्ता**—यह केंदू नामक पेड़ का नया पत्ता होता है जिसे बीड़ी बनाने के लिए इकट्ठा किया जाता है। इसके इकट्ठा करने का मौसम फरवरी-मार्च में शुरू होता है और तीन-चार महीनों तक चलता है। राजकीय और व्यक्तिगत फार्मों से ठेकेदार पत्तियों के इकट्ठा करने का काम करते हैं जो ठेके पर दी गई सभी फार्मों के लिए ८५ लाख रुपया वार्षिक देते हैं। इसकी आय का ५० प्रतिशत गाँवों में विकास कार्य के लिए ग्राम-पंचायतें व्यय करती हैं। पत्तियों की वार्षिक उपज २ लाख मन होती है।

(२५) **सियाली के पत्ते**—यह सियाली या बौहीनियावाहली नामक लता की पत्तियाँ हैं जो पत्तल बनाने के लिए दूसरे राज्यों में निर्यात की जाती हैं। यह मुख्यतः कालाहांडी, गंजाम और कोरापुट जिलों में इकट्ठी की जाती हैं। इसकी वार्षिक उपज १३५१७ मन और आय ११३२८ रु० है।

(ड)

(२६) **लघु खनिज द्रव्य**—इसके अंतर्गत सड़क बनाने के उपादान (रोड मेटल) घूटिंग ब्लैक मेटल आदि हैं जो सार्वजनिक निर्माण विभाग को दिये जाते हैं या वे पत्थर के क्वैरी (क्षेत्र) होते हैं जो व्यक्तिगत लोगों, ग्राम-पंचायतों या सहकारी समितियों को ठेके पर दे दिये जाते हैं। इस मद से ५५७०६ रु० की वार्षिक आय होती है।

वन्यजीव—हमारे वनों में कौन-कौन सी चीजें उपजती हैं और कौन-कौन सी चीजें हैं, उन सभी का वर्णन तब तक अधूरा रहेगा जब तक हम अपने वनों में पाये जानेवाले वन्य जीवों का आकलन न कर लें। इनमें हाथी, जंगली भैंसा, विसन बैल, बाघ, चीता, जंगली भालू, नीलगाय, हरिण, साँभर, चौसिंगा, हिरन, काला हिरन तथा अन्य बहुत प्रकार के छोटे-छोटे जीव और पक्षी सम्मिलित हैं। हमारे जंगलों में इन वन्य जीवों की उपस्थिति ने प्रकृति के संतुलन को कायम रखने में बड़ी सहायता की है। इनसे हमारे जंगल पशुप्रेमियों और पर्यटकों के लिए अधिक आकर्षक बने हुए हैं। वन्यजीवों के लिए पहले से बने हुए सेन्चुअरी और राष्ट्रीय पार्क, जो मयूरभंज जिले में स्थापित किये जा रहे हैं, इन वन्य जीवों को समुचित रक्षा प्रदान करेंगे। बाहर के लोग यहाँ आकर इन जानवरों को उनकी प्राकृतिक परिस्थिति में देख सकते हैं। ये वन्य जीव हमारे जंगलों की मनोरंजकता को ही नहीं बढ़ाते बल्कि इनसे, इनकी खाल और चमड़ों को बेचकर तथा आखेट-शुल्क वसूल कर, आय में वृद्धि भी होती है।

वित्तीय दृष्टिकोण—कहा है कि द्रव्य स्वयं बोलता है। ऐसा होने के कारण जंगल की वे विभूतियाँ, जिनसे हमारी भूमि और जल संचित रहते हैं, जिनसे जलवायु की विषमता कम होती है, जो आर्द्रतापूर्ण वायु से जलांश का शोषण करते हैं वे उतने खुले प्रकाशित रूप में हमारे सामने नहीं आती हैं जितना कि राज्य को उसमें आनेवाली आय। केवल आय की दृष्टि से ही वनों की

उपस्थिति और उनका विकास पर्याप्त न्याय्य है। जहाँ तक राज्य की आय के साधनों का संबंध है, इन वनों में उत्पादन आय-कर में निषेध के कारण कमी होने से २ करोड़ रुपये से अधिक की आय बहुत महत्त्वपूर्ण हो गई है। १०—५ वर्षों में वन की आय में जो वृद्धि हुई है वह निम्नांकित आँकड़ों से विदित हो जायगी।

१९५२–५३	—	१८,७७,८०६ रु०
१९५३–५४	—	१,११,१२,१०७ रु०
१९५४–५५	—	१,४२,८७,५४५ रु०
१९५५–५६	—	१,५८,६५,६८३ रु०
१९५६–५७	—	१,८९,४५,६३७ रु०
१९५७–५८	—	२,५७,९७,१९३ रु०

पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत वनविकास—प्रथम पंचवर्षीय योजना में ७ योजनाओं अर्थात् शिक्षण-परिशिक्षण, वनमार्ग का विकास और वृद्धि, निवासस्थान और कूप-निर्माण, वनों का सीमाकरण, नवीन वनरोपण और भूमि-संरक्षण में १७ लाख ३४ हजार रुपये व्यय हुए। उपरोक्त योजना काल में ३१५ फारेस्टगार्ड परिशिक्षित हुए। ४०२ मील नई सड़कें बनीं, ५७ मील की पुरानी सड़कों की मरम्मत हुई। १७६ निवासभवन बनाये गये, २६ कुएँ खोदे गये और संरक्षित वनों की १९८७ मील सीमा निर्द्धारित हुई तथा ८८१ एकड़ लघु वन रोपे गये। भूमि-संरक्षण योजना में भूमि के कटाव की रोकथाम और जमीन की क्षमता का सर्वेक्षण किया गया। योजना के लिए धनराशि, जैसा कि प्रतीत होता है, कम थी। दूसरी पंचवर्षीय योजना में अधिक धन दिया गया। दिये हुए ५७,६९००० रुपये में से ४७७४००० रु० वनशाखा के लिए दिया गया और ५,९५००० रु० भूमि-संरक्षण शाखा के लिए। वनशाखा (फारेस्ट सेक्टर) में १२ योजनाएँ काम में लाई जा रही हैं। आवागमन के लिए अधिक धनराशि लगाई जा रही है। वनमार्गों के लिए १४३१००० रु० नियत हैं। सागौन की रोपाई के लिए ४२७५०० रु०, नेशनल पार्क और आखेटगाह के लिए ४,७९००० रु० जमींदारी-उन्मूलन से प्राप्त जंगलों—Ex-Zamindary Forest—के लिए ९,५०००० रु० रक्खे गये हैं। भूमि-संरक्षण की मद में समुद्रतटीय रेतीली भूमि पर ५९५००० रु० की लागत से झउआ (Casuarina) और काजू (Cashewnut) की बड़े पैमाने पर रोपाई की जा रही है। योजना का लक्ष्य अभी भी दूर है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ६६४ मील नई सड़कों के निर्माण, २१० मील पुरानी सड़कों की मरम्मत, ८१०५ एकड़ भूमि में सागौन की रोपाई और ४२६७ एकड़ भूमि में झउआ की रोपाई का लक्ष्य किया गया है। योजना के प्रथम दो वर्षों में कार्य और व्यय की प्रगति संतोषजनक रही है और विश्वास है कि लक्ष्य पूरा कर लिया जायगा। हमारे राज्य में अगम्य स्थानों में पहुँचने और बड़े पैमाने पर रोपाई के लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता है। ग्रामीण वनों को स्थानीय जनता की माँग की पूर्ति के पुनःस्थापन को भी जोरों के साथ हाथ में लेना चाहिए।

वन-संपत्ति का संरक्षण—ऊपर के पैराग्राफों से प्रकट है कि वन हमारी एक बहुत ही शक्तिशाली संपत्ति है जिसे हम लोग किसी भी मूल्य पर व्यर्थ में बरबाद नहीं होने दे सकते। उद्योगों का विकास, रेल और सड़क इन दोनों प्रकार के आवागमन के साधनों की उन्नति, ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युत् का प्रसार जो हमारी पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित किये गये हैं, हमारे जंगलों के प्राप्त साधनों की ओर बहुत अधिक झुकेंगे। इनके अतिरिक्त जनसंख्या और पशुसंख्या की लगातार वृद्धि और उनकी लट्ठे, ईंधन, खेती के औजारों और चारों की आवश्यकताओं की पूर्ति भी करनी है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हम अपने जंगलों को—चाहे जिस किसी अवस्था में हो—इस प्रकार संरक्षित करना है ताकि वैज्ञानिक प्रबन्ध के अंतर्गत जनता की माँगों की पूर्ति के लिए लगातार बढ़ने वाली उपजों की मात्रा बढ़ती जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्नांकित कार्य करने चाहिए—

१—आजकल कृषि के लिए जो नई भूमि अधिकृत की जा रही है उस पर कड़ाई के साथ रोक लगानी चाहिए। वन के किनारे की जो भूमि खेती के लिए दी जाती है उससे उद्देश्य की पूर्ति भी नहीं होती, क्योंकि १ या २ वर्ष तक सूखी खेती करने के पश्चात् खेत छोड़ दिये जाते हैं, जिनमें खर-पतवार उग आते हैं। अब वह स्थिति आ गई है जब कि जंगलों की भूमि को लगातार अधिकृत करने पर उसका प्रतिफल भूमिक्षय और घोर जलप्लावन होगा।

२—आदिवासी लोग वनक्षेत्रों की अधिक भूमि पर "पोदू" की खेती करते हैं, उन पर भी नियंत्रण करना चाहिए और क्रमशः बंद कर देना चाहिए। उनका यह काम जंगलों के अस्तित्व के लिए बहुत बड़ा खतरा है। जिस क्षेत्र को वे "पोदू" की बोवाई के बाद छोड़ देते हैं उसे संरक्षण में लाकर उसमें वृक्ष रोपने चाहिए।

३—वन से प्राप्त आय का अधिकांश प्रतिशत संरक्षित वनों के सुधार के लिए व्यय करना चाहिए ताकि आजकल इसकी वृद्धि में जो कमी हो रही है उसकी पूर्ति भरपूर और पूर्णता के साथ हो सके। हम अपने वनों की रक्षा के लिए आय का केवल २४ प्रतिशत ही व्यय कर रहे हैं। अपने जंगलों के विकास के लिए अधिक मात्रा में रोपाई करना बहुत ही आवश्यक है।

४—दावानल, जो कई कारणों से उत्पन्न हो जाता है, प्रतिवर्ष हमारे वनों के आधे से अधिक भाग में बहुत ही अधिक क्षति पहुँचाता है। यदि अपनी वन-संपत्ति की रक्षा करनी है तो जनता का हार्दिक सहयोग आवश्यक है। वार्षिक दावानल के कारण पेड़ खोखले और विकृत हो जाते हैं और नई पीढ़ी के जो नये पेड़ होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं।

५—हमारे खुले वनों का पुनः रोपण चराई के कारण बड़े खतरे में पड़ गया है। ग्रामीण लोग बहुत से अनावश्यक पशु केवल गोबर के लिए पालते हैं। इन जानवरों की चराई वन-क्षेत्रों में होती है। ये पैरों से कुचल कर और पल्लवों को चबाकर वन की उपजने वाले नई पीढ़ी के पौधों को बहुत नुकसान पहुँचाते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि बस्तियों के निकट हमारे सभी खुले वन अलाभकर बन गये हैं। ग्रामीणों को इस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए ताकि वे अनावश्यक पशुओं को न पालें और क्षेत्रों में बारी-बारी से चराई की प्रथा चलाई जाय।

६—कटानवाले खेसरा और जमींदारियों के बाहरवाले वनों की सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए और एक वैज्ञानिक प्रबन्ध के अंतर्गत उनका काम होना चाहिए। उनमें जो उचित क्षेत्र हैं उन्हें शीघ्रातिशीघ्र संरक्षित कर लिया जाय और रोपाई के द्वारा उनके भंडार की वृद्धि करनी चाहिए।

७—जहाँ पर लट्ठों और ईंधन के लायक लकड़ियों की कमी है—जैसा कि आज के समुद्र-तटीय जिलों में है—समुचित क्षेत्रों में शीघ्र बढ़नेवाले ईंधन के पेड़ों की रोपाई कर देनी चाहिए। इस प्रकार से बहुत सा गोबर, जो कि चूल्हे में जाता है वह, अब खेतों के उर्वर बनाने में प्रयुक्त होगा। बहुत ही अधिक क्षेत्रों में, बड़े परिमाण में, झउआ की रोपाई कर इस दिशा में कार्य प्रारंभ कर दिया गया है।

यदि उपरोक्त कदम उठाये जायँगे तो वनों के प्रयोग में जो आज अपव्यय हो रहा है उसमें पर्याप्त कमी हो जायगी। इस समय तो जनता इसकी सराहना नहीं कर सकती किन्तु ये कदम अत्यावश्यक हैं। यदि एक बार ग्रामीणों को वन के प्रति चैतन्य बना दिया जाय और उन्हें यह अनुभव करा दिया जाय कि इन कड़ाइयों का उद्देश्य क्या है, तब वे इनकी प्रशंसा करेंगे और तभी वे जंगल के संरक्षण में राज्य के सहायक होंगे; क्योंकि ये वन उनके मूल उद्योग अर्थात् कृषि के लिए बहुत आवश्यक हैं। मुझे दृढ़ विश्वास है, इस राज्य के ग्रामीण और कृषक वनों को कृषि की धात्री की तरह समझने लगेंगे जिसे यदि उचित संरक्षण दिया जाय और ठीक तौर से रक्खा जाय तो वे कृषि का उसी प्रकार उदारतापूर्वक लालन-पालन करेंगे, जैसे सभी माताएँ करती हैं।

ओड़िशा की खनिज सम्पत्ति

डॉ० बी० डी० पृष्टि

जहाँ तक खनिज पदार्थों के पाये जाने का संबन्ध है, भारतवर्ष में ओड़िशा का स्थान प्रमुख है। इस प्रदेश में देशी रियासतों के मिल जाने के बाद खनिज पदार्थों की मात्रा अत्यधिक बढ़ गई है। परिशिष्ट (१) के देखने से विदित होगा कि सारे प्रान्त में कौन कौन से खनिज पदार्थ हैं और कितने क्षेत्रफल में खोदाई के लिए ठीके पर उठाये गये हैं। अभी तक कुल २५९·८३७ वर्गमील में खनिज पदार्थों का निश्चित रूप से पाये जाने का पता चला है। वे मुख्य खनिज पदार्थ जिनका ठीका अभी तक दिया जा चुका है लोहा, मैंगनीज, कोयला, क्रोमाइट, ग्रेफाइट, लाईम स्टोन तथा डोलमाइट, असबेस्टास, फायरक्ले, चीनी मिट्टी तथा अबरक हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य उपखनिज पदार्थ जैसे बैलस्ट, मोरम, घूटिंग और लैटराइट इत्यादि भी अनेक जिलों में खोदे जा रहे हैं। परिशिष्ट (२) में इस प्रदेश के खनिज पदार्थों की वार्षिक आय और उनका बाजार-भाव दिया गया है। मालगुजारी के रूप में प्राप्त हुई इन खानों की वार्षिक आय, जो रियासतों के मिलने के पूर्व केवल ५००००) थी, सन् १९५६–५७ में बढ़कर, बीस लाख रुपये हो गई है। परिशिष्ट (३) के देखने से विदित होगा कि गत कुछ वर्षों से वार्षिक आय किस प्रकार धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। यद्यपि ओड़िशा प्रदेश में बहुमूल्य खनिज पदार्थों का बाहुल्य है फिर भी विस्तारपूर्वक तथा समुचित रूप से इनकी खोज नहीं हुई है। अनेक स्थल खण्ड ज्यों के त्यों पड़े हैं और प्रारम्भिक भूगर्भिक जाँच-पड़ताल भी नहीं हुई है, जो खनिज पदार्थों के खोजने का प्रथम चरण है। यह इतनी बृहत् समस्या है कि जियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया तथा इण्डियन ब्यूरियो आफ माइन्स, जिन्हें इस कार्य का भार सौंपा गया है, गतवर्ष पूरे क्षेत्रफल के केवल दस प्रतिशत भाग में ही प्रारम्भिक जाँच-पड़ताल कर सके हैं। जियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया तथा इण्डियन ब्यूरियो आफ माइन्स के कार्य की पूर्ति के लिए प्रान्तीय खान-विभाग के अन्तर्गत एक खोदाई विभाग स्थापित किया गया जिसका काम उन स्थानों में, जिनकी नाप-जोख अभी तक नहीं हुई है, स्थूल रूप से खनिज पदार्थों का पता लगाने के अतिरिक्त पूर्ण रूप से खोदाई करके खनिज पदार्थों का पता लगाकर यह भी देखना है कि भिन्न भिन्न प्रकार के कारखाने कैसे खोले जा सकते हैं। दूसरी पंचवर्षीय योजना में प्लानिंग कमीशन ने खनिज व्यवसाय के विस्तार को प्रधानता दी है और प्रान्तीय सरकार ने भी इसे स्वीकार किया है, अतः यह आशा की जाती है कि खनिज-व्यवसाय की वृद्धि के लिए जो योजनायें प्रस्तुत की जायँगी उनके फलस्वरूप इस प्रान्त में और भी अधिक खनिज पदार्थों की खोज होगी तथा यहाँ की खनिज सम्पत्ति बढ़ जायगी। यद्यपि इस

प्रदेश के खनिज पदार्थों की विस्तारपूर्वक और समुचित रूप से खोज न होने के कारण पूर्ण रूप से पूरा विवरण नहीं विदित है फिर भी स्थूल रूप से कुछ मुख्य खनिज पदार्थों का विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) लोहा पत्थर

ऐसा लोहा पत्थर जिसमें ६० प्रतिशत से अधिक लोहा है, ओड़िशा के अनेक स्थानों में पाया जाता है। इनमें से सुन्दरगढ़ के अन्तर्गत बोनाई, केउनझर मयूरभंज ऐसे मुख्य स्थान हैं जहाँ पर आजकल खोदाई की जा रही है। बोनाई के प्रसिद्ध लोहा पत्थर के स्तर में १०००००००००० टन उच्च कोटि का लोहा पत्थर है। इसके एक भाग को खोदकर राउरकेला के लोहे के कारखाने का काम चलाया जायगा। केउनझर तथा मयूरभंज जिलों में लगभग ९०० टन लोहा पत्थर है। उपरोक्त लोहा पत्थरों के ढेर का पता भली-भाँति चल चुका है। इनके अतिरिक्त लगभग ४०००००००००० टन लोहा पत्थर पाने की आशा की जाती है। इनमें से अधिकांश ऐसा लोहा पत्थर पाने की आशा है जिसमें अधिकांश लोहा पत्थर के ढेर पूर्व केम्बियन युग के हैं और बैण्डेड हेमेटाइट क्वार्जाइट के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये ढेर भारतवर्ष में सबसे प्रसिद्ध हैं और एक नये लोहे के कारखाने की सारी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकते हैं।

अभी हाल में केउनझर तथा कटक जिलोंके अन्तर्गत टोमकादैतरी क्षेत्र में लोहा पत्थरके ढेर का पता चला है। अभी हाल की जाँच-पड़ताल से पता चला है कि इस क्षेत्र में १३००००००००० टन हेमेटाइट नामक लोहा पत्थर है जिसमें ६० प्रतिशत से अधिक लौह भाग है। इसके केवल थोड़े से भाग की खोदाई टोमका खान से हो रही है और प्रायः १००० टन खनिज प्रतिदिन निकाला जा रहा है। यह ढेर समुद्र-तट के निकट होने के कारण पारा द्वीप में बननेवाले बन्दरगाह से आसानी से बाहर भेजा जा सकेगा।

उपरोक्त ढेरों के अतिरिक्त जो प्रायः हेमेटाइट के रूप में पाये गये हैं, कई अन्य ढेर मयूरभंज तथा कटक जिलों की बिचघटिया खान में मिले हैं। वे मैंगनेटाइट के रूप में हैं। मयूरभंज में जो मैंगनेटाइट मिला है उसमें वैनेडियम पर्याप्त मात्रा में है। इन ढेरों को खोदने के लिए सरकार वैनेडियम लौह का एक कारखाना खोलना चाहती है। कोरापुट जिले के ओमरकोट स्थान से ५ मील दक्षिण-पश्चिम स्थित हीरापुर पहाड़ी में हेमेटाइट का पता चला है। इस खनिज में लिमोनाइट मिला है और लोहे की मात्रा ५४·४५ से ६२·७ प्रतिशत तक है। इस ढेर में ५० फुट की गहराई तक लगभग १०००००००० टन खनिज है। यह ढेर रेल से बहुत दूर होने के कारण अभी नहीं खोदा जा सकता किन्तु ऐसा अनुमान अनुचित नहीं होगा कि आवागमन की सुविधा हो जाने पर यह खोदकर बाहर भेजा जा सकेगा। सम्बलपुर जिले के अन्तर्गत लोहखण्ड में हेमेटाइट नामक लोहा पत्थर पाया जाता है जिसमें ५५ से ६० प्रतिशत लोहा है। अनुमान है कि इस ढेर में ५०००००००० टन खनिज है। ये ढेर छोटे-छोटे टुकड़ों में हैं और दूर-दूर तक छिटके हुए हैं तथा

उच्च कोटि के नहीं हैं। यह खनिज कहीं-कहीं स्थानीय लोहारों के द्वारा प्रयोग में लाया जा रहा है।

(२) मैंगनीज

भारतवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उच्च कोटि का मैंगनीज प्रदान करनेवाला प्रमुख देश है और सोवियत रूस के बाद यहीं सबसे अधिक मैंगनीज पाया जाता है। यहाँ पर प्रतिवर्ष लगभग २००००००० टन मैंगनीज निकाला जाता है किन्तु इस देश में इसका केवल २ प्रतिशत ही काम में आता है। इस पूरे भाग का एक-तिहाई हिस्सा ओड़िशा में ही पाया जाता है और उसका ८५ प्रतिशत भाग, जो उत्तम श्रेणी का होता है और जिसमें ४५ प्रतिशत मैंगनीज रहता है, बाहर भेजा जाता है। मैंगनीज के प्रमुख क्षेत्र केउनझर, सुन्दरगढ़, कोरापुट, कालाहांडी और बालंगीर जिलों में हैं। केउनझर की खदान, जो वर्तमान समय की अधिकांश आवश्यकता को पूरी करती है, प्राइवेट लोगों को ठीके पर उठा दी गई है। कुछ मैंगनीज की खदानें अभी इसलिए सुरक्षित रखी गई हैं कि आगे चलकर साधारण जनता के काम आवें तथा नये कारखानों की आवश्यकताओं को पूरा करें। फेरो-मैंगनीज का एक कारखाना टाटा आइरन एण्ड स्टील कंपनी द्वारा जोड़ा नामक स्थान में खोला गया है। वहाँ काम शुरू हो गया है। रायगढ़ में एक नया कारखाना बन रहा है जहाँ के स्थानीय मैंगनीज को बाहर न भेजकर वहीं के कारखानों के काम में लाया जायगा।

साधारण रूप से यह अनुमान किया जाता है कि ओड़िशा में कुल १०००००००० टन मैंगनीज है। बैंडेड हेमेटाइट क्वारजाइट नामक लोहे के पत्थर के साथ मिली हुई अवस्था में मैंगनीज जमे हुए टुकड़ों के रूप में बारबिल नामक स्थान में पाया जाता है। ये ढेर छिटपुट रूप से सतह के नीचे ठंढों में पाये जाते हैं। कई ढेर सुन्दरगढ़ के अन्तर्गत बोनाई तहसील के कोयरा नामक स्थान में खोदे जा रहे हैं। अभी हाल की नाप-जोख से यह पता चला है कि अनेक ढेर कोरापुट और कालहांडी जिलों में हैं किन्तु इनकी नाप-जोख अभी भी विस्तृत रूप से यह देखने के लिए की जा रही है कि ये ढेर स्थानीय कारखानों के लिए उपयुक्त होंगे या नहीं।

(३) कोयला

ओड़िशा में कोयले के होने का पता १८३७ से ही है किन्तु आधुनिक ढंग से इसकी खोदाई सम्बलपुर में सन् १९०९ ई० में और तालचर में १९१९ ई० में शुरू हुई। आजकल सम्बलपुर के रामपुर क्षेत्र में तीन कोयले की खानें और ढेंकानाल जिले की तालचर नामक तहसील में चार कोयले की खानें चल रही हैं। आजकल ओड़िशा में कुल तीन लाख टन कोयला प्रतिवर्ष निकलता है। रामपुर की खानों में ६०० फुट की गहराई तक लगभग १००००००००० टन और तालचर में लगभग १५००००००० टन कोयला होने का अनुमान किया जाता है। अध्ययन करने से यह विदित हुआ है कि इनमें पानी की मात्रा अधिक है और यह हल्के कोयले के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। यह केवल रेलगाड़ी के इञ्जन में जलाने के योग्य है। आशा है कि इन क्षेत्रों में

कुछ उन्नति की जा सकती है और यदि ठीक से खोदाई करके देखा जाय तो कोयले के अधिक विस्तार का पता लग सकता है।

(४) क्रोमाइट

क्रोमाइट केउनझर, ढेंकानाल और कटक जिले में पाया जाता है। केउनझर के बाउला-नुआशाही में और कटक जिले के सुकिन्दा नामक स्थान में क्रोमाइट की खोदाई हो रही है। ओड़िशा का क्रोमाइट उच्च कोटि का है और व्यावसायिक ढंग से काम में लाया जा सकता है। जहाँ तक क्रोमाइट का संबंध है, संपूर्ण भारत में ओड़िशा का स्थान प्रमुख है। यहाँ पर सबसे अधिक क्रोमा-इट निकाला जाता है (४०००० टन प्रतिवर्ष)। अनुमान है कि क्रोमाइट का ढेर पाँच लाख टन से भी अधिक है। आशा है कि ठीक से जाँच करने पर इसकी मात्रा और अधिक ही होगी।

(५) लाइमस्टोन तथा डोलमाइट

सम्बलपुर तथा सुन्दरगढ़ जिलों में लाइमस्टोन तथा डोलमाइट प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। प्रान्तीय सरकार के खोदाई विभाग के विस्तारपूर्वक खोज और डाइमण्ड ड्रिलिंग द्वारा यह पता चला है कि यह चीज ७००००००० टन से भी अधिक सम्बलपुर के डुंगरी नामक स्थान में है जो सीमेण्ट बनाने के योग्य है। सुन्दरगढ़ में बीरमित्र, हतीबारी तथा घतीतानगर की खानों से लाइमस्टोन तथा डोलमाइट निकाल कर भिन्न-भिन्न लोहे के कारखानों को भेजा जाता है। कोरापुट के मालकनगिरि नामक स्थान पर लाइमस्टोन के अनेक ढेरों का पता चला है और आजकल उसकी जाँच-पड़ताल हो रही है।

(६) ग्रेफाइट

गेनिस मिश्रित ग्रेफाइट अव्यवस्थित रूप से कई खन्दों से मिलता है। आजकल लगभग ९०० टन ग्रेफाइट बालंगीर, सम्बलपुर और कोरापुट जिलों से निकाला जाता है। इन स्थानों में अधिक ग्रेफाइट का पता लगाने के लिए विस्तारपूर्वक जाँच-पड़ताल हो रही है। इस ग्रेफाइट से ताप को सहनेवाली प्यालियों और पेन्सिल का सीसा बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(७) फायरक्ले तथा चीनी मिट्टी

फायरक्ले तथा चीनी मिट्टी प्रान्त भर में बहुत कम पाई जाती है किन्तु आर्थिक दृष्टि से इसका क्षेत्र संकुचित है। सम्बलपुर जिले के बेल पहाड़ नामक स्थान में फायरक्ले निकाला जा रहा है और टाटा की ओर से यहाँ एक रिफ्रैक्ट्री कारखाना खुल रहा है। सुन्दरगढ़ जिले के निकट राज-गंगपुर में यह खोदकर निकाला जा रहा है। वहाँ पर भी एक रिफ्रैक्ट्री कारखाना तैयार किया जा रहा है। पुरी जिले में चन्दका नामक स्थान के पास चीनी मिट्टी की खोदाई होती है। यह मिट्टी के बर्तन तथा पैखानों में लगाने की चीजों को तैयार करने के लिए बरांग के ओड़िशा इण्डस्ट्रीज

लिमिटेड द्वारा काम में लाई जा रही है। इसके अन्य ढेर के बारे में अभी तक और कुछ पता नहीं लग सका है, क्योंकि अन्य जिलों में इसकी खोज अभी तक नहीं की गई है।

(८) बाक्साइट

यद्यपि नियमित रूप से अभी भी जाँच-पड़ताल करना बाकी है, फिर भी बाक्साइट के ढेर सम्बलपुर तथा कालाहांडी जिलों में पाये जाते हैं। ओड़िशा में अभी तक बाक्साइट नहीं खोदा जाता है पर अनुमान है कि कालाहाँडी में ३९१००० टन और सम्बलपुर में ३००००० टन कच्चा बाक्साइट है जिसमें ५५ से ६० प्रतिशत अल्मूनियम आक्साइड पाया जा सकता है। डुडमा जल-प्रपात से तैयार की हुई सस्ती बिजली के मिलने पर यह आशा की जाती है कि इन बाक्साइट के ढेरों को खोदकर वहाँ एक और अल्मूनियम की फैक्ट्री स्थापित हो सकेगी। यह भी आशा है कि भली-भाँति खोज करने पर और भी अधिक ढेर का पता चलेगा।

(९) क्यानाइट

क्यानाइट के ढेर ढेंकानाल जिले की शमाक्षानगर तहसील में तथा मयूरभंज जिले के कुछ हिस्सों में हैं। आजकल मयूरभंज के ढेरों में खोदाई चल रही है। केउनझर जिले के तिनकोई नामक स्थान तथा ढेंकानाल की पल्लारा तहसील में भी इनके पाये जाने की खबर मिली है।

(१०) सोना

केउनझर जिले में लगभग ३५ वर्गमील में सोना पाया जाता है। यह सोना बहुत छोटे छोटे कणों के रूप में बालू आदि में मिला हुआ नदियों के किनारे पाया जाता है। अभी तक यह नहीं मालूम है कि इसका उद्गमस्थान कहाँ है। इण्डियन ब्यूरियो आफ माइन्स ने विश्वस्त रूप से पता लगा कर यह कहा है कि सोना इतना कम है कि आर्थिक दृष्टि से इसको इकट्ठा करना लाभ-प्रद नहीं होगा। नदी के बालू को छानकर कोरापुट, केउनझर तथा मयूरभंज के कई स्थानों में कुछ सोना निकाला जाता है किन्तु अभी तक सोने की चट्टान का पता नहीं चला है।

(११) गलेना

गलेना (सीसाधातु) बालंगीर तथा मयूरभंज जिलों के कई स्थानों में पाया जाता है। इसके साथ चाँदी का भी कुछ अंश मिला रहता है। जियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया इसके बारे में पता लगाने का प्रयत्न कर रही है।

(१२) माइका

कोरापुट, गंजाम, कटक तथा ढेंकानाल में पिगमेटाइट नामक धातु का पता चला है जिसमें अबरक मिला है किन्तु मस्कोवाइट माइका, जो आर्थिक दृष्टि से काम के योग्य है, बहुत ही कम है।

परिशिष्ट १

संपूर्ण राज्य में ठेके पर दी हुई विभिन्न धातुओं का विवरण

मैंगनीज और लोहा	मैंगनीज	लोहा	क्रोमाइट	कोयला	चीनीमिट्टी
३४२६२·६०	६२७४८·८९	२०९२२·१५	७०८०	१०४२१·६३	१५४१·९८
ग्रैफाइट	लाइमस्टोन और डोलोमाइट	फायरक्ले	ओकर	सफेद मिट्टी	सोपस्टोन
१०४५·४५	१०१८१·९७	२२४५·३९	५४९·२०	२९०·८०५	२९०·८९
माइका	कियानाइट	अस्बेस्टास	कावलिन और क्वार्टजाइट	अन्य दूसरी धातुएँ	धातु स्वीकृत क्षेत्र का योग
४५३·९८	३२२८·५७	९२८·९५	४११२·९०	४४७४·९६	२५९·८३७ वर्गमील

परिशिष्ट २

ओड़िशा राज्य में विभिन्न धातुओं के उत्पादन की सूची

धातु का नाम	१९५५		१९५६	
	उत्पादन (टनों में)	मूल्य (पी० एम० वी०)	उत्पादन (टनों में)	मूल्य (पी० एम० वी०)
१—मैंगनीज	टी ३,६४,५२१—०—०	४,३८,३३,६४८	टी ३,७२,४१५—०—०	४,५२,५३,२८६
२—कच्चा लोहा	टी १८,१५,०८२—०—०	१,७२,४३,२७८	टी १७,९७,०१०—०—०	३,०९,९७,६३३
३—क्रोमाइट	टी ४५,०१५—०—०	४२,१४,२२९	टी ४९,७३५—०—०	३६,६२,०४५
४—डालोमाइट और लाइमस्टोन	टी २०,०१,२९२—०—०	७९,३९,७८९	टी ११,३०,२२१—०—०	३९,५९,६७९
५—कोयला	टी ५,४५,५००—०—०	७४,२०,५४९	टी ५,८६,३१०—०—०	९२,३६,३५४
६—चीनी मिट्टी	टी ३,६७५—०—०	१,४७,९११	टी ९,६१०—०—०	३,५४,३९१
७—फायरक्ले	टी ११,३८४—०—०	१,०६,३६९	टी १०,०९७—०—०	१,००,९७०
८—कीनाइट	टी २२४—०—०	४०,८७०	टी २२३—०—०	४४,९३४
९—सोपस्टोन	टी ६५—०—०	५,२६५	टी १८—०—०	६४८
१०—ग्रेफाइट	टी ९१७—०—०	२,०१,७४०	टी ६३५—०—०	१,६८,००५

परिशिष्ट ३

ओड़िशा राज्य में लिये जानेवाले धातु-कर का नक्शा

धातु का नाम	१९५३ (रुपयों में)	१९५४ (रुपयों में)	१९५५ (रुपयों में)	१९५६ (रुपयों में)
१—मैंगनीज	४,१८,८३०—५—३	७,७०,७३२—१४—६	७,८०,४३०— ३—९	९,९६,९४०— ८—३
२—कच्चा लोहा	३,९८,०५२—१—०	४,१८,७२७—१५—३	४,३०,४७८— ७—९	४,६३,३७५— ०—९
३—क्रोमाइट	५४,५८७—२—०	५४,५०७— ६—९	९७,३१३—११—३	१,३२,९६७—१४—०
४—डोलोमाइट और लाइमस्टोन	६६,०४९—४—६	६७,८४३—१२—६	८१,०१३—१०—६	१,३२,६१४— १—०
५—कोयला	१,३६,४९१—०—६	१,५६,८७७— ७—०	१,६९,४५३— ५—०	२,१०,४९३—१०—३
६—चीनी मिट्टी	११,०७८—०—९	२०,३६९—१०—९	१३,५५०—१३—६	१७,५७६— ४—६
७—फायरक्ले	४,१५२—४—०	२,६४५— ६—०	२,७९५— ६—०	२,१६६—११—९
८—कीनाइट	४०३—६—०	१,२७९—१४—९		६५३— ९—०
९—सोपस्टोन	३३९—६—०	६६२— २—०	५६८— २—०	१,२९४— ०—०
१०—ग्रेफाइट	३५९—७—०	२९०— ४—०	७७—१३—०	४,६५४— ९—०
११—रेड आक्साइड	२०८—५—०	२०८— ५—०	२०८— ५—०	
१२—अन्य कर	४५,९४४—०—९	२,९१,८३४—१४—६	३,०९,४१०— ३—९	५८,७८४— ३—९
योग	११,३६,४९४—११—६	१७,८५,९८०— १—०	१८,८५,२९०— १—०	२०,२१,२२०— ८—३

ओड़िशा की आदिवासी जातियाँ

श्री नित्यानंद दास

भारतवर्ष में ओड़िशा को आदिवासियों के वास्तविक भंडार-गृह की भाँति निरूपित करना अतिशयोक्ति न होगा। यहाँ बासठ से कम जातियाँ नहीं हैं जिनकी जनसंख्या तीस लाख से कुछ अधिक ही होगी, जो संपूर्ण ओड़िशा राज्य की जनसंख्या का २०·२६ प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त ऐसी बहुत सी जन-जातियाँ हैं जिन्होंने अपने आदिवासी-जीवन का परित्याग कर दिया है। किंतु उन्होंने ऐसी बहुत सी विशेषताओं को अपने में बचा रक्खा है जिसके नाते उनकी गणना गैर आदिवासियों की अपेक्षा आदिवासियों में हो सकती है। देश में ओड़िशा की एक विशिष्ट भौगोलिक स्थिति है। बंगीय-गंगा के मैदान के सिलसिले में अनेक नदियों के डेल्टाओं से युक्त समुद्र का उपकूल, अत्यंत प्राचीन काल से प्रव्रजन की धाराओं के लिए सदा खुला रहा है। समुद्री तट के परे पहाड़ियाँ, पठार और अधित्यकाएँ हैं। उत्तर की पहाड़ियाँ छोटा नागपुर पठार की शृंखला में हैं और दक्षिणी भाग पूर्वी घाट की शृंखला में। पहले ये भाग अत्यंत घने जंगलों से आच्छादित और विभिन्न प्रकार के पशुओं से परिपूर्ण थे जो शनैः शनैः मानवीय दुराकांक्षाओं द्वारा विरल कर दिये गये हैं। इस प्रकार यह राज्य उत्तर और दक्षिण के मिलन-बिंदु पर स्थित है। यही वह आधार-शिला है जिस पर हम ओड़िशा की आदिवासी जातियों के समग्र नृवंशशास्त्र (Ethnology) एवं नृवंश-शरीर-रचनाशास्त्र (Ethnography) की परीक्षा करते हैं।

उपर्युक्त ६२ आदिवासी जातियों में से १४ मुख्य आदिवासी जातियाँ कही जा सकती हैं। मोटे तौर पर उन्हें उत्तरी और दक्षिणी आदिवासियों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग में मुंडा, संथाल, हो, भुईंया, जुआँग, उरावँ, किसान और खरिया सम्मिलित हैं और दक्षिणी आदिवासियों में कंध, सौरा, गादबा, परजा, कोया और बंडा उल्लेखनीय समूह हैं। भाषा की दृष्टि से उराँव, किसान और कंध ऐसी उपभाषाएँ बोलते हैं जो द्रविड़ भाषा-परिवार से संबंधित हैं और शेष कोलारी अथवा आस्ट्रिक भाषा-परिवार में से एक को बोलते हैं। उत्तर से दक्षिण तक फैले हुए गोंडों की एक दूसरी ही जनपदीय विभाषा है। ओड़िशा के आदिवासियों की भाषाओं का ठीक-ठीक अध्ययन अभी प्रारंभ करना है। ग्रियर्सन ने अपने लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया ग्रन्थ में यहाँ की प्रमुख आदिवासी बोलियों का मानचित्र बनाया है। कोलारी परिवार की भाषाओं का अध्ययन कुछ अधिक विस्तार के साथ किया गया है। हाफमैन का मुंडारी विश्वकोश, बडिंग की संथाली पर निबंध-पुस्तक और राममूर्ति का सौरा शब्दकोश आदि प्रशंस्य ग्रंथ हैं। लेकिन गादबा और परजा भाषाओं में होनेवाले दीर्घ परिवर्तनों का अध्ययन अभी शेष है। सभी आदि-

वासी-भाषाएँ लिपि-रहित हैं। वे कड़ाई के साथ व्याकरणिक नियमों में आबद्ध, पीढ़ियों से बोली जाती रही हैं। अतएव आदिवासी-भाषाओं को व्याकरणिक नियमों से शून्य सोचना भ्रमपूर्ण है। आदिवासी भाषाएँ विचारों और कल्पनाओं से परिपूर्ण हैं। मानवी-आकलन के प्रकटीकरण का साधन होने के नाते भाषा को अवश्य ही समाज के भौतिक आधार के मेल में होना चाहिए। इसलिए, हो सकता है शब्द बहुत अधिक न हों; दूसरे, कंठ-ध्वनियों के दबे और रोके हुए उच्चारण का प्रसार ही भाषाओं में अनेक की विशेषताएँ हैं। आस्टिक भाषाओं में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन होते हैं। संयुक्त सर्वनामवाले कर्ता तथा कर्म का भी प्रयोग होता है और सजीव-निर्जीव पदार्थों के अनुसार उनके रूपों में परिवर्तन होता है। उनके विचार से सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत् और आकाशीय पिंड सजीव पदार्थ हैं और वृक्ष निर्जीव हैं। आदिवासी भाषाओं में मधुर संगीत और रोमांचकारी कथाएँ हैं। ये आदिवासी-विश्वासों और परंपराओं के द्योतक हैं।

आदिवासियों की जातीय बनावट, आस्टिक (दक्षिणी) समूह के मानववर्ग से सारूप्य प्रकट करती है। इस समूह की व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि उनके बाल घुँघुराले, भौंहें ऊँची उठी हुई, नाक चिपटी, सिर लंबा और चेहरा कुछ चिपटा होता है। इस दृष्टि से उत्तरी और दक्षिणी आदिवासियों में कोई अंतर नहीं है। विचित्र बात तो यह है कि लांजियासौरों और गादबाओं में मंगोली बनावट पाई जाती है। घालमेल के कारण भारतीय जातियों के इतिहास की ऐसी लीलाओं का समाधान सरलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। ओड़िशा की अनेक जन-जातियों में आदिवासी आकृतियों का होना एक विचारणीय विषय है। ब्राह्मण और करण ऐसी कुछ ऊँची जातियों को छोड़कर, अधिकांशतः लंबे सिर, चिपटी नाक, उभरी भौंहें समान रूप से पाई जाती हैं। इसका अर्थ यह हो सकता है कि हम लोगों ने अपनी बनावट आदिवासियों के निकट-संपर्क से विरासत में पाई है। कुछ भागों में, शारीरिक बनावट के अनुसार मस्तिष्क की श्रेष्ठता और हीनता के विषय में कतिपय गलत धारणाएँ फैली हुई हैं। वैज्ञानिकों ने बहुत से तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि शारीरिक बनावट से प्रतिभा और कल्पनाशक्ति का संबंध बहुत कम है। कल्पनाओं को छोड़ दें तो भी जातीय बनावट एक वैज्ञानिक तथ्य है। सहस्र वर्षों से निम्न जातियों का आदिवासियों से मिश्रण होता आ रहा है। इसका कारण रखेली प्रथा का होना है। कुछ इतिहासकारों का विश्वास है कि कलिंग साम्राज्य एक आदिवासी साम्राज्य था। कब्रिस्तान के पत्थरों और अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि उत्तर में गंगा तक आदिवासियों का प्रभुत्व था। पुराणों में वर्णित झारखंड, असुरों द्वारा निवसित वन-प्रदेश था जो निश्चित रूप से मध्यभारत के बहुत बड़े भाग को सम्मिलित किये हुए था। यह एक सार्वभौम दुःखांत घटना है कि आक्रमणों के समय विजेताओं द्वारा स्त्रियों का अपहरण कर लिया जाता है और उन्हीं से भावी संतानें उत्पन्न होती हैं; क्योंकि बद्दू जीवन की कठिनाइयों में बहुत कम स्त्रियाँ विजेताओं के साथ रह पाती हैं।

भारतवर्ष में आदिवासियों के उन्मूलन का क्रम कोई नया नहीं है। बहुत से आदिवासी अपने परंपरित आचारों का परित्याग कर हिंदुओं में मिल गये हैं और जातिप्रथा की निम्नतम श्रेणी

में रक्खे गये हैं, किंतु वे अपनी शारीरिक बनावट को कायम रखे हुए हैं और समय के दौरान में अपनी उस बनावट को दूसरी जातियों में प्रविष्ट कर देते हैं। इसका निर्देश कर देना आवश्यक है कि यह जातीय-मिश्रण प्राय: शक्ति और नये रक्त को उपस्थित करता है।

अब हम ओड़िशा के आदिवासियों के सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिपार्श्व का विश्लेषण कर सकते हैं। सभी आदिवासियों के लिए एक संयुक्त जातीय विशेषता का पता लगाना संभव नहीं है। अन्तर्वासीय भिन्नताएँ बहुत अधिक हैं। एक कंध एक सौरा से उतना ही भिन्न है जितना एक फ्रांसीसी एक जर्मन से। प्रत्येक आदिवासी के भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज, परंपराएँ और विश्वास हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अंतर्आदिवासीय भिन्नताएँ भी हैं। किसी एक आदिवासी जाति में भौगोलिक अथवा वृत्ति-संबंधी अंतरों के कारण कुछ ऐसे समूह हो सकते हैं जो अपनी मूल आदिवासी जाति से पूर्णरूपेण सादृश्य न रख सकते हों। उदाहरणार्थ, सौरों अथवा साबरों को ही ले सकते हैं। साबरों का वर्णन हमारे पुराणों में आया है और अधिकांश प्राचीन हिंदू साहित्य में इन आदिवासियों का उल्लेख मिलता है। साबरों में कम से कम दस विभाग हैं। कुछ विभाग पूर्णत: आत्मसात् कर लिये गये हैं और उन्होंने अपने मूल रीति-रिवाजों का परित्याग कर दिया है। कटक, पुरी और ढेंकानल के साबरों ने अपनी बोलियों का भी परित्याग कर दिया है और उनमें आदिवासी-लक्षण बहुत ही कम पाये जाते हैं। आजकल सौरा गंजाम जिले के पारलाखिमिडी सब-डिवीजन और कोरापुट के गुनपुर तालुक में रहते हैं। वहाँ कम से कम उनके दस विभाग हैं। वहाँ एक विचित्र समूह उत्पन्न हो गया है जो अपने को सुधा कहता है। वे लोग हिंदू देवी-देवताओं की पूजा करते हैं और सौरों के साथ कोई भी सामाजिक संबंध नहीं रखते अब भी आदिवासियों की सबसे प्राचीन शाखा लांजियासौरा की समृद्ध परंपराएँ और विस्तृत धार्मिक आचार हैं। ऐसी ही स्थिति कंधों की भी है जो संबलपुर के सबसे उत्तरी भाग से लेकर राज्य के सबसे दक्षिणी छोर तक फैले हुए हैं। उत्तरी जिलों में कुछ उन्नत विभाग हैं जब कि कुटिया, डोंगरिया, कंध अति-प्राचीन आदिवासी अवस्था में हैं।

अत: आदिवासी जाति की समस्याओं की पहेली में सबसे मुख्य विषय उनकी संस्कृति को समझना है। रीति-रवाजों, परंपराओं, विश्वासों और भौतिक उपकरणों का समन्वय ही संस्कृति की परिभाषा है। कुछ लोगों की दृष्टि में इसकी परिभाषा 'सीखे हुए व्यवहार' में मिलती है। कुछ भी हो, संस्कृति की साफ-साफ परिभाषा देना कठिन है, क्योंकि यह विभिन्न लक्षणों का पिंड-मात्र नहीं है बल्कि संपूर्ण शृंखलाओं का संपूर्ण समन्वय है। अत: साधारण शब्दों में, मनुष्य के धर्म, आर्थिक ढाँचे और सामाजिक तथा भौतिक जीवन उनकी संस्कृति के द्वारा शासित होते हैं। इसीलिए हम लोग तत्सामयिक आदिवासियों की संस्कृति को समझने के लिए अधिक जोर दे रहे हैं। आदिवासी संस्कृतियों के भिन्न-भिन्न प्रसार-क्षेत्र होते हैं। अतएव जब तक हम उनके जीवन की गहराई में प्रवेश नहीं कर जाते तब तक उनकी संस्कृति की जटिलताओं को नहीं समझ सकते। आजकल हम अखिल भारतीय भ्रातृत्व-भाव और विश्व-संघ की बातें सोच रहे हैं। ऐसे विचार तभी पल्लवित होंगे जब विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों के संश्लेषण को दृष्टिगत किया जायगा

और उनका वहीं विनाश हो जायगा, जहाँ दूसरे की संस्कृतियाँ हीन समझी जाने लगेंगी। आधुनिक विश्व-सभ्यता एक दिन या एक वर्ष में ही नहीं बन पाई है। यह विभिन्न प्रकार के लोगों के शताब्दियों के सांस्कृतिक लक्षणों की स्वीकृति-अस्वीकृति का प्रतिफलन है। हम लोगों की जातियों ने भी इसमें योगदान दिया है। केवल उन्नत बंधुओं ने परिस्थिति के अनुसार अपने को अधिकाधिक अनुकूल बनाया है और उनके समसामयिक आदिवासी लोग अपनी परंपराओं के साथ चिपके रह गये हैं।

ओड़िशा के आदिवासियों का आर्थिक विभाजन विश्लेषण करने योग्य है। प्रागैतिहास-कारों और प्राचीन इतिहासकारों ने इनका आर्थिक विभाजन (१) अ—आखेटकों, ब—बिनिया करनेवालों, स—भोज्य बटोरनेवालों, (२) अ—बागवानों, ब—खेतिहरों, स—कृषकों में किया है। इनमें कई स्तर हैं। यद्यपि कुछ लोग किसी एक या दूसरी श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं किंतु वे एक ही श्रेणी में नहीं रक्खे जा सकते। ओड़िशा की आदिवासी जातियों में प्रथम श्रेणी का आर्थिक जीवन बिताने वाली कोई जाति नहीं है। अधिकांशतः ये दूसरी और तीसरी श्रेणी की हैं और उनका झुकाव बराबर बागवानी तथा कृषि की ओर रहा है। यहाँ के प्राचीनतम आदिवासी लांजियासौरा, कुटिया, डोंगरिया कंध, बंडा, कोया, गादबा, पौंड़ी भुईंया और ज्वांग हैं। ये पहाड़ियों पर एक जगह से दूसरी जगह खेती करते हुए अपना निर्वाह करते हैं। जिन क्षेत्रों को उन्होंने अपने अधिकार में कर रक्खा है, वे हमारे राज्य के अत्यंत दुर्गम भाग हैं। वहाँ ऊँची पहाड़ियाँ, पठार, जंगल और अनुर्वर भूमिप्रदेश हैं। बदलती हुई कृषि पोडू अथवा बोगड़ चास (Shifting Cultivation) एक बहुनिंदित आचरण है। यह पहाड़ियों को वनस्पति-रहित कर देता है तथा भूमि के कटाव पर कुप्रभाव डालता है। इन जातियों की लगातार जन-वृद्धि ने भयंकर कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी हैं। उपज कम होती जा रही है और जो अ दिवासी इस प्रकार के आचरण पर निर्भर करते हैं वे चरम कठिनाइयों का सामना कर रहे हैं। इस कानून के बनने के बहुत पहले कि आदिवासियों के अधिकार से गैर-आदिवासी भूमि न ले सकें, मैदान के भूमि हड़पने-वाले लोगों ने जो वहाँ व्यापार करने या बहुत ऊँची ब्याज-दर पर रुपया उधार देने गये थे, वहाँ की जोती जाने योग्य भूमि को अपने अधिकार में कर लिया था। सिंचाई की सुविधाओं के अभाव और अतिप्राचीन कृषि-प्रणाली के कारण शेष भूमि में पर्याप्त उपज नहीं हो पाती। कृषि-यंत्र बहुत भद्दे ढंग के हैं और पशुसाधन भी सीमित हैं। गंजाम और कोरापुट के सौरा एक जोड़ी बैल को, वार्षिक ३ मन अनाज की महँगी दर पर, उधार देते हैं। वहाँ की मुख्य उपज मक्का, बाजरा, दाल और कुछ धान हैं। नगदी फसलें हल्दी, अदरक और दालें हैं। शिकार के योग्य जानवर अत्यंत विरल हो गये हैं और पहाड़ी जलस्रोतों में मछलियाँ भी अधिक नहीं हैं। इस प्रकार पौष्टिक खुराक का संतुलन भी नहीं रह गया है।

मूल आदिवासियों के लेन-देन का एक अपना ही ढंग है। लांजियासौरा व्यापार करना एक नीच उद्यम समझते हैं और इसको डोम नामक एक धोखेबाज और अनुसूचित जाति पर छोड़ रखा है। ये डोम सौरों और बाहरियों के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं। ये बलिदान के लिए

असंख्य भैंसे और सुअर देकर बदले में उनके अत्यंत परिश्रम से उत्पन्न किये हुए उत्पादन को ले लेते हैं। कंध लोग फसल तैयार होने के बहुत पहले उनका मूल्य तय कर लेते हैं और छोटे-छोटे साहूकार अपने दिये हुए ऋण के बदले में सब ले लेते हैं। बंडा उनसे अलग हैं। ये कम उपजाते हैं और एकत्रीकरण (बिनिया) पर अधिक निर्भर करते हैं। पौंड़ी, भुइँया और जुआंग लोग अपने साथ के ग्वालों पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न आदिवासियों के आर्थिक अध्ययन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि अधिकांश मामलों में ५ सदस्यों के एक परिवार की आय ५०० रु० वार्षिक से अधिक नहीं हो सकती। आर्थिक विकास के रूप में नई बस्ती बसाने की योजना सरकार ने हाथ में ली है। किन्तु उससे उनकी दशा में कोई अधिक सुधार नहीं हुआ है, क्योंकि जनसंख्या का अत्यल्प भाग उसके अंतर्गत आता है।

शताब्दियों से विशिष्ट समूह द्वारा उनका शोषण होता चला आ रहा है। सीधे-सादे लोगों की आवश्यकताएँ भी कम ही होती हैं। अधिकाधिक संपर्क में आने से उनकी आवश्यकताएँ भी लगातार बढ़ती जाती हैं। जब साधनों और उत्पादन से आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं तो नैराश्य ही होता है। आदिवासियों की बड़ी शाखाओं में ऐसी निराशाएँ घर कर गई हैं। चायबगानों तक उनके प्रव्रजन, नये नये उद्योग-धंधों की स्थापनाओं और यातायात के प्रसार ने उनको बाहरी व्यक्तियों के संपर्क में आने का अवसर दिया है। नये विचार और नई धारणाएँ उनमें लगातार आत्मसात् होती जा रही हैं। मुद्रा-व्यवस्था बहुत ही तेजी से उनमें से वस्तुओं की अदलाबदली की पद्धति और विनिमय को हटाती जा रही है। मालीनोवस्की द्वारा यह सुझाया गया है कि आदिवासी समाज मूलतः आपसी लेन-देन पर टिका हुआ है। उनमें लेन-देन की एक शाश्वत शृंखला चली आती है। आदिवासी-नियमों में यह बड़ी कड़ाई के साथ निभाई जाती है। यद्यपि कोई दबाव डालनेवाली शक्ति नहीं है किंतु यह दबाव डालने से भी अधिक है, क्योंकि यह शताब्दियों से स्थापित प्रतिमानों पर आधारित है। किंतु विकास के साथ-साथ आदिवासी अर्थ-व्यवस्था स्वार्थमय (Mercinary) अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तित हो जाती है और वस्तुओं का नया मूल्यांकन होने लगता है। इस परिवर्तन में आदिवासी अपनी वस्तुओं का मूल्य नगदी सिक्कों में निश्चित नहीं कर पाते। फलस्वरूप, कपटी गैर-आदिवासी उन्हें बुरी तरह ठगते हैं। डोम व्यापारियों को सौरा देश के एक कोने से दूसरे कोने तक नमक-तंबाकू लेकर घूमते हुए और उनको बहुत अधिक मूल्यवाले अनाजों से विनिमय करते हुए देखना एक मनोरंजक दृश्य होता है। फलों के पेड़ फूल से फल निकलते समय ही बहुत ही सस्ते दामों पर बेंच दिये जाते हैं और उन सभी फलों को डोम ले जाकर बेचते हैं। खाल और सींग को छोड़कर बलिदान के लिए एक बूढ़ा भैंसा साढ़े पच्चीस रुपये में खरीदा जाता है। ये आदिवासी गैर-आदिवासियों के संपर्क में आकर अपने परंपरागत पहनावे को भी छोड़कर पैंट और कमीज पहनते हैं जो बहुत महँगे बेचे जाते हैं। बहुत से आदिवासियों के परंपरित रंग-बिरंगे पहनावे हैं। उरावों और किसानों में भिन्न रंगों की साड़ियाँ और डुपट्टे प्रचलित हैं। गादबाओं के अपने हाथ के कते-बुने कपड़े होते हैं जिनमें रंगीन धारियाँ होती हैं। कोया लोगों के बैलों के सींग और लटकती हुई

कौड़ियाँ एक बहुत ही प्रशंसनीय दृश्य उपस्थित करती हैं। लांजियासौरों के कामदार और लंबे पुछल्ले (Tail Pieces) शोभा की वस्तुएँ हैं। अब ये भड़कदार पहनावे घटिया किस्म की कमीजों और बुशशर्टों द्वारा हटाये जा रहे हैं। पहले आदिवासियों के विभिन्न वेष उनको एक दूसरे से अलग प्रकट करते थे, किंतु आज के पहनावे ऐसा नहीं कर सकते और इन नये वस्त्रों का अंगी-करण सभी के वश की बात भी नहीं है।

इसके साथ-साथ यहाँ के आदिवासियों की कलाओं और दस्तकारियों का वर्णन भी कर देना आवश्यक है। जब मानव-कंदराओं में रहता था उसी समय विभिन्न प्रकार के कलात्मक विचारों और प्रकाशनों का विकास हुआ। प्राचीन प्रस्तर युग की कंदराओं में बहुत पहले समाप्त हुए जानवरों की हड्डियों के साथ मानव-अवशेष, मूल निवासियों के औजारों, सींग, घोंघे और गुरियों तथा लटकनों के आकार में तराशे गये पत्थर पाये गये हैं जिनके द्वारा मूल निवासी अपने को अच्छी तरह सुसज्जित करते थे। उस समय की यथार्थवादी चित्रकारी भी देखी जाती है। उससे प्रकट होता है कि मनुष्य के कृषि के औजार, कुम्हारों के चाक तथा इस प्रकार के आविष्कारों के बहुत पूर्व मनुष्य ने ऐसी कलाओं का विकास कर लिया था जिसकी प्रशंसा आधुनिक युग के लोग भी करते हैं। कला की स्पष्ट परिभाषा देना तो कठिन है; किंतु यह वस्तुओं या कृत्यों में प्रच्छन्न गुणों के द्वारा उत्पन्न मनुष्यों की सौंदर्य-भावना का प्रतिफल है। कला आध्यात्मिक और प्राकृतिक अनुभूतियों के संयोग का प्रतीक है। इसका एक पहलू सुन्दर आकृतियों की रचना है। भिन्न-भिन्न समाजों में सौंदर्य का भिन्न-भिन्न प्रतिमान है। यह पुराना विश्वास गलत है कि मूल निवासियों में विशुद्ध सौंदर्य-प्रवृत्ति पर आधारित कला का कोई रूप ही नहीं था, क्योंकि कुछ ऐसी आकृतियाँ मिली हैं जो यह प्रकट करती हैं कि मनुष्य की इस प्रेरणा की संतुष्टि के लिए ही इनकी रचना हुई है। हमारे आदिवासियों के समस्त कलारूपों का पूर्ण ज्ञान हमें नहीं है। अब उनके कलारूपों का पता लगाने के लिए गंभीर प्रयास किये जा रहे हैं। उनके संगीत में, नृत्य-कथाओं में, पहेलियों में और भौतिक उपादानों में हम उनकी कलात्मक अभिव्यंजनाओं का दर्शन कर सकते हैं। दक्षिणी ओड़िशा के सौरा लोग अपने भित्ति-चित्र के लिए प्रसिद्ध हैं। वे विभिन्न आकृतियाँ और खाके बनाते हैं। वे चित्र जिसे एलविन ने "इकोन" (Ikons) की संज्ञा दी है, देवताओं को समर्पित हैं और उनमें अत्यंत धार्मिक जोश मिलता है। चौखटों पर नक्काशी की गई होती है। देवताओं की दारु-मूर्तियाँ अनुकरणात्मक कला के नमूने हैं। आधुनिक युग में भी हारों में गुंथी हुई विभिन्न प्रकार की गुरियों और कपड़ों के अलंकरणों को अच्छी मान्यता प्रदान की गई है। कोया लोग घोंघों और लटकती हुई गुरियों के द्वारा सुंदर मुरेठे तैयार करते हैं। गादबा लोग सुन्दर गोलाकार मकान बनाते हैं। कंध लोग अपने चेहरों पर ज्यामितिक ढंग के गोदने गोदवाते हैं। संथाल और हो लोग अपने सभी भौतिक उपकरणों पर कला की छाप लगाते हैं। उनके नृत्य अनुरूपता और लालित्य के लिए प्रसिद्ध हैं। बिरहोर लोग, जो एक जंगली बद्दू आदिवासी हैं, पूर्ण ज्यामितिक कोण के आकार की पर्णकुटियाँ बनाते हैं। आदिवासियों में उनके औजार और हथियार, धनुष-बाण, व्यक्तिगत वस्तुएँ, वाद्ययन्त्र आदि

परजा रमणी की वेशभूषा

❁ ओड़िशा के आदिवासी ❁

विस्मय की मुद्रा में भूयाँ रमणियाँ
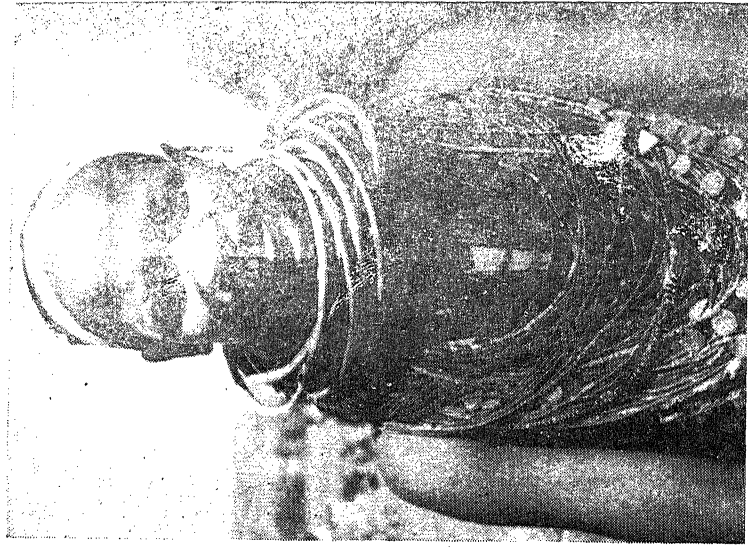
प्रकृति की गोद में पली बण्डा रमणी

जेवरों से लैस बरण्डा रमणी

नाच के वेश में सउरा-लड़कियाँ

आदिवासी बस्तियों का इलाका

गादबा जाति

कोल्ह नृत्य—मयूरभञ्ज

सउरा रमणियों का सिंगार
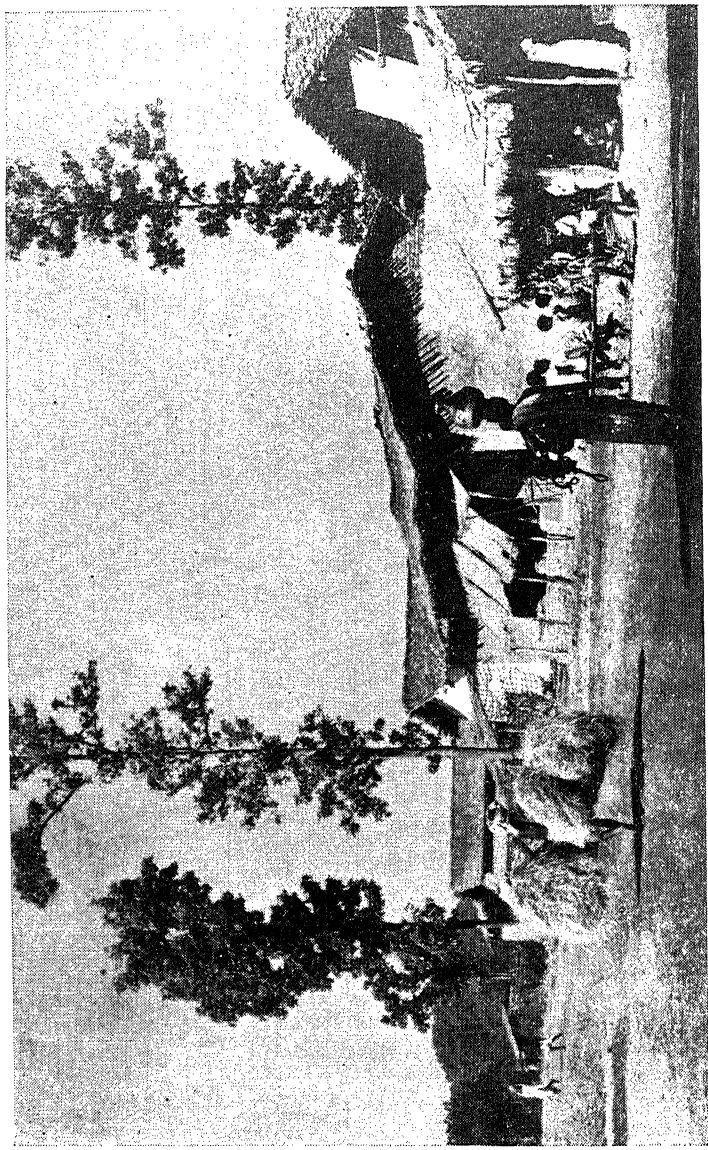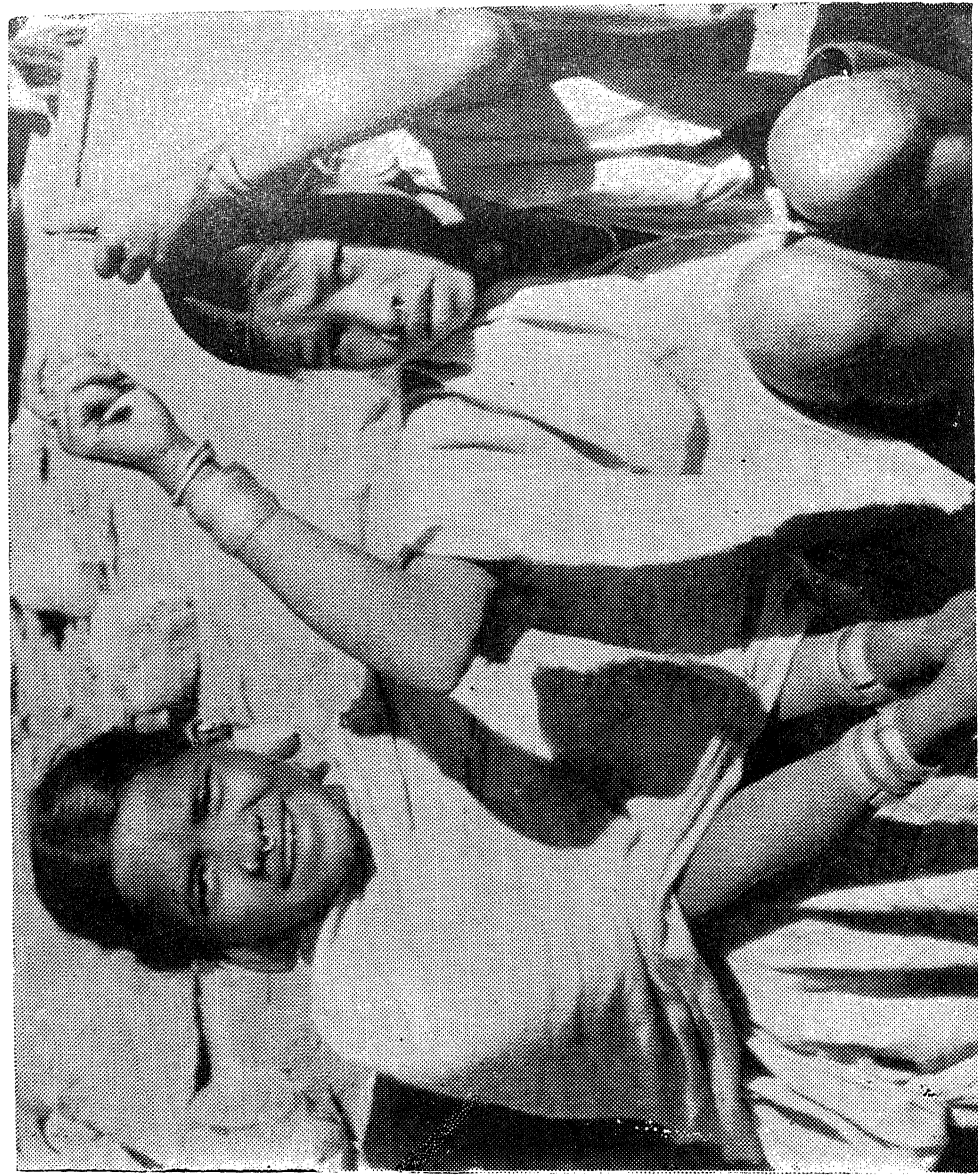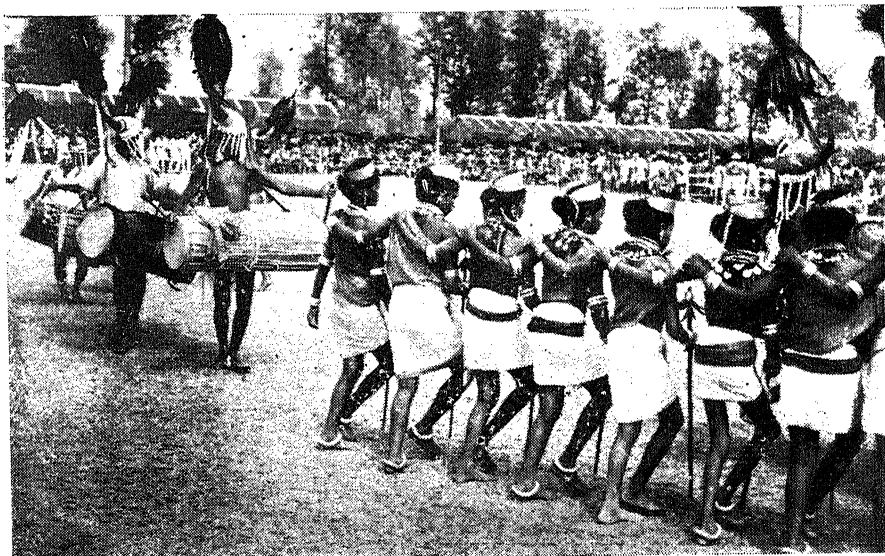
कोया नृत्य—कोरापुट

नृत्य ही आदिवासियों के प्राण हैं। वे नाच में आत्मविस्मृत हो संसार की सारी आविलताओं से दूर रहते हैं।

स्वास्थ्यवती कोयारमणी
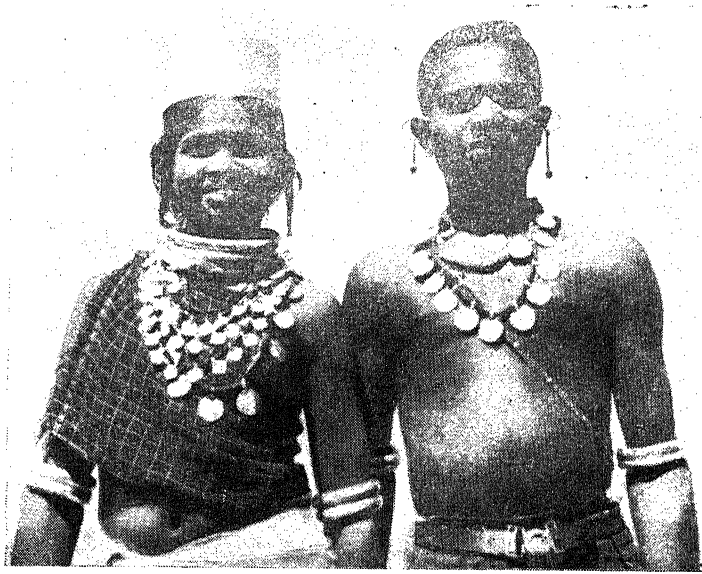
हर्षोत्फुल्ल मुद्रा में कोयादम्पति

कूटिया कन्ध दम्पति

बहुत ही सावधानी से सजाये जाते हैं। प्रायः उन वस्तुओं में प्रयोगकर्ता की अपनी पूरी छाप रहती है। इनकी स्त्रियाँ भी गाने की बड़ी शौकीन होती हैं। उनमें रंगीन गुड़ियों और आभूषणों का अत्यधिक प्रचलन है। आदिवासियों में गोदना गोदवाना सजावट की एक अत्यंत प्रचलित प्रथा है। उनके बालों की सजावट से भी उनकी कलात्मक समृद्धि का प्रदर्शन होता है।

आदिवासी संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू धर्म है। आदि-लेखकों द्वारा उनके धर्म को भूतवाद (Animism) कहा गया है। किंतु इसमें मुख्य रूप से पितर-पूजा होती है और सर्वेश्वर ब्रह्म की कल्पना का अभाव है। यह पितर-पूजा केवल आदिवासियों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका प्रवेश उच्च हिंदुओं और चीनी लोगों में भी है। वस्तुतः आदिवासी-धर्म आदिवासी-जीवन का विस्तार ही है। आदिवासियों के विचार से सूर्य, चंद्र, वर्षा, बिजली आदि साकार तत्त्व हैं। वे अनेक देवताओं और शक्तियों को मानते हैं और इनमें से अनेक उनके प्रतिदिन की चर्या से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। मुख्यतः धर्म के दो स्वरूप हैं—एक तो विश्वास, दूसरा आचार। यद्यपि धर्म की कोई एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है किन्तु उनके इन दोनों स्वरूपों की व्याख्या करना संभव है। आदिवासियों के विश्वास उनमें गहरे जमे हैं जो विभिन्न प्रकार के आचारों द्वारा प्रकट किये जाते हैं। दक्षिणी ओड़िशा के सौरा अपने धार्मिक आचारों के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। उनके यहाँ ऐसे बहुत से देवता हैं जो व्यक्ति के जीवन को नियंत्रित रखते हैं। वे बलिदान माँगा करते हैं और जिसके न पाने पर अनेक कष्ट देते हैं। मृत्यु के पश्चात् प्रत्येक पुरुष या स्त्री छाया में परिवर्तित हो जाता है और जब उनके उत्तराधिकारी गुआर समारोह में बलि चढ़ाते हैं तब वे देवता हो जाते हैं। एलविन ने बिलकुल ठीक ही लिखा है कि सौरा-धर्म को समझे बिना उनकी अर्थ-प्रणाली अथवा दूसरे किसी सामाजिक संगठन को नहीं समझा जा सकता। उनके यहाँ बहुत से ओझइत (जिनके शरीर पर देवी-देवता आते हैं) होते हैं जो सदैव जीवितों और मृतकों में संपर्क बनाये रखते हैं। ज्वर अथवा सिर-दर्द मात्र को दूर करने के लिए सौरा प्रदेश में उनके बृहत् समारोहों और व्यय-साध्य मनोरंजनों को देखना एक मजेदार दृश्य होता है।

इसी प्रकार कंध अपने बर्बर मानव-बलिदानों के लिए प्रसिद्ध हैं, यद्यपि अब बहुत दिनों से मेरिहा अर्थात् मानव-बलि की प्रथा बंद है। अब कंधों के देवता मानव-बलि के बदले भैंसों को ही स्वीकार करते हैं। मुंडा और संथाल अपने देवताओं को पक्षी और सुअर की भेंट चढ़ाते हैं और ठीक समय तथा ढंग से आचार की परिसमाप्ति पर वे अत्यंत संतुष्ट प्रतीत होते हैं। सौरों के अतिरिक्त ओड़िशा के आदिवासियों में सर्वशक्तिमान् ईश्वर और सृष्टिकर्ता की कल्पना अज्ञात नहीं है। सौरा इन दोनों के विषय में द्विविधा में हैं। देवताओं के चरित्रों का वर्णन करनेवाली अनेक पौराणिक कथाएँ और उपाख्यान हैं। ये कथाएँ आदिवासियों की धार्मिक जटिलता को प्रकट करती हैं। उनके अनेक देवता मनुष्य के आकार के माने गये हैं, जिनमें से बहुतों की मूर्तियाँ भी बनाई जाती हैं। ये देवता दयालु और दुष्ट भी होते हैं। दुष्ट देवताओं पर अधिक ध्यान दिया जाता है। उनके यहाँ पुरोहित और ऐंद्रजालिक भी होते हैं। फ्रेजर का विश्वास है कि यह धर्म जादूगरी से ही उत्पन्न हुआ है। जादू ही धर्म का प्रारंभिक रूप है। किंतु ऐसे विचार अब अमान्य

हो गये हैं। अब यह स्पष्ट हो गया है कि जादू विज्ञान के अत्यधिक अनुरूप है; क्योंकि निरीक्षण, प्रयोग और परिणाम दोनों के आवश्यक अंग हैं। एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति इस विषय में एक जादूगर भी अधिक आश्वस्त रहता है कि यदि आचारों का ठीक-ठीक पालन किया जाय तो जिस परिणाम पर पहुँचा जाता है वह अवश्य सत्य होता है। यदि देवताओं और आत्माओं को उचित बलिदान दिये जायँ तो उन्हें वश में किया जा सकता है और वे उपकार भी कर सकती हैं। किंतु धर्म के साथ ऐसी बात नहीं है। दैवी शक्तियाँ केवल संतुष्ट की जा सकती हैं, वे ओझइत या ऐंद्रजालिक द्वारा वश में नहीं हो सकतीं। इसीलिए यह कहा जाता है कि जादू शक्ति पर आधारित है और धर्म दुर्बलता पर। अक्सर कहा जाता है कि आदिवासी धर्म जादू, टोना और भूतों से भरा हुआ है। किंतु इस प्रकाश में ओड़िशा के आदिवासियों की जाँच करने पर यह बात खरी नहीं उतरती। मुंडाओं और कंधों में पुरोहित, पाहन और देहुरी होते हैं। सौरों में भुइयाँ होते हैं। ये गाँव के धर्म-निरपेक्ष मुखियों के पश्चात् दूसरी श्रेणी के माने जाते हैं। अस्तु, यह स्पष्ट है कि आदिवासी मनोविज्ञान चिर-स्थापित परंपराओं पर आधारित हैं और वे कार्य-कारण, परिणाम अथवा बहुत अधिक तर्क की चिंता नहीं करते।

सामाजिक गठन के विषय में इतना और कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न आदिवासियों में परिवार के संगठन और विवाह का बहुत अधिक महत्त्व है। परिवार में माता-पिता और उनकी संतानें होती हैं। यह परिवार पड़ोस, वंश और गाँव ऐसी बड़ी इकाइयों का अंग होता है। समाज के स्तर, आदर्श और परंपरा के अनुसार परिवार भावी पीढ़ी के निर्माण का उत्तरदायित्व लेता है। वृद्ध पुरुष नवयुवकों में आदिवासी पेशों और कर्तव्यों का संस्कार करते हैं। अतः प्रारंभ से ही बच्चा उचित व्यवहार करना सीख जाता है और समयानुसार अपने काम-धंधों में दक्षता प्राप्त कर लेता है। परिवार की इस संस्था ने शहरू और औद्योगिक सभ्यता के छलकपट तथा मिलावट के प्रसार से बहुत ही धक्का खाया है। परिवार के सदस्यों को एक सूत्र में बाँधनेवाली एकता की शक्तियों पर व्यक्तिवाद हावी हो गया है। ऐसे आदिवासी जो शिक्षितों के संपर्क में आये हैं और सभ्यता के चंगुल में फँस गये हैं, वे अत्यंत शीघ्रता से व्यक्तिवादी हो गये हैं। मयूरभंज के संथाल, केंदुझर के कोल और सुंदरगढ़ के मुंडा और उराँव इन आदिवासियों में सबसे अधिक प्रभावित हुए हैं। किंतु कंधों और सौरों का चित्र ऐसा नहीं है। यहाँ परिवार बुढ़ापे अथवा पंगु-अवस्था में अब भी संरक्षण प्रदान करता है। अत्यंत बूढ़ी माताओं और दादियों का उचित ध्यान रक्खा जाता है और उन्हें भोजन दिया जाता है। निकट और दूर के संबंधी बिना किसी भेद-भाव के एक साथ सम्मान पाते हैं। आदिवासी क्षेत्रों में जब कटाई और इस प्रकार के धंधे समाप्त हो जाते हैं तो बहुत लोग दूर के रिश्तेदारों को बुलाने के लिए आते-जाते दिखाई पड़ते हैं। वे अपने साथ कुछ अनाज और शराब के बर्तन ले जाते हैं। वहाँ सदैव आपसी लेन-देन चलता रहता है और यह रवाज उनकी अलिखित संहिताओं द्वारा रक्षित होता है। विवाह परिवार का पूरक होता है। आदिवासी समाजों में विवाह कर्तव्य और अनुग्रह दोनों है। जब कोई लड़का १३ वर्ष का हो जाता है तो उसके माता-पिता अथवा यदि माता-पिता मर गये हों तो उसके संबंधी

उसके वैवाहिक संबंध को स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। उनके यहाँ आत्मनिर्भरता पर सदैव जोर दिया जाता है ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी गृहस्थी बसा ले।

ऐसा करने के लिए एक स्त्री का होना आवश्यक है। किंतु लड़की अपने माता-पिता एवं भाई-बंधुओं की अमूल्य सेवा करती है इसलिए उसकी सेवा से उसको वंचित करने के लिए मुआवजा देने की आवश्यकता पड़ती है। अतः सभी आदिवासियों में वधू की कीमत अदा करने का प्रचलन है। उरावों में यह मूल्य एक जोड़ी बैल, आठ रुपया, एक मन धान या कोई दूसरा अन्न और एक जोड़ा नया कपड़ा है। मुंडा लोगों में यह राशि दस या पंद्रह रुपयों के बीच निश्चित है। कभी-कभी यह रकम वधू के माता-पिता की हैसियत के अनुसार अधिक भी होती है। इसके अतिरिक्त एक बकरी, एक बैल, कुछ अनाज और कपड़े होते हैं। हो लोगों में नगदी देय सबसे अधिक, कभी-कभी २०० रु० तक होता है। कंध लोगों में यह केवल एक भैंसा, कपड़े और गहने के रूप में होता है। कभी-कभी जब बाहरियों के साथ बात तय होती है, तब नगद रुपयों की माँग की जाती है। गंजाम जिले के सौरों में वधू के मूल्य के रूप में एक जोड़ा कपड़ा, गहने, शराब के बरतन और तीस से चालीस रुपये तक दिये जाते हैं। किंतु गुनपुर के सोरा नगद कुछ भी नहीं देते। वधू के लिए मूल्य देने के सिद्धांत की निंदा नहीं की जा सकती। किंतु कालक्रम के साथ इसका दुरुपयोग होने लगा है। अनेक बिरादरियों में वधू का मूल्य बहुत अधिक माँगने के कारण विवाह में बड़ी देर तक टालमटूल होती है और तब तक विवाह नहीं हो पाता जब तक मिथ्या लांछनों के परिणाम-स्वरूप भय से बाध्य न हो जायँ। हो लोगों में विवाह के अवसर पर विवाह-योग्य काफी सयानी लड़कियों का पाणिग्रहण कराते हुए देखा जा सकता है; क्योंकि वधू के मूल्य की बड़ी रकम उसके विवाहेच्छु (वर) द्वारा समय पर चुकाई नहीं जा पाती। इसके कारण व्यभिचार को प्रोत्साहन मिलता है और उनमें स्त्रियों का किसी के साथ निकल जाना साधारण सी बात हो गई है। इस प्रकार का उढ़ारना और फुसलाना समाज द्वारा मान्य नहीं है और ऐसे मामलों में लांजियासौरा वधू का मूल्य साधारण मूल्य से दूना माँगते हैं।

सभी आदिवासियों में बिरादरी के बाहर विवाह-संबंध स्थापित करने की प्रथा है। एक गोत्र के लोग आपस में भाई-बहन समझे जाते हैं। गोत्रीय विवाह उनमें वर्जित है। इसके अतिरिक्त गाँव में ही विवाह करना भी मना है। एक गाँव के विभिन्न गोत्रीय लोगों को आपस में विवाह-संबंध नहीं करने दिया जाता। किंतु लांजियासौरों में, जिनका कोई गोत्र ही नहीं होता, आपसी विवाह का न तो कोई बंधन है और न एक गाँव में ही संबंध निश्चित करने की रुकावट। पूर्व कथनानुसार, गृहस्थी बसाने की दृष्टि से ही उनके यहाँ विवाह को एक यथार्थ-संयोग माना गया है। उनमें भावना और आवेग की मात्रा कम होती है। स्त्री का समाज में एक पृथक् स्थान है। वह अपने पति की सक्रिय सहयोगिनी होती है और अपने पति के प्रत्येक कार्य में हाथ बँटाती है। सौरा और कंध जैसे आदिवासियों में, जो बदलती खेती (Shifting cultivation) पर अपना निर्वाह करते हैं, स्त्रियाँ एक मुख्य आर्थिक इकाई होती हैं। भोजन बनाने और बच्चों तथा पालतू जानवरों के पोषण करने के अतिरिक्त अधिकांश सामाजिक कार्य-कलापों में वे बहुत

अधिक प्रभाव रखती हैं। गुनपुर के सौरों में औरतें भी ओझइत होती हैं जो देवताओं को वश में रखती हैं। आदिवासी पितृ-प्रधान होते हैं और पिता के बाद पुत्र ही उत्तराधिकारी होता है। स्त्री विवाह के पश्चात् अपने पतिगृह में रहने के लिए आती है। किंतु सौरों की भाँति कुछ औरतें दोनों ओर—अर्थात् मायके और ससुराल से—संबंध बनाये रखती हैं और मरणोपरांत उनका अंतिम संस्कार दोनों स्थानों पर किया जाता है। पति की मृत्यु हो जाने पर वह घर में रख ली जाती है और चाहे तो देवर से शादी भी कर सकती है। यदि ऐसा संभव न हो तो विधवा अपने मायके चली जाती है। यदि वह दूसरा विवाह करती है तो पहले पति के परिवारवाले वधू-मूल्य के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार के झगड़े आदिवासियों में प्रचलित रिवाजों के अनुसार बूढ़ों द्वारा निबटाये जाते हैं।

कुछ हिस्सों में एक यह भी गलत धारणा है कि आदिवासी दुश्चरित्र होते हैं; आदिवासी-जीवन बुराइयों से परिपूर्ण समझा जाता है। ये बहुत ही विषयी और विलासी समझे जाते हैं। किंतु मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि इस प्रकार की सभी धारणाएँ बिलकुल निराधार हैं। उत्तरप्रदेश, बिहार और ओड़िशा के आदिवासियों के बीच काम करने के अनुभवों ने मुझे आश्वस्त कर दिया है कि यदि नैतिकता की खोज की जाय तो वह उन आदिवासी जातियों में पाई जायगी जो गैर-आदिवासियों के निकट संपर्क में नहीं आये हैं। बहुत से आदिवासियों में युवक संस्थाएँ हैं जिनमें युवकों और युवतियों को एक दूसरे से मिलने का अवसर मिलता है। अनेक आदिवासी जातियों में विवाह-पूर्व का संबंध कुछ अंशों में मान्य है। उनके यहाँ 'सेक्स' भयोत्पादक अथवा विघ्नकारक नहीं है। यह भोजन, आवास और रक्षा की भाँति प्राणी की एक मुख्य आवश्यकता है। हम लोगों के समाज में यौन-जीवन भेदभरे कर्तव्यों और हास्यास्पद वर्णनों से आच्छादित है। संभोग को, जो कि जीवन का एक प्राकृतिक एवं साधारण क्रम है, विचित्र स्वरूप प्रदान कर दिया जाता है। यही कारण है कि आधुनिक समाज में 'सेक्स' का अंत अत्यंत दुःखद होता है और अधिकांशतः पागलपन तथा नैराश्य ही हाथ लगते हैं। अधिकांश सभ्य देशों में यौन-संबंधी अपराध और नैतिक पतन साधारण सी बातें हो गई हैं। शिक्षाशास्त्रियों का विचार है कि माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रमों में यौन-शिक्षा और यौन-ज्ञान का भी एक आवश्यक अंग होना चाहिये। इस दिशा में आदिवासी हमसे एक कदम आगे हैं। यौवनागम के साथ लड़के और लड़कियाँ 'सेक्स' के बारे में पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेती हैं। उनके लिए सेक्स कोई रहस्य की वस्तु नहीं रह जाता। मुंडा लोगों का अपना शयनगृह "गिट्टीओरा" होता है जिसमें युवक को यौन-संबंधी कर्तव्यों की शिक्षा दी जाती है। उराओं के यहाँ अपना जुंकअदपा (Junk-Adpa) रहस्य-गृह (Preventions House) प्रत्येक गाँव के बीचोबीच बना होता है। इस प्रकार का घर मुंडाओं में घोटुल (Gotul) कहा जाता है।

विवाह के पूर्व का जीवन चाहे जैसा रहे परंतु आदिवासियों के विवाह के पश्चात् का जीवन शांति और निष्ठा पर आधारित होता है। विवाहित जोड़ी एक दूसरे से बहुत हिली-मिली रहती है और उनका दांपत्य जीवन क्रमबद्ध और संतुलित होता है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि

उनमें कलह या तलाक होता ही नहीं। जब समाज द्वारा तलाक स्वीकृत हो जाता है तो दोनों अपना-अपना पथ चुनने के लिए स्वतंत्र हो जाते हैं। यह केवल मनुष्यों को ही नहीं अपितु देवताओं को भी कुपित कर देता है। बहुधा अपराधी की हत्या कर दी जाती है। आदिवासी साधारणतः गैर-आदिवासियों के साथ यौन-संबंध स्वीकार नहीं करते। संथालियों में बिट्‌लहा (Bitlha) नामक एक प्रथा है। जब कोई आदिवासी लड़की किसी गैर-आदिवासी के साथ संबंध करती हुई पाई जाती है तो वे हजारों की संख्या में इकट्‌ठे होकर अपराधी के घर को नष्ट कर डालते हैं तथा उसे लूट लेते हैं। यदि घर के लोग किसी सुरक्षित स्थान पर हटा न दिये जायँ तो सबको कत्ल भी कर दिया जाता है। प्रशासन को ऐसी घटनाओं के निरोधार्थ कड़ी कार्रवाई करनी पड़ती है। अब यह प्रथा बिहार के संथाल परगना के कुछ सीमित क्षेत्र में ही प्रचलित है। किंतु पहले सभी संथालियों में यह प्रथा रही होगी। यद्यपि यह सबसे बुरी प्रथा है किंतु इससे तो इतना प्रकट ही हो जाता है कि आदिवासी नैतिकता पर कितना जोर देते हैं। कुछ भी हो, संपर्क में आने से उनकी नैतिकता का यह मान चूर-चूर हो गया है। औद्योगिक क्षेत्रों में रंगीन वस्त्रों से सजी-धजी आदिवासी लड़कियाँ रुपये-पैसे के प्रलोभनों में लाई जाती हैं। चूँकि वे बहुत गरीब होती हैं और सभ्यता की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकतीं इसलिए दूसरों को उन्हें फुसलाने में आसानी होती है।

ये आदिवासी प्रायः अपने नृत्यों के द्वारा हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं। जिस प्रकार कोकिल बिना गीत के, मयूर बिना पंख के, चित्रकार बिना तूलिका और रंग के प्रभावहीन होते हैं उसी प्रकार नृत्य-रहित होने पर आदिवासी होते हैं। इनके यहाँ पर्व अधिक संख्या में होते हैं। इन अवसरों पर उनके गाँवों से आती हुई ढोलक की आवाज दूर तक सुनाई देती है। संपूर्ण गाँव चहल-पहल और हो-हल्ले में डूब जाता है। पुरुष-स्त्री, जवान-बूढ़े सभी नृत्यमय हो उठते हैं। पहले युवक और युवतियाँ नृत्य प्रारंभ करती हैं फिर, बाद में, सभी सम्मिलित हो जाते हैं और सभी प्रकार की चिंताओं, वैमनस्यों और व्यक्तिगत मतभेदों का विस्मरण कर उल्लास में डूब जाते हैं। आदिवासी-जीवन में अनवरत परिश्रम और कठिन कार्य करने पड़ते हैं। सुबह से शाम तक कोई न कोई काम उनके लिए रहता ही है, चाहे वह लाभप्रद हो या नहीं। नृत्य ही वह द्वार है जिससे उनकी चिंताएँ बाहर ठेल दी जाती हैं। इससे उनके शरीर तथा मन में नई स्फूर्ति का संचार हो उठता है। अपने सभी उपकरणों के साथ नृत्य ही उनके जीवन में शांति लाता है। जब कभी विवाह, जन्म, मृत्यु और नये फलों का भोज होता है तभी नाच का आयोजन भी होता है।

ओड़िशावासी संथाल और हो अपने नृत्य के लिए विख्यात हैं। वे नृत्य के समय मंडल बनाते हैं जिसमें पुरुष और स्त्री क्रमशः स्थान ग्रहण करते हैं। ढोल-वादक एक इकाई अलग ही बनाते हैं जो ऐसे ताल उत्पन्न करते हैं, जिसके अनुसार पुरुष-स्त्री पैर मिलाकर नाचते जाते हैं। भिन्न-भिन्न उत्सवों और अवसरों के लिए नाच भी भिन्न-भिन्न होते हैं। हो लोगों का विवाह-नृत्य अपनी श्रेष्ठता के लिए प्रसिद्ध है। संथालों के झूमर आधुनिक नर्तकों को भी मंत्र-मुग्ध कर लेते हैं। नाचनेवालों का मिला हुआ पद-विन्यास और थिरकन अद्वितीय होती है। गादबा अपने

वल्कलों (छाल के कपड़ों) के द्वारा नाचते समय मोहक दृश्य उपस्थित करते हैं। गादब भी वैसे ही मंडल बनाते और बारी-बारी से अपना शरीर झुकाते हैं। मुइयों और जुवांगों की अपनी नृत्य-शैली है। इसमें पुरुष तो बाजा बजाते हैं और स्त्रियाँ उनके चंगु नामक प्रसिद्ध वाद्ययंत्र के ताल पर नाचतीं हैं। सारों में विभिन्न प्रकार की रंगीन ढोलकों द्वारा सामूहिक नृत्य होता है। नाच के समय प्रायः सभी आदिवासी सुंदरतम वस्त्र पहनते हैं। उराँव लोग बहुरंगी पाँखें और कपड़े पहनते हैं। उनका नाच सभी स्थानों पर बहु-प्रशंसित होता है। आदिवासियों के इन लोक-नृत्यों को आजकल बड़ा प्रोत्साहन दिया जा रहा है, क्योंकि बाहरवालों के संपर्क में आकर वे अपने परंपरागत नृत्य को छोड़ते जा रहे हैं। अतः परोक्ष रूप से उनका जीवन-सत्व प्रभावहीन होता जा रहा है।

इसी पृष्ठभूमि में हमें ३० लाख आदिवासियों पर विचार करना है। बासठ आदिवासी जातियों में पौड़ी मुइँया, पहाड़ी जुआंग, कोरवा, लांजियासौरा, कुटिया और डोंगरिया कंध, कोया, गादबा, परजा और बोंडा प्रारंभिक अवस्था में हैं। इन आदिवासी जातियों ने अपने रीति-रवाज और परंपराओं को बहुत अंश तक कायम रक्खा है। उन्होंने अपनी बोलियों की रक्षा की है और वे अधिकांशतः पहाड़ी कृषि—जिसे बदलती खेती (Shifting Cultivation) कहते हैं—पर निर्भर करते हैं। मुंडा, संथाल, उराँव, हो, मुइँया और साबर ये उन्नत आदिवासी जातियाँ हैं, जो अपनी आदिवासी विशेषताओं को छोड़ती जा रही हैं और परिवर्तनों को अपनाती जा रही हैं। अब हम लोग आदिवासियों को धीरे-धीरे और क्रमिक रूप से अपने में पचा लेने की नीति अपनाते जा रहे हैं। पृथक्करण की पुरानी नीति का अंत होता जा रहा है। आदिवासियों के जीवन-स्तर और शिक्षा को उन्नत करने के लिए कल्याणकारी योजनाएँ नियोजित हो रही हैं तथा लागू की जा रही हैं। यहाँ आदिवासी-शिक्षा की भलाई-बुराई के विषय में उचित विचार भी कर लेना आवश्यक है। आलोचना की जाती है कि आदिवासी लड़के-लड़कियाँ शिक्षा-संस्थाओं में अन्य लड़के-लड़कियों का मुकाबला नहीं कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त, शिक्षित हो जाने पर आदिवासी पुरुष-स्त्री अपने संबंधियों से अलग होते जा रहे हैं और साथ ही नये वातावरण से वे कुछ पा भी नहीं रहे हैं। शिक्षित आदिवासियों में ऐंद्रिय-पतन—जो उनमें कभी सुना नहीं जाता था—बड़ी बुरी तरह से दिखलाई पड़ रहा है। आदिवासियों में प्रत्यक्ष शिक्षा प्रचलित है। बच्चे बचपन से ही आदिवासी-पेशों की शिक्षा पाते हैं और वे आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर होते जाते हैं। सामाजिक नियमों और आदिवासी-संहिताओं की पूर्ण आज्ञाकारिता उन्हें सिखाई जाती है और उनके विरुद्ध जाने का निषेध किया जाता है। जहाँ-जहाँ युवक संगठन हैं, वहाँ वे युवकों को सामाजिक जीवन के सक्रिय सहायक होने की शिक्षा देते हैं। जब कि आदिवासियों में यह स्थिति है, हम लोगों की संस्थाओं में शिक्षा की परोक्ष-पद्धति है। उन पर अनुशासन लादा जाता है। आधुनिक युग में आत्मविश्वास की कमी है इसलिए आदिवासियों की शिक्षा-पद्धति का मनन बड़ी गंभीरता से किया जा रहा है। मनुष्य-शरीर-रचनाशास्त्री (Anthropologist) और शिक्षा-शास्त्री दोनों जोर देते हैं कि श्रम की महिमा, मेल, अनुशासन और आदिवासी समितियों

की एकता को अपनी शिक्षा-पद्धति में स्थान देना चाहिये ताकि आदिवासी विद्यार्थी निराश न हों। जहाँ तक गैर-आदिवासियों से उनके मुकाबले का प्रश्न है, यह टेढ़ी समस्या है। जब तक गैर-आदिवासी-जीवन को आदिवासी पूरी तरह से अख्तियार नहीं कर लेते, तब तक यह कठिनाई बनी रहेगी। कुछ क्षेत्रों में आदिवासियों ने बड़ी तेजी के साथ ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है। विशेष कर सुंदरगढ़ और गंजाम जिलों में ईसाई मिश्नरियों के सुस्थापित केंद्र हैं। इन मिश्नरियों ने बड़ी लगन और अध्यवसाय से आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा का प्रसार किया है। उन लोगों ने आदिवासियों के स्वास्थ्य पर भी ध्यान दिया है और दूर देहाती स्थानों में उनके लिए अस्पताल और दवाखाने खोले हैं। किंतु इन मिश्नरियों का एक मात्र उद्देश्य आदिवासी जनता को ईसाई धर्म में परिवर्तित कर देना है। इसलिए वे लोग आदिवासी-जीवन के उद्देश्यों और मूल्यों का महत्त्वांकन करना भूल गये हैं। धर्म-परिवर्तित लोग गैर धर्म-परिवर्तितों को नीच और संसारी समझने लग गये हैं। इस कारण बहुत से आदिवासी क्षेत्रों में आपसी विभाजन हो गया है। धर्म-परिवर्तित लोग अनुकरण द्वारा सभ्य-जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करते हैं जो उनके वश की बात नहीं है। इसलिए निराशा होती है। आदिवासियों में पहले जो नेतृत्व-भावना थी वह अब मिश्नरियों के हाथ में चली गई है। इन लोगों ने उनको विभिन्न प्रकार के जीवन अपनाने को बाध्य किया है। आदिवासियों के नृत्य जो उनकी आत्मा हैं, प्राण हैं, जीवन हैं—बंद कर दिये गये हैं और वे पर्व तथा उत्सव, जो उनके जीवन में समन्वय लाते हैं, नहीं मनाये जाते।

अब सरकारी और गैरसरकारी समितियाँ आदिवासियों की दशा सुधारने में लगी हुई हैं। उन समितियों में अनेक निःस्वार्थ सेवी हैं जो भरसक आदिवासियों की सहायता करने का प्रयत्न करते हैं। किंतु अभी भी कुछ छूछापन और कठिनाइयाँ हैं। उन कार्यकर्ताओं में से अधिकांश आदिवासियों की मनोवृत्ति, दिलचस्पी और समस्याओं से पूरे परिचित नहीं होते अतः अच्छा यह होगा कि शासन, सामाजिक कार्यकर्ता और साधारण जनता सहानुभूतिपूर्वक आदिवासी-जीवन के मूल्य को समझें-बूझें।

उत्कल का भक्ति-साहित्य

अध्यापक श्री कान्हुचरण मिश्र, एम० ए०

ओड़िया भाषा भारतीय प्राचीन आर्यभाषा से निकली है। यह बहुत प्राचीन है और साथ ही इसका साहित्य भी। साधारणतः हम कह सकते हैं कि मनुष्य के कार्यकलाप का लिखित विवरण ही साहित्य है। इसका एक व्यापक अर्थ भी है। इसी साहित्य से मानव-सभ्यता का परिचय मिलता है। काव्य भी साहित्य है लेकिन व्यापक अर्थ में इसका व्यवहार होता है; क्योंकि रामायण, महाभारत, इतिहास के रूप में मान्य होने पर भी काव्य ही हैं। प्रत्येक साहित्य की सृष्टि धर्म से ही हुई है। पृथ्वी में प्राचीनतम साहित्य तथा धर्मग्रंथ भारतीय आर्यों के वेद हैं। वेद में तीन कांड हैं—कर्म, ज्ञान और उपासना। उपासना भक्तिमूलक है। वेद में अग्नि, इन्द्र, सूर्य, वरुण, रुद्र और विष्णु की सूक्तियाँ हैं। उनमें इनकी स्तुति, देवताओं के रूप में, हुई है। ये स्तुतियाँ भय तथा भक्तिमूलक हैं। मानव-जीवन में ज्ञान, इच्छा और कार्य पर्यायक्रम से विद्यमान हैं। मनुष्य श्रवण, दर्शन, स्वप्न आदि के कारण ही अनुभव करता है, अर्थात् किसी विषय में उसका साधारण भाव या ज्ञान पैदा होता है, तब वह उसके प्रति अनुरक्त या विरक्त होता है। वह उसे पाने या त्यागने के लिए तदनुसार कर्म करता है। यह कार्यतत्परता उसे नूतन ज्ञान प्रदान करती है और विषय के प्रति आसक्ति पैदा करती है। फिर उसकी क्रियाशक्ति बलवती हो उठती है। जीवन में ये त्रिविध क्रियाएँ चक्रवत् घूमती हैं। ये सभी अवियोज्य हैं, फिर भी भिन्न रूप में गण्य हैं। ये तीन विषय अलग-अलग होने पर भी धर्म के अविभेद्य अंग हैं। गीता में कर्म, भक्ति और ज्ञानयोग के संबंध में कहा गया है। भागवत के एकादश स्कन्ध के बीसवें अध्याय में ज्ञान, कर्म और भक्ति के योग के विषय में कहा गया है। उस अध्याय में भक्ति परमेश्वर की अर्च्चना तथा उपासना रूप में मान्य है।

पुराणों में कर्म, ज्ञान और भक्ति की प्रधानता वर्णित है। ब्रह्मपुराण के १४५वें अध्याय में कर्म की प्रधानता इन शब्दों में बताई गई है—कर्महीन प्राणी कहीं नहीं है, इसलिए कर्म ही प्रकृत मुक्ति का कारण है। कर्म के बिना अपनी प्रधानता कहना उन्मत्त का प्रलाप जैसा है।[1]

गीता में ज्ञान की प्रशस्ति है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि "चार भक्तों में

---

१. सर्वं कर्मैव नाकर्मा प्राणी क्वाप्यत्र विद्यते। कर्मैव कारणं तस्मादन्यदुन्मत्तचेष्टितम्।
ब्रह्मपुराण, अ० १४५।

अर्थात्—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी में ज्ञानी ही एकनिष्ठ भक्त है। मुझे ज्ञानी अति प्रिय है। ज्ञानी मेरी आत्मा है।"[१]

यही भागवत के, प्रथम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में भी समर्थित है। उसमें कहा गया है कि जो मुनि विषयासक्त नहीं हैं और आत्मा में परमात्मा को देखते हैं, वे भी अप्रयोजन में विष्णु की भक्ति करते हैं। फिर गीता के त्रयोदश अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि मुझमें सर्वात्म-दृष्टि एकान्त भक्ति है। अन्य सबके साथ ज्ञान की साधना है। भागवत में भक्ति की प्रधानता कही गई है। भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के चौदहवें तथा बीसवें अध्याय में भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार मुझे विशुद्ध भक्ति वशीभूत करती है उस प्रकार योग, सांख्य, वर्णाश्रम-धर्म, वेदपाठ, तपस्या और दान वशीभूत नहीं कर पाते। गीता में भी वही कहा गया है। भगवान् ने अर्जुन से कहा है, "यत् करोषि यदश्नासि यत् जुहोषि ददासि यत्। यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्"। भक्ति का स्वरूप बताते हुए योगसूत्र में कहा गया है कि परानुरक्ति ही ईश्वर की भक्ति है ।[२] यहाँ परा शब्द का अर्थ अनन्यविषयक अनुराग या प्रेम है। नारद-पांचरात्र में कहा गया है कि इन्द्रियों के द्वारा हृषीकेश के निष्ठापूर्वक भजन को भक्ति कहते हैं। यह सेवा सब प्रकार की छलना से रहित है।[३] इसी "नारद-पांचरात्र" में यह भी लिखा है कि ऐसी भक्ति के बिना पंचविध मुक्ति कभी नहीं मिलती।

वस्तुतः तीन प्रकार की भक्ति है—कायिक, वाचिक और मानसिक। फिर रज, तम और सत्त्व गुण-भेद के कारण भी यह त्रिविध है। इसके अतिरिक्त भागवत में निर्गुण भक्ति की बात भी लिखी गई है।

सत्य युग में तपस्या की प्रधानता थी। त्रेता युग में यज्ञ का प्रवर्तन हुआ। यज्ञ करना राजस भक्तिजनित है। यज्ञ की पत्नी श्रद्धा है। भक्ति श्रद्धामूलक है। पहले यज्ञानुष्ठान में पशु-बलि का प्रचलन नहीं था। त्रेता युग में पशुबलि का प्रवर्तन हुआ। यज्ञ में पशुबलि का कार्य बढ़ जाने से लोगों ने ज्ञान का अनुसरण किया। तब उपनिषद् की सृष्टि हुई और कर्म के स्थान पर ज्ञान की प्रधानता हुई। उपनिषद् युग में भी भक्ति के अनुशीलन का स्पष्ट संकेत श्वेताश्वेत उपनिषद् में मिलता है। उपनिषद् युग में वैदिक देवता ब्रह्म परमात्मा के रूप में मान्य हुए। इस युग के अंतिम भाग में और पौराणिक युग के आरंभ में वैदिक देवताओं के बीच पञ्चदेवताओं ने प्रधानता प्राप्त की। ब्रह्म और भगवान् की निर्गुण भक्ति पंचदेवताओं के सगुण रूप में अर्पित हुई। ये पंचदेवता हैं—विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य। वेद में विष्णु, रुद्र और सूर्य के सूक्त हैं। गणेश और शक्ति के सूक्त मुख्य नहीं हैं।

"गणानां त्वां गणपतिं हवामहे"—इस वैदिक मन्त्रांश को लेकर गाणपत्यों ने गणपति

---

१. गीता, सप्तम अध्याय, श्लोक १६-१७।

२. 'ईश्वरे परानुरक्तिः भक्तिः' (योगसूत्र)।

३. "सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्। हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते।"

गणेश को परमात्मा के रूप में ग्रहण किया और वेद के वाक्सूक्त को देवीसूक्त के रूप में ग्रहण किया गया। गणेश के लिए गणपति उपनिषद्, गणेशपर्व और उत्तरतापिनी उपनिषद् हैं। शक्ति और दुर्गा के विषय में देवी उपनिषद् है। वैदिक युग के प्रधान देवता अग्नि, इन्द्र, वरुणादि पौराणिक युग में अप्रधान देवताओं के रूप में गिने जाने लगे और ये पंचदेवता परम ब्रह्म के रूप में गृहीत हुए।

पंचदेवताओं के उपासक अर्थात् विष्णु के वैष्णव, शिव के शैव, सूर्य के सौर, गणपति के गाणपत्य और शक्ति के शाक्त उपासकों के रूप में परिचित हैं। पुराण युग में पंचदेवताओं के साथ अग्नि भी षष्ठ देवता के रूप में पूज्य है। जो जिस देवता के उपासक हैं, वे उनको परम देवता के रूप में पूजते हैं।[1]

ऊपर कहा गया है कि वैदिक युग में प्रायः हरेक देवता परमेश्वर के रूप में स्तुत है। भगवान् एक हैं लेकिन उनको पण्डितों ने अनेक प्रकार से कहा है।[2] इन देवताओं के प्रतीक जगन्नाथ हैं अर्थात् इन पंचदेवताओं के उपासक अपने उपास्य देवता को जगन्नाथ के विग्रह में देखते हैं।

पहले कहा गया है कि यज्ञ की पत्नी श्रद्धा है और यज्ञ की अन्य कई क्रियाएँ तामस तथा राजस भक्तिमूलक हैं तथा यज्ञ प्रवृत्तिमार्ग की क्रिया है। उत्कल की प्राचीन परिस्थितियाँ बहुत हैं; क्योंकि ब्रह्मा और देवताओं ने गय के पवित्र शरीर पर यज्ञ किया था। गय का सिर गया में, नाभि याजपुर में और पैर महेन्द्रगिरि के पास पीठापुर में हैं। महाभारत और वायु पुराण में इस यज्ञविधान का उल्लेख है। यह राज्य भी निवृत्ति धर्म या निष्काम धर्म के प्रधान पीठ के रूप में मान्य हुआ। प्रबल प्रवृत्ति मार्ग के अनुष्ठाता परशुराम ने अपने जीवन का अंतिम समय कलिंग के महेन्द्र अंचल में व्यतीत किया था और ब्रह्मानुध्यान में अपने को निमग्न किया था। कलिंग में उनकी अवस्थिति के कारण भारतीय मुनि, ऋषि, राजा और देवता उनके दर्शन के लिए यहाँ आते थे। परशुराम की अवस्थिति तथा देवताओं के समागम के साथ अन्य लोगों के आने से यह निवृत्ति मार्ग के परम पीठ के रूप में मान्य हुआ। अन्य धर्मों का प्रसार होने पर भी भारत में विष्णु, शिव और सूर्य की पूजा वैदिक युग से चलती आ रही है। उत्कल में भी इसका प्रचलन था। बौद्धधर्म और जैनधर्म का प्रवर्तन तथा प्रचलन होते हुए भी उसका प्रसार था। वैदिक धर्मानुसार

---

१. गणेशञ्च दिनेशञ्च वह्निं विष्णुं शिवं शिवाम्।
समभ्यर्च्य देवाष्टकमिष्टदेवञ्च पूजयेत्॥
गणेशं विघ्ननाशाय व्याधिनाशाय भास्करम्।
आत्मनः शुद्धये वह्निं श्रीविष्णुं मुक्तिहेतवे॥
ज्ञानाय शंकरं दुर्गां परमैश्वर्यहेतवे।
सम्पूजने फलमिदं विपरीतमपूजने॥—ब्रह्मवैवर्त पुराण, गणेशखण्ड।

२. एकम् सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।—ऋग्वेद।

ही खारवेल के अभिषेक का उल्लेख आता है। इस प्रकार ओड़िशा में जैन और बौद्धधर्म के प्रसार के साथ ही साथ वैदिक सनातन धर्म का भी अस्तित्व रहा।

वैदिक धर्म के बाद उत्कल में जैनधर्म और बौद्धधर्म का उत्थान हुआ। बौद्धधर्म की महायान शाखा में हिन्दू देवता अप्रधान और बुद्ध प्रधान देवता के रूप में पूजित हुए। ज्ञानप्रधान बौद्धधर्म ने आगे चलकर महायान शाखा के अंतर्गत पूजा, अर्च्चनादि के रूप में भक्ति का आश्रय लिया।

'बौद्ध गान ओ दोहा' ज्ञानाश्रित होने पर भी भक्तिहीन नहीं है; क्योंकि श्रद्धा या भक्ति के आश्रय के बिना ज्ञान की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। कान्हुपाद, लुइपाद, शबरपाद आदि सिद्धाचार्य उत्कल के ही थे और उनकी गीतियाँ ओड़िया भाषा और साहित्य के प्राचीनतम निदर्शन हैं। पण्डितों के मतानुसार इनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक था। बौद्धधर्म के पतन के बाद हमें उत्कल में शैवधर्म की प्रधानता देखने को मिलती है। मुखलिंगेश्वर, महालिंगेश्वर और भुवनेश्वर के शिलालेखों में शिव जी की अर्च्चना का विधान किया गया है। "रुद्रसुधानिधि" और "सोमनाथ व्रत" में शिवभक्ति की महिमा वर्णित है। इसके अतिरिक्त शिवपूजा का अधिष्ठान अर्थात् शिवलिंग की स्थापना जितनी उत्कल में देखने को मिलती है उतनी भारत के किसी अन्य स्थान में नहीं है। इससे मालूम पड़ता है कि किसी समय उत्कल में शिव-पूजा का प्रबल प्रसार था।

यह निश्चित है कि शंकराचार्य के द्वारा विशुद्ध शैवधर्म का प्रवर्तन हुआ था और इस धर्म की अनेक यथेच्छाचारिताएँ मार्जित हुई थीं। उत्कल में इसी मार्जित शैवधर्म का प्रसार हुआ था। उसी समय शाक्त धर्म का प्रसार हुआ जो क्रमशः जोर पकड़ता गया। इसी शाक्त धर्म के साहित्य ग्रन्थों में शारला दास का महाभारत, चण्डीपुराण और बिलंका रामायण आदि हैं। शारला दास ने अपने महाभारत में सभी देवताओं के प्रति भक्ति प्रदर्शन करने पर भी दुर्गारूपिणी सारला देवी को अपनी इष्टदेवी के रूप में मानकर उपासना की है। वे उनकी कृपा से इस अनोखे ग्रन्थ को लिखने में समर्थ हुए थे। उत्कल में दुर्गा के अनेक नामों के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न प्रकार की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। इनमें विरला, विरजा, शारला, चच्चिका, तारा, चण्डी, भट्टारिका, कीचकेश्वरी, समलेश्वरी, मंगला आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त उत्कल के हर एक गाँव में ग्रामदेवियाँ भी विद्यमान हैं। हरएक घर में वृन्दावती के रूप में शक्ति ही पूजित है।

उत्कल में दुर्गापूजा का जैसा प्रसार है वैसा कालीपूजा आदि का नहीं। काली की प्रस्थापित मूर्तियाँ बहुत कम हैं। गवेषकों का मत है कि बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण ही काली तथा अन्य देवियों की पूजा प्रचलित हुई। आवश्यक होते हुए भी यहाँ पर यह विषय विचारणीय नहीं है। किंतु उत्कल में दुर्गा के मृण्मय विग्रह की पूजा बहुत ही कम दिखाई पड़ती है; फिर भी दुर्गा के उत्सव के समय घर-घर में सिर्फ कलसी को प्रतिमा के रूप में रखकर पूजा की जाती है।

वैदिक युग से विष्णु की पूजा चलती आ रही है। यह कहना भ्रम है कि बुद्धदेव के बाद गया का माहात्म्य बढ़ा, क्योंकि ईसा की आठवीं शताब्दी में वेद के टीकाकार यास्काचार्य ने अपने पूर्ववर्ती टीकाकार साक्पुणि के वचन का उद्धरण दिया है। उसमें उन्होंने "गयशिरसि" कहा है। विष्णु की पूजा और प्रतिपत्ति बौद्ध धर्म के बहुत पहले से प्रचलित थी और उत्कल में "विष्णु यज्ञ-पुरुष" की आराधना यज्ञानुष्ठान में प्रचलित हुई। जगन्नाथ की प्रतिष्ठा नाना धर्मों के विषय में संकेत करती है। प्राचीन काल से ही जगन्नाथ जी विष्णु के रूप में गृहीत हैं। उत्कल के प्राचीन राजवंशों में से बहुत से वैष्णव थे। बौद्ध और जैनधर्म के प्रचलन के बाद शैव और वैष्णवधर्म का प्रचार कम होता गया किंतु शुंग राजत्व के समय (ईसा पूर्व प्रथम शती) पुष्यमित्र के द्वारा वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान हुआ था। इसके बाद के शक और कुशाण राजा शैव या बौद्ध धर्मानुयायी होने के कारण वैष्णव या वासुदेव धर्म के प्रति अनुरक्त नहीं थे। गुप्त-राजत्व के समय वैष्णव अथवा ब्राह्मण धर्म का पुनः अभ्युत्थान हुआ। हर्षवर्द्धन के समय तक ब्राह्मण धर्म में शिव, विष्णु आदि की पूजा भक्ति-समन्वित थी। बाद में राजनीतिक विश्रृंखला, धर्म में व्यभिचार और मुसलमानों के आक्रमण के कारण धर्म में गत्यवरोध आ गया और दक्षिण में उत्तरांचल के वैष्णवों की अवस्थिति तथा धर्म-प्रचार के कारण तामिल देश में वैष्णव धर्म का वास्तविक उत्कर्ष हुआ। भागवत में इस ओर संकेत किया गया है :—

"इस कलियुग में कहीं-कहीं कम और विशेष रूप से द्राविड़ देश में वैष्णव भगवद्-भक्त अधिक संख्या में जन्म ग्रहण करेंगे। इस देश में ताम्रपर्णी, कृतमाला, कावेरी, प्रतीची नाम की महानदियाँ बहती हैं। जो इन नदियों का पानी पीते हैं वे शुद्धचित्त होकर भगवद्-भक्ति प्राप्त करते हैं।[1] दक्षिण के ये भक्त आलवार कहलाते हैं। इनमें नाथमुनि, यामुनाचार्य और रामानुज प्रसिद्ध हैं। इन्हीं रामानुजाचार्य के द्वारा प्रचलित वैष्णव धर्म उत्कल में परिपुष्ट हुआ। शंकराचार्य शैव होने पर भी पंचदेवताओं की उपासना के पक्षपाती थे। साथ ही वे विष्णुभक्त भी थे। रामानुजाचार्य ११ वीं शताब्दी में हुए थे। यहाँ पर विचारणीय विषय यह है कि जयदेव का 'गीतगोविन्द' इनके बाद लिखित है या पहले का है? जयदेव के राधाकृष्ण की प्रेमलीला के वर्णन में जो परकीया रति वर्णित है, वह सहजिया धर्म के शुद्ध संस्कार के रूप में ग्रहणीय है। यह अनुमान भागवत के रासपंचाध्यायी के वर्णनों से सहज ही लग जाता है कि सहजिया धर्म की

---

१. क्वचित् क्वचिन्महाराज द्राविडेषु च भूरिशः।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी।
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर!
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवोमलाशयाः।

—भागवत, दशम स्कंध, अध्याय ५, श्लोक ३९-४०।

यथेच्छाचारिता दूर करने के लिए ही भगवान् से परकीया-प्रीति अर्थात् जीव-ब्रह्म के आपस में मिलने की लीला उद्भावित हुई।

उत्कल में मध्वाचार्य, नरहरि तीर्थ आदि के आगमन के कारण वैष्णव धर्म भी सुदृढ़ हुआ। इन महापुरुषों के आविर्भाव तथा भागवत पुराण के प्रचार के कारण चैतन्य देव के आगमन के पहले ओड़िशा में वैष्णव धर्म की शुद्धाभक्ति और ज्ञानमिश्रा भक्ति का प्रचार तथा प्रसार हो चुका था; क्योंकि भागवत में इन दोनों का वर्णन है। चैतन्य की उपस्थिति के समय यहाँ पंचसखा ज्ञान-मिश्रा भक्ति के उपासक थे तथा राय रामानन्द श्रद्धाभक्ति के प्रधान उपासक थे। चैतन्य ने दोनों मत वालों को अपने सखा के रूप में ग्रहण किया; क्योंकि वे अचिन्त्य भेदाभेदवादी थे। यह मत राय रामानन्द के द्वारा भी स्वीकृत हुआ था। इसका उल्लेख कृष्णदास कविराज ने अपने "चैतन्य-चरितामृत" में स्पष्ट रूप से किया है। ज्ञानमिश्रा भक्तों ने पुरुषोत्तम धाम को नित्यधाम और श्रीकृष्ण को अवतारी के बजाय अवतार के रूप में ग्रहण किया है। इनका भजन "हरे राम कृष्ण" है। श्रद्धाभक्ति के उपासक वृन्दावन को नित्यधाम और श्रीकृष्ण को अवतारी मानते हैं तथा उनका भजन "हरे कृष्ण राम" है। कलिसन्तरणोपनिषद में "हरे राम कृष्ण" भजन का उल्लेख है। अधिकारी के भेद से भजन के प्रभेद निर्देशित हैं। शुद्धाभक्तिवादी सायुज्य भक्ति के पक्षपाती नहीं थे। वे राधाभाव में अनुप्राणित होकर कृष्ण की सेवा करते थे। यही कारण है कि उनके भजन का स्वरूप भी अलग है। ज्ञानमिश्रा भक्त सायुज्य मुक्ति के पक्षपाती हैं इसलिए उनका भजन "हरे राम कृष्ण" है। ये भक्त मुक्ति के बाद भगवान् में अहैतुकी भक्ति करते हैं।

शारला दास के बाद हमें मार्कण्ड दास के "महाभाष" और "केशव कोइलि" नाम के दो पद्य-ग्रन्थ मिलते हैं। महाभाष में शिव के मुख से राम की प्रशस्ति और "केशव कोइलि" में वात्सल्य रस के द्वारा कृष्ण की महत्ता वर्णित है। ऊपर कहा जा चुका है कि शाक्त धर्म के बाद वैष्णव धर्म का प्रबल प्रचार हुआ था। बलराम दास की "रामायण" और अर्जुनदास के "रामबिभा" काव्यों में राम की लीला वर्णित है। जगन्नाथ दास का "भागवत", अच्युतानन्द दास का "हरिवंश" और विप्रनारायण दास का "हरिवंश" तो बाद की रचना है। अन्यान्य सखाओं तथा अनन्त, अच्युत, यशोवन्त की कृतियाँ श्रीकृष्ण के महिमागान से पूर्ण हैं। उसमें कृष्ण निराकार तथा साकार दोनों रूपों में वर्णित हैं। पंचसखा जगन्नाथ के सखा और शाखा के रूप में वर्णित हैं तथा उनकी गणना चैतन्य के सखा के रूप में भी है। पंचसखा के बाद श्रीकृष्ण के आश्रय से कई ब्रह्मतत्त्वात्मक ग्रन्थ लिखे गये हैं। कपिलेन्द्र या पुरुषोत्तम देव के समसामयिक दामोदर दास की "रस कोइलि चउतिशा" में विष्णुभक्ति का परिचय मिलता है। पंचसखा युग के बाद काव्य युग आता है। इस युग के विभिन्न काव्यों में कवियों का भक्तिभाव भी प्रकट है।

पुराण, काव्य आदि से भक्ति-साहित्य के अनेक निदर्शन दिये जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त अनुसन्धान करने पर मालूम पड़ता है कि अनेक प्रसिद्ध पीठों की अवस्थिति के कारण ही ओड़िशा में भक्तिधर्म और भक्ति-साहित्य की सृष्टि हुई है। उदाहरण के लिए कटक के परमहंस पीठ, पंचसखा पीठ, अरक्षित दास का पीठ और महिमा गोसाईं का पीठ; सम्बलपुर में समलेश्वरी;

सोनपुर में सुरेश्वरी, लंकेश्वरी और समलाइ; बडम्बा में भट्टारिका; बाँकी में चर्च्चिका; गंजाम में तारातारिणी; बाणपुर में भगवती और उग्रतारा; नीलाचल में विमला; याजपुर में बिरजा; झंकड़ में शारला आदि पीठ अवस्थित हैं।

उत्कल के धर्मायतन में दुर्गामाधव-उपासना एक अभिनव कल्पना है। अन्य कहीं से इस उपासना की सूचना नहीं मिलती। दुर्गा के साथ माधव की पूजा तथा गुप्त यात्रा, वनदुर्गा विग्रह के साथ नीलमाधव या जगन्नाथ की उपासना भारतीय धर्म-जगत् और उपासना क्षेत्र को उत्कलियों का अनवद्य दान है। अत्यंत प्राचीन काल से तन्त्र-साधना के प्रकृष्ट क्षेत्र के रूप में सम्मानित होने के कारण यह भूमि अनेक शक्तिपीठों से पूर्ण है। भुवनेश्वर के समीप चउषठी योगिनी पीठ, बिरजा पीठ और नीलाचल के भैरवी पीठ जनसाधारण के हृदय में भक्तिभाव की सृष्टि करते हैं। जो भी हो, लेकिन विभिन्न शास्त्र, पुराण और काव्यादि से उदाहरण दिये बिना उत्कल के भक्ति-साहित्य की रूपरेखा स्पष्ट नहीं हो सकती।

पहले कहा गया है कि 'बौद्ध गान ओ दोहा' ही उत्कल साहित्य की आदि-अवस्था है। बौद्धधर्म की वज्रयान शाखा के विभिन्न दोहे इसमें सन्निविष्ट हैं। कान्हुपाद, लुइपाद, शबरीपाद, ताड़कपाद आदि उत्कलीय साधक बौद्ध सहजिया धर्म के सिद्ध थे। ये ज्ञान के विलासी थे तथा निर्वाण-प्राप्ति के लिए सदा उन्मुख रहते थे। शबरीपाद ने अपने एक दोहे में कहा है कि "गुरु-वाक्य को धनुष बनाओ और अपने मन को बाण। बस, एक शर छोड़कर परम निर्वाण को विद्ध करो।"[१]

लुइपाद ने कहा है "जिसका वर्ण, चिह्न, रूप कुछ भी मालूम नहीं; उसकी व्याख्या तत्त्व, बाण, आगम और वेद के द्वारा कैसे की जा सकती है?"[२]

रुद्रसुधानिधि ग्रन्थ में शिव की महिमा वर्णित है। उस ग्रन्थ के नायक हैं अभिनव चइतन या तरुणेन्दु शेखर। वे दुःखित हृदय से शिव की प्रार्थना करते हैं। इससे शिवभक्ति का निदर्शन मिलता है। प्रार्थना में कहा गया है—"तरुणेन्दु शिखर छामुरे उमा होइ महाभय पाइ कर यत्र जोड़ि थिर करि कहिला—व्यग्रतार चित्त छाड़ि भो स्वामि तोर पदारविन्द कु आश्रय करि मुँ भ्रम होइलि यद्यपि मोते महाघोर नर्कंकु देउअछु समर्पि। भो देव केवण से दारुण वचन देलुँ आज्ञा। ताहा चतुरदश भुवने के करिपारिब अवज्ञा।" रुद्रसुधानिधि का रचनाकाल द्वादश शताब्दी है।

शूद्रमुनि शारला दास ने जगन्नाथ की वन्दना की है; लेकिन यह बुद्ध के रूप में है। आगे उन्होंने सूर्य, गणेश, शिव, अग्नि, विष्णु आदि को भक्ति-पूत हृदय से अपना भक्त्यर्घ अर्पित किया

---

१. गुरूवाक　पुआँ　विद्ध　पिअमणवाणे
एके सर सन्धाने विद्ध विद्ध परम निवाणे।"—बौद्धगान ओ दोहा

२. जाहेर वाण चिन्ह　छुव　न जाणी
सो　कैसे　आगमवें　बखाणि।—वही

है। उत्कल के भक्त पंचदेवता के उपासक हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि शारला दास माँ शारला चण्डी के वरपुत्र थे। देवी की प्रसन्नता से ही उन्होंने महाभारत, विलंका रामायण, चण्डी पुराण जैसे प्रकांड ग्रन्थ लिखे। उन्होंने महाभारत, रामायण और भागवत की रचना में अपनी स्वतंत्र प्रतिभा का परिचय दिया है। उन्होंने लिखा है :—

"बच्छा दास द्वारा लिखित "कलसा चउतिशा" में शिव के विवाह का वर्णन है। उन्होंने शारला दास के पूर्व श्रृंगार, हास्यरस आदि के सम्मिश्रण से एक सुन्दर चउतिशा लिखी थी। इसकी रचना त्रयोदश शताब्दी के प्रथम भाग में हुई थी। इसमें उन्होंने लिखा है कि शारला चंडी साक्षात् भैरवी हैं। मैं (कवि शारला दास) उनका पुत्र हूँ। सर्वमंगलरूपिणी माता कुतूहल-पूर्वक (मेरे) ग्रंथ का रस ग्रहण करती है। देवी ने ही प्रसन्न होकर आज्ञा दी है और मैंने विस्तार-पूर्वक महाभारत की रचना की है।[1] शारलादास के पूर्व श्रृंगार, हास्य रसादि के सम्मिश्रण से बच्छादास ने कलसा चउतिशा नामक एक सुंदर चउतिशा लिखी थी। इसमें शिव-विवाह का वर्णन है। इसकी रचना १३वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुई थी। इसमें बच्छादास ने लिखा है कि जगत के ठाकुर कपिलास में हैं। अल्पबुद्धिवाले बच्छादास उनके लिए कलसा का पाठ कर रहे हैं।"[2]

मार्कण्ड दास ने श्रीकृष्ण और श्री रामचन्द्र जी का माहात्म्य गान किया है। "केशव-कोइलि" में कृष्ण और "महाभाष" में राम की स्तुति वर्णित है। "केशव कोइलि" तो वात्सल्य रस की एक मन्दाकिनी ही है। यशोदा कहती हैं—हे कोइलि, मेरा पुत्र केशव किसी के बहकावे में आकर मथुरा चला गया और फिर लौटा नहीं। खानेवाला पुत्र तो जाकर मथुरा में अँटक गया, मैं किसे दूध और खाँड़ दूँ?[3]

चैतन्य के बहुत पहले उत्कल ने वैष्णव धर्म की लीलाभूमि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर

---

१. सर्वमंगलारूपिणी मात मत्तभोला,
ग्रन्थर रस धेनइ होइ कुतुहल।
शारला चण्डी साक्षाते अटइ भैरवी,
ताहार पुत्र शारला दास मुं कवि।
सुप्रसन्ने आज्ञा मोते देले शाकम्भरी,
लभ तु बिलास महाभारत बिस्तारी।

२. क्षितिपति ठाकुर से कपिलासे स्थिति
क्षुद्रबुद्धि वत्सादास कलसा पठन्ति।

३. कोइलि, केशव ये मथुरा कु गला,
काहा बोले लगा पुत्र बाहुडि नइला लो कोइलि
कोइलि, खण्ड क्षीर देबि मुं काहाकु,
खाइबार पुत्र गला मथुरापुरकु लो कोइलि।

ली थी। चैतन्य के आगमन के करीब ५० वर्ष पहले वृद्ध चम्पत्तिराय दामोदर दास ने अत्यंत ललित और मधुर भाषा में हृदय की अचला भक्ति के साथ "रसकल्या चउतिशा" की रचना की थी। सचमुच यह रस की कुल्या ही है।

भक्त ने गोपीभाव से अनुप्राणित होकर अपने महाभाव में कहा है:—

"नयने ता रूप देखिलि याहा,
न पारइ कहि वचने ताहा।
न रूचइ मोते सदनर सुख,
न देखि देखिलि कला श्रीमुख रे।
निवेदन मोर धेन गो—
निचे प्राणबन्धु देइ मोते रख आजहुँ तोर अभिन्न गो।"

× × ×

चतुरानन या दास गो,
चन्द्रशेखर पलक न टलइ चाहिं चक्र धर वेश गो[1]।

पंच-सखाओं में बलराम बड़े हैं। वे जैसे कृष्णभक्त हैं वैसे ही ब्रह्मवादी भी। उन्होंने "रामायण" और "भावसमुद्र" में अपनी भक्ति की महत्ता दिखाई है। रामायण में ताड़का-वध के प्रसंग में कवि ने कहा है—

परब्रह्म अवतार धरे जंगम रूप,
केवण भाग्ये निशाचरे खण्डिला सकल पाप[2]।

जगन्नाथ दास के भागवत और अष्ट गुज्जरी के अध्ययन से उनका भक्तिभाव स्पष्ट हो जाता है। उनका ऐसा भक्तिभाव देखकर चैतन्य ने उन्हें "अतिबड़ी" की उपाधि दी थी। अच्युतानन्द, अनन्त, यशोवन्त आदि सखा ज्ञानमिश्रा भक्त थे। यशोवन्त ने यह बात अपनी "प्रेम भक्ति ब्रह्म गीता" में स्पष्ट रूप से कही है।

ऊपर सूचित किया गया है कि पंचसखा युग के बाद काव्ययुग का आरम्भ होता है। इस

---

१. **"मैंने जिस साँवले श्रीमुख का दर्शन किया है उसे शब्दों में नहीं कह सकता। बिना उसके मुख की शोभा देखे मुझे घर भी नहीं रुचता। प्राणबन्धु श्रीकृष्ण ! आपसे निवेदन है कि मुझे अपना अभिन्न बना लो।"**

"ब्रह्मा चक्रधर के दास हैं। चक्रधर के वेश को देखकर ईश्वर को अपनी पलक गिराने की इच्छा नहीं होती।"

२. **"परब्रह्म ने जंगम के रूप में अवतार धारण किया। उन्होंने निशाचर के किस भाग्य के कारण उसका सब पाप दूर कर दिया ?"**

युग के स्मारक-स्वरूप अर्जुन दास का "राम बिभा" काव्य ओड़िशा में आज तक के प्राप्त काव्यों में प्रथम माना गया है। उसमें रामभक्ति का निदर्शन है। बाद में अनेक कवियों ने पुराणों के आधार पर कृष्ण-महिमा और लीला-कीर्तन-समन्वित काव्य रचे। उनमें शिशुसंकर का "उषाभिलाष" और देवदुर्लभ दास का "रहस्यमंजरी" अपूर्व ललित, मधुर और संगीतमय काव्य है। "रहस्यमंजरी" काव्य में कृष्ण की अपूर्व महिमा का वर्णन है। गोपीरास के प्रसंग में शिशुसंकर एक स्थान पर लिखते हैं—

"गावन्ति बावन्ति व नृत्यन्ति बाला,
उन्मद मदन सरबे भोला।
झलमल झटकित ताटक गण्डे,
विद्युत खेले कि जीमूतखण्डे,
रंगिमा अधरे भंगिमा गारा,
लोचन वक्रे कृष्ण मुख चाहें।"[1]

कवि देवदुर्लभ ने राधाभाव से अनुप्राणित होकर कहा है—

"दूती तु कन्हाइ पाखकु याउ किना,
वसन कंकण याहा मागु ताहा नउ किना।"[2]

एक दूसरे स्थान पर वे कहते हैं—

"चारि भक्ति मध्य प्रेमभक्ति अटे सार,
से भक्ति अटइ कोठ गोपी मानंकर ये,
गोपिंकि भजिला भक्ति प्रेम भक्ति पाइ,
बिना प्रेम भक्ति रे दर्शन मोते नाहिं।"[3]

भक्त जगन्नाथ दास के जीवन-चरित्र के आधार पर दिवाकर दास ने "जगन्नाथचरितामृत" लिखा है। भक्त-जीवनी लिखने में वे सर्वश्रेष्ठ थे।

---

१. "बालाएँ मदमस्त होकर गाती और नाचती हैं। वे ताटंक नामक आभूषण पहने हुए हैं। वह ताटंक गाल पर झलमल-झलमल करता है और ऐसा लगता है कि मानो बादल के एक टुकड़े पर बिजली खेल रही हो।"

२. "हे बेटी, तू कृष्ण के पास जाती है न? और उनसे कपड़ा तथा कंकण माँगने से पाती है न?"

३. "चार प्रकार की भक्ति में प्रेम-भक्ति ही उत्तम है। वह भक्ति गोपियों की है। इसलिए गोपियों की जो भक्ति करता है वह प्रेम-भक्ति पाता है। बिना प्रेम-भक्ति के कृष्ण के दर्शन नहीं होते।"

यवन होते हुए भी सालवेग नीलाचल जगन्नाथ के पुजारी थे। उनके विभिन्न भजनों और जणाणों से यह स्पष्ट है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—

"आहे नील शइल प्रबल मत्त वारण,
मोर आरत नलिनी वन कर दलन।"[१]

× × ×

जगबन्धु, हे गोसाईं,
मोह थिबा याके नन्दि घोषे थिब रहि।[२]

धनंजय भंज के "रामविलास" (१७वीं शताब्दी) महाकाव्य में रामचन्द्र जी की लीला वर्णित है। इसमें उनकी रामभक्ति प्रदर्शित हुई है।

दीनकृष्ण दास भक्त कवि थे। भक्तिरसात्मक काव्य लिखकर उन्होंने काव्य-जगत् में विशेष यश कमाया है। उनका कथन है—

"काहिंकि मोते संसार लट मध्य रे प्रभु कल संघट,
किंके न कल चरण पद्म कुसुम लिट हे,
किया-छाडन्ति भगति बाट आनन्दे होइ करन्ति नाट,
एबे अनेक रूप कलानि ए पोड़ा पेट हे।"[३]

सत्रहवीं शताब्दी के मध्यभाग में उत्कल के कवि-सम्राट् उपेन्द्र भंज का जन्म एक प्रसिद्ध राजवंश में हुआ। कहा जाता है कि उन्होंने रामतारक मन्त्र की सिद्धि प्राप्त की थी तथा देवी का वरदान भी प्राप्त किया था। रामोपासक रूप में प्रसिद्ध होने पर भी उन्होंने कृष्ण-लीलात्मक काव्यों की रचना की है। उनकी इष्टदेवी दुर्गा थीं। उन्होंने देवी की स्तुति के साथ शिव को परम गुरु के रूप में मानकर अपनी भक्ति का प्रदर्शन किया है। सूर्यवंशी होने के कारण उन्होंने वैदेही-विलास में सूर्य की स्तुति की है। "कोटि ब्रह्माण्ड सुन्दरी" में जगन्नाथ की उपासना देखने को मिलती है। कवि ने "कोटि ब्रह्माण्ड सुन्दरी" में जगन्नाथ की स्तुति करते हुए लिखा है—

---

१. "हे नील शैल, आप प्रबल दुःख को दूर करनेवाले हैं। मेरे दुःखरूपी नलिनी-वन को मत्त हाथी के रूप में नष्ट कर दीजिये।"

२. "हे जगबन्धु गोसाईं, आप मेरे जाने तक नन्दीघोष (जगन्नाथ जी का रथ) पर बैठे रहें।"

३. "हे प्रभु, आपने मुझे संसार के संघर्ष में क्यों डाल दिया? क्यों नहीं चरण-कमल में स्थान दिया? इस नीच पेट के कारण मुझे बहुत प्रकार के काम करने पड़े, नहीं तो मैं किसलिए भक्तिमार्ग छोड़कर खुशी से नाचता?"

"महिमा अनन्त प्रभो ! महिमा अनन्त,
मनोहारी सहोदर होइ थाइ ख्यात।
अरिदर कर विभो अरि दर कर,
युगे युगे धर नाना विधि अवतार।"[1]

उपेन्द्र भंज श्रद्धाभक्ति के उपासक नहीं थे। वे पंचदेवता के उपासक तथा स्मार्त वैष्णव थे। उत्कल में चैतन्य के आगमन के पूर्व राय रामानन्द ने ब्रजभाषा में भक्तिरसात्मक पद्यावली की रचना की थी। उनके संस्कृत नाटक "जगन्नाथवल्लभ" में उनका भक्तिभाव प्रदर्शित है।

उपेन्द्र भंज की समसामयिक बृन्दावती दासी श्रद्धाभक्ति की कवियित्री थीं। वे और उनके स्वामी चन्द्रशेखर, ससुर जगन्नाथ, पुत्र भीमदास और पोता कृपासिन्धु दास आदि सभी कृष्ण-भक्त थे। उन्होंने कृष्णलीलात्मक ग्रन्थों की रचना करके अपने जीवन को सार्थक बनाया है। बृन्दावती दासी का "पूर्णतम चन्द्रोदय" श्रद्धा-भक्ति-मार्ग का तत्त्वमय ग्रन्थ है। उस समय अद्‌भुतकर्मा नामक एक सारस्वत ब्राह्मण उत्कल में आये थे। उन्होंने उत्कलीय भाषा सीखी और ज्ञानमिश्रा भक्ति के उपासक चैतन्य दास से दीक्षा ली थी। उन्होंने जगन्नाथ दास के पट्ट शिष्य के रूप में अपने "प्रेम" पंचामृत को सुन्दर, ललित, मधुर तथा लोकप्रिय भाषा में सुन्दर ढंग से लिखा था। दीनकृष्ण की भाँति वे भी ज्ञानमिश्रा भक्तों में गिने जाते हैं; क्योंकि कृष्ण को इष्टदेव के रूप में मानते हुए भी उन्होंने उन्हें परमब्रह्म जगन्नाथ के अवतार के रूप में ग्रहण किया है।

सदानन्द कविसूर्य ब्रह्मकिशोर दास के शिष्य थे तथा शुद्धाभक्ति मार्ग के उपासक थे। उनके द्वारा रचित "युगल-रसामृत-लहरी", "युगल-रसामृत भउँरी", "चउँरी" और "चौर चिन्तामणि", "प्रेम तरंगिणी", "विश्वम्भर विलास" आदि श्रीकृष्णलीला काव्य हैं। इनके पट्टशिष्य भक्त-कवि अभिमन्यु थे। दिव्य कोयल के समान उन्होंने कृष्णलीला का भी गान किया है। उनकी रचनाएँ शब्दालंकार तथा अर्थालंकार से भरपूर हैं। उनके "विदग्ध-चिन्तामणि" काव्य में प्रीति-भक्ति का अच्छा निदर्शन है। यह एक अपूर्व भक्तिमूलक काव्य है। ओड़िया में ही नहीं, भारतीय भाषाओं और वैष्णव दर्शन में ऐसा रसात्मक, अलंकार-पूर्ण, भक्तिरसात्मक विराट् काव्य दूसरा नहीं है।

"श्री वृन्दावने श्री रासमण्डले,
प्रेम तन्मय शुद्धभाव भोले,
हा राधामोहन उच्चे उच्चारि,

---

१. प्रभु की महिमा अनन्त है। संसार भर में विख्यात है कि दुष्ट शत्रुओं को दलने के लिए नानाविधि अवतार लेते हैं।

सते कि ए जीव जिब बाहारि,
अभिमन्यु कवि, वाञ्छा पूराअ ब्रज देवी देव।"[१] (विदग्धचिंतामणि)

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में श्रद्धा भक्त कवि वनमाली का जन्म हुआ था। उनकी "वैष्णव पद्यावली" में तो भक्ति भाव की बाढ़-सी आ गई है। उन्होंने लिखा है:—

"दीनबन्धु, दइतारि, दुःख न गला मोहरि,
हेल कि निष्ठुर चित्त लीलाचले विजे हरि।"

× × ×

बलवन्त प्रभु बोलि बेले मुं आश्रय कलि,
देखु देखु भासिगलि के राघु करिब पारि।
रख बा न रख मोते शरण तो पाद गते,
कहे वनमाली गीते, बसिअछि ध्यान करि।[२]

भक्तचरण भी एक रसिक कवि थे। वैष्णव काव्य साहित्य को इनका दान अतुलनीय है। उनकी "मनबोध चउतीशा" और "कला-कलेवर चउतीशा" में पूर्ण भक्तिप्रवणता विद्यमान है। कृष्ण के ऐश्वर्य-माधुर्य लीला-मिश्रित "मथुरा मंगल" काव्य में कवि ने अपने भक्ति-भाव का निदर्शन दिया है—

"सर्व जीवे दया वह, मुखे हरे कृष्ण कह,
काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य,
सहिते करि तेज ए षड अइरि
सदा काले करन्ति ए बाध हे नरमाने।"[३]

---

१. "कवि अभिमन्यु श्री वृन्दावन और श्री रासमण्डल में शुद्ध प्रेम-भाव से तन्मय हैं। वे उच्च स्वर से राधामोहन को बुला रहे हैं। हे ब्रज के देव-देवी! अब प्राण चला जायगा, मेरी इच्छा पूरी करो।"

२. "हे दीनबन्धु, मेरे दुःख नहीं टले। लीलाचल धाम में रहकर आपका हृदय निष्ठुर हो गया।"

× × ×

शक्तिमान् प्रभु जानकर मैंने आपका आश्रय लिया। मैं देखते ही देखते बह गया। यहाँ से कौन पार उतारेगा? कवि वनमाली ध्यानमग्न होकर बैठा है। वह गाकर कहता है कि आप मेरी रक्षा कीजियेगा या नहीं? मैं आपके चरणों की शरण में हूँ।

३. "सब जीवों पर दया करो और मुख से हरेकृष्ण कहो। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इन छः शत्रुओं को दूर करो। हे मानव! ये हमेशा खराब रास्ते पर जाने के लिए हमें बाध्य करते हैं।"

मोक्ष पदकु लक्ष न करि रहिया अलगारे,
रासेश्वरींक किंकरी होइ घर कर ब्रज गाँरे।[1]

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त उत्कल के अन्य कई भक्त-कवियों ने भक्ति रसात्मक कविता लिखकर भक्ति की मन्दाकिनी बहाई है। उनमें हनुमान रायगुरु, गोविन्द रायगुरु, गौरचरण अधिकारी, गौरहरि परिच्छा, दनाइ दास, नल दास, रत्नाकर दास, दाशरथी दास, कृपासिन्धु पट्टनायक, श्रीधर दास, महादेव दास, हरि दास, पीताम्बर दास, कृष्ण सिंह, सूर्यमणि च्याउ पट्टनायक, विश्वनाथ खुंटिआ, कृपासिन्धु सामन्त, यदुमणि महापात्र, नित्यानन्द, ब्रजनाथ बड़जेना, हरिबन्धु पट्टनायक, भरत शेण, ईश्वर दास आदि उल्लेखनीय हैं। इस पवित्र पीठ में सभी जाति, धर्म और वर्ण के लोगों ने साहित्य-सृष्टि की ओर ध्यान दिया है।

उत्कल में प्राचीन काल से सूर्य की उपासना चली आ रही है। जगत्-विख्यात कोणार्क का सूर्यमन्दिर और कनिका में रिघागड़ स्थित सूर्यमूर्ति इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। भुवनेश्वर और जगन्नाथ पुरी में सूर्य-पूजा के प्रचलित होने के अनेक प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त महाविनायक में गणेश मूर्ति की अवस्थिति भी गाणपत्य-पूजा का प्रामाणिक निदर्शन है। इसके अलावा अरक्षित दास का आज्ञाधर्म, उनकी महीमण्डल गीता तथा भजन, ज्ञानमिश्रा भक्ति के परिचायक हैं। महिमा गोसाईं के द्वारा प्रचारित अलेख धर्म के अन्ध प्रचारक कन्ध भीमभाई थे। उनके द्वारा रचित स्तुतिग्रन्थों—चिन्तामणि, ब्रह्मनिरूपण गीता, भजन, चौपदी आदि—में भक्ति की पराकाष्ठा है। सत्यनारायण या सत्यपीर पूजा म उत्कलीय जनसाधारण की भक्ति का सुन्दर परिचय मिलता है।

आधुनिक युग में भी कई भक्त कवियों ने ओड़िया भक्ति-साहित्य की अभिवृद्धि की है। उनमें भक्तकवि मधुसूदन, उत्कल-भारती कुन्तला कुमारी, कान्तकवि लक्ष्मीकान्त आदि मुख्य हैं।

---

१. **"विलास करने के लिए धन और स्त्री पाकर इस संसार के चक्कर में मत पड़ो। संसार में प्रेम-भक्ति विरल है। मोक्षपद की ओर ध्यान न देकर अलग रहो। रासेश्वर की दासी बनकर ब्रज गाँव में घर बनाओ।"**

ओड़िशा के लोकगीत

श्री चक्रधर महापात्र

सभी देशों की भाँति उत्कल के लोकगीत भी अलंकार-विहीन हैं। श्रेष्ठ और सुसंस्कृत भाषा में रचित साहित्य की कृत्रिमता की इसमें झलक भी नहीं मिलेगी। यह तो मिट्टी की सलोनी भाषा है जिसमें हृदय का स्वाभाविक संगीत सदा से आश्रय लेता आया है। यह गमलों में तैयार किया हुआ पुष्प-गुच्छ नहीं, वन्यभाग को अपनी सुरभि से महकानेवाली मालती है। धरती की चेतना से स्पंदित, जीवन-रस से सराबोर, घनी अमराइयों या फसलों की हरियालियों में विचरण करनेवाले स्वच्छंद गगनविहारी के विमुक्त गान के सदृश गुंजरित, लोकगीत हृदय का गीत है। उसे न तो विचारों की दुर्बोधता और न अलंकारमयी भाषा की आवश्यकता है। उसे व्याकरण के कठोर संयम की भी परवाह नहीं। उसमें आत्मा का नैसर्गिक स्वर फूटता रहता है।

यह कठोर चट्टान को फोड़कर उगनेवाले देवदारु के समान अज्ञात काल से अज्ञात पुरुष न-जाने किस अज्ञात भावोन्माद में कुछ गुनगुनाया था जो युगों-युगों से काल के कठिन पाषाणखंडों को बेधता हुआ अपने असंख्य संस्कारों और मिश्रणों के बाद भी आज उसी प्रकार ताजा है।

कोइलि बोबाये डाले, घर कु गले मो माआ मारिब लो।
बुलु थिबि तोटा माले।[१]

इसमें संगीतशास्त्र के नियम नहीं, पर स्वर और ताल के मूलतत्व निहित हैं; स्वर-साधना नहीं पर उसकी सिद्धि वर्तमान है; रस-सिद्ध काव्य-कला नहीं लेकिन रसवत् रमणीयता का अजस्र स्रोत मौजूद है। वेदना और करुणा की जो थाती एकांत उपत्यकाओं और देहातों के वासी ढोते आये हैं उसी की अभिरुचि इन स्वरों में है। इस करुणा में सभी रस पुंजीभूत हो उठे हैं:—

---

१. **कोयल डाल पर कूक रही है**
घर जाने पर माँ मुझे मारेगी
हे सखी, इसलिए मैं अमराई में घूमती रहूँगी।

आमि ढालिब करुणा धारा, आमि भांगिब पाषान कारा
जगत जुड़िया बेड़ाब गाइया, आकुल पागल पारा।[१]

यही नहीं, जीवन में जो कुछ सत्य और प्रत्यक्ष है, वही इन गीतों का संबल है और उसी की अभिव्यक्ति उसका चरम उद्देश्य है। यहाँ जीवन और साहित्य एक दूसरे में प्रतिबिंबित हो उठे हैं। सन् १८९६ के अकाल में, विदेशी शासन की उपेक्षाभरी नीति के कारण, कठोर जठर-ज्वाला से विकल एक अनाथ हरिजन शिशु 'बाटी' की वेदना का अनुभव लोककवि के शब्दों में कीजिये —

अे, बोपा, मला, माआ घअिता घिति गला, भात गुंडिये दिय हे साआंताणिये।
जाइ थिलि मामुं घर, ढोल खंडि नेला चोर, साआंते हे—चारि दिन उपासिआ
काहिंकि डकरा मोते साआन्ते हे, बणिया पोक, सांतु घर लोक हाऊँ।[२]

इसे बाटी ने गाया, अनेक लोगों ने गाया, यही स्वर अनंत हरियालियों में गूँजा पर क्या इससे बाटी की आत्मा को कुछ संतोष मिला होगा ?

ग्रीष्मकाल की चिलचिलाती दोपहरी में, विदेशियों के निर्मम अत्याचार से पीड़ित, आँखों से खून के आंसूँ बहाते हुए गड़ जाति के बेठिया ओड़िया का हृदय मुक्त होने पर गा उठा है—

मने पड़े रे भाई! सड़क बेठि, रांडि खंडि मुंड होइ गला बेंडि।
बोहि-बोहि से सड़क कु माटि
उच्चा नीचा समान कर बे!

---

१. **मैं करुणा की धारा प्रवाहित करूँगा।
पाषाण-कारा को तोड़ डालूँगा।
पागल की भाँति घूमता हुआ गाऊँगा—
संसार को ऐक्यबद्ध करूँगा।**

२. **मेरा बाप मर गया।
माँ दूसरी शादी करके चली गई।
हे मालकिन कुलबधू, मुझे खाने को थोड़ा भात दीजिए।
गरीबी का मारा, मामा के घर गया था
पर दुःख की बात कि ढोल चोर उठा ले गया।
गत चार दिनों से अनाहार हूँ।
इस समय पूंजीपतियों के नौकर ही मजे से खा रहे हैं।
हे मालकिन, मुझे नाचने को बुलाया है ?
भला, मैं क्या नाचूंगा!**

सुविधा चालिब मोटर,
आपत्ति होइले शुणा जिब नाहिं, विलंब होइले बाजिब चट्टी।[1]

ओड़िया जाति सदा से विदेशी अनाचारों की ही नहीं अपितु प्रकृति की विनाश-लीलाओं, समाज के अत्याचारों और दारिद्रय के अभिशापों की भी घोर यंत्रणा सहती आई है। विपत्ति की चट्टानों से लड़ते-लड़ते उसका संपूर्ण शरीर वज्र हो गया था। उसमें शायद रोने के लिए न तो आँसू शेष रह गये थे और न हँसने के लिए कोई हँसी ही जीवित रह गई थी। फिर भी उसके मुख पर आज हंसी है, जीवन में आनन्द का अनुभव है और हृदय में उल्लास का रस है। सामाजिक अत्याचार के फलस्वरूप एक सुन्दर युवती का वृद्ध वर से विवाह होने पर उसके हृदय की मार्मिक व्यंजना इन पंक्तियों में किस तरह साकार हो उठी है। देखिये—

मोहर जेमंत निश्वास थिब, बोउकिलो।
टन्का बार बोड़ि अंगार हेब, बोउकिलो।
दोल मुकुट होई अजिला बेले बोउकिलो,
आंठु माड़ि बूढ़ा पड़िला तले, बोउकिलो।
बापा बसिथिले बेदी उपरे बोउकिलो
जड़ा डांगे कान फुंकिले खरे बोउकिलो।
पर्वतशिखरे पाचिछि बेल बोउकिलो
तोते लाज नाहिं बुढ़ा मुंडे नेइ—
खंजि लु फुल-बोडकिलो।[2]

---

१. भाई, सड़क की बेगारी याद आ रही है।
काम करते-करते सिर में घट्ठे पड़ गये।
सड़क की मिट्टी ढो-ढो कर
ऊँचा-नीचा समान किया,
ताकि मोटर सुविधापूर्वक चल सके।
आपत्ति की कोई सुनवाई नहीं
और देरी करने पर जूते पड़ेंगे।

२. हे जननी, मेरे शाप में बल होगा तो पिता ने जिन बारह बोड़ि रुपयों में मुझे विक्रय किया है, वे अवश्य कोयला हो जायँगे।

पर्वत-शिखर के बेल-फल के समान एक वृद्ध, जर्जर, केश-विहीन सिर पर, हे माँ, तूने जो फूल चढ़ाये हैं, अपनी कन्या का स्वामी बना दिया है, इससे बढ़कर लाज की बात और हो ही क्या सकती है!

दूसरों के द्वारा ससुराल की यंत्रणा सुनकर पहली बार ससुराल जानेवाली कन्या "कांदना" कविता में वेदना को तरंगित करते हुए गा उठी है—

पक्व रम्भा धृष्टि मुखे थोइल हे बापा,
कर्पुर कनाकु पंके माड़िल हे बापा।
काबता जेमंत बने झुरइ हे बापा,
मुं तुम्भंकु तेंहें झुरि मरिब हे बापा।
शालग्राम कीट काटिलापरि हे बापा,
मोते त काटिबे सेहि से परि हे बापा।[१]

इतने से ही उसके कारुण्य का अंत नहीं हो जाता। बालि-वधू ने अपने पति के घर अत्याचार से पीड़ित होकर नारी-जीवन की जिस परंपरित अनुभूति को व्यक्त किया है, वह अत्यंत मार्मिक है। सासु के अत्याचारों से व्यथित होकर सुंदरी कहती है :—

घषि देवाकु गले से लगांति गोल
अरक्षित टोकी मोर छुअंता गोड़ जे ?

फिंगि जे फोपाड़ि द्यन्ति पहुंड तल, कबाट जे किलिद्यन्ति अंधार घरे जे
पहुंडरे ठिआ होइ बुहाये लुह, बोउ नना कलेइया सहिला दिह जे।[२]

इसी प्रकार एक दूसरी व्यंजना देखिये :—

हंसिले बोलंति खुड़ि दारी हेलाणि, कांदिले बोलंति खुड़ि किये मलाणि
उठिले बोलंति खुम्ब डेरा होइछि, शोइले बोलंति खुड़ि ढिकि पड़िछि[३]

---

१. हे पिता, आपने पके केले को सुअर के आगे डाल दिया, कपूर से वासित वस्त्र को दल-दल में फेंक दिया। जिस प्रकार कपोत वन में बिसूरता है उसी प्रकार मैं बिसूरते हुए मरूँगी। शालग्राम-कीट के दंशन की भाँति वहाँ (ससुराल) के लोग मुझे काट खायेंगे।

२. (सास के) पैर दबाने जाती हूँ तो झगड़ा करती हैं
(कहती हैं) कि नीच छोकरी क्या मेरा पैर छुएगी ?
(मुझे) लात मार कर नीचे गिरा देती हैं
और अँधेरे में ढकेल कर किवाड़ बन्द कर लेती हैं।
मैं खड़ी खड़ी आँसू बहाती हूँ।
माँ-बाप ने यह किया है,
यही सोच कर सब सह लेती हूँ।

३. हँसने से चाची कहती हैं, क्या रंडी की तरह हंसती है ?
रोने से कहती हैं, क्या कोई मर गया है ?

इस प्रकार ओड़िया लोकगीतों में ऐसे सैकड़ों हृदयस्पर्शी करुण चित्र हैं जिनको पढ़ते ही आँखों से अश्रुधारा बरबस फूट पड़ती है। उनमें कन्या की विदाई का दृश्य तो प्रायः इतना मनोरम होता है कि हृदय विकल हो उठता है। इन गीतों में वस्तुतः कठोर पाषाण को पिघला देने की अपूर्व क्षमता है।

प्राचीन काल में प्रत्येक ग्राम किस प्रकार एक कुटुंब के रूप में रहता था, उसका वैसा मनोरम चित्र लोकसाहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र निःसंदेह दुर्लभ है। विधवा की कन्या की विदाई का निम्नांकित दृश्य ग्राम-कवि की सफलता का द्योतक है। कन्या की माता कहती है—

ककेइ तोहर थिले,
समंधि अइला चहल कले लो, मो जीवन।
पाणि पिढ़ा नेइदेले जेज बापा हाटुआ साहिरु,
नाहाक डकेइ दिन बार ठीक कले।
ददेइ बणिया साहिरू बणिया डकाइ अलंकार गढ़ाइले।
देठेइ तोराड़ि पिआइ हातकु चूड़ि देले,
खुड़ि कोलकु नेइ बेक कु हार देले।
मउला कला कुम्भ शाढ़ि देले,
साइ पड़िशाये फरुआ पानिआ देले।
दरिद्र बिधवा पिउसि श्रद्धा देले,
आखिरु नीर बुहाइ।
शेष रे पीउसि घर तते देखिबाकु शरधा तार लो,
मो जीवन, नयनु बहइ नीर।[1]

खड़ी होने पर कहती हैं, क्या खंभा हो गई है?
सोने से कहती हैं, मूसल की भाँति क्या लुढ़की पड़ी है!

१. हे प्राणप्यारी बेटी,
जब तुम्हें देखने के लिए समधी आये
तो तुम्हारे काका ने हलचल मचा दी।
तेरे आजा ने हाटुआगली से लाकर पानी पीढ़ा दिया
और पंडित बुलाकर (विवाह के लिए) दिन-वार ठीक किया।
दादा ने सुनारगली से सुनार बुलाकर गहने बनवाये,
जेठानी ने पखाल खिलाकर हाथ के लिए चूड़ी दी।
चाची ने गोद में लेकर गले का हार दिया,
मामा ने काले घड़े की छापवाली साड़ी दी।
पड़ोसवाली ने कंघी और सिंधोरा दिया।

सब कुछ पूरा हो गया, सभी अभाव मिट गये, विधवा माँ के मुख से हृदय दहलानेवाला करुण स्वर सुनाई पड़ा :—

नयने कज्जल देइ,
अष्ट अलंक़ार खंजिलि नेइ लो मो जीवन।
तोहर त बाबु नाहिं, मो जीवन !
पयरे अलता देइ लेउटि मुँहकु चाहिलि मुहिं लो मो जीवन।
जाउछि लोतक बहि मो जीवन।[1]

इस तरह के करुण चित्र ओड़िया ग्राम-गीतों में इतने सुन्दर और जीवन्त हैं कि उन्हें एक दूसरे से घटिया कहना नितांत भ्रामक है। सभी देशों और जातियों की भाँति ओड़िया लोक-गीतों की निर्झरिणी गाँव-गाँव में, घर-घर में फूटा करती है और करोड़ों नर-नारियाँ प्रकृति की गोद में मिट्टी से जीवन लिपटाये, अपने भावों की गंगा, अपने जीवन की आशा-आकांक्षा को अत्यन्त मनोरम और सुकोमल भाषा द्वारा मृत्तिका के ऊपर उड़ेल देती हैं। ऋग्वेद की तरह पवित्र इन कविताओं से हम इस जाति के सुख-दुःख की अगणित अनुभूतियों को हृदयंगम करते हैं।

उत्कल के ग्रामीणों का एक वाद्ययंत्र होता है। उसकी अपनी एक अलग बनावट है जिसकी तुलना में विश्व का कोई वाद्ययन्त्र उपस्थित नहीं किया जा सकता। महासती सीता की निर्वासन-कथा जब योगी-मुख से केन्दरा की तान में सज उठती है तो ऐसा मालूम होता है कि चराचर जगत् उस करुण-गाथा के आवेष्टित स्वर-माधुर्य में पूर्ण तन्मय हो गया है—

किछि हिं दोष न कलि गासाईं, बने बिर्सजिल मोरे कि पाईं
पथ न दिशइ केणि कि जिबि, केमन्त प्रकार दिन बंचिबि ?[2]

दरिद्र विधवा फूआ ने आँख से आँसू बहाकर श्रद्धा दी।
हे प्राणप्यारी बेटी,
तुम्हारे फूआ के घरवाले अंत में तुझसे मिलना चाहते हैं।
मेरी आँखों से नीर बह रहा है।

१. हे बेटी, इस अवसर पर तुम्हारे पिता नहीं हैं (स्वर्गवासी हो गये हैं)
तुम्हारी आँखों में काजल दिया,
आठों अलंकार पहनाये
पैरों में आलता लगाया,
तुम्हें मुड़कर देखा
तो आँखों में आँसू छलछला आये।

२. हे स्वामी, मेरा क्या दोष है
जिसके कारण मुझे आपने बनवास दिया ?

संयोगी वैष्णव सायंकाल के समय हाथ में एकतारा लिये ग्राम-पथ पर आश्चर्य की सृष्टि करता है, जीवन की क्षणभंगुरता का स्मरण कराता है; क्रोध, गर्व, अहंकार तथा अभिमान के उच्छेदन के लिए उपदेश करता है—

चित्र प्रतिमा प्राय दिशु सुंदर, चिरि भितरे देख कि नारखार रे।
छुइँबे नाहिं तोरे बोलिबे मड़ा, छह खंडि काठ तोर होइब लोड़ारे।[1]

कभी-कभी ग्राम-मार्ग में स्वार्थोत्सर्ग और स्वार्थ-नाश को अपना भाग्य समझनेवाला ताड़पत्र का छाता लगाये, नतमुख और शान्तदृष्टि चकुलिया पंडा (चक्रपंडा) पवित्र आत्म-भाव से गा उठता है—

देले नेबे, डाकिले चाहिंबे, नचेत काहाकु किछि न कहि फेरि जिबे। आहे आपणे ! हे आपणे !
धर्मरु रामचंद्र लंका कले जये, अधर्मरु रावणर वंश गला क्षये हे। हे आपणे !
देइ थिले पाइ, बुणि थिले डाइ, पड़िया भूइँरे गोधन चराइ हे। हे आपणे ![2]

प्रति दिन नाना प्रकार के कार्यों में संलग्न ग्रामीणों को कविता और गान जिस प्रकार उत्साहित करते हैं उसी तरह उन्हें सरस भी बना देते हैं। जीवन के अनुभवों, वास्तविक घटनाओं और नाना प्रकार के उपदेशों से भरी हुई वचनावलियाँ घर में तो नारियों और बाहर पुरुषों के मुख से फूट निकलती हैं। किशोरियों के खेल, व्रत-उपवास, पूजा-आरती आदि के गीतों द्वारा साँझ को क्रीड़ामग्न बीथियाँ संगीत से मुखरित हो उठती हैं। शिशुओं के खेल-कौतुक के लिए माताएँ तथा प्रौढ़ाएँ काम के समय बच्चों को गोद में लिये लोरियों से उन्हें जातीय कथा सिखाया करती हैं। मनोविनोद के लिए किसान कृषि-कर्म के समय, गाड़ीवान गाड़ी चलाते समय, केवट नौका खेते समय, संगीत गान करके ग्राम-जीवन को रसमय बना देते हैं। ग्राम के नर-नारी

मुझे राह नहीं मिलती कि कहाँ जाऊँ
और किस प्रकार दिन बिताऊँ ?

१. देख तो रे, चित्र प्रतिमा की भाँति देह कैसी सुन्दर दिखाई पड़ती है किंतु भीतर नारखार (गंदगी) भरा हुआ है। मरने पर शव को कोई छुएगा नहीं और तब केवल काठ के छः टुकड़ों की आवश्यकता रह जाती है।

२. हे पंचो,
देने पर लेंगे, बुलाने पर देखेंगे, नहीं तो बिना कुछ कहे लौट जायँगे।
हे पंचो,
धर्म से रामचन्द्र ने लंका जीती, अधर्म से रावण का नाश हुआ।
हे पंचो,
जो देगा सो पायेगा, जो बोयेगा, सो काटेगा, चरागाह में गोधन चराओ (धर्म करो)।

संध्याकाल में देव-प्रार्थना करके मन को पवित्र कर लेते हैं। किशोरियाँ झूला झूलते-झूलते गा उठती हैं—

रजदोलि खेलुथिलि, नना डाकि देले यशोदा बोलि।
हात धोइ भात देलि।।
मदरंगा साग राइ, नुआ बोहु ठेअि एड़े पीरति,
दोलि पंचाइले भाइ।।
मदरंगा साग राइ पखाल भात कु चिलिका सुखुआ,
माणिक पाटण दहि।।[१]

और माँ बच्चे को पालने में झुलाते हुए गाती है—

धोरे बाया धो, धोरे बाया धो, जेउँ कियारि रे गहल मांडिया सेहि कियारि रे शो।
गहल महल धान कियारि सेइ कियारि रे शो।
आस माउसि आस पीउसि निद देइ जाअ।
पान बिड़ि बिड़ि गुआ पेड़ि पेड़ि, बटुआ पुरेइ खाअ।
ककर बाया रे बाइ चढ़ेइ, बाड़ पलाड़ रे थाआ।
कान्हुँआ कान मोचि मोचि राधिका कान खाआ।[२]

---

१. मैं रज (पर्व) में झूला झूल रही थी, पिता ने 'यशोदा' (नाम लेकर) पुकारा (और) हाथ धोकर भात तथा मदरंगा के साग कीराइ (रसादार सब्जी) दी। नई बहू से इतनी प्रीति कि माई (उन्हें) झूला झुला रहे थे। मदरंगा साग की राइ, चिलिका (झील) का सुखुआ (सुखाई हुई मछली की भाजी) और माणिक पाटण का दही पखाल भात के साथ (खाने से बहुत अच्छा (लग रहा था)।

२. जारे बाया (भकाऊँ) जा
जा रे बाया (भकाऊँ) जा
जहाँ खेत में घनी मांडिया
वहीं जाके सो जा।
जहाँ खेत में घना धान रे
वहीं जाके सो जा।
आ री मौसी, आ रे फूआ
निदिया दे के जा।
बटुए में है पान-सुपारी
जी भर जितना खा

किसान हल जोतते समय अपने कष्टों को भूल जाने के लिए गा उठता है—

अे-रात्रत अध ठारु जुचि मुँ देलि हल, बिलकु जाउ जाउ पहड़े हेला बेल।
नंगल फांदि देइरे कंटिरे देलि हात, पछकु अनाइलि आसुत अछिभात।
भात त आसुअछिरे तोराणिकिछि नाहिं, हड़ा कु पेलिपेलि देहे मो ज्ञान नाहिं।
भात धरि कमला त हिड़ मुंडे ठिआ, गीत त चारिपदरे बोलिबु हलिया।
पाठत पढ़ि नाहिं लो नाहाक चाहालिरे, गीत त बोलि नाहिं लो पांच हलियारे।
कि गीत बोलिबि लो कमला, धरिछि हड़ा हले, हो।[१]

थका हुआ किसान अपनी थकान मिटाने के लिए गीतों का आश्रय लेता है। ऐसे ही किसान की एक सहचरी मेड़ पर खड़ी हुई कहती है—

अरे सुंदरी के क्रीत दास हलवाहे, इस एकान्त में चार पद गीत गा ले।

हलवाहा कहता है—"तेरे रूप-गुण के वर्णन करने की बुद्धि मुझमें कहाँ ? मेरा साथी कौन है ? जर्जर बैल और तेरे सिवा मेरा कौन है ?" वास्तव में कृषक अपने जीवन में दो ही चीजों से परिचित रहता है—एक तो अपनी सुन्दर स्त्री से, दूसरे अपने विश्रान्तिदायक संगीत से।

उत्कल का ग्राम्य-समाज अत्यन्त संगीत-मुखर रहता है। यहाँ प्रतिदिन कवित्व का ज्वार उठा करता है। प्रतिमास नाना उत्सवों में कविता का स्रोत बह उठता है। फाल्गुन मास की रात्रि में सारा ग्राम्य-समाज घंट-ध्वनि के साथ नाच उठता है—

ककर बाया (ऐसा भकाऊँ जो कुत्ते की तरह हो) बाइ चढ़ेइ (एक पक्षी) बारी पास जा
कान्हुआ (मुन्ना, कन्हाई) कान खाली ऐंठ ही देना।
राधिका कान तो खा।

१. मैंने आधी रात की बेला में ही हल उठाया, खेत तक जाते-जाते पहर दिन चढ़ गया।
फाल चलाते हुए मूँठ पर हाथ रक्खा, (और) पीछे मुड़कर देखा कि भात आ रहा है।
भात तो आ रहा है लेकिन इसमें तोराणि (पानी) नहीं है,
बुड्ढे बैल को ठेलते-पेलते मेरी देह में जोर नहीं रह गया है।
भात को रखकर कमला मेड़ पर खड़ी हुई कहती है–ऐ हलवाहे, चार पद गीत तो गा दे।
(किसान कहता है) मैंने पाठशाला में शिक्षक से पाठ नहीं पढ़ा है, (और)
पाँच हलवाहों के साथ गीत भी नहीं गाया है।
मैं कैसे गीत गाऊँगा रे, कमला जोड़ी बैल को पकड़े है।

कलरा परे तिनि तिनिटा गोटे मधुर जोड़े पिता, जा जा घंट जा जा।
नेलिया पोखरि गोलिया करि जा जा घंट जा जा।[१]

युगल मुखों से प्रवाहित संगीत-लहरी घंटों के ताल के साथ बह उठती है—

कहइ नागरि बर रे सखि, केऊँ सजनी आगर, आरे सखि,
काढ़िली ओढ़णा हेलिपथवणा श्याम बंधु कले पर रे।
घेनिथा मनरे एते रे सखि, घोर अरण्य बनस्ते,
घनश्याम चन्द्रमुख चाहुथिले बइकुंठ छार केतेरे।[२]

चैत्र की रात्रियों में वसंत के आगमन के साथ दंडवाद्य बज उठते हैं जिसकी मस्ती में जातिगत भेदभाव तिरोहित हो जाता है। इसमें ऊँच-नीच का कोई लगाव-दुराव नहीं रह जाता। शिव-पार्वती के नाम से युक्त इस नृत्य में 'कला रुद्रमणि भजे' बोलकर धूप-दीप से दो बेतों की पूजा की जाती है। दंड-नृत्य में सात प्रकार के नृत्य हैं। इसमें पार्वती के साथ रमण करते हुए योगेश्वर शंकर की कथा होती है। तीसरा दही-खेल है। इसमें जमुना घाट पर राधाकृष्ण की दधि-लीला के प्रेम की अपूर्व व्यंजना निहित रहती है। चौथा पतर शौरा है। यह उत्कल की शबर-सभ्यता का सूचक है। पाँचवाँ चढ़ाया नृत्य है। इसमें नौ-यात्रा द्वारा विभिन्न द्वीपों के आविष्कार की घटनाओं की स्मृतियाँ अभिनीत होती हैं। छठाँ बाइघन नृत्य है। इसमें स्मार्त और परमार्थ तत्त्वज्ञानी पागलों का अभिनय होता है। वैष्णव नृत्य की तरह इसमें नायिका नहीं होती। सातवाँ वीणाकार का नृत्य है। इसमें नायक अपनी प्रवीण, नृत्यशीला चित्रिणी भार्या के साथ वीणा बजाते हुए नृत्य करता है। चैत्र मास में होनेवाले ये नृत्य प्रत्येक ग्राम को आनन्द और उल्लास से भर देते हैं। इनके अतिरिक्त रामलीला, कृष्णलीला, भारथलीला आदि नृत्य भी होते हैं। वैशाख मास में चन्दन पर्व आता है। गाँवों में चंदन-चर्चित युवा-युवती गाते हैं—

---

१. करेले के तीन-तीन पत्ते हैं। एक मीठा और दो तीते हैं।
घंटा! तू बजता जा, बजता जा।
नीले तालाब के पानी को गँदला करके
तू बजता जा, बजता जा।

२. कोई नागरी अपनी सखी से कहती है—हे सखी,
"मैंने घूंघट खोल दिया (लज्जा त्याग दी),
राह में भूल गई, (फिर भी) कृष्ण हमें पराया मानने लगे।"
"मन में यही धारणा रख कि घोर अरण्य के बीच,
घनश्याम के चंद्रमुख के दर्शनानंद के आगे
स्वर्ग धूल (के समान तुच्छ) लगता है।"

मदनमोहन, करिंद्र दन्त पलंक तेजि प्रभु, नरेंद्र चापे गमन !

आषाढ़ की पहली वर्षा के साथ शिशु 'मेघ बरसिला टुपुर टापेरे, केसुर माइला गजा' कहकर नाच उठते हैं। तत्पश्चात् रथयात्रा के अंत में ओड़िया के स्वर्गमणि जगन्नाथ के प्रति घंट, मर्दल, गिनि बजाकर वह नाच उठता है। लक्ष्मी उन्हें मार्ग नहीं देती। पुरुष जगन्नाथ बाहर वर्षा में भीगते हैं। इससे यह प्रदर्शित किया जाता है कि अपनी सद्गुणवती भार्या को छोड़कर अन्य स्थान में भोग-विलास करनेवाले पुरुष को कैसा दंड दिया जाय। साथ ही यह भी प्रदर्शित किया जाता है कि यदि पुरुष नारी का क्रीत दास बन कर न रहे तो वह स्वेच्छाचारी बन जाता है—

प्रभो ढिकि, पनिकि आदि नेल, आम्भ ठाकुराणिकु संगते न नेल।
ठाकुराणी आम्भ बिरहे खिन्न, निष्ठुर हृदय जग जीवन।
नफेड़ु दुआर, प्रभो बाहुड़ि जाओ जा गुंडिचा घर।[1]

सावन लगते ही घर-घर में ढंपा बज उठता है। गाँव के लोग जंगल से मई की खोल निकाल लाते हैं और उसे दो काष्ठों से बजाते तथा गाते हैं—

सुता काटि गलि खिअे, जांइफुल, सुता काटि गलि खिअे। डेंगा होइ करि पतलाटिये कह ताकु मुरछिब किये लो लंकामरिच फुल, तोते किये केते कला मूल लो, अदिन किया केतकी जाइफुल, अदिन किया केतकी तुहि चंपा फुल, मुहिं मालती, हसिले जिव पीरति।

लो न जा तेलंगा पेंठ, तेलि घणा डाके कट कट लो।[2]

देखते-देखते भाद्रपद आ जाता है। ग्रामकिशोरियाँ दलबद्ध होकर बरामदे की दीवारों पर चित्र बनाने में लग जाती हैं। नाव पर नाव का चित्र बनाकर मंगलमयी मंगला का एक और

(रथयात्रा में लक्ष्मी को साथ न ले जाने पर भक्त उनसे कहता है)—

१. "हे प्रभु, आपने ढेंकी और बइठकी (पहँसुल) जैसी वस्तुओं को तो साथ ले लिया लेकिन हमारी ठकुराइन को साथ नहीं लिया।
हमारी ठकुराइन विरह से खिन्न हैं। हे जगजीवन, आप निष्ठुर-हृदय हैं।
हम द्वार नहीं खोलते हैं।
हे प्रभु, आप गुंडिचा घर वापस जाइये!"

२. हे जाइफूल, मैं सूत कातने लगी।
भला उस लंबे पतले पुरुष को कौन भूल सकता है!
हे मर्चाफूल, तुझे किसने कितना दाम लगाया?
असमय में फूलनेवाले किया, केतकी और जाइफुल में
तू तो चंपा है और मैं मालती;
(किन्तु) हँसने (विकसित होने) पर प्रीति टूट जायगी।
तेलंगा-बाजार मत जा, तेली का कोल्हू कट-कट कर रहा है।

चित्रपट झुला देती हैं। खुदरकुंणि तअपोइ को भालुकुणि नाम देकर नाव-यात्रा करती हैं। बाण छोड़ती हैं। फूल बहाती हैं। विश्व की समस्त करुणा की एक सजीव कहानी—तअपोर गीत सुनकर कुमारियाँ आँखों से आँसू बहाने लगती हैं। तअपोइ 'साधव' की कन्या है। माता-पिता की मृत्यु हो जाने पर सातों भाइयों के नाव में बैठकर चले जाने से भाभियों के अत्याचार से पीड़ित होकर वह बकरी चराती है।

'नीलेन्द्र नामे सान बहुत अपोइर प्रिय सेहु, अन्न व्यंजन देइ थाइ, से दिन बसि सुखे खाइ'।

अत्याचारी भाभियाँ चूहों द्वारा खोदी हुई मिट्टी को टोकरी में भरकर तथा उस पर पत्ता रखकर एक मुट्ठी भात डाल देती हैं। बाद में वह भीख माँग कर मंगला व्रत करती है और अपने भाइयों को पुनः पा जाती है।

आश्विन में कुमारियाँ जन्हि ओषा गीत गा उठती हैं—

जन्हि जन्हि आँजुलि, निति पके तिनि आँजुलि, दोलिरे जाए, दोलिरे आसे।
पटा पिढ़ा खंड माड़ि बसे, मो बहु मो कोड़ रे बसे।
नातुणि बहु रान्धि परसे, हांडि पोछा भात खाये,
आटिका पोछा तिअणा खाये, रजा गले दांडरे ता मो कान न जाणे।[१]

'जन्हि ओषा' करके कुमारी भविष्य की मधुर कल्पना करती है कि वह सास बनने पर अपनी बहू को अत्यन्त प्रेम से गोद में बिठायेगी। उसकी नातिन और बहू जो कुछ पकाकर देगी उसे वह बड़े प्रेम से खायेगी। फलतः वह झूले पर बैठी मौज करती रहेगी। गली में अत्यंत सजधज से जाते हुए राजा से उसका कोई सरोकार नहीं रहेगा। बहू के आने से वह राजा से बढ़कर सुखी रहेगी।

दशहरे में सिपाही 'दंडवाली' गाता है। गोपाल यादव 'आगुल' गाते हैं। सिपाही सामरिक वेष में कदम बढ़ाते हुए तलवार, कुन्त ढाल लिये गाते-बजाते चलता है—

पवन परज्ञ गंडाकु शून्ये उजाणि टेक, शिशुमुने खंडा गिलिलेतुजे हेबुनिदक
दुष्ट-दलन दाउणि रे खंडा हस्त थोइबु, मान मून धरि खंडाकु दाढ़ सस्त्रे चालिबु।

तलवार की मूठ का ऊपरी भाग (परस) सीधा रहने पर अगर वह सीधी रह सकी तो खंडायत लघुहस्त विवेचित होगा। शिशुम्बन काठ के चिह्नित स्थान पर तलवार फेंककर लक्ष्य

---

१. जन्हि के फल और फूल को अंजलि में भरकर रोज तीन बार दान करती है।
डोली में जाती है, डोली में आती है।
पीढ़े पर बैठ जाती है, मेरी बहू मेरी गोद में बैठती है।
नतिया बहू भोजन बनाकर परोसती है (और स्वयं)
हाँडी पोंछकर भात और तरकारी खाती है।
रास्ते में राजा के गमन का पता न तो उसे है और न मुझे ही।

को भेद करने से क्षत्रिय निर्भय हो सकता है। मानदंड और नोक—इन दोनों लक्ष्यों में तलवार को कौशलपूर्वक चला न सके तो क्षत्रिय जययुक्त नहीं हो सकता। दुष्ट दलन नामक दाउणि (म्यान) में तलवार रख सकना ही एक साधना है।

इसके अतिरिक्त एक दूसरा उत्सव कुमारोत्सव है। इसमें किशोर और किशोरियाँ सम्मिलित होकर गाती हैं। उसके बाद विधवाएँ अपने वैधव्य-दुःख को कम करने के लिए हाथ में कौड़ी लेकर 'राधादामोदर' खेल करती हैं और आत्मसंतोष पाती हैं।

'शुद्ध सुवर्णर मंडप मध्ये चंदन कोठि, रही दामोदर खेळंति हस्तेकौड़ी मुठि एक मुठि जुअ खेलंते प्रभु होइले धंदा, हसि कमलिनी कहन्ति दिय मुकुट बंधा।'

उसके बाद कुंडल, हार, फेरा, अँगूठी तथा पादुका आदि को बंधक में दे देते हैं।

'सात मुठि जअ पड़न्ते प्रभु हाइले धंदा, हसि कमलिनी कहन्ति निजै रहिल बंधा।'

पतिये वश माच—यही ओड़िशा नारी की कामना है। घर-घर में लक्ष्मी-पूजा की धूम मचने पर चारों ओर उल्लास छा जाता है। धान की मणिका, धान का हार और धान से ही लक्ष्मी की पूजा होती है। चंडाल से लेकर ब्राह्मण तक के हर घर में लक्ष्मी की पूजा होती है। लक्ष्मी समान भाव से प्रति घर में प्रसाद बाँटती हैं। जो साफ सुथरे हैं और जिनका घर साफ सुथरा है, चाहे वह चंडाल ही क्यों न हो, वे उन्हीं के घर जाती हैं। जहाँ फूल देखती हैं, वहाँ जाती हैं, चाहे वह चंडाल का स्थान ही क्यों न हो। यह साम्यवाद पृथ्वी में कभी सोचा भी न गया होगा। लक्ष्मीपीठ का मंदिर सभी के लिए उन्मुक्त रहता है। कथा है कि श्रिया चंडालुणी की पवित्रता से प्रसन्न होकर जब लक्ष्मी ने उसकी पूजा ग्रहण कर ली तब बलभद्र ने उन्हें मंदिर-प्रवेश के लिए मना कर दिया था। इससे लक्ष्मी रूठकर चली गईं। फलतः बलभद्र दर-दर के भिखारी बन गये। अन्त में लक्ष्मी से क्षमा माँगकर क्षुधा बुझाई और वर दिया कि आज से चंडाल को भी मंदिर-प्रवेश का अधिकार रहेगा तथा लक्ष्मी सर्वत्र समान रूप से रहेंगी। उत्कल की यही लक्ष्मी-पूजा उनके लक्ष्मी पुराण गीतिका का आधार है।

इसके पश्चात् आम बौरने लगते हैं। हरिजन वृद्धा डोमन के वेश में दो कुमारियों को साथ लेकर फसल के अच्छे-बुरे समाचार गाँव-गाँव देती है। बूढ़ी गीत गाती है और सुन्दर बालाएँ जो जो कहती हैं। उसके ताड़ के छाते में पुष्प-माल का एक गुच्छा लटका रहता है। वही हरिजन वृद्धा का देवता है। उस छाते को गाँव की सभी नारियाँ हल्दी, पानी, चंदन, कुमकुम, कर्पूर, अक्षत आदि से 'बदापना' करती हैं। 'आम्ब आसिब जो, पणस आसिब जो, महुल आसिब जो, जंगल भयावह नाहिं जो बाड़ी वसन्त पड़िब नाहिं जो, मां लो! हातकु सुवर्ण बाहि देबु जो, मा लो! कोलकु सात नंदन देबु जो।''[1]

---

१. आम आयेगा, कटहल आयेगा, महुल आयेगा,
जंगल डरावना नहीं होगा;

ऐसे गीतों की संख्या असंख्य है। ये अत्यंत श्रुति-मधुर और मन को उल्लसित कर देते हैं। फलाशा के मोह में उस समय का ग्रामीण समाज पुलकित हो उठता है। किसान धान, मूँग आदि को सँजोकर तथा अपनी स्त्री कमला को साथ लेकर ससुराल घूमने चला जाता है। जाते समय वह गाड़ी पर बैठा हुआ गाता है—

अे—दूरकु सुन्दर त परबतमाल, गाँकु सुन्दर त नड़िया गुआ ताल
सभाकु सुंदर त पधान सान भाइ, गोठ कु सुंदर त दुहालिया गाइ।
बंधुकु सुंदर त दिशइ दूर बाट, सिंधुकु सुंदर त लहड़ा भंगा घाट।
घरकु सुन्दर जेबे लो धरणी, न जिबु बाप घर हो।[1]

गाते-गाते उसे अतीत की वे बातें याद आ जाती हैं, जब कलिंग त्रिकलिंग था। उसकी सैकड़ों नौकाएँ समुद्र के विशाल वक्ष पर चला करती थीं—

अे—साधवाणी पूजइ काली खम्बेश्वरी, सिमिलि दीपुं बोइत हो असिवणि फेरि
लंका दीपे अझाल छिंडि जे बाउला बतास, अमाप दरियारे मो साधब अणस्वास हो।
रमणी मणि लंबा कुंचित भेरा बाल, सुमरि कान्दे हो साधव अकात सिंधु जल हो।[2]

हैजा और चेचक नहीं पड़ेगा;
हे माँ, (यदि) हाथ के लिए सोने की चूड़ी दोगी
(आशीष) से गोद के लिए सात पुत्र दोगी।

१. पहाड़ दूर से ही सुन्दर लगता है।
गाँव नारियल, सुपारी और ताल से ही सुंदर लगता है।
मुखिया के छोटे भाई से सभा सुन्दर लगती है।
दुधारी गाय से गोशाला सुन्दर लगती है,
दूर-देशी बंधु सुन्दर लगते हैं।
समुद्र की टूटती लहरों से युक्त घाट सुन्दर लगता है।
घर तभी सुंदर लगता है जब घरनी मैके न जाकर घर में ही रहती है।

२. साधवाणी खम्बेश्वरी काली को पूजती है, शायद
सिमिलि द्वीप से जहाज लौटा होगा।
लंका द्वीप के मत्त बातास से पाल टूट गया है।
मेरे साधब (व्यापारी) अछोर समुद्र में पड़े हैं।
कुंचितकेशा रमणीमणि यह स्मरण कर कि व्यापारी (पति)
अगाध सिंधु में है, रोती है।

और भी—अे डेंगा ताल गछ त खाइले बादुड़ि, बोइतुं सात भाइ नइले बाहुड़ि, बाप घरे झिय हो रहिला करम आदिरि हो।[1]

उत्कल के लोकगीत केवल ओड़िया जाति के ही नहीं, वरन समस्त भारत या विश्व के कीमती रत्न हैं। हर व्यक्ति के मुख से हर समय 'ढग ढमालि' की जो स्वर-तरंगें फूटा करती हैं, उनमें से कुछ-एक यहाँ देकर यह प्रबंध समाप्त किया जायेगा।

कअँल काकुड़ि बहल चोपा काटि देलि परिबाकु,
अल्प दिनकु बहुत कथा झुरि झुरि मरिबाकु।
कखारू चोर, लाऊ चोर, चोराऊ चोराऊ बड़ चोर,
कअंल कहि राधा, घरकु गले कथा न कहन्ति,
बाटरे बड़ शरधा।
बाप मरि गले पीउसि थिब माअ मारिगले माउसि थिब।
बाप ओलि फिअ चढ़ेदोलि माअ ओलिझिअ बिके कोली
बाप ओलि पुअ खाये खड़ा, माअ ओलि पुअ चढ़े घोड़ा।
गरिबर नाइप समस्तंक शाली। आदि

उत्कल में लाखों लोकगीत हैं जो एक दूसरे से किसी बात में कम नहीं। जितने संगृहीत हुए हैं, वे तो बहुत कम हैं। नोटिस या विज्ञापन देकर उनका संग्रह नहीं किया जा सकता। 'बला दानिय मानाचेत सरसा विरसायते'। उसके रसिक ही उनका संग्रह कर सकते हैं। एक प्राइमरी शिक्षक की विधवा नारी या दरिद्र और अवहेलिता वृद्धा से ही इन गीतों का संग्रह करना विडम्बना मात्र है।

उत्कल में १९२८ के पूर्व इन आंचलिक लोकगीतों के संग्रह की ओर किसी का बिलकुल ध्यान ही न था। स्वर्गीय भाषाकोषकार गोपालचन्द्र प्रहराज ने कुछ ठग-ढमालियों का संग्रह किया था। पंजाब के श्री देवेन्द्र सत्यार्थी की प्रेरणा से इस लेख के लेखक ही ने सर्वप्रथम अपनी भार्या के साथ इन सबके संग्रह में मन लगाया था। उनके संग्रह में उनकी माता ने बहुत सी सामग्री जुटा दी थी। निरक्षर होते हुए भी उन्हें सैकड़ों गीत याद थे। तत्पश्चात् शान्तिनिकेतन के ओड़िया प्राध्यापक श्री कुंजबिहारी दाश ने विज्ञापन द्वारा ग्रामशिक्षकों की मदद से कुछ लोकगीतों का संग्रह किया है। अब तक के संगृहीत समस्त गीत समुद्र की एक बूंद के समान ही होंगे।

---

१. ताड़ के ऊँचे पेड़ को चमगादड़ खा जाते हैं।
जहाज से मेरे सातों भाई नहीं लौटे।
भाग्याधीन बेटी अपने मैके में है।

श्री कुंजबिहारी बाबू के संग्रह का अधिकांश बहुत आधुनिक मालूम पड़ता है। लेखक के संग्रह का अधिकांश तो अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है।

इस लेख में उत्कलीय लोकगीत के सभी पक्षों पर विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जैसे भालू ईख के खेत में प्रवेश करने पर यह निर्णय नहीं कर पाता कि वह किसे चूसे और किसे न चूसे, वही बात यहाँ भी है।

अतीत का स्वर्णयुग आज नहीं है। इस जाति के जीवन से विदेशी शासन ने कविता का रस ही निचोड़ लिया है। हमारी जाति विपद्ग्रस्त हो चुकी है। आज की राष्ट्रीय सरकार यदि इस ओर ध्यान दे तो ये ग्राम्य संगीत पुनः मुखरित हो सकते हैं। इसके लिए चार बातों पर अधिक जोर देना आवश्यक है।

१—उपयुक्त संग्राहकों को नियुक्त कर लोकगीतों को दस-पाँच वर्ष के भीतर ही संग्रह करना।

२—उक्त गीतों का इतिहास या पुरातत्त्व की सामग्री के रूप में संचित न करके विभिन्न पाठ्य पुस्तकों में, पुरस्कार एवं लाइब्रेरी की पुस्तकों में समावेश करके उनका व्यवहार करना।

३—यात्रा, नाट्य, थियेटर, आदि में उन सबको स्थान देना।

४—विचक्षण भाष्यकार और समालोचक के द्वारा पुरस्कार घोषित कराकर उसका महत्त्व अधिक करना।

ऐसा होने पर यह उक्ति सार्थक हो जायगी कि ग्रामीण ओड़िया ही ठीक ओड़िया भाषा है।

ओड़िया लोक-गीत और लोक-कथा

डॉ० कुंजबिहारी दाश

लोक-गीत असंख्य जनता के हृदय का स्मारक है। यह एक कंठ से दूसरे कंठ तक सदा प्रवाहित होता रहता है। प्रत्येक युग में यह परिवर्तित और परिवर्धित होता रहा है। यह लोक-वेद है जिसकी गति एक श्रुति से दूसरी श्रुति तक हुआ करती है। एक युग के नर-नारी अपने पूर्वजों द्वारा इसकी सहायता से शिक्षित हुआ करते हैं। यह धारा अविच्छिन्न है। एक स्थान में उत्पन्न होकर ये गीत लोक-मुख द्वारा सारे देश में फैल जाते हैं। स्थान, काल तथा गायकों की इच्छा के अनुसार इन्होंने नाना रूप धारण किये हैं। इसी से एक ही गीत एक अंचल में या विभिन्न अंचलों में नाना रूपों में उपलब्ध होता है।

बहुत से गीत काम के समय गाये जाते हैं। हलवाहा हल जोतता है, गाड़ीवान गाड़ी चलाता है, कृषक खेत निराता है, धान काटता है, दौंरी करता है, ओलचा चलाता है, कोई कोठे की छत कूटता है, कोई नाव खेता है, कोई चरखा कातता है, कोई चक्की पीसता है—इन सभी कामों के साथ गीत गाया जाता है। गीत के मादक प्रभाव से देह का श्रम दूर हो जाता है, क्लान्ति का अनुभव नहीं होता। कार्य के साथ-साथ अंगांगी-भाव से गीतों का गाया जाना एक स्वाभाविक प्रचलन है। लेकिन लोग कठिन श्रम में गीत गा नहीं पाते, हाँफ जाते हैं। ऐसे समय जो गीत गाया जाता है, उसमें केवल स्वर मात्र रहता है, रस या अर्थ नहीं रहता। सवारी या पालकी ढोते समय ढोनेवाला जो मन में आता है गा उठता है—

> हुमरा भाइरे हूँ, खवड़ खाड़िरे हूँ,
> धवड़ धाड़िरे हूँ, पाणि काद्दुअरे हूँ।[१]

वर्तमान समय में गीत कार्य का अनिवार्य अंग नहीं रह गया है। कल-कारखानों के तुमुल कोलाहल और धूल-धुएँ से प्राण सूख जाते हैं, गीत याद ही नहीं आते। अत: श्रमिक को मेहनत असह्य मालूम पड़ती है।

गीत और नृत्य एक दूसरे के पूरक हैं; लेकिन नृत्य-विहीन गीत अथवा गीतविहीन नृत्य का पाया जाना कठिन नहीं है। नागा नृत्य में गाना नहीं होता। छऊ नृत्य में समय-समय

---

१. **हाँ रे भाई हाँ, खाला-ऊँची हाँ,**
चलते चलो हाँ, पानी-कीचड़ हाँ।

पर गीत गाया जाता है। यह नृत्य का अपरिहार्य अंश नहीं है। पाटुआ, चैती घोड़ा, पाला या दास काठिया में नृत्य का कोई विशेष तत्त्व नहीं होता। यह गीत और वाद्य में ताल देने के उद्देश्य से है। आदिवासी-विवाह में सामाजिक नृत्य आयोजित होता है। कृषि-उत्पादन, ग्रह-पीड़ा-नाशन, काम-पीड़न तथा क्लान्ति-विनाशन इसका प्रधान उद्देश्य होता है। शिकार नृत्य ओड़िशा के रियासती जिलों तथा कोरापुट में प्रचलित है। पाइक और नागा नृत्य वास्तव में युद्धनृत्य हैं। पुचि हुडमा, डाल खाइ, मायलाजउ, गुंजिकुटा, रसरकेलि, जामुडालि आदि नृत्यों के साथ गीत भी गाये जाते हैं।

"बारमासी", 'पिलाभुलाणियाँ' आदि कुछ गीत दिल-बहलाव के लिए हैं। पुचिगीत, कबड्डी, राहाधारागीत, आँखमिचौनी में चोर चुनने का गीत, दोली गीत आदि खेलों में गाये जाते हैं। करमा, दंडनाट्य, पाटुआ यात्रा के अधिकांश गीत धर्मानुष्ठान से संबद्ध हैं। जो वैचित्र्य-विहीन होते हैं, उनमें कवित्व नाम मात्र को रहता है। जन्म, विवाह आदि आनन्दोत्सव और मृत्यु-विच्छेद आदि शोक के अवसरों पर गीत गाये जाते हैं। ओड़िया ग्राम-बालिका सासु के घर जाने के पूर्व 'कान्दणा' सीखती है। महीनों तक उसे रटती रहती है। शिक्षण-पद्धति में कृत्रिमता रहने पर भी इसके द्वारा नारी जाति का सर्वश्रेष्ठ कवित्व प्रकाशित होता है। मृत्यु-विच्छेदादि में ओड़िया स्त्रियाँ मृत व्यक्ति के गुणादि का स्मरण करके रोती हैं पर 'कान्दणागीत' की रचना नहीं करतीं। वह विशेष अवसरों पर ही प्रयुक्त होता है।

ग्रामीण लोग यश या धनार्जन-लिप्सा से गीत नहीं गाते। अतः नागरिक कवियों के समान वे गीत के अंत में 'भणिता' नहीं देते। यह गीत व्यक्ति की रचना होने पर भी इससे व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रकाशित न होकर समष्टि का व्यक्तित्व प्रतिफलित होता है। गीत गाकर लोक-कवि शाश्वत होने की अभिलाषा नहीं रखता।

प्रकृति और वायुमंडल लोक-गीत की महिमा बढ़ाते हैं। उससे अलग करके गाने से विशेष आनन्द नहीं मिलता। स्वर ही इसका प्राण होता है। स्वर-शिक्षा ग्रामीणों की पारंपरिक रीति के अनुसार होती है। इसे लोग सुन-सुनकर सीखते हैं। ओड़िया लोक-गीत अधिकांश में धर्मनिरपेक्ष होते हैं। पौराणिक गाथा, राम-कृष्ण की कीर्ति-कहानी भी कभी-कभी गीतों की विषय-वस्तु हुआ करती है।

इसमें व्यवहृत असंख्य निरर्थक शब्द आदिम अवस्था के स्मारक हैं। हो सकता है कि लोक-कवि अपने मन के भावों को स्पष्ट रूप से प्रकाशित न कर सका हो; किंतु वह अस्पष्ट अभिव्यक्ति धीरे-धीरे दुर्बोध हो गई है अथवा जिस वातावरण में यह गीत उत्पन्न हुआ था उसके बदल जाने से अर्थ सुगम नहीं हो पाता। जो भी हो, निरर्थक या दुर्बोध पद रस में बाधक नहीं होते, प्रत्युत परोक्ष रूप से ये नृत्य के सहायक ही होते हैं।

गीत-लेखक स्त्री-पुरुष दोनों हैं। स्त्री-गीत पुरुष-गीत से बिलकुल भिन्न होता है। स्त्री-गीत की भाषा ललित, श्रुति-रोचक, स्वर में आरोह की गति मंथर, आवेग संयत एवं दृढ़ होता है। इसमें छोटे-छोटे घरों की गार्हस्थ्य-कथा, पारिवारिक सुख-दुःख, भोग, ओषा-व्रतादि धर्मकथा,

खान-पान, वस्त्र-अलंकार की कथा और अनुभूतिमूलक प्रेम-कथाएँ रहती हैं। ढग-ढमालि, बारमासी, पुचि खेल गीत, दोलि गीत, शिशुओं को दुलार करने का गीत, कांदणा आदि अधिकांश कथा-गीतियाँ नारी की सृष्टि हैं।

पुरुषों के गीत वृत्त दीर्घ और भाषा अपेक्षाकृत कर्कश होती है। यह ओजगुण-सम्पन्न होते हैं। उद्दाम और आवेग-पूर्ण होने के साथ-साथ इसके स्वर के आरोह में उग्र गति रहती है। ऐसे गीत प्रायः काम के समय ही गाये जाते हैं।

'बालस्तावत् क्रीड़ासक्तः' बालक-बालिकाओं के गीत क्रीड़ामय होते हैं। इनमें प्रयुक्त छन्द छोटे होते हैं और ये गीत आकार में छोटे, स्वर में उग्र, गति में द्रुत और आरोह-अवरोह से शून्य होते हैं। ये बहुत अंशों में निरर्थक होते हैं, क्योंकि बालक-बालिका ही आंशिक रूप से अपने गीतों के रचयिता होते हैं। ऐसे गीतों की रचना में नारी का योग-दान भी कम नहीं है।

लोकगीतों को समूहगत और व्यक्तिगत, इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, क्योंकि कुछ गीत सामूहिक रूप में और कुछ अकेले गाये जाते हैं। इन गीतों की रचना में चाहे समूह का हाथ होता हो अथवा ये व्यक्तिगत रूप से रचे जाते हों किंतु इतना तो निश्चित है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति ही लोक-गीत के स्रष्टा होते हैं। असंख्य व्यक्तियों में से किसी-किसी स्त्री-पुरुष को कवि-प्रतिभा प्राप्त होती है। सुयोग मिलने पर हो सकता है कि वे कविवर्ग में स्थान पा जाते, किन्तु अनुपयुक्त स्थान में पड़ जाने पर भी उनकी कवि-प्रतिभा मलिन नहीं होती और किंचित् अनुकूल वातावरण के स्पर्श से ही वह स्फुरित हो उठती है। उसी प्रतिभा की वाणी ग्राम-गीत है। ग्राम के अन्य व्यक्ति स्रष्टा नहीं होते, वे सिर्फ वाहक या धारक होते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ओड़िया लोक-साहित्य के संग्रह का प्रयत्न हुआ था। सन् १८७६ ई० में ओड़िशा के तत्कालीन कमिश्नर रेवेन्शा साहब की सहायता से पं० श्री कपिलेश्वर भूषण नन्द शर्मा ने कुछ 'ढग' इकट्ठा करके प्रकाशित किया था। सन् १९०३ ई० में श्री नीलमणि विद्यारत्न ने कुछ ढग और श्लोकांश संग्रह करके प्रकाशित कराया और उसे लोकसाहित्य के पट्टपुरोधा श्री गोपालचन्द्र प्रहराज को समर्पित किया था।

उच्च अंग्रेजी विद्यालयों की परीक्षाओं में "प्रवाद" से प्रश्न आने पर परीक्षार्थी इस विषय की अनभिज्ञता के कारण संतोषजनक उत्तर नहीं लिख पाते थे। साधारण पाठक को "प्रवाद" संबंधी ज्ञान बहुत कम होता था क्योंकि साहित्य के विषय में उनकी थोड़ी जानकारी होती थी। अतः सन् १९१४ ई० में श्री भगवान होता ने 'ओड़िया प्रवादमाला' नामक प्रवाद-ग्रन्थ प्रकाशित कराया। उसी वर्ष श्री राघवानंद दास ने कुछ कृषि-संबंधी उक्तियों का संग्रह प्रकाशित कराया जो कृषि-जीविका के प्रधान उपाय, पालक और फल की गणना, कृषि-समय, बैल और यंत्रों का विवरण, बीज डालने की विधि, जुताई आदि आठ भागों में विभक्त था। खेती की उन्नति के लिए कृषकों में अनुभव-सिद्ध उक्तियों के प्रचार की आवश्यकता का अनुभव करके उन्होंने "खाद और सार" की कथा और रोपण-विधि के संबंध में दो निबंध लिखे थे।

सन् १९२३ ई० में श्री अपन्ना पंडा ने 'ढगमालिका तत्त्वबोधिनी' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसमें उन ढगों का अर्थ, तात्पर्य उदाहरण सहित, समझाया है।

श्री गोपालचन्द्र प्रहराज ग्राम-गीत संग्रह के प्रथम अगुआ हैं। उन्होंने अपने ढगढमाकी के दोनों भागों में यह बताया है कि भाषा कोश-निर्माण के संबंध में मौलिक शब्द संचयन की आवश्यकता होने पर वे लोकगीत संग्रह में किस प्रकार लग गये, और सभ्यता के प्रसार के साथ ग्राम-गीतों का लोप तथा उन्हीं के साथ तत्त्वानुसंधान संबंधी बहुमूल्यवान् सामग्री के लोप हो जाने की आशंका ने उन्हें कैसे इस ओर प्रेरित किया था। श्री प्रहराज ने ही सर्वप्रथम लोक-गीत संग्रह की एक बृहत् योजना देशवासियों के सामने रखी थी।

ओड़िया लोकगीत संग्रह के उद्देश्य से सन् १९३१ ई० में श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ओड़िशा आये। उनकी प्रेरणा से जो लोग ग्राम-गीत संग्रह की ओर अग्रसर हुए, उनमें श्री चक्रधर महापात्र अग्रणी हैं। सन् १९३४ ई० में उन्होंने 'गाउँलिगीत चुम्बक' नामक एक गीतसंग्रह प्रकाशित कराया। इस पुस्तक के द्वारा भारत तथा अन्य देशों की दृष्टि इन गीतों की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें देवनागरी अक्षरों में ओड़िया गीत और उसका अंग्रेजी अनुवाद दिया गया है।

उन्होंने अपने इस संग्रह को निम्न आठ भागों में विभक्त किया है—(क) बहुंक सुख-दुःख-गीतिका, (ख) किशोरीक मेल-गीतिका, (ग) गांपिलांक खेल-गीतिका, (घ) गांपिलांक ढग, (ङ) ग्राम्य-वंदना गीत, (च) पोथी-गीतिका, (छ) कृषक-गीतिका, (ज) परिशिष्ट गीतिका।

भारत-सेवक समाज के सदस्य श्री लक्ष्मीनारायण साहु का संपूर्ण प्रयत्न इन सबसे भिन्न था। उन्होंने कन्ध, सउरा, गंड, गादबा, संथाल, परजा, कोया आदि आदिवासियों के गीतों का संग्रह 'गर्धविका शतदल' नाम से सन् १९४७ ई० में प्रकाशित कराया। इसमें उनकी रीति-नीति, धर्म, देवपूजा, विश्वास, रहन-सहन, पर्व आदि के गीत संकलित हुए हैं। इसके अतिरिक्त "हिल ट्राइब्स आफ जयपुर" नामक कथा-संबंधी ग्रन्थ १९४२ में छपाया है। साहु जी ने 'दंड-नाट्' नाम से एक और पुस्तक में ग्राम-गीतों पर उच्च कोटि की आलोचना प्रस्तुत की है।

पिछले १५ वर्षों से लोकगीतों के संग्रह का कार्य मेरे भी मनबहलाव का प्रधान साधन बना हुआ है। मैंने हजारों गीत संग्रह किये हैं। सन् १९४८ में 'पल्लीपुष्प', सन् १९५० में 'पल्ली-झरण', सन् १९५३ में 'ए स्टडी आफ ओरिसन फोक लोर', सन् १९५४ ई० में 'पल्लीगीत संचयन' (प्रथम भाग), सन् १९५७ ई० में मेरी 'डाक्टरेट की थीसिस' 'ओड़िया लोकगीत और कहानी' प्रकाशित हुई है।

योगी और भिखारी वीणा या खँजड़ी बजाकर गाथा-गीत गाया करते हैं। कितने ही गाथा-गीत धर्म संबंधी होते हैं। 'ब्यायी गाय की सत्य-रक्षा और राजा गोविंदचन्द्र के राज्य-त्याग की ये दो कहानियाँ भारत में सर्वत्र प्रचलित हैं। लौकिक वर्णन के तारतम्य के सिवा इसमें और कुछ विशेष तत्त्व नहीं पाया जाता। अन्यान्य गीतों में अत्याचारों से पीड़ित ग्राम्य-वधू की वेदना अथवा माता-पिता, स्वामी, स्त्री या संतान-वियोग का गंभीर दुःख प्रकाशित हुआ है।

कन्या के ससुराल जाते समय ओड़िशा का गृह-प्रांगण करुण गीतों से मुखरित हो उठता है। 'कांदणा' में नारी का स्वाभाविक कवित्व साकार हो उठता है। इसमें धनी या सर्वहारा समाज का चित्र दुर्लभ है। आर्थिक अनिश्चितता ही निम्न मध्यवर्गीय नारी-समाज के दुःख का प्रधान कारण है। धनी घर की लड़की का विवाह धनी घर में होता है, वह सुख की गोद से सुख की गोद में ही जाती हैं। धनाढ्य पिता अभाव के कारण अपनी कन्या का विक्रय नहीं करता या अपनी दुलारी बेटी को किसी वृद्ध के हाथों समर्पित नहीं करता। मजदूर वर्ग को भी आर्थिक चिन्ता व्याकुल नहीं करती। रोज कमाना, रोज खाना, मिला तो मालपुआ नहीं तो एकादशी, यही उसका जीवन है। जो लड़की बहू बनती है, उसे कोई बैठाकर खिलाता नहीं। मैं यह बात अच्छी तरह जानता कि विवाह हुए एक माह भी नहीं बीतता कि वह खेत निराने या धान काटने जाने लगती है।

मध्यम वर्ग की कन्या को कभी-कभी अभाव से अनादर में पड़ना पड़ता है। माँ बचपन से लाड़-प्यार से रखती है। देह कुम्हला जायेगी, यह सोचकर धूप में नहीं जाने देती, वह उसकी रक्षा आँख की पुतली के समान करती है। वही कन्या ऐसे स्थान में पहुँचती है, जहाँ वह तो सबकी देख-भाल करती है; पर उसकी देखभाल करनेवाला कोई नहीं। वहाँ सढ़ई से माँड़ बँटता है; कटोरी से नापकर भात परोसा जाता है; भीगा कपड़ा देह पर ही सूखता है। आँख के आँसू सूख जाते हैं पर वेदना का अन्त नहीं होता। सुकुमार वयस् में ही तानों की बौछार सहते-सहते उसका कोमल मेरुदंड टूट जाता है। लाचार होकर वह अपनी अश्रुधारा में ही वेदना को कम करती है

"मुंह पोड़ु तोर झिअ जनम्, जनम घरे लो नाहिं मरण।
पालिंकि बाउंश मुंठ रे जरि, अेतिकि बेलरे जाअंतिमरि।
कंसर सवारि जाआन्ता फेरि, मो बापा बसन्ते गुमान करि।
मो बोउ कांदन्ता मो नाम धरि, अेका कांदक जाआन्ता मरि।"[१]

पाटुआ यात्रा निम्न वर्ग में प्रचलित है। इसमें वर्णभेद नहीं है। मनौती आदि होने पर इसमें उच्च श्रेणी के लोग भी सम्मिलित होते हैं। शिव-पार्वती इसके इष्ट देवता हैं। देवता की

---

१. जल जाय लड़की का जनम
जनम तो गई लेकिन मौत नहीं है।
पालकी की मूठ की रस्सी जल जाय
(और उसी से)
मैं मर जाती।
तब यह कंस की सवारी लौट जाती
और मेरे पिता अभिमानपूर्वक चुप बैठे रहते।
मेरी माँ मेरा नाम लेकर रोती।
एक ही रुदन में खेल खत्म हो जाता।

प्रसन्नता के लिए पाटुआ यात्री अत्यंत कठिन कार्य भी कर डालते हैं। वे आग पर चलते हैं, काँटों पर लोटते हैं, तलवार पर चलते हैं, पीठ और जीभ को जख्मी कर डालते हैं, पेड़ की डाल में पैरों को बाँधकर आग पर झूलते हैं। उनके गीत कुछ लिखित और कुछ मौखिक होते हैं। इसी स्वतःस्फूर्त मौखिक गीत में उनके प्राण की आकुलता प्रकट होती है।

पाटुआ यात्रा की तरह 'दंडनाट' एक लोकप्रिय धर्मानुष्ठान है। वंग देश से तामिल-नाड तक, जहाँ तक शैव धर्म की धारा व्याप्त है, वहाँ 'शिवेर गाने', 'दंडनाट' या ऐसे ही अन्य कई धार्मिक अनुष्ठानों का संकेत आज भी नीच जातियों में मिलता है। 'दंडनाट' सभी जातियों का एक समन्वय है, नाना धार्मिक विश्वासों का एक सूचीपत्र है। इसमें पत्र पहननेवाले शबर, सउरा आदिवासियों से लेकर मुगलकालीन फकीरों तक के नाना धर्म-सम्प्रदायों के प्रतिनिधि रहते हैं। पाटुआ यात्रा की तरह इसमें भी जलती जमीन पर लोटना, काँटों पर सोना, और तलवार की धार पर चलना आदि शारीरिक कष्ट सहन करके देवता को प्रसन्न करने का विधान है। 'दंडयात्रा' का मूल शैव तंत्र में है।

दंडगीत इतने सरल होते हैं कि अर्थ समझाना नहीं पड़ता। इसका विषय पौराणिक होता है। दंडुवा जगन्नाथ, गणेश, सारला, सरस्वती आदि देवों की उपासना करता है। दंडुवा का गीत केवल शिवपुराण में ही सीमित नहीं बल्कि शैव, वैष्णव या शाक्त अथवा जिस किसी भी धर्म-धारा से वह इसे ग्रहण करके उसका विवरण प्रस्तुत करता है। उनके मौखिक गीत रसीले और स्वभावतः मनोहर होते हैं। दाम्पत्य कलह का अभिनय, लोक-रुचि से अप्रीतिकर होने पर भी, जन-साधारण का उपभोग्य होता है। इसमें शिव का अस्तित्व नहीं रहता, नित्यप्रति की सांसारिक वास्तविकता के नग्न देव रहते हैं। ये देवता ही साधारण जीवों को घेरे रहते हैं। इसमें शिव-पूजा केवल एक चलता एवं सामयिक विषय है।

'चइति घोड़ा-नाट' केवटों का एक प्रधान पर्व है। इसमें अश्वमुखी बाशुली की पूजा होती है। यह भी "हयग्रीवा" दुर्गा का एक नाम है।

"नारसिंही हयग्रीवा हिरणाक्ष्यविनाशिनी" के प्रमाणानुसार हो सकता है कि इससे ही अश्वमुखी बाशुली का उद्भव हुआ हो। अधिक संभव है कि कैवर्त्तों की इष्टदेवी होने के पश्चात् ही विभिन्न देवी के मंदिरों में अश्वमुखी बाशुली की स्थापना हुई हो। 'बाशुली नाट' के अनुकरण पर 'मेलण यात्रा' में भी घोड़ा नाट्य एक दर्शनीय वस्तु के रूप में समादृत है। अच्युतानन्द दास की कैवर्त्त गीता, कैवर्त्तों का वेद है। इससे मंत्र लेकर वह बाशुली की पूजा करता है। मौखिक गीतों में उसके दैनिक संघर्ष का इतिहास मिलता है—

बाटरे माइलि बोड़ा, रातिरे नचाये चइति घोड़ा, मुं दिनरे कुटइ चुड़ा।[१]

**१. राह में बोड़ा साँप मारा,
रात में चइती घोड़ा नचाया,
और दिन में चूड़ा कूटता हूँ।**

"पुचिखेल" का गीत अर्थहीन और अप्रासंगिक होता है, केवल नृत्य में ताल देने के लिए ही इसका उपयोग होता है। इसमें विचारों की कोई शृंखला नहीं होती। इसे बेमेल फूलों की माला कह सकते हैं जिसमें प्रत्येक फूल की स्वतंत्र महक है किंतु माला की महक का आभास नहीं मिलता। एक-एक गीत कितनी ही छाया-छवियों की समष्टि मात्र है। किशोर मन की तरंगें गीत के पद-पद में भरी रहती हैं।

'बारमासी' गीत में बारहों महीनों के सुख-दुःख का विवरण होता है। पूरे वर्ष की अनुभूति बारह महीनों के क्षुद्र घेरे में समाकलित रहती है। वे अनुभूतियाँ अधिकांशतः गम्भीर होती हैं। अतः अभिव्यक्ति सावलील एवं स्वच्छंद होती है। 'बारमासी' पाढ़ने के लिए नहीं, गाने के लिए है। यह नारी का निजस्व है।

दोलि गीत आकार में छोटा होता है। केवल तीन ही पंक्तियों में भाव भरा होता है। ऐसा होने पर भी यह अपने में संपूर्ण होता है। दोल, रज और कुमार पूर्णिमा के दिन कुमारियाँ एकत्र होकर एक को 'दोलरानी' बनाकर और उसे दोलि में बिठाकर झुलाती हैं। उस समय वे दोलि छन्द में गीत गाती हैं। परिवार और स्थानीय समाज ही उसके विषय-वस्तु होते हैं। कैशोर जीवन के उत्साह में वधू की सासु-घर की यात्रा, सासु तथा ननदों का अत्याचार, सौतिया झगड़ा, स्वामी की कठोरता, वृद्ध-विवाह से वधू की निराशा, प्रेम, विरह, अभिसार, पत्र-लेखन, पालटा कन्या-विवाह, दाम्पत्य कलह, साहु महाजन की कृपणता, देवरों का परिहास, राजाओं की स्वेच्छाचारिता आदि इस गीत के वर्ण्य विषय और स्रोतस्थल हुआ करते हैं।

हालिया गीत में कल्पना-विलास नहीं होता, वाक्याडम्बर नहीं रहता। एक-एक पद में काव्य संकेत फूटा पड़ता है। यह काव्य प्राणों का काव्य है। आँसुओं में उमड़ता रहता है। इसकी अनुभूति में चमत्कारिता तथा स्वाभाविकता में सरसता होती है। हल चलाते समय हलवाहा इसे गाता है।

चैतपर्व मुख्यतः धांगड़ा-धांगड़ियों का उत्सव है। यौवन, प्रेम और सौन्दर्य के प्रतीक अविवाहित और अविवाहिता इस महोत्सव में शरीक होते हैं। पूरे चैत मास भर नृत्य-गीत चलता रहता है। दो दलों के युवकों और युवतियों में गीत-प्रतियोगिता चलती है। युवती परास्त होने पर विजेता से विवाह करती है और विजेता कन्या को ले भागता है।

मंत्र-गीत मुख्यतः मंगलसूचक होते हैं—अनिष्ट-निवारक, रोग-व्याधिनाशक। अनिष्टकारी मंत्र रोगोत्पादक, विघ्नकारी होते हैं। इसमें कवित्व नहीं होता। इससे समाज की असहाय अवस्था की सूचना मिलती है।

'पद्मतोला गीत' साँपों के पकड़ने और खेलाने में व्यवहृत होता है। 'हुगो' कुमारियों का गीतनृत्य है। सूर्यास्त होने के पूर्व ही वे एक जगह एकत्र होकर दो दलों में बँट जाती हैं। गीत में एक दल के प्रश्न पूछने पर दूसरा दल उत्तर देता है। इसमें नैहर की स्वाधीनता, सुख-स्वच्छंदता, सासु-घर के दुःखादि वर्णित होते हैं।

'डालखाइ' नृत्य-गीत आश्विन मास में दुर्गाष्टमी के दिन होता है। इसमें विवाहित

युवतियाँ भाग लेती हैं। इसके साथ ढोल-महुरी बजती है। इस नृत्य में नर्तकी घुटनों, पैरों को झुकाकर दोनों पैरों को एक साथ मिलाते हुए नाचते-नाचते पीछे की ओर फिरती जाती हैं। पीठ पर चादर जैसा वस्त्र डाले कभी बायें हाथ से, कभी दायें हाथ से उसे उठाती हुई नाचती रहती हैं। गीत के आरंभ और शेष में वे 'डालखाइ' कहती हैं।

'मायला जड़' ठीक 'डालखाइ' की तरह का नृत्य-गीत है। स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर सामान्य त्योहारों पर यह गीत गाते हैं। नाच के साथ-साथ ढोल-महुरी बजती है। 'गुंजिकुटा' में लड़कियाँ पुचिखेल की तरह दोनों तरफ दोनों पैरों को फेंकती हुई गीत गाकर नाचती हैं। 'बाँकी झुलकी' में लड़कियाँ गीत गाती हुई बाईं ओर को थोड़ा झुककर बैठ जाती हैं और पुनः थोड़ा आगे चलकर दाईं ओर झुककर बैठ जाती है, फिर तीसरी बार गीत समाप्त करके बैठ जाती हैं। तत्पश्चात् चलती हुई पुनः अपनी जगह पर आ जाती हैं।

संबलपुर से फुलवाणि तक के समस्त भूभाग में 'करमा' नाट होता है। पहले 'करमा' पेड़ की जड़ धोकर फूल-चन्दन से सुशोभित करते हैं। पूजा के पश्चात् जलूस के साथ एक डाल काटकर लाते हैं और उसे वेदी पर गाड़ देते हैं। पुजारी शराब पीकर वेदी के चारों ओर नृत्य करते हैं। 'करमा यात्रा' के देवता कर्मदेव हैं। मनुष्य की भाग्य-डोरी उनके हाथ में रहती है। वे किसी को धनी, किसी को दरिद्र, किसी को रोगी और किसी को स्वस्थ बनाते रहते हैं। लापरवाही करने से सारा धन-द्रव्य हर लेते हैं। 'करमा यात्रा' में लिखित और मौखिक दोनों गीत गाये जाते हैं।

(ख) लोककथा——श्री दीनकृष्ण दास की कहानी पुस्तक 'प्रस्ताव सिंधु' उत्कल की प्रथम कहानी पुस्तक है। यह पद्यों में लिखी गई है। भाषा ग्राम्य है। 'कथासरित्सागर' से इसकी अधिकांश कथाएँ ली गई हैं। केवल कथा-संग्रह के उद्देश्य से उन्हें नहीं लिया गया है। वैसी जाग्रति भी तत्कालीन ओड़िशा में असम्भव थी। 'प्रस्ताव सिंधु' में नीति-शिक्षा मुख्य विषय है और कथा-संग्रह का लक्ष्य गौण है। चाणक्य के श्लोकों के अनुवादों में स्थान-स्थान पर दृष्टान्तों के बहाने लोककथाएँ भी दी गई हैं। नीति को सुस्पष्ट, सरस और सर्वसुलभ बनाने के लिए गल्प की उपयोगिता सर्वमान्य है।

अठारहवीं सदी के 'ब्रजनाथ बड़ जेना' उत्कल के द्वितीय ग्राम्य गल्प-संग्राहक हुए हैं। संस्कृत के 'कथासरित्सागर' की तरह आकार में बृहत् न होने पर भी एक मात्र प्राचीन गद्य गल्प-पुस्तक की दृष्टि से यह ओड़ियासाहित्य की एक गौरव वस्तु है। 'चतुरविनोद' की कथाएँ उस समय उत्कल में प्रचलित थीं। ब्रजनाथ बाबू ने अपनी भाषा में लिखकर उनमें एकरूपता ला दी है। लेखक ने कथा कहनेवाले राजकुमार के मुख से निम्नांकित शब्दों में यह बात परोक्ष रूप से स्वीकार की है कि उन्होंने इन्हें संगृहीत किया है। "पहले संकर्षण पंडा ब्राह्मण ने राजदरबार में 'चतुर विनोद' नामक कहानी कही थी, उसे मैंने सुना है।"

पूर्व काल में कवियों की तरह कहानीकार भी राज-दरबार में विशेष रूप से सम्मानित होते थे और राजा तथा दरबारियों का मनोविनोद करके आजीवन राजदत्त वृत्ति का भोग करते

थे। हो सकता है कि संकर्षण पंडा उन्हीं कथाकारों में से एक हों और ढेंकानाल या केंउझर राज-दरबार में उन्होंने इसे सुनाया हो। उसे सुनकर उन दरबारों से संबंधित किसी कवि ने 'चतुर-विनोद' की रचना कर दी होगी। कथाकार की कथन-शैली में रचित इस गल्प की शैली उपर्युक्त अनुमान को दृढ़ करती है।

लेखक ने कहानी कहने में किसी नूतन पद्धति को नहीं अपनाया है। उन्होंने 'कथासरित्-सागर' की रचना-रीति और गल्प-पंडितों की कथन-शैली का समन्वय किया है। 'पंचतंत्र' की तरह इस पुस्तक में कहानी में कहानी, जंजीर की तरह, लगी हुई है। भाव-सादृश्य के कारण एक कथा दूसरी कथा को मन में पैदा करती है। कथा की जटिलता में फँसकर पाठक या श्रोता उसके मूल सूत्र को खो बैठता है; लेकिन यह अघटित नहीं है। पाँच व्यक्तियों के समूह में एक व्यक्ति के एक कथा कह चुकने पर दूसरा व्यक्ति उसी भाव की और एक कथा कह उठता है। इसी तरह एक कथा अन्य कथा का स्मारक बनकर कथा की एक माला बनाने में सहायक होती है।

ग्रन्थ का नाम 'चतुरविनोद' रखने का कारण उन्होंने कहा है कि 'हास-विनोद, रसविनोद, रीतिविनोद, प्रीति-विनोद' इस प्रकार चार प्रकार का विनोद होने के कारण इस कथा का नाम चतुरविनोद पड़ा; अथवा चतुर लोगों का विनोद होने के कारण इसका नाम 'चतुरविनोद' पड़ा। 'चतुरविनोद' की कथा मूल गल्प से अन्य चार शाखा-गल्प-कथाओं और प्रत्येक शाखा-गल्प से तीन दूसरी गल्पों में समाप्त हुई है। कथा के बीच-बीच में गीत, श्लोक, ढग-ढमालियाँ व्यवहृत हुई हैं। व्यंग्य द्वारा कहानी कहना लेखक की रचना-शैली की विशेषता है।

प्रसिद्ध कवि बलदेव रथ ने उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में "हास्य कल्लोल" नामक एकमात्र गद्य-पद्य-मिश्रित गल्प की रचना की थी। साहित्य में वैचित्र्य-विधान के उद्देश्य से इसकी रचना नहीं हुई है। लेखक के आजीवन-पोषक आठगड़ के राजा बालुकेश्वर हरिचंदन के व्रण रोग से तीव्र यंत्रणा भोग करते समय उन्हें हँसाकर घाव फोड़ने के उद्देश्य से उन्होंने इसकी रचना की थी। सचमुच यह हास्यरसात्मक कथा सुनकर राजा के हँसते ही उनका घाव फूट पड़ा था और वे पुनः चंगे हो गये थे। कथाकारों की कथन-शैली इस कथा में अनुसृत हुई है। आदि से अन्त तक हास्यरस लबालब भरा है। इसमें विपरीत कथाएँ कहकर हँसाने का प्रयत्न किया गया है।

अति गुणवन्त समस्त दोष, गुणज्ञ देखिले हुअंति रोष।
चणा चोबाइले निवर्त्ते शोष, साधुंकु निंदिले मनरे तोष।
घुषुरि देखिले बोलन्ति हाती। कहि न पारन्ति के वण जाति।
ब्राह्मण मानंक हातरे काति, भक्तिरे गुरु वैष्णव धाती।[1]

---

१. अत्यंत गुणवान् होना सभी दोषों का मूल है,
गुणवान् को देखकर मुझे क्रोध लगता है।

"कांचि बैरी गंजन कलंब बलियार सिंह, मदरंगा मेदिनी राय, दुर्बोध धुरन्धर बेहरा महापात्र, प्राणांतक वैद्य चन्द" आदि नाम से हास्य रस-स्रष्टा की मौलिकता फूट उठी है। अधोगत दरबारी जीवन, धर्मसर्वस्व ब्राह्मण, प्राचीन उपाधिधारी वीर्यशून्य क्षत्रिय, अहंकारी पुरोहित, आततायी पुटुली वैद्य आदि के व्यंग्यात्मक चित्र खूब मनोहर हुए हैं।

'हास्य कल्लोल' का कथांश दुर्बल है। इसमें काव्य-सुलभ वर्णन मिलता है। यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि के व्यवहार एवं कथा-चातुर्य द्वारा चमत्कार दिखाने का प्रयत्न हुआ है।

'हास्य कल्लोल' और 'उत्कल कहानी' के बीच प्रायः आधी शताब्दी का अन्तर है। 'उत्कल कहानी' ग्रन्थ उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में प्रकाशित हुआ। गोपालचन्द्र प्रहराज आधुनिक युग के प्रथम कथासंग्राहक हैं। उनकी 'उत्कल की कहानी' उत्कल के घर-घर में छाई हुई है। आधुनिक ओड़िया-गद्य में लिखित यह सर्वप्रथम पुस्तक है जिसकी भाषा सभी लोगों के लिए बोधगम्य है। यही कारण है कि ग्रामीण भी इसमें पूरी रुचि लेते हैं। प्रहराज महाशय की यह चेष्टा आकस्मिक नहीं है। उनके कथा-संग्रह के समान सारे भारत में कथा-संग्रह का वातावरण उत्पन्न हो गया था। सम्भवतः उसी वातावरण ने प्रहराज महाशय को इस ओर प्रेरित किया। वे कथा की उपयोगिता और उसके संग्रह में श्रम की यथार्थ सार्थकता समझ-बूझकर इस ओर अग्रसर हुए थे। उन्होंने कथा-संग्रह का उद्देश्य 'उत्कल कहानी' की भूमिका में यह बताया है कि "मैं अपने अनुभव से समझ सका हूँ कि मैंने बचपन में जितनी कहानियाँ सुनी या याद की थीं, आज मेरे छोटे भाई उनकी आधी भी नहीं जानते और जिनसे मैंने ये सब कहानियाँ सुनी थीं उनसे आधी भूली कहानियों की विषय-जिज्ञासा करने पर वे कहते हैं कि अभ्यास के अभाव में वे भूल गई हैं। देश-प्रचलित कहानियाँ लिपिबद्ध होकर साहित्य-भंडार में सुरक्षित रहें, यह साहित्यकारों का लक्ष्य होना उचित है। जितने अपभ्रष्ट और घरेलू शब्द लिपिबद्ध होकर रहें, साहित्य और भाषा का उतना ही मंगल है।"

संग्राहक ने कथाओं को दो भागों में बाँटा है—(क) बालोपयोगी, (ख) वृद्धोपयोगी।

अर्वाचीन उत्कल की दूसरी कथा पुस्तक 'कथालहरी' है। संग्राहिका एक करण महिला हैं। समय-विरोधी होने के कारण महिला का नाम प्रकाशित नहीं किया गया। यह पुस्तक १९०१ ई० में छपी थी। इसकी भूमिका में भक्त कवि श्री मधुसूदन ने लिखा है—"लोक गल्प, भाषातत्त्व, प्राचीन रीति-नीति, लोकविश्वास के तथ्य और देहात के नाना विश्वसनीय सत्यान्वेषण की दृष्टि से यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। ग्राम्य गल्प साहित्य के साथ दूसरे देशों में

चना चबाने से प्यास बुझ जाती है।
साधुओं की निंदा से मन को संतोष होता है।
ब्राह्मण के हाथ में छुरा है
अतिभक्ति गुरु और वैष्णव का घाती है।

प्रचलित गल्प साहित्य की तुलना करके तथा अनुकूल और प्रतिकूल रूप का कारण बताकर नाना तत्वों का आविष्कार किया जा सकता है।"

सन् १९२१ ई० में "उत्कल कहानी दर्पण" नामक लोक गल्प-संग्रह प्रकाशित हुआ। इसमें कुछ नवीनता नहीं है। उक्त दो पुस्तकों की कथाएँ रूपांतरित की गई हैं। इसी समय ओड़िया लोककथा को ओड़िशा के बाहर प्रचलित करने की एक बार कोशिश हुई थी। सन् १९२५ ई० में उपेन्द्र नारायण गुप्त ने 'Folk Tales of Orissa' नामक पुस्तक कलकत्ते में प्रकाशित की थी। इस पुस्तक की अधिकांश कथाएँ 'उत्कल कहानी' और 'कथा लहरी' से अनूदित हैं।

विहार ओड़िशा शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर जि० ई० फॉक्स साहब ने इसकी भूमिका में लिखा है "अंग्रेजी एक विदेशी भाषा है। अंग्रेजी पुस्तक में भारत जैसे देश का चित्र न होने से वह अस्पृश्य विवेचित होता है। 'Folk Tales of Orissa' जैसी पुस्तक इस अभाव को दूर करने में सहायक होगी।"

इस पुस्तक में कुल १५ कथाएँ संगृहीत हैं। बीच में एक एक 'Lullaby', 'Fun', 'Riddle', 'Puzzle' एवं कहानी के अन्त में विषय-वस्तु का अनुवाद दे देने से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। गत पाँच वर्षों में ओड़िशा के ग्रामांचल में लोकगीत संग्रह के उद्देश्य से घूमते समय मैंने बहुत सी नयी लोककथाओं की जानकारी पाई है। खोज करके मैंने देखा है कि सैकड़ों लोक गल्प आज भी प्रचलित हैं। तभी से लोक-गल्प संग्रह मेरा जीवन-व्रत बन गया है। अब तक दो सौ से अधिक लोक-कहानियाँ संगृहीत हो चुकी हैं। वे सब 'कथाटिये कहूँ' नाम से एक के बाद एक प्रकाशित हो रही हैं।

ओड़िशा में प्रायः दो प्रकार के कथा कहनेवाले मिलते हैं : (क) ग्राम के प्रवीण वृद्ध-वृद्धा, (ख) गल्प-सागर, (ग) गल्प-कथन एक परंपरित लोककला है। इसके लिए चमत्कारिक कल्पना, शिशुसुलभ सरलता, सहानुभूतिशील हृदय, मधुर कंठ, मधुर कंठस्वर, श्रोता के चित्त को हिला देनेवाली वाग्मिता, सुदृढ़ चरित्र और बलिष्ठ व्यक्तित्व का होना आवश्यक है। कथा कहनेवाले को एक साथ वादक, गायक और अभिनेता बनना पड़ता है। केवल एक परिवार के नहीं बल्कि गाँव के अधिकांश लड़के उस प्रवीण कथक के द्वार पर कहानी सुनने के लिए जमा होते हैं। संध्या के शान्त वातावरण में कथक पूछता है—"सुख की कथा कहूँ या दुःख की, या जिसे अनुभव किया है उसे कहूँ ?" इस पर श्रोताओं में मतभेद उत्पन्न होता है। कोई राक्षस या भूत की कथा सुनना चाहता है तो कोई जीव-जन्तु की। ऐसे मौकों पर कथक अपनी इच्छाशक्ति का सहारा लेता है। श्रोतागण गल्प के प्रवाह में बह जाते हैं और कुछ एतराज नहीं करते। कथक आरंभ करता है—

कथाटिये कहूँ, कथाटिये कहूँ।
कि कथा ? बेंगुलि कथा ! कि बेंगुलि ? काठ बेंगुलि !

कि काठ? तेलिमाठ! कि तेली? घणा तेली!
कि घणा? आखु घणा! कि आखु? कन्तारि आखु!
कि कन्तारि? बुढ़ि मंतारि! कि बुढ़ि? पाचिला बुढ़ि!
कि पाचिला? केउटुणि बुढ़ि चुड़ा बोझे धरि नाचिला।[1]

कहानी के अन्त में उसी तरह कहता है—

मो कथाटि सरिला, फुल गछटि मरिला। हइरे फुल गछ, तू काहेंकि मलुअ
मोते कालि गाइ खाइ गला। होइलो कालि गाइ तु काहिंकि खाइ गलु?
मोते गौड़ जगिला नाहिं, हइरे गउड़ तु काहिंकि जगिलु नाहिं?
मोते बड़ बहु भाव देला नाहिं, हइलो बड़ बहु, तु काहिंकि भात देलु नाहिं। पुअ काँदिला।
हइरे पुअ तु काहिंकि काँदिलु? मोते जन्दा कामुड़ि देला।
हइरे जन्दा तु काहिंकि कामुड़िलु? मुँ माटि तले तले थाये,
कअँल माँस पाइले रुटकिने कामुड़ि दिये।[2]

---

१. कथा कहता हूँ, कथा कहता हूँ।
कौन कथा? मेढक की कथा, कौन मेढक? काठ का मेढक।
कौन काठ? तेली का मूसल, कौन तेली? घानी पेरनेवाला तेली।
कौन सी घानी? ईख की घानी, कौन सी ईख? कंतारी ईख।
कौन सी कंतारी? बुड्ढी मंथरा। कौन बुड्ढी, पकी बुड्ढी
कौन सी पकी? केवटिन बुड्ढी टोकरी भर चूड़ा लेकर नाचने लगी

२. मेरी कहानी खत्म हो गई। फूल का पेड़ मर गया।
अरे फूल का पेड़ तू क्यों मर गया?
मुझे काली गाय खा गई।
अरी काली गाय, तू क्यों खा गई?
ग्वाले ने मेरी रखवाली नहीं की।
अरे ग्वाले, तूने रखवाली क्यों नहीं की?
मुझे बड़ी बहू ने भात नहीं दिया।
अरी बड़ी बहू, तू ने भात क्यों नहीं दिया?
मेरा बेटा रोने लगा था।
अरे बेटा, तू क्यों रोया?
मुझे चींटे ने काट लिया
अरे चींटे, तूने क्यों काटा?
मैं मिट्टी के नीचे रहता हूँ,
कोमल मांस मिलते ही कुट से काट खाता हूँ।

(ख) गल्प-सागर इन राष्ट्रीय कत्थकों से भिन्न हैं। वे लौकिक गल्प में नहीं बल्कि शास्त्रीय गल्प कहने में धुरन्धर होते हैं। वे सुपंडित, सुवक्ता, और परिहास-रसिक होते हैं। गल्प-कथन उनकी वृत्ति है। आज के युग में कहानी सुनाकर रोजी कमाना प्रायः कठिन है। कुछ दिनों में भरण-पोषण के अभाव से यह संप्रदाय लुप्त हो जायगा।

गल्प-सागरों की कथन-प्रणाली चमत्कारपूर्ण होती है, स्वर मधुर होता है। वे कंठ-स्वर सभी वाद्य-ध्वनियों का अनुकरण कर सकते हैं तथा अपनी कथन-शैली द्वारा हमारे मानस-पटल पर सभी दृश्यों को चित्रित करने में समर्थ होते हैं। 'कथासरित्-सागर', 'दशकुमार चरित' तथा 'कादम्बरी' के गल्प कहकर बीच बीच में पद्यांश और गद्यांश की आवृत्ति किया करते हैं। उनका कथा-क्षेत्र विराट् होता है। पौराणिक कथा, सन्त और भक्त-कथा, माहात्म्य-कथा, सत्य-नारायण पूजा कथा, ओषा और व्रत कथा, किंवदंती और लौकिक कहानी इसके अंतर्गत हैं। लौकिक कथा को निम्न नौ भागों में विभक्त किया जा सकता है। (क) उपदेशात्मक कहानी, (ख) देवता, असुर, भूत-प्रेत, ब्रह्मदैत्य की कहानी। (ग) चोर, डकैत, ठग, शठ की कहानी। (घ) पशु-पक्षी, सर्प और मत्स्य संबंधी कहानी। (ङ) रजापुअ, मंत्रीपुअ, साधवपुअ, कटुआलपुअ आदि चार मित्रों के दुस्साहसिक कार्य-साधन-विषयक कहानी। (च) प्रश्नोत्तर कथा। (छ) शब्द-चातुर्य द्वारा उत्पन्न औत्सुक्य-पूर्ण समस्या का समाधान करनेवाली कहानी। (ज) नीति-शिक्षा और अपने जीवन में उसके व्यवहार की कहानी। (झ) व्यंग्य-रसात्मक कहानी।

प्राचीन काल में दुर्गम पर्वत-माला, निविड़ अरण्य और विशाल समुद्र द्वारा एक देश अन्य देशों से अलग रहा, फिर भी पृथ्वी के विभिन्न दूरवर्ती देशों के बीच कथा-विनिमय संभव हुआ करता था। उस दृष्टि से विचार करने पर निकटवर्ती भारत के विभिन्न प्रदेशों के बीच कहानी-विनिमय की बात नितान्त आश्चर्यजनक है। संस्कृति के अग्रदूत के रूप में व्यापारी लोग एक अंचल की कथा दूसरे अंचल में प्रचारित करते थे। धर्म-प्रचारक, तीर्थ-यात्री, विदेशी-स्वदेशी भ्रमणकारी, और सभा-पंडितों के द्वारा ये कथाएँ प्रचारित हुआ करती थीं। विभिन्न युद्ध-अभियान तथा एक राष्ट्र के अन्य राष्ट्र पर राजत्व द्वारा भी इनका आदान-प्रदान हुआ करता था। ओड़िशा उत्तर और दक्षिण भारत का सांस्कृतिक केन्द्र है। दोनों संस्कृतियों का संयोजक और पुरी एक प्रधान धर्मपीठ तथा तीर्थक्षेत्र होने के कारण यहाँ कहानी-विनिमय स्वाभाविक रूप से हुआ होगा। इस प्रकार ओड़िशा की अनेक कहानियाँ अन्य प्रदेशों को गई होंगी तथा अन्य प्रदेशों की अनेक कहानियाँ इस प्रदेश में प्रचलित हुई होंगी।

विभिन्न प्रादेशिक गल्पों में सादृश्य होने का एक अन्य कारण यह भी है कि संस्कृत प्रादेशिक भाषाओं की जननी है। संस्कृत साहित्य अधिकांश प्रादेशिक गल्पों की गंगोत्री है।

भारत के विभिन्न अंचलों में लोक-गल्प की गठन-रीति प्रायः एक-सी है। उनमें व्यवहृत विविध कौशलों और अभिप्राय में थोड़ा तारतम्य है। अतीत भारत के विश्वास, चिन्तन तथा विश्व-मानव की पारंपरिक चिन्ता-धारा से ओड़िया गल्प का किस प्रकार का घनिष्ठ संबंध रहा है, उसे इस छोटे से निबन्ध में विवेचित करना संभव नहीं है।

ओड़िशा का समवाय-आन्दोलन

श्री अनंतप्रसाद पंडा, बी० ए०

भारत और उत्कल के समवाय आन्दोलन के पीछे अर्ध-शताब्दी का इतिहास छिपा हुआ है। यदि हम प्राचीन इतिहास की पृष्ठभूमि पर खड़े होकर पीछे की ओर देखें तो यह साफ देख सकेंगे कि यह आन्दोलन कितनी बाधाओं और विघ्नों को झेलते हुए बढ़ता आया है। इस आन्दोलन को आधार बनाकर आशा के कई महलों का निर्माण किया गया था लेकिन उनकी नींव खोखली थी। अतः आज उनमें से कितने धराशायी होकर भग्न खंडहर के रूप में पड़े हैं। ऐसा होने पर भी कितने ही स्थानों में आशा के नये सौध निर्मित हुए हैं और हो रहे हैं। इसके संबंध में अनेक एन्क्वायरी कमेटियाँ बनी हैं, बन रही हैं और चल रही हैं; लेकिन अब इस आन्दोलन की क्या रूप-रेखा हो, इसका निश्चय आज तक नहीं हो सका है।

सन् १९०४ में भारतीय ऋण-समवाय समिति कानून पास हुआ। लेकिन इसके पूर्व १९०३ ई० में कटक जिले में, बाँकी के निकट, एक समवाय समिति स्थापित हुई थी। उस समय ओड़िशा में स्वतंत्र सभाएँ न थीं, क्योंकि यह बंग प्रदेश का एक अंग ही था। इसी नाते बंगाल के रेविन्यू बोर्ड से उस समिति को १००० रुपया कर्ज मिला था। उसके बाद पुरी के नीमापड़ा स्थान में एक समिति स्थापित हुई। उस समिति के द्वारा लोगों को ७ वर्ष के लिए रुपये कर्ज दिये जाते थे। उसी वर्ष बंग प्रदेश के कृषि और बन्दोबस्त विभाग के डाइरेक्टर की अधीनता में पुरी जिला के खोर्धा तालुक के बालुगाँ, तराबोई और बोलगड़ स्थानों में तीन समवाय समितियाँ स्थापित हुईं। इनमें १२५० रुपयों का ऋण दिया गया था।

इसके बाद सरकारी तत्त्वावधान में बाँकी सबडिवीजन के डमपड़ा इलाके में तीन समवाय-समितियाँ बनीं। धीरे धीरे इन समवाय-समितियों की संख्या बढ़ गई और उनके परिदर्शन तथा यथासमय ऋण देने के लिए सन् १९२० ई० में सर्वप्रथम उत्कल के बाँकी नामक स्थान में एक केन्द्रीय समवाय संघ (क्वापरेटिव बैंकिंग यूनियन) स्थापित हुआ। यही संघ बाँकी के आधुनिक समवाय बैंक की नींव बना। दो वर्ष बाद १९२२ ई० में खोर्धा केन्द्रीय समवाय बैंक स्थापित हुआ। यह ओड़िशा के लिए एक स्मरणीय वर्ष है। उस वर्ष उत्कल बंग देश से अलग होकर 'बिहार और ओड़िशा' नाम के एक स्वतंत्र राज्य में परिणत हो गया। उसी वर्ष भारतीय समवाय कानून भी पास हुआ और भारतीय समवाय आन्दोलन ने एक नये युग में पदार्पण किया।

उस समय उस नवगठित बिहार और ओड़िशा प्रदेश में ५३० समवाय-समितियों और केन्द्रीय समवाय बैंकों की स्थापना हुई। इसी बीच ८२ समवाय-समितियाँ तथा दो केन्द्र समवाय

बैंक चालू किये गये। उक्त समितियों की सदस्य-संख्या ३१८२ और कार्यकारी निधि दो लाख अठत्तर हजार (२,७८,०००) रुपये थी। सन् १९१२ से १९२० के मध्य समवाय आन्दोलन कितना आगे बढ़ा, वह निम्नलिखित विवरण से मालूम पड़ जाता है।

सन्	समिति-संख्या	केन्द्रीय बैंक	सदस्य	कार्यकारी निधि
१९१२-१३	९४	२	३१८२	२,७८,०००
१९१३-१४	१५५	३	५३९७	५,९७,०००
१९१५-२०	२४१	१०	१२,२५०	१६,६१,०००

ऊपर जो विवरण दिया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि उस समय ओड़िशा में समवाय आन्दोलन बड़े जोर से चालू था। उस समय साधारणतः रेविन्यू विभाग के सरकारी कर्मचारी स्वच्छन्द भाव से समवाय-समितियों में काम करते थे। इसलिए साधारण जनता के मन में यह धारणा थी कि यह आन्दोलन एक सरकारी आन्दोलन है। उसी समय (सन् १९१२-१३ ई० में) समवाय-समिति के रजिस्ट्रार ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में लिखा था कि वर्तमान सबडिविजनल अफसरों के द्वारा समवाय आन्दोलन के व्यापक प्रचार और प्रसार की संभावना अधिक है। वे उक्त आन्दोलन के प्रचार के लिए बहुत बड़ी संख्या में संगठकों की नियुक्ति कर सकते हैं और अपने-अपने तत्त्वावधान में समवाय बैंकों और समितियों की देखभाल भी कर सकते हैं।

तत्कालीन सरकार की इस नीति के कारण तथा सरकारी कर्मचारियों की प्ररोचना और प्रत्यक्ष योग से १९१२ से १९२० के बीच समवाय आन्दोलन का शीघ्रतापूर्वक प्रसार और प्रचार हुआ। उस समय बेसरकारी लोगों को भी अवैतनिक ढंग से समवाय-समिति के संगठक, प्रचारक और तत्त्वावधारक के रूप में नियुक्त किया जाता था। वेतन न दिया जाने पर भी उन्हें काफी भत्ता और राहखर्च मिलता था—विशेषतः उन्हें सरकारी पदवी लाभ की आशा दी गई थी।

इसके बाद समवाय-समितियों की संख्या बढ़ने से उनकी देख-रेख और निरीक्षण के लिए अलग-अलग आञ्चलिक समवाय संघ (Guarantee Union) तैयार किये गये थे। ये सब संघ तत्कालीन ब्रह्मदेशीय प्रथानुसार स्थापित हुए थे। समवाय आन्दोलन का प्रसार-कार्य करने के साथ-साथ ये संघ उनके अधीन रहकर, देहातों में शिक्षा, साधारण स्वास्थ्य, पथ-निर्माण, पेय जल की व्यवस्था आदि तरह तरह के ग्रामसुधार संगठन का भार लेकर काम करते थे।

सारे 'बिहार और ओड़िशा' के समवाय केन्द्रीय बैंक तथा समितियों की देख-रेख, संचालन और हिसाब-किताब करने के लिए सन् १९१८ या १९ में एक प्रादेशिक समवाय फेडरेशन संगठित हुआ था। इस अनुष्ठान के अधीन रहकर अनेक समीक्षक कार्य करते थे।

यही उत्तरी ओड़िशा के समवाय आन्दोलन का इतिहास है। उस समय दक्षिणी ओड़िशा अर्थात् गंजाम और कोरापुट जिले मद्रास प्रदेश के अन्तर्गत थे। १९०६ ई० में पहले पहल गंजाम जिले के ब्रह्मपुर शहर में एक समवाय अर्बान बैंक स्थापित हुआ। यह आज भी अच्छी तरह काम

कर रहा है। इसके बाद मद्रास प्रदेश की व्यवस्था के अनुसार वहाँ अनेक समवाय-समितियाँ स्थापित हुई। उनमें से कई बैंक आज भी अच्छे ढंग से चल रहे हैं।

सन् १९२० से १९३० ई० तक समवाय आन्दोलन ने अत्यंत शीघ्रतापूर्वक प्रगति की। उस समय भारतीय संस्कार कानून चलाये जाने के कारण हर एक प्रदेश में मंत्री नियुक्त किये गये थे। उनकी देख-रेख में समवाय आन्दोलन विशेष रूप से प्रसारित होने लगा।

'बिहार और ओड़िशा' की सरकार ने सन् १९२२ में पहले पहल समवाय आन्दोलन की आर्थिक अवस्था के विषय में परामर्श देने के लिए एक कमेटी स्थापित की। १९२३ ई० में इसी प्रकार एक और समिति बनी। इसके अतिरिक्त सन् १९२९ ई० में बिहार और ओड़िशा बैंक अनुसंधान कमेटी नामक एक दूसरी कमेटी निर्मित हुई। उस समय उस कमेटी ने अपने मत को प्रकाशित करते हुए स्वीकार किया था कि समवाय आन्दोलन ठीक तौर से चल रहा है। यह रिपोर्ट समवाय आन्दोलन के प्रसार के लिए बहुत ही उपयुक्त थी। इसलिए समवाय आन्दोलन ने खूब प्रगति की और लोगों को काफी ऋण दिया गया।

उस समय हठात् एक बहुत भयंकर अकाल पड़ा। चारों ओर आर्थिक दुर्गति दिखाई पड़ने लगी। इसके कारण धान चावल का भाव गिर गया। जमीन का मूल्य भी बहुत कम हो गया। इसलिए किसानों ने ऋण के परिशोध का कुछ भी उपाय नहीं किया। उस समय समवाय ऋण का ब्याज प्रतिशत १५ रु० १० आने था। ब्याज के कारण जमीन भी निकल गई। इसलिए किसान की ऋण-परिशोध की क्षमता पूरी तरह नष्ट हो गई। इस आर्थिक दुर्गति का प्रभाव समवाय आन्दोलन पर क्या पड़ा, इसकी जाँच के लिए सरकार ने एक दूसरी कमेटी स्थापित की। उस कमेटी की सलाह के अनुसार सरकार ने घोषणा की कि आन्तर्जातिक, अर्थनैतिक दुर्गति का सामना करने पर भी इसकी हालत अच्छी है और आर्थिक स्थिति भी मजबूत है। सारी जनता खेती के लिए ऋण चाहती है। अतः समवाय अव्याहत रूप से चालू रहना चाहिए। इसी निर्देशानुसार समवाय समिति की सहायता व्यवस्था अव्याहत रूप में चालू रही।

१९३६ ई० में ओड़िशा 'बिहार और ओड़िशा' प्रदेश से अलग होकर एक स्वतंत्र प्रदेश के रूप में गठित हुआ। मद्रास प्रदेश से कोरापुट और गंजाम भी अलग होकर उत्कल में मिल गये। उस समय ओड़िशा में ऋणसमवाय समितियों की संख्या लगभग दो हजार थी और सदस्यों की संख्या ७४३४१ थी। इन समितियों को ऋण देने के लिए १३ समवाय केन्द्रीय बैंक चलाये गये जिनके द्वारा लगभग एक करोड़ रुपये का ऋण दिया गया था।

उसी समय अनुभव किया गया कि लोगों की ऋण-परिशोध की क्षमता पूरी तरह से कम हो गई है और लोगों के पास काफी परिमाण में बकाया रह गया है। इसलिए ऐसा मालूम पड़ा कि समवाय आन्दोलन नष्ट हो जाने की स्थिति में आ गया है। लेकिन यह जानकर संतोष हुआ कि दक्षिणी ओड़िशा के समवाय आन्दोलन की अवस्था बहुत अच्छी थी।

उस समय ओड़िशा में पहली बार कांग्रेस सरकार स्थापित हुई। उस सरकार ने उत्तरी ओड़िशा के समवाय आन्दोलन के विषय में अच्छी तरह अनुसंधान करने के लिए एक कमेटी बनाई।

इस कमेटी का नाम 'मुदालियर कमेटी' हुआ; क्योंकि मद्रास के एक पुराने रजिस्ट्रार श्री देवशिखामणि मुदालियर केंद्रीय कमेटी के चैयरमैन थे। उस कमेटी ने जो रिपोर्ट दी वह 'मुदालियर कमेटी रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। उस रिपोर्ट के अनुसार समवाय आन्दोलन का पुनर्गठन शुरू हुआ। सरकार ने सभी केन्द्रीय बैंकों के परिचालन का भार अपने हाथ में ले लिया और समवाय-समितियों को भी सरकारी ऋण मिलने लगा।

१९३९ ई० से १९५१ तक उत्तर ओड़िशा के १३ केन्द्रीय समवाय बैंक सरकार की देखरेख में चलते रहे। मुदालियर कमेटी की सलाह के अनुसार ब्याज का परिमाण आधा कम कर दिया गया। कर्ज लेनवालों से धीरे-धीरे रुपया वसूल किया गया। अमानतकारियों के थोड़े थोड़े रुपये चुकाये गये। इस तरह समवाय आन्दोलन के पुनर्गठन का कार्य फिर से शुरू हुआ। इस पुनर्गठन कार्य में द्वितीय महासमर काफी सहायक हुआ, क्योंकि सभी चीजों के भावों में वृद्धि हो गई थी। इससे किसानों के हाथ में रुपया आ गया।

सन् १९४७ में देश आजाद हुआ। इससे समवाय आन्दोलन पर फिर जोर दिया गया। इन वर्षों में समवाय आन्दोलन कितना अग्रसर हुआ, यह निम्नलिखित विवरण से मालूम हो सकता है—

वर्ष	समिति-संख्या	सदस्य-संख्या	कार्यकारी-मूल धन
१९४६–४७	३३१७	१७५९३२	२४०२४
१९४७–४८	३४१२	१९२६८५	२२३४४
१९४८–४९	४३३०	२३८६३६	३१९६७
१९४९–५०	४७३७	२६८१४८	३६८३८
१९५०–५१	५१४५	२९४७२७	४२७६९
१९५१–५२			
१९५२–५३	५५४३	३१९७६५	४६६१६
१९५३–५४	६०२२	३३३६७४	५५९२७
१९५४–५५	७७६४	४८८२६६	७२३५५
१९५५–५६	८६२३	६४६४५५	१००७२५
१९५६–५७	९१८८	७१७८१०	१२७५००

उपरोक्त विवरण से मालूम पड़ जाता है कि इन दस सालों के बीच ओड़िशा का समवाय आन्दोलन पहले से ३ गुना अधिक बढ़ा। इसी बीच इस आन्दोलन का एक नया रूप दिखाई पड़ा। भारत के रिजर्व बैंक को स्थापित करनेवाली अखिल भारतीय ग्राम्य ऋण अनुसंधान कमेटी की रिपोर्ट में भारत के कई प्रदेशों के ग्राम्य ऋण की जाँच करने के साथ-साथ समवाय आन्दोलन की आलोचना भी की गई है। इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में निर्देश किया है कि यद्यपि अतीत में भारतीय समवाय आन्दोलन आशा के अनुरूप फलप्रद नहीं हुआ, फिर भी उसको सफल बनाना ही

पड़ेगा। क्योंकि सरकार भारत को समाजवाद के ढाँचे में ढालने के लिए जिस आर्थिक संगठन की चर्चा करती है, वह केवल इसी समवाय आन्दोलन के द्वारा ही करेगी, इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है।

उस कमेटी ने यह भी निर्देश किया कि सभी समवाय-समितियाँ काफी छोटी होने के कारण अतीत में स्वावलंबी नहीं हो सकतीं। इसलिए अब छोटी-छोटी समवाय-समितियों का गठन न करके कई देहातों को लेकर एक बड़ी समिति गठित की जानी चाहिए। इस प्रकार समिति में कम से कम ५०० सदस्य रहेंगे और कार्यकारी मूल धन अन्ततः एक लाख से डेढ़ लाख तक रहेगा। इस तरह की समितियाँ केवल जमीनवालों को ही कर्ज नहीं देंगी, बल्कि उन्हें भी देंगी जो जमीन में खेती करते हैं। वे लोग सामूहिक खेतिहर (भागचाषी) होने पर भी कृषि-उत्पादन के खर्च के लिए अनाज के आधार पर ऋण की सहायता पा सकेंगे। इसके बाद किसान के द्वारा पैदा किये हुए अधिक अनाज को भी समवाय द्वारा बेचने की व्यवस्था की जायेगी। इस कार्य के लिए अनेक आंचलिक वाणिज्य समवाय-समितियाँ स्थापित होंगी और उनको कृषि-ऋण-समिति के साथ मिला दिया जायेगा। इसके अतिरिक्त उक्त कमेटी ने लिखा कि सरकार इस तरह की समितियों के कई हिस्से खरीदेगी और सरकार द्वारा मनोनीत एक तिहाई सदस्य समितियों का परिचालन करेंगे। समवाय के द्वारा केवल कृषि-उत्पादन या विक्रय का ही कार्य न हो बल्कि इसके साथ साथ कृषिजात चीजों को व्यवहारोपयोगी बनाने की व्यवस्था भी इसी के द्वारा होनी चाहिए। इस कमेटी की रिपोर्ट को कार्यरूप में परिणत करने के लिए भारत-सरकार, रिजर्व बैंक और राज्य सरकार ने उचित ध्यान दिया है।

आज हमारे सामने द्वितीय पंचवर्षीय योजना है। यह इसी कमेटी के निर्देशानुसार निर्मित हुआ है। ओड़िशा में इस योजना के अन्तर्गत ५०० बड़ी समितियों के निर्माण की व्यवस्था की गई थी। उनमें लगभग तीन सौ समितियाँ बन चुकी हैं। आगे १९५८-५९ ई० में दो सौ समितियों के तैयार होने की पूरी संभावना थी। अनेक असुविधाओं के होते हुए भी भारत सरकार ने पचास समितियों के बनाने की मंजूरी दी है। हमारे राज्य में ३० आंचलिक वाणिज्य-समितियों की स्थापना की गई है और राज्य-समवाय-वाणिज्य-समिति को सुदृढ़ बनाकर इस शीर्ष समवाय-समिति की स्थापना की गई है। इन वाणिज्य-समवाय-समितियों के द्वारा किसानों को आमोनियम सलफेट और सुपरफासफेट आदि रासायनिक खाद देने की व्यवस्था हुई है। इसके अतिरिक्त इन समितियों के द्वारा किसानों के अधिक से अधिक अनाज को बेचने की व्यवस्था की गई है। दो समवाय चीनी कारखाने भी बनाने की व्यवस्था की गई थी। हर एक में कार्यकारी मूल धन लगभग एक करोड़ रु० होगा। वर्तमान कई प्रकार की असुविधाओं के कारण यह काम अच्छी तरह से आगे नहीं बढ़ रहा है, फिर भी ऐसी संभावना है कि निकट भविष्य में इस प्रकार की सारी असुविधायें दूर हो जायेंगी। समवाय के बारे में कर्मचारी और जनता को उपयुक्त शिक्षा देने के लिए भी पर्याप्त व्यवस्था की गई है। वर्तमान समय में ओड़िशा में चार समवाय-शिक्षानुष्ठान काम कर रहे हैं और उनके ग्राम्यमान (Touring) शिक्षक हर

एक गाँव में घूम घूम कर शिक्षा दे रहे हैं। ओड़िशा समवाय-संघ ने जनता को समवाय-शिक्षा देने की व्यवस्था की है। अब ओड़िशा में 'ओड़िशा कोआपरेटिव जर्नल (Orissa Co-operative Journel) नामक एक त्रैमासिक पत्रिका और 'कल्यानी' नामक एक ओड़िया मासिक पत्रिका प्रकाशित करके समवाय का यथेष्ट प्रचार किया जा रहा है।

इस प्रकार समवाय आन्दोलन काफी तेजी से चल रहा है; लेकिन इस क्षिप्र गति के विषय में अच्छी तरह विचार करने पर मन में एक आशंका पैदा होती है। आज सरकार समवाय आन्दोलन से संबन्धित है, इसलिए सभी प्रगति के लिए व्यग्र हैं। सन् १९१२ से १९२५ तक समवाय आन्दोलन इसी प्रकार कार्य के द्वारा काफी तेजी से चल रहा था। किंतु बाद में उसे एक बड़ी असुविधा का सामना करना पड़ा और वह मिट्टी में मिल गया। भय होता है कि वर्तमान समवाय के इतिहास में भी कहीं इस प्रकार का परिवर्तन न हो।

अब हमारे ओड़िशा की हर एक ग्राम पंचायत में एक एक समवाय धान-गोदाम खोला गया है। इन गोदामों के द्वारा लोगों को अच्छे किस्म के बीज और खाद आदि देने की व्यवस्था की गई है। इनके द्वारा धान-संग्रह भी किया जाता है। अब तक हमारे देश में लगभग १२ सौ धान-गोदाम समवाय-समितियाँ स्थापित हो चुकी हैं। अब तो इन समितियों के द्वारा रुपया कर्ज देने की भी व्यवस्था की गई है।

इस प्रकार इन समवाय-समितियों के ऊपर एक बहुत बड़ा भार आ गया है। ये समितियाँ इस गुरु भार को उठाने में कहाँ तक समर्थ होंगी, यह भी सोचने की बात है। सभी काम तो एक दिन में हो नहीं जायेगा और यह सोचना भी असंगतियों और विपरीत परिणामों से खाली नहीं है। समवाय संस्थाएँ विशेष रूप से गणतांत्रिक संस्थाएँ हैं। हर एक समिति का परिचालन-भार निर्वाचित परिचालक मंडल पर निर्भर है। इसके कर्मचारी अभी अल्पशिक्षित और अनभिज्ञ हैं, क्योंकि एक साथ इतने सुशिक्षित कर्मचारी पाना असंभव है। इन परिस्थितियों को देखकर ही उन पर भार दिया जा सकता है। ऐसा न होने पर मन में यह आशंका होती है कि कहीं समवाय-समितियाँ इस गुरु भार को उठाने में असमर्थ न हो जायँ।

अब हमारे समवाय आन्दोलन की प्रगति में अनुसन्धान कर परामर्श देने के लिए भारत सरकार ने 'सर माकम् डार्लिंग' नामक एक समवाय-विशेषज्ञ को विलायत से भारत बुलाया है। उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हो गई है। उन्होंने भी एक चेतावनी दी है कि भारत में जिस प्रकार समवाय आन्दोलन सरकारी मशीनरी की सहायता से काफी तेजी से बढ़ा दिया गया है, उसका फल विषमय हो सकता है। विशेषतः जो लोग समवाय आन्दोलन के कर्णधार हैं या होंगे, उनकी शिक्षा-दीक्षा और अभिज्ञता के विषय में उस विशेषज्ञ ने एक मूल्यवान् राय दी है। वर्तमान समय में अनेक पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय के विचार प्रकट किये जा रहे हैं। अब राज्य सरकार और जनता को आगा-पीछा सोच कर तथा अतीत की अभिज्ञता पर निर्भर रह कर समवाय आन्दोलन को उपयुक्त दिशा में चलाने की व्यवस्था करनी चाहिए।

उत्कल के पर्व

श्री केदारनाथ महापात्र

उत्कल के नाना अंचलों में चक्रवर्ती सम्राट् अशोक के शताधिक शिलालेखों और ताम्रपत्रों के आविष्कृत होने पर भी उनसे जातीय पर्वों और उत्सवों के विषय में कोई विश्वसनीय विवरण नहीं प्राप्त होता है। सातवीं शताब्दी के आरंभ से लेकर लगभग २०० वर्षों तक "परम भट्टारक, महाराजधिराज, परमेश्वर" आदि पदवीधारी चक्रवर्ती नरेशों ने गंगा से महेन्द्र और संबलपुर से समुद्र तक के विस्तृत भूखंड में शासन किया था। इसी बीच उत्कल में वर्णाश्रम धर्म का पुनरुत्थान हुआ तथा तांत्रिक, शैव और वैष्णव धर्म का विशेष प्रसार हुआ। उसी समय इन्हीं भौम सम्राटों ने नाना स्थानों में शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी विष्णु, लक्ष्मीनारायण, हरगौरी, शिवलिंग, सप्तमातृका, चतुःषष्ठि योगिनी, कुरुकुल्ला, चर्चिका, चामुंडा, महिषमर्दिनी दुर्गा आदि देवी-देवताओं के अनेक मंदिरों का निर्माण किया था। इस युग में मंदिरों में शिवविवाह, शिव का कैलाश-वास, रावण का कैलासोत्तोलन, कुमार अथवा कार्त्तिकेय के जन्म, शिवतांडव, अजैक-पाद शिव, अर्द्धनारीश्वर, हरपार्वती युगलमूर्ति, गणेश, पार्वती, कार्त्तिकेय, दुर्गाद्वारा महिषासुर-मर्द्दन, सप्तमातृका, कात्यायनी, योगिनी, अनेक प्रकार के भैरव और भैरवियाँ, प्रधान शिवाचार्य, नकुलीश, सप्ताश्व सूर्य, सप्त-ताल-भेद, बालीवध, सेतुबंध, राम-रावण-युद्ध, गजलक्ष्मी, नवग्रह और नाग-नागिनियों आदि के उत्कीर्णित विग्रह देखने को मिलते हैं। ये देवी-देवता लोगों के परम आराध्य थे अतः उनकी पूजा के उद्देश्य से अनेक प्रकार के पर्व और त्योहार प्रचलित हुए।

भौम-शासन के पूर्व और बाद के लगभग प्रथम शतक के शिलालेखों और ताम्रपत्रों के अनुसार मालूम पड़ता है कि उत्कल में मेष, वृष, मिथुन आदि राशियों, प्रतिपदा, द्वितीया आदि तिथियों, रवि, सोम आदि वारों और अश्विनी, आदि नक्षत्रों का व्यवहार पर्वों के रूप में बहुत कम था। किंतु आगे चलकर भौमयुग में ही (लगभग ७५० ई०) वारों, तिथियों, नक्षत्रों के पर्व रूप में प्रचलित होने का संकेत मिलता है। नयागढ़ सबडिवीजन के गोबिंदपुर गाँव के एक मंदिर की भीत में उल्लिखित सोमवंशीय रणकेशरीदेव (सन् ७५४ ई०) के अभिलेख में पहली बार वारों का उल्लेख हुआ है।[1] भौम संवत् १९८ अथवा सन् ८१२ ई० के नेत्रभंज के एक ताम्रपत्र में 'विषुव संक्रांति, पंचमी, रवि दिन, मृगशिरा नक्षत्र' लिखा गया है। सर्वप्रथम इसी दानपत्र में सौरमान मास की संक्रांति, पंचमी, चांद्रमास की तिथि, वार और नक्षत्र का समावेश

---

१. 'माघ सुदी ११ बुधवार'

प्राप्त होने पर भी उत्कल के धर्मग्रन्थों में प्राचीनतम है। परवर्ती धर्मशास्त्रों में इसके बहुत से श्लोक उद्धृत किये गये हैं। उन श्लोकों से हमें निम्नांकित कई पर्वों का विवरण मिलता है। वैशाख मास में महावैशाखी या वैशाख पूर्णिमा एक पुण्य पर्व के रूप में विवेचित है। बुद्ध विष्णु के अवतार माने जाते हैं अतः उनका जन्मदिवस होने के कारण इसकी गणना एक पर्व के रूप में है। ज्येष्ठ की कृष्ण त्रयोदशी से अमावस्या तक सधवा स्त्रियाँ सावित्री व्रत करती थीं। अब यह केवल अमावस्या के दिन ही मनाया जाता है।

उस समय रजपर्व अथवा भूमि के रजस्वला पर्व का प्राधान्य था। चूँकि यह पर्व केवल उत्कल में ही प्रचलित था इसलिए शतानंद-संग्रह के अतिरिक्त अन्य धर्मग्रंथों और पुराणों में इसका उल्लेख नहीं है। इस पर्व के संबंध में शतानंद ने लिखा है कि सूर्य के मृगशिरा नक्षत्र में अवस्थित होने पर पृथ्वी तीन दिनों तक रजस्वला रहती है। इन दिनों किसी भी प्रकार के कृषि-कर्म का निषेध है।[1] उत्कल के प्रसिद्ध स्मृतिकार श्री गदाधर राजगुरु ने इस श्लोक की टीका में लिखा है कि वृषमास के अंतिम दिन, मिथुन संक्रांति का दिन और इसके बाद का दिन रजपर्व के अन्तर्गत हैं।[2] अतः प्राचीन काल से आज तक ओड़िशा की सभी जातियों के लोग तीन दिन तक हल नहीं चलाते और अपना समय मेलों, अनेक प्रकार के उत्सवों, मउजों और मजलिसों में व्यतीत करते हैं।

इसके अतिरिक्त शतानंद ने भादों की जन्माष्टमी, सप्तपुरिका, अमावस, गौरी तृतीया, शिवचतुर्थी, ऋषिपंचमी और इन्द्र पूर्णिमा आदि व्रतों का निर्देश किया है। आज भी समस्त उत्कल में भाद्र कृष्णाष्टमी के दिन श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। लेकिन भाद्र अमावस अथवा सप्तपुरिका अमावस का पहले जैसा प्राधान्य अब नहीं है। अब यह केवल पुरी और भुवनेश्वर आदि धर्मपीठों में प्रचलित है। भाद्र शुक्ल तृतीया के दिन मनाये जानेवाले गौरी व्रत को लोग बालितृतीया भी कहते हैं। इस अवसर पर ओड़िशा की स्त्रियाँ सारी रात जागकर और जल तक भी न ग्रहण कर गौरीव्रत का अनुष्ठान करती हैं। शतानंद ने भाद्र शुक्ल चतुर्थी में शिव पार्वती के पूजन की व्यवस्था दी है लेकिन गंगशासनकाल में इसी दिन शिवपुत्र विनायक या गणेश की पूजा प्रचलित थी। अतः अब इसका नाम गणेश चतुर्थी है।[3] यह उत्कल में सर्वत्र मनाया जाता है। भाद्र शुक्ल पंचमी या ऋषिपंचमी के दिन स्त्रियाँ संतान-वृद्धि के निमित्त विश्वामित्र ऋषि की पूजा करती थीं। ओड़िशा के पंचांगों में इस व्रत का उल्लेख

---

१. मृगर्क्षे अर्के निवसति तन्मध्येऽपि दिनत्रयम्।
रजस्वला स्यात् पृथ्वी कृषि-कर्म विगर्हितम्।

२. वृषांतदिनं, संक्रांतिदिनं तत्परदिनं चेति दिनत्रयमित्यर्थः।

३. मासि भाद्रपदे शुक्ला चतुर्थी शिवपूजिता।
तस्यां स्नानं तथा दानमुपवासः फलप्रदः ।

होने पर भी अब यह प्रचलित नहीं है। भाद्र पूर्णिमा या इंद्र पूर्णिमा के दिन इंद्र की पूजा की जाती है। पहले की भाँति अब इसकी प्रधानता नहीं है।

आश्विन मास के पर्वों में अपराजिता दशमी और कौमुदी पूर्णिमा का उल्लेख मिलता है। अपराजिता दशमी का दूसरा नाम विजयादशमी है। इस अवसर पर पराजय की आशंका से रहित विजयकामी राजे युद्ध-यात्रा आरंभ करते थे, इसलिए इसे अपराजिता दशमी कहते हैं। पहले इसी शुभ दिन में देवताओं और राजाओं द्वारा शर-संधान से लक्ष्यभेद करने का उल्लेख मिलता है। इसी दशमी के दिन श्री रामचंद्र के द्वारा रावण के साथ युद्ध-अभियान के कारण इसकी विशेष प्रसिद्धि रही है।[1] आज भी उत्कल के लोग इस दिन अपने-अपने देवताओं आदि की पूजा करते तथा अभीष्ट कार्य का प्रारम्भ करते हैं। यह ओड़िशा का प्रधान जातीय पर्व है। दुर्गा की मृण्मयी प्रतिमा के पूजन का प्रसार होने से इसका प्राधान्य पहले से अधिक हो गया है।

कौमुदी पूर्णिमा अथवा कुमार-पूर्णिमा में महालक्ष्मी-पूजन और रात्रि-जागरण होता है। इस दिन लड़के और लड़कियाँ नया वस्त्र धारण करती हैं। युवकजन ताश, पण आदि खेल खेल-कर सारी रात जाग कर बिता देते हैं और लड़कियाँ प्रसन्न मन से धवल चंद्रिका में गीत गा-गाकर 'पुचि' खेल खेलती हैं। कार्त्तिक मास की प्रत्येक रात को आकाश-दीप जलाया जाता है और अमावस्या की रात को पूर्वजों के लिए दीप जलाने का विधान है, इसीलिए इसका नाम प्रदीपा-मावास्या अथवा दीपावली अमावस्या है।[2] यह पर्व उत्कल में बड़ी तड़क-भड़क से मनाया जाता है। लोग धूपबत्ती और दीप जलाकर तथा आतशबाजी छुड़ाकर इस समारोह को मनाते हैं।

माघ मास के पर्वों में वरदा चतुर्थी और श्रीपंचमी या वसंत पंचमी का उल्लेख है। माघ शुक्ल चतुर्थी अथवा वरदा चतुर्थी के दिन गौरी-पूजा और श्रीपंचमी या शुक्ल पंचमी के दिन सरस्वती-पूजा का विधान है। वर्तमान समय में वरदा चतुर्थी का प्राधान्य बिलकुल नहीं है लेकिन श्रीपंचमी उत्कल के हजारों शिक्षानुष्ठानों में अत्यंत समारोह के साथ मनाई जाती है। शतानंद ने इस संबंध में 'पंचम्यां च श्रियाः देव्याः पिष्टकैः स्वाध्यायिक, छात्रगणैः पूजनं' लिखा है। यहाँ इस कथन में आये हुए 'श्री' शब्द का अर्थ गदाधर टीका में लक्ष्मी के स्थान पर सरस्वती किया गया है। फाल्गुन के पर्वों का उल्लेख करते हुए शतानंद ने लिखा है कि फाल्गुन पूर्णिमा के दिन गोविंद को झूले में झुलाकर 'फागु' उत्सव करना चाहिए।[3] अनेक लोगों की धारणा है कि श्री

---

१. दुर्गोत्सवानंतरवैष्णवर्क्षे तिथौ दशम्यामपराजितायाम्
रामो जिगीषुर्दशदिक्षु बेधं कृत्वा जगामारिपुरं प्रवीरः।

२. तुलां प्रत्यगते सूर्ये अमावास्या तिथिर्भवेत्।
उपास्तसमये दीपान् पितॄन् दद्यात् शुभः शुचिः।

३. फाल्गुने पौर्णमास्यां तु कार्यः फागुमहोत्सवः।
गोविंदं दोलया क्रीडेत् तत्रार्यमगतेरवै।

चैतन्यदेव के प्रचार के कारण ही उत्कल में दोल पर्व अनुष्ठित हुआ किंतु इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि गंगशासन के पूर्व दोल-महोत्सव एक जातीय पर्व के रूप में मनाया जाता था।

पहले चैत्र कृष्ण चतुर्दशी को शिवपूजा और शुक्ल त्रयोदशी को रति-प्रीति-समायुक्त कामदेव की पूजा का विधान था तथा चैत्र पूर्णिमा भी एक पुण्याह के रूप में विवेचित था किन्तु चैत्र के उपरोक्त सभी पर्व वर्तमान काल में नहीं मनाये जाते। शतानंद-संग्रह पूर्ण रूप से अप्राप्य होने के कारण तत्कालीन अन्य पर्वों का पता नहीं चलता। फिर भी शतानंद-संग्रह की तरह प्राचीन उत्कल में प्रचलित धवलाचार्य के धवल-संग्रह नामक धर्मशास्त्र से पता चलता है कि पौष अमावस या बकुल अमावस के दिन बकुल-मिश्रित खीर से पूर्वजों की पूजा का एक पर्व था। इसी दिन वाराह अवतार का जन्म भी हुआ था। अब भी उत्कल में बकुल अमावस पर्व के रूप में प्रचलित है।

गंग और सूर्यवंश शासनकाल में प्रचलित पर्व और त्योहार

गंगकाल में आविर्भूत उत्कलीय स्मृतिकार बृहस्पति मूरि (१४वीं शती) के 'कृत्य-कौमुदी' नामक ग्रन्थ से दूसरे कई पर्वों का विवरण मिलता है। उन्होंने चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से विक्रम संवत् के प्रथम दिवस का प्रारंभ मान कर चैत्र शुक्ल अष्टमी या अशोकाष्टमी को वर्ष के प्रथम पर्व में स्थान दिया है। आजकल इस तिथि में केवल भुवनेश्वर में लिंगराज महाप्रभु की रथयात्रा अनुष्ठित होती है। अन्य स्थानों में इसके प्रचलन की कोई सूचना नहीं मिलती है। इसी प्रकार चैत्र शुक्ल चतुर्दशी का पर्व केवल पुरी और भुवनेश्वर में ही प्रचलित है।

कृत्य-कौमुदी में महाविषुव संक्रांति अथवा मेष संक्रांति नामक पर्व का भी उल्लेख है। यह पर्व आज भी समस्त उत्कल में प्रचलित है। इसका लौकिक नाम पणा संक्रांति है। इस अवसर पर लोग नाना प्रकार के पणा[1] पीकर अपनी प्यास मिटाते है। धार्मिक लोग इसी दिन से जलदान के लिए पौशाले खोलते हैं। धूप से रक्षा पाने के लिए इस दिन से एक मास तक शिवलिंग और तुलसीचौरा पर अखंड जलबिंदु-पात की व्यवस्था की जाती है। इस दिन ओड़िशा के अनेक स्थानों में 'झमयात्रा'[2] भी होती है।

मेष संक्रांति की भाँति वैशाख शुक्ल तृतीया या अक्षय तृतीया नामक पर्व का भी यथेष्ट विवरण उपरोक्त ग्रन्थ में मिलता है। यह भी ओड़िशा में सभी जगह प्रचलित है। इसी दिन से चंदन यात्रा[3] आरंभ होती है जो तीन सप्ताह तक चलती है। इन दिनों लोग अनेक प्रकार के नृत्य-गीत द्वारा आनंद मनाते तथा खाते-खिलाते हैं। उत्कल में चंदन यात्रा का आरंभ गंगराजत्व-काल में हुआ था। इस दिन से धान की बोवाई शुरू होती है।

---

१. जीरे का जल, शर्बत, घुला हुआ सत्त, पंचामृत, पेय पदार्थ, प्रपानक, पना।

२. एक प्रकार का मेला जहाँ एक गड्ढे में आग भरी रहती है और देवी का कृपापात्र एक विशेष व्यक्ति उस आग पर चलता है।

३. जलाशयों में नाव द्वारा श्रीकृष्णमूर्ति की यात्रा।

ज्येष्ठ मास में आरण्यक षष्ठी, चंपक द्वादशी और देवस्नान आदि पर्वों का निर्देश है। पहले ज्येष्ठ शुक्ल षष्ठी या आरण्यक षष्ठी में विंध्यवासिनी देवी की पूजा की जाती थी। बाद में इसका नाम शीतल षष्ठी पड़ा। ओड़िशा के नाना अंचलों में इस दिन अत्यंत समारोहपूर्वक शिवविवाह उत्सव मनाया जाता है।

आषाढ़ शुक्ल द्वितीया के दिन पड़नेवाली श्री गुंडिचा यात्रा[1] ओड़िशा का एक प्रधान पर्व है। उस दिन जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा देवी को तीन रथों में बैठा कर गुंडिचा-मंदिर की यात्रा की जाती है। पुरी रथयात्रा का प्रचलन यद्यपि गंगकाल के बहुत पहले से है किंतु तीन ठाकुरों के विश्राम के लिए गुंडिचा-मंदिर का निर्माण अनंत वर्मा चोलगंग देव की पट्टमहिषी गुडिचो डिपाट के द्वारा बाद में हुआ। इसलिए तभी से इस यात्रा का नाम गुंडिचा यात्रा पड़ गया। यह पर्व गंगा से गोदावरी तक के विस्तृत भूखंड अथवा ओडिशा में सर्वत्र समारोह के साथ संपन्न होता है। आषाढ़ शुक्ल एकादशी को श्री जगन्नाथ देव की बाहुड़ा यात्रा[1] होती है। इसी दिन इंद्रद्युम्न महोत्सव भी मनाया जाता है। श्रावण पूर्णिमा बलभद्र की उत्थापन-तिथि है। अतः इस दिन उनकी पूजा होती है। इस दिन से खेत की जुताई बंद हो जाती है और किसान नये वस्त्र धारण करते तथा पीठा बना कर खाते हैं। वे इस अवसर पर गाय-भैंस आदि गृह-पालित पशुओं की पूजा करते हैं। पहले इसी पूर्णिमा के समय राजाओं का श्रावणाभिषेक होता था। प्राचीन समय से भाद्र कृष्ण पंचमी और भाद्र शुक्ल चतुर्दशी को संपन्न होनेवाली रक्षा-पंचमी और अनंत व्रत की पहले जैसी प्रधानता अब नहीं है।

आश्विन अमावस या महालया अमावस पितृपक्ष की अंतिम तिथि है। इस दिन पितृ-संतोष के लिए तर्पण और श्राद्ध आदि करते हैं। इस मास का श्रेष्ठ पर्व महाष्टमी है। सभी देवताओं के उत्थापन के पश्चात् श्री दुर्गा देवी भाद्र शुक्ल अष्टमी को शयन कर आश्विन कृष्णाष्टमी या मूलाष्टमी को निद्रा त्यागती हैं। मूलाष्टमी से आश्विन शुक्लाष्टमी या महाष्टमी तक देवी-पक्ष माना जाता है। अतः इन दिनों उत्कल में दुर्गा की पूजा बड़ी धूमधाम से होती है। महाष्टमी का एक दूसरा नाम वीराष्टमी भी है। इस दिन प्राचीन उत्कल के सैनिक व्यायाम, मल्लयुद्ध, नागा नाट, शरसंधान आदि का प्रदर्शन करते थे। दुर्गा प्रधानतः संग्रामकारिणी और विजयदायिनी देवी हैं। अतः पहले इस अवसर पर उनके मंदिर में शस्त्र और वाद्य भांड की पूजा का भी विधान था।[2]

---

१. रथयात्रा के समय जगन्नाथ-मंदिर से महाप्रभु जगन्नाथ, बलभद्र और सुभद्रा की तीनों मूर्तियों को रथासीन करके गुंडिचा-मंदिर ले जाते हैं। इतनी यात्रा को गुंडिचा कहते हैं। पुनः दसवें दिन ये मूर्तियाँ गुंडिचा-मंदिर से जगन्नाथ-मंदिर को वापस आती हैं। इस यात्रा को बाहुड़ा यात्रा कहा जाता है।

२. दुर्गागृहे तु शस्त्राणि पूजितानि च पंडितैः।
वाद्यभांडानि चान्यानि विविधा आयुधानि च।

शिल्पी लोग इसी समय अपने औजारों और यन्त्रों की पूजा करते थे। आज भी मुख्य रूप से सभी जातियों में इस पर्व का प्रचलन है। पर्वतीय जातियाँ भी इसे अपना एक मुख्य पर्व मानती हैं। ब्रिटिशकाल में अस्त्र-शस्त्रों पर प्रतिबंध होने के कारण महाष्टमी का वीरत्व-व्यंजक कार्य-कलाप बंद हो गया था। किंतु पिछली शताब्दियों से दुर्गा-प्रतिमा के निर्माण, पूजा और विसर्जनादि के उत्सव बड़ा तड़क-भड़क के साथ संपन्न होते आ रहे हैं।

मार्गशीर्ष की कृष्णाष्टमी या प्रथमाष्टमी को युवक और युवतियाँ नये वस्त्र धारण करती हैं। इस दिन उनकी दीर्घायु के लिए पूजा आदि की जाती है। इसकी गणना लिंगराज महाप्रभु के प्रथम पर्व के रूप में होती है। केवल उत्कल में ही इसका प्रचलन है, अन्यत्र नहीं।[1] मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठी अथवा प्रावरण षष्ठी एक पुण्य तिथि है। इस दिन देवता, ब्राह्मण और गरीब व्यक्तियों को वस्त्रदान दिया जाता है। अब यह पर्व केवल पुरी और भुवनेश्वर में ही प्रचलित है। माघ शुक्ल सप्तमी को कोणार्क अथवा अर्क क्षेत्र में सूर्य देवता के निमित्त एक विराट् यात्रा अनुष्ठित होती है। जनसमागम और माहात्म्य की दृष्टि से यह पुरी की गुंडिचा यात्रा से तुलनीय है। गजपति नरसिंह देव के शासनकाल में (सन् १२३८ से १२६४ तक) कोणार्क के उत्तुंग सूर्य-मंदिर का निर्माण हुआ था। इसके बाद ही इस पर्व का प्रचलन हुआ। १३वीं शताब्दी के स्मृति-कार शंखधर ने पहले पहल अपने स्मृति-समुच्चय में इसका उल्लेख किया है। सूर्य-मंदिर के टूट जाने के बाद भी यह पर्व पहले की भाँति आज भी प्रचलित है। खंडगिरि में इसी दिन से सप्ताहांत तक मेला लगता है।

माघ पूर्णिमा की रात को अग्निदेवता के संतोष के लिए काठ, पत्र आदि जला कर अग्नि की पूजा होती है। इसलिए इस पर्व को वह्नि पूर्णिमा कहा जाता है।

फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को सभी लोग भूखे रह कर पूरी निष्ठा और भक्ति के साथ दीपदान और शिवपूजा करते हैं। इसे शिवरात्रि पर्व कहते हैं। इसी रात को पुरी, भुवनेश्वर, चंडेश्वर और शरणकुल, कटक जिले के चाटेश्वर महाविनायक और परमहंस, ढेंकानाल के कपिलास, बालेश्वर के आखंडलमणि, कालाहाण्डि के बेलखंडि, बिनिका, पानपोष आदि स्थानों में विराट् जनसमागम होता है।

गंगयुग में वैष्णव धर्म की प्रधानता के कारण नृसिंहजन्म, वामनजन्म, परशुराम-जन्माष्टमी आदि पर्व प्रचलित हुए। वैशाख शुक्ल चतुर्दशी को नृसिंह-जन्म पर्व मनाया जाता है। इस अवसर पर सिंहाचल पर्वत (जो पहले ओड़िशा में था, अब आंध्र में है) और संबलपुर जिले के नरसिंहनाथ में बहुत बड़े बड़े मेले लगते हैं। पहले वहाँ भाद्र शुक्ल द्वादशी अथवा वामन-जन्म की विशेष प्रसिद्धि थी। इस दिन शक्रोत्थापन के कारण इंद्रपूजा भी अनुष्ठित होती थी। इसी तिथि से गंग राजाओं का नया अंक (वर्ष) आरंभ होता था। इस दिन उनकी स्वर्ण मुद्राओं पर

---

१. तत्र उत्कलेषु अधुना, पूजावंदनादिकं कुर्वंति, देशान्तरे नास्ति।

श्री जगन्नाथजी की रथयात्रा

उत्कल का प्रसिद्ध छउनाच

चैतीघोड़ा - अभिनय (कलाविकाश केन्द्र, कटक)

नये वर्ष के अंक लगाये जाते थे, इसीलिए इस तिथि का एक दूसरा नाम 'सुनिया' पड़ गया। उपरोक्त साल या अंक का प्रचलन पहले-पहल गंगवंश के प्रथम सम्राट् चोलगंगदेव के समय से हुआ अतएव बहुत संभव है कि इस पर्व का प्रारंभ उसी समय से हुआ हो। ओड़िशा में चारों ओर यह तिथि नये वर्ष-दिन के पर्व रूप में अत्यंत समारोह के साथ मनाई जाती थी; किंतु अब इसका प्रचलन बिलकुल नहीं है। उस युग में आषाढ़ शुक्ल अष्टमी अथवा परशुरामाष्टमी को परशुराम-जयंती मनाई जाती थी। इसी समय मकर संक्रांति भी एक प्रधान पर्व के रूप में मान्य थी। आज भी यह मयूरभंज, केंदुझर, सिंहभूमि, सढेइकला, खरसुआँ, बणेइ, गांगपुर आदि आदिवासी-प्रधान अंचलों में, एकजातीय पर्व के रूप में, प्रचलित है। इस दिन भुवनेश्वर, पुरी, हटकेश्वर, सिधेश्वर (निराकारपुर स्टेशन के समीप) आदि स्थानों में मेले लगते हैं।

उस युग में षष्ठी देवी और यम के संतोष के लिए दो स्वतंत्र पर्वों की व्यवस्था की गई थी जो आज भी प्रचलित है। भाद्र शुक्ल षष्ठी को स्त्रियाँ अपनी संतानों की आयु, सौभाग्य और धनधान्य की वृद्धि के लिए षष्ठी देवी की पूजा करती हैं। इसी प्रकार कार्त्तिक शुक्ल द्वितीया भी एक विशेष पर्व है। कहा जाता है कि इस दिन यम ने आयु-वृद्धि के लिए अपनी बहन यमुना के घर भोजन किया था। इसीलिए इसका नाम यमद्वितीया पड़ा। आज तक बहनें अपने भाइयों को आमंत्रित कर इसी तिथि में भोजन कराती चली आ रही हैं।

इन प्रधान पर्वों के अतिरिक्त नागपंचमी (श्रावण शुक्ल पंचमी) और नागचतुर्थी (कार्त्तिक शुक्ल चतुर्थी) को नाग-पूजा का विधान है। पौष शुक्ल दशमी की तिथि में सूर्य की पूजा करने से श्रीकृष्ण के पुत्र शांब कुष्ठ रोग से मुक्त हुए थे। अतः इस तिथि को सूर्य-पूजन का निर्देश किया गया है।

उपरोक्त युग में नवान्नपर्व का भी प्रचलन हुआ था। यह पर्व आज तक संबलपुर, पाटणा, सोनपुर, कालाहांडि, बामंडा, गांगपुर आदि ओड़िशा के पश्चिमांचल में अत्यंत निष्ठापूर्वक पालित होता है। इसकी कोई निर्दिष्ट तिथि नहीं है। साधारणतः यह आश्विन मास की किसी भी शुभ तिथि को मनाया जा सकता है।

चैतन्यदेवोत्तर पर्व

सन् १५०९ से १५३३ तक, पुरी में रहकर श्री चैतन्यदेव ने अपने मत का प्रचार किया था। उनके अविरल प्रचार के कारण उत्कल में श्री चैतन्यमत की प्रधानता बढ़ती गई। इस कारण ११वीं शताब्दी से प्रचलित दोलपर्व के साथ गाँव गाँव में 'ठाकुर मेलण' (देवता का मेला) का संयोग हुआ। अतः इस दोलपर्व का गौरव और महत्त्व पहले से अधिक बढ़ गया। श्री चैतन्य-देव प्रचार-कार्य के निमित्त कार्त्तिक मास में ही श्रीक्षेत्र आये थे। इसलिए यह मास वर्ष के पुण्यतम मास में गिना जाता है और संपूर्ण मास हविषान्न भोजन कर जप, तप, नाम-कीर्तन, पुराण-श्रवण द्वारा व्यतीत करने का विधान है। कार्त्तिक का नाम रासपूर्णिमा भी है। अत्यंत प्राचीन काल से समस्त उत्कल में इसी तिथि को सूर्योदय के पूर्व 'बोइत बंदाण' नामक उत्सव मनाया जाता

था। इसी शुभ दिन में ओड़िशा की नदियों के मुहानों पर स्थित बंदरगाहों से हजारों जहाज पण्यद्रव्य देकर ब्रह्मदेश, दक्षिणी भारत, सिंहल, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि भारत के पूर्वी द्वीपपुंजों की ओर यात्रा आरंभ करते थे। जहाज के कूल छोड़ने के पूर्व ही व्यापारियों के घर की लड़कियाँ और बहुएँ बोइत या बहित्र (जहाज) की निर्विघ्न यात्रा के लिए पूजा-वंदना आदि करती थीं। सन् १४९८ के पश्चात् पुर्तगाली नाविकों द्वारा हिंदमहासागर और बंगोपसागर में स्वाधिकार-स्थापन के निमित्त बारंबार नौयुद्ध और जहाज लूटने की क्रिया से ओड़िशा का समुद्री वाणिज्य क्रमशः संकुचित होता गया और ब्रिटिश शासन में तो कंपनी की देशी नौवाणिज्य के ध्वंस की नीति ने इसे पूरी तरह चौपट ही कर डाला। ओड़िशा के प्राचीन नौवाणिज्य का गौरवपूर्ण अध्याय इतिहास के पृष्ठों में ही सीमित है किंतु उसके स्मारकस्वरूप आज भी पुराना बोइत बंदाण पर्व समाज में जीवित है। चैतन्योत्तर युग में बोइत बंदाण के साथ संकीर्तन प्रचलित हुआ जो प्रातःकाल उक्त पर्व के बाद संपूर्ण दिन चलता है। कार्त्तिक पूर्णिमा को यहाँ कई स्थानों में मेले लगते हैं। इनमें गजपति प्रतापरुद्रदेव द्वारा निर्मित धवलेश्वर मंदिर और कटक जिले में महानदी के समीप चैतन्यदेव के अवतरणस्थान गड़गड़िया घाट के मेले उल्लेखनीय हैं।

सन् १६५० के लगभग श्री चैतन्यदेव की लोकप्रियता बढ़ जाने से ओड़िशा में नंद उत्सव, ललिता सप्तमी, राधाष्टमी आदि नये पर्व प्रतिष्ठित हुए। जन्माष्टमी का नाम बाद में नंदाष्टमी पड़ा। इसी प्रकार भाद्र शुक्ल सप्तमी और भाद्र शुक्लाष्टमी का नाम क्रमशः ललिताष्टमी और राधाष्टमी हुआ। प्रचार के कारण कालान्तर में राधाष्टमी श्रीकृष्णाष्टमी की भाँति एक विशेष पर्व के रूप में मान्य हुई। १८वीं शताब्दी के मध्य में राधा-कृष्णलीला का प्रचार बढ़ा और झूलण पर्व नामक एक नये पर्व का प्रचलन हुआ। यह पर्व श्रावण शुक्ल एकादशी से पूर्णिमा तक अनुष्ठित होता है।

१७वीं शताब्दी में श्री रामचंद्र के भक्तों ने ओड़िशा में चैत्र शुक्ल नवमी के दिन राम-नवमी और वैशाख शुक्ल नवमी के दिन सीतानवमी नामक पर्वों को प्रचलित किया। रामनवमी की लोकप्रियता विशेष रूप से बढ़ जाने के कारण ओड़िया भाषा में अनेक रामलीला-संबंधी ग्रंथ रचे गये थे। उनमें वैश्य सदाशिव द्वारा रचित चिकिटि रामलीला तथा केशव पट्टनायक की रामायण का विशेष प्रचार और आदर है। आज भी ओड़िशा में रामनवमी का पर्व बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है। बहुत दिनों तक प्रत्येक रातको पर्याप्त जनसमागम के साथ रामलीला-अभिनय का प्रदर्शन करना इस पर्व की विशेषता है।

श्री चैतन्यदेव के आगमन के पूर्व देवदासियाँ जयदेव-विरचित गीतगोविन्द को हर रोज, रात के समय, पुरी के जगन्नाथ मंदिर में गाती थीं। उस अवसर पर जगन्नाथ एक स्वतंत्र वेश धारण करते थे। उसका नाम "बड़ो श्रृंगार वेश" है। चैतन्यदेव जी जब पुरी में आये तो वे नित्य गीतगोविन्द सुना करते थे। इसलिए इसकी लोकप्रियता काफी बढ़ गई। उसी समय से गीतगोविंदकार जयदेव के जन्मस्थान पर एक यात्रा प्रचलित हुई। यह स्थान पुरी जिले के पाटणा थाना के अन्तर्गत केन्दुबिल्व या केन्दुलि शासन के निकट है और यात्रा त्रिवेणी-संगम में माघ की

अमावस को होता है। ओड़िशा की यह एक प्रसिद्ध यात्रा है और त्रिवेणी अमावस आज भी एक पुण्य पर्व के रूप में प्रचलित है।

वर्ष के दूसरे लौकिक पर्वों में माणबसा या लक्खी पूजा प्रधान है। कृषि-प्रधान देश में कृषि ही जीवन-धारण का प्रधान अवलंबन होती है अतः यहाँ रज, अक्षयतृतीया, बलभद्र पूर्णिमा और नवान्न की भाँति लक्खीपूजा भी प्रसिद्ध है। साधारणतः मार्गशीर्ष के अन्तिम गुरुवार से आरम्भ होकर यह पर्व लगभग एक महीने तक प्रत्येक गुरुवार को मनाया जाता है। अंतिम गुरुवार को लक्खीपूजा का उद्यापन होने पर लोग तरह तरह के पीठों का भोग लगाते हैं। यह इस प्रांत का कृषि-उत्सव (Harvest Festival) है। अधिक संभव है कि यह पर्व चैतन्य के आगमन के पूर्व भी प्रचलित रहा हो।

उत्कलीय आदिवासियों का चइत पर्व भी उल्लेखनीय है। नये नये पुष्पों और पल्लवों से शोभित और मलयान्दोलित पार्वत्य-वनांचलों में प्रफुल्ल आदिवासी युवकों और युवतियों के सामूहिक नृत्यों, गीतों तथा वाद्यों के द्वारा यह पर्व अनुष्ठित होता है। चैत्र मास में कई दिनों तक विशेष जन-समागम के बीच इस पर्व के कार्यक्रम चलते रहते हैं।

ओड़िशावासी इस्लाम धर्मावलंबियों का प्रधान पर्व मुहर्रम है। वे लोग चान्द्रमान मास का व्यवहार करते हैं। अतः यह पर्व सौरमान मास के समान नहीं पड़ता। इस अवसर पर मुसलमान ताजिये का जुलूस निकालते हैं। जनसमागम, आडंबर आदि की दृष्टि से यह पर्व दशहरे से तुलनीय है।

इस प्रकार उपरोक्त पर्वों और उत्सवों के अतिरिक्त अनेक छोटे-छोटे ज्ञात-अज्ञात पर्व भी अनेक जातियों और स्थानों में भिन्न-भिन्न प्रकार से मनाये जाते हैं जिनका विवरण इस छोटे से लेख में प्रस्तुत कर सकना असंभव है। अतः इस लेख में पर्वों का एक सामान्य विवरण ही उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

ओड़िशा में संस्कृत साहित्य

श्री केदारनाथ महापात्र

ईसा की चौथी और पाँचवीं शताब्दी में, उत्तर भारत के ब्राह्मणधर्म के पोषक सार्वभौम-क्षमता-सम्पन्न गुप्त सम्राटों का शासन उत्कल में भी स्थापित हो गया था, अतएव भारत के अन्य प्रांतों की भाँति यहाँ भी संस्कृत भाषा और साहित्य की उन्नति हुई और उसका व्यापक प्रचार तथा प्रसार हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः उसी समय से हजार वर्षों तक यहाँ के राजकीय ताम्रपत्रों और शिलालेखों में संस्कृत भाषा का व्यवहार होता आया है। राजसभा और शासन-कार्यों में इसकी अक्षुण्ण और अप्रतिहत मान्यता स्वीकृत हो चुकी थी। इसीलिए इस युग में राजाश्रय, लोकप्रियता और यश के लिए धर्मप्रवर्तकों, कवियों, लेखकों, दार्शनिकों, ज्योतिषियों, गणितज्ञों और आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों के प्रकांड पंडितों ने अमूल्य ग्रंथों की रचना करके संस्कृत वाङमय की उल्लेखनीय श्रीवृद्धि की थी।

इतिहास-प्रसिद्ध गंगवंशीय शासन (ग्यारहवीं शती) के पूर्ववर्ती युग के आविष्कृत उपरोक्त ताम्रपत्रों और शिलालेखों से पता चलता है कि उनमें उच्चकोटि की साहित्यिक संस्कृत व्यवहृत होती थी। इसके अतिरिक्त चौथी से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच, उत्कलीय पंडितों द्वारा रचित थोड़े से ग्रंथ भी खोज निकाले गये हैं, जिनमें बौद्धधर्म की वज्रयान शाखा के प्रवर्तक उत्कलवासी इंद्रभूति (७वीं शताब्दी) द्वारा रचित ज्ञानसिद्धि नामक ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। इसकी प्रस्तावना से पता चलता है कि प्रसिद्ध कवि मुरारि कृत अनर्घराघव नाटक और नीलाचल-मौलि-मंडन पुरुषोत्तम जगन्नाथ-यात्रा के समक्ष अभिनीत हुए थे। खंडगिरि-निवासी, दिगंबर जैन धर्म के प्रचारक आचार्य शुभचंद्र ने ज्ञानार्णव नामक योगशास्त्र-विषयक एक ग्रंथ की रचना की थी। नवीं शताब्दी में उत्कल के राजा पुरुषोत्तमदेव ने त्रिकांडशेष, हारावली, एकाक्षर कोश, द्विरूपकोश आदि कोश-ग्रंथों की रचना करके संपूर्ण भारत में ख्याति प्राप्त की थी। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद शतानंद जी आचार्य ने १०९९ ई० में पंचसिद्धांत भास्मती नामक एक ज्योतिष ग्रंथ लिखा था। इस ग्रंथ का आदर और मान संपूर्ण भारत में इस प्रकार बढ़ गया था कि बाद में उस पर लगभग २० टीकाएँ लिखी गईं। उन्होंने 'शतानंद-संग्रह' और 'शतानंद-रत्नमाला' नामक धर्मशास्त्र के दो प्रसिद्ध ग्रंथ और भी लिखे थे।

गंग साम्राज्य के प्रतिष्ठाता चोलगंगदेव के राजत्वकाल में उत्कल की सर्वांगीण उन्नति हुई। गंगयुग में पुरी के प्रसिद्ध जगन्नाथ मंदिर और कोणार्क के सूर्य-मंदिर का निर्माण हुआ था। गंगा से गोदावरी तक फैले हुए उत्कल के विभिन्न स्थानों में सैकड़ों ब्राह्मण-शासन और देवालय

स्थापित हुए थे। दक्षिण के चारों वैष्णवधर्म-प्रचारकों—श्री रामानुजाचार्य, श्री निम्बार्क, श्री विष्णुस्वामी और श्री माधवाचार्य—ने पुरी में अपने-अपने मठ स्थापित किये थे। गंग सम्राटों के प्रबल धर्म-निष्ठा और विद्यानुराग के कारण उत्कल में संस्कृत साहित्य की विशेष उन्नति हुई और आगे चलकर सूर्यवंशी राज्यकाल में (सन् १४३५ से १५४० तक) तो यह उन्नति अपनी चरम सीमा को पहुँच गई थी।

गंगयुग के प्रसिद्ध कवियों में अत्यंत लोकप्रिय "गीतगोविन्द" महाकाव्य के प्रणेता जयदेव का नाम सर्वाग्रगण्य है। जगन्नाथ महाप्रभु के समक्ष गाये जाने के लिए निर्मित एवं ललित कोमल-कांत-पदावली से युक्त होने के कारण, इस ग्रंथ का नाम गीतगोविन्द पड़ा। जयदेव के समकालीन पुरीनिवासी कवि गोवर्धनाचार्य-कृत आर्यासप्तशती संस्कृत साहित्य का एक अमूल्य रत्न है। गोवर्धन के भाई उदयनाचार्य ने मेघेश्वर और शोभनेश्वर नामक दो प्रशस्ति-ग्रंथों की रचना के अतिरिक्त गीतगोविन्द पर अपनी सर्वप्रथम टीका भी लिखी। लांगुला नरसिंहदेव के सभाकवि विद्याधर कृत एकाबंदी एक प्रसिद्ध अलंकार ग्रंथ है। १४वीं शती के प्रथम चरण में आविर्भूत विश्वनाथ कविराज के पितामह कविराज नारायणदास ने गीतगोविन्द की "सर्वांगसुन्दरी" टीका लिखी थी। नरसिंहदेव के चौथे सांधिविग्रहिक कृष्णानंद महापात्र ने लगभग १३८५ ई० में सहृदयानंद महाकाव्य लिखा। यह ग्रंथ श्रीहर्षकृत नैषध महाकाव्य के जोड़ का है। स्वर्गीय नारायणदास के अनुज चण्डीदास ने काव्यप्रकाश के ऊपर काव्यप्रकाशदीपिका नाम की टीका लिखी थी। श्री विश्वनाथ के पिता चंद्रशेखर ने पुष्पमाला नामक काव्य लिखा था। उसी समय के श्रेष्ठ कवि श्री विश्वनाथ ने राघवविलास महाकाव्य, कुवलयाश्वचरित, प्रशस्तिरत्नावली, चन्द्रकला नाटिका, नरसिंह-विजय नाटक, प्रभावती-परिणय, सुप्रसिद्ध साहित्यदर्पण और काव्य-प्रकाश दर्पण आदि ग्रंथ लिख कर समस्त भारत में यशार्जन किया है। श्री विश्वनाथ के पुत्र अनन्तदास ने साहित्यदर्पण की लोचन टीका के अतिरिक्त महानाटक आदि कई ग्रंथ लिखे थे। यह ग्रंथ इस युग के उत्कलीय कवि श्री मधुसूदन मिश्र के द्वारा संकलित हुआ था।

सूर्यवंशीय राजाओं के राजत्वकाल में उत्कलीय संस्कृत साहित्य अत्यन्त समृद्धि पर था। सूर्यवंश के प्रबल पराक्रमी प्रसिद्ध सम्राट् गजपति कपिलेश्वरदेव ने "परशुराम व्यायोग" नामक एक ग्रंथ लिखा था। उनके पुत्र गजपति पुरुषोत्तमदेव ने "अभिनव वेणीसंहार" नाटक और अभिनव गीतगोविन्द नामक एक काव्य की भी रचना की थी। उनके राजकवि कविचन्द्रराय दिवाकर मिश्र ने महाभारत ग्रन्थ के आधार पर भारतामृत नामक एक महाकाव्य लिखा था। वह संस्कृत साहित्य का एक अमूल्य रत्न है। इन्होंने पारिजातहरण नाटक, प्रभावती नाटक, रसमंजरी, पार्वतीशतक, हरिचरित चम्पू आदि अनेक उपादेय ग्रन्थों की रचना की थी। उनके प्रतिद्वन्द्वी कवि श्री डिंडिम जीवदेवाचार्य ने भक्तिभागवत महाकाव्य, उत्साहवती नाटक और भक्ति-वैभव नाटक लिखकर विशेष यश प्राप्त किया था। प्रताप रुद्रदेव के दरबारी कवि मार्कण्डेय ने रघुवंश महाकाव्य के जोड़ का दशग्रीव-वध महाकाव्य लिखा। प्राकृतसर्वस्व नामक ग्रन्थ भी इनकी एक अमर कृति है। कवि डिंडिम के पुत्र जयदेव ने पीयूषलहरी और वैष्णवामृत नामक

दो नाटक लिखे थे। प्रतापरुद्रदेव के अधीनस्थ राजा महेन्द्र के राज्यपाल श्री राय रामानंद पटनायक का जगन्नाथवल्लभ नाटक एक अमूल्य ग्रन्थ है। प्रतापरुद्रदेव के परवर्ती कविराज चिन्तामणि मिश्र के सम्बरारिचरित, कादम्बरी-सार, सभाप्रमोद, पद्यावली, कंसवध, त्रिशिरावध व्यायोग, कृत्यपुष्पावली, वाङ्मयविवेक (अलंकार), आदि अनेक ग्रंथ मिलते हैं।

उत्कल के अंतिम स्वाधीन गजपति श्री मुकुन्ददेव की मृत्यु (१५६८ ई०) के पश्चात् ओड़िशा का उत्तरी भाग (गंगा और महानदी के बीच का स्थान) मुस्लिम शासन के अंतर्गत चला गया था; फिर भी महानदी और बंशधारा के बीच का भू-भाग भोई-वंशीय गजपति नरेशों के अधीन था जिन्होंने, मुसलमानों द्वारा बारंबार आक्रांत होने पर भी, संस्कृत तथा ओड़िया साहित्य की उन्नति के लिए यथोचित बढ़ावा और सहारा दिया था। भोई-वंश के राजत्व-काल में (१५६८-१८०३ ई०) नीचे लिखे हुए कवि और काव्य उल्लेखनीय हैं। कवि नित्यानन्द-कृत शिवलीलामृत और कृष्णलीलामृत महाकाव्य, श्री रघुत्तम तीर्थ का मुकुन्दविलास काव्य, गंगाधर मिश्र का कोशलानन्द महाकाव्य, विद्याकर पुरोहित का नारायणशतक, हलधर मिश्र का वसन्तोत्सव महाकाव्य, विश्वम्भर रथ का रामलीलामृत महाकाव्य, नीलाम्बर आचार्य का चन्दनयात्रा चम्पू, भगवान रथ कविराज का मृगया चम्पू और गुण्डिचोच्छवर्णन, हरिकृष्ण कविराज पुरोहित का राधाविलास महाकाव्य, वासुदेव रथ सोमयाजी का गंगवंशानुचरित चंपू, नारायण मंगराज का अब्ददूत खंडकाव्य, व्रजसुन्दर पटनायक का सुलोचना-माधव काव्य, वासुदेव का राघवयादवीय महाकाव्य, कविचंद्र कमललोचन खड्गराय का गीतमुकुंद, संगीत-चिंतामणि, ब्रजयुवविलास, वक्रवाक् चक्रपाणि का गुण्डिचा चम्पू, कला-कौमुदी चंपू और कटाक्षशतक आदि हैं।

उस युग के भोईवंश के प्रतिष्ठाता श्री गजपति रामचंद्रदेव ने, श्रीकृष्णभक्तवात्सल्य नाटक, राय रामानन्द की छोटी बहिन माधवी देवी ने श्री पुरुषोत्तमदेव नाटक, कविभूषण गोविन्द सामन्त राय ने समृद्धिमाधव नाटक, चान्दु राय गुरु ने उषापरिणय नाटक, नरसिंह मिश्र ने मञ्जमहोदय नाटक, और चयनी चन्द्रशेखर ने मथुरानिरुद्ध नाटक की रचना कर प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

भारत के अलंकार साहित्य को उस युग के कवियों का दान महनीय है। उस युग में लोकनाथ दीक्षित ने साहित्यदर्पण की प्रभास्मृति टीका, गोपीनाथ मिश्र ने साहित्यदर्पणप्रभा, महामहोपाध्याय कृष्णमिश्र ने साहित्यरत्नाकर की सुधाकर टीका और श्रीराम शर्मा ने काव्यप्रकाश की कलावती टीका लिखी थी।

मौलिक अलंकार-ग्रन्थों में जगन्नाथमिश्र का रसकल्पद्रुम, कविभूषण गोपीनाथ पात्र का कविचिन्तामणि, लोकनाथ त्रिपाठी का कविकण्ठहार और रामचन्द्र खड्गरायकृत अलंकार-चिन्तामणि आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। तिगिरिया के तुंगवंशीय नरपति यदुनाथसिंह महापात्र का अभिनयदर्पणप्रकाश एक उपादेय ग्रन्थ है।

विभिन्न संस्कृत ग्रन्थों की खोज से मालूम होता है कि ओड़िशा के पंडितों ने संस्कृत भाषा

के समस्त प्रसिद्ध काव्यों और नाटकों पर टीकाएँ लिखी थीं। इन टीकाकारों में शाण्डिल्य गोत्रीय आनन्द मिश्र के पुत्र श्री पुरुषोत्तम मिश्र सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी नैषध, अनर्वराघव, और हंसदूत की टीकाएँ संगृहीत हुई हैं। महामहोपाध्याय श्री नरहरि पंडा ने मेघदूत की ब्रह्मप्रकाशिका टीका और मृच्छकटिक की टीका लिखी थी। विभिन्न टीकाओं में कविराज गोपीनाथ रथ कृत नैषध की हर्षहृदय टीका, चन्द्रशेखर-रचित शिशुपालवध महाकाव्य की सन्दर्भ-चिन्तामणि टीका, विद्याविनोद कृत भट्टबोधिनी टीका, रघुनाथकृत भट्टिटीका, अग्निचित्त लोकनाथकृत शकुंतला टीका, रामचंद्र मिश्र कृत सौंदरानंद महाकाव्य की बुधनंदिनी टीका, विद्याधरपुरोहित कृत राघव-पांडवीय महाकाव्य की हृदयानन्दरसावह टीका, कविरत्न हरिसेवक सामन्तराय कृत गोविन्द-लीलामृत टीका, दामोदर सामन्तराय कृत भक्तिरसामृत-सिन्दूर टीका और श्रीधर द्विज कृत हितोपदेशटीका ग्रंथ उल्लेखनीय हैं।

उत्कल में रचित व्याकरण ग्रन्थों में कई ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें चांगुदास कृत चांगुकारिका, पाटणा के महाराजा बैजलदेवकृत प्रबोधचन्द्रिका, सुरंगी के नेत्रानन्द साहित्य पंचानन-कृत जुमर-दर्पण, कृष्णमिश्र प्रक्रिया, बसुप्रहराज कृत वसुप्रक्रिया, मुरारी मिश्र कृत रत्नसार, पुरी निकटवर्ती गंगानारायणपुर-शासन के अधिवासी श्री लक्ष्मीधर उद्गाताकृत नाम-निर्मल ग्रंथ विशेष आदरणीय हैं।

काव्य, नाटक, अलंकार और व्याकरण की तरह उत्कल के सुधी-समाज में संगीतशास्त्र का भी विशेष आदर था। उस समय के कृष्णदास बड़जना महापात्र का संगीतप्रकाश, हलधर मिश्र कृत संगीतकल्पलता, कविरत्न पुरुषोत्तम मिश्रकृत संगीतनारायण, कविरत्न के पुत्र नारायण मिश्र द्वारा रचित संगीतसरणी, रघुनाथ रथकृत नाट्य-मनोरमा और संगीतार्णव-चन्द्रिका आदि अमूल्य ग्रन्थ आविष्कृत हुए हैं।

पुराण, धर्मशास्त्र और दर्शन

१२०० ई० के आसपास समस्त उत्तर भारत में मुसलमानों का आधिपत्य हो गया था। किंतु १५६८ ई० तक ओड़िशा की प्रचंड पदातिक वाहिनी के कारण, दुर्ग और मंदिर से परिपूर्ण, गंगा से गोदावरी तक विस्तृत, उत्कल की स्वाधीनता अक्षुण्ण रही। उत्कलीय गजपति महाराजाओं की छत्रछाया में पंडित-समाज ने हिंदू धर्म की सुरक्षा के लिए अनेक पुराण और धर्मशास्त्र रचे थे। चाटेश्वर शिलालेखों से पता चलता है कि तृतीय अनंग भीमदेव के राजत्व-काल में पुराणों का संस्कार किया गया था। चौदहवीं शताब्दी में आविर्भूत भारत-प्रसिद्ध पुरी के गोवर्धन मठाधीश श्रीधर स्वामी ने भागवत महापुराण की भावार्थदीपिका नाम्नी टीका लिखकर वैष्णव धर्म की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्रीमद्भगवत्गीता की टीका भी लिखी थी। किसी परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीनारायण सर्वज्ञ नामक संन्यासी द्वारा लिखित रामायण और महाभारत की टीकाएँ भी प्राप्त हुई हैं। कविचन्द्र कमललोचन खड्गराय ने भागवत की भागवत-लीला-चिंतामणि नाम्नी टीका लिखी थी। विद्याविनोद आचार्य कृत चंडी

की तत्त्वबोध टीका और पीतांबर रथ दीक्षितकृत चंडीतत्त्वार्थ-बोधक टीका का विशेष आदर और प्रसार दिखाई पड़ता है।

उत्कल में निर्मित स्वतन्त्र पुराण ग्रन्थों में स्कन्द-पुराणोक्त उत्कलखंड, पुरुषोत्तमक्षेत्र-माहात्म्य, नीलाद्रिमहोदय, गजपति पुरुषोत्तमदेव-कृत मुक्तिचिन्तामणि, बालुंकीपाठीकृत जगन्नाथ के विभिन्न यात्रा-विषयक यात्रा-भागवत, कपिलसंहिता, एकाम्रपुराण, एकाम्रचंद्रिका, स्वर्णाद्रिमहोदय, बिरदाक्षेत्रमाहात्म्य आदि उल्लेख-योग्य हैं।

उत्कल के धर्मशास्त्र के लेखकों में पूर्वोक्त शतानन्द आचार्य सर्वप्रथम हैं। उनके परवर्ती उत्कलीय पंडित शंखधर ने स्मृतिसमुच्चय नामक एक उत्कृष्ट प्रमाण-ग्रन्थ रचा जो समस्त भारत में आदृत हुआ था। चतुर्दश शताब्दी में आविर्भूत ऋषिमूर्ति एवं नित्याचारनिष्ठ शम्भुकर वाजपेयी के पुत्र विद्याकर वाजपेयी उत्कल में स्मार्त मत के अधिष्ठाता माने जाते हैं। शम्भुकर के बनाये हुए शम्भूकर पद्धति, विवाहपद्धति, दुर्बलकृत्य पद्धति, श्रोत्राध्यान श्लोक-पद्धति, अग्नि-होत्र-होमपद्धति, अग्नि-होत्रहोम-प्रायश्चित्तपद्धति, दर्शपौर्णमासेष्टिपद्धति, स्मार्तरसावली आदि कई ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। शम्भूकर के पुत्र विद्याकर भारतप्रसिद्ध स्मृतिकार हैं। उनके नित्याचार-पद्धति जैसे विराट् ग्रंथ के आठ भागों में से केवल एक भाग इस समय तक कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त क्रमदीपिका, दिनकृत्यदीपिका और मोक्ष-परीक्षा आदि ग्रन्थ भी उनके बनाये कहे जाते हैं। विद्याकर के प्रसिद्ध शिष्य रामचन्द्र वाजपेयी ने अपने जीवन का अधिकांश समय नैमिषारण्य में बिताया था। उनके द्वारा रचित (सन् १४००-१४५० ई०) निम्न ग्रंथों का पता चलता है। ये शुल्ववार्तिक और उसके ऊपर उनकी दो टीकाएँ शारदातिलक टीका, शारदार्च्चा-प्रयोग, प्रायश्चित्तप्रदीपिका, सांख्यायन गृह्यसूत्र टीका, कुण्ड-मंडपलक्षण, कुण्डामार्तण्ड, कुण्ड-निर्माणविधि, कुण्डकृति और श्लोकदीपिका आदि ग्रंथ है।

उत्कलीय संस्कृत साहित्य की उन्नति के लिए प्रतापरुद्रदेव के राजगुरु एवं मन्त्री श्री गोदावरी मिश्र के वंश की सेवा अविस्मरणीय है। गोदावरी के पूर्वजों में किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा रचित शतसमय, मृत्युञ्जय मिश्रकृत शुद्धिमुक्तावली, नारायण मिश्र कृत मीमांसाद्वय की टीका, और जलेश्वर मिश्र कृत जलेश्वर-पद्धति आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। गोदावरी के पितामह गजपति कपिलेश्वरदेव के विचार-सचिव श्री नृसिंह वाजपेयी ने संक्षेप शारीरिक वार्तिक और काशीमीमांसा नामक दो ग्रन्थों की रचना की थी। गोदावरी के पिता बलभद्र मिश्र राजगुरु ने अद्वैत-चिन्तामणि और शारीरिक सारपुरुषोत्तम-स्तुति नामक दो ग्रन्थ लिखे थे। गोदावरी उस विख्यात पंडित वंश में सर्वश्रेष्ठ थे। अपने पिता की मृत्यु के बाद वे पहले प्रतापरुद्रदेव के राज-गुरु और बाद में मंत्री बने। उनके द्वारा लिखे हुए निम्नलिखित ग्रंथों में तन्त्रचिन्तामणि, योग-चिन्तामणि, नीतिचिंतामणि, आचारचिन्तामणि, जयचिंतामणि, अद्वैतदर्पण, अधिकरण-दर्पण, नीतिकल्पलता, सामुद्रिक कामधेनु, पातञ्जलदीपिका, हरिहरचतुरंग, और शारदाशरदर्चन-पद्धति आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। गोदावरी के वंशधर (भाई के पोते) श्री नरसिंहमिश्र वाज-पेयी ओड़िशा और भारत के एक प्रसिद्ध धर्मशास्त्र-प्रणेता थे। उन्होंने १८ प्रदीपों की रचना

की थी जिनमें से कुछ के नाम नित्याचार-प्रदीप, वर्षप्रदीप, भक्तिप्रदीप, प्रायश्चित्तप्रदीप, श्राद्ध-प्रदीप, प्रतिष्ठाप्रदीप, शांकरभाष्यप्रदीप, समयप्रदीप, व्यवस्थाप्रदीप, चयनप्रदीप और दानप्रदीप हैं। इनमें नित्याचार-प्रदीप के चार भागों में से केवल दो ही भाग कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित हुए हैं। नरसिंह जी अपने असाधारण पाण्डित्य और प्रतिभा के कारण गजपति मुकुन्द देव (१५६० ई० से १५६८ तक) और दिल्ली सम्राट् अकबर के द्वारा सम्मानित और पुरस्कृत हुए थे। गजपति पुरुषोत्तमदेव ने जगन्नाथ महाप्रभु की पूजा के लिए गोपालार्चन-पद्धति का प्रणयन किया था। गजपति प्रतापरुद्रदेव के आश्रय में सुप्रसिद्ध आन्ध्र पंडित लोल लक्ष्मीधर भट्ट ने सरस्वती-विलास नामक एक प्रसिद्ध धर्मशास्त्र का संकलन किया था। यह ग्रंथ आज भी आन्ध्र में अत्यंत प्रचलित है। उसी समय प्रतापरुद्रदेव की सहायता से काशी क्षेत्र के निवासी पंडित रामकृष्ण भट्ट ने प्रतापमार्तण्ड नामक धर्मशास्त्र ग्रन्थ की रचना की थी। प्रसिद्ध गौड़ीय पंडित वासुदेव ने प्रतापरुद्रदेव की सहायता से मकरंद आदि कई ग्रन्थों की रचना की थी। उनके राजत्वकाल में पुरुषोत्तम क्षेत्र के निवासी श्री नृसिंहाश्रम ने तत्त्वविवेक और विष्णुभक्ति-चन्द्रोदय आदि ग्रन्थ लिखे थे।

सन् १५६८ ई० में ओड़िशा की स्वाधीनता के लुप्त होते ही पुरी जैसे संस्कृत साहित्य के केन्द्रस्थल का प्राधान्य और गौरव कुछ अंशों में नष्ट हो गया था; फिर भी भोई-वंश के राजों और महाराजों की सहायता से उत्कल के पंडितों ने अनेक धर्मशास्त्रों का संकलन किया था। इनमें गजपति रामचन्द्रदेव (१५६८-१६०६) के राजगुरु वर्धन महापात्र कृत दुर्गोत्सव-चन्द्रिका, विश्वनाथ मिश्र कृत स्मृतिसार-संग्रह, विप्रमिश्र कृत श्राद्धप्रदीप, दिव्यसिंह महापात्र कृत श्राद्धदीप, कालदीप और दिव्यसिंहकारिका आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त विश्वम्भर मिश्र कृत स्मृतिदीपिका, मुरारी मिश्र द्वारा संकलित प्रायश्चित्त-मनोहर, वासुदेव त्रिपाठी कृत प्रायश्चित्त-विलोचन, लक्ष्मीधरमिश्र कृत शैवकल्पद्रुम, गोपालनन्द कृत नित्याचार-पद्धति और विष्णुशर्मा कृत स्मृतिसरोज-कलिका आदि ग्रंथ सन् १५६८ से १७०० के बीच लिखे गये थे।

१८वीं शती के प्रथम चरण में गजपति हरेकृष्णदेव के प्रधान पंडित श्री गजाधर राजगुरु ने नरसिंह वाजपेयी के पदचिह्नों पर १८ धर्मशास्त्रों की रचना की थी। उनमें केवल कालसार और आचारसार प्रकाशित और शुद्धिसार, दानसार, व्रतसार आदि अप्रकाशित हैं। गजाधर द्वारा रचित ग्रन्थ उत्कल में आज भी प्रमाण-स्वरूप हैं। लोग कहते हैं कि गदाधर के समकालीन तथा प्रतिद्वन्द्वी पंडित वासुदेव रथ ने भी १८ ग्रन्थों की रचना की थी। उनमें से कुछ ये हैं— आचारप्रकाश, न्यायप्रकाश, स्मृतिप्रकाश, मीमांसाप्रकाश, मण्डलप्रकाश और भुवनेश्वरीप्रकाश। संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में इन दोनों विद्वानों का योगदान अत्यंत महनीय है। १८वीं शती में रचित अन्य स्मृतिग्रन्थों में महामहोपाध्याय कृष्णमिश्र कृत कालसर्वस्व और वैष्णवसर्वस्व, योगी प्रहराजमहापात्र कृत स्मृतिदर्पण, कविभूषण गोविन्दसामन्त राय कृत स्मृतिसर्वस्व और मागुणि मिश्र कृत नित्याचार-पद्धति, शैव-पद्धति और प्रतिष्ठासार संग्रह आदि उल्लेखनीय हैं।

आयुर्वेद और ज्योतिष

जनश्रुतियों से पता चलता है कि सुप्रसिद्ध निदानकर्त्ता माधव कर उत्कलवासी थे। ओड़िशा में इस ग्रंथ का विशेष आदर और प्रसार होने से वैद्यराज नारायण षडंगी ने निदान की बाल-बोधिनी टीका लिखी थी। इसके अतिरिक्त उस ग्रंथ पर वैद्य भागीरथी महापात्र ने तत्त्वबोधिनी टीका और हरिहर नन्द ने निदानसारसंग्रह आदि कई टीकाएँ लिखी थीं। गजपति प्रतापरुद्रदेव के समकालीन कविराज विश्वनाथ सेण ने चिकित्सार्णव और पथ्यापथ्य-विनिश्चय नामक दो ग्रंथों का प्रणयन कर विशेष ख्याति प्राप्त की थी। ओड़िशा में लिखित अन्य आयुर्वेद-ग्रन्थों में रामचन्द्र वाजपेयी कृत नाड़ीपरीक्षा, योगी प्रहराज महापात्र कृत वैद्यहृदयानन्द, हरिचरण सेण कृत पर्यायमुक्तावली, गोविन्ददास कृत भैषजरत्नावली, भुवनेश्वर पाटयोषी कृत आयुर्वेद-सार-संग्रह और चक्रपाणिदास कृत अभिनवचिंतामणि आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

ओड़िशा के ज्योतिषशास्त्र ग्रन्थों में पुरीनिवासी प्रसिद्ध ज्योतिर्विद शतानन्द आचार्य-कृत पंचसिद्धान्त भास्मती ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ है। सोलहवीं शताब्दी में धनंजय आचार्य ने ज्योतिष-चंद्रोदय नामक ग्रन्थ लिखकर विशेष ख्याति प्राप्त की थी। उत्कल में लिखित अन्य ग्रन्थ निम्न-लिखित हैं—भोई-वंशीय राजा प्रथम मुकुन्ददेव कृत स्वरपद्धति, तरला राजा कृष्णचन्द्र कृत स्वर-सरणी, पारलाराजा गजपति नारायण देव कृत आयुर्दायकौमुदी, गोपीनाथदासकृत आयुर्दाय-चिन्तामणि, यज्ञेश्वर मिश्र कृत ज्योतिःचिन्तामणि, गोपालदासकृत ज्योतिःरत्न, श्री क्षेत्रवासी रघुनाथदासकृत उत्पात-तरंगिणी, दशरथ मिश्र कृत ज्योतिषसार-संग्रह, महामहोपाध्याय छकड़ि-नंदकृत बालबोधरत्नकौमुदी, और श्रीनिवासमिश्र के पुत्र द्वारा लिखित ज्योतिषतत्त्वकौमुदी।

टीका ग्रन्थों में निम्बदेव कृत सूर्यसिद्धान्त की सर्वबोधिनी टीका, मागुणी पाठी कृत ग्रह-चक्र टीका, और पीताम्बरमिश्र कृत शुद्धिदीपिका टीका विशेष रूप से आदृत हैं। ओड़िशा में शतानन्द के समय से ज्योतिष-चर्चा की जो अविच्छिन्न धारा चली आ रही थी उसका पूर्ण विवरण गत शताब्दी में महामहोपाध्याय चन्द्रशेखर सिंह सामन्त द्वारा रचित "सिद्धान्तदर्पण" नामक ग्रन्थ में मिल जाता है।

इस लघु प्रबंध में उत्कली संस्कृत साहित्य का पूर्ण विवरण उपस्थित करना संभव नहीं है, फिर भी इस लेख में संस्कृत साहित्य के प्रत्येक विभाग को उत्कलीय पंडितों द्वारा दिये गये योगदान पर सामान्य प्रकाश डाला गया है। भविष्य में जब उनकी कृतियाँ प्रकाश में आयेंगी तो वे निश्चित रूप से संस्कृत साहित्य के भंडार को बढ़ाने में सहायक होंगी।

उत्कल का खान-पान और वेशभूषा

अध्यापक कान्हुचरण मिश्र, एम० ए०

यदि किसी जाति का परिचय प्राप्त करना हो तो उसकी बाह्य तथा आभ्यन्तर अभि-रुचि, हाव-भाव, और क्रिया-कलाप का विश्लेषण करना आवश्यक है।

जातीय प्रगति के साथ ही साथ आचार-व्यवहार में भी परिवर्तन होना निश्चित है। यह देश-काल-पात्र-निर्विशेष में सर्वत्र परीक्षणीय है। उत्कल का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए उसके आचार-व्यवहार, खान-पान, वेशभूषा, विलास-व्यसन आदि का अनुशीलन तथा विश्लेषण जरूरी है। इसलिए खोज करनेवालों को अपने इच्छानुसार अपना मनोभाव व्यक्त करना ठीक नहीं है। विषय-वस्तु के सर्वांग सुन्दर परिशीलन तथा अनुशीलन के लिए जातीय परम्परा की उचित दृष्टि, साहित्यिक तथा ऐतिहासिक उपादानों का संकलन और दैनिक रीति के अनुसार उन सबका विचार करना चाहिये। विशेष रूप से उत्कलीय जैसी जाति, जिसके इतिहास में अनेक सांस्कृतिक आन्दोलनों की छाप दृढ़ तथा गंभीर रूप से अंकित है, जिस जाति के सांस्कृतिक विकास के साथ साथ पड़ोसी तथा वैदेशिक जातियों का राजनीतिक घात-प्रति-घात अंगांगी रूप से युक्त है, उसके अन्तःकरण को खोलने के लिए बहुमुखी तथा तथ्यपूर्ण विचार-बीथी की आवश्यकता है।

जीवन-धारण के लिए मानव खाद्य संचय करता है और दीर्घ जीवन पाने के लिए वह उपयुक्त तथा पुष्टिकर खाद्य पाना चाहता है। हमारे देश के पुराण-शास्त्र आदि ग्रन्थों में भी आहार-विहारादि का एक निर्दिष्ट क्रम तथा समय-निरूपण है। गीता के "मिताहार-विहारश्च" उपदेश पर विचार किया जा सकता है। रामायण, महाभारत, भागवत आदि में इस संबंध की जितनी उपादेय उक्तियाँ हैं, उन सभी के आलोचन की आवश्यकता है। महाभारत में धर्म तक के पूछने पर युधिष्ठिर ने कहा—"दिवस्याष्टमे भागे शाकं पाचति यो नरः, अनृणी च अप्रवासी च स वारिचर मोदते" अर्थात् जो नर दिवस के अष्टम भाग से साधारण अन्न-शाकादि खाता है वह नर ऋण और प्रवास से रहित तथा सुखी रहता है। रात्रि-भोजन की अपेक्षा दिवस भाग का भोजन ही उचित है। यह शास्त्र-सिद्ध तथा सम्मत है।

भोजन में काल, समय, मौन, एकाग्रता आदि का पालन करना उचित है। इसे मनु-संहिता में इस प्रकार कहा गया है—"वाग्यतो भूजि आचरेत्।" इसलिए मानव-मात्र के लिए भोजन करने के दो ही उपयुक्त समय—सायंकाल और प्रातःकाल हैं। खाते समय मौन रहना शास्त्रसम्मत है।

असमर्थ व्यक्तियों तथा बालकों के अतिरिक्त किसी को मध्य भाग में भोजन नहीं करना चाहिये—"सायं प्रातर्द्विजातीनां, अशनं स्मृतिवेदितम्, नान्तरा भोजनं कुर्यात् षट्सु मौनं विधीयते।"

पहले उत्कल में राँधने की प्रणाली अत्यन्त सरल थी। आजकल नाना प्रकार के मसाले देकर अधिकाधिक तेल से युक्त जो व्यंजनादि बनाये जाते हैं उनसे जनसाधारण का स्वास्थ्य द्रुतगति से अवनति की ओर जा रहा है। पहले केवल सिझा कर और थोड़ा सा नमक लगाकर ही खाते थे।

सारलादास ने अपने महाभारत के विराट पर्व में कहा है—

वात पित्त श्लेष्म आदि ताहिं नाहिं व्याधि
समस्त प्रसिद्धि हेला रान्धणा प्रसिद्धि
पांच लक्ष्य सूपकार कार्य निजे कले।
गौरी शौरी नलविधि रान्धणा रान्धिले॥

उत्कल में अत्यंत प्राचीन काल से त्रिविध रीति के अनुसार भोजन बनाया जाता था। वे रीतियाँ हैं गौरी, शौरी तथा नल। अभी तक जगन्नाथ-मन्दिर में नल विधि के अनुसार पाक किया जाता है। भीम ने सूपकार के रूप में त्रिविध रन्धन के द्वारा बनाये भोजन से सबको तृप्त किया था। इसमें उत्कलीय रन्धन-प्रणाली का आदर्श भी सूचित होता है—

गौरी रीति

सोरिष न बाटि किम्बा परिबा न काटि
सबु एक करि भाण्डे दिये ताकु घाण्टि
हेंगु ये मरिच जिरा पुणि दुग्ध खण्ड
एका घान्तिके पूराइ घाण्टे सेहु भाण्ड।

शौरी रीति

मृग मांस काढ़िकरि जाहा थाए कंचा, सबु एक थोग करि पात्रे करि संचा
तइल क्षीर लवण आदि पात्रे भरि
शिआलि लता गुड़ाइ पत्रे बान्धि करि
अग्नि जालि करि ताकु पोड़िकरे पक्व
भोजने के सरिहेब ताहा ठुं अधिक।

नल रीति

नाना योगाड़िरे सेहु सर्व एक करि
आमिष आम्बिल एक भाण्डे नेइ भरि

ताहाकु सिझान्ते सेहि सिसे अति वेगि
नल विधि रान्धणा ये अटे सूर्य पागी।

उत्कल में अनेक जातियों के लोग रहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के अतिरिक्त अनेक आदिवासी तथा हरिजन इस भूमि के अधिवासी हैं। आचार-व्यवहार के समान खान-पान में भी भिन्न जातियों में भिन्न रीतियाँ दिखाई पड़ती हैं। कहीं शाकजीवी, कहीं मांसजीवी और कहीं कहीं उभय-जीवी दिखाई पड़ते हैं। अन्न व्यंजन ही उत्कल का प्रधान खाद्य है तथा शाकान्न भोजन यहाँ के हर एक घर में व्यवहृत है।

उत्कलवासी सबेरे सामान्य जलपान, भूँजा चूड़ा, पेठा यहाँ तक कि "पखाल" (पानी भात) भी खाते हैं। मध्याह्न में उनका प्रधान भोजन भात-दाल आदि से सम्पन्न होता है। फिर संध्या का भोजन वही दाल-भात महुर (खट्टी मीठी तरकारी), वेसर (सरसों मिश्रित तरकारी) आदि से सम्पन्न होता है। साधारणतया चावल को ही नाना प्रकार से बनाकर, अथवा चावल का आटा, उड़द का आटा या मांडवा के आटे से नाना प्रकार के पिठे बनाकर खाते हैं।

उत्कल में बारह महीनों में तेरह पर्व होते हैं। अन्य कहीं भी इतने उत्सव पर्व-पर्वाणि नही दिखाई पड़ते। विशेष रूप से जगन्नाथ-मन्दिर में अनुष्ठित द्वादश यात्रा तथा पर्व आदि में भोगादि की जो व्यवस्था है और भिन्न भिन्न ऋतुओं में जगन्नाथ जी को भिन्न भिन्न भोग चढ़ाने की जो पद्धति है उससे उत्कलीय जनसाधारण के सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन में कम प्रभाव नहीं पड़ा है। "यथा देहे तथा देवे" यही उत्कलियों का दृष्टिकोण है। इसलिए देव-मन्दिरों में जिस प्रकार भोग एवं पिष्टकादिकों का परिचय मिलता है उसी प्रकार उत्कल के प्रत्येक घर में भी अनुसृत है।

प्रतिदिन धूप-आरती के समय जगन्नाथ जी को अन्न महाप्रसाद और शताधिक पिष्टकों का भोग लगाया जाता है। छेना, उरद, चावल, सूजी, तथा गेहूँ के आटे से जिन विविध प्रकार के पिष्टकों का भोग लगाया जाता है। उनमें से निम्नांकित ५६ प्रकार के प्रधान भोग हैं—काकरा, पिठा, आरिषा, सु, भजामण्डा, ठोलका, चितोउ मण्डा, पाणिमण्डा, पाणि गइँठा, छेना ताड़िआ, ताड़िआ, बिरि ताड़िआ, नड़िआ बड़ा, वेसन बड़ी, चितोउ, मण्डा, एण्डुरि, कान्त, नलमन, गुपचुप, छेना खइ, छेना काटा, बिरी बटा, जगन्नाथ वल्लभ, खुरुमा, लुणि खुरुमा, खजा, खुरी, मोहनभोग, लक्ष्मीविलास, गोपालवल्लभ, कदलि बड़ा, सुझि गजा, माठपुलि, टाकुआ, शरपिठा, विरिबरा जेनामणि, पत्रआरसा, पाग आरसा, चढ़ेइ नेदा, झिरि नाड़ि, त्रिपुरी, थालिपका, मनोहर, कानिका, बड़बड़ा, सरपुलि पिठा, कान्तिका, थिउड़ि, बड़कोरा, सानपिठा, सानकान्ति पान अमालु, सिरउरडु, चिताउ आदि।

इसके अतिरिक्त उत्कलीय परिवारों में बुढ़ा चकुलि, सरु चकुलि, चकुलि, खुद मण्डा, खुद चकुलि आदि कई प्रकार के पिठे बनाये जाते हैं। इन सब के स्वाद का अनुभव प्रत्येक गृहस्थ करता है।

अन्न महाप्रसाद के साथ दाल, महुर, वेसर, भाजा, राइ, मण्डाराइ, शाकर, डालमा, इत्यादि व्यंजनों का भोग हर रोज जगन्नाथ-मन्दिर में लगाया जाता है।

यही हमारे खाद्य का आदर्श है। अन्न के साथ दाल, महुर, वेसर आदि का मेल हम लोगों का अभ्यासगत तथा जातिगत भोजन-विधान है। गेहूँ की रोटी, सूजी की रोटी—बहुत कम दिन हुए—चलती थी। संभ्रान्त परिवार अथवा राजा तथा राजवंशीय लोग इनके अधिकारी थे। किन्तु मध्यवित्त परिवार तथा मजूरी करनेवाले किसानों के लिए पखाल (पानी भात) ही प्रधान खाद्य है। भात को धोकर वे लोग खाते हैं। बासी माड़ से युक्त इस धोये हुए भात (पखाल) में खाद्यसार निहित है। इसलिए यह नित्य व्यवहार्य है। माण्डुआ जाउ भी दैनिक व्यवहार का खाद्य है। माण्डुआ, याउ तथा पखाल के प्रचुर खाद्य-सार को आजकल के गवेषकों ने दृढ़ रूप से स्वीकार किया है।

हमारे यहाँ साधारणतः भुंजिआ चावल पकाकर खाया जाता है; किन्तु कच्चे चावल का खाना भी शास्त्र-प्रसिद्ध है। भोज और श्राद्ध आदि में कच्चा (अरुआ) चावल नैवेद्य के रूप में व्यवहार किया जाता है। भोज या उत्सव में अरुवा चावल 'कनिका' या 'खेचड़ी' आदि साधारण रूप से परोसा जाता है। विविध प्रकार की भाजियाँ (शाक) हमारे व्यंजनों में प्रधान है। "पिता शुखुआ" (सुखाई हुई कड़आ मछली), करेला उवु खट्टा आदि के धनी लोगों द्वारा न खाने पर यह साधारण गृहस्थ का दैनिक खाद्य है। जितने प्रकार के खाद्य-सार (वाइटामिन) आजकल निकाले गये हैं वह सब हमारे खाद्यों में प्रचुर रूप में पाये जाते हैं। जिरड़ा, भुंजिआ चावल, गइंठा (चावल के आटे से बना हुआ), कनखि कोड़ा पिठा आदि में खाद्यसार पूर्ण मात्रा में हैं।

बहुत पहले से हमारे किसान परिवार में खुदुरु कुणि या खुद रंकुणी व्रत चला आ रहा है। तअपोइ नामक पुस्तक में कुछ व्यंजनों का संकेत इस प्रकार है—

खुद कुण्डा रे पिठा करि
खुद तण्डुल पुरे करि
सखीकुँ मागिला वहन
फल फुलरि पिठा मान

इन व्यंजनों में पुष्टिसार तथा धातुवलवण पर्याप्त मात्र में पाया जाता है। ओड़िआ घरों में कांजि या बासी माड़ भी दैनिक खाद्य के रूप में व्यवहृत है। इससे मस्तिष्क को लाभ पहुँचता है।

आयुर्वेद में इस कांजि के लाभ वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न ऋतुओं में एक-एक उपकारी तथा स्वाथ्यवर्द्धक पदार्थ के खाने के संबंध में ओड़िशी प्रवचन हमें पर्याप्त जानकारी देते हैं। इनके अध्ययन से प्रतीत होता है कि ओड़िया कितने सरसप्राण हैं—

"माघे दहि पुषे खइ
चइते निम चकुलि खाइ" तथा
अन्ते तिकत दन्ते लुण, पेट पुरिब तिनि कोण।
मथारे वसन पादे तेल, वइद संगरे करिब गेल।।

माघ में दही, पौष में लाइ तथा चैत में नीम अत्यन्त उपकारी हैं। फिर पेट में हमेशा कुछ तिक्त पदार्थ पहुँचाना, भोजन से पेट का केवल तीन ही भाग भरना तथा ठूँसकर न खाना ही उचित है। प्रवचन के अनुसार दाँतों की मजबूती के लिए उन पर नमक का प्रयोग करना उचित है।

वेश-भूषा

जिस प्रकार उत्कलवासी विविध खाद्य-सामग्री का व्यवहार करते हैं उसी प्रकार अपने को विभिन्न वेशभूषा में सजाना भी चाहते हैं। आजकल अवश्य ही हमारे शिक्षित समाज में वेश-भूषा, पोशाक-परिच्छद, चालचलन, आचार-व्यवहार में घोर परिवर्तन देखा जाता है; किन्तु प्राचीन काल में उत्कलीय जैसे सब विषयों में स्वतंत्र थे वैसे ही वेशभूषा में भी अपनी स्वकीय विशेषता की रक्षा करते थे। इस कला और कल्पना-प्रिय जाति ने कभी कई प्रकार की वेशभूषा तथा अलंकार की रचना की थी। आज से पाँच सौ वर्ष पहले आदिकवि सारला दास ने अपने महाभारत में पुरुषों तथा नारियों की वेषभूषा और अलंकार का परिचय दिया है। यदि उन सबको एकत्रित करके लिखा जाय तो एक निबन्ध का रूप हो जायेगा। पहले हमारे देश में वयन-शिल्प बहुत उन्नत दशा में था। कवि-सम्राट् उपेन्द्र भंज के "वैदेहीश-विलास" नामक काव्य में लिखा अत्यंत सूक्ष्म वस्त्र बाँस की नली में समा जाता था।

वेतरे पादरे लेखिले राक्षा
वारि हेला वेनि रंग कि दीक्षा
विकशित कोकनद मध्यरे
वोढ़ि भ्रमे कि सरस्वती नीर से
वंशी नलिरे थिबार ये
बाछिपद्धि दुर्वादल नील चेल
मेलइछि श्री रामर ये।।
पुनश्च—वंश नलिरे रखि लखि वसन
नेले सीता पाइं आणि
वहिले से गात्र लक्ष्मण इक्ष्यकुँ कुलर ये चूड़मणि।
वाहारिले से तिनि–वधि वोधन्ति राम जननी।

रामचन्द्र, लक्ष्मण, सीता तीनों १४ वर्ष के लिए बन गये थे। सीता के लिये परिधेय सूक्ष्म कपड़ा १४ साल के लिए बाँस की नली में रख लिया गया था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि पहले कितने महीन कपड़े बनते थे।

उस समय अत्यंत महीन दूब के समान सबुज वर्ण के कपड़े बनाये जाते थे। भंज कवि ने अपने काव्य में उसी वस्त्र का वर्णन किया है। उत्कल में केवल संभ्रान्त वंश के ही नहीं, मध्यम-श्रेणी के लोग भी पाट का कपड़ा पहनते थे। बनारसी पाटे के समान ओड़िशा में ब्रह्मपुरी पाट अत्यंत प्रसिद्ध है। आज भी सभी लोग ब्रह्मपुरी पाट का व्यवहार करते हैं।

किन्तु साधारण लोग रणपुरी धोती, पुरी का जेनेका देइ पुरिआ गमच्छा, लटक के केन्द्रा-पड़ा गुलुनगरका ओढ़, तिगिरिआ का माणिआबन्ध तथा चन्द्रकोड़िआ ओड़ा, दक्षिणी धोती, ब्रह्मपुर पाट, कमरकच्छा, गेंजि फरास, मिरिजेइ गेंजि, अंगवुलेइ, वुलइ बनात आदि का व्यवहार करते थे। जूता, खड़ाऊँ तथा मुरगि जूता भी पहनते थे। अब भी पुरुष हाथ में चूड़ा, कान में कुण्डल, झरका पठासिया विरबल, ताबिज, अनन्त हरमनिआ कण्ठी, कमर में सोने का धागा, चाँदी का धागा, अँगुलियों में अँगूठी, जड़ी हुई अँगूठी, पहनते हैं। सिर पर चोटी रखते हैं। आज भी ग्रामीण लोग इन सभी का व्यवहार करते हैं। अधिकांश पुरुष कांछा मार कर धोती पहनते हैं। ऊँची जाति के लोग (ब्राह्मणादि) रणपुर जोड़ा, दक्षिणी जोड़ी चादर पहनने के अभ्यस्त हैं। गरीब लोग "पखाल करिआ" रंगीन गमच्छा (पानी में दो-तीन दिन तक डुबोकर रंग चढ़ाया जाता है) का व्यवहार करते हैं। कोई कोई केवल काछा मारकर ही आते-जाते हैं। कमरबन्ध पर कपड़ा लपेटते हैं। यह डेढ़ बीता चौड़ा तथा ग्यारह हाथ लम्बा होता है। इससे कमर दृढ़ तथा मजबूत बनती है। इस समय भी गाँव में लोग इसी तरह के कमर काछा तथा "पखाल करिआ गमच्छा" पहनते हैं। पुरुष भी "त्रिकच्छ" पहनते थे, आज भी पहनते हैं।

स्त्रियाँ "वलगण्ठिआ शाढ़ी" दक्षिणी शाढ़ी, काणिकांच शाढ़ी, कांयी, झुरिझुंपा, अंग, कांचला पहनती हैं। इस समय भी बहुएँ इसे पहनती हैं। हर एक गृहस्थ के यहाँ ब्रह्मपुरी शाढ़ी जरूर मिलेगी।

दक्षिणी शाढ़ी तेरह हाथ लम्बी होती है। कठिआ कंछ शाढ़ी भी १३-१४ हाथ की होती है। स्त्रियाँ १२-१४ हाथ से कम लंबी शाढ़ी नहीं पहनती हैं। वे कांछा मारकर शाढ़ी पहनती हैं। सेवक घर की स्त्रियाँ "तिनि दशकोड़िया" पहनती हैं जिसमें एक तो पहनने, दूसरी लपेटने और तीसरी ओढ़ने में प्रयुक्त होती है। आजकल ऐसी साड़ी बहुत कम देखने में आती है। हरिजन स्त्रियाँ केवल "पखाल करिआ शाढ़ी" ही पहनती हैं और कहीं आने-जाने के लिए "चन्द्रकणी" साढ़ी का व्यवहार करती हैं। इसके अतिरिक्त यात्रादि अथवा उत्सव में "रंगणी" पाँचफुलि शाढ़ी" भी व्यवहार करती हैं। "झुरिझुंपा अंग कांचला" को स्त्रियाँ पीछे की तरफ से अंगरखा के रूप में व्यवहार करती हैं। साधारणतया स्त्रियाँ काछा मारकर "दोपड़ि" साढ़ी पहनती हैं। यह वीर नारी का चिह्न है। किंतु अब वे आजकल की मिल की साड़ी की अपेक्षा सम्बलपुरी शाढ़ी का व्यवहार ज्यादा करती हैं। सम्बलपुरी शाढ़ी हमारे देश में चारों ओर व्यवहृत होती

(कुछ अलंकारों के नमूने)

(1)
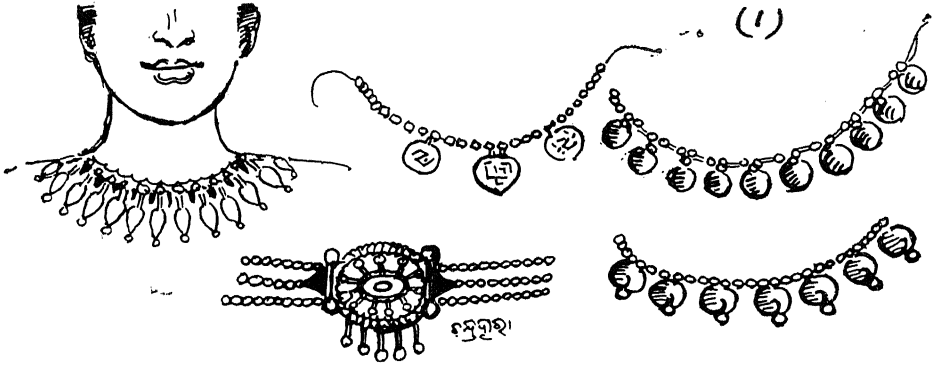
धानुआ या चम्पाकली, चापसरी (कण्ठा) पानपत्री हरड़फालिआ शंखहार
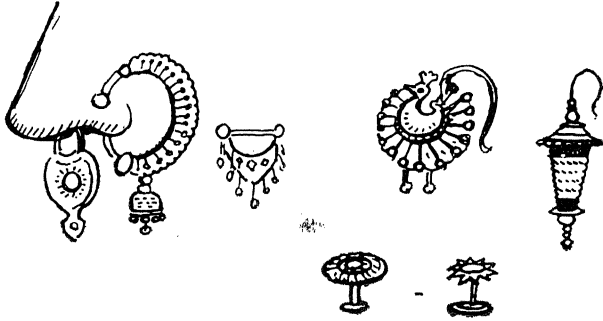
दण्डि, नथ दण्डि नाकपुटकी नाकपुटकी मयूरगुणा, नाकचणा
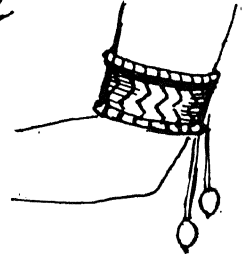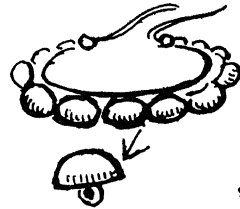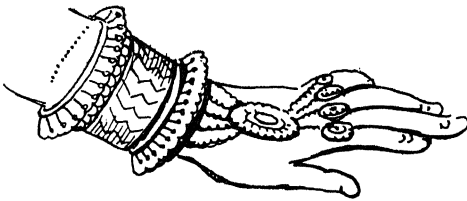
वाही चूड़ी, हस्तपद्म, कङ्कण, बाजुवन्ध अगिरा वटफल, बाजुवन्ध ताइत
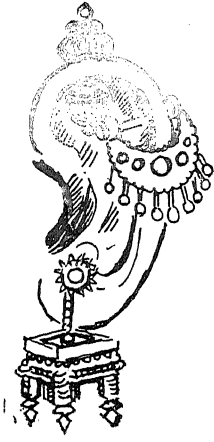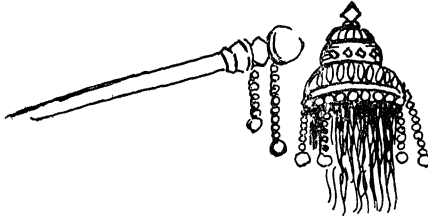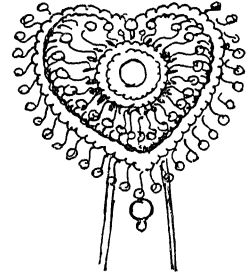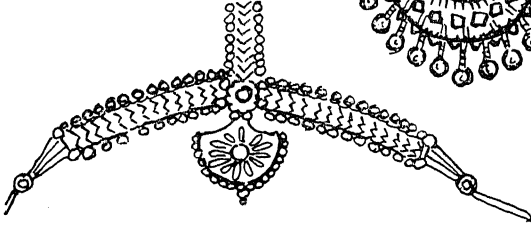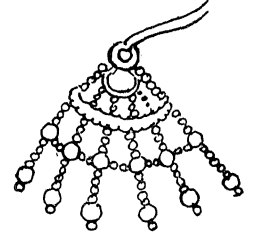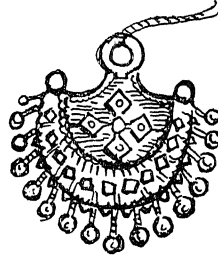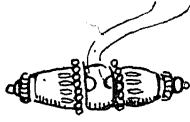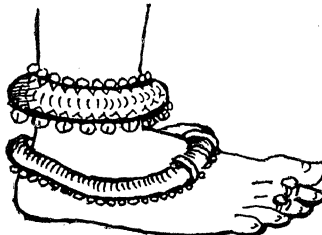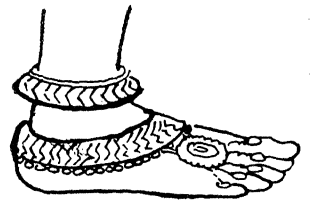
मलकड़ी, बालिगुणा
कुण्डल (वीरवल्ली)
झुमुका
मथामणि
अलका
चिता
गोजीकाठी (झराकाठी)
चन्द्रझुम्पी
पानपत्र
पाहुड़, पाउजी
पा-पद्म

है। उड़िआणी (ओड़िआ स्त्रियाँ) के अतिरिक्त अन्य जाति की स्त्रियाँ भी सम्बलपुरी साड़ी पहनती हैं। यह बहुत सुन्दर तथा मजबूत होती है, इसलिए हर एक जाति में इसका आदर है।

उत्कल की स्त्रियाँ स्वभाव से अलंकारप्रिय हैं। वे भिन्न-भिन्न अंगों को विभिन्न अलंकारों से सुशोभित करती हैं। पहले स्त्रियाँ बहुमूल्य रत्न, मणिजड़ित अलंकार पहनती थीं किन्तु आजकल यह राजा-जमींदारों की तथा संभ्रान्तवंशीय स्त्रियाँ पहनती हैं। पहले ही क्यों, आज भी स्त्रियाँ बहुविध अलंकार पहनती हैं। पैरों में, हाथों में तथा सिर में सोने-चाँदी के नानाविध अलंकार देखकर मालूम होता है कि पहले यह जाति अत्यंत सुखपूर्वक रहती थी। बहुत दिनों तक अन्तर्जातिक तथा सामुद्रिक वाणिज्य-व्यवसाय के द्वारा यह जाति धनवान् तथा साहसी बन गई थी। जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों को छोड़ देने पर भी यह जाति अन्तर्देशीय वाणिज्य में आगे थी।

रोम साम्राज्य में ऐसे ही वाणिज्य की उन्नति हुई थी। इसमें अधिकाधिक स्वर्ण रफ्तनी की गई थी। इसी से विख्यात ऐतिहासिक टालेमी ने इसे बन्द करने के लिए कहा था। उनके मत में अगर भारतीय वणिक् इसी तरह का व्यवसाय करते रहेंगे तो रोम अत्यंत शीघ्र अन्तःसार-शून्य हो जायगा। जो हो, विभिन्न प्रकार के मणि-मुक्ता-खचित अलंकार केवल उत्कल में ही देखने को मिलेंगे।

उत्कलीय स्त्रियों के मस्तकालंकारों में रत्नझुम्पि, हिराकाठि, झरामोति, कुसुमझरा, झिलिमिलि, चंद्रझुम्पि, झलका, पानपतरी, मथामणि प्रधान हैं।

कर्णालंकारों में मरकत मणि से बना हुआ ताटंक, बाली, ब्रजमलकढ़ि, चम्पा, गोखरा, चउकी, बाउलि प्रधान हैं।

हस्तालंकारों में झुम्पा, ताजि, ताड़, खडु कंकण, चुड़ी, अनन्त, बाजु, बाला, बटफल, काइंच, हातपद्म तिखा, अतुल, खडु कमछड़ि, कमनुआ ताड़ प्रधान हैं।

पैरों के अलंकारों में बला, पापद्म, पाहुज, पाहुड़, नूपुर, बाजेणी, पंचम, झमक झुण्टिआ, गण्ठिवला, कमचकि बांकि प्रधान हैं।

कमर में भी चन्द्रहार, अष्टासुता, किंकिणी आदि पहनते हैं। गले में भिन्न-भिन्न प्रकार के हार, चापसारि आदि पहने जाते हैं। उनमें नक्षत्रहार प्रधान है। "विदग्धचिन्तामणि" के रचयिता अभिमन्यु ने अपने काव्य में उत्कलीय नारियों के अलंकारों में से कई अलंकारों का परिचय दिया है। "अलंकारकेलि" के कवि ने भी कई अलंकारों का परिचय दिया है। उदाहरणस्वरूप निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

बनमालि भुजे बान्धिले पाड़िब उछुलि
अग्नि डेउंरिआ मालि अपार, ताड़ तलकु दिशिव सुन्दर।
मालिरे चापसरि सोरिसिआ मालि

मथुरा पुरिआ वउलमं दिआ जोड़ि मालि
नक्षत्र कण्ठमाल, गरगड़िआ कण्ठमाल
चोरा कण्ठिमाल, दश अवतार मालि
झम्पा बन्धा अएँला मंजिआ मालि ।

सारला महाभारत में प्राचीन उत्कल की वेशभूषा का एक सुन्दर निदर्शन मिलता है—

"शिरे शोभे सिमन्तिनी मुकुतार जालि
ललाटरे मथामणि कर्णे कर्णझुलि
दुइ हस्ते पिन्धिछन्ति सुवर्णर चूड़ि
गले चापसरि अंगे रहिअछि जड़ि
दुइ पादरे नुपूर रूणुझुणु बाजे
मुकुता गुन्था कांचन हृदरे बिराजे" ।

उपेन्द्र भंज ने भी अपने "लावण्यवती" में सिलिमिलि पानपत्री, ब्रजमलि कढ़ि, पद्मराग मणि, ताटंक, नीलनाक चणा, कड़िआली, शंखचूड़ि, आदि से लावण्यवती को अलंकृत किया है।

मन्दिरों की दीवालों में उत्कीर्ण पुरुष और नारी की प्रतिमाओं को अनेक प्रकार के अलंकार पहनाये गये हैं। महाभारत, रामायण काव्यादि के अलावा हमारे अलंकार और नाटचनृत्य ग्रन्थों में उत्कलीय अलंकार तथा वेशभूषा का वर्णन मिलता है। उदाहरण-स्वरूप महेश्वर पात्र रचित "अभिनयचन्द्रिका" नामक ग्रन्थ के २६०वें श्लोक से २८५वें तक लिखा है—

शिरोदेशे सुवर्णनकार्करारागड़ादयः।
चन्द्रसंमुख वेशे च पार्श्वदेशेति शोभने।
मथामणि मध्यदेशे केतकी सुमनोहरा।
शिरो मण्डयते एवं सुवर्णेन सुयत्नतः।
कर्णद्वये "कोरकं" वै अथवा "काप" एव च ।
त्रिगण्ठि कुण्डलं दिव्यं वीरवल्ल्याग्रनर्त्तने।
कर्णार्द्धे नागपाशं च वकुल केलिकोत्तमा ।
कण्ठाभरेण रूपेण न्यासयेत् चापसारिका।

× × ×

कांचला दिव्यरागेन नानारत्नादिमण्डिता।
आवृतं वक्षदेशं च दृढ़ेरम्येषु या ततः

बाहुदेशे तायितं च कंकणं ताड़काद्वयम्।
रसोनवाकिं ता माला निम्ने कवच भूषयेत्।
× × ×
पाददेशे दधद्रौप्य चापुआणि मनोहरे।
मण्डयेत् पाददेशेन नुपूरं पाहुंडबलाः ।

इसी प्रकार अन्य कई शास्त्रों से उत्कलीय वेशभूषा का यथेष्ट परिचय मिल सकता है।
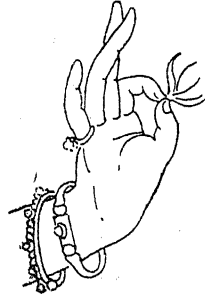
ओड़िशा में शिक्षा की प्रगति

श्री बामाचरण दास, डी० पी० आई०, ओड़िशा

ताड़पत्र पर लिखित विशाल साहित्य, जो आज प्रकाश में आ रहा है, यह सूचना देता है कि प्राचीन काल में ओड़िशा में शिक्षा का प्रचार प्रचुर मात्रा में था। अंग्रेजों के भारत में आगमन के साथ ही शिक्षा शब्द ने शनैः शनैः एक भिन्न अर्थ ग्रहण कर लिया और वर्तमान काल में तो शिक्षा का प्रयोग प्रायः पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के लिए किया जाता है जो इस उपमहादेश में फैली हुई है। जो राज्य अंग्रेजों के सम्पर्क में पहले आये उनमें इस शिक्षा का प्रसार स्वभावतः पहले हुआ। और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस शिक्षा में हम ओड़िशावाले पीछे रह गये। कटक, पुरी, बालासुर और गंजाम--- जो बंगाल, बिहार और ओड़िशा प्रदेशों के साथ संलग्न थे---इन समुद्रतटीय स्थानों में तुलनात्मक रूप से शिक्षा का प्रचार पहले हुआ और इन जिलों में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का प्रारम्भ हुआ। प्रगति अच्छी रही। धीरे-धीरे दूसरे जिले और अन्ततोगत्वा यहाँ के रजवाड़े ओड़िशा प्रदेश में लय हो गये। फलतः पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली द्वारा शिक्षित आबादी का औसत अचानक उस स्तर पर चला आया जो तुलनात्मक दृष्टि से दूसरे प्रदेशों की अपेक्षा बहुत ही भिन्न है। इसी पृष्ठभूमि पर इस प्रदेश में शिक्षा के विकास के लिए योजनाएँ बनाई गईं। निश्चय ही यह कार्य दुस्तर है और यदि हम दूसरे प्रदेशों के समानान्तर उन्नति के स्तर पर आना चाहते हैं तो हमें शिक्षा का प्रचार अन्य प्रदेशों से कहीं अधिक करना चाहिए। वास्तव में इस समय हम इसी का प्रयत्न भी कर रहे हैं।

जब हम शिक्षा की बातें करते हैं, हमारा ध्यान एक साथ प्राथमिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालय की शिक्षा पर जाता है। वे आपस में इतनी संबद्ध हैं कि एक के क्षेत्र में तब तक सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती, जब तक अन्य दो क्षेत्रों में समान प्रगति नहीं होती है। उदाहरण-स्वरूप प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिए हमें ऐसे शिक्षकों की आवश्यकता है जिन्होंने माध्यमिक शिक्षा प्राप्त की है, और इसी तरह माध्यमिक शिक्षा-प्रसार के लिए वैसे शिक्षकों की जरूरत है जिन्होंने विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त की है। इसी तरह यदि हम दूसरे ढंग से कहें तो कह सकते हैं कि माध्यमिक और विश्वविद्यालय की शिक्षा के प्रसार में भी तब तक सफलता नहीं मिल सकती है, जब तक प्राथमिक स्तर पर प्रसार न हो। साथ ही साथ यह भी विस्मरण नहीं किया जा सकता कि केवल शिक्षा के प्रसार-मात्र से ही इस प्रदेश की समस्याओं का समाधान हो जायेगा। यदि यह काम योग्यता का हनन कर किया जाय तो इसके बड़े ही घातक परिणाम होंगे। उस सूक्ष्म रेखा का पता पाना, जहाँ से शिक्षा का अधिक से अधिक प्रचार योग्यता का कम से कम

हनन कर किया जा सके, एक बहुत ही नाजुक काम है और इसका समाधान वर्तमान स्थिति के उस विश्लेषण से किया जा सकता है जो विशुद्ध रूप से परिगणन पर आधारित हो। देखा जाता है कि प्राथमिक कदम पर शिक्षा-प्रसार का काम रुकता है, क्योंकि ऐसे स्कूलों के लिए हमारे पास योग्य शिक्षकों की पर्याप्त संख्या का अभाव है। माध्यमिक स्तर पर जब हम इस स्थिति की जाँच करते हैं, तो पता चलता है कि स्कूल में भरती होनेवाले प्रत्येक सौ विद्यार्थियों के समूह से केवल पच्चीस ही हाई स्कूल सर्टिफिकेट परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं। अतः योग्यता पर आँच नहीं आने देते हुए प्राथमिक शिक्षा का प्रसार, माध्यमिक स्तर पर बरबादी की कमी के प्रश्न के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। मैट्रिक पास करनेवाले विद्यार्थियों की संख्या दूनी की जा सकती है, अगर आठवें वर्ग में दाखिल होनेवाले विद्यार्थियों की संख्या दूनी कर दी जाय। परन्तु यह तब तक सम्भव नहीं जब तक प्राथमिक वर्गों में विद्यार्थियों की संख्या दूनी नहीं हो जाती। चूँकि प्राथमिक वर्गों में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ाई नहीं जा सकती है, इसलिए हमें मैट्रिक पास विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि करने के लिए अन्य उपायों का आश्रय लेना पड़ेगा जिससे कि प्राथमिक स्कूलों में काम करने के लिए यथेष्ट संख्या में योग्य शिक्षक प्राप्त हो सकें। यह तभी सम्भव है जब हम माध्यमिक स्तर पर शिक्षण-कार्य को कौशल-पूर्ण बनायें और निरीक्षण की व्यवस्था पर कड़ी दृष्टि रखें जिसमें पच्चीस प्रतिशत सर्टिफिकेट परीक्षा पास करनेवाले विद्यार्थियों की जगह पर पचास प्रतिशत पास करनेवाले विद्यार्थी हो जायँ। बिलकुल यही कार्य हम लोग माध्यमिक स्कूलों में करने का प्रयत्न कर रहे हैं। ठीक यही दशा विश्वविद्यालय शिक्षा के स्तर पर भी लागू होती है, क्योंकि प्राथमिक स्कूलों के संबंध में जो अवस्था माध्यमिक स्कूलों की है ठीक वही अवस्था स्कूलों के संबंध में कॉलेजों की भी।

प्राथमिक शिक्षा

द्वितीय योजना के प्रारम्भ में हमारे यहाँ चौदह हजार तीन प्राथमिक स्कूल, बाईस हजार सात सौ छिहत्तर शिक्षक और छः लाख नवासी हजार नौ सौ उन्यासी विद्यार्थी पहली से पाँचवीं कक्षाओं में थे। इस योजना की अवधि में हमने पाँच सौ नये स्कूल प्रत्येक वर्ष खोलने और एक हजार शिक्षकों को नियुक्त करने का प्रस्ताव रक्खा था। किन्तु प्रसार की यह गति असन्तोषजनक पाई गई है, इसलिए हम लोगों ने १९५८-५९ वर्ष के भीतर २००० शिक्षकों को नियुक्त किया है और शेष दो वर्षों की अवधि में और भी अधिक शिक्षकों को नियुक्त करने की संभावना है। विधान की पैंतालीसवीं धारा में यह बात रक्खी गई थी कि द्वितीय योजना की अवधि के अन्त तक चौदह वर्ष की आयु तक वाले सभी बच्चों को अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा दी जायेगी। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इस उद्देश्य तक पहुँचना असंभव है, क्योंकि हमारे पास इतनी थोड़ी अवधि के भीतर इस लक्ष्य-सिद्धि के लिए न तो साधन ही हैं, न व्यक्ति ही। इसलिए प्लानिंग कमीशन ने इसमें सुधार किया है और अब हमारा लक्ष्य तृतीय योजना की अवधि में ६ से ११ वर्ष तक की आयुवाले विद्यार्थियों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा दे देना है। जब हम इस रूपान्तरित

लक्ष्य को पूरा करने के लिए रुपयों और प्रशिक्षित व्यक्तियों की गणना करते हैं, तब पता चलता है कि यह भी भारत के लिए एक कठिन कार्य है। यह ध्यान में रखते हुए कि शिक्षा के क्षेत्र में तुलनात्मक दृष्टि से ओड़िशा पिछड़ा हुआ है, यह समस्या तब इस प्रदेश के लिए और भी कठिन हो जाती है। फिर भी हम लोग योजनाएँ तैयार करते हैं कि दूसरी योजना की अवधि के अन्त तक लगभग पचपन प्रतिशत ६ से ११ वर्ष तक की आयुवाले विद्यार्थी स्कूलों में आ जायँ। नीचे दिये हुए कोष्ठक से इस बात का पता चलेगा कि दूसरी योजना की अवधि में हमने इस दिशा की ओर कितनी प्रगति की है।

क्रमसंख्या	कार्य	१९५५-५६ की स्थिति	१९५६-५७ तक प्राप्त सफलता	१९५७-५८ तक प्राप्त सफलता	१९५८-५९ की संभावित सफलता
१	२	३	४	५	६
१.	प्राथमिक स्कूलों की संख्या	१४,००३	१४,७२९	१५,३५७	१६,८५७
२.	प्राथमिक शिक्षकों की संख्या	२२,७७६	२३,११५	२५,१९९	२७,१९९
३.	एक से पाँचवें वर्गों में विद्यार्थियों की संख्या	६,८९,९७९	७,१९,८५१	७,५५,८९३	८,१५,८९३

६ से ११ वर्ष की आयुवाले बच्चों की संख्या इस राज्य में तृतीय योजना की अवधि के अन्त तक बीस लाख के लगभग हो जाने की संभावना है और अगर हम अपनी रफ्तार तेज करें, तभी इस अवधि तक ९० प्रतिशत बच्चे स्कूलों में दाखिल हो सकते हैं। इस उद्देश्य तक पहुँचने में हमारे सामने निम्नलिखित बड़ी कठिनाइयाँ हैं—

(१) इस समय स्कूलों में ६ से ११ वर्ष की आयुवाली केवल २२ प्रतिशत ही लड़कियाँ हैं, इसलिए हम लोगों को कोई विशेष योजना तैयार करनी पड़ेगी जिसमें ७८ प्रतिशत और अधिक आ जायें।

(२) जनता की आर्थिक स्थिति ऐसी शोचनीय है कि बहुत से अभिभावक अपने बच्चों को प्राथमिक आवश्यकताओं के अभाव में स्कूल नहीं भेज सकते हैं। इस कठिनाई का सामना करने के लिए विशेष योजनाओं पर विचार किया जा रहा है।

(३) स्कूलों के समीप होने पर भी कुछ सामाजिक स्थितियाँ ऐसी हैं जो माँ-बाप को इस राह पर बढ़ने से रोक सकती हैं। आशा की जाती है कि लोक-विकास विभाग (Community Development Department) में काम करनेवाले ग्रामसेवकों और सामाजिक शिक्षा-संगठन-कर्त्ताओं के सुव्यवस्थित प्रचार से यह कठिनाई बहुत दूर तक हट सकती है।

(४) कुछ ऐसे दूरस्थ गाँव हैं जिनकी जनसंख्या कम है और साथ ही जो मानव-सम्पर्क से दूर भी हैं। ऐसे इलाकों में स्कूल खोलना अथवा शिक्षकों को भेजना बड़ा कठिन है।

(५) ओड़िशा की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा अंश आदिवासियों का है। इनको समझाना और यह विश्वास दिलाना कि उनके लिए शिक्षा उपयोगी होगी, बड़ा दुष्कर कार्य है।

(६) देखा जाता है कि स्त्री-शिक्षिकाओं की नियुक्ति जब प्राथमिक स्कूलों में होती है, तब विद्यार्थियों की संख्या शीघ्र ही बढ़ जाती है। परन्तु इस राज्य में स्त्री-शिक्षिकाओं का मिलना कठिन है और अगर वे मिल भी जाती हैं, तो उन्हें प्राथमिक स्कूलों में शिक्षण करने के लिए भेजना कठिन है। इस कठिनाई को भी सुलझाने के लिए योजनाएँ बन रही हैं।

भारत की सरकार ने यह दृढ़ संकल्प किया है कि ६ से ११ वर्ष की आयुवाले बच्चों को अनिवार्य रूप से शिक्षित किया जाये और इसके लिए नियम भी बन रहा है; किन्तु अनिवार्य शिक्षा के लिए यदि नियम बन भी जाय, तो नियम का लागू होना तब तक असंभव हो जायेगा जब तक बच्चों की अधिकांश संख्या स्वतः स्कूल में दाखिल न हो। एक उदाहरण लीजिए—यदि किसी इलाके के तीस प्रतिशत ही विद्यार्थी स्कूलों में आ रहे हैं, तो किसी भी प्रशासन के लिए ७० प्रतिशत शेष विद्यार्थियों को स्कूल में आने के लिए दबाव डालना कठिन हो जायेगा अथवा उन्हें लाने के लिए दण्डीय उपाय भी काम में नहीं लाये जा सकते। अतः यह आवश्यक है कि नियम की आजमाइश होने के पहले समझा-बुझा कर कम से कम पचहत्तर प्रतिशत बच्चों को लाने का पहले-पहल उपाय किया जाय।

माध्यमिक शिक्षा

नीचे दिये गये कोष्ठक से पता चलेगा कि मिडिल और हाई स्कूलों में छात्रों की संख्या द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में क्या थी और गत तीन वर्षों में कितनी प्रगति हुई—

क्रमसंख्या	कार्य	१९५५-५६ की स्थिति	१९५६-५७ तक प्राप्त सफलता	१९५७-५८ तक प्राप्त सफलता	१९५८-५९ की संभावित सफलता
१	२	३	४	५	६
१.	हाई स्कूल (हाई स्कूल सर्टिफिकेट परीक्षा के लिए स्वीकृत)	२२८	२३४	२५०	२५९
२.	विद्यार्थियों की संख्या	३६,१४२	३९,८०७	४५,२९१	५३,०००
३.	मिडिल स्कूल	६७२	७०५	७५१	८००
४.	छठें और सातवें वर्गों में छात्र-संख्या	४१,३७६	४२,५५०	४९,०३५	५७,०००

नीचे दिये गये कोष्ठक में यह दिखाया गया है कि पहली योजना की अवधि के प्रारम्भ से हाई स्कूल सर्टिफिकेट परीक्षा में कितने विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए—

परीक्षा—१९५१—५२	५२—५३	५३—५४	५४—५५	५५—५६	५६—५७	५७—५८
मैट्रीकुलेशन ३०६४	३५५८	३८१६	४७३८	४५८२	५१७०	६५४५

ऊपर दिये गये कोष्ठक से यह स्पष्ट है कि प्रथम योजना की अवधि में माध्यमिक शिक्षा में जो उन्नति हुई वह विशेष उल्लेखनीय नहीं है। परन्तु गत तीन वर्षों में जो प्रगति हुई वह हमारे विश्वास को दृढ़ करती है और यह आशा की जाती है कि द्वितीय योजना की अवधि के भीतर हमारी प्रगति की रफ्तार तेज रहेगी। नीचे दिया गया कोष्ठक इस बात की सूचना देगा कि भिन्न-भिन्न जिलों में कितने हाई और मिडिल स्कूल हैं, जिलों की जनसंख्या कितनी है और १९५७-५८ साल के भीतर हर जिले में कितनी आबादी पर एक-एक स्कूल खोला गया।

१	२	३	४	५	६	७
क्रम-संख्या	जिला	जनसंख्या	हाई स्कूलों की संख्या (अब तक अस्वीकृत स्कूलों को मिलाकर)	प्रत्येक हाई स्कूल द्वारा सेवित जनसंख्या	मिडिल स्कूलों की संख्या	प्रत्येक मिडिल स्कूल द्वारा सेवित जनसंख्या
१.	बालासौर	११,०६,०१२	३९	२८,३५९	८३	१३,३२५
२.	बलांगीर	९,१७,८७५	८	१,१४,७३४	२३	३९,९०८
३.	कटक	२८,२९,१४४	९०	२८,१०२	१८६	१५,२१०
४.	ढेंकानाल	८,३९,२४१	१७	४९,३६७	६२	१३,५३६
५.	गंजाम	१६,२४,८२९	४३	३७,७८७	६३	२५,७९१
६.	कालाहांडी	८,५८,७८१	४	२१४,६९५	१५	५७,२५२
७.	क्योंझार	५,८८,४४१	७	८४,०६३	३३	१७,८३२
८.	कोरापुट	१२,६९,५३४	८	१,५८,६९२	१६	७९,३४५
९.	मयूरभंज	१०,२८,८२५	१४	७३,४८७	५४	१९,०५२
१०.	फुलवाणी	४,५६,८९५	३	१,५२,२९८	२०	२२,८४५
११.	पुरी	१५,७२,२६२	३९	४०,३१४	९४	१६,७२६
१२.	सम्बलपुर	१३,०१,८०४	२०	६५,०९०	६४	२०,३४१
१३.	सुन्दरगढ़	५,५२,२०३	१२	४६,०१७	३८	१४,५३२
	ओड़िशा	१,४६,४५,९४६	३०४	४८,१७७	७५१	१९,५०२

इससे पता चलता है कि जहाँ एक ओर कुछ जिलों में स्कूलों की संख्या अधिक है, वहाँ दूसरी ओर दूसरे जिलों में बहुत ही कम। संपूर्ण राज्य में शिक्षा की समान प्रगति के लिए यह

उत्कल में शिक्षा की प्रगति

(बगल में) उत्कल विश्वविद्यालय, कटक

(नीचे बायीं ओर) रेवेन्सा कालेज के भीतरी हिस्सेकी एक झाँकी

(नीचे दायीं ओर) रेवेन्सा कालेज, कटक
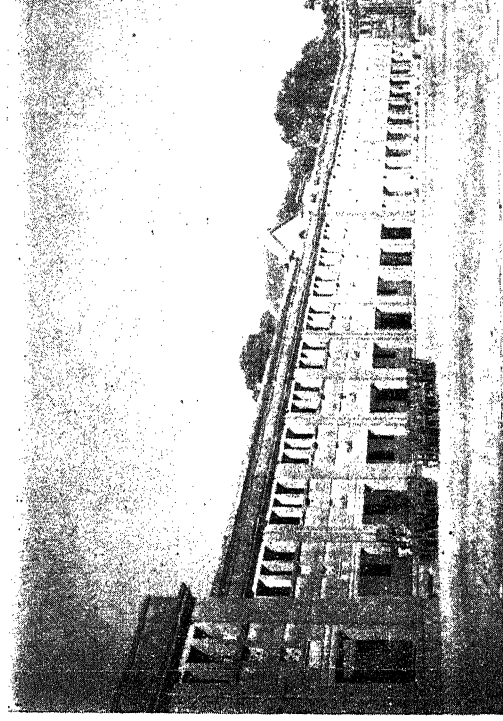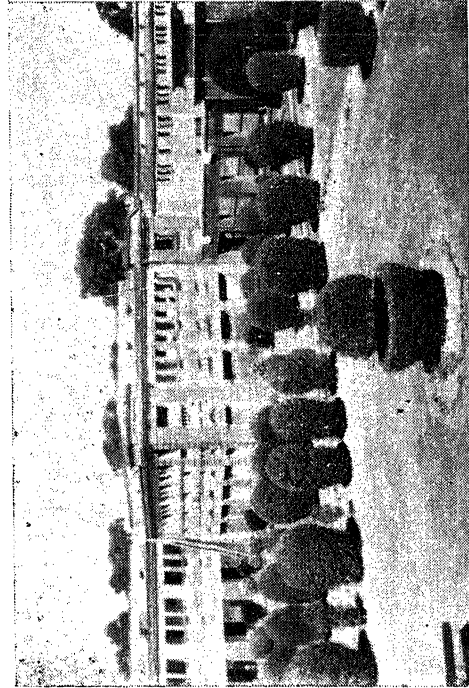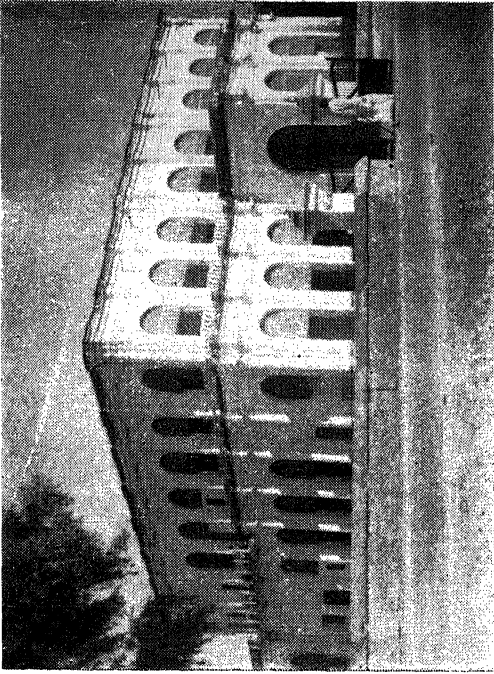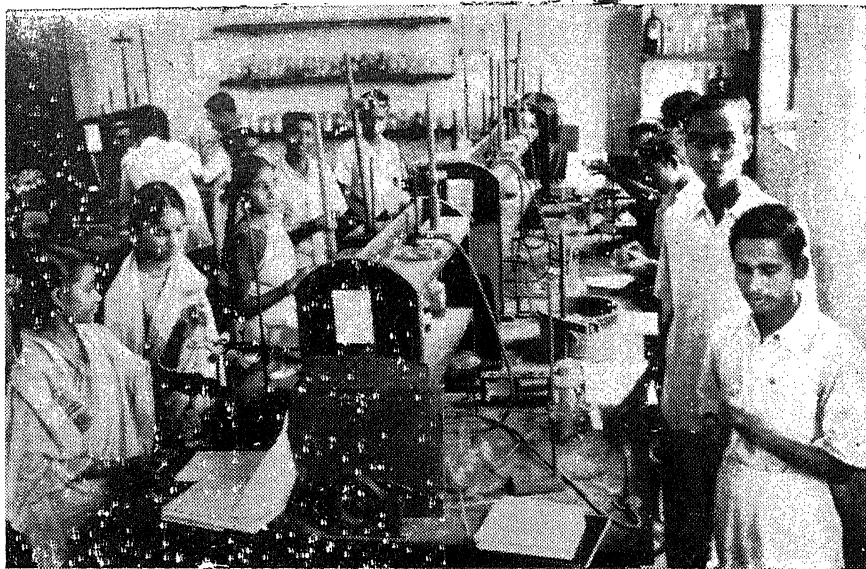
छात्र-छात्राएँ रसायन प्रयोगशाला में, गङ्गाधर मेहेर कालेज, सम्बलपुर

विज्ञान शिक्षा ब्लाक, भद्रक कालेज

केन्दुझर कालेज भवन
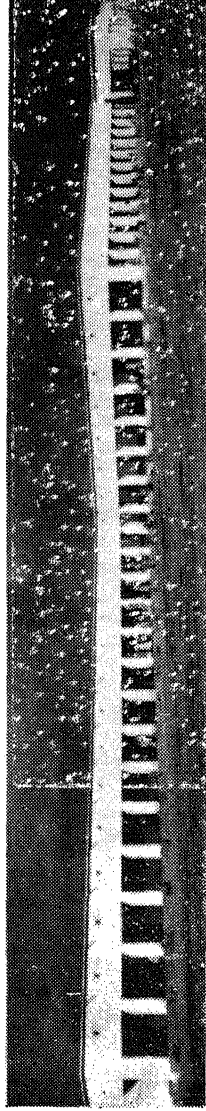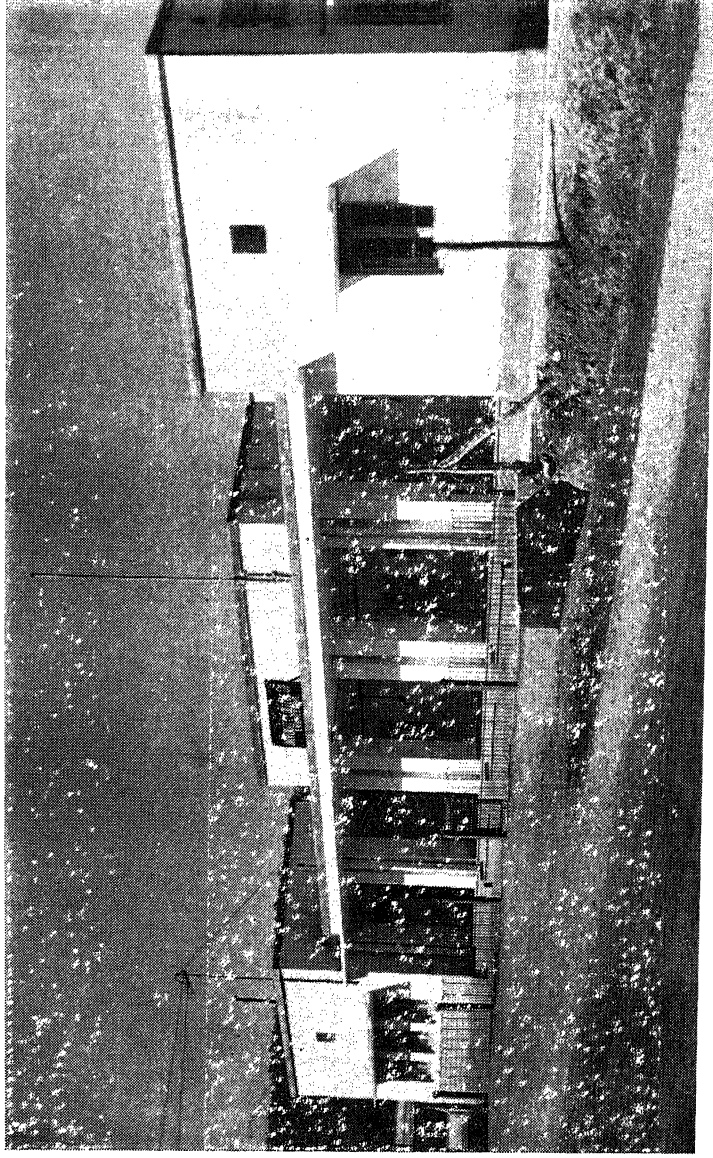
इञ्जिनीयरिङ्ग कालेज, बुर्ला का एक दृश्य

उत्कल में शिक्षा की प्रगति
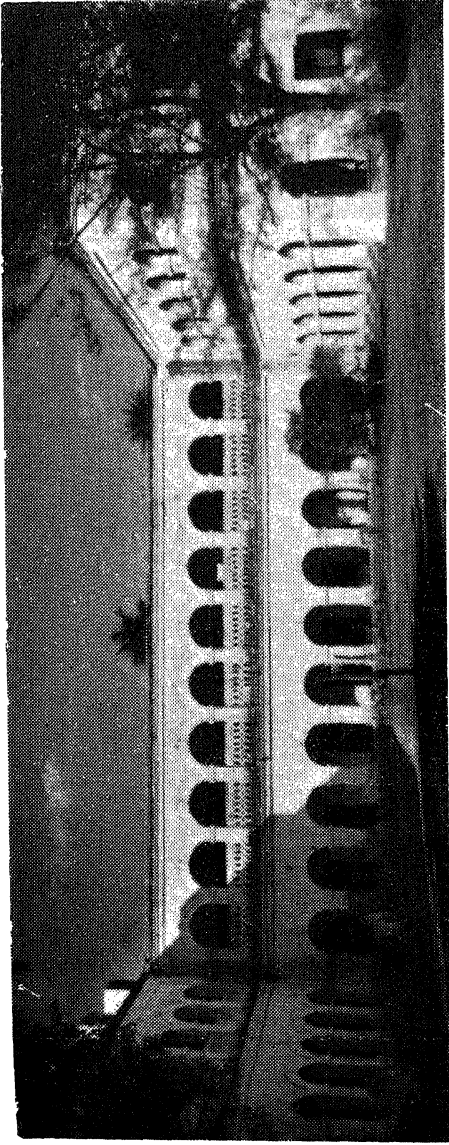
(ऊपर) शैलबाला महिला कालेज, कटक (नीचे) रेवेन्सा कालेजियट बहुमुखी हायर सेकण्डरी स्कूल कटक
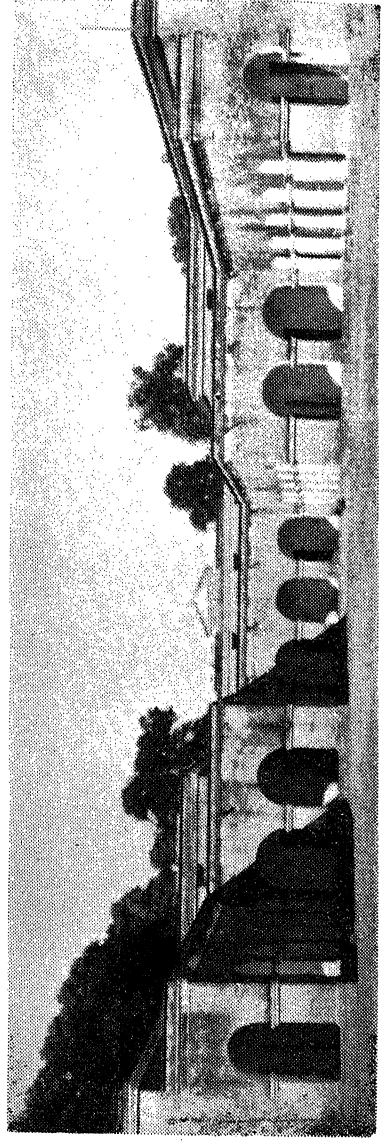
बुनियादी ट्रेनिंग कालेज, अनगुल
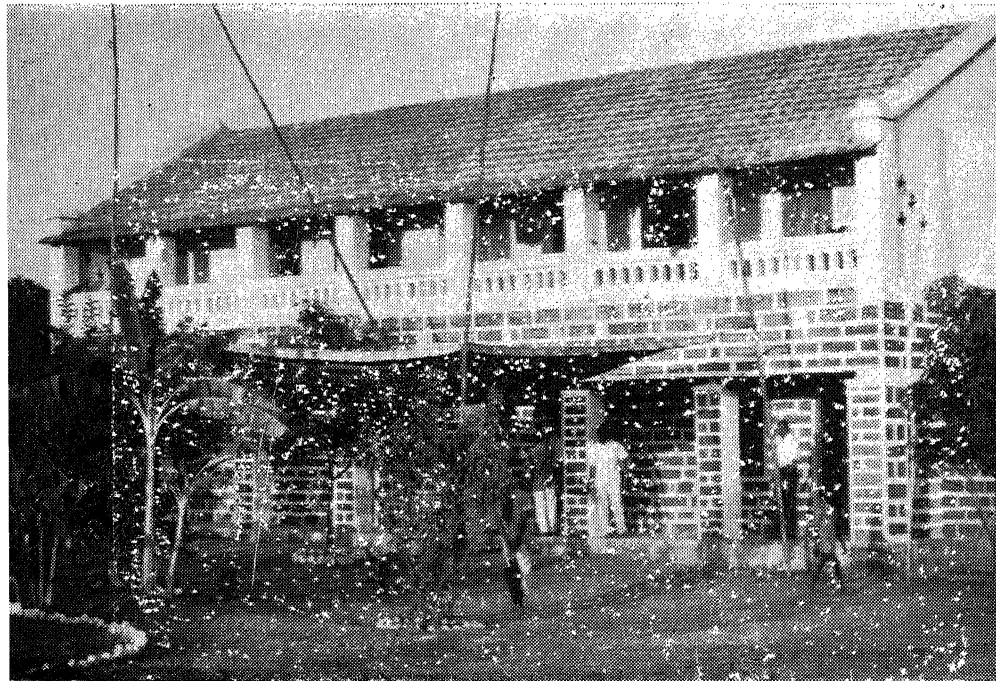
गोवरघाटी आश्रम स्कूल
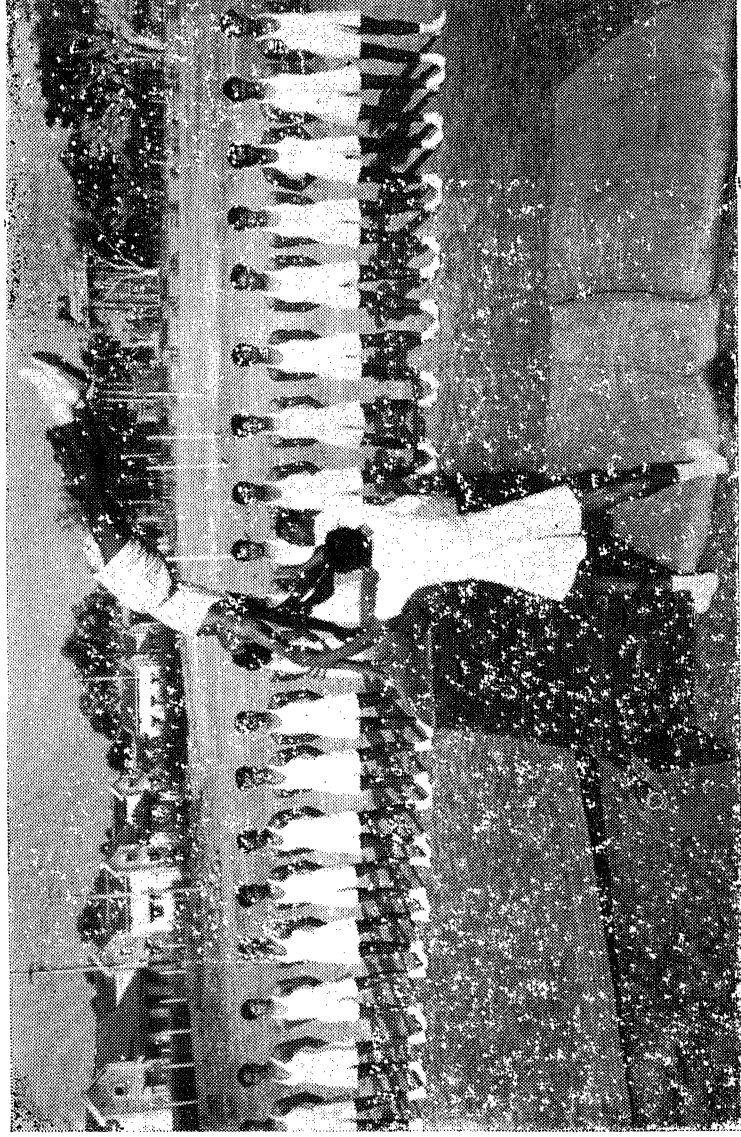
अभ्यास रत छात्र—शारीरिक शिक्षा तालीम कालेज, कटक

उत्कल में शिक्षा की प्रगति
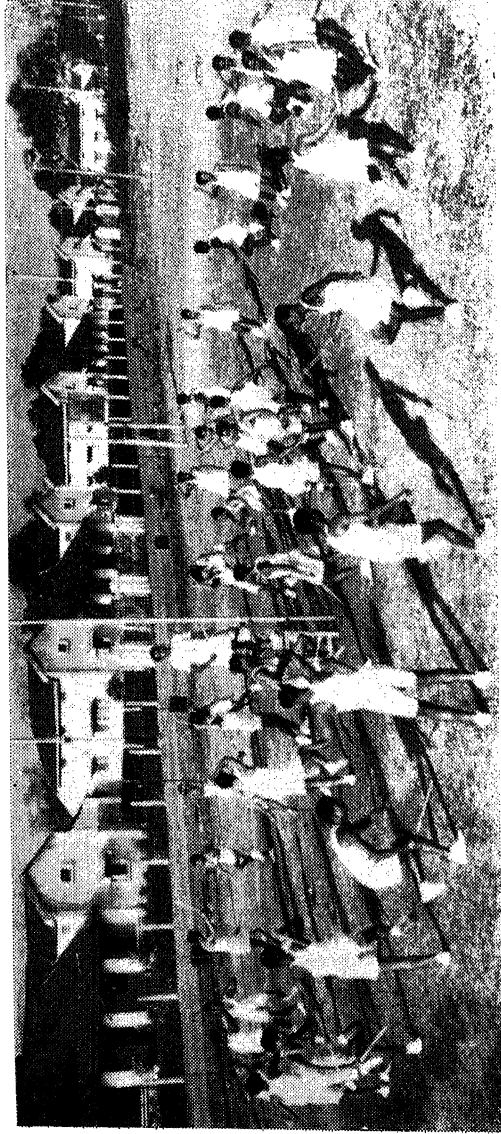
अभ्यास रत छात्रों का और एक दृश्य
शारीरिक शिक्षा तालीम कालेज, कटक

रेवेन्सा बालिका विद्यालय को छात्राएं
शारीरिक शिक्षा का अभ्यास
कर रही हैं
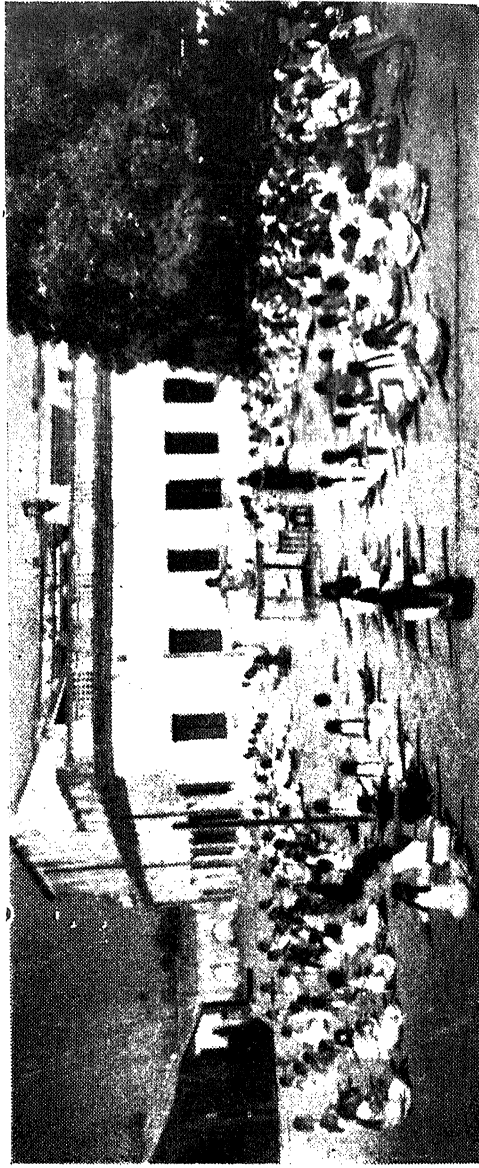
आवश्यक है कि पिछड़े जिलों में शिक्षा की गति को बढ़ाने के लिए कुछ रास्ते ढूँढ़े जायँ। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विशेष योजनाएँ बनाई जा रही हैं। शिक्षा को उपादेय बनाने के लिए यह नितांत आवश्यक है कि माध्यमिक स्तर पर योग्य विद्यार्थी रक्खे जायँ। सामान्यतः शिक्षा-शास्त्रियों और विशेषतः मुदालियर कमीशन ने इस बात पर विशेष जोर दिया है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बहुत से रास्ते हैं, किन्तु सभी उपाय निष्फल होंगे अगर शिक्षक में वांछित योग्यता न हो। यह ठीक ही कहा गया है कि एक हाई स्कूल में, जिसके वर्गों में अनुभाग नहीं हैं, कम से कम चार ग्रेजुएट रखने चाहिए। ग्रेजुएटों की संख्या उसी अनुपात से बढ़ेगी, जिस अनुपात से वर्गों के अनुभाग बढ़ते जायेंगे। हमारे राज्य में ग्रेजुएट शिक्षकों की संख्या इससे भी बहुत नीची है। इस राज्य के डिग्री परीक्षा पास करनेवाले विद्यार्थियों की संख्या कम है और स्कूलों में शिक्षण का काम करने के लिए तैयार ग्रेजुएटों की संख्या वास्तव में और भी कम है और यही वह अवरोध है जो हमें योग्यता की उन्नति करने अथवा संख्या की वृद्धि करने में बाधा उपस्थित करता है। विश्लेषण से पता चलता है कि सर्वोत्तम फल-प्राप्ति हो सकती है, यदि शिक्षण-कार्य स्वीकार करने वाले थोड़े से प्राप्त ग्रेजुएटों को बुद्धिमत्तापूर्वक स्थापित स्कूलों में नियुक्त किया जाय, ताकि माध्यमिक शिक्षा का लाभ विद्यार्थियों की अधिक से अधिक संख्या प्राप्त कर सके। वर्तमान स्थिति में यदि हमारे पास स्कूलों की संख्या अधिक हो और विद्यार्थियों तथा ग्रेजुएट शिक्षकों की क्रमशः न्यून एवं न्यूनतर हो, तो यही कहा जा सकता है कि थोड़े से उपलब्ध ग्रेजुएट शिक्षकों का हम अनुचित उपयोग कर रहे हैं।

हाई स्कूलों को उच्चतर हाई स्कूलों की श्रेणी में बदल डालने की मुदालियर कमीशन की सिफारिश केवल भारतीय सरकार द्वारा ही नहीं, अपितु राज्य-सरकारों द्वारा भी स्वीकृत की गई है। उच्चतर माध्यमिक स्कूल को बहुधन्धीय स्कूल इसलिए होना पड़ेगा कि वह जाति की सेवा उचित रूप से कर सके। बहुधन्धीय उच्चतर (Multipurpose) माध्यमिक स्कूलों के लिए यह आवश्यक है कि उच्च वर्गों में से प्रत्येक में कम से कम दो-दो अनुभाग हों। यदि चालीस विद्यार्थियों का एक अनुभाग हो और भिन्न-भिन्न श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिए यदि इसे दो अथवा तीन अनुभागों में बाँट दिया जाय, तो हमें चालीस विद्यार्थियों के लिए एक शिक्षक के बदले दो अथवा तीन शिक्षकों की आवश्यकता होगी और तब माध्यमिक शिक्षा अधिक व्ययवाली हो जायगी जो किसी भी राज्य के लिए असुविधाजनक है। इसीलिए इस तरह की योजना बनाने की आवश्यकता है कि उच्च वर्गों में कम से कम दो अनुभागवाले माध्यमिक स्कूल रहें।

माध्यमिक शिक्षा की योग्यता को उन्नत करने के लिए जितनी योजनाएँ बनाई जा रही हैं, उनकी सूची नीचे दी जा रही है—

१—हाई स्कूलों को बहुधन्धीय स्कूलों (Multipurpose) में बदल डालना।

२—हाई स्कूल में प्रशिक्षित आई० ए० की जगह पर प्रशिक्षित बी० ए० को रखना।

३—हाई स्कूलों में जहाँ तीन उच्च वर्गों में से प्रत्येक में से विद्यार्थियों की संख्या चालीस से अधिक हो, एक अधिक प्रशिक्षित ग्रेजुएट को नियुक्त करना।

४—हाई स्कूलों में हस्तशिल्प (Crafts) का प्रवेश कराना।

५—वर्तमान हाई स्कूलों और पोस्ट बेसिक स्कूलों की उन्नति। भवन-निर्माण, विज्ञान-शिक्षण और पुस्तकालय के लिए ग्राण्ट देना।

६—माध्यमिक स्कूल के शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करने के लिए राधानाथ ट्रेनिंग कालेज में एक्सटेन्शन सर्विस डिपार्टमेंट का खोलना।

७—शिक्षकों के लिए भिन्न-भिन्न तरह के सेमिनार का गठन करना।

८—प्रत्येक विषय के निष्णात व्यक्तियों को नियुक्त करना ताकि वे स्कूलों में भ्रमण कर वहाँ के कमजोर विषयों की त्रुटि दूर कर सकें।

आशा की जाती है कि जब ये सभी योजनाएँ कार्य करने लग जायँगी, तो योग्यता की रक्षा करते हुए माध्यमिक शिक्षा का प्रसारण द्रुत गति से करना संभव होगा।

विश्वविद्यालय की शिक्षा

जिस समय बिहार और ओड़िशा के पुराने प्रान्त से ओड़िशा राज्य अलग किया गया, उस समय हमारे यहाँ कला और विज्ञान-विभाग के केवल तीन आर्ट्स और साइंस कालेज थे जिनमें विद्यार्थियों की संख्या एक हजार के लगभग थी। इस समय हमारे यहाँ आर्ट्स, साइंस और कामर्स के उन्नीस कालेज हैं। नीचे दिया हुआ कोष्ठक इस बात को स्पष्ट करेगा कि गत कुछ वर्षों में उन कालेजों में विद्यार्थियों की संख्या किस प्रकार बढ़ी।

कालेजों में विद्यार्थियों की स्थान संख्या

स्तर	१९५५–५६	१९५६–५७	१९५७–५८	१९५८–५९	१९५९–६० (प्रस्तावित)
१	२	३	४	५	६
आई० ए०	१,५६८	१,५६८	१,६१६	१,८२४	२,०४८
आई० एस्-सी०	९४४	१,०७२	१,३९२	१,६००	१,८२४
आई० कॉम्०	६४	८०	११२	१७६	१७६
योग	२,५७६	२,७२०	३,१२०	३,६००	४,०४८
बी० ए०	८८०	८८०	८८०	९२८	९२८
बी० एस्-सी०	२०८	२४०	२८८	३०४	३५२
बी० कॉम०	९६	९६	९६	९६	९६
योग	१,१८४	१,२१६	१,२६४	१,३२८	१,३७६

				(संभावित)
प्रथम वर्ष	२,१३३	२,३६५	२,७१९	
द्वितीय वर्ष	१,६४५	१,८१७	२,०४०	
तृतीय वर्ष	७२१	८४३	९१८	
चतुर्थ वर्ष	६१३	६५१	७७१	
योग	५,११२	५,६७६	६,३४८	

ऑल इंडिया स्टैण्डर्ड के अनुसार हमारे पास वास्तव में ३० हजार ऐसे विद्यार्थियों की संख्या होनी चाहिए थी जिन्होंने बी० ए० पास नहीं किया है और वृद्धि की वर्तमान गति को देख कर ऐसी आशा की जाती है कि अगले कुछ वर्षों में यह उद्देश्य पूरा हो जायगा। द्वितीय योजना के प्रारम्भ में हमने योजना बनाई थी कि द्वितीय योजना की अवधि की समाप्ति तक आठ सौ आई० एस्-सी० के विद्यार्थी हो जायँगे। लेकिन इसी वर्ष यह संख्या सात सौ साठ हो गई है और योजना की अवधि के अन्त तक यह बढ़ कर एक हजार हो जायगी। नीचे दिया हुआ कोष्ठक इस बात की सूचना देगा कि कुछ वर्षों के भीतर आई० ए०, आई० एस्-सी०, बी० ए० और बी० एस्-सी० की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होनेवाले विद्यार्थियों की संख्या में कैसी वृद्धि रही।

परीक्षाएँ	१९५३–५४	१९५४–५५	१९५५–५६	१९५६–५७	१९५७–५८
१	२	३	४	५	६
आई० ए०	५३६	५३३	६१९	७११	८९०
आई० एस्-सी०	४८८	४८१	५५३	६२९	७५६
बी० ए० (पास और आनर्स)	३८६	५२८	४२०	३६७	५७५
बी० एस्-सी० (पास और आनर्स)	१५०	१९७	१२२	१५५	१९१
बी० कॉम०	२४	३८	४३	६८	७८

आशा की जाती है कि आगामी कुछ वर्षों में प्रगति का यह क्रम और भी तेज होगा।

उत्कल विश्वविद्यालय का प्रारम्भ १९४३ ई० में हुआ; लेकिन अभी पिछले कुछ वर्षों तक यह प्रायः स्वतंत्र विश्वविद्यालय की स्थिति में काम नहीं कर रहा था। अब इसने शरीर-रचना-शास्त्र (Anthropology), परिगणन-शास्त्र (Statistics), मनोविज्ञानशास्त्र (Psychology), भूगर्भ शास्त्र (Yeology), दर्शनशास्त्र (Philosophy) और संस्कृत का शिक्षण एम० ए० वर्गों में प्रारम्भ किया है; साथ ही इसका ध्यान एल्-एल० बी० की डिग्री और परिगणनशास्त्र के डिप्लोमा के लिए शिक्षण वर्ग की व्यवस्था की ओर भी रहा है। इसने फ्रेंच और जर्मन विदेशी भाषाओं के शिक्षण की भी व्यवस्था की है। अब यह निश्चित हुआ है कि

एम० ए० वर्ग के शिक्षण की व्यवस्था विश्वविद्यालय ही करेगा और इसका क्षेत्र भुवनेश्वर में स्थापित होगा। विश्वविद्यालय भवन (जिसमें आर्ट्स ब्लॉक, साइंस ब्लॉक, सिनेट हॉल, प्रशासक ब्लॉक, छात्रावास और स्टाफ के लिए क्वार्टर्स भी होंगे) की योजनाएँ तैयार हो चुकी हैं और आर्ट्स ब्लॉक का निर्माण भी प्रारम्भ हो गया है। आशा की जाती है कि अपने एम० ए० वर्गों के साथ यह विश्वविद्यालय १९६० से अपने निजी क्षेत्र में कार्य प्रारम्भ कर देगा। गत कुछ वर्षों के भीतर कृषि, इंजीनियरिंग, मेडिसिन, कॉमर्स और वेटरिनेरी का शिक्षण भी संलग्न किया गया है। उत्कल विश्वविद्यालय की अपनी देखरेख में बुरला में एक इंजीनियरिंग कॉलेज प्रारम्भ किया गया है और आशा है कि दूसरा इस तरह का कॉलेज भी शीघ्र स्थापित होगा। पिछले कुछ वर्षों के भीतर कटक मेडिकल कॉलेज की स्वीकृति इंडियन मेडिकल कौंसिल ने दी है और चूँकि अपनी आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए डॉक्टरों की संख्या कम जान पड़ती है, इसलिए द्वितीय योजना की अवधि के भीतर एक दूसरे मेडिकल कॉलेज के खोलने का भी प्रस्ताव है। भुवनेश्वर का कृषि कॉलेज और कटक का वेटरीन कॉलेज दोनों गत चार वर्षों के भीतर स्थापित हुए हैं। आशा की जाती है कि शीघ्र ही ये सुस्थापित संस्थाएँ हो जायँगी।

बेसिक शिक्षा

ओड़िशा उन गिने हुए राज्यों में से एक है जहाँ बेसिक शिक्षा का प्रयोग बड़े पैमाने पर किया गया है। लेकिन यह देखा गया है कि इस शिक्षा की प्राथमिक अवस्था में प्रति व्यक्ति पर जो व्यय होता है, वह प्रचलित शिक्षा की उसी अवस्था में प्रति व्यक्ति-व्यय से दुगुना है। साथ ही यह सन्देहजनक है कि इसका करिक्युलर प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के करिक्युलर के समान ही है। जो भी हो, यह बात स्पष्ट है कि सभी प्राइमरी स्कूलों को अति शीघ्र बेसिक स्कूलों में बदल डालना असम्भव है। चूँकि इसके साथ साथ यह भी अनिवार्य है कि सबके लिए एक तरह की शिक्षा-प्रणाली होनी चाहिए, इसलिए ऐसा सोचा जाता है कि प्राइमरी स्कूलों और बेसिक स्कूलों के लिए एक तरह का सिलेबस रक्खा जाय। हाँ, यह अवश्य रहे कि उसमें बेसिक शिक्षा की अधिकांश बातें हों ताकि विद्यार्थी केवल मौलिक विषयों के ही अध्ययन में न पड़ा रह जाय वरन् अपने शरीर का उपयोग करना सीखे, स्वावलम्बी बनना सीखे और सामने आई परिस्थिति का सामना करना भी सीखे। बेसिक शिक्षा-प्रणाली के अनुरूप सभी प्राइमरी स्कूलों का पुनर्गठन, उनके सिलेबस में किसी तरह का परिवर्तन किये बिना, करना हमारा इस समय उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए योजनाएँ तैयार हैं और शीघ्र कार्यशील हो जायँगी। कुछ स्थानों में पोस्ट बेसिक स्कूलों पर भी प्रयोग चल रहा है और आशा की जाती है कि इसमें सफलता मिलेगी तथा ये पोस्ट बेसिक स्कूल एक तरह के उच्चतर माध्यमिक स्कूल ही होंगे जहाँ से उतने ही योग्य विद्यार्थी निकलेंगे जितने अन्य दूसरे स्कूलों से।

●

विकासोन्मुख उत्कल : इसका वर्तमान और भविष्य

श्री सुधीरचंद्र घोष

किसी भी देश के वर्तमान और भविष्य की विवेचना करने के लिए उसके इतिहास और भूगोल का ठीक-ठीक परिचय रखना आवश्यक है। भूगोल का प्रभाव भी इतिहास पर विशेष रूप से पड़ता है। यही कारण है कि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में एक साधारण द्वीप होते हुए भी इँगलैण्ड ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर ली थी। आज यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि यदि इँगलैण्ड यूरोप के पश्चिम में न होकर जर्मनी की तरह यूरोपीय भूभाग के बीच में होता तो जर्मनी की जो वर्तमान दशा है, उससे कुछ भिन्न दशा इँगलैण्ड की न होती। अमेरिका यदि पुराने भूभाग से प्रशान्त और अटलांटिक दो महासागरों द्वारा अलग-अलग न हुआ होता तो उसका भी कोई स्वतंत्र इतिहास न होता।

उत्कल के इतिहास पर भूगोल का प्रभाव सुस्पष्ट है। यह राज्य आर्यावर्त और दक्षिणापथ के बीच द्वार-देश के रूप में स्थित है। भारत के आदिम युग से चली आती हुई उत्तरी और दक्षिणी सभ्यताओं की धाराओं का संगम-क्षेत्र उत्कल सदा से रहा है। इन दोनों सभ्यताओं के मेल से इसमें एक विराट् समन्वय की उत्पत्ति हुई थी। इसने सिंधुदेश की पश्चिमी सीमा से ब्रह्मपुत्र की पूर्वी सीमा तक तथा उत्तर में हिमालय-शिखर के बदरिकाश्रम से दक्षिण में कन्याकुमारी तक एक विराट् एकता की स्थापना में मूलाधार का काम किया था।

तत्पश्चात् यह एकीभूत भाव-धारा ही अजेय भारतीय एकता में परिणत हुई थी। मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि नाना सभ्यताएँ पिछले हजार वर्षों में भारत की पवित्र भूमि में प्रविष्ट होती रही हैं। गत सात सौ वर्षों से इस देश को मुसलमान और ईसाई राज्यों में परिणत करने के लिए लगातार प्रयत्न होते रहे हैं। इस देश में मुसलमान और ईसाई शासन को स्थापित हुए सात सौ वर्ष व्यतीत हो गये हैं; किन्तु इससे भारत की मौलिक सभ्यता किसी प्रकार भी अशक्त नहीं हुई। इतना ही नहीं, इसके वैभव और विभूति में वृद्धि ही हुई है। कहना न होगा कि इस वृद्धि के मूल में उत्कल का यथेष्ट योग है।

जिस युग में यह समन्वय स्थापित हुआ था, ओड़िशा के उस युग का इतिहास गौरवपूर्ण है। अशोक जैसे दुर्दमनीय आक्रमणकारी सम्राट् को भी इसके सामने नतमस्तक होना पड़ा था, फलस्वरूप विश्व के इतिहास में एक नूतन युग का श्रीगणेश हुआ था। यह लगभग दो हजार साल पहले की बात है। इन हजार वर्षों में उत्तर और दक्षिण से अनेक राजशक्तियाँ विभिन्न सभ्यताओं के प्रतिनिधि-रूप में यहाँ राजत्व चलाने के लिए आईं और इस महासमन्वय में विलीन हो गईं।

उनकी कीर्तिमाला पुरी, भुवनेश्वर, कोणार्क आदि नाना स्थानों में फैली हुई है जो इतिहास के मूक साक्षी के रूप में एक गरिमामय अतीत की ओर संकेत कर रही है।

हजार वर्ष पहले ओड़िशा धन-धान्य से पूर्ण था। उत्कल के व्यापारी पोतों ने सुदूर पूर्व में व्यवसाय-वाणिज्य का विस्तार किया था। यही नहीं, बल्कि यहीं के लोगों ने ब्रह्मा, मलय, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि देशों में उपनिवेश भी स्थापित किये थे। उनकी कीर्ति-राशि के भग्नावशेष और उनके वंशज, आज भी उन सभी स्थानों में हैं। तत्कालीन ओड़िशा की समृद्धि इस राज्य में चारों तरफ फैले हुए भग्नावशेषों से समझी जा सकती है।

चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण से ओड़िशा का पतन प्रारम्भ हुआ। इसकी अवनति का सूत्रपात अनेक कारणों से हुआ था। उनमें राजनैतिक कारण प्रधान है। फिर भी अठारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में यहाँ के लोग सुख-स्वातंत्र्यपूर्वक जीवन-यापन करते थे। खेतों में अच्छी फसल होती थी। ग्राम्य-शिल्प से गाँवों की जनता को जीवनोपयोगी सामग्री मिल जाया करती थी। अभाव का क्षेत्र भयंकर और व्यापक न था। अतः खुशहाली की संभावनाएँ यथेष्ट थीं। ओड़िशा की चरम दुर्दशा का आरंभ उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में हुआ। सन् १८०३ में अंग्रेजों ने इस पर आंशिक अधिकार कर लिया और विदेशी व्यापारी का तुलादंड राजदंड में परिणत हो गया। इसके फलस्वरूप सौ वर्षों के भीतर ही ओड़िशा अभाव, तंगी, बाढ़, महामारी, दुर्भिक्ष आदि व्याधियों का क्रीड़ा-क्षेत्र बन गया।

अंग्रेजों ने शासन की सुविधा के लिए ओड़िशा को खंड-खंड कर डाला, फलतः उत्कल की इतिहास-प्रसिद्ध एकता छिन्न-भिन्न हो गई। इस राज्य को निःसहाय, निःसंबल, निरुद्यम तथा हतोत्साह अवस्था में छोड़ कर सन् १९४७ में वे यहाँ से सदा के लिए विदा हो गये। उस समय ओड़िशा में केवल छः जिले थे। जनसंख्या एक करोड़ से भी कम थी। राज्य की अर्थ-व्यवस्था ७५ लाख रुपयों में सीमित थी जिसमें से प्रायः २५ लाख रुपयों की राशि एक स्वतंत्र शासन-प्रणाली को चालू रखने के लिए केन्द्र के अंग्रेजी शासन का दया-दान ही थी। किंतु इसमें संदेह है कि इस दान का उद्देश्य पवित्र था।

विभिन्न पड़ोसी प्रदेशों के बीच ओड़िशा-भाषी अंचल को एक शासन के अधीन किया जाय, यह दावा प्रायः ५० वर्ष पूर्व पेश हुआ था। इस संबंध में निवेदन-आवेदन और सभा-समितियाँ बराबर होती रहीं। लेकिन ओड़िशा को एक पूर्णांग प्रदेश में परिणत करना होगा या सारे ओड़िया-भाषी अंचल को एक शासनाधीन करना होगा, इस संबंध में अर्द्ध-शताब्दी के लंबे अरसे तक, ब्रिटिश शासकों की तरफ से कोई सूचना नहीं मिली थी।

सन् १९२९ ई० में लंदन में गोलमेज बैठक आरंभ हुई। उसमें मुहम्मदअली जिन्ना ने १४ दफाओंवाली माँगें पेश कीं। इन १४ माँगों को ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वीकार कर लेने से सन् १९४७ ई० में पाकिस्तान की सृष्टि संभव हुई। जिन्ना की इन माँगों में, बम्बई प्रदेश से सिंध को अलग करके उसे एक स्वतंत्र मुसलमान-प्रधान प्रदेश में परिणत करना भी था। अंग्रेजों ने इस माँग को स्वीकार करने के साथ साथ यह भी अनुभव किया कि वे मुसलमानों के साथ खुले-

रघुनन्दन लाइब्रेरी, एमारमठ, पुरी
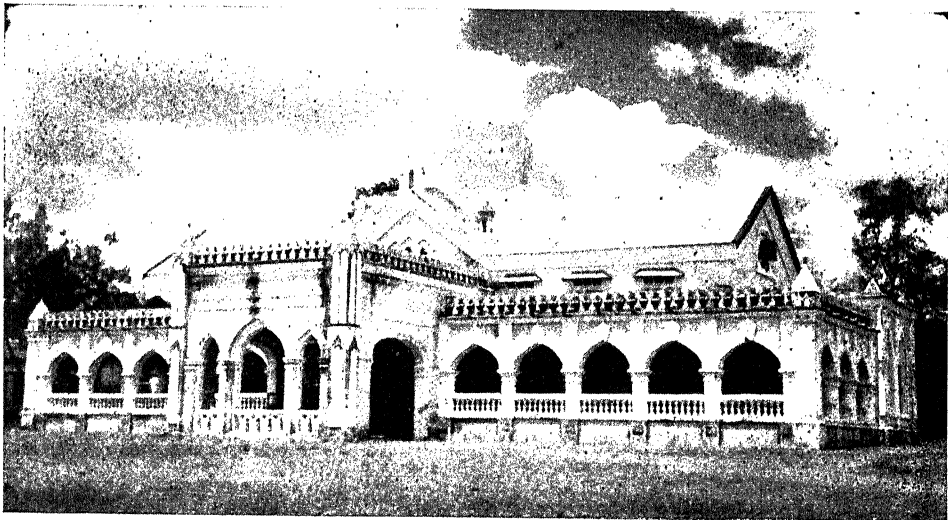
म्यूजियम तथा वाचनालय, बारिपदा

हवाईजहाज का अड्डा, भुवनेश्वर

सरकारी अतिथिशाला, नई राजधानी भुवनेश्वर

आम पक्षपात कर रहे हैं, जिसे लोग भाँप जायेंगे। फलतः समता की रक्षा के लिए एक हिन्दू-प्रधान प्रदेश की भी सृष्टि आवश्यक समझी गई।

उस समय ओड़िशा प्रान्त में मुसलमान केवल दो प्रतिशत थे, इसलिए इसको एक स्वतंत्र प्रदेश के रूप में गठित करने का निश्चय हुआ। प्रदेश बन जाने पर वह कैसे टिका रहेगा, इसकी व्यवस्था भी जरूरी थी। अतः दक्षिण के मद्रास प्रदेश से गंजाम और कोरापुट जिलों के कुछ भाग ओड़िशा के साथ मिलाकर इसे स्वतंत्र प्रदेश के रूप में गठित किया गया। इसके उत्तर-पश्चिम और दक्षिण में अनेक ओड़ियाभाषी अंचल छूट गये। इसके अतिरिक्त पश्चिमांचल की उन २६ रियासतों का शासन-संबंधी संपर्क जो ओड़िशा के साथ पूर्वकाल से चला आ रहा था, उसे नई व्यवस्था के अनुसार विच्छिन्न कर दिया गया।

इसी अवस्था में अंग्रेजों ने भारत छोड़ा। स्वाधीनता के बाद सबसे बड़ा काम जाति-निर्माण का होता है। इस ओर अग्रसर होते समय यह अनुभव किया गया कि पश्चिम की २६ रियासतों को मिलाये बिना ओड़िशा का कल्याण नहीं है। अगस्त से दिसंबर सन् १९४७ तक के पाँच महीनों में अनुभव किया गया कि इन देशी राज्यों के द्वारा ओड़िशा की उन्नति में सहायता तो कुछ मिलेगी नहीं बल्कि इनके द्वारा उसकी आइन-शृंखला हमेशा दुर्बल बनी रहेगी। यह सभी जानते हैं कि हीराकुद में जो विराट् जल-भंडार बना है उसके द्वारा ओड़िशा की आर्थिक उन्नति का शिलान्यास हुआ है। लेकिन सन् १९४७ ई० में जब हीराकुद बन रहा था उस समय संबलपुर अंचल के राजाओं ने इसके विरुद्ध आन्दोलन आरंभ किया था। इसके अतिरिक्त अन्यान्य कारणों से भी एक जनवरी सन् १९४८ को इन देशी राज्यों को ओड़िशा में मिला लिया गया। फलतः ओड़िशा का क्षेत्रफल लगभग दो गुना और जनसंख्या करीब ५० लाख बढ़ गई।

वर्तमान ओड़िशा राज्य का क्षेत्रफल ६,०१,३५९ वर्ग मील है और सन् १९५१ की जन-गणना के अनुसार जनसंख्या १,४६,४५,९४६ है। प्राकृतिक दृष्टि से यह दो भागों में विभक्त है—पश्चिमी भाग और तराई प्रदेश। ये भाग पर्वतों और घने जंगलों से परिपूर्ण हैं। इसके पूर्वी सीमान्त से समतल भूमि क्रमशः ढलुआँ होते हुए समुद्र के साथ मिल गई है। इस राज्य में लगभग ३०० मील का समुद्री तट है। १३ जिलों में से केवल चार जिले तटवर्ती हैं। शेष ९ जिले पहाड़ी भाग हैं। इसमें अनेक नदियाँ, उपनदियाँ और उनकी शाखाएँ बहती हैं। इन सबका बहाव पश्चिम से पूर्व को है। ये नदियाँ अपनी वर्तमान अवस्था में नौकासंचालन के योग्य नहीं हैं। अतः इन पर निर्भर रहकर व्यवसाय-वाणिज्य नहीं किया जा सकता। वर्षा काल में इनमें बाढ़ आती है, इससे राज्य की निचली तलेटी की भूमि क्षतिग्रस्त होती है। वर्ष के आठ महीनों तक ये नदियाँ रेत से भरी पटी रहती हैं। इन सबका प्रभाव उत्कल के सामाजिक और आर्थिक जीवन पर क्या पड़ा है, यह जन-संख्या के विश्लेषण द्वारा आसानी से समझा जा सकता है।

ओड़िशा की कुल जन-संख्या (१,४६,४५,९४६) में से ७२,४२,८९२ पुरुष और ७४,०३,०५४ स्त्रियाँ हैं अर्थात् उत्कल में जितने पुरुष हैं उनसे दो लाख अधिक स्त्रियाँ हैं। यहाँ ९७,७१,२५२ लोग पिछड़ी जाति के हैं। उनमें से आदिवासी २९,८७,३३४, हरिजन २६,३०,

७६३ और अन्यान्य अनुन्नत श्रेणी के लोग ४१,७३,१५५ हैं। इस हिसाब से ओड़िशा की जन-संख्या का दो-तिहाई भाग अनुन्नत श्रेणी के लोगों का है और एक-तिहाई भाग अपेक्षाकृत उन्नत श्रेणी का।

विश्लेषण की दृष्टि से देखा जाय तो पता चलेगा कि ओड़िशा में सिर्फ एक नगर और ३८ शहर हैं। नगर केवल कटक ही है। यहाँ की जनसंख्या कुल डेढ़ लाख है। शहरों में गंजाम जिले का ब्रह्मपुर सबसे बड़ा है। इसके अतिरिक्त इस राज्य में ५०,९८४ ग्राम हैं। अतः यहाँ के शहर-वासियों की संख्या ४·०६ प्रति सैकड़ा है अर्थात् १०० में ५ से भी कम। आयतन के हिसाब से इस राज्य में आबादी भी कम है। सारे भारत में प्रतिवर्ग मील ३१२ लोग रहते हैं जब कि ओड़िशा में सिर्फ २४४ लोग। जीविका या पेशे की दृष्टि से ओड़िशा के ७९.२९ प्रतिशत लोग कृषि पर निर्भर रहते हैं। शेष २०.७१ प्रतिशत लोगों की जीविका कृषि के अतिरिक्त दूसरी है।

ओड़िशा के सामूहिक विकास पर विचार किया जाय तो सर्वप्रथम उपर्युक्त मौलिक तथ्यों पर दृष्टि पड़ती है। किसी भी अंचल के विकास के लिए जितने उपादान आवश्यक हैं उन सभी में उन्नयन की संभावना और उसके ठीक-ठीक उपयोग के लिए जनशक्ति आवश्यक है। आर्थिक संबल इन्हीं दोनों का उपयुक्त योग मात्र है। श्रम द्वारा ही अर्थोपलब्धि होती है। श्रम के लिए सर्वप्रथम लोक-बल चाहिये। फिर उत्पादन-क्षेत्र एवं सामग्री के उत्पादन के लिए साधन और अंत में उत्पादन को अर्थशक्ति में बदलने के लिए उपयुक्त वातावरण चाहिये। जिस क्षेत्र में ये उत्पादन जितने अधिक परिमाण में हैं, उस क्षेत्र में अर्थशक्ति की संभावना उसी अनुपात में अधिक होती है। विकास के संबंध में इसे ही मूल नीति कहना होगा।

ओड़िशा में प्राकृतिक संपत्ति पर्याप्त मात्रा में है। विस्तृत समुद्र, असंख्य नदियाँ, प्रचुर जंगली पैदावार, लोहा, कोयला, मैंगनीज आदि की बड़ी बड़ी खानें, समशीतोष्ण जलवायु और उर्वर मिट्टी, ये सब इस राज्य में एकाधार रूप में विद्यमान हैं। यहाँ के लोग कर्मठ, कलाकुशल, और शिल्पकला में निपुण होते हैं। इन सबके उपयुक्त विनियोग के लिये उपयुक्त नेतृत्व और निर्देशन आवश्यक है। स्वाधीनता के बाद से ऐसे प्रयास किये जा रहे हैं। पिछले १० वर्षों में उत्कल में जितनी उन्नति संभव हुई है, इसके पूर्व दो सौ वर्षों के इतिहास में देखने को नहीं मिलती। यह उन्नति भी भावी उन्नति का सूत्रपात मात्र है। यहाँ वर्तमान समय में जो विकास-व्यवस्था चल रही है वह भावी उन्नयन का शिलान्यास मात्र है। तथापि जब हम सन् १९३६ के ओड़िशा के साथ सन् १९५८ के ओड़िशा की तुलना करते हैं तो यह सोचकर आश्चर्य होता है कि उस समय यह देश किस दशा में था।

सन् १९३६ ई० में ओड़िशा जब एक स्वतंत्र प्रदेश बना तो उस समय इसकी कोई राज-धानी नहीं थी। इसके अतिरिक्त न तो हाईकोर्ट था और न विश्वविद्यालय ही। सड़कों की व्यवस्था तो और भी अधिक शोचनीय थी। पहले अँगुलियों पर गिनने योग्य हाई स्कूल थे। हमेशा बाढ़ आती और सूखे पड़ा करते थे। तत्कालीन सरकार इन्हें भगवान् का अभिशाप कहकर अपने कर्तव्य
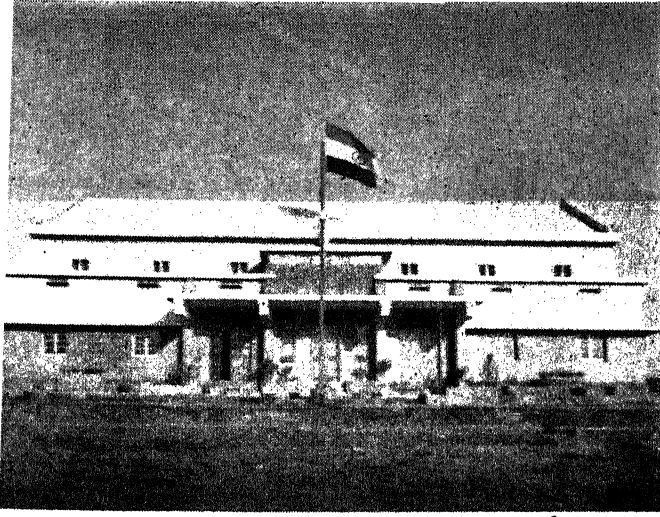
व्यवस्था सभा भवन, भुवनेश्वर

ओड़िशा स
भुवने

कृषि महाविद्यालय, भुवनेश्वर
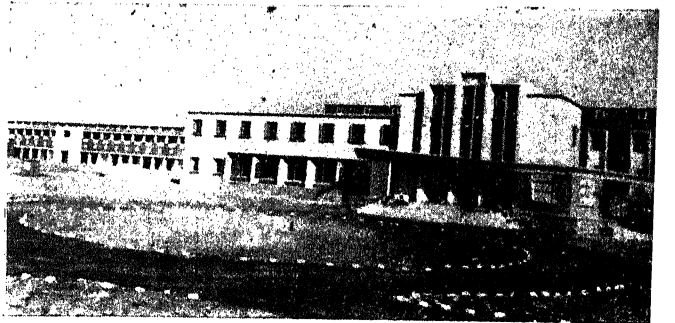
विकासोन्मुख उत्कल

(बगल में) कटक बारबाटी स्टाडियम का भीतरी दृश्य

(नीचे बायीं ओर) शहीद भवन — कटक

(नीचे दायीं ओर) मेडिकल आउटडोर — कटक
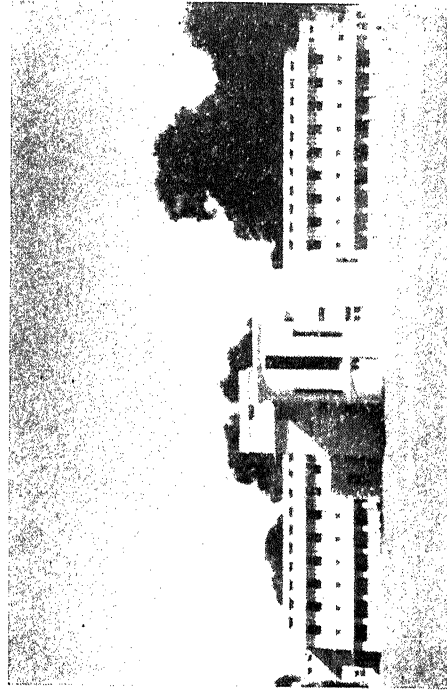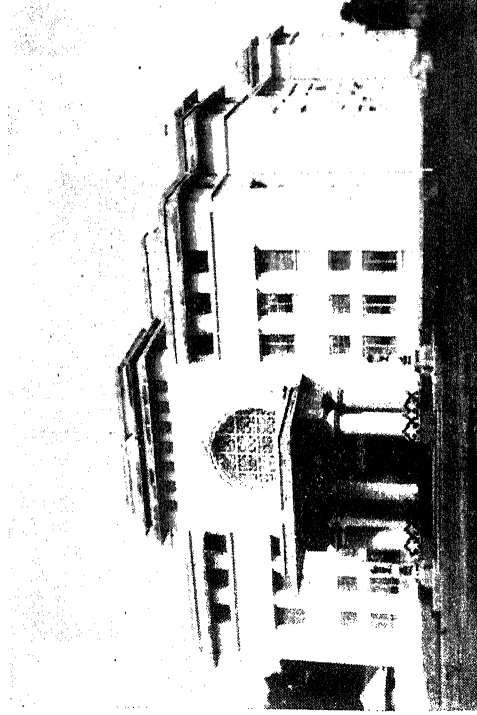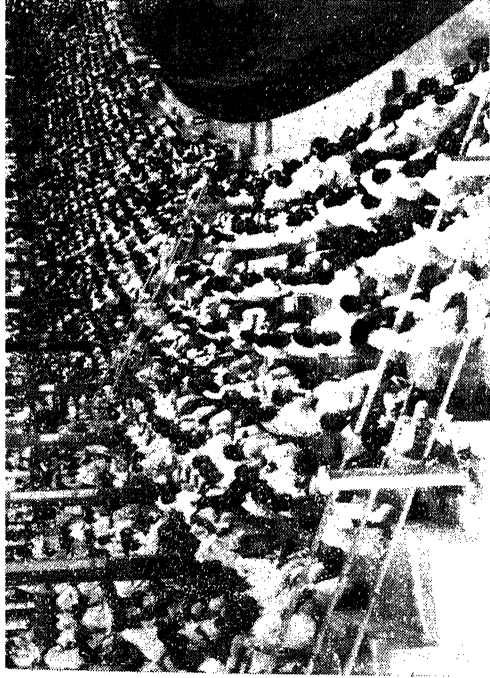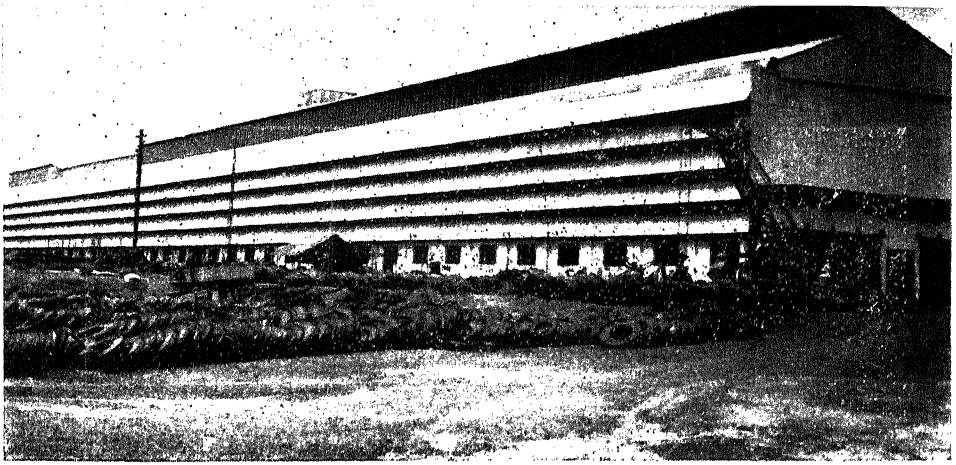
कलिङ्ग टिउब्स—चौद्वार
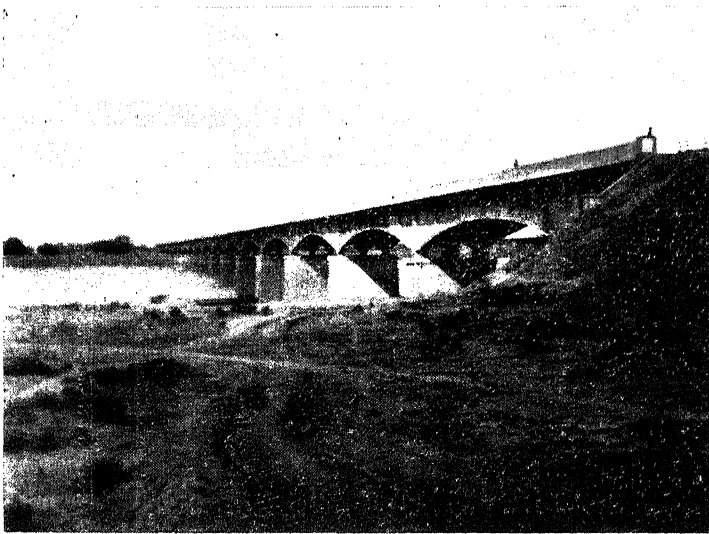
काठजोड़ी पुल, कटक

ओड़िशा टेक्सटाइल मिल्स
चौद्वार, कटक
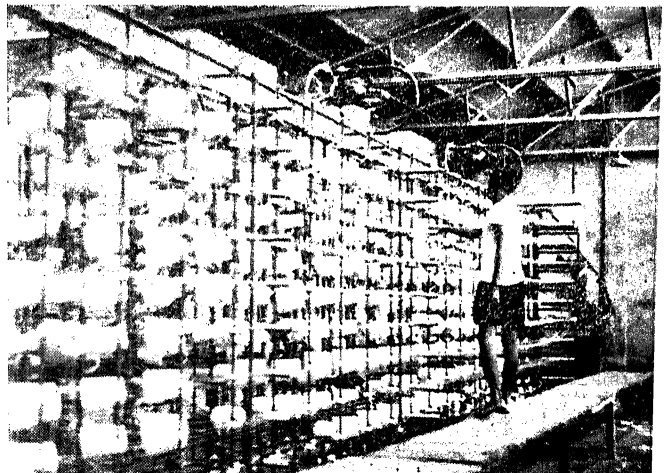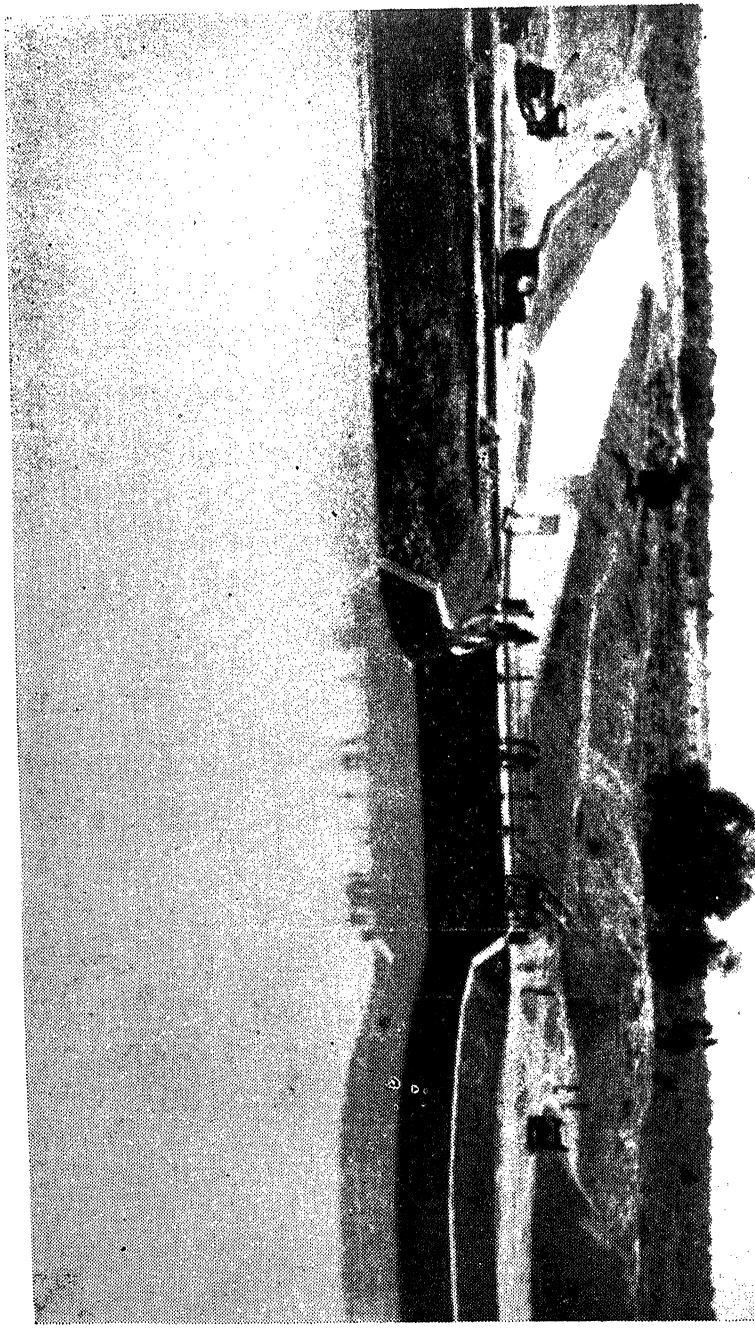
बरगढ़ केनाल जो सम्बलपुर हीराकुद बाँध से निकला है

विकासोन्मुख उत्कल
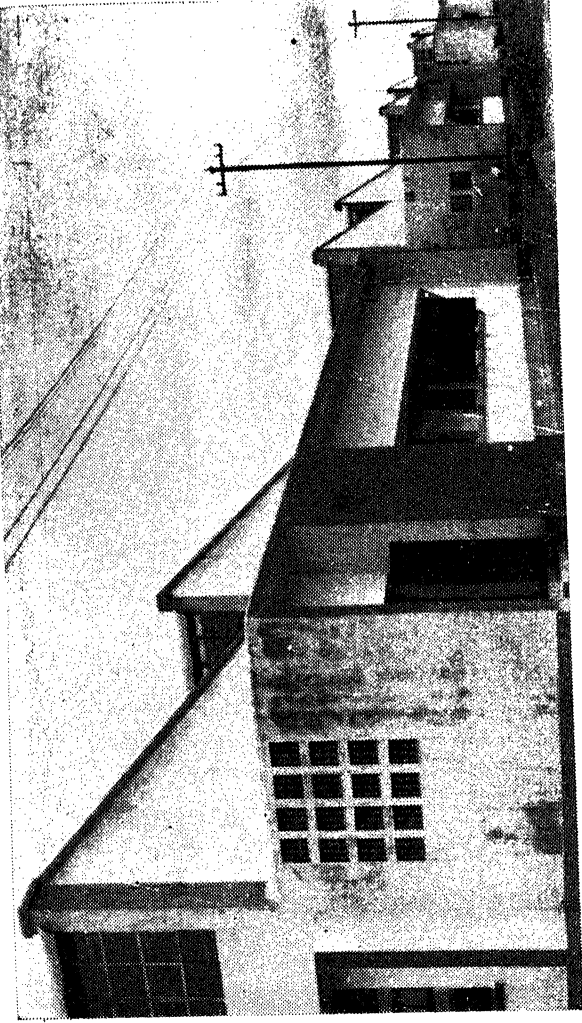
नवनिर्मित कटक-शिल्पाञ्चल
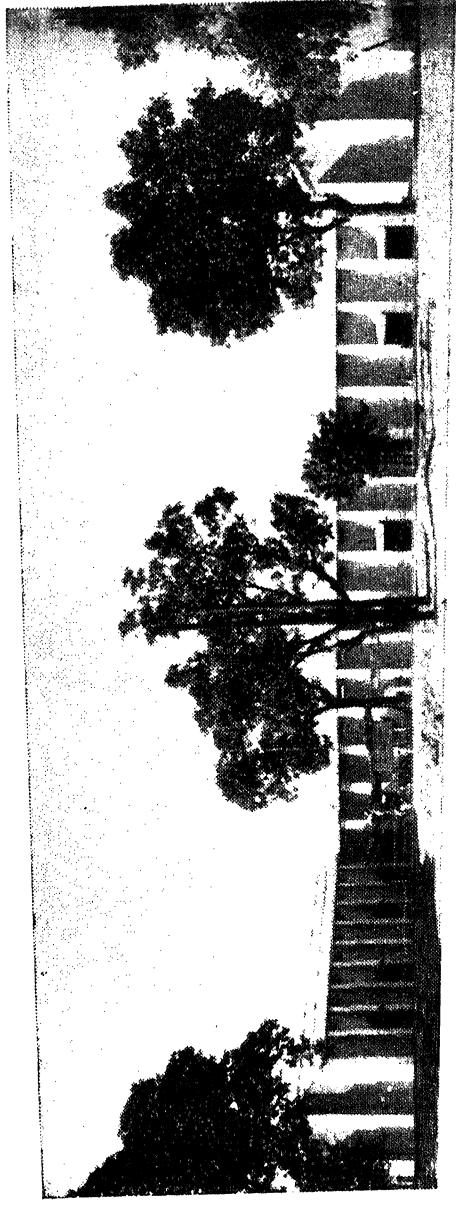
केन्द्र शस्यागार—बरगढ़, सम्बलपुर

(ऊपर) प्रधान न्यायालय — ओड़िशा, कटक (नीचे) जोबा आनिकट—कटक
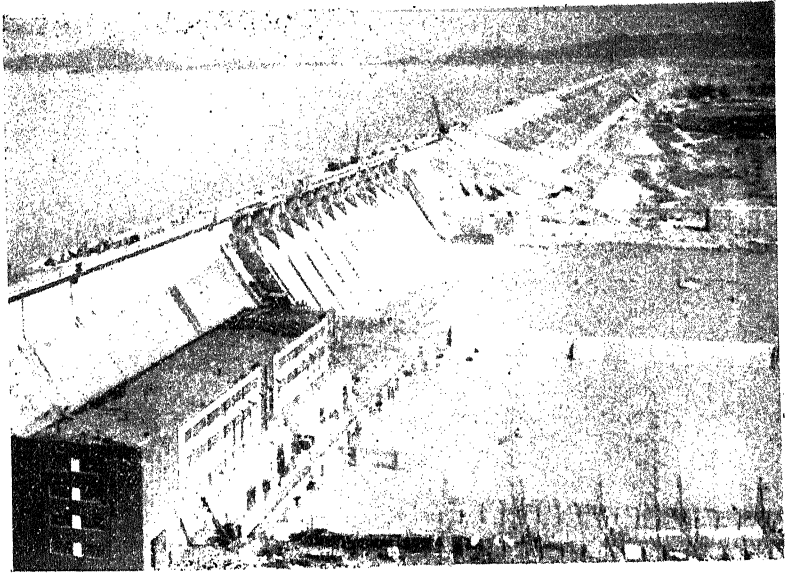
(ऊपर) हीराकुद बाँध का एक दृश्य (नीचे) हीराकुद बाँध निर्माण के समय का एकदृश्य
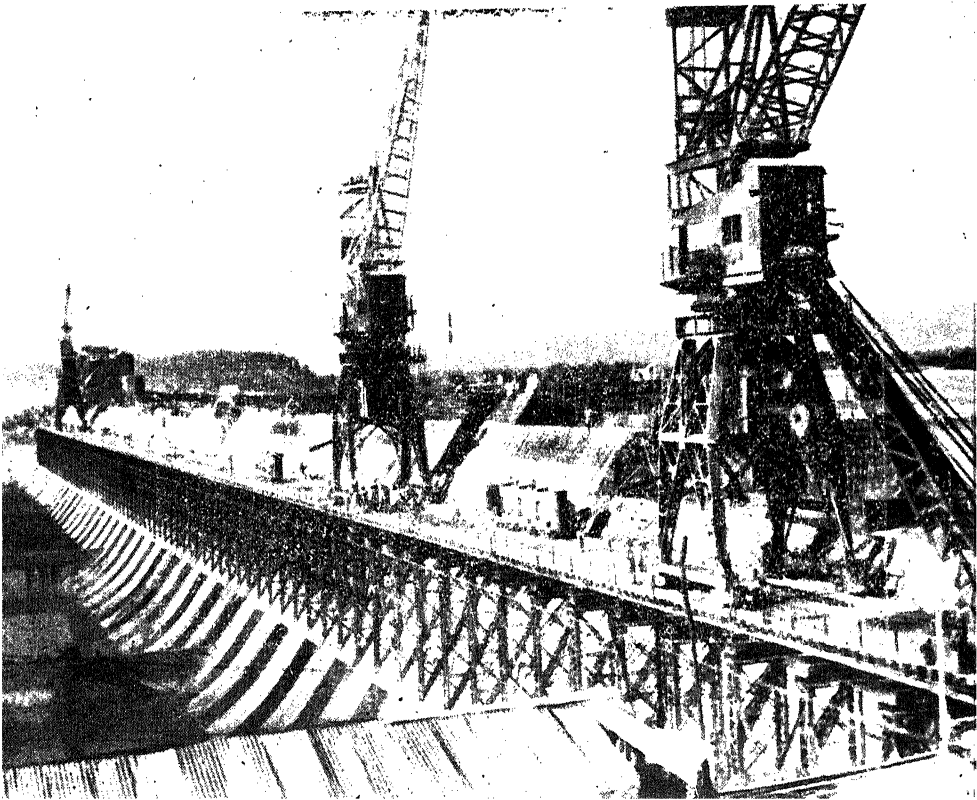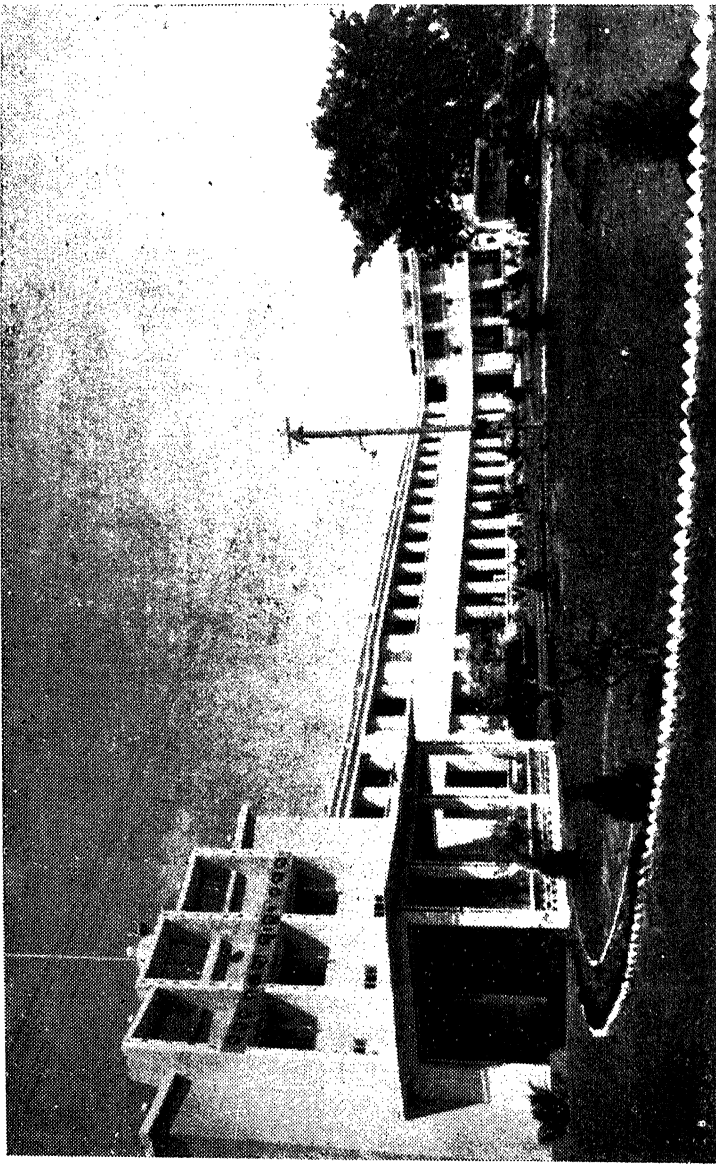
वसन्तमञ्जरी स्वास्थ्य निवास—चाँदपुर, पुरी

की इतिश्री समझ लेती थी। लोग मरें या सड़ें, इससे वह अपना कुछ सरोकार नहीं रखती थी। स्वास्थ्य और चिकित्सा की व्यवस्था अत्यंत सामान्य थी। इस प्रकार सभी दृष्टियों से ओड़िशा एक अनुन्नत प्रदेश था।

किसी भी देश की बजट-व्यवस्था से उसकी आर्थिक परिस्थिति स्पष्ट हो जाती है। इस दृष्टि से १९३६ से १९५६ तक के गत २० वर्षों में ओड़िशा उन्नति-पथ पर कितना बढ़ा है, उसका साधारण परिचय मिल सकता है। सन् १९३६ ई० में ओड़िशा की आय १ करोड़ ६८ लाख और व्यय १ करोड़ ७१ लाख रुपयों का था। स्वाधीनता-प्राप्ति के दो वर्षों, अर्थात् १९-४९-५० में आय १० करोड़ ७२ लाख और व्यय ११ करोड़ ४ लाख तक पहुँचा। १९५५-५६ में आय १९ करोड़ ५७ लाख और व्यय २६ करोड़ ६३ लाख हो गया। कितनी शीघ्र गति से ओड़िशा उन्नति-मार्ग पर बढ़ रहा है, उसकी एक सामान्य धारणा इससे हो सकती है।

इस बजट से और भी सूचनाएँ मिलेंगी। यदि सन् १९३६-३८ के आय-व्यय को आधार माना जाय तो प्रतीत होगा कि १९५२-५३ तक राष्ट्र-निर्माण में ओड़िशा का प्रतिशत व्यय ३४६९गुना बढ़ा है। इसमें शिक्षा के लिए ५८१गुना, स्वास्थ्य के लिए ५५७ गुना, कृषि के लिए ३४६९ गुना, पशुपालन के लिए १९४७ गुना, जंगलों की उन्नति के लिए ८६३ गुना, शिल्पोन्नति के लिए १०९८गुना और समवाय-संगठन में ७५गुना खर्च बढ़ा है।

आजादी के बाद से ओड़िशा में निर्माण-युग आरंभ होता है जो वर्तमान समय में भी चल रहा है और भविष्य में वर्षों तक चलता रहेगा। पहली जनवरी सन् १९४८ को पश्चिमांचल के देशी राज्यों को ओड़िशा में मिला दिया गया। फलतः राज्य की भूमि प्रायः दुगुनी और जन-संख्या प्रायः डेढ़गुनी बढ़ गई है।

बारह वर्ष पूर्व ओड़िशा के एक स्वतंत्र प्रदेश होने पर भी इसकी कोई पूर्णांग राजधानी नहीं थी। पुरानी राजधानी कटक से ज्यों-त्यों काम चला लेना पड़ता था। भुवनेश्वर में नई राजधानी के निर्माण का प्रस्ताव सरकार के ग्रहण कर लेने पर भी उसे कार्य-रूप में परिणत करने के लिए संबल न था। सन् १९४८ की अप्रैल की तेरहवीं तारीख को प्रधान-मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने इसकी नींव डाली थी। सन् १९४९ की जून से सरकारी दफ्तरों का यहाँ आना आरंभ हुआ। अब यह धीरे-धीरे एक शहर का रूप लेता जा रहा है। नई राजधानी का जो नक्शा बना है उससें २५ हजार लोगों के बसने की व्यवस्था है। भविष्य में यह एक आधुनिक शहर में परिणत हो जायेगा।

ओड़िशा के भाग्य में बाढ़ और सूखा ये दो प्रधान अभिशाप थे। फलतः इस राज्य की आर्थिक अवस्था धीरे-धीरे पतित होकर चित्य हो गई थी। इसका शीघ्र प्रतिकार आवश्यक था। इसी उद्देश्य को लेकर हीराकुद योजना का सूत्रपात हुआ। इस बाँध के बनने के पूर्व महानदी और उसकी शाखा-प्रशाखाओं के द्वारा प्रतिवर्ष ओड़िशा का जो विस्तृत अंचल जल-प्लावन द्वारा विध्वस्त होता था, अब उसकी रक्षा हो सकेगी। साथ ही जो पानी किनारा तोड़कर विनाश करते हुए अव्यवहार्य भाव से समुद्र में विलीन हो जाता था, वह एक विराट् बाँध के द्वारा संचित

होने पर प्रायः ५० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेगा और इस जल द्वारा ३ लाख ५० हजार किलोवाट की मात्रा में बिजली भी उत्पन्न की जा सकेगी। इसके अतिरिक्त यह बाँध विशालकाय चिलका झील के बराबर होगा और इसमें मछली पालने आदि की व्यवस्था हो सकेगी।

हीराकुद बाँध द्वारा जो जल-विद्युत् उत्पन्न होगी उससे ओड़िशा में बहुत से शिल्प-उद्योगों का विकास होगा। गत वर्ष भारत के प्रधान मंत्री ने अनुष्ठानिक भाव से हीराकुद का उद्घाटन किया था। अभी यह बिजली कटक, पुरी के विस्तृत भूभाग में व्यवहृत हो रही है। इसके अलावा संबलपुर में बने हुए गांगपुर सीमेंट और आलमोनियम के कारखाने तथा राउरकेला के इस्पात के कारखाने को भी बिजली मिल रही है। संबलपुर जिले के तराई-अंचल में जहाँ नहरें बन गई हैं, लोग इस साल के अकाल से त्राण पा गये हैं। कटक और पुरी जिले के विशाल भू-भाग में भी सिंचाई की व्यवस्था हुई है। हिसाब लगाकर अनुमान किया गया है कि इसके द्वारा ओड़िशा की पैदावार २५ प्रतिशत बढ़ जायेगी।

दक्षिण में माछकुंड जलविद्युत् योजना से भी बिजली प्राप्त हो रही है। दक्षिण ओड़िशा के विशाल भूभाग में इसका उपयोग हो सकता है। सस्ती और सुविधापूर्वक प्राप्त होनेवाली बिजली के द्वारा शिल्प के क्षेत्र में शीघ्र उन्नति की संभावना है। ओड़िशा में यथेष्ट खनिज पदार्थ आदि कच्चे माल तथा जनबल की सुविधा है। इसका उपयोग शीघ्रता से आरंभ हो गया है। फलतः राउरकेला का विराट् इस्पात कारखाना, राजगांगपुर का सीमेंट कारखाना, ब्रजराजनगर का कागज उद्योग, चौद्वार का कपड़ा, कागज और ट्यूब का कारखाना और कटक का रिफ्रेजरेटर का कारखाना तथा काँच का कारखाना स्थापित हो गया है। राउरकेला के पास खाद आदि के दूसरे कारखानों के अतिरिक्त हीराकुद में आलमोनियम, जोड़ा में फेरामैंगनीज कारखाने, रायगड़ा तथा बालेश्वर में कपड़े की मिलें, कैसिंगा में कागज कल आदि निकट भविष्य में स्थापित होंगे।

ओड़िशा के उन्नति-मार्ग पर बढ़ते समय प्रथम योजना का आरंभ हुआ था। इसमें राज्य की उन्नति के लिए प्रथम पाँच वर्षों में २० करोड़ ४ लाख रुपयों की व्यय-व्यवस्था की गई थी। इसमें ९५ प्रतिशत खर्च हुआ था। पहली योजना में खेती के ऊपर विशेष जोर दिया गया था। फलस्वरूप ओड़िशा के विस्तृत अंचल में उन्नत ढंग की कृषि-कला का प्रचलन हुआ है। इससे जनता का जीवन-स्तर भी कुछ ऊँचा उठा है।

प्रथम योजना के बाद दूसरी योजना का आरंभ हुआ। इसमें प्रायः १०० करोड़ रुपयों की व्यय-व्यवस्था की गई है। इसमें से प्रायः ४० करोड़ रुपये हीराकुद और तटवर्ती अंचलों में सिंचाई की व्यवस्था के लिए रखे गये हैं। इस प्रकार योजनाओं और आवश्यक साधनों के द्वारा निश्चय ही ओड़िशा का विकास हो रहा है जो भविष्य के विकसित उत्कल की भूमिका के रूप में है।

इन सब विषयों का निरीक्षण सूक्ष्मता से करने पर यह निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि अगले ५० वर्षों के भीतर ही ओड़िशा भारत का एक समृद्धिशाली राज्य बन जायेगा।

ओड़िशा का औद्योगिक विकास

डा० एच० बी० महान्ति, एम० एस्-सी०, पी-एच० डी० (कैंटब)

ओड़िशा विशुद्ध रूप से एक कृषिप्रधान राज्य है। युद्ध-पूर्व के दिनों में यहाँ ऐसा कोई उद्योग मुश्किल से मिलेगा जो इसके नाम को सार्थक करे। यदि धान कूटने के कारखानों को उद्योग कहा जा सके तो, कृषि-संबंधी प्रधान उत्पादन चावल होने के कारण, राज्य का प्रधान उद्योग धान कूटना था। धान कूटने के बहुसंख्यक कारखानों के अतिरिक्त कृषि-उद्योग के रूप में एक छोटा-सा चीनी का कारखाना भी स्थापित था। बड़े उद्योग के नाम पर केवल संबलपुर जिले के ब्रजराज-नगर में एक कागज का कारखाना ही था। यह बाँस के कागजों का उत्पादन करता था जो ओड़िशा के विस्तृत वनों से अत्यधिक परिमाण में प्राप्त हो जाते हैं। इन कृषि और वन-संबंधी साधनों के साथ-साथ राज्य में असीम खनिज, समुद्री और जल-शक्ति के साधन भी वर्तमान हैं। इन साधनों के विकास के लिए प्रबल प्रयत्न की आवश्यकता है ताकि ओड़िशा भी भारत के औद्योगिक विकास में उचित भाग ले सके।

अधिक मात्रा में सस्ती विद्युत्शक्ति की तैयारी ही किसी भी औद्योगिक विकास की प्रारंभिक आवश्यकता है। राज्य के सर्वांगीण विकास के लिए इस तथ्य के महत्त्व का अनुभव करते हुए सरकार ने राज्य की जल-शक्ति के साधन को विकसित करने की समस्या को ठीक ही उठाया है। युद्धोत्तर विकास-योजना के अंतर्गत एक लाख किलोवाट की शक्तिवाली माछकुंड और २० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की सुविधाओं के साथ दो लाख किलोवाट से अधिक की शक्ति-वाली हीराकुड परियोजनाएँ पूरी करने के निमित्त हाथ में ली गई। स्वराज्य-प्राप्ति के पश्चात् प्रथम कांग्रेस सरकार ने डा० मेहताब के नेतृत्व में ये दोनों परियोजनाएँ प्रबल उत्साह से आगे बढ़ाईं जो अब समाप्ति के निकट हैं। ओड़िशा में जहाँ तक जितने औद्योगिक विकास की संभावना है, वह इन दोनों परियोजनाओं द्वारा सुलभ की हुई जल-विद्युत्-शक्ति के कारण ही है। ओड़िशा में वैतरणी पर भीमकुंड, महानदी पर टिकरपाड़ा, ब्राह्मी पर रेंगाली, कोरापुर में सिलरू जैसी दूसरी बृहद् जलविद्युत् परियोजनाएँ और विशाल जल-संपत्ति अभी अनुसंधान के अंतर्गत हैं जो इस क्षेत्र में विद्युत्-शक्ति की बढ़ती हुई माँग को पूरी करने के लिए संभवतः तृतीय पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत हाथ में ली जायँगी।

हीराकुड बाँध के निर्माण को हाथ में लिये जाने के प्रत्यक्ष परिणाम-स्वरूप राजगंगपुर में दैनिक ६०० टन उत्पादन की सामर्थ्यवाले एक बृहत् सीमेंट प्लांट का स्थापन आवश्यक हो गया था। इसके निर्माण के तीन वर्षों में ही सीमेंट की माँग इतनी अधिक बढ़ गई थी कि कारखाने

को द्विगुणित करना पड़ा था और अब यह प्रतिदिन १२०० टन से अधिक सीमेंट का उत्पादन कर रहा है। उत्पादन को प्रतिदिन २००० टन तक बढ़ाने के लिए अब शीघ्र ही उसे तिगुना करना पड़ेगा।

केन्द्रीय सरकार को यह निर्णय करने में कि प्रतिवर्ष १० लाख टन इस्पात की उत्पादन-क्षमतावाले सर्वप्रथम राज्याधिकृत इस्पात प्लांट की स्थापना के निर्णय करने में हीराकुड में शक्ति के बृहत् ब्लाकों की प्राप्यता ने कम सहयोग नहीं दिया है, रूरकेला की उत्पादन-क्षमता को २० लाख टन वार्षिक बढ़ाने के लिए योजनाएँ विचाराधीन हैं। राज्यसरकार के आग्रहपूर्ण प्रयत्नों के फलस्वरूप फालतू गैसों के उपयोग के लिए रूरकेला में खाद के एक बड़े कारखाने के स्थापन का भी निश्चय हो चुका है। यह कारखाना प्रतिवर्ष करीब साढ़े चार लाख टन नाइट्रो-लाइम का उत्पादन करेगा जो ओड़िशा ही नहीं बल्कि पड़ोसी राज्यों के कृषि-उत्पादन में बहुत बड़ा सहायक होगा। रूरकेला इस्पात प्लांट की स्थापना ने राजगंगपुर, बालपहाड़ और बारंग इत्यादि में अनेक रिफ्रैक्ट्री प्लांटों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया है ताकि इस्पात प्लांट और दूसरे उद्योगों के लिए, जो उस क्षेत्र में चल रहे हैं, अग्निजित् ईटें और भट्ठियों की लाइनिंग मिल सकें। रूरकेला के आसपास अन्य कई सहायक उद्योगों के स्थापित होने की आशा है।

हीराकुड शक्ति योजना का एक दूसरा प्रत्यक्ष प्रतिफल २० हजार टन वार्षिक उत्पादन की क्षमतावाले एक अल्यूम्यूनियम कारखाने की स्थापना है। इसके पूरक स्वरूप हीराकुड में एक रोलिंग मिल और तार बनाने वाले प्लांटों की स्थापना हो रही है। हीराकुड की शक्ति ने जोदा में एक लौह-मैंगनीज प्लांट की स्थापना करने में प्रोत्साहन दिया है। उसी प्रकार माछ-कुंड शक्ति पर आधारित रायगादा में एक दूसरा लौह-मैंगनीज प्लांट और एक तीसरा काला-हांड़ि में नियोजित होने जा रहा है। जाजपुर-केंदुझर क्षेत्र में, जहाँ अत्यधिक क्रोम पाया जाता है, उसका उपयोग करने के लिए एक लौह-क्रोम प्लांट की स्थापना करने का प्रस्ताव विचाराधीन है। भीमकुंड और टिक्करपारा योजना द्वारा शक्ति की प्राप्यता से यह आशा की जाती है कि इस राज्य में जहाँ कच्चा लोहा, मैंगनीज, क्रोमाइट, वैनेडियम, ग्रैफाइट और टिटैनियम के प्रभूत साधन प्राप्त हैं, और भी अनेक उद्योग स्थापित होंगे।

राज्य के कृषि-साधनों पर आधारित—जहाँ हीराकुड बाँध और डेल्टाई सिंचन योजना के द्वारा २० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी और उसके द्वारा उपज में पर्याप्त वृद्धि होगी—बहुत-सी चीनी मिलों की स्थापना करने का प्रयत्न किया जा रहा है जिनमें से पहली मिल हीरा-कुड-सिंचित क्षेत्र बरगढ़ और दूसरी अस्का में खोलने का प्रस्ताव है। कपास और पटसन की उपज में वृद्धि होने पर आशा है कि चौद्वार में कपड़े की मिल के साथ ही साथ जहाँ पर ५० हजार स्पिंडिल और सौ से अधिक चर्खे चालू हैं, एक कपड़े और जूट मिल के स्थापित होने की संभावना है। राज्य के विस्तृत बाँस के साधनों का उपयोग करने के लिए ब्रजराजनगर की कागज मिल के अतिरिक्त चौद्वार और केसिंग में जो कागज की मिलें स्थापित होंगी उनमें से प्रत्येक की उत्पादन-क्षमता १५००० टन प्रतिवर्ष है। निकट भविष्य में ही चौद्वार मिल में उत्पादन

औद्योगिक उत्कल
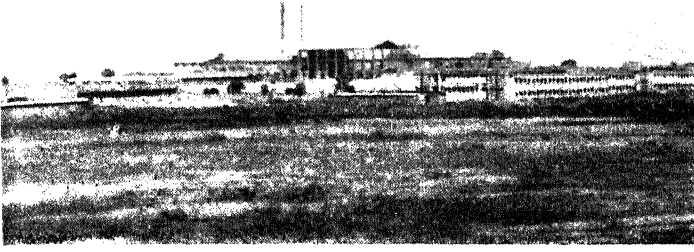
सिमेंट कारखाना, राजगांगपुर
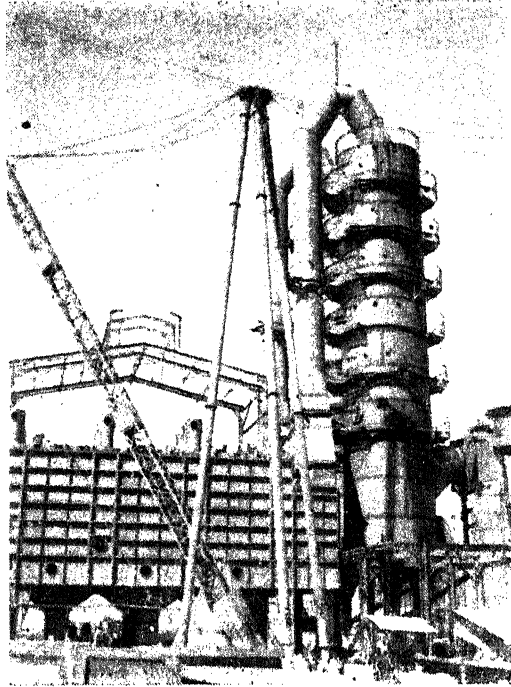
फौलाद कारखाने का एक हिस्स
राउरकेला

नवप्रतिष्ठित शहर राउरकेला
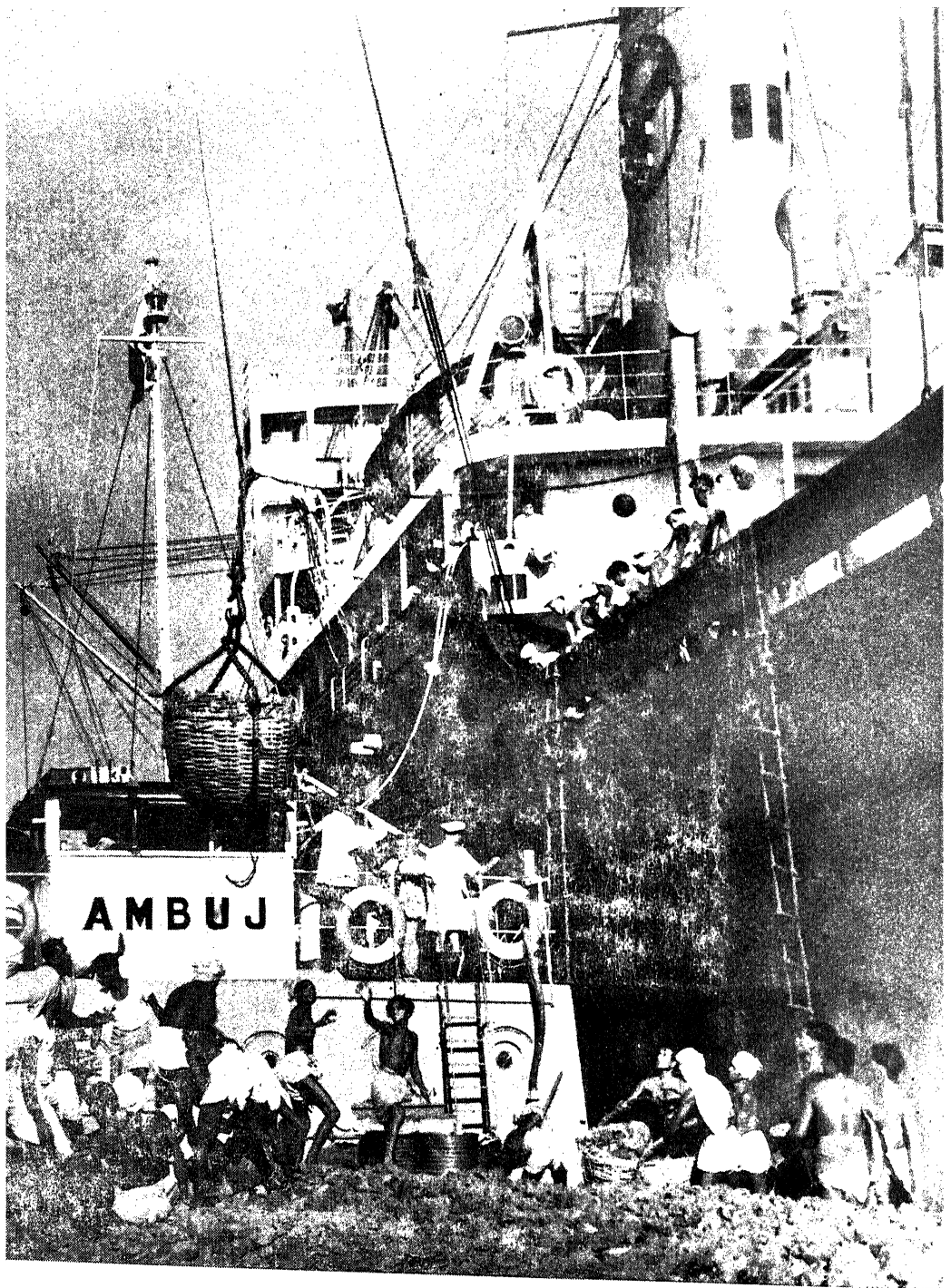
पाराद्विप बन्दरगाह में लोहे का पत्थर लादते हुए.

प्रारंभ हो जायगा। राज्य में २५०७ मील के विस्तृत समुद्रीतट के कारण सामुद्रिक मत्स्योद्योग और नमक उद्योग के स्थापित होने की बहुत बड़ी संभावना है। साधारण नमक बहुत से भारी रासायनिक उद्योगों—जैसे कास्टिक सोडा, क्लोरीन, सोडियम कार्बोनेट इत्यादि—का आधार है। सस्ती शक्ति की प्राप्ति से नमक पर आधारित रासायनिक उद्योगों को बहुत अधिक सहायता मिलेगी इसलिए राज्य में शीघ्र ही बड़े पैमाने पर नमक के रासायनिक उद्योगों की स्थापना के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार विदित है कि राज्य में गत १० वर्षों में औद्योगिक विकास में पर्याप्त प्रगति की गई है। राज्य सरकार द्वारा प्रोत्साहन मिलने के कारण और उचित प्रयत्न करने पर ओड़िशा में अत्यधिक प्राकृतिक साधनों के आधार पर औद्योगिक विकास की बहुत संभावनाएँ हैं। यद्यपि अपनी इन सफलताओं पर हम गर्व कर सकते हैं किन्तु इसमें शिथिलता की गुंजाइश नहीं है और राज्य में अन्य अनेक उद्योगों के विकास के लिए द्विगुणित प्रयत्न करना चाहिए। उदाहरणार्थ, राज्य में २० अरब टन से अधिक कच्चे लोहे के साधन की परिकल्पना है। जापान, जेकोस्लोवाकिया और जर्मनी ऐसे देशों की माँग की पूर्ति के लिए निर्यात कच्चे लोहे के अतिरिक्त हमारे पास जो साधन बच रहेंगे वे देश में एक दर्जन इस्पात प्लांटों की स्थापना के लिए पर्याप्त होंगे। यद्यपि हमें प्रसन्नता है कि ओड़िशा में राज्याधिकृत इस्पात प्लांट की स्थापना हो चुकी है और इस वर्ष का अंत होने के पूर्व ही उसमें उत्पादन प्रारंभ हो जायेगा तथापि उपर्युक्त बातों के आधार पर हम अनुमान लगा सकते हैं कि इस क्षेत्र में और कितने काम करने शेष हैं और हमें कितना प्रयत्न करना है ताकि एक या दो और इस्पात प्लांट निकट भविष्य में स्थापित हो सकें। राज्य के जलशक्ति-साधनों की भी यही बात है जो अनेक औद्योगिक विकासों के लिए मुख्य और मूल आवश्यकता है। यद्यपि हमें प्रसन्नता है कि महानदी पर हीराकुड में पहले बाँध की स्थापना हो चुकी है जिसकी शक्ति उत्पादन-क्षमता २ लाख किलोवाट है और महानदी पर दूसरा बाँध तिक्करपाड़ा में है जिसकी शक्ति उत्पादन-क्षमता १० लाख किलोवाट है तथापि जब ब्राह्मणी नदी का पूरा शोषण कर सकेंगे तो उससे १० लाख किलोवाट शक्ति और प्राप्त कर सकेंगे। अतः इन बहुमूल्य शक्ति-साधनों का शोषण करने के लिए हमें जी-जान से प्रयत्न करना चाहिये ताकि हम केवल ओड़िशा के लिए ही नहीं बल्कि पश्चिमी बंगाल और मध्यप्रदेश के पड़ोसी राज्यों की बढ़ती माँगों की पूर्ति कर सकें और इस प्रकार अपने समूचे राष्ट्र की शीघ्र प्रगति और विकास में पर्याप्त सहायता पहुँचा सकें।

ओड़िशा की कला और स्थापत्य

श्री अर्जुन जोशी

कला और स्थापत्य किसी भी देश या जाति की सभ्यता के मापदंड हैं। ओड़िशा की कला और स्थापत्य सभ्य मानव समाज की एक जीवन्त कीर्ति है। यह कहना असम्भव है कि कितने पहले ओड़िशा में कला और स्थापत्य का आरम्भ हुआ। भारतीय कला और स्थापत्य के इतिहास की जानकारी हमें ऋग्वेद, ब्राह्मण संहिता, आरण्यक, गृह्यसूत्र, महाभारत और विभिन्न समय के शिल्पशास्त्रों तथा अभिलेखों के सिवा विभिन्न समय की मुद्राओं, शिलाओं, पत्थर की मूर्तियों और मंदिरों से होती है। लेकिन ओड़िशा की कला और स्थापत्य के विषय में अनेक प्रस्तर-मूर्तियों के अतिरिक्त केवल ओड़िशा के मंदिरों से थोड़ी-बहुत सूचना मिलती है। आज तक कोई भी ऐसा शास्त्र नहीं मिला जिसके अनुसार मूर्तियों तथा मंदिरों का निर्माण हुआ हो। ओड़िशा की मूर्तियों तथा मंदिरों में अंकित चित्रों से प्रतीत होता है कि पूजा के लिए ही इन प्रतिमाओं का निर्माण हुआ था। प्रतिकृतियों में कई देवी-देवताओं, लिंग, यन्त्र, कई प्रकार के जीव-जन्तु, जल-जन्तु, पक्षी, पेड़, लता, आदि के अतिरिक्त दूसरे चित्र भी हैं, जो निस्संदेह धार्मिक मनोभाव से पूजा के लिए निर्मित हुए थे। इसके अतिरिक्त मंदिरों में पार्श्वदेवता, दिक्पाल, नवग्रह, द्वारपाल, गंगा-यमुना, कीर्तिमुख, जाली, ज्यामिति चित्र, और घट आदि में कुछ धर्म के साथ संपृक्त हैं। कोणार्क और राजाराणी के मंदिरों में कई प्रकार के लतापत्र, मुक्तेश्वर की ५२ प्रतिमाएँ, कोणार्क का हाथी चित्र और मुक्तेश्वर का ज्यामितिक रेखा तथा कोण आदि सौन्दर्य-वृद्धि के लिए बनाये गये हैं। मूर्तिकला तथा मंदिर की उत्पत्ति धर्म से हुई है। महाभारत, ब्रह्मपुराण और स्कन्द पुराण से पता चलता है कि ओड़िशा एक पुण्य-भूमि है। महाभारत में आया है कि ''अर्जुन ने कलिंग के सब तीर्थस्थानों का पर्यटन किया था।[१] तीर्थयात्रा के समय युधिष्ठिर ने कलिंग-परिदर्शन किया था[२]। इससे मालूम होता है कि ओड़िशा में हिन्दू धर्म अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित था। लेकिन इसके बाद बौद्ध और जैन धर्म का उत्थान हुआ था। धर्म-विकास के साथ साथ मूर्ति-पूजा का भी प्रसार हुआ। इसलिए ओड़िशा में कई बौद्ध और जैन मूर्तियों के अतिरिक्त जैनों की गुफाएँ भी हैं। लगभग पाँचवीं सदी से शैव धर्म का उत्थान हुआ और उसी समय से अनेक शैव प्रतिमाएँ तथा मंदिर प्रतिष्ठित होने लगे। तंत्र-मंत्र के आगमन के साथ ही साथ उसी के अनुसार कई मूर्तियाँ

---

१. डॉ० हरेकृष्ण महताब का ओड़िशा का इतिहास--पृ० ४

२. वही--पृ० ५

भी निर्मित हुईं। बाद में वैष्णव धर्म के उत्थान के साथ-साथ कृष्ण, बासुदेव, और राधाकृष्ण की मूर्तियाँ निर्मित हुईं। इस प्रकार विभिन्न धर्मों के उत्थान के साथ-साथ विभिन्न धर्मावलंबियों की पूजा-उपासना के लिए देव-देवियों की मूर्तियों के गठन की आवश्यकता हुई। इस तरह ओड़िशा में हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मों की मूर्तियों और विशेषतः हिन्दू मंदिरों का निर्माण हुआ। इन सब का विवेचन इस क्षुद्र लेख में करना असम्भव है, इसलिए ओड़िशा की कला और स्थापत्य का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

विशेषतः आजकल भी गाँवों में लोग हस्तशिल्प के रूप में इन सभी वस्तुओं का प्रयोग करते हैं; लेकिन इस छोटे से लेख में इन सब को स्थान नहीं दिया गया है। फिर भी ताँबा, पीतल, लोहा, आदि धातुओं की कुछ मूर्तियों में पारंपरिक रूप में गठन का अभाव होने के कारण वे सब आलोचना के बाहर हैं। दूसरे सब पत्थर, मूर्तियाँ, या मंदिर की चित्रकला, प्रतिमूर्ति, और प्रतिमा इन सबकी ओड़िशा की स्थापत्य-कला के हिसाब से आलोचना की गई है। ओड़िशा की कला और स्थापत्य साधारणतः Sand stone, Laterite, Chlorite, and Granite Grey, पत्थरों में खोदे हुए या तैयार किये गये हैं।

लेकिन साधारणतः मूर्तिकला और मंदिर Sand Stone से निर्मित हैं। कारण यह है कि बारीक काम के लिए कारीगरों को दूसरे पत्थरों की अपेक्षा यह अधिक सुविधाजनक होता है और अधिक काल तक स्थायी भी रहता है।

प्राचीन और नूतन प्रस्तर युग के कुछ अस्त्र-शस्त्रों के अतिरिक्त कटक जिले की नराज, सम्बलपुर जिले की बिक्रम खोल और उलफगड़ और कालाहांडि जिला के गुड़हांडि पर्वत की गुफाओं में अनेक रेखाचित्र (Pictographic Paintings) अंकित हैं[1]।

ओड़िशा-कला के कई विशेषज्ञ सोचते हैं कि भुवनेश्वर के पास, धौली पर्वत में, अशोक के अनुशासनों के कुछ ऊपर खोदे हुए एक हाथी की मूर्ति ओड़िशा के स्थापत्य का पहला निदर्शन है। (लेकिन खारवेल के हाथीगुंफा-अभिलेख[2] से स्पष्ट मालूम होता है कि, अशोक के पहले से एक जैन-मूर्ति वहाँ थी, जिसे नंदराज मगध ले गये थे;) किन्तु दूसरे कुछ कहते हैं कि अशोक के पहले से ओड़िशा में नागपूजा होती थी[3]। भुवनेश्वर के पास से दो नाग-मूर्तियों का उद्धार किया गया है। नाग (साँप) की पूँछ पर मूर्ति खड़ी हुई है और पूँछ पैर तक लंबी है। मूर्ति की कमर में एक धोती पहनाई गई है। कमरबंध में एक तलवार लटकती है। मूर्तियों के भग्नावशेष से अनुमान किया जाता है कि उनके पाँच फन थे। ये मूर्तियाँ स्वतंत्र नागदेवता के रूप में पूजी जाती थीं; लेकिन परवर्ती काल में नागपूजा की प्रधानता कम हो गई। बौद्ध, जैन और ब्राह्म धर्मों में इसकी आंशिक पूजा दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि आदिम मानव प्रकृति, वृक्ष, लता, पशु,

1 Journal of Kalinga Historical Society, Vol. II, p. 244.

2 Old Brahmi Inscriptions.

3 Journal of the Asiatic Society. Letters Vol. XVII, p. 102.

पक्षी, सर्प आदि की पूजा करता था। अनार्यों में और ओड़िशा के रहनेवाले द्राविड़ों में यह पूजा अब तक प्रचलित है। जब आर्य और अनार्य मिलकर एक साथ रहने लगे, तब आर्यों ने अनार्यों के धर्म का सम्पूर्ण लोप न कर उसे अपने धर्म के साथ मिला लिया। उस समय नाग-पूजा का प्राधान्य कम हो गया और वह पारिपार्श्विक देवता-रूप में पूजा जाने लगा तथा बाद में बौद्ध, जैन, और ब्राह्मण धर्मों में उसने स्थान पाया।

ईसा पूर्व की ओड़िशा की कला में अशोकराजत्व का धउली का हाथी विश्व-प्रसिद्ध है। हाथी की मूर्ति अत्यंत सुन्दर है। दाहिना पैर कुछ झुक गया है, और पीछे के पैर सीधे हैं। ऐसा मालूम होता है मानों हाथी आनन्द के साथ आगे सूँड़ हिलाकर पत्थर-वृक्ष से निकल रहा हो। धउली, हस्तीमूर्ति के बारे में कलाविदों ने कहा है "The land exhibitionism of pomp and power of Rampurva or Sarnath specimens has nothing to compare with the quite dignity of the Dhauli Elephant, compared to the Dhauli Elephant the Sarnath quadripartite and its Sanchi counter part are bombastic in style and motive."[1]

हस्तीमूर्ति के नीचे अशोक का शिलालेख खुदा हुआ है। ओड़िशा में अशोक के समय में अक्षर-खनन-कला का जो विस्तृत विकास हुआ था उसका प्रमाण जउगढ़ में भी देखने को मिलता है। ब्राह्मी अक्षर खूब सुन्दर ढंग से इन दोनों स्थानों में खोदे हुए हैं। अशोक के समय का, इस हस्तीमूर्ति और अनुशासन के सिवाय, एक अशोक-स्तम्भ भी था[2], इसका प्रमाण भुवनेश्वर के कई स्तम्भ-खंडों से मिलता है। भुवनेश्वर के अशोक-स्तम्भ को काटकर टुकड़ों में परिणत कर दिया गया है और मूल स्तम्भ को शैवों ने अपने आवश्यकतानुसार शिव-लिंग में परिणत कर दिया है, जिसकी भुवनेश्वर के भास्करेश्वर मंदिर में पूजा होती है। शिव-लिंग की ऊँचाई ९ फुट है, मूल परिधि १२ फुट ५ इंच है। इतना बड़ा एक पत्थरखंड कभी शिवलिंग नहीं हो सकता। यह एक स्तम्भ का अंश है। इन स्तंभों में अनेक अशोक-ब्राह्मी-अक्षरों का अवशिष्टांश भी है, क्योंकि ये सब एक-एक अशोक-स्तम्भ हैं।

विशेषज्ञों ने भी लिखा है, "The stumb of Asoka's monolith which is being worshipped as a phallic emblem in the Bhaskareswar temple may still bear a copy of M. R. E."

स्तम्भ का पद्मबंध और पीठ भुवनेश्वर रथ रामेश्वर मंदिर के पास पड़ा हुआ है। इसके नीचे के भाग में बाईं से दाहिनी ओर हंस, प्रस्फुटित पद्म, बण्ड हस्ती, प्रस्फुटित पद्म, पक्षयुक्त व्याघ्र, पद्मकढ़ि, और धावमान पक्षयुक्त अश्व खोदा हुआ है। पद्म और हंस अशोक-

---

1 Maurya and Surga Art p. 26.

2 The Asokan pillar at Bhubaneswar (A Booklet by Sri Arjun Joshi, Curater Orissa, Museum.
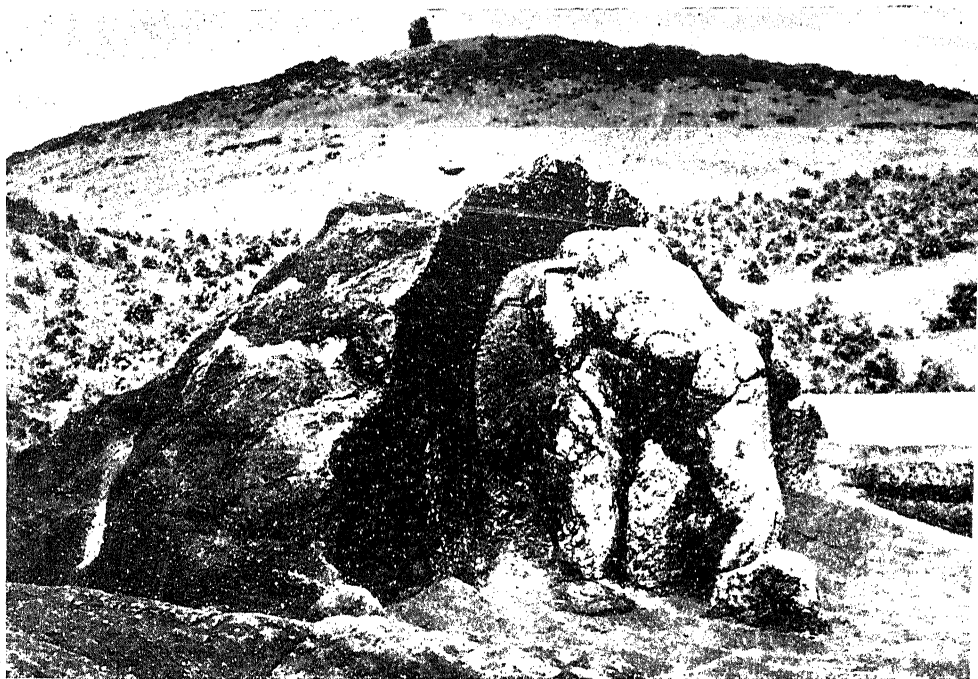
(ऊपर) धउली पहाड़—भुवनेश्वर (नीचे) मुक्तेश्वर मन्दिर गात्र में खोदित एक चित्र
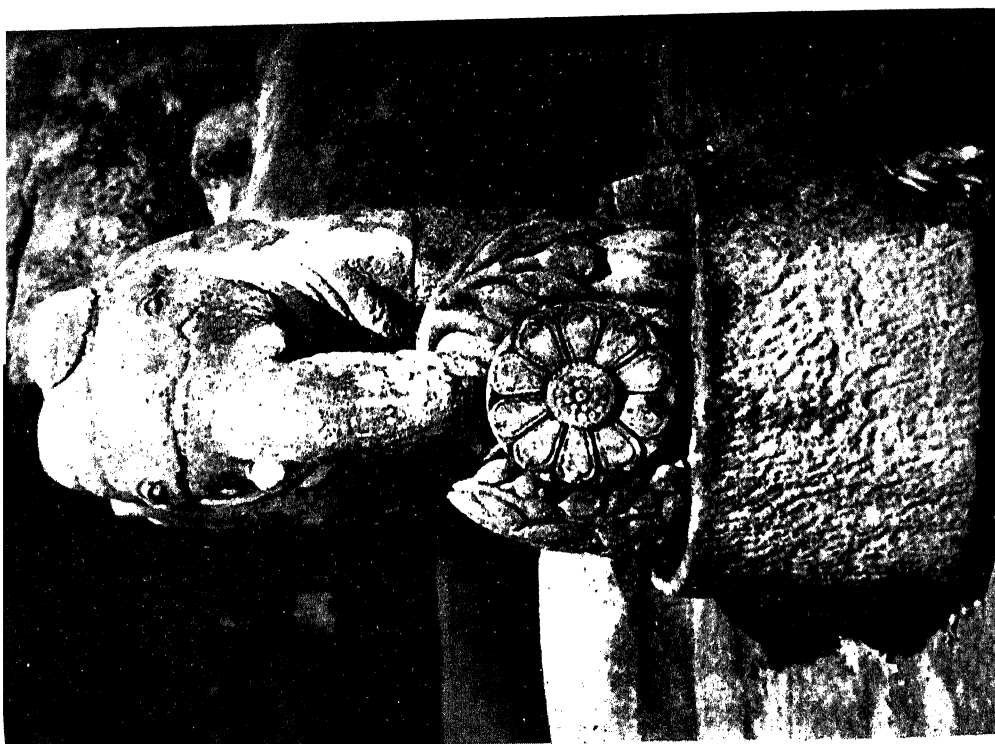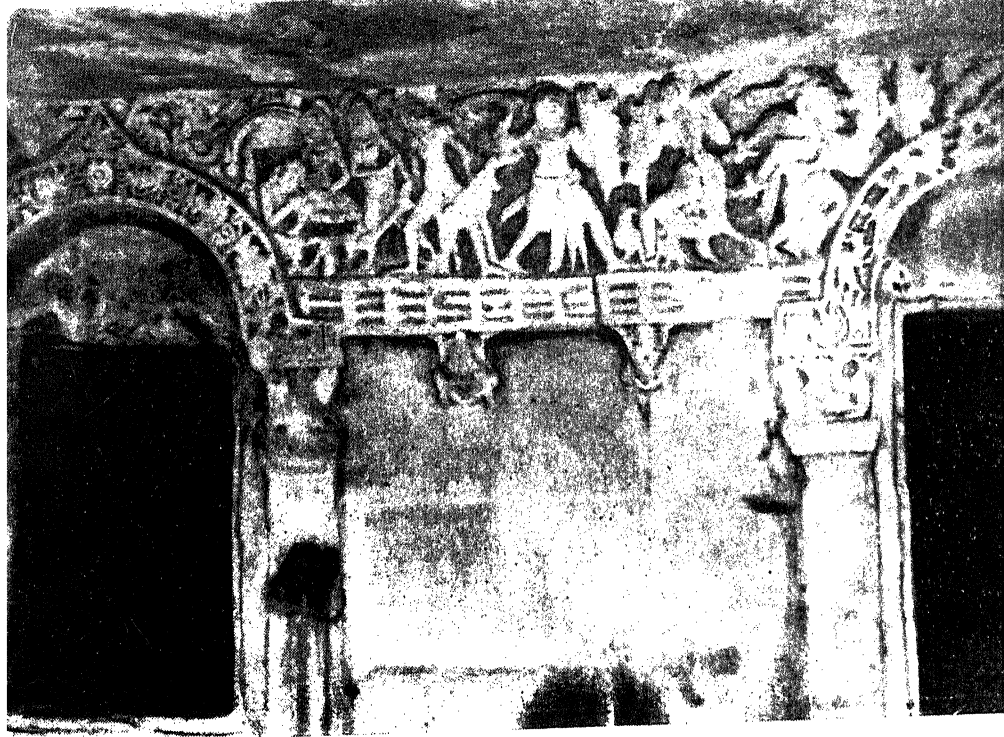
(ऊपर) शिकार और युद्ध — रानीगुफा, उदयगिरि (नीचे) गन्धर्व — रानीगुफा, उदयगिरि [भुवनेश्वर]
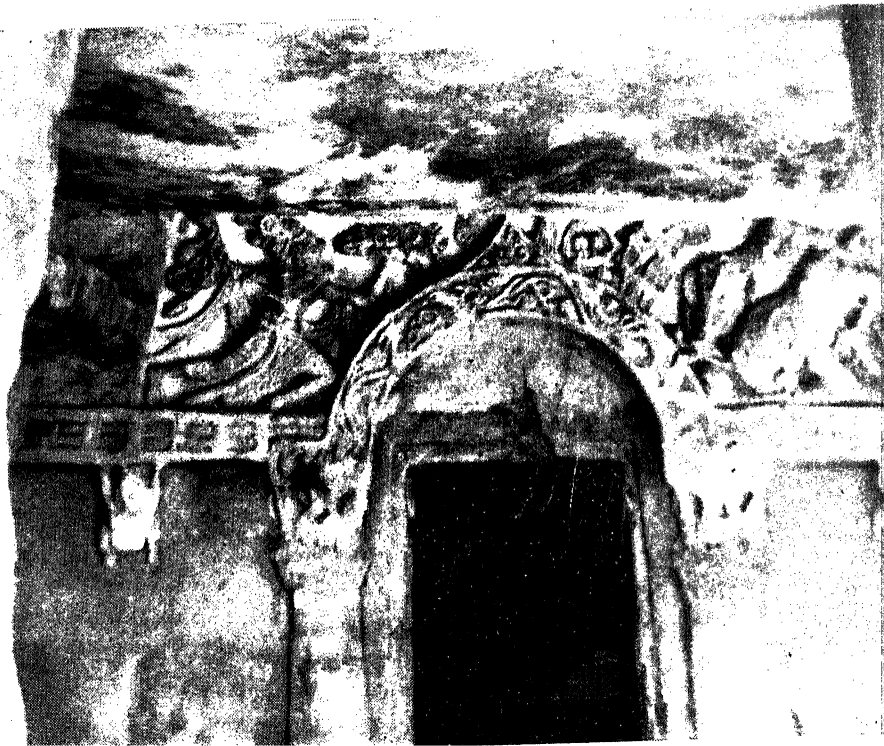
(ऊपर) व्याघ्र गुफा—उदयगिरि   (नीचे) रानीगुफा—उदयगिरि [भुवनेश्वर]
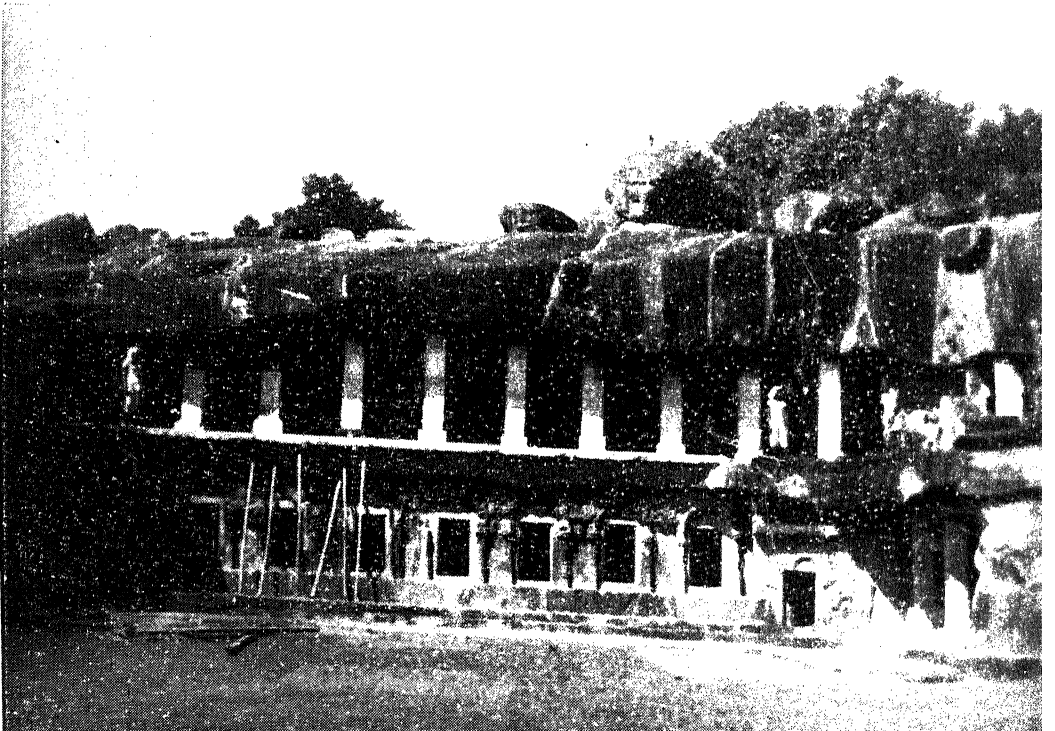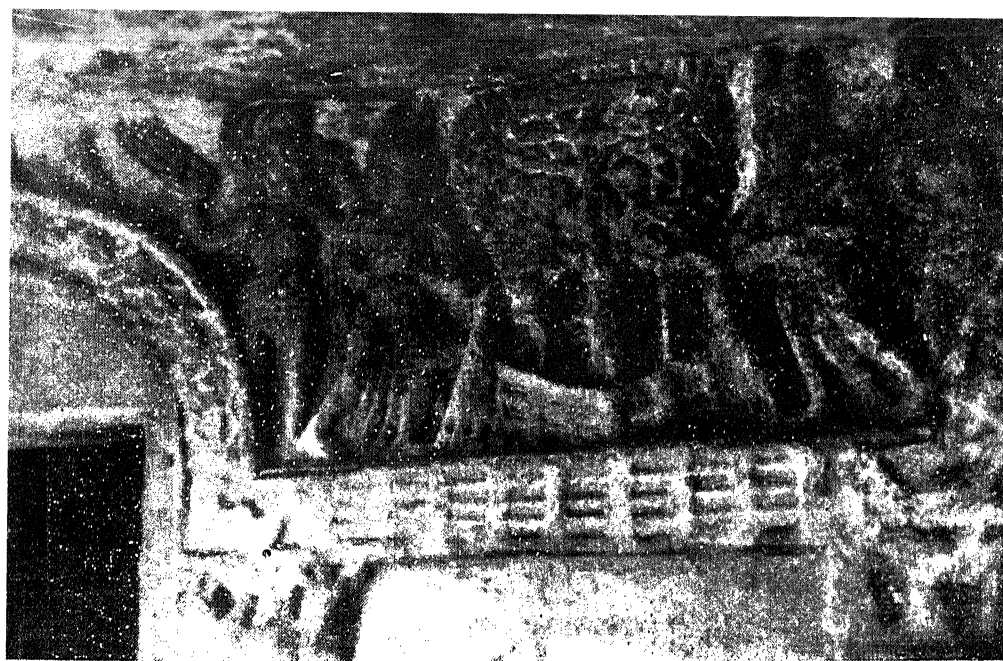
(ऊपर) वृक्षपूजा—उदयगिरि [भुवनेश्वर]

(नीचे) सर्पगुफा — उदयगिरि

(नीचे) द्वारपाल—उदयगिरि
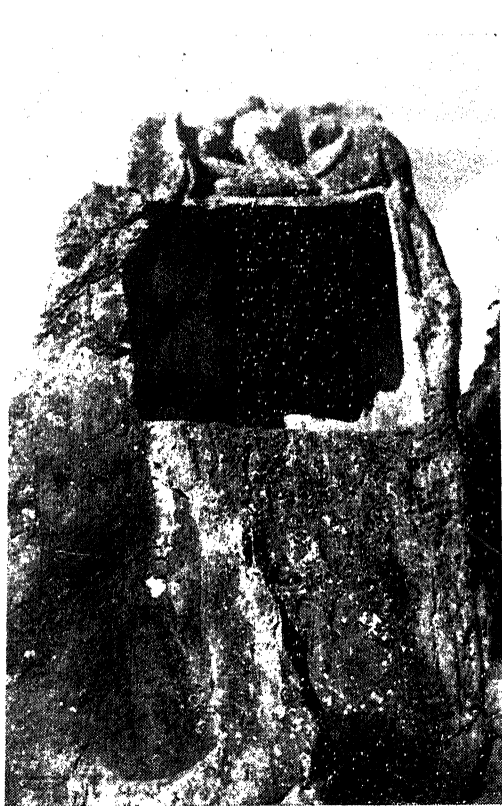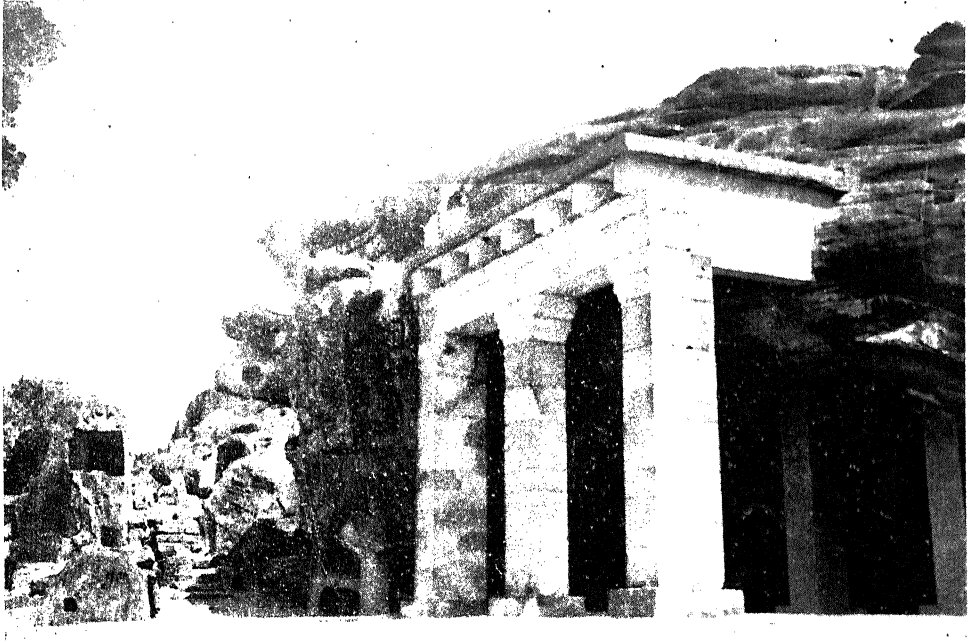
(ऊपर) हाथी गुफा—उदयगिरि (नीचे) अनन्त गुफा—खण्डगिरि [भुवनेश्वर]
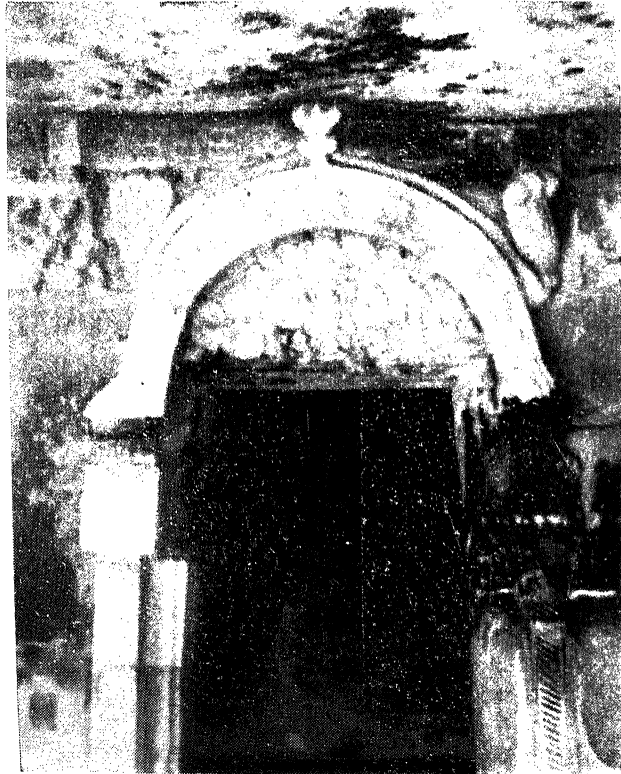
खण्डगिरि जैन मन्दिर—भुवनेश्वर
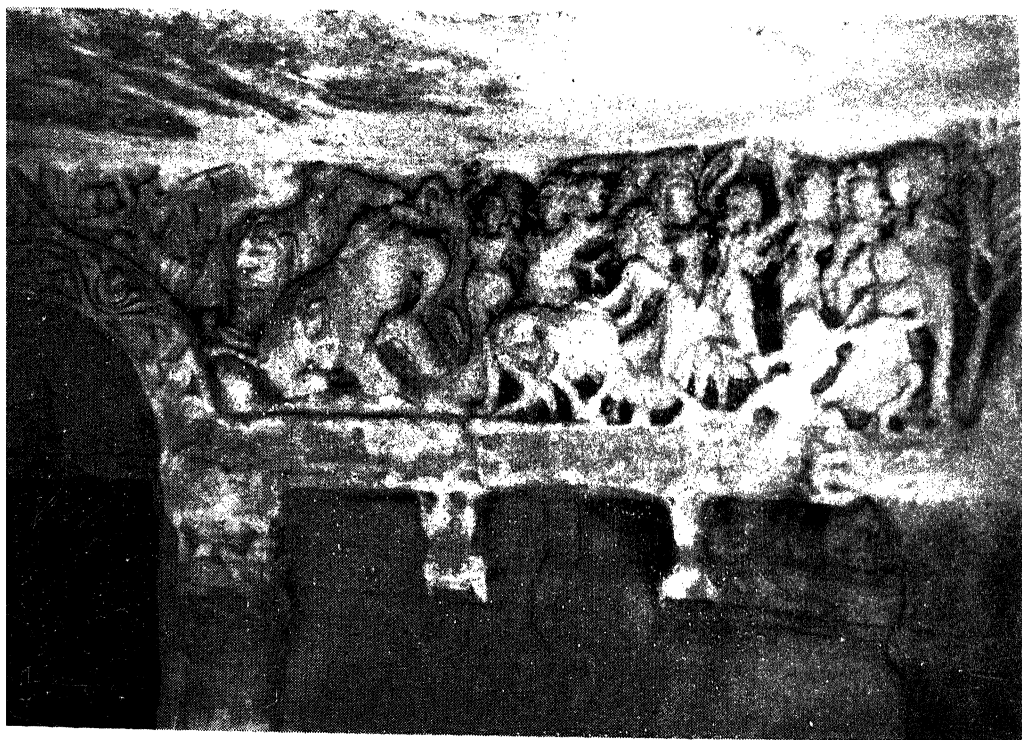
युद्ध चित्रावली—रानी गुफा, उदयगिरि [भुवनेश्वर]

श्री गणेश (लिङ्गराज मन्दिर)

गणेश (म्यूजियम)

बृहस्पति (कोणार्क)
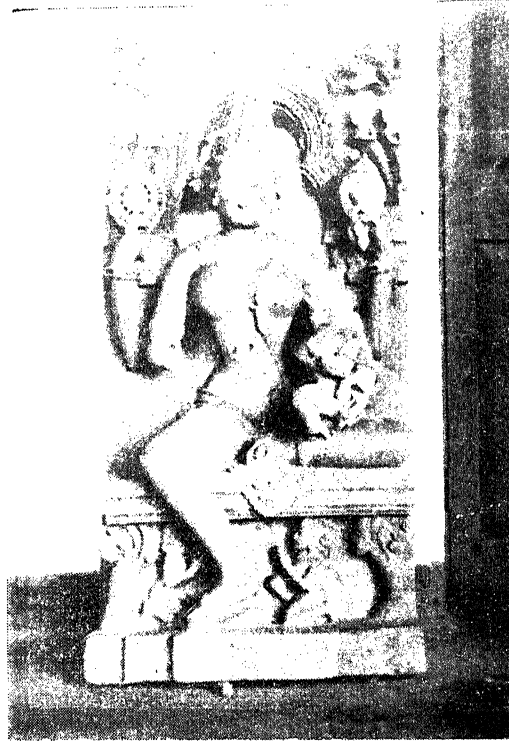
वराह (म्यूजियम

श्री वैष्णवी (म्यूजियम)

श्री वाराही (म्यूजियम)

श्री चामुण्डा (म्यूजियम)

श्री इन्द्राणी (म्यूजियम)

श्री अवलोकितेश्वर (म्यूजियम)
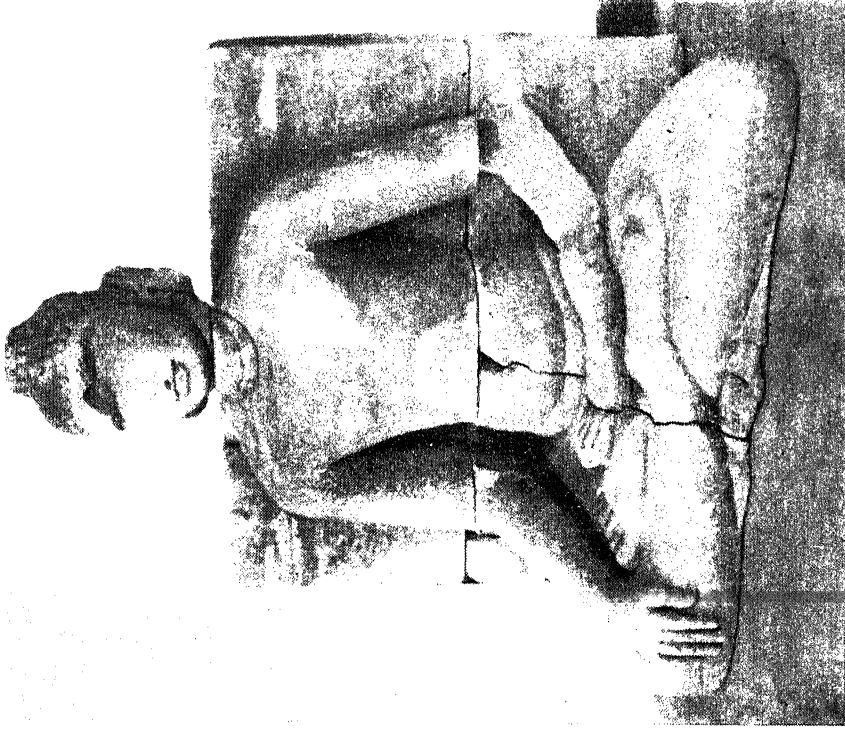
भूमिस्पर्श मुद्रा के साथ बुद्ध (म्यूजियम)

द्वै नवाद्य—ब्रह्मेश्वर, भुवनेश्वर
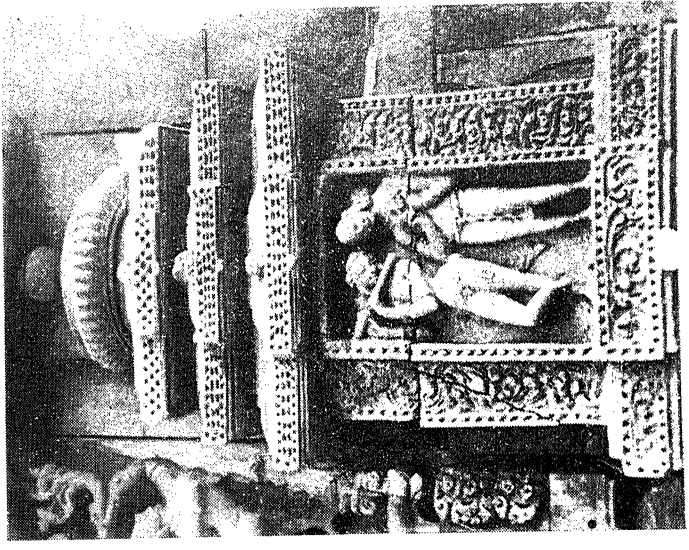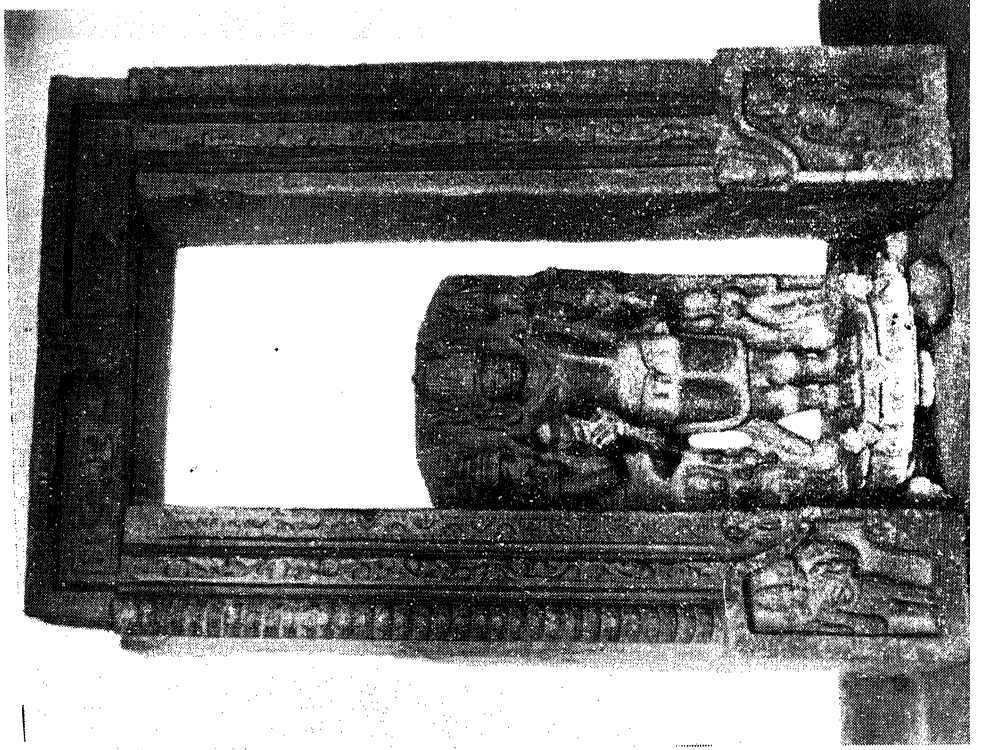
श्री गोपीनाथ (म्यूजियम)

श्री ऋषभदेव (म्यूजियम)

उत्कल की मूर्त्तिकला
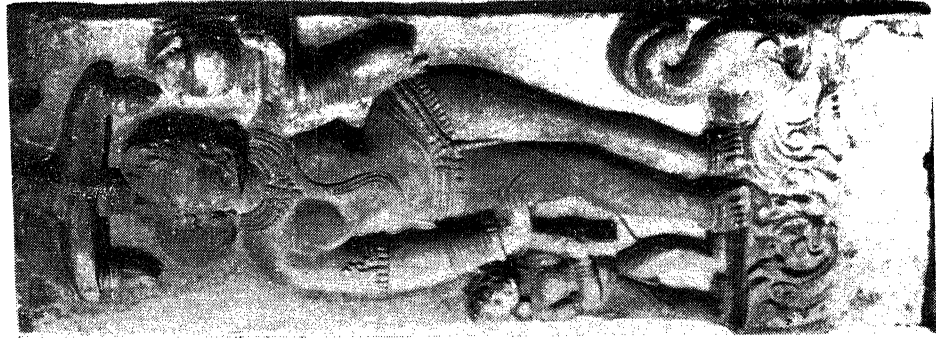
गङ्गा (म्यूजियम)
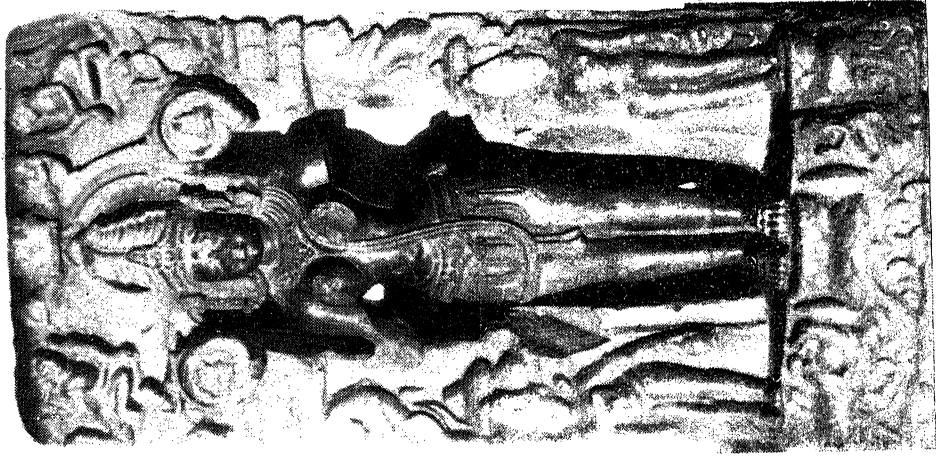
पार्वती (म्यूजियम)

यमुना (म्यूजियम)

गज सिंह (म्यूजियम)

श्री कार्त्तिकेय (म्यूजियम)
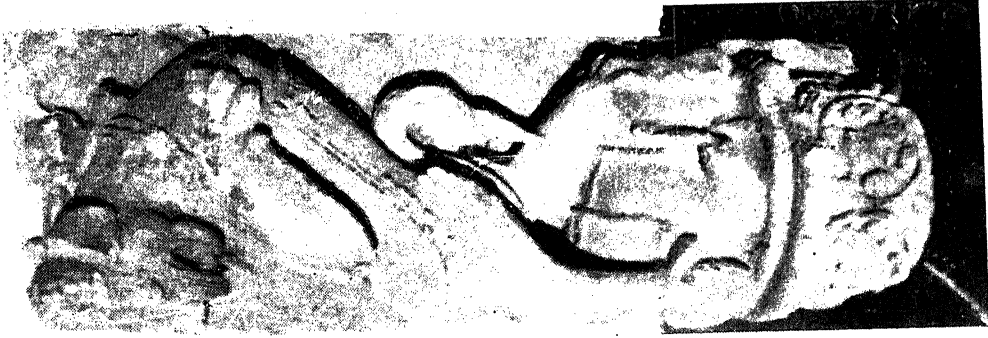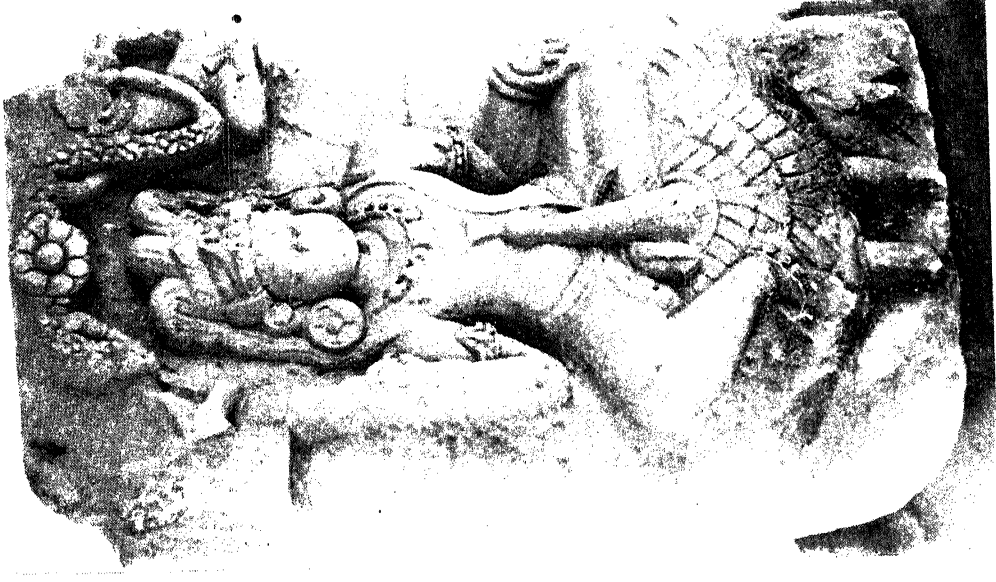
अवलोकितेश्वर ८ वीं सदी (म्यूजियम)
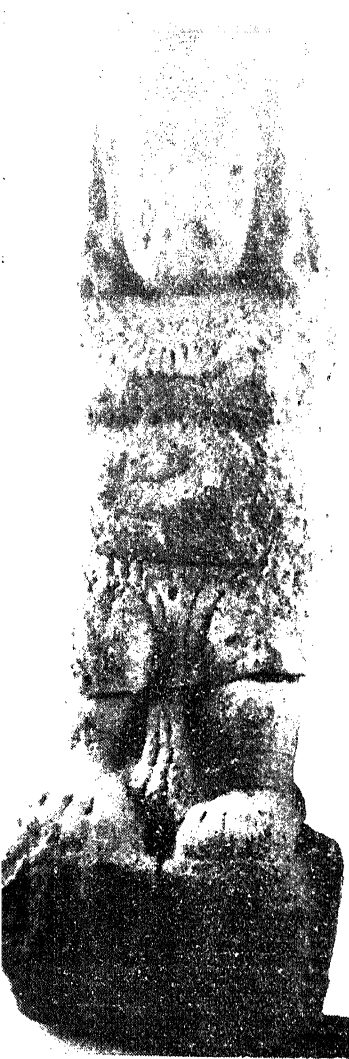
यक्ष (म्यूजियम)

अशोक स्तम्भ का सिंह (म्यूजियम)

स्तम्भों में भी है। सारनाथ-स्तम्भ में अश्व भी है। हाथी बुद्ध-जन्म का प्रतीक है, जो धउली पहाड़ और कालसिलं में अंकित है। संभव पद्मबंध को मूल स्तम्भ के साथ संयुक्त करने के लिए पद्मबंध और पीठ के निम्न भाग में एक छेद है। इस स्तम्भ के ऊपरी भाग में एक सिंह-मूर्ति थी। यह भास्करेश्वर के आसपास से आविष्कृत होकर अब ओड़िशा म्यूजियम में संरक्षित है। सिंहमूर्ति को फोड़ दिया गया है। संभव है, शैव फोड़कर सिंहमूर्ति को गाड़ दिया गया हो। सिंह की ऊँचाई ३ फुट ७ इंच और परिधि ८ फुट ७ इंच है। ओड़िशा में अवस्थित अशोक की कला में साधारणतः अशोक की शैली नहीं है, जैसे—अशोक के समय की सभी मूर्तियाँ और स्तम्भ मसृण हैं। ये सब चुनार के पासवाले पत्थर से निर्मित हैं; लेकिन ओड़िशा में पाये जानेवाले हस्तीमूर्ति और स्तम्भ स्थानीय बीलपत्थर से निर्मित हैं, इस कारण इनमें मसृणता का अभाव परिलक्षित होता है। पंडितों का मत है कि स्थानीय कलाकारों द्वारा यह स्तम्भ और हस्तीमूर्ति बनाई गई है।[1] उस समय ओड़िशा में स्थानीय कलाकार और कारीगर थे। इस बात का पता भुवनेश्वर की नई राजधानी के पास खंडगिरि और उदयगिरि की गुफाओं से चलता है। ये गुफाएँ प्रायः समसामयिक हैं, या थोड़े समय बाद की हैं। इसलिए इनमें पाई जानेवाली सभी मूर्तियों का विचार एक साथ किया जायेगा।

उदयगिरि की हाथीगुंफा नामक बृहत् प्राचीन प्राकृतिक गुफा में खारवेल के प्रसिद्ध शिलालेख विद्यमान हैं।[2] विशेषज्ञ लोग खंडगिरि की गुफा और मूर्तिकला को काठ के अनुकरण के अनुसार पत्थर पर खोदे हुए चित्र मानते हैं।[3]

प्रसिद्ध राणी गुफा में अनेक कारुकार्य विद्यमान हैं। इनमें से अनेक के नष्ट हो जाने पर भी मृगया और नारी-अपहरण दृश्य अत्यंत मनोहर हैं। इसके अतिरिक्त बंदरों के दृश्य और विशेष रूप से खोदे हुए बौद्ध धर्म की बाड़ उल्लेख योग्य है। इसके अतिरिक्त बर्च्छाधारी द्वारपाल भी इस गुफा और दूसरी गुफाओं में दिखाई पड़ते हैं। नारी-हरण दृश्य गणेश गुफा में भी अंकित है। कल्पवृक्ष बाड़ (railing) के अन्दर रहकर पूजित होने का दृश्य जय-विजय गुफा में अंकित है। व्याघ्र गुफा नामक गुफा की छत बाघ के मुँह के समान दिखाई पड़ती है। इसमें वास्तव में बाघ की आँखें, नाक और ऊपर के दाँत खोदे हुए हैं। दूसरी एक गुफा के ऊपरी भाग में इसी तरह साँप का फन खोदा गया है, इसलिए इसे सर्पगुफा कहते हैं।

उदयगिरि की गुफाओं के सिवा खंडगिरि में भी अनेक गुफाएँ हैं, जिनमें मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। इस गुफा में स्वस्तिक चिह्न, कल्पवृक्ष, बाड़ (railing), सर्प, और पद्म पर खड़ी हुई गजलक्ष्मी के ऊपर, दो हाथी पात्र, उन पर पानी उड़ेलते हुए अंकित हैं।

---

1 The Asokan pillar at Bhubaneswar, p. 4.

2 J. A. S. B. Letter, Vol. XIII, p. 98.
Old Brahmi Inscription, p. 1-48.

3 E. Viollet-le-Duc, Lectures on Architecture, Vol. I, p. 39.

इसके अतिरिक्त नव मुनी गुफा में जैन तीर्थंकर, उनके शासन और देवियों की प्रति-मूर्तियाँ खोदी हुई हैं। इस तरह खंडगिरि के बारभुजि या सप्त बखरा गुफा में २४ जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ और उनके वाहन खोदित हैं। ये सब दिगम्बर जैन मूर्तियाँ हैं। मूर्तियाँ वाहनों के साथ बायें से दाहिने हैं। उनके रूप के अनुसार प्रतीत होता है कि सब मूर्तियाँ ध्यानमुद्रा में अवस्थित हैं।

तीर्थंकर	वाहन
१—ऋषभदेव	वृषभ
२—अजितनाथ	हस्ती
३—सम्भवनाथ	अश्व
४—अभिनन्दननाथ	वानर
५—सुमतिनाथ	हंस
६—सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक
७—चन्द्र प्रभु	अर्धचंद्र
८—पद्म प्रभु	पद्म
९—एक मूर्ति	मयूर

वह कोई भी तीर्थंकर नहीं हो सकता; क्योंकि किसी भी जैन तीर्थंकर का वाहन मयूर नहीं है।

१०—अन्य एक मूर्ति	निश्चिह्न
११—नेमिनाथ	वृक्ष
१२—नग्न मूर्ति	निश्चिह्न
१३— ,, ,,	,,
१४—भूबिधिनाथ	किम्मिर
१५—मूर्ति	निश्चिह्न
१६—शांतिनाथ	मृग
१७—कुन्दनाथ	छेलि
१८—काल्पनिक मूर्ति	मध्य
१९—मल्लिनाथ	जलधर
२०—नेमिनाथ	वृक्ष
२१—मुनि सुव्रतनाथ	कच्छप
२२—नेमिनाथ	शंख
२३—Sreyansanatha	गेंडा
२४—महावीर	सिंह

मूर्ति-गठन में किसी भी ठीक प्रणाली का अवलंबन नहीं किया गया है। कोई मूर्ति एकाधिक बार खोदी गई है और कोई मूर्ति बिलकुल नहीं है। यह शिल्पी की अपारगता है। हेमचन्द्र जी ने तीर्थंकरों के वाहनों के विषय में निम्नांकित वर्णन किया है।

वृषो गजोऽश्वः प्लगहः क्रोञ्चः स्वस्तिकः शशी।
मकरः श्रीवत्सः खड्गी महिषः सूकरस्तथा॥
श्येनो वज्रं मृगच्छागौ नन्धावर्त्तो घटोऽपि च।
कूर्म्मे नीलोत्पलं शंखफणी सिंहीउर्हता ध्वनाः॥

इसके अतिरिक्त राणी गुफा की स्त्री-मूर्तियाँ, गंधर्वमूर्ति और अन्यान्य गुफाओं के स्तम्भ प्राचीन कला के निदर्शन हैं। गंधर्व का उत्तरीय, पुष्प और पात्र आदि अत्यंत चमत्कृत हैं। पद्म ने प्राचीन भारतीय कला में किसी न किसी रूप में स्थान पाया है। साँची, भरहुत, बोधगया और ओड़िशा के खंडगिरि[1] उदयगिरि में पद्म का चित्र अंकित है। राणी गुफा, गणेश गुफा और अनन्त गुफा में अर्द्ध प्रस्फुटित या पूर्ण प्रस्फुटित रूप में पद्म अंकित हैं। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के उद्भिदों को भी इस कला में स्थान मिला है। जैसे अनेक प्रकार की लताएँ, प्रस्फुटित पुष्प, फल-पूर्ण वृक्ष; इसके अतिरिक्त आम, पणश, कदली आदि फल भी राणी गुफा के चित्रों में हैं। इसमें अनेक वन्य-जन्तुओं की पणिमूर्ति भी अंकित है। हाथी अतिमात्रा में अंकित हैं। वही मूर्ति बैठी, खड़ी, शुण्ड उठाये, शुण्ड से कमल आदि पकड़े आदि चित्र वहाँ अंकित हैं; विशेषतः अनंत गुफा में लक्ष्मी के ऊपर जो दो हाथी पानी उड़ेलते हैं और राणी गुफा में कई हाथी स्त्रियों के साथ लड़ते हैं, ये सब देखने लायक हैं। गणेश गुफा में हाथी का चित्र द्वारपाल-रूप में है; लेकिन परवर्ती काल में सिंहमूर्तियाँ मंदिरों के द्वारों में रखी गई है। इसके अतिरिक्त गुफाओं में वानर, अश्व, हरिण, वृषभ, कुत्ते, सिंह, हंस, मयूर, कच्छप, मछली आदि के चित्र अत्यंत सुन्दरता के साथ अंकित हैं।

राणी गुफा वाले स्तम्भ और मूर्तियाँ उल्लेख योग्य हैं। द्वारपाल की मूर्तियाँ घुटने तक जूता पहने हुए हैं। कई पंडित इन जूतों को देखकर संदेह करते हैं कि यहाँ ग्रीक या रोमनों के जूतों का अनुकरण किया गया है; लेकिन यह ठीक नहीं है, क्योंकि गुफाओं के स्तम्भ और ग्रीकों के स्तम्भों में काफी अन्तर है। ग्रीकों के स्तम्भ गोलाकार हैं, लेकिन ओड़िशा की गुफाओं में जो स्तम्भ हैं इनमें ४, ८ और १६ कोने हैं। इसके अतिरिक्त इसमें हेन (Architrave) दिखाई पड़ता है; लेकिन ग्रीक या रोमन स्तम्भों में ये सब नहीं हैं।

पाश्चात्य पंडितों ने कहा है कि भारत में पहले पत्थरों का कारुकार्य ग्रीकों ने प्रचलित किया था। "No Indian example in stone either of architecture or sculpture earlier than the reign of Asoka (260-232 B.C.) has yet been discovered and the

---

1 Old Brahmi Inscription, p. 307.

wellknown theory of Mr. Fergussion, that the sudden introduction of the use of stone instead of wood for purposes both of artchitecture and sculpture in India was the result of communication between the empire of Alexander and his successor and that of Mauryan dynasty of Chandragupta and Asoka, is in my opinion certainly correct".[1]

लेकिन यह ठीक नहीं है; क्योंकि सिकंदर का भारत-आक्रमण भारत की सामाजिक अवस्था को प्रभावित नहीं कर सका है। सिकंदर ने भारत के उत्तर-पश्चिमाञ्चल का कुछ हिस्सा थोड़े समय के लिए अपने अधिकार में किया था। इसने भारत की कला और स्थापत्य पर प्रभाव डाला है। लेकिन यह बात बिलकुल अवान्तर है कि इसने ओड़िशा की कला और स्थापत्य पर प्रभाव डाला है; क्योंकि ओड़िशा भारत के पूर्वी सीमान्त में अवस्थित है। इसके अतिरिक्त ओड़िशा कला का निदर्शन है।

ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की चार यक्षमूर्तियों में से तीन खण्डगिरि-निकटस्थ जागमरा के पास डुमडुमा गाँव से मिली हैं, और दूसरी भुवनेश्वरस्थ ब्रह्मेश्वर मंदिर के पास से आविष्कृत हुई है। डुमडुमा की यक्षमूर्तियाँ अच्छी अवस्था में हैं। हर एक की ऊँचाई ५ फीट ७ इंच और सिरों में एक-एक रंध्र हैं, शायद कुछ ऊपर उठाकर रखने के लिए। मूर्तियाँ घुटने उठा कर बैठी हैं। कानों में अलंकार और गले में हार हैं। धोतियाँ पैरों के बीच में लटकी पड़ी हैं। ये सब साँची की यक्षमूर्ति के समान हैं। दूसरी मूर्तियाँ इसी के समान हैं। ऐसा लगता है मानों ये सब मूर्तियाँ किसी बौद्ध स्तूप का अंश हैं। इसके अतिरिक्त यह मालूम हो गया है कि दूसरी या तीसरी शताब्दी की कार्त्तिकेश्वर मूर्ति उत्तरेश्वर मंदिर में है।[2] कार्त्तिकेय की मूर्ति के नीचे मोर और शक्ति हैं। दाहिना हाथ दाहिनी जाँघ पर है। बायें हाथ में कोई पात्र है। इससे मालूम होता है कि तीसरी शताब्दी में भुवनेश्वर में शैवधर्म का उत्थान हुआ था।

चौथी या पाँचवीं शताब्दी की कला या स्थापत्य का कुछ भी पता नहीं मिला है। अपने कोरापुर जिले के प्राचीन स्थान-भ्रमण के समय मैंने सुरगुलि गाँव में एक टूटा-फूटा मंदिर देखा था। यह ईंटों का बना हुआ है। इस मंदिर से एक यक्षमूर्ति मिली है। मूर्ति की ऊँचाई १ फुट ४ इंच और चौड़ाई २ फीट ४ इंच है। इसके दो हाथ हैं। यह आसन पर बैठी है। एक पाँव भूमि के साथ समान्तर है, और दूसरा सीधा है। हाथों में बाला पहने है, सिर में बाल हैं और गले में एक हार है। इससे मालूम होता है कि उस समय वहाँ सिर्फ यक्ष-पूजा होती थी। यह मूर्ति

---

1 J. A. S. Vol. LVIII, p. 108.

2 J. A. S. Letters, pages 104-5.

लगभग चौथी या पाँचवीं शताब्दी की है; क्योंकि उस वक्त भारत में पहले-पहल ईंटों से मंदिर-निर्माण का काम शुरू हुआ था।

ओड़िशा के विभिन्न स्थानों में स्थानीय कला का प्रसार सप्तम शताब्दी से हुआ है, विशेष करके जाजपुर, कटक जिला के ललितगिरि, उदयगिरि, रतनगिरि, भुवनेश्वर, पुरी, कोणार्क और मयूरभंज आदि स्थानों में।

कटक जिले में वैतरणी नदी के पास विरजा क्षेत्र या विरजा या जाजपुर है। महाभारत में उल्लेख है कि वैतरणी नदी में स्नान करने से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और यात्री चाँद के समान स्वच्छ देखे जाते हैं।

"ततो वैतरणीं गत्वा सर्वपापप्रमोचनीम्।
विरजातीर्थमासाद्य विराजित यथा शशी।।"

अनुमान किया जाता है कि दुर्गा या विरजा के नामानुसार इस स्थान का नाम बिरजा-क्षेत्र पड़ा है। इससे यह प्रमाणित है कि यह स्थान महाभारत युग में एक तीर्थक्षेत्र था। सप्तदश शताब्दी के पूर्व विरजा क्षेत्र में कुछ मंदिर थे, ऐसा मालूम नहीं होता है; फिर भी जाजपुर में भौमकर राजत्व-काल में अनेक मंदिर थे, इसका प्रमाण तत्कालीन मंदिरों के भग्नावशेष, हिन्दू, बौद्ध और जन मूर्तियाँ तथा जाजपुर की बहुत सुन्दर सप्तमातृका मूर्त्तियाँ हैं। अब दो सप्तमातृकाओं का अवशिष्टांश बाकी है। पहली वाराही (८ फीट १० इंच) और इन्द्राणी (८ फीट ८ इंच)। ये मुगुनि पत्थर (Chlorite) से बनी हैं। इन दोनों मूर्तियों के साथ दूसरी पंचमातृका ब्रह्माणी, वैष्णवी, कौमारी, माहेश्वरी और नारसिंही एक मुक्तिमंडप में थीं। मालूम हुआ है कि मुसलमानों ने इस पंचमातृका को तोड़कर बंदूक का निशाना बनाया। इसके अतिरिक्त एक चामुंडा मूर्ति भी मिली है। इसके अलावा वैतरणी नदी के दशाश्वमेध घाट में दूसरी सप्तमातृका से पाँच मातृका वाराही, इन्द्राणी, वैष्णवी, कौमारी और माहेश्वरी के अतिरिक्त चामुंडा मूर्ति भी मिली है। पहली सप्तमातृका की वाराही मूर्ति के सिर के अनेक अंश और तीन हाथ नष्ट हो गये हैं। फिर भी मुखाकृति से मालूम होता है कि वाराही बायें हाथ में पकड़े हुए शिशु को वात्सल्य से देख रही है। गले में हार और दूसरे अलंकार हैं। स्तन और बाहु खूब हृष्ट-पुष्ट हैं। इस वाराही का वाहन भैंसा है। इसके चित्र नीचे खुदे हुए हैं। दूसरी सप्त-मातृकाएँ कुछ उन्नत स्तर की हैं। मूर्तियों की बाईं जाँघ पर बैठे हुए शिशु वास्तव में मानव की प्रतिमूर्ति हैं। मातृका-मूर्तियाँ दाहिने हाथ से अभय प्रदान करती हैं।

दशाश्वमेध की मातृकाओं के चार हाथ हैं। बाईं जाँघों पर एक एक पेटवाला छोटा बच्चा बैठा है। मातृकाएँ बायें हाथ से बच्चों को पकड़े हैं और नीचेवाले दाहिने हाथों से अभय प्रदान करती हैं। ये मूर्तियाँ ऊपरवाले दो हाथों से उनके देवताओं के अस्त्र-शस्त्र पकड़े हुए हैं और नीचे

---

1 Mahabharat, Book III, Chapter 85.

वाहनों का चित्र सुन्दर रूप में अंकित हैं। ठीक जाजपुर की सप्तमातृका मूर्ति के समान पुरी में भी सप्तमातृका मूर्तियाँ हैं। इनकी शैली समान है। कारुकार्य में पुरी की मूर्तियाँ काफी सुन्दर हैं, लेकिन जाजपुर की मूर्तियाँ अधिक सुन्दर और प्राकृतिक हैं।[1] पुरी की मूर्तियाँ ध्यानमग्न हैं।

कटक जिले के धर्मशाला के अंचल में भी सप्तमातृका-मूर्तियाँ तैयार की जाती थीं। इन सप्तमातृकाओं से वाराही (४ फीट × २ फीट), वैष्णवी (४ फीट ४ इंच × २ फीट २ इंच) और एक इन्द्राणी (४ फीट ४ इंच × २ फीट २ इंच) मूर्ति के साथ एक चामुण्डा (४ फीट × २ फीट) मूर्तियाँ ओड़िशा के म्युजियम में सुरक्षित हैं। यह माना गया है कि सब मूर्तियाँ नवीं शताब्दी की हैं।[2] ये सभी Chlorite पत्थर की हैं। ये मूर्तियाँ चार हाथवाली हैं, और सुखआसनों में बैठी हैं। जाजपुरवाली मातृका के समान ये भी बायें हाथ से बच्चों को पकड़ कर दाहिने हाथों से अभय प्रदान करती हैं और ऊपर दो हाथों में अपने अपने देवताओं के अस्त्र-शस्त्र पकड़े हुए हैं। नीचे सब वाहन हैं। ऊपर गंधर्व और मनुष्य पूजा करते हैं। पुरी की मूर्ति के समान ये मातृकाएँ ध्यान-मग्न हैं। मातृकाओं के साथ चामुण्डा मूर्ति भी प्राप्त होने की बातें उल्लेखनीय है। जाजपुर की चामुण्डा एक बृहत् मूर्ति है; लेकिन इसके अनेक अंश नष्ट हो गये हैं, फिर भी इसमें कला का सौंदर्य विद्यमान है। चामुण्डा ने चण्ड और मुण्ड नामक दो असुरों को मारकर चामुण्डा नाम प्राप्त किया था। इसके अतिरिक्त रक्तबीज असुर को मारने के वक्त उसने दुर्गा को काफी मदद दी थी। रक्तबीज असुर की देह में आघात से जो रक्तबिन्दु भूमि पर पड़े थे उन्होंने अन्य रक्तबीज असुर का रूप धारण कर दुर्गा और सप्तमातृका के साथ युद्ध किया था। इस तरह रक्तबीज के शरीर पर अनेक आघात होने के कारण अनेक रक्तबिन्दु भूमि पर पड़ कर हजारों असुर जन्मे, और सारे पृथ्वी में विस्तृत हो गये। इसके बाद दुर्गा ने चामुण्डा से रक्तबीज का सब रक्त भूमि पर पड़ने के पहले ही पीने के लिए कहा था। चामुण्डा के ऐसा करने पर रक्तबीज रक्तशून्य होकर मर गया। ओड़िशा में जितनी चामुण्डामूर्तियाँ हैं, सब सुखासन में बैठी हैं। युद्ध-रत रहने की मूर्ति तैयार नहीं हुई है। जाजपुर के दशाश्वमेध घाट में जो मूर्ति है, उसका निर्माण देवीमाहात्म्य में वर्णित सूत्र के अनुसार हुआ है। ऊपर के दाहिने हाथ में तलवार, ऊपर के बायें हाथ में लाठी है। मूर्ति मुख बाये, जीभ निकाले खड़ी है। शरीर कंकाल के समान है। अग्निपुराण में चामुण्डा का वर्णन निम्नांकित रूप में हुआ है। "चामुण्डार कोटरगत चक्षु, त्रिनेत्र, चर्महीन कंकाल, ऊर्ध्वकेशा, शुष्क पाकस्थली, गजचर्मधारी, पट्टिशधारी बामदवोय रे नरमुंड, डाहाण हाथ दवय रे खण्ग, एवं बर्छा, शवारूढ़ा, अस्तिन्वषणा।"[3] धर्मशाला से लाई हुई, ओड़िशा म्युजियम में संरक्षित

---

1 Journal of the Royal Society of Arts, pp. 10-16.

2 Catalogue of Sculpture in Orissa State Museum by Sri Arjun Joshi (Under preparation).

३ **अग्निपुराण,** Vol. I, **पृष्ठ १४३**

चामुण्डामूर्ति वर्णन के अन्तर्गत है। इस मूर्ति की शिरा-प्रशिरा और धमनी काफी स्पष्ट है। श्मशान में शवारूढ़ा, नीचे श्मशान का दृश्य, सब श्रृगाल शव का मांस खाते हैं। भयानक दृश्य, श्मशान का चिह्न। (चित्र देखिए)

जाजपुर की चामुण्डा-मूर्तियों में गज-चर्म नहीं है जो पुरी की मूर्ति में स्पष्ट रूप में अंकित है।

चामुण्डा मूर्तियाँ अप्राकृतिक होने पर भी जीवन्त और कारुकार्यमय हैं। धमनी और शिरा-प्रशिरा का अंकन-कार्य सूक्ष्म कारुकार्य का निदर्शन है। मनुष्य-मस्तिष्क की यह एक विचित्र उद्‌भावना है। यह एक प्रमाण है कि मनुष्य का मनोभाव कला में रूपान्तरित हुआ है। रक्तबीज मनुष्य के पाप का परिचायक है। पाप और असत् काम बढ़ता था। मनुष्य चामुण्डा के समान प्रतिमाबद्ध हो तो पाप और असत् काम का समूल विनाश करना सम्भव है।

सप्तम शताब्दी में ओड़िशा की बौद्ध कला और स्थापत्य के बारे में चीनी परिव्राजक ह्वेनसांग ने कई विवरण दिये हैं। वे कहते हैं कि ओड़िशा में अनेक बौद्ध हैं। यहाँ लगभग एक सौ बौद्ध मठ हैं। ये सभी महायान पन्थ के हैं। बुद्ध ने जहाँ पर धर्मप्रचार किया था, उस स्थान में लगभग दस अशोकस्तूप हैं। राज्य के दक्षिण-पश्चिम में एक पर्वत पर (Pu-sie-Po-ki-li) पुष्पगिरि नामक एक मठ है। यह बहुत सुन्दर पत्थर का स्तूप है। इसके उत्तर-पूर्व में दूसरा एक स्तूप है। यह दूसरे स्तूप से अधिक आश्चर्यजनक है। ये सभी स्तूप आश्चर्यजनक हैं, क्योंकि इन्हें देवों ने तैयार किया है। समुद्र के पास (Che-li-ta-lo) चरित्र नामक स्थान के पाँच मठों में अत्यंत सुन्दर मूर्तियों के साथ अनेक मंदिर भी थे।[1] सम्भव है कि ह्वेनसांग के ओड़िशा-भ्रमण-काल में जाजपुर ओड़िशा की राजधानी रहा हो। जाजपुर के दक्षिण-पश्चिम में उदयगिरि और ललितगिरि हैं, जिन पर पुष्पगिरि बिहार था। निकटस्थ रत्नगिरि पहाड़ से और इन पर्वतों से प्राप्त मूर्तियों से स्पष्ट होता है कि इन गिरियों में बौद्धों का मठ और बिहार थे। १९५७-५८[2] ई० में भारत सरकार के प्रत्नतत्त्व विभाग द्वारा रत्नगिरि की खुदाई से ईंटों से बने हुए (४७ × ४७ फीट के) एक स्तूप का आविष्कार किया गया है।

प्रधान स्तूप के चारों ओर अनेक पत्थर-निर्मित छोटे-छोटे स्तूप इतस्ततः पड़े हैं। अनेक छोटे स्तूपों में अवलोकितेश्वर, बुद्ध, तारा और बज्रयान के देव-देवी अंकित हैं।[2] इसके अतिरिक्त प्रधान स्तूप में और दूसरे स्थानों में अरपचन, तारा, लोकेश्वर, अपराजिता, बुद्ध और दूसरी मूर्तियाँ मिली हैं। इसी स्थान से एक शिलालेख भी मिला है। उसमें "प्रतीत्य-समुत्पद-सूत्र" लिखा है। इनके अक्षर गुप्तकालीन अक्षरों के समान हैं। ऐसे लेख नालन्दा, कुशीनगर आदि स्थानों के स्तूपों में लिखे जाते थे। इसके अतिरिक्त पहले से मिले हुए अनेक मूर्तियों में अभिलेख

---

1 Watters yusna Chwang's Travels in India, Vol. II, p. 193-194.

2 India Archaeology, 1957-53, p. 34-40.

हैं, जिनके अक्षरों को भौमकरवंशीय राजा शुभकर देव के नेउलपुर अभिलेख के अक्षरों के समान माना है। शुभकर देव से ७९५ ई० में चीन सम्राट् को एक उपहार मिला था। शुभकर देव महायान धर्मावलम्बी थे। उस समय बौद्धधर्म के प्रसार के कारण अनेक बौद्ध मूर्तियाँ और मठ तैयार किये गये थे। इस दृष्टि से कटक जिले के इन पहाड़ों की मूर्तियों, भग्नावशेष और शुभकर देव की समसामयिक प्रज्ञा की जीवनी से पता चलता है कि मगध के नालन्दा के समान ओड़िशा में भी एक बड़ा शिक्षा-केन्द्र था। अनुमान है कि ये ललितगिरि, उदयगिरि, और रत्नगिरि हों। उदयगिरि के निम्न देश में भूमिस्पर्श मुद्रा में एक विशाल बौद्ध मूर्ति है। इस मूर्ति का कुछ अंश मिट्टी के अन्दर है। इसकी ऊँचाई ९ फीट है। कई पत्थरों को इकट्ठा कर यह मूर्ति बनी है।[1] ठीक ऐसी ही एक मूर्ति ५×५ फीट (चित्र देखिए) भद्रक के पास खडिपदा से लाकर ओड़िशा म्युजियम में रखी गई है। यह मूर्ति खण्ड-खण्ड Sand Stone (कन्दापत्थर) से निर्मित है। अनुमान किया जाता है कि इसका निर्माण-काल अष्टम शताब्दी है।

ठीक ऐसी ही एक बुद्धमूर्ति बौद में भी है। इससे मालूम होता है कि अष्टम और नवम शताब्दी में बौद्ध धर्म का विशेष प्रसार ओड़िशा में था।

उदयगिरि में बुद्धमूर्ति के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्व मूर्तियाँ भी हैं। इनमें से एक अवलोकितेश्वर बोधिसत्व (७ फीट १० इं० × २ फीट १० इं०) की दो हाथ, और शिर की अभिताभ मूर्ति है। इसके बारे में एक अभिलेख है। ठीक ऐसी ही पद्मपाणि की मूर्ति (साढ़े चार फीट) बालेश्वर जिले के उडिपदा से लाकर ओड़िशा म्युजियम में रखी गई है। (चित्र देखिए) शिला-लेख से मालूम होता है कि महामण्डल राय परमगुरु राहुल रुचि ने शुभकर देव के राजत्व-काल में यह प्रतिमा दान की थी।[2] भौमवंशीय राजा शुभकर देव अष्टम शताब्दी में राजत्व करते थे। अष्टम शताब्दी में भुवनेश्वर के पास बौद्धधर्म और कला का प्रसार भी देखा जाता है। भुवनेश्वर के पास झाड़पड़ा गाँव से भी एक विशालकाय अवलोकितेश्वर मूर्ति (५ फीट ६ इं० × ३ फीट ३ इं०) लाकर भुवनेश्वर म्युजियम में रखी गई है। (चित्र देखिए) देन्द्रापड़ा में भी ऐसी ही अनेक बोधिसत्व मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियों का निचला भाग नष्ट हो गया है, फिर भी जो कुछ है, वह उस समय की कला का पूर्ण परिचय प्रदान करता है।

मध्य युग की बौद्ध कला की कई स्वतंत्र शैलियाँ हैं। ललितगिरि, उदयगिरि और रत्नगिरि की मूर्तियों की भी कई विभिन्न शैलियाँ हैं। ललितगिरि की मूर्तियों का मुख लम्बा है; लेकिन रत्नगिरि की मूर्तियों का मुख चौड़ा और गोलाकार है और उदयगिरि की मूर्तियों का मुख अधिक चौड़ा और संपूर्ण गोलाकार है। इस प्रभेद का कारण विभिन्न कलाकारों की स्वेच्छाचारिता

---

1 India Archaeology 1957-58, plate LI.

2 Ibid plate LIV.

3 Ibid plate LV-L I.

हैं, जिनके अक्षरों को भौमकरवंशीय राजा शुभकर देव के नेउलपुर अभिलेख के अक्षरों के समान माना है। शुभकर देव से ७९५ ई० में चीन सम्राट् को एक उपहार मिला था। शुभकर देव महायान धर्मावलम्बी थे। उस समय बौद्धधर्म के प्रसार के कारण अनेक बौद्ध मूर्तियाँ और मठ तैयार किये गये थे। इस दृष्टि से कटक जिले के इन पहाड़ों की मूर्तियों, भग्नावशेष और शुभकर देव की समसामयिक प्रज्ञा की जीवनी से पता चलता है कि मगध के नालन्दा के समान ओड़िशा में भी एक बड़ा शिक्षा-केन्द्र था। अनुमान है कि ये ललितगिरि, उदयगिरि, और रत्नगिरि हों। उदयगिरि के निम्न देश में भूमिस्पर्श मुद्रा में एक विशाल बौद्ध मूर्ति है। इस मूर्ति का कुछ अंश मिट्टी के अन्दर है। इसकी ऊँचाई ९ फीट है। कई पत्थरों को इकट्ठा कर यह मूर्ति बनी है।[1] ठीक ऐसी ही एक मूर्ति ५×५ फीट (चित्र देखिए) भद्रक के पास खडिपदा से लाकर ओड़िशा म्युजियम में रखी गई है। यह मूर्ति खण्ड-खण्ड Sand Stone (कन्दापत्थर) से निर्मित है। अनुमान किया जाता है कि इसका निर्माण-काल अष्टम शताब्दी है।

ठीक ऐसी ही एक बुद्धमूर्ति बौद में भी है। इससे मालूम होता है कि अष्टम और नवम शताब्दी में बौद्ध धर्म का विशेष प्रसार ओड़िशा में था।

उदयगिरि में बुद्धमूर्ति के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्व मूर्तियाँ भी हैं। इनमें से एक अवलोकितेश्वर बोधिसत्व (७ फीट १० इं० × २ फीट १० इं०) की दो हाथ, और शिर की अभिताभ मूर्ति है। इसके बारे में एक अभिलेख है। ठीक ऐसी ही पद्मपाणि की मूर्ति (साढ़े चार फीट) बालेश्वर जिले के उडिपदा से लाकर ओड़िशा म्युजियम में रखी गई है। (चित्र देखिए) शिला-लेख से मालूम होता है कि महामण्डल राय परमगुरु राहुल रुचि ने शुभकर देव के राजत्व-काल में यह प्रतिमा दान की थी।[2] भौमवंशीय राजा शुभकर देव अष्टम शताब्दी में राजत्व करते थे। अष्टम शताब्दी में भुवनेश्वर के पास बौद्धधर्म और कला का प्रसार भी देखा जाता है। भुवनेश्वर के पास झाड़पड़ा गाँव से भी एक विशालकाय अवलोकितेश्वर मूर्ति (५ फीट ६ इं० × ३ फीट ३ इं०) लाकर भुवनेश्वर म्युजियम में रखी गई है। (चित्र देखिए) देन्द्रापड़ा में भी ऐसी ही अनेक बोधिसत्व मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियों का निचला भाग नष्ट हो गया है, फिर भी जो कुछ है, वह उस समय की कला का पूर्ण परिचय प्रदान करता है।

मध्य युग की बौद्ध कला की कई स्वतंत्र शैलियाँ हैं। ललितगिरि, उदयगिरि और रत्नगिरि की मूर्तियों की भी कई विभिन्न शैलियाँ हैं। ललितगिरि की मूर्तियों का मुख लम्बा है; लेकिन रत्नगिरि की मूर्तियों का मुख चौड़ा और गोलाकार है और उदयगिरि की मूर्तियों का मुख अधिक चौड़ा और संपूर्ण गोलाकार है। इस प्रभेद का कारण विभिन्न कलाकारों की स्वेच्छाचारिता

---

1 India Archaeology 1957-58, plate LI.

2 Ibid plate LIV.

3 Ibid plate LV-L I.

कोणार्क के विश्वविमोहनकारी कारुकार्य के विभिन्न दृश्य

सूर्यनारायण मूर्त्ति

सिंहासन के नीचे का हाथी

कोणार्क के विश्वविमोहनकारी कारुकार्य के विभिन्न दृश्य

मन्दिर द्वार (पूर्ण झाँकी)
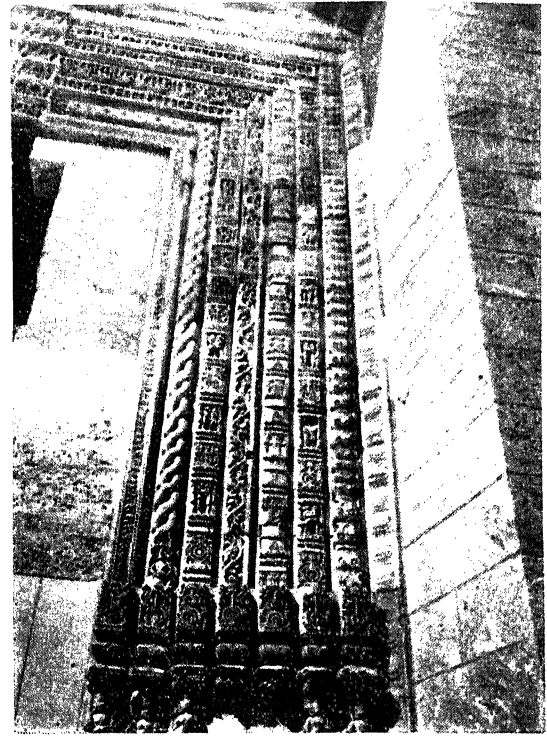
मन्दिर द्वार (एक ओरसे)
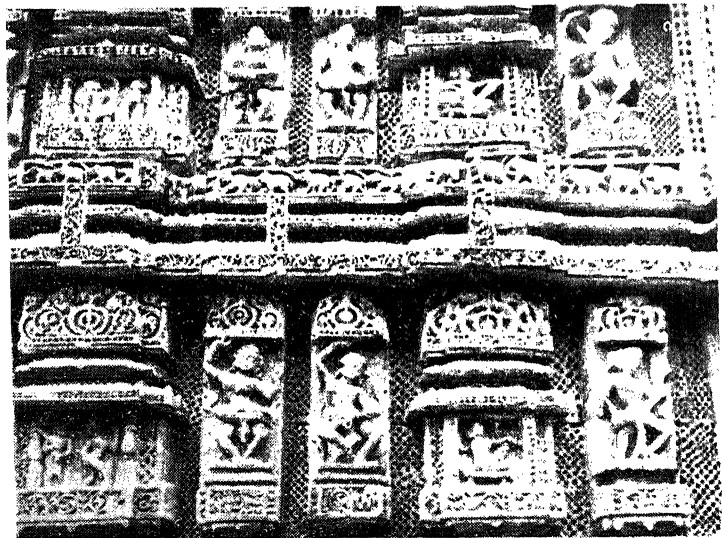
नाट्य-मन्दिर की एक झाँकी

कोणार्क के विश्वविमोहनकारी कारुकार्य के विभिन्न दृश्य

अलसकन्या

सूर्यमूर्त्ति

मंजीरा-वादनरता

नृत्यरता

कोणार्क के विश्वविमोहनकारी कारुकार्य के विभिन्न दृश्य
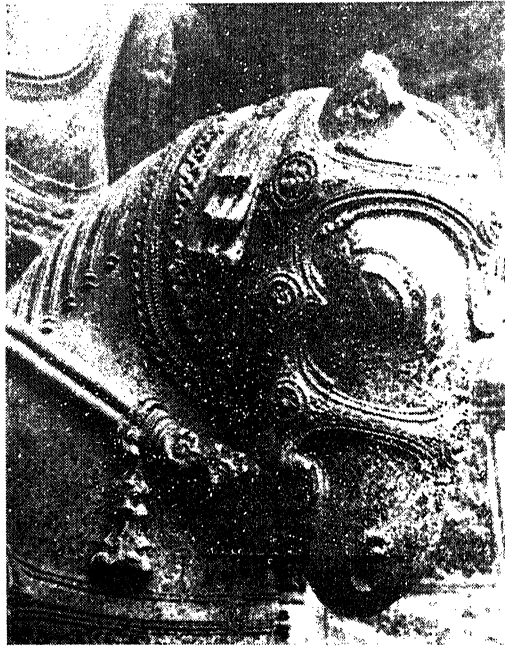
सुसज्जित युद्ध अश्व
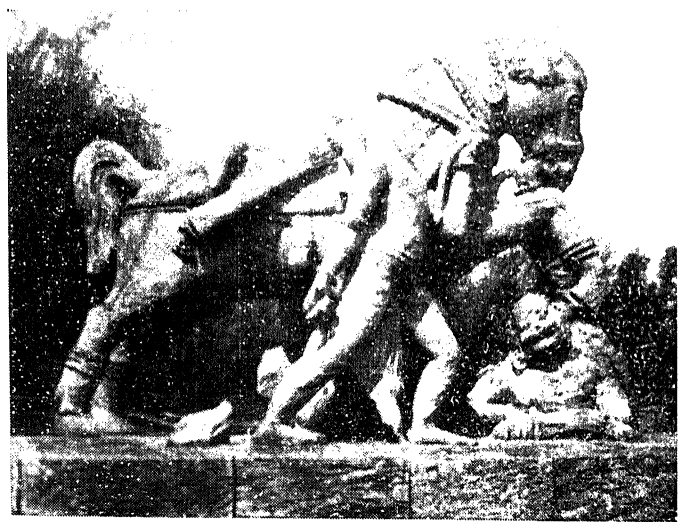
घोड़ा और उसका सवार

कोणार्क के विश्वविमोहनकारी कारुकार्य के विभिन्न दृश्य

नर्त्तकी

वाद्यरता

चतुर्मुख शिव

मृदङ्गवादनरता
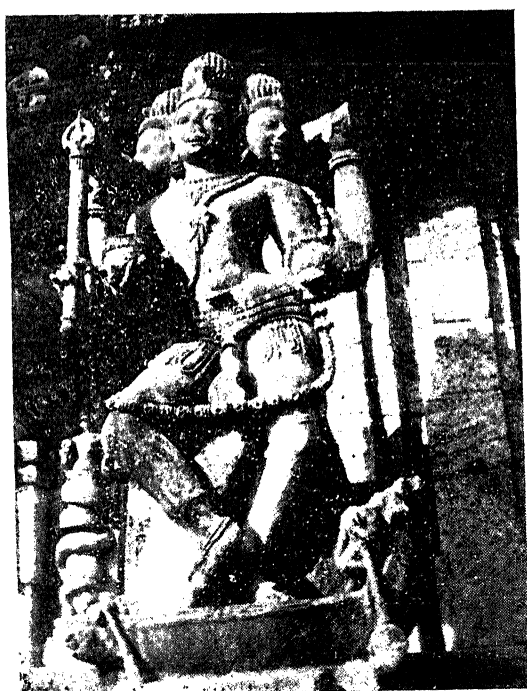
कोणार्क के विश्वविमोहनकारी कारुकार्य के विभिन्न दृश्य
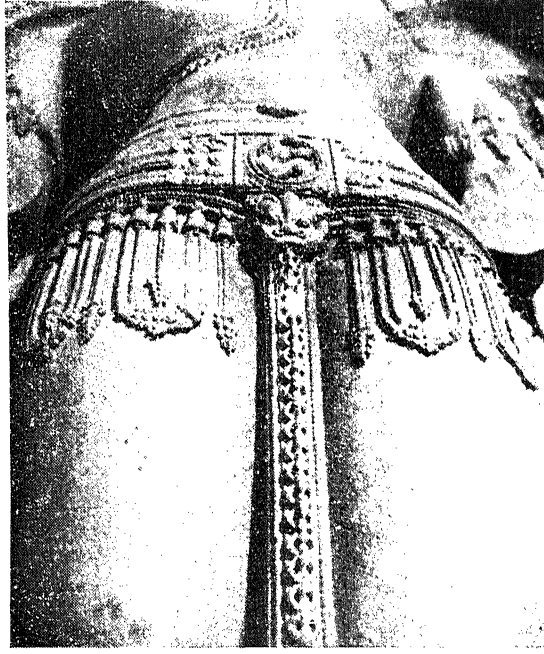
सूर्यमूर्त्ति का एक हिस्सा
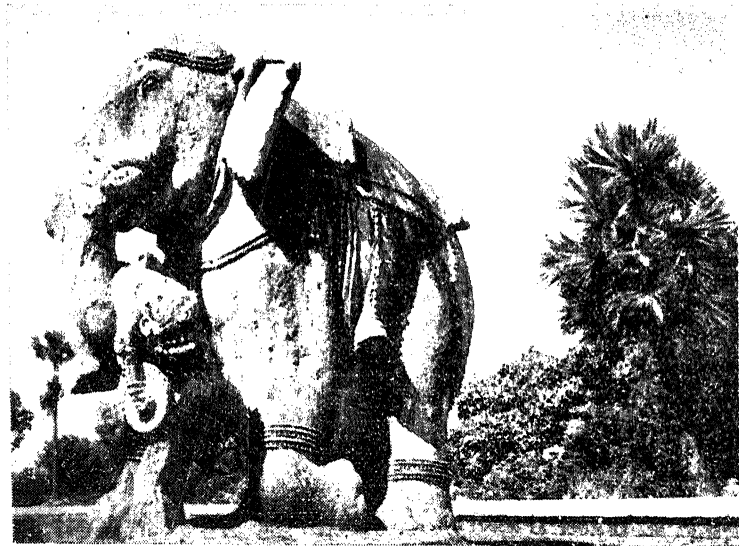
कोणार्क मन्दिर का हाथी

भुवनेश्वर के कारुकार्य के कुछ नमूने
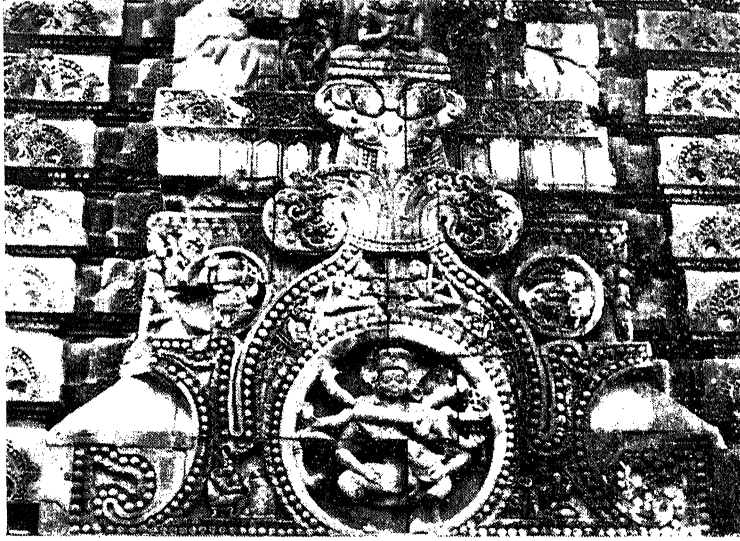
परशुरामेश्वर मन्दिर का एक हिस्सा
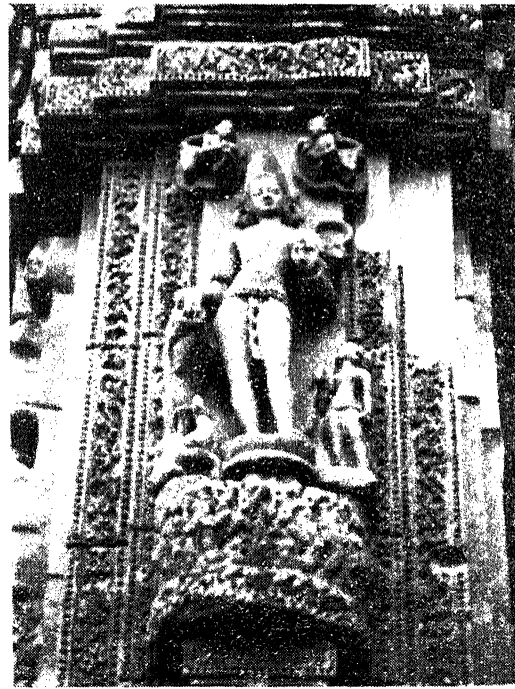
वरुणमूर्त्ति (राजाराणी मन्दिर, भुवनेश्वर)

भुवनेश्वरके कारुकार्य के कुछ नमूने
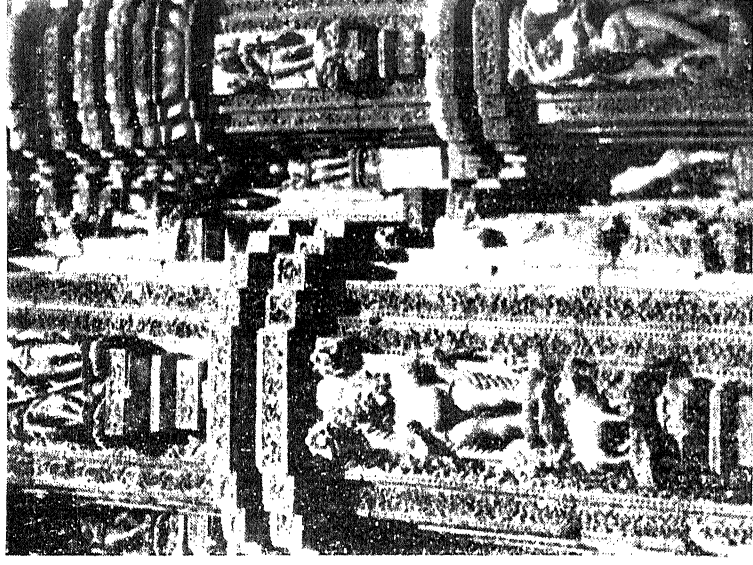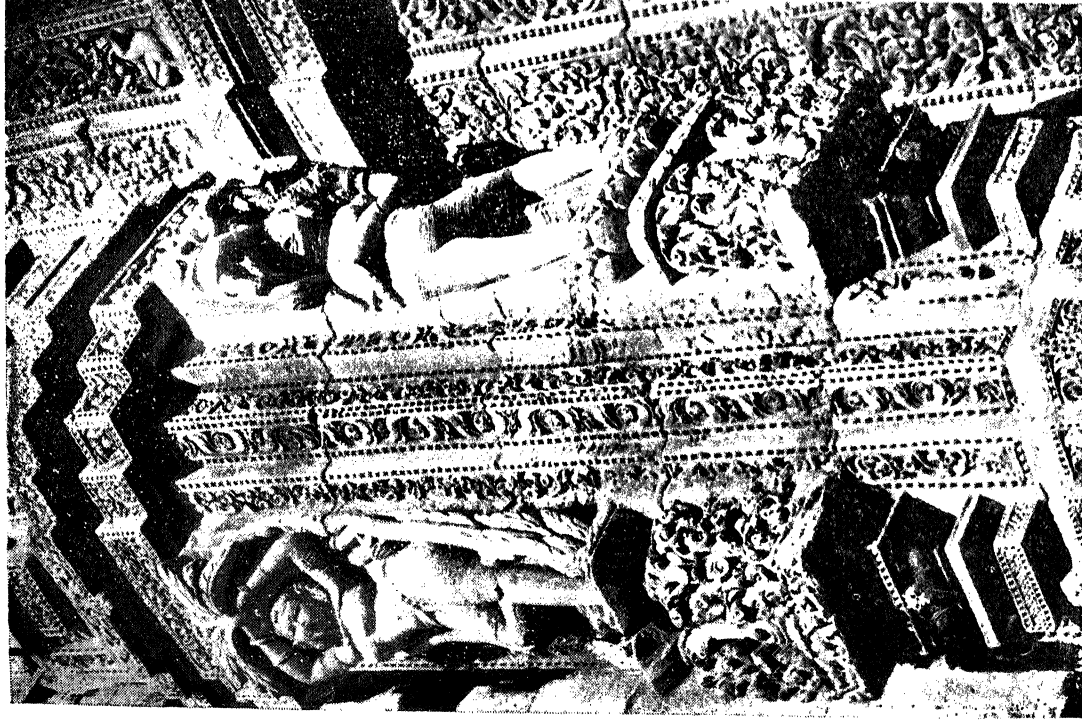
राजाराणी मन्दिर के दो दृश्य

है। प्रभेद रहने पर गठन-प्रणाली, भंगिमा और कारुकार्य की दृष्टि से यह एक कलाकार-गोष्ठी का काम है, इसमें कुछ संदेह नहीं है।

इसके बाद दशम शताब्दी में चौद्वार में अनेक शैवकला और स्थापत्य था। इसका प्रमाण वहाँ प्राप्त आठ शिवमंदिरों का अवशिष्टांश है। इसके अतिरिक्त पार्वती, कार्त्तिकेय आदि की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। ये अधिक उन्नत स्तर की नहीं हैं। ओड़िशा के मंदिर इसकी कला और स्थापत्य के निदर्शन हैं। ओड़िशा के मंदिर भारत की स्थापत्य कला का एक गुरुत्व-पूर्ण अध्याय हैं। मंदिरों का कारुकार्य चमत्कारपूर्ण है। भारत के शिल्पशास्त्रों में साधारणतः तीन प्रकार के मंदिरों का उल्लेख है। यथा- नागर, द्राविड़, और वेसर। नागरजातीय मंदिर उत्तर भारत में, द्राविड़ जातीय दक्षिण भारत में, और वेसर दक्षिण-पश्चिम अंचल में देखे जाते हैं। ओड़िशा के भुवनेश्वर, पुरी, कोणार्क, बौद, खिचिंग और मुखलिंगम का मंदिर नागर जातीय हैं फिर भी इनकी गठन-प्रणाली ओड़िशा के स्वतंत्र शिल्पशास्त्रानुसार है। अत्यन्त प्राचीन मंदिर गुप्तकाल के परवर्ती मंदिरों के समान शिखरजातीय हैं। इन प्राचीन मंदिरों का एकमात्र प्रकोष्ठ शत्रुघ्नेश्वर इसका प्रमाण है। इसके बाद गर्भगृह में जगमोहन जोड़े जाने के अनेक मंदिर दिखाई पड़ते हैं। यथा—भुवनेश्वर का परशुरामेश्वर, मुक्तेश्वर, राजाराणी (इन्द्रेश्वर) और बौद्ध का गंधराढ़ी मंदिर। इसके बाद गर्भगृह, जगमोहन, नाटमंडप और भोगमंडप, ऐसे ही चार प्रधान अंश विशिष्ट मंदिर हैं। यथा—भुवनेश्वरस्थ लिंगराज और पुरी का जगन्नाथ मंदिर। साधारणतः ओड़िशा में दो प्रकार के मंदिर दिखाई देते हैं। यथा—रेखा देउल और पीढ़ देउल। गर्भगृह रेखा देउल हैं, जगमोहन और दूसरे सब पीढ़ देउल हैं। ओड़िशा का हरएक मंदिर प्रधानतया चार भागों में बाँटा गया है—पिष्ठ, बाड, गंडि और मस्तक। इसको फिर अनेक भागों में बाँटा जाता है। सबके ऊपर कलस और ध्वज रहता है। नीचे स्थूलतः ओड़िशा के मंदिरों में मूर्तिकला, लता, वृक्ष, पशुपक्षी और दूसरे कारुकार्य के बारे में आलोचन किया जायगा। ओड़िशा के मंदिर और इसकी चित्रकला धर्मभाव को उत्पन्न करते हैं, भगवान् की पूजा और आदर करते हैं। इसलिए उनका वासस्थान मंदिर साधारणों के वासस्थानों की अपेक्षा काफी उत्कृष्ट है। तोरण के साथ मुक्तेश्वर, राजाराणी (या इन्द्रेश्वर) और पार्वती मंदिर इसके उदाहरण हैं। इन मंदिरों का कारुकार्य मनुष्य की इन्द्रिय को आकर्षण करता है और मंदिर को देखकर मनुष्य के मनोभाव बदल जाते हैं।[१]

ओड़िशा के मंदिरों की चित्रकला साधारणतः गठनमूलक सादृश्य और आलंकारिक है। मूर्ति के साथ छोटे-छोटे स्तम्भ, कोणार्क और लिंगराज मंदिर के जगमोहन में जो पीढ हैं, सौन्दर्य-वृद्धि करते हैं। लिंगराज मंदिर के जगमोहन के पीढ के उत्तरी ओर रामायण और दक्षिणी ओर महाभारत का दृश्य काफी सुंदरता के साथ अंकित है।[२] ये सभी मंदिर की शोभा वृद्धि करने के साथ

---

१. डॉ० मेहताब का ओड़िशा इतिहास, २४ संस्करण।

2 Epigraphia Indica Vol. XXU I, p. 247-48

साथ मनुष्य की आँख, दिमाग और दिल को स्तब्ध कर देते हैं। कारुकार्यों के दो अर्थ हैं अर्थात् चित्र देखने से एक बात मालूम पड़ती है, लेकिन वास्तव में इसका एक अन्तर्निहित अर्थ है। वे दो प्रकार के हैं (१) प्राकृतिक, (२) पथानुयायी। मंदिरों में अंकित पत्र, लता, पद्म आदि अत्यंत प्राकृतिक हैं। कोणार्क के पिष्ठ में हाथियों की शोभायात्रा प्रकृति का अनुकरण है।

सौन्दर्य-वृद्धि के लिए मंदिरों में ज्यामिति चित्र और कई लताएँ अलंकार के सदृश हैं। मुक्तेश्वर मंदिर में ज्यामिति चित्र काफी हैं। सब पाग इस सौन्दर्य-वृद्धि में मदद करते हैं। मंदिरों में पार्श्वदेव, दिक्पति, और अष्टसखि मूर्तियाँ इनकी शोभा बढ़ाती हैं। इनमें चारों ओर लता और ज्यामिति के चित्र हैं। साधारणतः ये मूर्तियाँ मंदिरों की पागों में दिखाई पड़ती हैं।

पार्श्वदेवता---मंदिर की राह पाग की मूर्तियाँ पार्श्वदेवता हैं। सब मंदिरों के पार्श्व-देवता समान नहीं हैं। शिव, विष्णु और सूर्यमंदिर में विभिन्न पार्श्वदेवता हैं। शिवमंदिरों के पीछे, दाहिने, और बायें यथाक्रम कार्त्तिकेय, गणेश और पार्वती हैं। भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर में भी यह है। लिंगराज मंदिर की गणेश, कार्त्तिकेय और पार्वती मूर्तियों में अत्यंत सूक्ष्म कारुकार्य है (चित्र देखिए)। साधारणतः गणेश मूर्तियों की शुण्ड दाहिनी ओर झुक रही है; लेकिन ओड़िशा म्युज़ियम में संरक्षित एक मूर्ति की शुण्ड बाईं ओर झुकी है (चित्र देखिए)। विष्णु-मंदिरों में यथाक्रम नरसिंह, वामन, और कला के पीछे दाहिने और बायें पार्श्व देवता रूप में हैं। पुरी के जगन्नाथ मंदिर में ऐसा ही है। कोणार्क के सूर्यमंदिर के दाहिने, पीछे, और बाईं ओर उदय सूर्य, मध्याह्न सूर्य, और अस्तगामी सूर्य की मूर्तियाँ रखी गई हैं। शाक्त मंदिरों में यथा बैताल देउल में हरगौरी, दुर्गा और भैरवी मूर्तियाँ यथाक्रम पीछे, दाहिने और बायें पार्श्व-देवता रूप में हैं।

अष्ट दिक्पाल---मंदिरों के बरांडे के आठों ओर आठ दिक्पालों का स्थान है। ओड़िशा के सब मंदिरों में, अग्निपुराण के वर्णनानुसार ये अष्ट दिक्पाल अपने वाहनों के साथ अपनी अपनी दिशा में निम्नांकित रूप में हैं---

दिशा	दिक्पाल	वाहन
१---पूर्व	इन्द्र	हस्ती
२---दक्षिण-पूर्व	अग्नि	छाग
३---दक्षिण	यम	महिष
४---दक्षिण-पश्चिम	निर्ऋत	मनुष्य
५---पश्चिम	वरुण	मकर
६---उत्तर	कुवेर	सप्तघर
७---उत्तर-पश्चिम	वायु	हरिन
८---उत्तर-पूर्व	महादेव	वृषभ

राजाराणी मंदिर के कई दिक्पतियों की मूर्तियाँ काफी चमत्कारपूर्ण हैं (चित्र देखिए)। मंदिरों के बरांडे में अष्ट दिक्पालों के अतिरिक्त अष्ट सखियाँ भी हैं। साधारणतः ये सखियाँ पेड़ की छाया में त्रिभंगी रूप में खड़ी हैं। राजाराणी मंदिर में दिखाया जाता है कि वे पेड़ के साथ जकड़ उठी हैं (चित्र देखिए)। लेकिन कोणार्क मंदिर में सब सखियाँ बाँसुरी, मृदंग, सितार और गिनि बजा रही हैं।

नागमूर्ति—ओड़िशा के मंदिरों में नाग और नागिन की मूर्तियाँ बहुत हैं। बहुधा द्वार देश में भी अंकित हैं। राजाराणी (या इन्द्रेश्वर) मंदिर के जगमोहन में नाग, और नागिन की दो मूर्तियाँ बहुत चमत्कार रूप में अंकित हैं (चित्र देखिए)। नाग और नागिन मूर्तियाँ तीन, पाँच या सात फनों वाली हैं। नाग और नागिन मूर्तियों की पूँछ सोंछ के समान हैं, लेकिन मुख और शरीर मनुष्य शरीर के समान है। ये सब हाथ जोड़कर किसी खम्भे से लिपट रही हैं। सिर पर फन है। नागपूजा की उत्पत्ति के बारे में पहले आलोचना की गई है।

गजसिंह—घुटनों के बल बैठे हुए हाथी पर पीछे की ओर मुख किये शेर बैठा है। ऐसी मूर्ति लगभग हरएक मंदिर में दिखाई पड़ती है (चित्र देखिए)। इसके बाद गजसिंह में यह दिखाई पड़ता है कि हाथी शुण्ड से मनुष्य को पकड़े हुए है। इसके बाद की मूर्ति में शेर हाथी पर चढ़ा है। सिंह पर कोई पुरुष या स्त्री बैठकर लगाम खींचती है। हाथी देश की धन-संपत्ति के समान है। शेर राज्य की शक्ति है। वह राज्य की सम्पूर्ण शक्ति, देश की धन-संपत्ति का मालिक है। इस बात को कारुकार्य में दिखाया गया है। ये मूर्तियाँ राजाराणी, मुक्तेश्वर, लिंगराज और कोणार्क में काफी सुन्दर रूप में अंकित हैं।

कारुकार्य-पूर्ण द्वार—साधारणतः ओड़िशा के मंदिरों में सब प्रवेश द्वार कारुकार्य-पूर्ण हैं। अनेक पशु और मानव मूर्तियों के अतिरिक्त पुष्प, लता, नाग और नाग-कन्याओं की मूर्तियाँ इन द्वारों में शोभा पाती हैं। समय-समय पर द्वार देश में गजलक्ष्मी या महालक्ष्मी पद्म पर बैठी दिखाई जाती हैं। मुक्तेश्वर मंदिर में गजलक्ष्मी की मूर्ति मंदिर के द्वार देश में है (चित्र देखिए)। द्वार देशों के बाईं ओर यमुना और नन्दी तथा दाहिनी ओर गंगा और महाकाल की मूर्तियाँ अंकित हैं। गंगा और यमुना अपने अपने वाहन मकर और कच्छप पर बैठी हैं (चित्र देखिए)। चित्र में दिखाई हुई गंगा और यमुना की मूर्तियों को भुवनेश्वर के गंगा-यमुना तालाब से उद्धार करके ओड़िशा म्यूजियम में रखा गया है। गंगा और यमुना की मूर्तियों को द्वार देश में, द्वारपाल रूप में, रखना पहले गुप्तकालीन मंदिरों में शुरू हुआ था।

नवग्रह—हरएक मंदिर के द्वार के ऊपर नवग्रह शिला है। इस शिला में रवि, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु के चित्र अंकित हैं। ये नवग्रह मनुष्य-जीवन की गति के साथ संपृक्त हैं, इसलिए नैष्ठिक हिन्दू प्रतिदिन नवग्रह स्तोत्र का पाठ करते हैं। लोगों का विश्वास है कि इससे धन, जन और जीवन का मंगल होता है। मंदिर में नवग्रह रहने का यह कारण माना जाता है कि इससे मंदिर का कुछ अनिष्ट नहीं होगा और मंदिर-निर्माता का भी मंगल होगा। कोणार्क की नवग्रह मूर्तियाँ सबसे उत्कृष्ट हैं।

कीर्तिमुख और वैताल—सिंहयुक्त सिंहमुख मंदिर में अनेक हैं। इसे कोई कोई राहु कहते हैं। सब वैताल पेटवाले मनुष्य के समान बैठकर, दोनों हाथ ऊपर को फैलाकर, किसी वजनदार चीज को पकड़े हुए हैं।

पद्म--प्राचीन काल से मंदिरों में या किसी धर्म के साथ संपृक्त देवालय में पद्म अंकित होने की बात मालूम होती है। यथा भरहुत, बोधगया, साँची, अजन्ता आदि स्थानों में भी पद्म अत्यंत उच्च कोटि की सजावट के रूप में गृहीत है। मुक्तेश्वर के तोरण में भी पद्म की कली अत्यंत सुन्दर रूप में अंकित है (चित्र देखिए)। मुक्तेश्वर और ब्रह्मेश्वर के जगमोहन तथा कोणार्क के नटमंडप की छत में भी पद्म अंकित शिला व्यवहृत है। पद्मपुष्प धारण करना, उस पर बैठना, शयन करना, खड़ा होना, आदि देव-देवियों की शोभा-वर्धक है।

लता--मंदिरों में अनेक प्रकार के गुल्म, लता, फूल, पत्र, कली आदि के चित्र अंकित हैं। ये सब पत्थर पर खुदे होने के कारण काफी सुन्दर दिखाई पड़ते हैं। साधारणतः लताओं में फूल, लता, नटिलता, पत्रलता और वनलता के चित्र अत्यंत सुन्दर रूप में अंकित हैं। ये लताएँ अत्यंत सुन्दर रूप में, ठीक नाप के अनुसार, थोड़ी जगह छोड़कर सजने के कारण, उस लता के कई वार अंकित होने पर भी, अत्यंत सुन्दर लगती हैं।

ये सब अंकन समुद्र की तरंगों के शब्द के समान या संगीत की माधुरी के समान अत्यंत मनमुग्धकर हैं। अत्यंत प्राकृतिक वस्तुएँ उत्तम रूप में, समान स्थान-प्रभेद में सजी न हों तो असुन्दर दिखाई पड़ती हैं; लेकिन ओड़िशा मंदिर के लता चित्र, ज्यामिति चित्र, और फान्द-ग्रंथियों को ऐसे सुन्दर ढंग से सजाया गया है कि वे अत्यंत मधुर कंठ से संगीत-सा प्रतीत होती हैं। मुक्तेश्वर मंदिर के पटा और जाली का काम भी अत्यंत मनोहर हैं। वे सब खिड़की रूप में व्यवहृत हैं। लिंगराज मंदिर के गर्भगृह के कुछ व्यवधानों में पत्थरों को ऐसे ढंग से सजाया गया है कि वे ऊपर से नीचे तक सीधे-सीधे रूप में रेखाओं के समान मालूम पड़ते हैं। इसी तरह मंदिर के चारों ओर भी ठीक कुछ स्थानों के व्यवधानों में मंदिर की गंडि का भी भाग किया गया है। वास्तव में ये सब कारुकार्य की चरम सीमा में पहुँचा देते हैं।

मंदिर के जीवजंतु और मूर्तियाँ—साधारणतः मंदिरों में हाथी और सिंह के चित्र अधिक हैं। सिंह-मूर्ति हाथी पर चढ़ने की हालत में द्वारपाल के रूप में और मंदिरों की काफी ऊंचाई पर आमलक के नीचे हवा में झूलती-सी दिखाई पड़ती है। मंदिरों में हाथी के चित्र काफी मात्रा में हैं। कोणार्क के पाददेश में हाथियों की शोभायात्रा और अनन्त वासुदेव मंदिर में अतिशय रूप में अंकित हाथियों के चित्र अत्यंत मनोहर हैं। ओड़िशा के मंदिरों में हाथी के चित्र काफी हैं, क्योंकि ओड़िशा में बहुत हाथी पाये जाते हैं, इसीलिए कारीगर इन हाथियों के साथ उत्तम रूप से परिचित हैं। कोणार्क के उत्तरी भाग के हाथी अत्यंत प्राकृतिक और जीवन्त मालूम देते हैं (चित्र देखिए)। ओड़िशा के मंदिरों में हाथी चित्र के समान घोड़े के चित्र अधिक नहीं हैं लेकिन कोणार्क मंदिर में थोड़े से घोड़ों के चित्र हैं। कोणार्क के घोड़े अत्यंत सबल, तन्दुरुस्त और चमत्कारपूर्ण मन-मुग्धकर हैं (चित्र देखिए)। हावेल ने लिखा है—"The superbly monumental war-horse

in its missive strength and vigour is not unworthy of comparison with Veroecthio's famous master-piece at Venice."

ओड़िशा के मंदिरों में अंकित दूसरे प्राणियों और जीव-जन्तुओं में से वराह, वृषभ, गाय, हिरन, बंदर, मोर, कबूतर, घड़ियाल, हंस उल्लेख योग्य हैं। मुक्तेश्वर मंदिर के चारों ओर बंदरों के विभिन्न खेल अंकित हैं। लिंगराज मंदिर में बृहत् वृषभ मूर्ति अत्यंत मनोहर है और वह काफी सावधानी के साथ बनी है। ओड़िशा की कला और स्थापत्य कोणार्क मंदिर में चरम सीमा तक पहुँची है। इसलिए इस मंदिर की मूर्तिकला और दूसरे कारुकार्य के बारे में आलोचना करने पर भी और थोड़ा सा विश्लेषण करने से कुछ अवान्तर नहीं मालूम होगा। कोणार्क मंदिर २४ पहियों के, घोड़ों के द्वारा चालित, एक विराट् रथ का पत्थर का नमूना है। हरएक चक्र के आठ बड़े अश्व और आठ छोटे अश्व हैं। चक्र में अत्यंत सुन्दर कारुकार्य हैं (चित्र देखिए)। साधारणतः चक्र में वन्य-जंतु, देव-देवी, नाना प्रकार के लता और अश्लील छवि अंकित हैं। इसके अतिरिक्त कोणार्क में तीन सूर्यमूर्तियाँ हैं। वे उदय, मध्याह्न और अस्तगामी सूर्य हैं। उदय और मध्याह्न सूर्य स्थानक अवस्था में हैं। नीचे सात घोड़े दौड़कर रथ को खींचने के समान मांसपेशियाँ दिखा रहे हैं। सूर्य के दोनों हाथों में पद्म और कमरबंद में अत्यंत सूक्ष्म रज्जु काम के समान पत्थर में अंकित है। सूर्य के पांव घुटने तक जूता पहने दिये गये हैं। अस्तगामी सूर्य एक घोड़े पर बैठे हैं। घोड़ों की दौड़ने की शक्ति नष्ट-सी हो गई है, इसलिए वह घुटने के बल हो गया है। कोणार्क में एक अरुणस्तम्भ था जिसे मराठों ने लेकर पुरी-मंदिर के सामने रखा है जो आज भी पूजा जाता है। यह सोलह पार्श्व और ३ फीट का एक विशाल पत्थर का स्तम्भ है।

अश्लील छवि—कोणार्क में, ओड़िशा के दूसरे मंदिरों में, और भारत के अनेक हिन्दू मंदिरों में अनेक प्रकार की अश्लील छवियाँ हैं। इनके बारे में अनेक प्रश्न उठते हैं। 'जितने मुख, उतनी बातें' इस कहावत के अनुसार अनेक लोग इसके अनेक उत्तर देते हैं। लेकिन पंडित लोग व्याख्या में विश्वास रखते हैं। मंदिर की बाहरी ओर ये अश्लील और दूसरे चित्र हैं; लेकिन मंदिर के अन्दर भगवान् या देव-देवी की मूर्ति के सिवाय और कुछ नहीं है। मंदिर के बाहरी ओर बाह्य जगत् की लीला के साथ तुलना की जा सकती है और मंदिर के अन्दर वैकुंठ के साथ तुलना की जा सकती है। बाह्य जगत् से मुक्त होने पर मनुष्य को वैकुंठ-प्राप्ति होगी। यह एक परीक्षा है। ये अश्लील चित्र मनुष्य के मन की परीक्षा करने के लिए अंकित हैं। प्रसिद्ध ऐतिहासिक और ओड़िशा के वर्तमान प्रधान सचिव हरेकृष्ण मेहताब मानते हैं कि "जब सुमहान् हिन्दू धर्म और बौद्धधर्म भिन्न पथ में चलते हुए भी निकृष्ट तांत्रिकता में आ पहुँचे तब एक विश्वास पैदा हुआ कि काम को दमन के द्वारा जय करने से भोग द्वारा इसकी तृप्ति करना ही उसे जय करने का उपयुक्त उपाय है।" (ओड़िशा इतिहास)। अगर वास्तव में यही हुआ तो इस धारणा को कला में परिणत किया गया और अश्लील छवि का आदर बढ़ गया तथा मनुष्य का समागम धर्म-मंदिर में स्थान पा गया।

तांत्रिक पूजा का आदर कम होने के साथ ही साथ वैष्णव धर्म का उत्थान हुआ। कई

मूर्तियों से मालूम पड़ता है कि चतुर्दश शताब्दी में ओड़िशा के कुछ अंशों में कृष्ण वासुदेव की पूजा का प्रसार था। चैतन्य के आने से पहले ही ओड़िशा में वैष्णव धर्म का अधिक प्रसार था। यह इस मूर्ति से मालूम पड़ता है; (चित्र देखिए) लेकिन ये मूर्तियाँ कारुकार्य की दृष्टि से कोणार्क के कारुकार्य से अधिक निम्न स्तर की हैं। इस विष्णुमूर्ति का मुख और नाक गोल हैं। इसमें मोटा कारुकार्य हुआ है। लेकिन कोणार्क की सूर्यमूर्ति में अत्यंत सूक्ष्म कारुकार्य हैं। वासुदेव कृष्ण-मूर्ति त्रिभंगि रूप में खड़ी रहने के कारण सुन्दर दिखाई पड़ती है, लेकिन कारुकार्य निम्नकोटि का है। इस तरह धीरे-धीरे परिवर्तित काल में ओड़िशा की कला की अधोगति हुई। ओड़िशा में जितनी मूर्तिकला दिखाई पड़ती है, उसमें से प्रायः अधिकांश सप्त ताल मूर्तियाँ हैं। ओड़िशा की मूर्तिकला और दूसरे चित्र अत्यंत स्वाभाविक हैं। ओड़िशा की कला और स्थापत्य का अन्तर्निहित अर्थ है। हरएक मूर्ति गंभीर रहस्य से परिपूर्ण और आदर्श स्थानीय है। ओड़िशा कला और स्थापत्य अत्यंत उत्कृष्ट स्तर के हैं; क्योंकि इस देश में कला का आदर और प्रसार शत-शत वर्षों से चला आ रहा है।

उत्कलीय स्थापत्य तथा भास्कर्य की तुंगिमा कोणार्क का सूर्य मन्दिर

ओड़िशा के मंदिर

श्री विपिनविहारी नाथ

आध्यात्मिकवाद, योग और वेदांत के आश्रय से महापुरुषों की कल्पना सर्वातीत और सर्वगत है। वही कल्पना आर्य-सभ्यता में प्राचीन काल से प्रतिष्ठित है। यह भौतिक जगत् उसी अन्तर्यामी परमात्मा का अंश स्वरूप है, ऐसी कल्पना है। इसलिए कहा जाता है कि उसके दर्शन को छोड़कर भौतिक जगत् में अन्य दर्शन की संभावना नहीं है। यह भी वर्णित है कि कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों के अखण्ड पथ के अनुसरण पर ही इस दिव्य दर्शन की उपलब्धि होती है। भक्त्यात्मक कर्म और कर्मात्मक भक्ति का आश्रय करके आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानियों ने प्रत्येक युग में परमात्मा के साथ का साक्षात् संबन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से, आत्माभिमान छोड़कर ध्यान, योग, भजन और वंदनादि के द्वारा ब्रह्म-संस्पर्श के अनुभव का पथ सुगम कर दिया है। जीव-जगत् में परमेश्वर के साथ संबंध-स्थापन या परमात्मा में जीवात्मा के विलय के कारण पुनर्जन्म की समाप्ति होती है, इस विषय को केन्द्र बनाकर हिन्दू मनीषियों की चेष्टा मंदिर-निर्माण और मूर्ति-गठन में प्रतिफलित हुई है। काल की गति के अनुसार यह मूर्ति-निर्माण और मंदिर-गठन की प्रथा निर्दिष्ट अंचल में सीमित न होकर उत्तर भारत और दक्षिण भारत के चारों ओर, स्वतंत्रता और नूतनत्व के अवलम्बन से, प्रचलित हुई है। वैदिक धर्म परिवहनकारी सकल-पंथा-विमुक्त बौद्ध और जैन धर्म को केन्द्र बना कर तादृश स्तूपों और चैत्यों का निर्माण हुआ था।

मंदिर और स्तूप चैत्य मुक्ति का प्रतीक है

मनुष्य को मुक्ति के निकटवर्ती कराने के लिए और उसको संसार की दुर्गम जटिलता से बचाने के लिए उपरोक्त धर्मानुष्ठानों की परिकल्पना हुई है। आर्य मनीषियों ने इस प्रकार के मुक्तिपथ का आविष्कार कर सारे समाज को आज तक एक अविच्छिन्न सम्बन्ध में श्रृंखलित कर रखा है। युग के बाद युग चला आता है, लेकिन आर्य-सभ्यता का मौलिक तत्त्व और परम्परा क्षुण्ण नहीं हुई है। प्राचीन काल से आज तक देश-प्रेमी और धर्मात्मा राजाओं के कीर्तिकलाप का अनुशीलन करने से मालूम होता है कि उनकी कीर्ति में शरणापन्न भाव, निष्काम कर्म, विमल ज्ञान, ऐकान्तिक भक्ति एकाधार से सन्निविष्ट थी। इस प्रभाव में अनुप्राणित हो राजा, राजनन्दिनी तथा राजकर्मचारी आदि कीर्ति-स्थापन में व्रती रहे।

मन्दिरों के गात्र में प्रकटित विभिन्न विषय-वस्तुओं के सूक्ष्म विश्लेषण से मालूम होता है

कि विषय-चिन्तन, विषयचिन्तनजनित आसक्ति और उग्र अभिलाष तथा अभिलाषपूर्ण अनुराग आदि विकार आत्मा को कभी बन्दी नहीं बना सकते।

उत्कल की पुरपल्लियों में अनेक छोटे-बड़े मंदिर हैं। इन मंदिरों के निर्माण के बारे में अनुध्यान करने पर मालूम होता है कि ऐहिक और पारलौकिक कल्याणवांछा, मुक्ति-लाभ के लिए उद्योग, आयु, त्रिवर्ग की अभिवृद्धि की कामना आदि मन्दिर-निर्माण के कारण बने हैं। ईसा की १०वीं-११वीं शताब्दी में निर्मित एक मंदिर के गात्र में खोदी प्रशस्तियों से मालूम पड़ता है कि लोगों की पापमोचन और मुक्ति की कामना से मन्दिरों के निर्माण की कल्पना मन में जागी है। लिखा है—

(१) श्रीमद्ब्रह्मेश्वरस्य प्रणतमलहृतः स्पर्शतो मुक्तिदस्य (Brahmeshwar Temple Inscription J. A. S. B. (1838) 557-562 (Old-Series)

(२) १२७८ ई० में निर्मित अनंत वासुदेव-मंदिर के अभिलेख से मालूम होता है कि धर्म की उन्नति तथा पुण्य और श्रेय प्राप्त के लिए मंदिरों का निर्माण हुआ करता था।

"प्रासादं पुरुषोत्तमस्य सबलं सैषापदं वैष्णवं,
गन्तुं मंगलपूर्णकुम्भशिरसं श्रद्धाशिताचीकरत्।"

(३) मंदिर-निर्माण-माहात्म्य-वामन पुराण

यः कारयेत् मंदिरं माधवस्य पुण्यान् लोकान् स जयेच्छावतान् वै
दत्त्वारामान् पुष्पफलाभिपन्नान्, भोगान् भुंक्ते कामतः स्वर्गसंस्थः।
पितामह्यपुरतः कुलान्यष्टौ च यानि तु। तारयेदात्मना सार्द्धं विष्णोर्मन्दिरकारकः।

वामन पुराण में लिखा है कि श्रीहरि का मंदिर निर्माण करने से वैकुंठ और तत्रत्य पवित्र और नित्य लोक जय कर सकते हैं; जो व्यक्ति फल-पुष्प-शोभित बाग अर्पण करते हैं वे स्वर्ग में रहकर बहुत भोग कर सकते हैं; जो व्यक्ति विष्णुमंदिर निर्माण करते हैं वे अपने को और बाप-दादों के आठों कुलों का परित्राण करते हैं। ऐसी ही उक्ति अग्निपुराण, विष्णुधर्मोत्तर, स्कन्धपुराण और नृसिंहपुराण में है।

(४) भागवत में उल्लेख है—

"धन अर्जिले धर्म करि, धर्मे प्रापत नरहरि" अर्थात् धन उपार्जन करके, उपार्जित धन से धर्म-कार्य करने पर आदमी को भगवत्प्राप्ति होती है। अर्थात् लोग मुक्ति पाते हैं—उनका पुनर्जन्म नहीं होता। और वह जरा-मरण-व्याधिजनित दुःख नहीं भोगते।

ओड़िशा में मंदिर-निर्माण के प्रत्नतात्त्विक प्रमाण—भुवनेश्वर से थोड़ी दूरी पर उदयगिरि में खुदे खारवेल के अभिलेख में लिखा है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के पहले ओड़िशा में मंदिर-निर्माण का काम शुरू हो गया था। इस अभिलेख में उल्लेख है कि खारवेल

★ ओड़िशा के मन्दिर तथा कारुकार्य ★
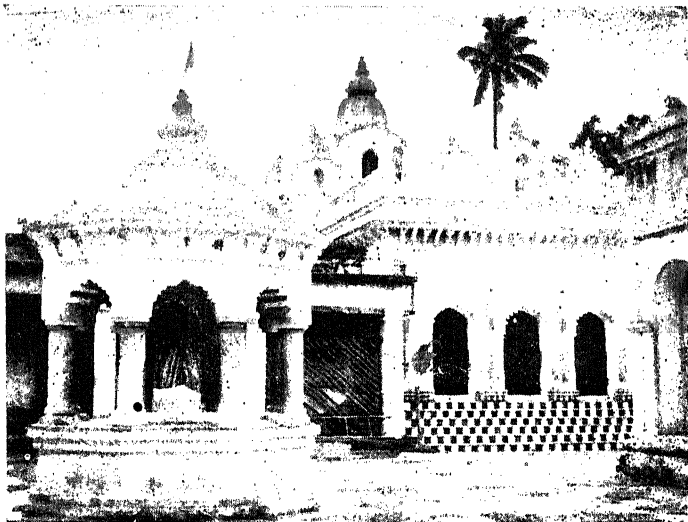
क्षीरचोरा गोपीनाथ—रेमुणा, बालेश्वर

श्री अनन्तवासुदेव मन्दिर, भुवनेश्वर

श्री गुण्डिचा मन्दिर, पुरी

साक्षीगोपाल का मन्दिर

★ ओड़िशा के मन्दिर तथा कारुकार्य ★

भास्कर्यमण्डित प्रसिद्ध कोणार्क का सूर्यमन्दिर नाट्य मन्दिर के साथ
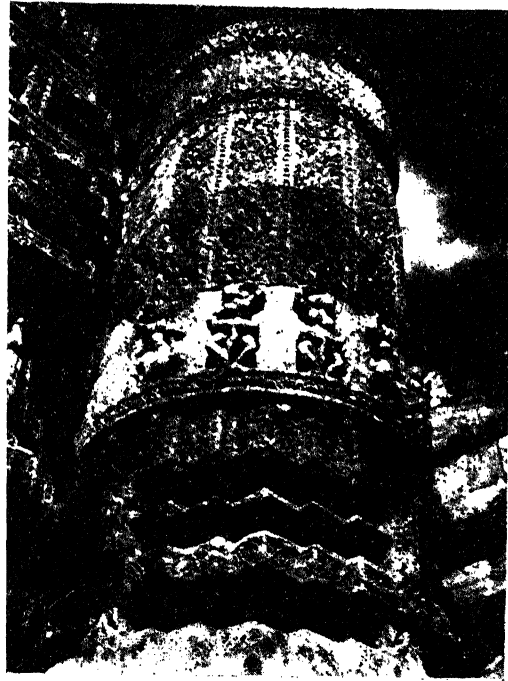
सूक्ष्म कारुकार्य
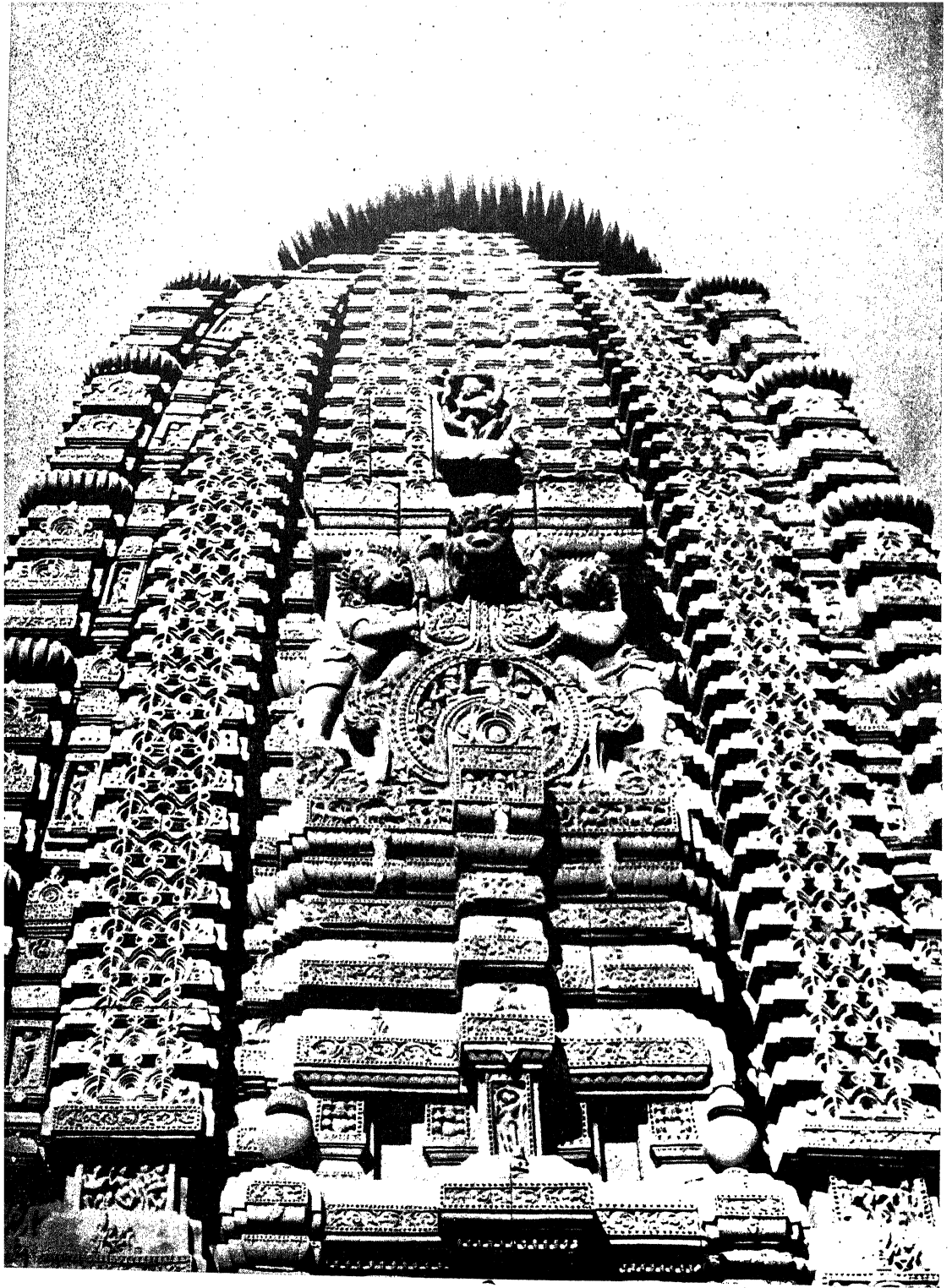
मुक्तेश्वर मन्दिर का कारुकार्य जिसमें शिकार का दृश्य भी है, भुवनेश्वर

छतियावट तथा मन्दिर
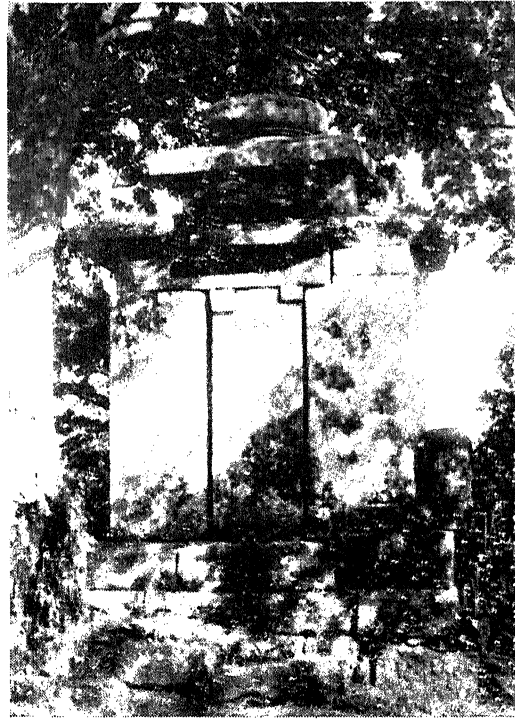
शिखरचण्डी की पहाड़ी पर दुर्गा मन्दिर—कलाराहाङ्ग, कटक

(नीचे) श्री धवलेश्वर मन्दिर — कटक

खोर्द्धा के निकटवर्त्ती काकुड़िआ मन्दिर

राजारानी मंदिर * भुवनेश्वर
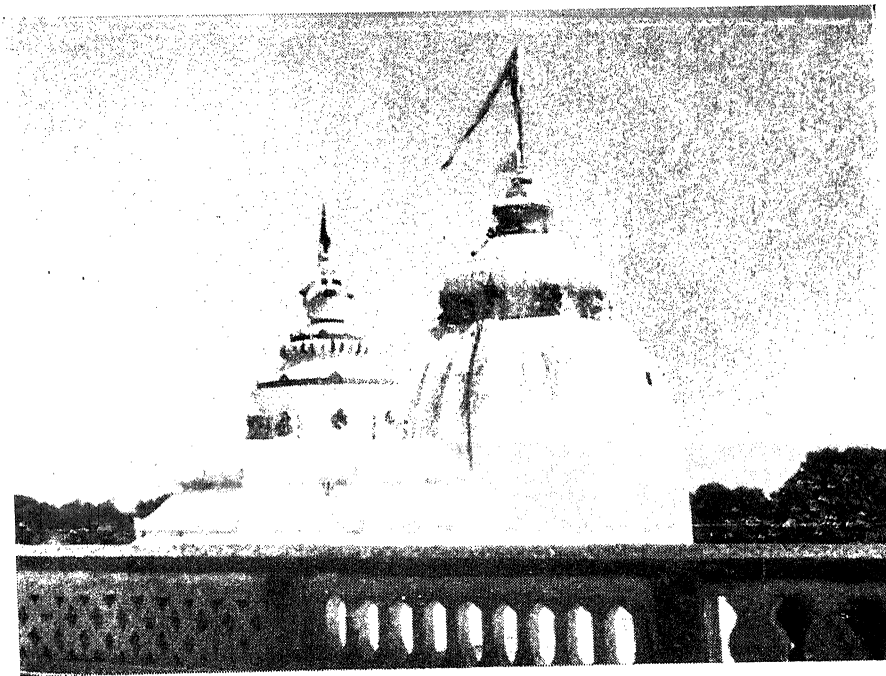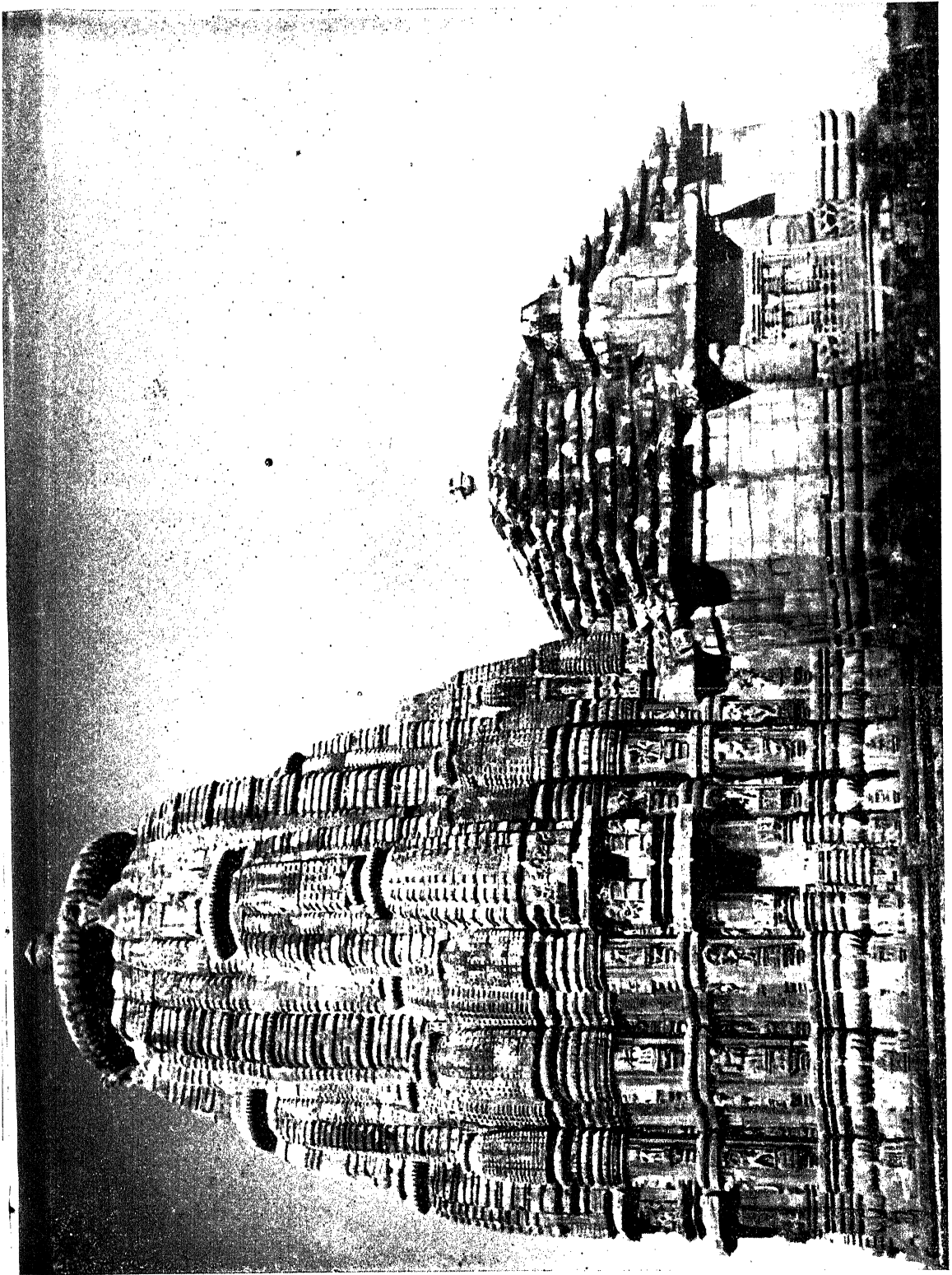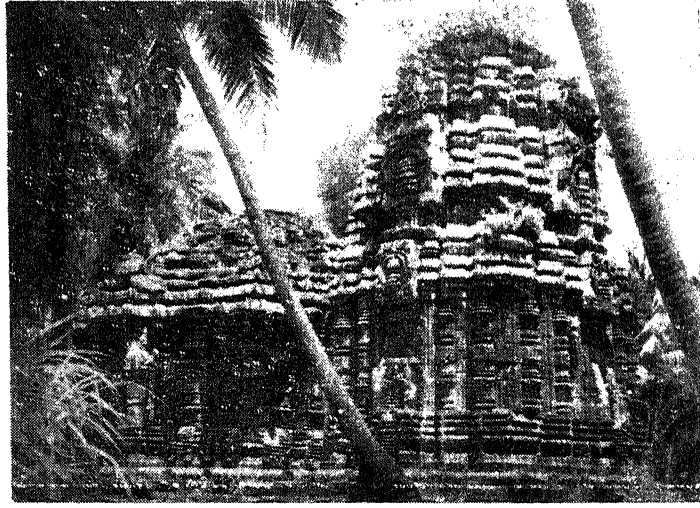
★ ओड़िशा के मन्दिर ★

एरवङ्ग मन्दिर (गोप, पुरी)

लताहरण मन्दिर (काकटपुर, पुरी)

दुर्गा मन्दिर, बउलपुर (तापङ्ग, पुरी)
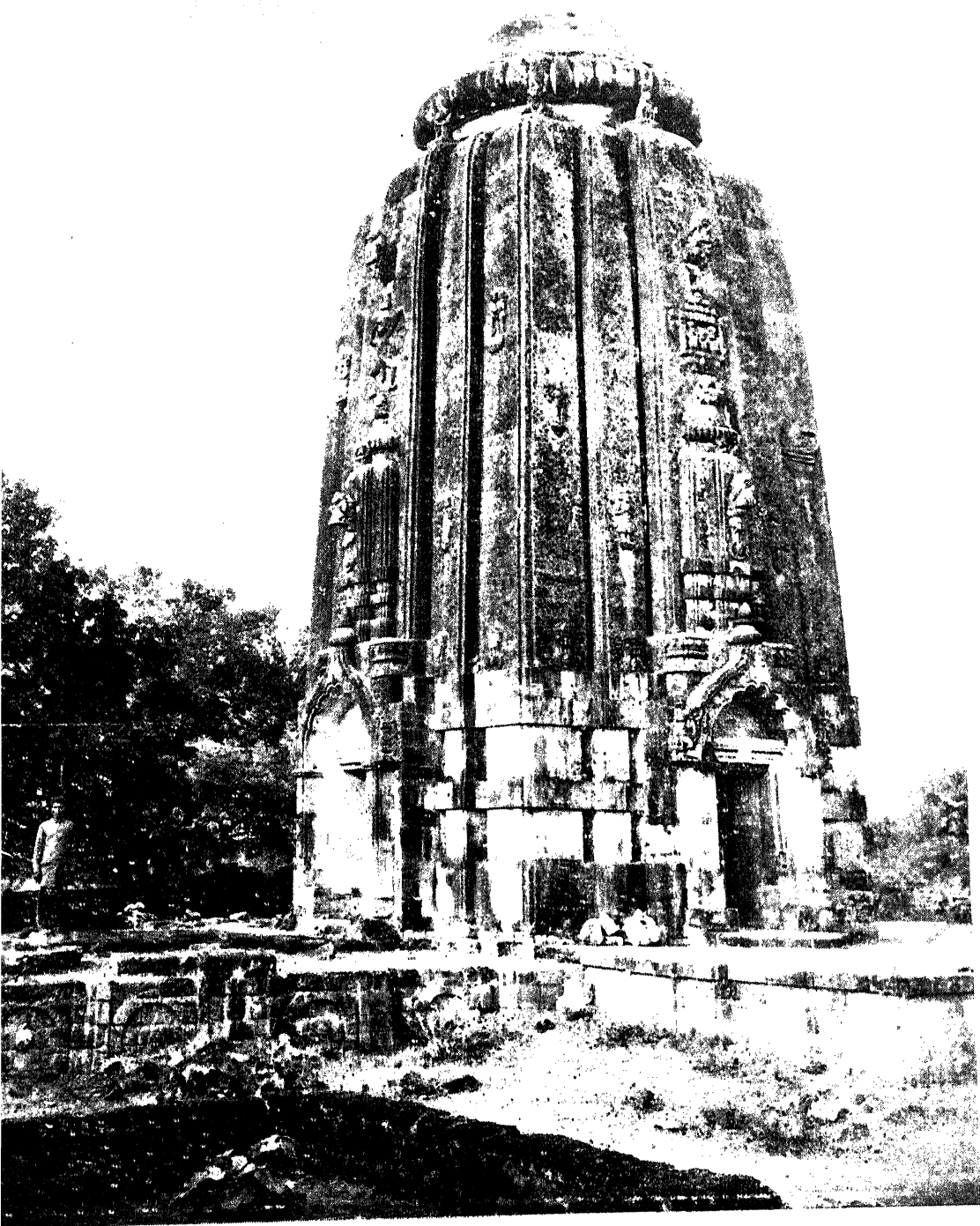
विरञ्चि नारायण मन्दिर—पालिआ, भद्रक

★ ओड़िशा के मन्दिर ★

(ऊपर) श्री वैद्यनाथ मन्दिर—सोनपुर, बलांगीर

(नीचे बायीं ओर) श्री कखारुआ वैद्यनाथ—माणत्री, मयूरभञ्ज

(नीचे दाहिनी ओर) श्री लङ्गलेश्वर मन्दिर—बालेश्वर
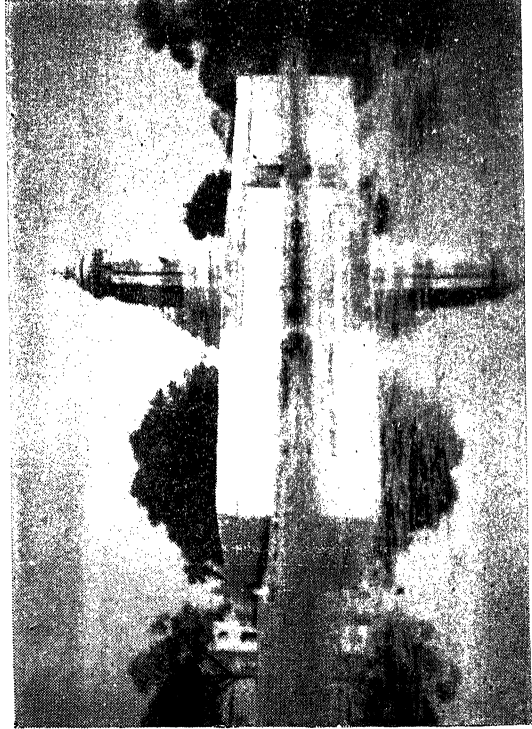
श्री चाटेश्वर महादेव--पद्मपुर, कटक

(नीचे) पञ्चमुखी शिव मन्दिर—सोनपुर, बलांगीर
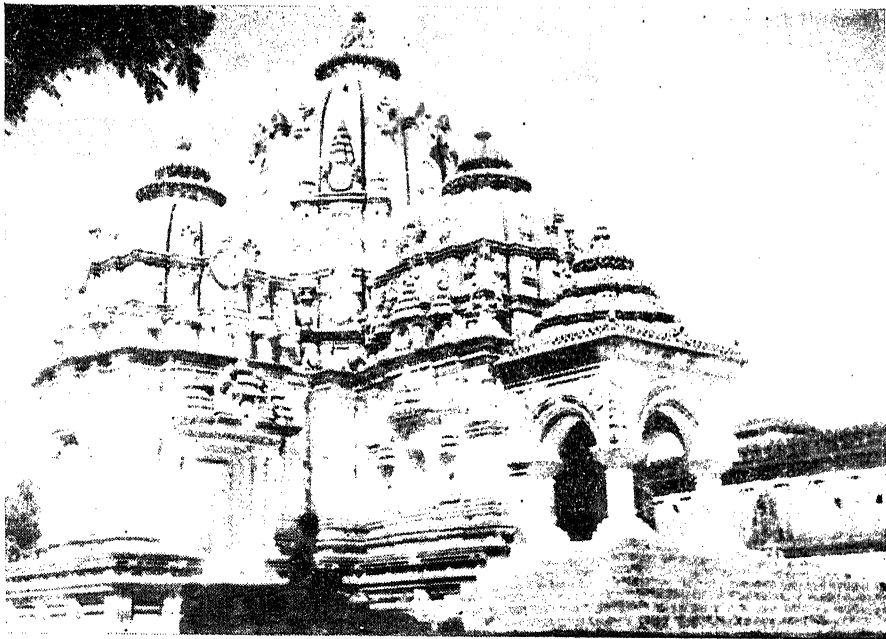
खोर्द्धा के निकटवर्त्ती बुढ़ापड़ा मन्दिर

पाषण्डपूजक और सर्व-देवायतन (मंदिर)-संस्कारक थे। (३) लेकिन आज तक ओड़िशा में प्रथम शताब्दी के बने हुए मंदिर दिखाई नहीं पड़ते। परन्तु कुशान राजत्वकाल में भी ओड़िशा में मंदिर निर्मित होने का प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है।

ओड़िशा का गुप्त-युग—इलाहाबाद में प्राप्त समुद्रगुप्त के अभिलेख, सुमण्डल ताम्र-शासन और बुगुडा ताम्र-शासन से अनुमान किया जाता है कि ईसा के बाद ३४८ से ६०० तक कलिंग में गुप्तों का आधिपत्य था। यह भी अनुमान किया जाता है कि उस समय से ओड़िशा में गुप्तकालीन संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव था; क्योंकि कपिलप्रसाद मंदिर के प्रांगण में संश्लिष्ट गुप्तकालीन नर्तकों और परशुरामेश्वर मंदिर की गुप्तकालीन शैली इसकी सूचक है। ये सारी मूर्तियाँ ओड़िशा में उसी समय से मंदिर-निर्माण की सूचना देती हैं। ये सप्तम शताब्दी में निर्मित होते हुए भी, मंदिरों के इतिहास का अनुशीलन करने से जान पड़ता है कि प्रायः ओड़िशा के सभी राजा शैव थे और उन्होंने लुप्तोन्मुखी गुप्तकालीन शैली का कुछ अंश ग्रहण करके आंचलिक स्वतंत्र चिन्तन से मंदिर-निर्माण किया था। बंकाड़ का निकटवर्ती एक भग्न मंदिर और भुवनेश्वर का परशुरामेश्वर मंदिर उक्त सिद्धान्त का निदर्शन है।

ओड़िशा के इतिहास में शैलोद्भव राजवंश के बाद भौमकर राजवंश आरंभ होता है। इस वंश के राजा रानी बौद्धधर्मावलम्बी और शैव भी थे। अनुमान किया जाता है कि इस भौम राजवंश ने प्रायः ७३६ से ९३६ तक राजत्व किया था। इसके बाद सम्भवतः शैलोद्भव राजाओं ने प्रायः ६२४ से ७३६ तक राज्य किया था। इस सुदीर्घ काल में बने हुए मंदिरों का अनुशीलन स्थापत्य विद्या के दृष्टिकोण से गुरुत्वपूर्ण है और इसलिए इनका श्रेणी-विभाजन करना श्रमसाध्य है। मंदिरों का श्रेणी-विभाग और निर्माण-काल विभाग, प्रधानतः दो मौलिक वस्तुओं पर निर्भर करता है। एक है स्थापत्य-विद्यानुमोदित परिवर्तित रीति, और दूसरी है रुचिसंपन्न कारुकार्य-परिवेषण। सिर्फ क्षेत्र तत्त्वघटित नक्शे का आच्छादन पहले के अन्तर्भुक्त है जिसमें सामाजिक या आलंकारिक कला का प्रयोजन नहीं है। (मेघेश्वर मंदिर इन सबका उदाहरण है) शोभा-वर्धनकारी बहुमुखी खोदे चित्र दूसरे के अन्तर्भुक्त हैं।

परशुरामेश्वर, स्वर्णजालेश्वर, मोहिनी मार्कण्डेश्वर तथा पातालेश्वर आदि मंदिरों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि उनकी गठन-प्रणाली प्रायः समसामयिक है; क्योंकि मंदिरों का बहिर्भागस्थ चतुष्कोण परिष्कार प्रतीयमान है। फिर भी मंदिर का कलेवर धीरे-धीरे विषम तक तिर्यक् रूप में गति करके रेख-मंदिर गठन में एक स्वतंत्र रीति परिलक्षित करता है।

कारुकार्य की दृष्टि से पर्यालोचना करने पर मालूम होता है कि मोहिनी-मंदिर स्वर्णजालेश्वर और परशुराम मंदिर से भिन्न है। और, पातालेश्वर मंदिर इस श्रेणी के अन्तर्भुक्त है।

इस श्रेणी के मंदिरों के चारों ओर सुन्दर लता, पत्र तथा देव-देवियों-संबन्धी पौराणिक उपाख्यानों की अवतारणा बिलकुल नहीं है। मिलनेवाले ऐतिहासिक प्रमाणों से अनुमान किया

जाता है कि याजपुर का माधवेश्वर मंदिर भौमकर राजत्व-काल में निर्मित हुआ था। यह मंदिर भी मोहिनी मंदिर के अनुरूप है।

मंदिर के बहिर्भाग के कारुकार्य और भास्कर्य की पर्यालोचना करने पर दो प्रधान विषयों की उपलब्धि होती है। एक है कारुकार्य में धर्म मतवाद की विरोधभावशून्यता और दूसरा है शैव मतवाद की यथार्थता प्रतिपादन के लिए शिव-पुराणोक्त उपाख्यानों की अवतारणा। स्वर्ण-जालेश्वर मंदिर प्रथम श्रेणी का शिवमंदिर है। शिवमंदिर होने पर भी इसमें रामचंद्र के वनवास-संबन्धी अनेक पौराणिक दृश्य खोदे गये हैं। परशुरामेश्वर और भरतेश्वर मंदिर द्वितीय श्रेणी के अन्तर्भुक्त हैं। क्योंकि मंदिर-गात्र में खोदे हुए कारुकार्य शिव के विवाह, रावण द्वारा कैलास पर्वत उत्तोलन और ताण्डव नृत्य आदि पौराणिक उपाख्यान प्रकट करते हैं। उपरोक्त धर्म-सम्बन्धी पौराणिक चित्रों से साधारण रूप में अनुमान किया जाता है कि, धर्म की अभिवृद्धि के लिए ओड़िशा में निर्मित मंदिर केवल धर्म का प्रतीक और समाज के धर्मानुप्राणित लोगों के लिए सर्वतोभावेन उद्दिष्ट है। लेकिन खोदित चित्र के पुंखानुपुंख अनुशीलन करने से मालूम होता है कि अनेक सामाजिक, काव्यव्यंजक, अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व चित्र चित्ताकर्षक रूप में समाविष्ट होकर सामाजिक जीवन के साथ धर्म का अविच्छेद्य सम्बन्ध प्रकाश करते हैं। काम-अभिव्यंजक सभी चित्र पार्थिव जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का तात्पर्य प्रकाश करते हैं; क्योंकि पुरुष और स्त्री स्थूलतः एक हैं। दोनों की आत्मा एक है और दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं। मंदिर-गात्र में, भौमकर युग में, काम-अभिव्यंजक चित्र परवर्ती युग में बने हुए मंदिरों के चित्रों की अपेक्षा कम हैं; क्योंकि उस युग में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से अर्थ, धर्मकार्य को विशेष रूप में दृष्टि दी गई थी। तत्कालीन समाज में "यत्रास्ति भोगः न च तत्र मोक्षः, यत्रास्ति मोक्षः न च तत्र भोगः" (निरुत्तर तंत्र) बौद्ध सिद्धान्त जोरदार था। इस भौमकर युग में रत्नगिरि, ललितगिरि, उदयगिरि और दूसरे ग्रामों में बौद्ध-विग्रहों की पूजा विशेष रूप में प्रचलित है। अतः अनेक प्रत्नतात्त्विक प्रमाण दृष्टिगोचर होते हैं।

उपरोक्त सभी प्रमाणों से जान पड़ता है कि भौमकर युग में निर्मित मंदिरों के विशेषत्व ये हैं कि (१) मंदिर की विशाल ऊँचाई नहीं है। (२) मंदिर के बहिर्भाग के चार कोण ऊपर को तिर्यक् और स्पष्ट रूप में प्रतीयमान हैं। (३) मंदिर-गात्र में स्थापत्य विद्या के क्रम-विकास में विभिन्न श्रेणी-पद्धति की उपस्थापना है। (४) मंदिर-गात्र की पट्टभूमिका में पौराणिक उपाख्यान के साथ सांसारिक जीवन के संकेतवाही चित्रों की अवतारणा, (५) आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक सुख के संकेत प्रदान में "अहंकारं, बलं, दर्पं, कामं, क्रोधं, परिग्रहम्। विमुच्य निर्म्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते" का प्रचार करता है।

भौमकर युग के बाद सोमवंशी राजत्वकाल की कीर्ति और संस्कृति की फल्गु धारा ने ओड़िशा को परिप्लावित किया था। इस वंश के राजा धर्मकीर्ति-प्रतिष्ठापक थे। उनके राजत्व में ओड़िशा में मंदिर-गठन शैली, मंदिर की शोभा के सम्पादक भास्कर्य और कारुकार्य पुरातन मंदिरों से अधिक प्रभावशाली और नयन-प्रीतिकर हो उठे थे। देव-देवियों को केन्द्र बनाकर

पौराणिक उपाख्यानों के चित्र-प्रदर्शन ने आंशिक रूप में बहुत कम स्थान पाया है। मंदिर-गात्र में सामाजिक जीवन और दाम्पत्य जीवन के मनोमुग्धकर चित्र अधिक पर्यभूषित हुए। इस काम-प्रयुक्त स्त्री-पुरुषों के सम्भोग से सारे जग की उत्पत्ति हुई है। कामासक्त क्रीड़ा ही प्राणियों का कारण है। यह लोकायतिक दृष्टि भास्कर्य और कारुकार्य के माध्यम से सभी लोगों के समझने के लिए बहुत प्रकाश रूप से आई है। वेदान्त की क्लिष्ट भाषा में "जगत् काम-हेतुक और असत्य है" कहकर जो भाव व्यक्त किये गये थे, वे शास्त्रानुमोदित नियम या पद्धति (कामशास्त्र और बृहत् संहिता) के अनुसरण से प्रत्येक जीवन्त चित्र प्रदर्शन के द्वारा सरल बना दिये गये। इसके अलावा मंदिर के बहिर्भाग के चित्रों द्वारा अर्थ और कामान्वेषी मानवों की इहलोक में काम-प्राबल्य सम्भोग की एकमात्र केन्द्रीभूत चिंता है। मंदिर के गर्भगृह चित्रशून्य हैं। इससे पारलौकिक चिंता की महनीयता प्रकट हुई है। इन महान् तत्त्वों के अर्थ-प्रकाशक के रूप में सोमवंशी राजत्व काल के सब मंदिर स्थित हैं। अगर सोमवंशी राजत्व में निर्मित मंदिरों का विश्लेषण किया जाय तो ब्रह्मेश्वर मंदिर में हम तीन नूतनत्व देख सकते हैं: (१) जगमोहन का अभ्यन्तर युद्ध-यात्रा और युद्ध-दृश्यों के द्वारा सुशोभित है और (२) मंदिर के गात्र में कलश तक स्वभाव-सम्मत भौम्य मूर्तियों की उपस्थापना है। (३) भौमकर युग में खोदी हुई मोटी और नाटी प्रतिकृतियों के अनुकरण से लम्बे और सरल अवयव दिये हैं। उस समय के मंदिरों की गठन-प्रणाली में बहुत उन्नति परिलक्षित होती है। भौमकर युग में मंदिर के मूलभाग के चतुष्कोण रूप में स्पष्ट प्रतीयमान होने के भाव को सोमवंशी राजाओं द्वारा आलंकारिक और बहुकोण-युक्त प्रतिभात किया है और मंदिर के बाहर की ओर के निर्माण में कुछ पुरातन प्रणाली में नूतनत्व लाकर मंदिर के बाहरी ओर के सौन्दर्य में परिवर्धन किया है।

गंगयुग—सोमवंशी राजाओं के राजत्वकाल के बाद ओड़िशा में गंगवंश का राजत्व शुरू होता है। इस वंश के राजत्व-काल में ओड़िशा में मंदिर-निर्माण की कला की अधिक उन्नति हुई है और शोभासम्पादक कारुकार्य का वैचित्र्य नयन-प्रीतिकर रूप में प्रकट हुआ है। चित्र और कल्पना-प्रसूत नागकन्या, किन्नर, दिक्पाल और देव-देवियों के मुखमंडल में आनन्दोद्भासित छलछलाते भाव, कमनीय शरीर, गंभीर ध्यानमग्न उपासना के भाव, मनमुग्धकर नृत्य, छंद, पोशाक की परिपाटी में असाधारण कलाकौशल और मूर्ति में सजीवता एवं रस-उद्दीपन-शक्ति के संचारण द्वारा, शिल्प की स्वाधीनता और उद्भावनी शक्ति की सहायता से, मंदिर गात्र का सौंदर्य स्वप्नपुरी में परिणत है।

मंदिर-निर्माण में अतिरिक्त योगकरण—परशुराम मंदिर का पर्यवेक्षण करने पर मालूम होता है कि इसके गर्भगृह के साथ जगमोहन संपृक्त रहा है। कई इतिहासज्ञ मानते हैं कि इसका निर्माण-काल ७वीं शताब्दी है; लेकिन जगमोहन के अतिरिक्त और तीन मंदिर भुवनेश्वर में हैं। इनके नाम हैं भरतेश्वर, लक्ष्मणेश्वर, और शत्रुघ्नेश्वर। इन तीनों मंदिरों में जगमोहन नहीं हैं। इनके प्रवेश-द्वार भी अपेक्षाकृत छोटे हैं। अगर जगमोहन के अतिरिक्त सब मंदिरों को ओड़िशा में मंदिर-निर्माण का प्रारंभ माना जाय तो अनुमान किया जा सकता है कि ये तीनों मंदिर ६ठी

शताब्दी या इसके पूर्व के हैं। इस सिद्धान्त से भी मालूम होता है कि मंदिर गात्र में सामाजिक और धर्म-संक्रान्त चित्र ६ठी शताब्दी से शुरु हुए थे। जगमोहन मंदिर ओड़िशा में बहुत हैं; केवल इस दृष्टि से समय निर्धारण करना उचित नहीं है। परन्तु मंदिर के शिलालेखों से मालूम होता है कि सोमवंशी राजाओं के राज्यकाल में जगमोहन को नाट्यशाला के रूप में परिगणित किया गया था। इतना होते हुए भी ओड़िशा के मंदिर-निर्माण में पहले जगमोहन के अतिरिक्त गर्भगृह, बाद में जगमोहन के साथ गर्भगृह, इसके बाद गर्भगृह, जगमोहन, नाट्यमंदिर और भोगमंडप दिखाई पड़ते हैं। कोणार्क मंदिर में भोगमंडप नहीं है। अनंत वासुदेव मंदिर में भोगमंडप है। लिंगराज और पुरी मंदिर में भोगमंडप और नाट्य-मंदिर परवर्ती काल में संयुक्त हुए हैं। उपरोक्त प्रमाणों से प्रतिपादित होता है कि गर्भगृह, जगमोहन, नाट्यमंदिर और भोगमंडप का एकत्र समावेश मंदिर-निर्माण का सटीक समय निर्धारण नहीं करते।

मंदिर और धर्म—ओड़िशा में निर्मित मंदिरों का पर्यवेक्षण करने पर मालूम होता है कि ओड़िशा में प्रचलित धर्म का क्रम-विकास किस प्रकार हुआ है। इन मंदिरों में पूजित और खुदी हुई सभी मूर्तियाँ प्रचलित धर्म को एक सुस्पष्ट छवि प्रदान करती हैं।

षष्ठ शताब्दी—भरतेश्वर, लक्ष्मणेश्वर और शत्रुघ्नेश्वर ये तीनों शिवमंदिर हैं। इन मंदिरों के गात्र में शिवविवाह, नटराज का तांडव नृत्य, गंधर्व-गंधर्वी और सामाजिक जीवन के चित्र अंकित हैं। इन खोदे हुए चित्रों से मालूम होता है कि पुराणचर्या और शिवपूजा, नारद, ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवताओं की अर्चना उस समय के समाज में प्रचलित थी। इन मंदिरों पर बौद्ध धर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

सातवीं शताब्दी—परशुरामेश्वर एक प्राचीन मंदिर है। ऐतिहासिक लोग मानते हैं कि इसका निर्माण-काल ७वीं शताब्दी है। मंदिर-गात्र में खोदी हुई मूर्तियों से मालूम होता है कि उस समय में शिव-पार्वती, कार्त्तिकेय, गणेश, महिषमर्दिनी दुर्गा की पूजा विशेष रूप में प्रचलित थी। वैष्णव धर्म के प्रति लोगों का अनुराग परशुरामेश्वर मंदिर में खोदी हुई विष्णु की वराह अवतार-मूर्ति से मालूम पड़ता है। उपरोक्त प्रमाणों से दुर्गा-पूजा, शिव-पूजा, और विष्णु-पूजा का एकत्र प्रचलन प्रतिपादित है। हिन्दू धर्म में सप्तमातृका अर्थात् ब्राह्मी, कौमारी, वैष्णवी, इन्द्राणी आदि की पूजा बहुत दिनों से प्रचलित है। इन सप्तमातृकाओं की पूजा ७वीं शताब्दी में विशेष रूप से प्रचलित थी। इसका प्रमाण परशुरामेश्वर मंदिर-गात्र में खोदे हुए सप्तमातृका-विग्रहों से मालूम पड़ता है। ओड़िशा में लक्ष्मी-पूजा प्रत्येक घर में प्रचलित है। पुराण से मालूम होता है कि लक्ष्मीपूजा मुद्दत से होती थी। प्रत्नतात्त्विक प्रमाण से मालूम होता है कि ओड़िशा में लक्ष्मीपूजा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से प्रचलित है। इसका प्रमाण खंडगिरि की गुफा में खोदी गई लक्ष्मी की मूर्ति है। पहली शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी के बीच में निर्मित मंदिरों के भग्नावशेष नहीं मिलते, फिर भी परशुरामेश्वर मंदिर में खोदी गई लक्ष्मी की मूर्ति लक्ष्मीपूजा का आभास देती है। सिद्धिदाता गणपति, और कार्त्तिकेय की पूजा प्रचलित होने की बात परशुरामेश्वर मंदिर से मालूम होती है। इसी तरह महिषमर्दिनी दुर्गा की पूजा से ही दशहरा पर्व प्रचलित होने की बात

उक्त मंदिर-गात्र में खोदित दुर्गा की मूर्ति से मालूम पड़ती है। इसके अलावा यह भी उपलब्धि होती है कि ओड़िशा में तांत्रिक देव-देवियाँ शैव-धर्म की एक शाखा-रूप में विवेचित होती थीं। अगर यह न होता तो मोहिनी और वैताल-मंदिर में पार्श्वदेवता के रूप में पार्वती और महिषासुर-मर्दिनी दुर्गा न होतीं।

सातवीं-आठवीं शताब्दी—ओड़िशा में सातवीं-आठवीं शताब्दियों में धर्म एक नूतन पर्याय के रूप में उपनीत हुआ। क्रमशः बौद्धधर्म का ह्रास होने लगा। भौमकरयुग की प्रथमावस्था में बौद्धधर्म प्रबल था परन्तु शैवधर्म भी विशेष रूप में लोकप्रिय बन गया था; क्योंकि माधवी देवी आदि भौमकर वंश की रानियाँ शिव की उपासिका थीं। इस समय में ललितगिरि, उदयगिरि, रत्नगिरि, और दूसरे स्थानों में बौद्ध-विग्रह निर्मित होकर ओड़िशा के अनेक गाँवों में पूजे जाने लगे थे। ये तत्कालीन ओड़िशा के भास्कर्य और कला के परिचायक माने जा सकते हैं।

ओड़िशा से जैनधर्म भी संपूर्ण रूप से लोप नहीं हो पाया था। ग्यारहवीं शताब्दी में सोमवंशी राजा उद्योतकेशरी ने खंडगिरि में जैनतीर्थंकर की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी।

ओड़िशा के भास्कर्य, चारुकला और धर्म-इतिहास में नवीं शताब्दी एक प्रधान समय है। बौद्धधर्म के ह्रास होने के साथ ही साथ तंत्रवाद की लोकप्रियता बढ़ने लगी थी। क्रमशः वैष्णव धर्म भी समाज में आदर पाने लगा। सन् ७१७ में लिखित इन्द्रभूति-प्रणीत ज्ञानसिद्धि नामक पुस्तक के अनुसार जगन्नाथ जी को बौद्ध देवता के रूप में परिगणित किया गया है (प्रणिपत्य जगन्नाथं सर्वजनवरार्च्चितं। सर्वबुद्धमयं सिद्धिव्यापितं गगनोपमम्)। और भी प्रमाणित होता है कि उस समय पुरी या पुरुषोत्तम (जगन्नाथ) क्षेत्र वैष्णव धर्म के केन्द्रस्थल के रूप में सुविदित था, और वैष्णव धर्म सुप्रतिष्ठित हुआ था। आठवीं शताब्दी में निर्मित स्वर्णजालेश्वर मंदिर में रामचंद्र जी की मूर्ति इस सिद्धान्त को दृढ़ करती है। तंत्र में, आराध्या देवियों में चामुंडा विशेष रूप में पूजनीय है। भुवनेश्वर का वैताल मंदिर आठवीं शताब्दी में बना था। इस मंदिर की आराध्या देवी चामुंडा हैं। इस चामुंडा-मंदिर के गात्र में महिषमर्दिनी दुर्गा और पार्वती विद्यमान हैं। इस प्रत्यक्ष प्रमाण से समझा जाता है कि चामुंडा-पूजा शैव धर्म के साथ संपृक्त है अर्थात् तंत्र-पूजा शैव धर्म के साथ संश्लिष्ट है। आठवीं शताब्दी में इस तंत्र-पूजा के प्रमाण के स्वरूप याजपुर की चामुंडा, धर्मशाला की सप्तमातृका-मूर्ति, हीरापुर का चउषठी मंदिर और भुवनेश्वर का मोहिनी मंदिर है। ये सभी मूर्तियाँ और मंदिर भौमकर राजत्व में निर्मित हुए हैं।

शैव, शाक्त और वैष्णव धर्म ग्रहण करनेवालों के समान सूर्य-उपासकों का समाज में बहुत असर पड़ा था। वैताल मंदिर के सामने के हिस्से पर सूर्य की प्रतिमूर्ति और भद्रक के आस-पास पालिया गाँव का विरंचि-नारायण मंदिर इस मत के प्रमाणस्वरूप हैं।

परशुरामेश्वर, वैताल और राजा-रानी मंदिर में खोदी हुई लकुलीश-मूर्ति से अनुमान किया जाता है कि ओड़िशा में पाशुपत संप्रदाय ने शिवपूजा के संश्लेष में विशेष ख्याति प्राप्त की थी।

दशम-त्रयोदश शताब्दी—दसवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक ओड़िशा में प्रचलित धर्म और धर्म मतवाद के इतिहास के साथ मंदिर-निर्माण के बारे में पर्यालोचन करने पर

मालूम होता है कि इस सुदीर्घ काल में ओड़िशा में देव-देवियों को केन्द्र बना कर व्यापक रूप में धर्म का प्रसार हुआ था। देव-देवियों की पूजा में गोपीनाथ, मत्स्य, कूर्म और विष्णु का नरसिंह अवतार, त्रिविक्रम, राम-लक्ष्मण-सीता, अनन्त, बलभद्र, सुभद्रा, उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण, भूदेवी, श्रीदेवी, मरीचि, इन्द्र और ब्रह्मा के विग्रह विशेष रूप में परिदृष्ट होते हैं। इन देव-देवियों की पूजा से मालूम होता है कि उस समय के समाज में विभिन्न मतवादों के बीच किसी प्रकार का विरोध भाव नहीं था, बल्कि समूह कल्याण के लिए उद्यम हो रहा था। उपरोक्त सिद्धान्त का प्रमाण है पृथ्वी-प्रसिद्ध कोणार्क का मंदिर। इस मंदिर-गात्र में नवग्रह, रामसीता, महिषमर्दिनी दुर्गा, जगन्नाथ, बलभद्र, सुभद्रा, सुदर्शन चक्र, त्रिविक्रम, नृसिंह, कृष्ण, छायादेवी, त्रिमूर्ति, अष्टदिक्पाल और लक्ष्मी आदि मूर्तियाँ हैं। उपरोक्त कारणों से मालूम होता है कि कोणार्क मंदिर ओड़िशा में प्रचलित सर्व धर्म-मत-वाद का परिचायक और कला-भास्कर्य का निदर्शन-स्वरूप है। इसकी कमनीय कला और भास्कर्य पृथ्वी-विख्यात है। मंदिर-गात्र में हाथियों का अपूर्व समावेश, बंदर, जिराफ, हिरन आदि वन्य जानवरों की प्रतिकृति, बेलबूटों का सूक्ष्म विन्यास, यौवनोन्मत्ता रमणियों का विभिन्न प्रकार का यन्त्रवादन, असीम भावों में नृत्यरता ललनाओं की विचित्र भंगिमा, विभिन्न बंध-समन्वित मिथुन-दंपतियों का मन को मोह लेनेवाला सज्जीकरण, सैन्यों की युद्धयात्रा और शिष्यों को गुरु के उपदेश देने आदि का दृश्य अत्यंत चित्ताकर्षक तथा नयन-प्रीतिकर है। तेरहवीं शताब्दी के बीच में ओड़िशा पर मुसलमानों का आक्रमण शुरू हुआ और मंदिर-निर्माण बंद हो गया; साथ ही साथ सूक्ष्म कला का भी पतन हुआ।

उत्कल की धर्मगति

पं० विनायक मिश्र

ओड़िशा के वैष्णव कवि जगन्नाथ दास ने कहा है—"मनर मूले ए जगत" अर्थात् इस जगत् को जो जैसा सोचते हैं, वे वैसा ही अनुभव करते हैं। इसके बारे में पृथ्वी के सब मनस्तत्त्वविद् भी एकमत हैं। पृथ्वी में विभिन्न मनुष्यों की चिन्ताधारा अलग-अलग होने के कारण धर्म-चिन्ता भी विभिन्न प्रकार की है। सभ्यता के शैशव में धर्म-चिन्ता बहुमुखी होती है। सभ्यता के उन्नत स्तर में मनुष्य, जगत् के हरएक जाति के पदार्थ में, विभिन्नता का अनुभव करने पर भी वह उस विभिन्नता में भी ऐक्य अनुभव करता है। इसलिए वैशेषिक दर्शन में विभिन्नता को "व्यक्ति" और ऐक्य को "जाति" आख्या दी गई है। एक गाय में दूसरी गाय से अलग-अलग लक्षण होते हुए भी दोनों गायों में अनेक समान लक्षण होते हैं। इसलिए "गो" एक जाति और काले-सफेद के भेद से गाय के पार्थक्य को व्यक्ति कहा जाता है। इस तरह मनुष्यों की चिन्ताधारा में पार्थक्य होने पर भी उस पार्थक्य में ऐक्य भी है। धर्मचिन्ता का ऐक्य हिन्दुओं की परम आदरणीय भगवद् गीता में प्राञ्जल रूप में प्रतिपादित हुआ है।

आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ।।

आकाश से वर्षा का पानी विभिन्न स्थानों में गिरकर आखिर सागर में जा मिलता है। इसी प्रकार विभिन्न लोग विभिन्न देवताओं की आराधना विभिन्न प्रकार से करते हैं फिर भी उससे एक केशव खुश होते हैं।

विभिन्न धर्मों के प्रति सहनशील होना हरएक मनुष्य का कर्तव्य है, यही उद्धृत उपदेश का सार मर्म है। इससे परस्पर के प्रति मैत्री, करुणा आदि उत्पन्न होती है। गीता का उद्धृत मूलमंत्र भारत का संबल है। यह मंत्र ओड़िशा के जगन्नाथ-धर्म में महीयसी शक्ति-रूप में जाज्वल्यमान रहा है। साम्राज्य-विस्तार के लिए ओड़िशा ने प्रतिवेशी राज्यों के साथ कभी युद्ध नहीं किया है। उसने समय समय पर धर्मांध शासकों की पर-धर्म-ध्वंस-कामना के प्रतिरोध में युद्ध में जय पाई है। अशोक ने स्वदेश और विदेश में साम्य मैत्री के प्रचार के लिए धउली की शिक्षा-लिपि में जो उपदेश दिया है उसे आज तक सब जगन्नाथ-सेवक मान कर दूसरे राज्यों में जगन्नाथ-धर्म का प्रचार कर रहे हैं।

नवम शताब्दी में उदयनाचार्य के द्वारा रचित निम्नोद्धृत श्लोक से पुरी के

ब्राह्मणयात्रियों को आशीर्वाद करने की प्रथा आबहमान काल से प्रचलित होती चली आती है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ।।

इस श्लोक से मालूम होता है कि नवम शताब्दी में शैव, वेदान्ती, बौद्ध, न्याय, जैन और मीमांसादर्शन मतों का समन्वय हुआ था। अब यह सवाल किया जा सकता है कि ओड़िशा में यह मत-समन्वय कब प्रचलित हुआ था। चीनी परिब्राजक हुएनसांग ने उत्कल के विवरण में लिखा है :

विभिन्न सम्प्रदायों के लोग मंदिर में इकट्ठा होकर धर्मालोचना करते हैं। मयूरभंज जिले के खिचिंग, बालेश्वर जिले के अयोध्या, पुरी जिले के बालेश्वर, आदि ओड़िशा के हरएक धर्म-केन्द्र से वैष्णव, बौद्ध, जैन, शैव, तांत्रिक, आदि नवम, और दशम शताब्दी की देव-देवी-मूर्तियाँ एकत्र आविष्कृत होने से हुएनसांग की उक्ति की सत्यता समर्पित होती है। ईसा पूर्व तीन शताब्दी के अशोक और खारवेल के राज्य-काल में धउली और हाथीगुंफा शिला-लिपियों से प्रमाणित किया जा सकता है कि उस समय ओड़िशा में विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों में सख्य प्रतिष्ठित था। श्रमणों से धर्म-गल्प सुनने के लिए देवताओं की विमान-यात्रा का उत्सव करने और ब्राह्मणों को सम्मान-प्रदर्शन के लिए अशोक ने अपनी शिलालिपियों में आदेश दिये हैं। वे श्रमण या तो बौद्ध थे या जैन थे। जो भी हो, लेकिन शिलालिपियों से मालूम होता है कि अशोक में साम्प्रदायिक भेद-भाव नहीं था। उन्होंने मयूर-हत्या निषेध करके अपनी पाकशाला को मोर-हत्या-रहित करने के लिए भी प्रतिश्रुति दी थी। ओड़िशा के लोगों के लिए ऐसे त्याग व्रत की प्रतिश्रुति देने का क्या प्रयोजन उन्होंने अनुभव किया था? मोर कुमार कार्त्तिकेय का वाहन है। शायद इस देश के कुमार-धर्मावलम्बी मोर की भक्ति करते थे। दूसरे सम्प्रदाय द्वारा मोर की हत्या होने पर कुमार-सम्प्रदाय का नाराज होना स्वाभाविक है। इसलिए मोर की हत्या का निषेध करके परस्पर-विरोधी दो संप्रदायों के विवाद को शान्त किया होगा। खारवेल की शिलालिपि से मालूम होता है कि प्राचीनकाल से कुमार-सम्प्रदाय भुवनेश्वर में प्रतिष्ठित था। खारवेल ने कुमारखेल खेला है (कीड़िता कुमारक्रीड़ा का)। कुमारसम्भव में (१४वें सर्ग) कुमार के मोर-परिवेष्टित होकर क्रीड़ा करने का वर्णन है। फिर शिलालिपियों में उदयगिरि को कुमारी पर्वत और खण्डगिरि को कुमार पर्वत कहा गया है। कुमार के दूसरे नाम स्कन्द और भुवनेश्वर हैं। अनुमान किया जाता है कि स्कन्दगिरि ने रूपान्तरित होकर खण्डगिरि नाम धारण किया है। खारवेल चेत-वंशीय होने के कारण नृत्य-गीत में निपुण थे। चित्ररथ वंश परवर्ती युग में चेत-चेति या चेदि नाम से अभिहित हुआ था। चित्र-रथ महाभारत

और भगवद्गीता के अनुसार गंधर्व या नृत्य-गीत-निपुण था। इसलिए खारवेल का कुमार खेल खेलना स्वाभाविक है। बौद्ध चेतीय जातक के अनुसार कपिल चेति राजा के कुलपुरोहित थे और गीता के अनुसार कपिल सिद्धों में श्रेष्ठ थे, या इनके गुरु थे।

खारवेल की शिलालिपि में सिद्धों को नमस्कार ज्ञापन करने से यह प्रमाणित होता है कि वे कपिल मतावलम्बी थे। प्राणायाम-योगप्रणाली कपिल की नीति पर प्रतिष्ठित थी, और ये सब लोग साधक सिद्ध थे। कपिल के मत से बौद्ध मत उद्‌भूत था, और रामायण में कपिल को वासुदेव कहा गया है—

ते तु सर्वे महात्मानो भीमवेगा महाबलाः।
ददृशुः कपिलं तत्र वासुदेवं सनातनम्।।—(१म. ४०, २५)

यह अनुमित होता है कि निम्नांकित श्लोक खारवेल की शिलालिपि के वृक्ष चैत्य में रूपायित हुआ है— •

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतसंयुक्तम्।
पिबत भागवतम् रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।।

पुरी में खारवेल ने वासुदेवपूजा का जीर्ण संस्कार किया था। यह इनकी शिलालिपि के निम्नांकित वाक्य से मालूम होता है—

पिथुउगद भनगलीनं कासपति जिनपदभवनं च।
तेरस्रव सशत कतं केतु भद तितयर देहसंघातं।।

उद्धृत वाक्य की प्रथम पंक्ति के व्यंजन वर्णों के पाठोद्धार में प्राचीन लिपि पाठकों में मतभेद नहीं है। सिर्फ युक्त स्वर और मात्रा के उद्धार करने और वर्ण को इधर उधर करके यथार्थ पद-पुंज की तैयारी में वे लोग एकमत नहीं हैं। पूर्वापर अर्थ-संगतियुक्त पाठ कोई उद्धार न कर सकने से किसी का पाठ आज तक निर्दोष रूप में गृहीत नहीं हुआ है। ऐसी प्राचीन लिपि के पाठोद्धार के लिए साधारणतः पाठक लिपिबद्ध किंवदन्ती की मदद लेते हैं। लेकिन पुरी-मंदिर के बारे में पद्म पुराण में जो किंवदन्ती है, इसकी ओर आज तक किसी भी पाठक की नजर नहीं गई है। इसी किंवदन्ती के अनुसार यह मंदिर तृण-वृक्ष-समाकीर्ण होकर छिप गया था; पृथु नामक एक किरात बालक ने इसे देखकर भीलों से कहा तब उन्होंने तृण-वृक्ष उखाड़ करके मंदिर का उद्धार किया था। इसलिए उद्धृत पाठ से ऐसा मालूम होता है कि पिथुउग या पृथुदक ने घास (दर्भ) और पेड़ों (नग) से छिपे हुए जिन पद मंदिर को और तेरह सौ वर्ष के नीम काठ से (तिक्त) तैयार केतुभद्र के नश्वर (मर) शरीरपुंजों को (संघात) प्रकाश किया। डा० बी० एम० बरुआ ने यह अनुमान किया है कि शिलालिपि की प्रिथुउवा और कलिङ्ग का महाभारतोक्त पृथूदक एक दूसरे से अभिन्न हैं, फिर भी उन्होंने पृथूदक का वर्णन-विचार नहीं किया।

पृथूदकमिति ख्यातं कार्त्तिकेयस्य वै नृप।
तत्राभिषेकं कुर्वीत पितृदेवार्च्चने रतः।।
पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रां सरस्वतीम्।
सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम्।।
—(म० भा० वन० ८३. ४१, ४४)

यह प्रमाण मिलता है कि खारवेल जिस कार्त्तिकेय या कुमार संप्रदाय के अन्तर्भुक्त थे, पृथूदक उसी कार्त्तिकेय का विख्यात तीर्थ था। कार्त्तिक मास में अनेक यात्री पुरी जाते हैं। वहाँ वे सब उस महीने की अमावस में पूर्वजों को दीपदान करते हैं। आज भी पुरी को क्षेत्र कहते हैं, इसलिए पहले इसे कुरुक्षेत्र कहना असम्भव नहीं है। आज भी जगन्नाथ के साथ सरस्वती की पूजा होती है। ओड़ीशा में ऐसा कोई दूसरा स्थान नहीं है जिससे कलिङ्ग का महाभारतोक्त पृथूदक चिह्नित हो सके।

इस पुरी में खारवेल के सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता चित्ररथ की जलक्रीड़ा के निदर्शन-स्वरूप चन्दनयात्रा अनुष्ठित होती है और रेणुका के साथ चित्ररथ के व्यभिचार के प्रतीक स्वरूप रथ-चक्र में अक्ष संयोग किया जाता है। स्कन्द पुराण के अनुसार मालव के राजा इन्द्रद्युम्न पुरी में आकर वहाँ मूर्तियों और मंदिरों की प्रतिष्ठा के लिए स्वर्ग से ब्रह्मा या ब्राह्मणों को आमंत्रित करने गये थे। बहुत काल के पश्चात् उन्हें अपने साथ लाकर उन्होंने मंदिर की प्रतिष्ठा की। धउली-शिलालिपि में अशोक बोले हैं कि तोषली के शासन-परिचालन का तत्त्वावधान करने के लिए प्रतिवर्ष राजपुत्र उज्जयिनी से आयेंगे। उज्जयिनी मालव की राजधानी थी, इसलिए यह सम्भव है कि खारवेल मालव से आये होंगे।

जायसवाल ने उद्धृत दूसरी पंक्ति का "केतु भदतितमरदेह संघातं" निःसंदेह पाठ उद्धार किया था। लेकिन पाठ की यथार्थता प्रतिपादन करने में अक्षम होने के कारण इसे दूसरी बार बदला। यह उक्त है कि महाभारत में (भीष्म० ५४ अ०) केतुमान ने कलिङ्ग सैन्यवाहिनी में मिलकर चेदियों के साथ युद्ध किया था, इसलिए उन्होंने केतुभद्र पाठ माना था। ये केतुभद्र कौन हैं? वे अनन्त नाग या बलभद्र हैं। उन्हें रामायण में "पन्नगं धरणीधरम्" या वासुकी नाथ और तालध्वज कहा गया है। (४, ४०, ५१, ५३)। केतुग्रह सर्वाकार है। यहाँ इसके बारे में विशेष आलोचना का अवकाश नहीं है। सिर्फ इतना कहना ठीक होगा कि रामायण में सुभद्रा को उदय पर्वत और जगन्नाथ को त्रिविक्रम कहा गया है। त्रिविक्रम का दूसरा नाम वामन है। अनेक पुराणों में जगन्नाथ का नाम वामन है। खारवेल की शिलालिपि में उदयगिरि को कुमारी पर्वत कहे जाने से रामायण में उल्लखित सुभद्रा के उदय पर्वत नाम को तांत्रिकों की कुमारी-पूजा अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है। दूसरे कारण दर्शाने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। महाभारत के अनुसार तारकासुर को मारने के लिए सब देवता कुमार कार्त्तिकेय के अभिषेक-उत्सव में सम्मिलित हुए थे। उस वक्त विभिन्न संप्रदायों का समन्वय होकर वासुदेव संप्रदाय प्रतिष्ठित हुआ होगा।

रामायण की प्राचीन टीका के अनुसार 'सर्वभूतेषु वासात् वसुः, स एव देवः' यह अर्थ

वासुदेव नाम का निर्देश करता है। सर्व भूतों में कौन रहता है? कपिल को रामायण में वासुदेव कहा गया है। वासुदेव संप्रदाय में एकांतिका भक्ति प्रचलित है, और महाभारत में "सांख्ययोगेन तुल्यो ही धर्म एकान्तसेविते:"। सांख्य मत के अनुसार प्रकृति सर्वभूत में रहती है। यह प्रकृति प्रजनशक्ति है। इसे समझने के लिए गीता के निम्न श्लोक के तात्पर्य पर विचार करना चाहिए--

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तय: सम्भवन्ति या:।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रद: पिता:।।---(१४श, ४)

उद्धृत श्लोक की व्याख्या में प्रसिद्ध दार्शनिक डा० राधाकृष्णन ने लिखा है:--

"Prakriti is the mother and God is the father of all living forms. As prakriti is also of the nature of God, God is the father and mother of the universe. He is the seed and the womb of the universe. This conception is utilised in certain forms of worships which are developed out of what some modern puritans deride as abscane phallicism. The spirit of God fertilized our lives and makes them what God wants them to be.

"The supreme is the seminal reason of the world. All being result from the mother through Logoi spermatision or animating souls."

यथाक्रम प्रकृति और ईश्वर सब सजीव रूपों के माता और पिता हैं। प्रकृति भी ईश्वर का स्वभाव होने के कारण ईश्वर सारे विश्व के पिता और माता हैं। वे विश्व के बीज और गर्भ हैं। यही धारणा कई प्रकार की पूजा में दिखाई पड़ती है। आधुनिक धर्म-संस्कारक दल, जिसे अश्लील लिङ्ग-योनि का प्रतीकवाद कहकर उपहास करते हैं उसी से इस पूजा का विकास हुआ है। ईश्वर की आत्मा हमारे जीवन को उर्वर करती है। ईश्वर जैसा चाहता है वैसा ही बनाता है।

परमेश्वर जगत् का शुक्रगत कारण है। ब्रह्म जीवाणु और जीव शक्तिप्रद आत्मा की मदद से भूत पदार्थ के गर्भ में रखने पर सब प्राणी पैदा होते हैं। यह प्रमाणित किया जा सकता है कि उद्धृत मत में सिर्फ भारत में नहीं, सारी पृथ्वी में अपेक्षाकृत सभ्य जातियों में लिङ्ग-पूजा प्रचलित थी। आधुनिक वैज्ञानिकों ने विज्ञान के शरीरतत्त्व विभाग में जीवन के जन्म विषय में जो तथ्य आविष्कार किया है, इसके अनुसार साधारण अवस्था में मनुष्यशरीर में प्रजनन बीजरस वर्तमान नहीं रहता---स्त्री-पुरुष के संयोग काल में यह पैदा होता है। इसलिए सृष्टि की अव्यवस्था को मूल्य कहा गया है। केवल बौद्ध धर्मावलंबी लोग ही शून्यवादी नहीं थे; प्रत्युत शैव, वैष्णव और ब्राह्मण भी शून्यवादी थे। ब्राह्मण लोग आह्निक आराधना में अंगन्यास करते वक्त "खं ब्रह्म" इत्यादि सप्तव्याहृतीनां ब्रह्म का शून्यरूप में चिंतन करते हैं। गंगा ने ऊर्ध्व से या आकाश से और विष्णु ने पादाग्र से अवतरण किया है। इसीलिए वैष्णव धर्मावलम्बी

भी शून्यवादी हैं। शून्यवाद विश्व संहिता में भी है। शून्यवाद से अशिक्षित जन साधारण में चरित्र-दोष पैदा न होने देने के विचार इसे जैन, महायान बौद्ध आदि ने मूर्ति के प्रचलन द्वारा ढक दिया है, और ब्राह्मणों ने भी इस मूर्तिपूजा को ग्रहण कर लिया। फिर भी ओड़ीशा में शून्यवाद है।

जैसे ईसाई जगत् बाइबिल को ईश्वर-मुख-निःसृत वाणी-रूप में मानता है, उसी तरह ओड़ीशा में ब्राह्मणेतर जनता जगन्नाथ दास के ओड़िया भाग १ को मानती है। जगन्नाथ दास चैतन्य देव के समसामयिक षोडश शताब्दी के कवि हैं। संस्कृत भाषा अच्छी तरह जानने पर भी उन्होंने संस्कृत भागवत का आक्षरिक अनुवाद न करके अध्यात्म रामायण, योगवाशिष्ठ, रामायण आदि की तरह अलग भागवत की विषय वस्तु का वर्णन किया है। उनके संप्रदाय के लोग इसका जैसा अर्थ करते हैं, वह शब्दार्थ के बहिर्भूत है। उदाहरण-स्वरूप यहाँ उल्लेख किया जा सकता है कि उनके ११श स्कन्ध के निम्नोद्धृत पद में जीव शब्द का अर्थ शुक्र के रूप में किया जाता है—

जीव रे दया शुद्धचित्ते। महा गहन ए जगते
(१६श अ. ७८)

उपरोक्त अर्थ के समर्थन के लिए भागवत के उक्त स्कन्ध का निम्नांकित पद उद्धृत किया जा सकता है—'केवल यज्ञे पशुवध। अन्यत्र वघटि प्रमाद' (११श. उ० ६२)।

इसका अर्थ सिर्फ संतान गर्भ-स्थिति होने के उपयुक्त काल को छोड़ शुक्र-क्षारण निषिद्ध है। याज्ञवल्क्य ने भी शुक्रधारण को ब्रह्मचर्य कहा है:—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्ष्यते।।

जगन्नाथ दास ने फिर अपने रचित तुलाभिणा में लिखा है—

महाशून्य ये ज्योतिरूप। ज्योतिरु जात ठुल रूप।
ठुल रुअर्द्ध मात्रा कला। मात्रा रु ओंकार जन्मिला।।

यहाँ ठुल का अर्थ विन्दु और ओंकार का अर्थ नाद है। यह तंत्र मंत्र के साथ समान है। शारदातिलक में कहा गया है—

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादः नादात् विन्दुसमुद्भवः।।

ओड़िया भागवत मत के अनुसार नाद की उत्पत्ति विन्दु से हुई है। लेकिन शारदा-तिलक के अनुसार विन्दु की उत्पत्ति नाद से हुई है। ओड़िया मत अनुभूति पर प्रतिष्ठित है।

प्राचीन काल में पुरी में दैत्य लोग रहते थे। अब उनके वंशधर "दइता" नाम से अभिहित हैं। विष्णुपुराण (२, १७, १८, अ०) से मालूम होता है कि उनमें से कई लोग बौद्ध और कई लोग जैन थे। बौद्ध धर्मावलम्बी हरएक वस्तु को शून्य मानते थे। जैन-धर्मावलम्बी लोगों ने वस्तु को सत् या असत् निरूपण न कर सकने के कारण माना था कि यह स्याद्वाद या सत् या असत् हो सकती है। वहाँ विश्वावसु एक दीप्तिमान् पत्थर की पूजा नील माधव के नाम से करने लगे।

शायद यह विश्वावसु महाभारतोक्त रेणुका-गर्भजात पुत्र हो। दैत्य लोग शून्यवादी होकर इन्द्रियपरायण हो गये थे; क्योंकि वे लोग उच्च आकांक्षा नहीं रखते थे। इन्द्रिय-परायणता के कारण उनका शुक्र तारल्य हुआ था। विश्वावसु के नीलमाधव देवता का अस्तित्व स्वीकार करके जितेन्द्रिय होने से इनके तरल शुक्रविन्दु ने आकार धारण किया। सिर्फ पुरुष का विन्दु सन्तान सृष्टि नहीं कर सकता है। सन्तान-उत्पत्ति के लिए नारी-शक्ति की भी आवश्यकता है। इसलिए दुर्गा और शिव दोनों ने सिर पर अर्द्ध मात्रा या अर्द्धचन्द्र धारण किया है। इसके बाद यह विधि प्रचलित हुई कि नारी या पुरुष में से कोई एक दूसरे को न बुलाने, "ओ" या स्वीकृति ज्ञापक उत्तर न सुनने पर बल प्रयोग नहीं किया जायगा।

अब इस विधि के अनुसार जगन्नाथजी की पूजा होती है। ऋक्वेद के निम्नांकित मंत्र से मालूम होता है कि अनेक बौद्धों और जैनों ने किरण का अस्तित्व स्वीकार करके वस्तु की सत्ता स्वीकार की है। "केतुं कृणवन्न केतवे। तोषे मर्या अपेशसे समुषद्भिरजायत" सायन की टीका में केतु का अर्थ किरण और तोषे का अर्थ आकृति दिया जाने के कारण साधारणतः यह अर्थ किया जाता है कि रात के अन्धकार में किसी वस्तु का तेज या आकृति न मालूम पड़ने से अकेतव और अपेशस् था। सूर्य की समुसत् या किरण से सभी वस्तुओं के केतु या तेज और नेशस् या आकृति ने प्रकाश पाया है। लेकिन इस मंत्र से ब्राह्मण केतु ग्रह की पूजा करने लगे। तब मंत्र का अर्थ कुछ भिन्न प्रतीत होता है। हम विश्वास रखते हैं कि ग्रहण के समय सूर्य केतु या चन्द्र का ग्रास करता है। उस वक्त सूर्य या चन्द्र पर जो आंशिक कृष्ण वर्ण का आवरण दिखाई पड़ता है उसे केतु कहते हैं। ग्रहण-काल में आलोक या ज्ञान और अंधकार या अज्ञान दोनों एक समान चन्द्र या सूर्य के रूप में अनुभूत होते हैं। भाव पदार्थ स्वीकार न करनेवाले अभाववादी बौद्धों को जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में कहा है कि भाव पदार्थ के समान अभाव भी एक पदार्थ है। ग्रहण-काल में यह स्पष्ट रूप में हृदयंगम होता है। इसलिए अभाववादियों को अनाचार पंथ छोड़कर सदाचार पंथ का अनुसरण करने के लिए स्नान, दान, आदि पवित्र कर्मानुष्ठान किया जाता है। यह केतु कालिय नाग है। इसे श्रीकृष्ण जी ने दलन किया था। लेकिन श्वेतकेतु या शुक्ल नाग वासुदेव नाम से परिचित है। इसे तांत्रिक लोग कुंडलिनी कहते हैं। विष्णु अनन्त नाग पर सोते हैं, शिव नाग को भूषणस्वरूप व्यवहार करते हैं, नाग जैन पार्श्वनाथ का संतक है और बुद्धत्व लाभ करते वक्त नाग ने अमोघसिद्धि या बोधिसत्व की रक्षा की थी इस कारण हम नागधर्म को आर्येतर धर्म कह नहीं सकते हैं। ओड़िशा में सौ से लेकर अस्सी शूद्र नागगोत्री हैं। भुवनेश्वर के कपिलेश्वरपुर से ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी की नागमूर्ति आविष्कृत होकर भुवनेश्वर

के ओड़ीशा स्टेट म्यूजियम में संरक्षित है। वहाँ से ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी की एक शिलालिपि भी आविष्कृत हुई है। उस लिपि में लिखा है कि बुद्धदेव ने वहाँ जन्म ग्रहण किया था। अब यह शिलालिपि कलकत्ता विश्वविद्यालय-म्यूजियम में संरक्षित है। भुवनेश्वर में कटक जिले से आविष्कृत अष्टम शताब्दी की बोधिसत्व मूर्ति भी म्यूजियम में संग्रहीत है।

अश्वघोष के सुन्दरानन्द काव्य के अनुसार बुद्धदेव ने बुद्धत्व लाभ करने के पश्चात् सब से पहले उत्कल के तपससु और झल्लिक को अपने धर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नाखून और केश दिये थे। रामायण के अनुसार राम ने दण्डकारण्य में वैखानस और बालखिल्य ऋषियों को देखा था। (आरण्य का षष्ठ स०, २ श्लोक) टीका में लिखा है––

"ये नखाः ते वैखानसाः ये बालाः ते बालखिल्या इति श्रुतेः। प्रजापतेर्नखलोमजाः।"

इसका क्या तात्पर्य ? नाखून और केश जड़ पदार्थ हैं। इन्हें काटते वक्त मनुष्य यन्त्रणा अनुभव नहीं करता। ये सब बढ़ते हैं। इससे यह अनुमान किया जाय कि इनमें जीवन है। इसके साथ दूसरी ऐतिहासिक किंवदन्ती की आलोचना करनी चाहिए। कैकेयी ने राम को वन में भेज कर भरत को राजा बनाने के लिए वर माँगते हुए कहा है––

स्मर राजन् पुरावृत्तं तस्मिन्देवासुरे रणे।
तत्र त्वां च्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा।।
तत्र चापि मया देव यत्त्वं समभिरक्षितः।
जागृत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ।।
––(२. ११, १८-१९)

देवासुर-युद्ध में शत्रु ने दशरथ को जीवितमन्तरा या प्राण बिना च्यावत् अर्थात् प्रच्युत वीर्य बनाया था। टीका में शत्रु का अर्थ शंबर दिया गया है। ओड़िशा में किंवदन्ती है कि युद्धक्षेत्र में दशरथ के रथ के पहिये की एक कील निकल गई थी। तब कैकेयी ने अपनी एक अँगुली को कील सदृश लगा कर रथ को चलनशील किया था। बौद्ध साहित्य के अनुसार बुद्धदेव ने कहा है कि रथ के किसी भी एक अंग की हानि होने से रथ अचल हो जाता है। शरीर भी आत्मा की स्थिति के बिना असम्भव है। आत्मा का विशेष प्रयोजन स्वीकार करना चाहिए।

उद्धृत श्लोक से मालूम होता है कि शंबर जीवित या आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करके शरीरशक्ति को स्वीकार नहीं करता था। अनुमान किया जाता है कि कैकेयी या मोर के समान नृत्य-गीत करनेवाले (कैकेय), केका, कुमार मोरपंख की विचित्रता में एकत्व रहने का उदाहरण दिखाकर शरीर और आत्मा का एकत्व प्रतिपादन किया है। यह कब की बात है ? इन्द्र का शिर पर मोरपंख पहनना, अहि या सर्प को मार डालना, शंबर का ९९ नगरी ध्वंस करना आदि बातें ऋग् वेद में वर्णित हैं। रामायण में उक्त है कि वेदवती रावण के अत्याचार से रक्षा पाने के लिए आत्महत्या करने के वक्त इन्द्र मोर हुए थे––

इन्द्रो मयूरः संवृत्तो धर्मराजस्तु वायसः।
कृकलासो - धनाध्यक्षो हंसश्च वरुणोऽभवत् ।।

ओड़िशा की किंवदन्ती के अनुसार सती के आत्महत्या कर डालने के बाद जब दक्षयज्ञ भंग होता था, तब देवताओं और ऋषियों ने पशु-पक्षी का रूप धारण किया था। तंत्र साहित्य के अनुसार सती के आग में जल जाने से तंत्रपूजा प्रचलित हुई। यह प्रमाण मिलता है कि वेद-रचना-काल में एक हृदयविदारक घटना हुई थी। उसके फलस्वरूप सती आग में जलीं और दक्षयज्ञ या नागधर्म (प्राणायाम-योग) ध्वंस करने की चेष्टा की गई थी। इसका उल्लेख लेखक के अप्रकाशित Indian culture and cult of Jagannath ग्रंथ में है। यह इतना ही याद रखना चाहिए कि बुद्धदेव ने उत्कल के तपससु और मल्लिक को नाखून और केश दिये थे, और रामायण में वर्णित है कि पुरी में नख-लोम-जात वैखानस और बालखिल्य ऋषि रहते थे। ब्रह्मपुराण के अनुसार पुरी में बालखिल्य ऋषि रहते थे। महाभारत में (वन १९७) लिखा है कि नारायण ने कृष्ण केश देवकी को और शुक्ल केश रोहिणी को दिये थे। शायद ये बालखिल्य केशव संप्रदाय के अन्तर्भुक्त थे। महाभारत के अनुसार बालखिल्य ऋषि ऊपर की ओर पैर और नीचे की ओर सिर करके डालों में लटक कर सूर्य की मरीचि प्राप्त करते थे। इसलिए ये सब ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ वृक्ष थे। गीता में इस अश्वत्थ वृक्ष की सहायता से पुरुषोत्तम योग की व्याख्या की गई है। गीता के उपदेश के अनुसार अश्वत्थ वृक्ष की डाल काटी गई है। वेद में बालखिल्य सूक्त होने से बुद्धदेव के केश देने के बारे में जो किंवदन्ती है वह वेद की परवर्ती नहीं हो सकती। पुरी की रथयात्रा को जैनों की रथयात्रा के साथ और गुड़िया-मंडप के उत्सव को रामायणोक्त नंदिग्राम में भरत-पादुका-पूजा करने की विधि के साथ तुलना करने के लिए यहाँ अवकाश नहीं है। बौद्धों की वाशेली अब पुरी की वाशेली साहि में पूजा पाती है। जैनों की विमला और शीतला को अब जगन्नाथ-मंदिर में वेदा के अन्दर स्थान मिला है। जिन्होंने मूर्तिपूजा की प्रयोजनीयता स्वीकार नहीं की है, वे अलेख महिमा आदि विभिन्न संप्रदायों के अन्तर्भुक्त हैं। वे ओड़िशा के भागवत धर्मावलम्बियों के समान शून्यवादी हैं। किसी का विश्वेतर ईश्वर-विश्वास नहीं है। "महिमा" शब्द संस्कृत के महत् शब्द से उत्पन्न हुआ है। सांख्य में बुद्धि को महत् कहते हैं। कृष्ण सांख्य मतावलम्बी थे। महिमा धर्मावलम्बी लोग शून्यवादी होने पर भी मूर्तिपूजा का विरोध नहीं करते हैं। कटक जिले के लेम्बाल गाँव में इनकी गद्दी है। इस गद्दी के प्रतिष्ठाता षोडश शताब्दी के अच्युतानन्द दास ने अपने को सुदामा के अवतार-रूप में वर्णन किया है। सुदामा ने "चावल भाजा" (लाई) समर्पण करके श्रीकृष्ण की कृपा पाई थी।

वे चैतन्य सम्प्रदाय के समान ढोल, करताल लेकर राधाकृष्ण के प्रेम-कीर्तन, प्राणायाम, योगाभ्यास या ब्राह्मणों के समान साडम्बर पूजा नहीं करते थे। वे श्रीकृष्ण का ध्यान शून्य-रूप में करते थे, लेकिन जगन्नाथ दास प्राणायाम-योगाभ्यास करते थे। जगन्नाथ का सम्प्रदाय "अतिबडी" नाम से अभिहित है। यह संप्रदाय ढोल, करताल लेकर चैतन्य का नाम-कीर्तन करता था। लेकिन जीव और ब्रह्म के बीच चैतन्य जी के प्रचार किये हुए भेदाभेद मत को नहीं

ग्रहण करते हैं। ओड़िशा के चैतन्य मतावलम्बी वैष्णव भेदाभेद मान कर शून्यवाद स्वीकार नहीं करते हैं।

बलराम दास ने षोडश शताब्दी में भी वैष्णव धर्म का प्रचार किया था। द्वारिका दास और नन्द दास ने उन्हें प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध नाम से अभिहित किया है। जो इन्द्रिय-निरोध नहीं करते थे उन्हें अनिरुद्ध कहा जाता था। अपने रचित कुराल पुराण में बौद्ध धर्मतत्त्व का संकेत किया है। लक्ष्मी पुराण में जाति-भेद का विरोध मत सन्निवेश किया है और रामायण में श्री राम राजा के, शबरी के जूठे आम खाने की बात का वर्णन किया है। ओड़िशा अधिक काल तक बौद्ध धर्म से प्रभावित था, इसलिए इनके मत में बौद्ध धर्म का निर्देशन होना विचित्र नहीं है। लेकिन अब ओड़ीशा के किसी भी गृही समाज में इनके मत का निदर्शन दिखाई नहीं पड़ता। गीता में वर्णन है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना विश्व रूप दिखाया था। बलराम दास ने अपने ब्रह्माण्ड भूगोल में लिखा है कि हरएक मनुष्य के शरीर में विश्व की यावतीय वस्तुएँ अवस्थित हैं। बौद्ध वज्रयान के साहित्य में लिखा है कि उड्डीयान के राजा इन्द्रभूति की कन्या लक्ष्मींकरा ने ऐसा मत व्यक्त किया था।

ढेंकानाल के जोरन्दा में अलेख धर्म की गद्दी है। इस गद्दी से लगभग सात मील की दूरी पर कपिलास पर्वत है। स्थानीय किंवदन्ती के अनुसार वहाँ कपिलमुनि का आश्रम था, इसलिए इसका नाम कपिलास हुआ। यह स्थान कपिल के सांख्य की विचित्ररूपिणी प्रकृति की अधोगति को हृदयंगम करने के लिए अत्यन्त अनुकूल है। यहाँ ख्रीष्ट त्रयोदश शताब्दी का शिलालेख है। ताम्र-शासनों से मालूम होता है कि ख्रीष्ट अष्टम शताब्दी में ढेंकानाल कोदालक-मण्डल के अन्तर्भुक्त था। "कोद्दालक" शब्द (उद्दालक) का ही रूपान्तर होकर कोदालक नाम की उत्पत्ति होने की बात का अनुमान करने पर यह प्रतीत होता है कि यहाँ छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित उद्दालक ऋषि का आश्रम था। इसके बारे में जो प्रमाण हैं उनकी आलोचना करने के लिए यहाँ अवकाश नहीं है। जो भी हो, इसके लक्षणों से मालूम होता है कि यह अलेख धर्म अत्यन्त प्राचीन काल का है।

पहले अलेख धर्मावलम्बी लोग कुम्भी वृक्ष का वल्कल पहनते थे। अब इसे सिर्फ संप्रदाय के गुरु पहनते हैं। शिष्य लोग काषाय वस्त्र पहनते हैं। पहले अलेख धर्मावलम्बी लोग अविवाहित रहते थे। अब उनमें पत्नी ग्रहण की प्रथा प्रचलित हुई है। वे ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य किसी जाति का पकाया हुआ खाद्य खाते थे, इसलिए अलेख धर्मावलम्बी के लोग पूरे ब्राह्मण-विरोधी हैं। सूर्यास्त होने के बाद वे कुछ भी खाना नहीं खाते। साधारणत: कन्ध, भील आदि आदिवासी लोग पेड़ के नीचे हाथी, घोड़े आदि रखकर पूजा करते थे। अब उनमें अलेख धर्म द्रुत गति से विस्तार पा रहा है। इस संप्रदाय के मतानुसार सन्तान में पिता का पुनर्जन्म होता है, दूसरा पुनर्जन्म नहीं। हिन्दू भी कहते हैं कि "आत्मा वै जायते पुत्र:"।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार शुक्र-उत्पत्ति को प्रथम पुनर्जन्म, संतान-जन्म को द्वितीय पुनर्जन्म और मृत्यु के बाद दूसरे जन्म को तृतीय पुनर्जन्म कहते हैं। अलेख धर्मावलम्बी शून्य में

किरण या तेज नहीं मानते; क्योंकि तेज सिर्फ ब्रह्म-रूप का प्रकाशक है। पदार्थों के रूप के अतिरिक्त अन्दर अरूप गुण भी है, इसलिए ये सब शून्य में अलेख या वर्णनातीत एक पदार्थ मानते हैं जिससे विश्व की उत्पत्ति रहना स्वीकार करते हैं। इस संप्रदाय के भीम भोई हैं।

शरद-उषुम नाहिं रे सुमन शरद उषुम नाहिं,
सदा सम्पूर्णा से अरूपा देही सुमन रे। शून्य पुरे छन्ति रहि सुमन रे।

उद्दालक ने वटबीज की परीक्षा द्वारा श्वेतकेतु को समझाया था कि विशाल वट वृक्ष बीज में, सूक्ष्म रूप में, निहित है। इसलिए विश्वास किया जा सकता है कि एक परम सूक्ष्म पदार्थ से विश्व की उत्पत्ति हुई है। बुद्धदेव ने नाखून और केश तपस्सु और भल्लि को दिये थे, इसलिए उन्हें शून्यवादी नहीं कहा जा सकता। इस धर्म के दूसरे विषय आलोचक के अप्रकाशित Indian culture and cult of Jagannath नामक ग्रन्थ में दिये गये हैं।

देहातों में श्रमजीवी शूद्र लोग दण्डपूजा करते हैं। जो लोग यह पूजा करने के लिए व्रत ग्रहण करते हैं उन्हें भक्ता या भगता (सं० भक्त) कहते हैं। यह पूजा मेरु या मेष संक्रान्ति के दिन समाप्त होती है। पूजा के दिन संख्या भक्तों की सुविधा पर निर्भर करती है। यह पूजा तीन दिन या इक्कीस दिन तक अनुष्ठित हो सकती है। इसमें तेरह भक्त अवश्य रहते हैं। पूजा के दिन वे लोग रोज एक बार हविष्यान्न खा कर, स्त्रीसंसर्ग त्याग करके, पवित्र और निष्ठा पर रहते हैं और दोपहर को प्रखर कड़ी धूप में खेत जोतने, दौनी करने, खमार में धान रखने आदि कृषि कर्म का अभिनय दिखाते हैं। वे लोग सूर्यास्त के समय नदी या तालाब में नहाने के लिए जाते हैं। नहाने के बाद एक आदमी एक बेंत और दो आदमी चार मशालें लेकर आते हैं। मिट्टी हत्थे के सिरे में चिथड़े लपेट कर देवता के रूप में एक आदमी पकड़ता है। लौटने के वक्त उच्च स्वर में हर एक देहाती की कल्याण कामना करके भीख माँगते हैं। रात को उनके साथ एक यात्रा-दल मिलकर गाँवों में यात्रा दिखाते हैं। यात्रा में पूजा के आख्यान का गीत, अभिनय के रूप में, अभिव्यक्त करते हैं। आख्यान में उक्त है कि एक दिन एक शवर वन में पक्षी की हत्या करता था। उसकी इस वृत्ति को दूर करने के लिए शिव जी ने यह धर्म प्रवर्तित किया था। लेकिन अभिनय में शबर-शबरी में जो वार्तालाप होता है उससे मालूम होता है कि शबर पार्वत्य जाति की अप्राप्तवयस्का बालिकाओं पर पाशविक अत्याचार करता था। दण्डकारण्य की उत्पत्ति के बारे में रामायण की किंवदन्ती के अनुसार जिस वन में दण्ड नामक एक राजा ने अप्राप्य-वयस्का भृगुकन्या को हरण किया था उस वन को दण्डकारण्य कहते हैं।

हर एक आदिवासी भृगु या एक शिला की पूजा पितृ-चैत्य रूप में करता है, इसलिए भृगुकन्या का अर्थ आदिवासी श्रेणी की बालिका हो सकता है। शायद अपेक्षाकृत चतुर युवक-गण आदिवासी बालिका लेकर इन्द्रिय का अपव्यवहार करते थे। अशोक ने युवकों पर दृष्टि रखने के लिए तोषली शासनकर्ता को भी धउली-शिलालेख में आदेश दिया है। इससे मालूम होता

है कि समाज के युवकों को संयतेन्द्रिय करके दण्डकारण्य मे पाशविक अत्याचार दूर करने के लिए यह धर्म प्रवर्तित हुआ था।

इस धर्म में शरीर को क्षत-विक्षत करके कायक्लेश सहने की विधि प्रचलित थी। दीर्घतमा से अंग, वंग, कलिंग, पुण्ड्र और सुह्न नामक पाँच पुत्रों ने पैदा होकर पाँच संप्रदायों को प्रतिष्ठित किया था। लोगों ने दीर्घतमा के शरीर को क्षत-विक्षत करने का वर्णन अपने रचित सूक्त में किया है। गीता में उन्हें असुर कहा गया है (अ० १७. ५, ६)। शतपथ ब्राह्मण में प्राच्य देशीय लोगों को असुर कहा गया है। शायद यह धर्म ओड़ीशा के ताम्रशासनों में उल्लेखित खिजलि (खिद्यन् ज्वलिने खिजिंग, खिद्यन यज्ञ) और यम गर्त मण्डल में प्रबल था। ब्रिटिश सरकार ने कानून बना करके दण्डपूजा से शरीर क्षत-विक्षत करने की प्रथा दूर कर दी। पहले इस पूजा में एक प्रथा थी कि पूजक लोग जलते अंगारों पर चलते थे। अभी यह प्रथा बन्द नहीं हुई है। पूजकों की निष्ठापरता की परीक्षा के लिए एक गड्ढे में लकड़ियाँ जलाकर उसे दहकते अंगार में परिणत किया जाता है। उस पर चूना डालकर इसे प्रदीप्त रखा जाता है। भक्त लोग इस पर चलते हैं। जिसका पैर नहीं जलता वह निष्ठापर माना जाता है। शायद यह सीता जी के सतीत्व की अग्निपरीक्षा का निदर्शन है। जो लोग शरीर को क्षत-विक्षत करते हैं उन्हें पाट कहा जाता है। 'मादला पाँजी' में राजाओं के पूर्वजों को पाट कहा गया है। जो लोग शरीर क्षत-विक्षत करके काय-क्लेश सहते थे वे विवाह करके सन्तान जन्म देने के लिए विवेचित होते थे। ओड़ीशा के कोंगद या गंजाम जिले के सप्तम और अष्टम शताब्दी के शैलोद्भव राजा लोग दक्ष धर्मावलम्बी थे। इसका प्रमाण उनके ताम्रशासनों से मालूम होता है। महाभारत में उक्त है कि सात्वत धर्म दक्ष को दिया गया था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सात्वत लोग दक्षिणारण्य में रहते थे।

दण्डपूजक अपने गुरु को "मणियामा" कहते हैं। शायद "मणियामा" शब्द मणिनाग शब्द का अपभ्रष्ट है। पंचम शताब्दी के कणासर ताम्रशासन में मणिनागेश्वर नामक शिवजी का उल्लेख है। रणपुर राजवंशावली के अनुसार पुरी के विश्वावसु ने रणपुर राजवंश के प्रतिष्ठाता को पूजा करने के लिए मणिनाग मूर्ति दी थी। इसके पहले राजा पंडु ने अपने पूजा के देवता दार को भुवनेश्वर से निकाल दिया था। आज भी रणपुर के पर्वत पर मणिनागपूजा पाते हैं। खारवेल के शिलालेख में कहा है कि वासुकी ने खारवेल को मणि दी थी। शायद वासुकी मणि नाग धर्मावलम्बी हैं।

दण्डपूजा समाप्त होने के बाद फूस से बने मणियामा को आग में जलाया जाता है। पूजक लोग शुद्धि क्रिया का अनुष्ठान करते हैं। बलभद्र, जगन्नाथ आदि नव कलेवर होने के बाद पुरी के दयिता लोग शुद्धि क्रिया करते हैं। क्या देवमूर्तियाँ दयिताओं के गुरु के चैत्य हैं? आज भी रणपुर राजवंश में चैत्यपूजा प्रचलित है। एक प्रकार की पूजा ओड़िशा में और प्रचलित है। इसमें देवी की पूजा होती है। इस देवी का नाम मंगला है। हर वर्ष आश्विन और चैत्र मास के हर एक मंगलवार को यह पूजा की जाती है। गले से नल निकली हुई ऊर्ध्वमुख मूर्ति के कुम्भ को मंगला कहते हैं। विभिन्न शूद्र जाति के पुरुष और स्त्री मिलकर यह पूजा करते हैं। पूजा के दिन

मंगला कोठी में या अपने अपने घर, जहाँ कलसी रखी हो वहाँ, स्त्रियाँ और पुरुष एकत्र सोते हैं। कलसी का नल कर्णस्वरूप होने के कारण और छः मास के अन्तर में पूजा की जाने पर यह रामायण में वर्णित छः मास में नींद से उठा हुआ कुम्भकर्ण हो सकता है। यह सत्य हो तो नहीं कहा जा सकता कि कितने प्राचीन धर्मों ने अब बदलकर कैसा रूप धारण कर लिया है।

ओड़िशा में षोडश शताब्दी के आखिरी भाग से सप्तदश शताब्दी के मध्य भाग तक मुसलमान शासन प्रतिष्ठित था। उस वक्त ओड़ीशा में मुसलमान धर्म प्रचारित हुआ था। सालबेग नामक एक मुसलमान कवि ने भक्ति रस का भजन ओड़िया में बनाया है। अब भी कटक में मुसलमानों के कदम रसूल नामक उपासना-मंदिर में हिन्दू लोग पुण्य अर्जन के लिए जाते हैं। ओड़िशा में अंग्रेज राजत्व प्रतिष्ठित होने के बाद क्रिश्चियन धर्म प्रचारित हुआ। इस तरह ओड़िशा में नाना प्रकार के धर्म-संप्रदायों का समावेश हुआ था। लेकिन ओड़िशा सांप्रदायिक-विद्वेष से हमेशा मुक्त रहा है।

उत्कलीय नृत्यकला

कविचन्द्र श्री कालीचरण पट्टनायक

ईसा पूर्व दो-तीन शताब्दियों से ओड़िशा में नट-नटियों की पत्थर की प्रतिमाएँ देखने को मिलती हैं। इसीलिए इसके पहले से नृत्य का यहाँ समादर था, इसमें शक की गुंजाइश नहीं है। वास्तव में स्वाभाविक है कि स्थापत्य शिल्पियों ने नृत्याधार पर ही इस कला को ग्रहण किया होगा। किन्तु इतना होते हुए भी उस समय इस नृत्यकला का क्या नियम था तथा किस प्रणाली से नियंत्रित होता था, उसका शास्त्रीय प्रमाण (कोई लेख या ग्रन्थ) उपलब्ध नहीं है। फिर यहाँ एक बात तो कही जा सकती है कि नाटचशास्त्र-प्रणेता महामुनि भरत जी नृत्य-व्याकरण या जो रीति-नीति ईसा की ७वीं शताब्दी में स्थिर कर गये हैं उसमें उन्होंने भारतीय नृत्य को चार प्रकार की प्रवृत्तियों में विभक्त किया है। अगर उसके पहले यहाँ नृत्यकला का प्रचलन या चर्चा न होती तो उसमें उड्र देश की नृत्यकला को एक विभाग या एक प्रवृत्ति के रूप में निर्धारित कैसे करते ? इसके बारे में भरत नाटचशास्त्र का चतुर्दशाध्याय देखने के लायक है। उससे जान पड़ता है कि उड्र, उत्कल या ओड़िशा की नृत्यकला प्राचीनतम है। इसमें दो मत नहीं हो सकते।

दशवीं शताब्दी के निर्मित भुवनेश्वर के ब्रह्मेश्वर मंदिर के शिलालेख में देखा जाता है कि रत्नालंकार-भूषिता सुन्दरी युवती नर्तकियों को देवपूजा की रीति में भेंट स्वरूप दिया जाता है। अनन्त वासुदेव मंदिर राजकुमारी चन्द्रावती देवी क' कीर्ति है। वे पत्थर-शिल्पियों को नृत्यभंगियों के बारे में जैसा निर्देश देती थीं वैसा ही अंकित होता था। यह १३वीं शताब्दी की बात है। इस समय के मोघेश्वर, शोभनेश्वर और कोणार्क आदि मंदिरों में नाना नृत्यभंगी की नट-नटियाँ उत्कलीय नृत्यकला की ध्वजा उड़ा रही हैं।

उत्कल में १७वीं शताब्दी के बाद गीत, वाद्य, और नृत्य कला के पतन का युग आता है। सिर्फ इतना ही नहीं, बल्कि स्थापत्य का भी पतन होता है। इस शताब्दी से नाना राजनैतिक अस्थिरताओं के कारण इस देश की कला की बहुत हानि हुई है। इसी समय से शिक्षित समाज में संगीत विलासवृत्ति के रूप में परिगणित हो गया है। अत्यन्त साधारण और पण्य-नायिकाओं के द्वारा गीत-नृत्य व्यवसाय के मुख्य रूप में परिवेषित होने लगा। इस दुर्दशा के बीच में संगीत ने शास्त्रीय पवित्रता और सम्मान छोड़ दिया। आखिर १८४० में ओड़िशा के अंगछेद से उसकी बिलकुल सत्ता लुप्त हो गई। पुरी जगन्नाथ-मंदिर और उस समय के गड़जात के कई मंदिरों तथा कई मठों में 'माहारी' और 'गोटिपुअ' या आखडा पिला नाटकी नृत्य देवसेवा-नीति के कारण ही बचा रहा। उसी से ओड़ीशी नृत्य की परंपरा कुछ अंशों में बच सकी है। समय समय पर

मेलों, यात्राओं, पर्वत्यौहारों, विवाह-व्रत और अच्छी मजलिसों में इनका उपयोग होने लगा। शिक्षित सम्प्रदाय में चर्चा या गवेषणा न होने से संगीत कला धीरे धीरे शास्त्रीय रीति से दूर हट गई, फिर भी 'महारी' और गोटिपुओं के द्वारा ओड़ीशी नृत्य की परंपरा सुरक्षित रही।

काफी अनुसंधान के बाद नृत्य के बारे में कई पाण्डुलिपियाँ, तालपत्र पोथियाँ संग्रहीत हो सकी हैं। इनमें से संगीत-अभिनय-दर्पण को संपूर्ण शास्त्रीय मतापेक्षी कहा जा सकता है। इसके लेखक तुंग राजवंश के राजकुमार यदुनाथ राजसिंह हैं। इस पोथी में सब संस्कृत श्लोक ओड़िया लिपि में लिखे हुए हैं। अभिनयचन्द्रिका नामक एक और नृत्य-संपर्कीय ग्रन्थ मिला है। इसके लेखक 'महेश्वर' महापात्र हैं। लेखक ने ग्रन्थ की समाप्ति में खेमुण्डि अधिपति नारायण गजपति की प्रशस्ति गाई है। इससे मालूम होता है कि यह लेख संगीत-नारायण-कर्ता नारायण गणपति के राजत्वकाल १७।१८ ई० का है। संगीत-अभिनय-दर्पण का सटीक-काल निर्णय नहीं हो पाया, फिर भी यह विश्वास किया जाता है कि यह अभिनयचन्द्रिका की पूर्ववर्ती रचना है। अभिनय-चन्द्रिका का वर्णन, अभिनय नामकरण आदि अनेक स्थलों में नाट्यशास्त्र से भिन्न है।

लेकिन संगीत-अभिनय-दर्पण में अधिकांश नाट्यशास्त्र और संगीत-रत्नाकर का साम्य वर्णन दिखाई पड़ता है। इनमें समता होने पर भी इसमें उत्कलीय परंपरा की विशेषता है। इसके अतिरिक्त मंदिर गात्रों में खोदी हुई मूर्तियों की नृत्यभंगी के सौसादृश्य का वर्णन इसमें है। इसमें नन्दिकेश्वरकृत अभिनय-दर्पण से जगह जगह अलग शिर, नेत्र, ग्रीवा, और हाथ के काम का वर्णन मिलता है। असंयुत और संयुत हाथ को अलग अलग अभिनय-प्रदर्शन में विनियुक्त न करके स्थल-विशेष पर एक या दो हाथों का इसमें उपयोग किया गया है। संगीत-अभिनय-दर्पण की यह विशेषता है कि अभिनेताओं को किस किस कार्य में कैसे विनियोग किया जाय, सिर्फ इतना ही देकर लेखक सन्तुष्ट नहीं रहे बल्कि किस प्रकार से अभिनय प्रदर्शित हो, इसका भी निर्देश दिया है।

ओड़ीशी नृत्य उत्कल देश की वृत्ति, भाषा, रुचि और रीति-नीति की परंपरा वहन करके शास्त्रानुमोदित क्रम से परिचालित है। यह नृत्य आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक इन चार विभागों की रक्षा पूर्ण रूप से करता है। प्रचार और गवेषणा के अभाव के कारण ही वह आज तक विशेष रूप में लोकलोचन में नहीं आ सका है। लेकिन इसके पुरातनत्व और शास्त्रीयता के बारे में विवाद-विसंवाद का अवकाश नहीं है।

नृत्य-शिक्षा के लिए पात्र को कई परिमाण में पद और नेत्र का अभिनय या चालना रूप-साधना करनी पड़ती है। ये सब देश-प्रचलित नाम के कारण अलग होते हुए भी शास्त्रीय-पद्धति से अलग नहीं हैं। यथा—

उठा, बइठा, ठिआ, चालि,
बुडा, भसा, भँडरी, पालि,
ओड़ीशी नाट र आठ बेलि।

ये आठ प्रक्रियाएँ ओड़ीशी नृत्य की प्राथमिक साधना है। साधारणतः यह त्रिमात्रिक और चतुर्मात्रिक सहज ताल और लय से साधित होती है। इन आठ शब्दों का अर्थ निम्नांकित है—

उठा—शास्त्रीय उत्प्लवन विधि।

बइठा—बैठने की रीति लेकिन यह बैठने की क्रिया कुछ अलग है। ओड़ीशी नृत्य में पीछे की एड़ी का विशेष व्यवहार देखा जाता है। एड़ियों को नितम्बों से सटाकर आगे की उँगलियों पर बैठना होता है। उस समय दोनों घुटने दोनों ओर फैले रहते हैं। हाथ मुट्ठी बाँधे (शिखर मुद्रा) कमर पर लगे रहते हैं।

ठिआ—नर्तक नृत्यारम्भ और नृत्य की समाप्ति में खड़ा रहता है। इस भाव-भंगी को ही ठिआ नृत्य कहते हैं। इसे शास्त्रीय सम्पदभंगी भी कहते हैं।

चालि—ओड़िया नृत्य में गीत गाकर अभिनय प्रदर्शन करने के समय ताल लय के साथ आगे बढ़ने की कला को चाल नृत्य कहते हैं। यह शास्त्रीय रूप में भ्रामरी गीत कहलाता है।

बुड़ा—यह भंगिमा पात्र के हाव-भाव, निमज्जा अवस्था को प्रदर्शित करती है। शाब्दिक अर्थ में दोनों हाथ सिर पर रक्खे डूब जाने का अभिनय ही बुड़ा अभिनय कहलाता है।

भसा—दोनों हाथों को दाहिनी एवं बाईं ओर तरंगित करके शरीर झुकाकर नाचने की रीति को भसा कहते हैं। यह भाव में तैरने के सदृश प्रदर्शित होता है।

भँडरी—यह चक्र भ्रमरी क्रिया है।

पालि—नृत्य के समय आगे, पीछे और पार्श्व गमन की रीति को पालि कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रचलित प्रवचन है—

"हात ये उंठि आखि से इठि
चउक चिरा लक्षी बइठि
चउरस करि भांगिव काठि
ताल काल मानि मार गोइठि"।

इसका अर्थ समझा जाय तो नाट्यशास्त्र के निर्देश के अनुसरण से ही हाथ या अभिनय प्रदर्शन करने के वक्त उस पर नजर रहेगी। चउक ओड़िशा में प्रचलित करण चिरा भी उसी तरह दोनों पैर समान रेखा में शरीर के दोनों ओर रखकर बैठने की क्रिया है। लक्ष्मी शब्द का अर्थ लक्ष्य रखना है। बइठि शब्द का अर्थ पाँव के अग्रभाग से बैठना, काठि शब्द का अर्थ है शरीर।

शरीर को चार समान भागों में विभक्त करना चउरस क्रिया है। ताल और काल के अनुसार एड़ी से आघात करना होगा। एड़ी का व्यवहार ओड़िशी नृत्य की एक विशेषता है।

ओड़ीशी नृत्य में उग्र भाव-भंगी कम है। उग्र तथा तांडव-नृत्य नटराज महादेव का नृत्य है। ओड़ीशा में ९वीं शताब्दी के पूर्व शिवमूर्तियाँ अधिक थीं। इसके बाद अनेक स्थानों में श्रीकृष्ण की मूर्ति दिखाई पड़ती है। गीत और नृत्य के बीच में इस भाव की काफी रचनाएँ देखने को मिलती

हैं। उत्कलीय गीत-कवियों और छंद-रचयिताओं ने अधिकांश गीतों में कृष्णभक्ति की रचना की है। नृत्य में भी यह देखने को मिलता है। इसलिए ओड़ीशी नृत्य में नटराज के बदले, नटवर-भंगी का प्रचलन देखा जाता है। यह त्रिभंग है। ओड़ीशी नृत्य के पात्र के लिए रंग-प्रवेश-काल से त्रिभंग-भंगिमा में खड़े होने की विधि है। इस खड़े होने की भंगिमा को साधारण प्रचलित भाषा में थाई कहते हैं। यह स्थायीशब्दज है।

वटु नृत्य वटुक या वटुकेश्वर भैरव की आराधना ओड़ीशी नृत्य का एक अविच्छेद्य अंग है। पात्र रंग-प्रवेश के बाद पहले भूमि-प्रणाम, विघ्नहरण गणपति-पूजन, वटनृत्य, पल्लवीनृत्य, साभिनय नृत्य के बाद आनन्द नृत्य करने की विधि प्रतिपालित होती है। गीत का एक चरण अभिनय करने के साथ गाने के बाद अन्य चरण प्रारम्भ के मध्य स्थल में जो नृत्य होता है, उसको अभिनयचंद्रिका में वटु नृत्य कहा गया है। ओड़ीशी नृत्य भावाभिनय-प्रधान है। अभिनय को "पारिजा" लक्षण और "अवलय" कहा जाता है।

वटु नृत्य के कुई कारणों में कुछ कुछ ताण्डव नृत्य का सम्मिश्रण है। संभवतः ओड़ीशा में गोटिपुअ नृत्य की सृष्टि के बाद से इन सबको स्थान मिला है। पहले ओड़ीशा में देवदासी या 'माहारी' नाच ही प्रचलित नृत्य था। १६वीं शताब्दी के बाद देश की राजनैतिक परिस्थिति हमेशा अस्थिर रही। इस वक्त लड़कियों के बदले लड़कों को लेकर गोटिपुअ या आखड़ापिलाओं के नृत्य की सृष्टि हुई। देवपूजा-पद्धति में सिर्फ देवदासियाँ ही नृत्य करती थीं। राजा रामचन्द्र देव के समय में 'खोरधा नियोग' नाम के नारी-नृत्य ने खोरधा-राज-दरबार में स्थान पाया था।

रामचन्द्र देव का राजत्व देश की अनिश्चित परिस्थिति में हुआ था। उस वक्त जनता का धन, मान और जीवन संकटापन्न था। जगन्नाथ-मंदिर में राजा रामचन्द्र देव ने ही पहले गोटिपुअ नृत्य की प्रथा प्रचलित की थी। गोटिपुअ नृत्य को दूसरी मजलिसों में भी स्थान मिला। सचमुच ये सभी ओड़शी नृत्य की परंपरा रखते आये हैं। मुहल्ले के अखाड़े या तालीम के स्थानों में योग्य शिक्षक इनको विधिबद्ध रूप में सिखाते थे। लड़कों को इस नृत्य के बारे में तालीम देते वक्त इन्हें कई प्रकार के बन्ध या भाग सिखाये जाते थे। परन्तु यह वास्तव में ओड़ीशी नृत्य की विधिबद्ध धारा के अन्तर्भुक्त नहीं है।

यह नृत्य उन्नीसवीं शताब्दी तक परंपरा की रक्षा करके चले आते थे कि १८४० ई० में ओड़िशा का अंगच्छेद हुआ। विशिष्ट कला और साहित्य-चर्चा के स्थान गंजाम को मद्रास प्रेसीडेन्सी में शामिल कर दिया गया, १९३६ ई० तक (लगभग एक शताब्दी)।

इसी अवस्था में रहने से ओड़िशी संगीत और नृत्य कला का पतन हुआ। इस काल में दुर्योग से ओड़िशावासी नृत्य, संगीत कला के प्रति नाना कारणों से विरागी रहे। शिक्षित सभ्य-समाज में इसका आदर कम हो गया था, इसीलिए शास्त्रानुमोदित परंपरा को अक्षुण्ण रखना कष्टसाध्य हो पड़ा था। अशिक्षित या अर्धशिक्षित लोग गीत, नृत्य को पेशे या शौकीनी के रूप में ग्रहण करने लगे थे। उधर दक्षिण-विच्छिन्न उत्कल में आन्ध्र के प्रभाव से तत्रत्य वेश्या नृत्य की सरल सहज नृत्य शैली चल पड़ी। इसीलिए लोगों ने शास्त्रीय रीति का संपूर्ण रूप से अनुसरण करने

की आवश्यकता अनुभव नहीं की थी। उस वक्त संगीत में कर्नाटकी ढंग मिश्रित हो गया। ऐसे ही आज भी कई साहित्यिक पंडित बताते हैं कि ओड़िशा में कर्नाटक के संगीत का (गीत-नृत्य का) प्रचार कर्नाटक अंचल के गायकों और वेश्याओं के द्वारा हुआ है। उन्हें समझना चाहिए कि सप्तदश शताब्दी के मध्यभाग में कर्नाटकी संगीत का नाम पंडित वेंकट भरवी के द्वारा होता है, अथच ओड़िशा में ईसा पूर्व दूसरे-तीसरे शतक से नृत्य-गीत की चर्चा के उत्कर्षता पाने के प्रमाण आज तक पत्थरों पर दिखाई पड़ते हैं। श्रीमंदिर की पूजा-पद्धति भी इसका अन्यतम प्रमाण है।

नाचने के पहले नाचनेवाले को कितने प्रकार की निर्दिष्ट कसरतों का अभ्यास करना पड़ता है यह सब लय और मात्राओं पर ही निर्भर है। साधारणतः तीन और चार मात्राओं में दो कदम चलने से ही सहज में "करष" शोधित होने लगता है। इसके पश्चात् हाथ, कमर, गर्दन, आँखें, भ्रूभंगादि विविध अंग नियमानुसार चालित होते हैं।

चउक एवं चिरा ओड़िशी नृत्य-धारा की विशेषता प्रदर्शित तो करती है, पर साथ ही कष्टसाध्य भी है। एड़ी से ताल देना और समकोण हो करके खड़े होना दूसरी रीति है।

आज कल उड़ीसा के जितने पूर्वतन संगीतशास्त्र मेरे हस्तगत हुए हैं उनमें संगीतनारायण में नृत्य-विषय पर विशेष चर्चा हुई है। संगीतसरणी, नाट्य मनोरमा आदि ग्रन्थों में भी विभागीयालोचना है। महेश्वर महापात्र कृत अभिनयचन्द्रिका और यदुनाथ राजसिंह कृत संगीत-अभिनय-दर्पण नामक दो शास्त्रों में नृत्य के बारे में स्वतंत्र रूप से वर्णन है। आज भी दोनों ग्रन्थ अप्रकाशित हैं।

महेश्वर महापात्र के लेख में खेमंडी-राजा नारायण गजपति के प्रशस्ति-गायन की दृष्टि से यह विश्वास किया जाता है कि यह संगीतनारायण ग्रन्थ का समसामयिक है। यह विश्वास किया जाता है कि यह ग्रन्थ सप्तदश शताब्दी की अन्तिम अवधि में रचा गया था। अभिनय-चन्द्रिका में ओड़िशी नृत्यकला के बारे में विशेष रीति का वर्णन है। यह सब बिलकुल स्वतंत्र है। भारतनाट्यशास्त्र के वर्णन या नामकरण के साथ इसका कम साम्य दिखाई पड़ता है।

यदुनाथ राजसिंह-कृत संगीत-अभिनय-दर्पण के वर्णन ने संगीत भरतनाट्यशास्त्र और संगीतरत्नाकर के साथ अनेक स्थलों में समता रक्षा करते हुए भी उत्कलीय वृत्ति की स्वतंत्रता विकसित की है। मैं आज तक यदुनाथ राजसिंह या उनके ग्रन्थ-रचना-काल का निर्णय भली प्रकार नहीं कर सका। उड़ीसा के पूर्वतन गड़जातों में तिमिरिया के राजा तुंग वंशज हैं। यदुनाथ ने अपने ग्रन्थ में अपने को तुंग वंश के नाम से परिचित किया है। रचना की रीति से यह अनुमान किया जाता है कि यह अभिनयचन्द्रिका से पुरातन है। ग्रन्थकार ने नन्दिकेश्वर के रचित अभि-नय-दर्पण से अनेक स्थलों में वर्णन और रीति की पृथक्ता दिखाई है। केवल विभिन्न अंगों के अभिनय की संज्ञा या प्रयोग का नामकरण न करके प्रयोग प्रदर्शन-रीति भी वर्णन की है। यह बात दूसरे नृत्यग्रन्थों में दिखाई नहीं पड़ती। इनके मत में संयुक्त और असंयुक्त हाथ अलग अलग नहीं। ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है कि असंयुक्त हाथ का अर्थ प्रदर्शन और प्रयोग-

ओडिशी नृत्य की विभिन्न मुद्राएं

★उत्कल की नृत्यकला★

कोणार्क मन्दिर की एक नर्त्तकी की मूर्त्ति
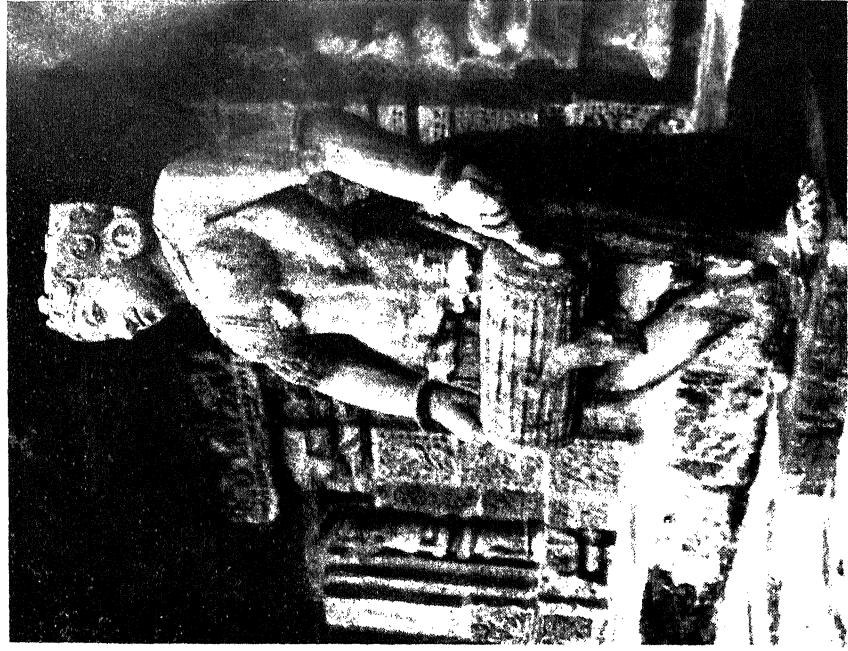
मृदङ्ग बजाती हुई एक नर्त्तकी की मूर्त्ति

★ उत्कल की नृत्यकला ★

नृत्य-भंगी—कपिलेश्वर मन्दिर, भुवनेश्वर

शिव-विवाह—परशुरामेश्वर मन्दिर, भुवनेश्वर

ठिआपाला

दासकाठिआ

कोया नृत्य
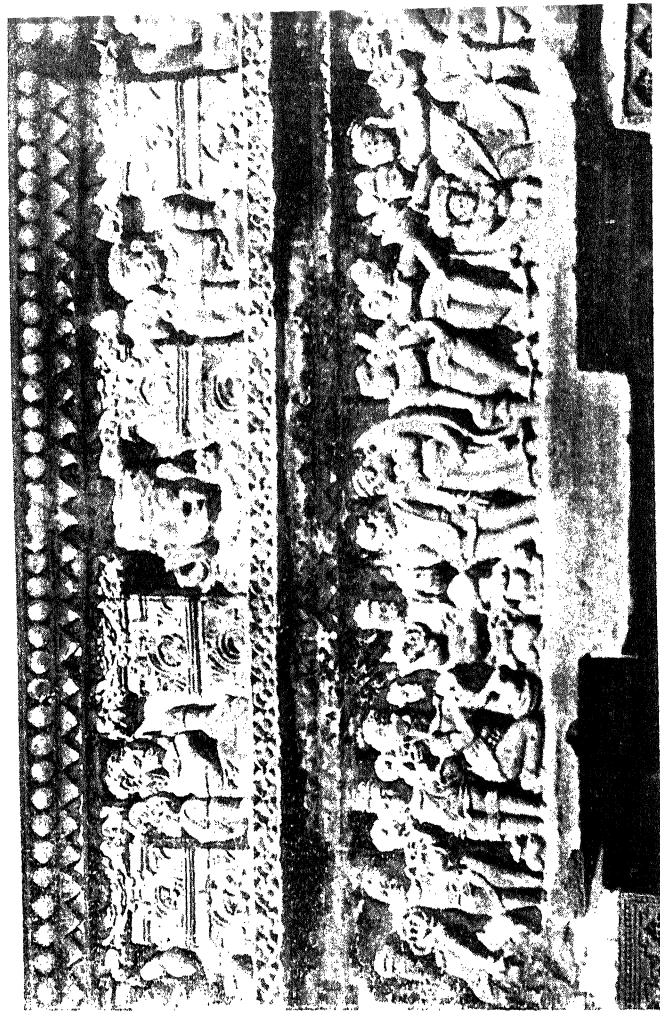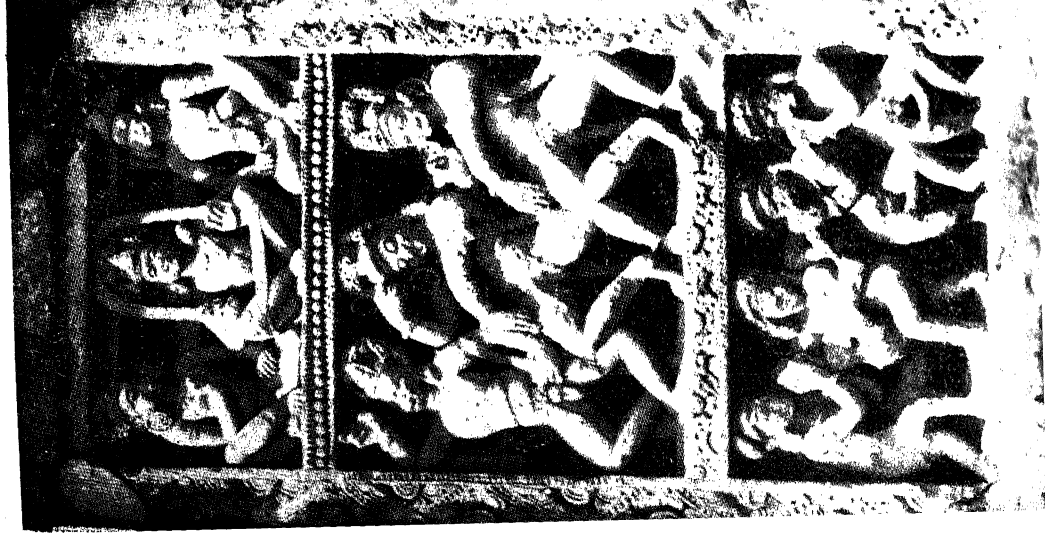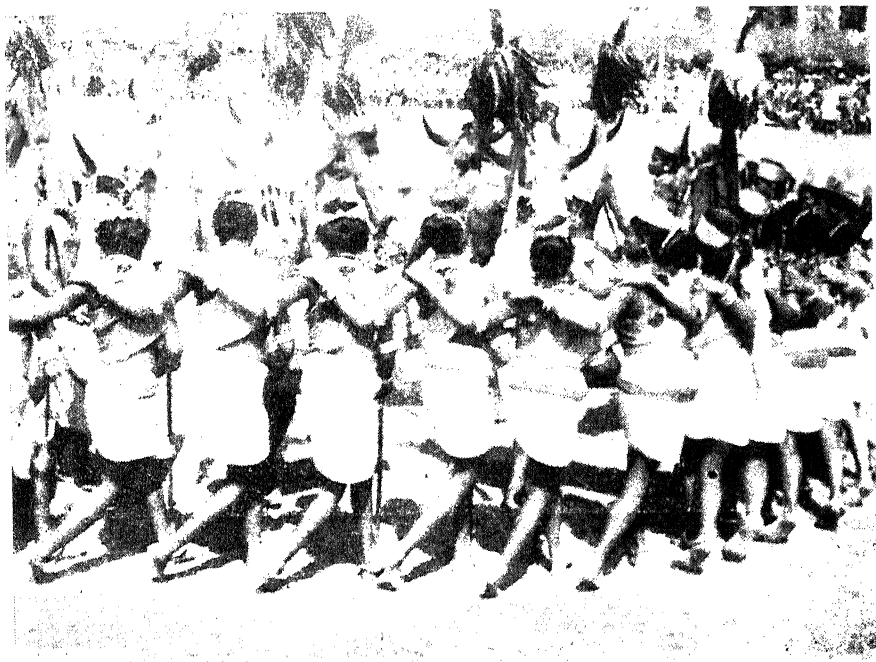
गण्ड नृत्य

पुरी का नागा-नृत्य

ओड़िशी-नृत्य (कला विकाश केन्द्र)

(ऊपर) छउ नाच (नीचे) एक आदिवासी लोकनृत्य का अभिनय

विशेषत्व लेकर संयुक्त हाथ के समान व्यवहृत हैं। संगीतरत्नाकर ग्रन्थ में इसका समर्थन देखने को मिलता है। इस ग्रन्थ में "करण" के बारे में विशेष वर्णन नहीं है।

ओड़िशी नृत्य को परंपराक्रम में कोई इसे छः और कोई कोई सात भागों में विभक्त करते हैं। साधारणतः छः प्रकार का प्रचलन अधिक है। यथा :—

१—पात्रप्रवेश—भूमिप्रणाम

२—गणनाथ या विघ्नराज-पूजन

३—वटु नृत्य

४—पल्लवी नृत्य

५—साभिनय नृत्य

६—प्रान्त नृत्य।

यह तारिझम, पहपर या नाटांगी रूप में कथित है। बहुत समय से, नाना कारणों से, यह सुप्रतिष्ठित नृत्यकला अवहेलित होती थी। आज उत्कल की विभिन्न पुर-पल्लियों में ओड़िशी नृत्य के प्रति जनसमाज का आदर और आग्रह बढ़ गया है। सभ्य और भद्र समाज की कन्याएँ इसको सीखने लगी हैं। यह उड़ीसा ही में नहीं, वरन् भारत के कोने कोने में एवं पृथ्वी के प्रत्येक सभ्य राज्य में चहल-पहल मचा कर प्रत्येक प्राणी में नृत्य उन्माद एवं उत्साह भर रहा है। इस समय पुरातन ग्रन्थों को प्रकाशित और उच्च शिक्षा का प्रसार करना हमारा आवश्यक कार्य है।

आशा ही नहीं वरन् भगवान् जगन्नाथ जी की महती अनुकम्पा से हमें पूर्ण विश्वास है कि ओड़िशी नृत्य निकट भविष्य में अपने पूर्ण गौरव के साथ प्रसारित हो जगत् के प्रत्येक प्राणी में अपूर्व कला, और जीवन की नई ज्योत्स्ना जागृत कर सकेगा।

उत्कलीय रंगमंच का अतीत किंचित्

श्री कृष्णप्रसाद वसु

अतीत के विराट् विस्तृत ऐतिह्य और गौरव-गाथा से मंडित होकर पूजा-वेदी के शीर्ष-सिंहासन पर विराजमान होकर भी आधुनिक विज्ञान युग के श्री-सौभाग्य में भाग्यवन्त होने में इस देश को कुछ देरी हुई है।

आज पचास-साठ वर्ष की बात है कि रेल या कल, और जहाज आदि काम में उपयोगी हुए हैं। मंच और रंग-रस को छोड़कर सभ्य हों या असभ्य, कोई भी चिरस्थायी नहीं रह सका है। मानव-स्वभाव में ही इसका आवेदन और प्रेरणा दिखाई पड़ती है। उस वक्त सारा साम्राज्य काव्य, संगीत और छन्द-संगीत का पक्षपाती था। उस वक्त बनानी बृहत् थी और लोकालय कम था। उस वक्त गद्य साहित्य में 'यात्रा' या स्वांग आदि सभारंजन-वृत्तिधारी नाटुआ संसार को नहीं आया था।

स्वर और संगीत के द्वारा भाव का परिवेषण और भाव द्वारा रस-संचार करना मात्र ही था अभिनय का लक्ष्य। वास्तव में दिखाई पड़ता था कि यह रीति अत्यन्त क्षिप्र वेग से हृदय को द्रवित करती थी। वह आशु प्रभावशाली था।

आज जो रंगमंच को विलायती सभ्यता का अवदान कहते हैं, इसे हम स्वीकार नहीं कर सकते। शकुन्तला, कादम्बरी, मृच्छकटिक या रंगसभा की बात अथवा राधाकान्त मठ में श्री चैतन्य के कृष्णकर्णामृत के अभिनयों की बात छोड़िए। आँखों से देखी गई बातें असत्य नहीं हैं।

मैं उस समय नया था। हठात् मालूम हुआ कि आभीरी कलावती पटियागढ़ से आई हैं। वे नदी के किनारे आम के बाग में मंगला के सामने गोपलीला दिखायेंगी। कहते हैं, यह नाट्य अत्यन्त सुन्दर एवं मनोज्ञ है। अतः उस दिन हमारा भी कैसा उत्साह हुआ। शिक्षक ने भी छुट्टी दे दी, अवश्य हमारे सुकुमार कर-पल्लवों को उपस्थिति के क्रमांक-संख्यक वेत्राघात से मंडित करने के बाद। कहना बाहुल्य है कि उस दिन स्टेज सजाने का उपकरण यह था कि एक खाट स्टेज के पीछे टाँगने के लिए, एक चटाई सामने के लिए और झुलाने के लिए एक सम्बलपुरी कुम्भवाला बेढ़ना, पर्दे के लिए चार-छः बड़ी दरियाँ डण्ठल लगे हुए कुईं फूल की तरह सुन्दर। अभिनय के कलाकारों के लिए तीन पूड़ियाँ, हुडुम्ब नामा चिप्पीटक भाजी, चार नारियल, कुछ गुड़, थोड़ा नमक और इमली। नर्तकी तारका रानी प्रौढ़ स्त्री श्रीमत्या रंगिआमा का दंतहीन मुख, रंगिया माँ ही दल की नायिका है। कितने अनुनय और विनय के बाद नन्द सेठी उसे

ला सके हैं। उसके केशविन्यास के लिए कुछ करंजी तेल, कान्तिछटा के लिए थोड़ी सी हल्दी थी।

श्री पखावज के लिए भोग, श्री कुब्जी की लज्जा-निवारण के लिए एक अँगौछा, नृत्यकारी दारुमय तपस्वियों के लिए धुंआपत्र पीकाहका, माताओं की बहिर्देश कल्पें चूना-दोक्ता खैनी न देकर कौन मुहल्लेवाला तीव्र तिरस्कार और लोकनिन्दा से आत्मरक्षा कर सका है!

कमलघटा (एक प्रकार का बड़ा दीपक) के विस्तृत आधार के लिए कमजोर बाँस के दस-बारह तिपाये तथा स्टेज के ऊपर की छत के लिए भी श्मशान में पड़े अरथी के कुछ बाँस इकट्ठे कर लिये गये।

प्रबन्धकों को यह सब आयोजन करने के लिए बिलकुल सोचने की जरूरत नहीं पड़ी है। अभिनेता मानवदेही और दारुदेही गोष्ठियों को बिलकुल बाधा नहीं हुई। परिया, गड़आ ये सब कौतुक विद्या में विख्यात हैं। वे कलावती फिर आमंत्रित हैं, विशेषतः उत्कल में इनकी मर्यादा की अवहेलना नहीं हो सकती। यह सब दायित्व, सुनाम और सुयश के साथ हम पाठशाला के छात्रों ने समाधान किया कि एकान्त निःस्वार्थ और आशाहीन रूप में नहीं। केवल प्रथम पंक्ति में बैठकर तमाशा देखने के लोभ से। संध्या-आरती समाप्त होने के साथ ही साथ सब कमल-घटाएं तेजी से जल उठीं। आम-बाग के निसर्ग-सुन्दर चन्द्रालय के नीचे तैलाधार में राख तेजी से जल उठी :—

"तिन तां, तिन तां त्रेकेटधिन् तितां,
दुम् दाम्, दुम् दाम् पोड पीठा भारि दाम्
देदम् देदम् चूड़ाभाजा आलूदम्।"

अब क्या सँभाला जा सकता है सभा को, हमारे पैरों और मुँह को? कहीं कहीं से मर्द-औरतें क्षेत्र, मेड़, गलियारा सब लाँघते हुए, ऊँची नीची, ऊबड़-खाबड़ जमीन को पार करते हुए क्षुकी, चेमी, भंगिन, खबुआ, कीमा, नेपरा नाई और नन्द सेठी आदि भी आ धमके। किसी के कंधे पर घास की चटाई और किसी के कंधे पर खजूर की चटाई, किसी के हाथ में पान का बटुआ, किसी के हाथ में पानदान। कोई पिच पिच करके रंगीन और सुगंधित पीक थूकता है। किसी की नाक में बुलाक और नथुनी हिलती है।

सभा के पास कुत्ते इकट्ठे होकर झगड़ने लगे। अँधेरे में सब मारे डर के भाग गये। सब कुबुजी कुचुमुचू शब्द करते हैं। खिटाटिणा धम्! ये कैसा दृश्य? पर्दे के अन्दर कंस जी का सैन्य मार्च करता है। उनके कंधे पर बन्दूक, कितनी बड़ी बड़ी मूँछें, गुलबन्द और सिन्दूर तिलक सँभलो, सँभलो—आये घड़ियाल, बक, बाघ, बकरी, मोर, हिरन, हिरनी, धवली, श्यामली गाय, नील वर्ण की कुंज गलियाँ—

आ रही है यशोदा सिर पर टोकनी लिये जिसमें दही की हाँड़ियाँ हैं। छतरी के नीचे राजा नन्द; काँवर पर फकीर परिड़ा ले आ रहा है दही की हाँड़ियाँ। हाथ में वेणु, सिंगा, छड़ी

लिये श्रीदास, सुदाम, सुबल, मथुरा के बाजार के रास्ते में गोपियाँ और उनके बीच मोरपंखधारी नटवर श्रीकृष्ण।

जनता स्तब्ध, मुग्ध, नीरव और निःस्वन! पीछे से मधुमय, 'मथुरा मंगल' चल रहा है। "कृष्णर गमन चाहिं छन छन"—विदग्धचिन्तामणि की अमर पद्यावलि—'दूती गो कहिबू बन्धुं कु, की दोष रे फिंगि देले मदनसिन्धु कु"—अगस्ति नृत्य कर आये, और चल दिये। अब अत्रि और नारद भी हाथ में गाँजा चिलम लेकर आये और उन्होंने पद जोड़ दिया—"ओलट कमलनेत्र बुला चकिते"—शरीमार्थ की परमार्थ कविता है उनकी खँजड़ी। नाचते नाचते कौपीनधारी सन्दीपनी निकट आये झोली में माला जपते जपते। उनके कद्दू सदृश नितंबों के बीच में से फस्, फस् कर धुआँ निकल जाता है, जैसे कि कैनेडियन इंजिन से निकलता है।

ओ...उस दिन कैसी मजलिस! यह उपरोक्त सूत्र और दारु प्रतिमाओं का खेल जहाँ पर हो, या जो कोई करे—यह पल्ली-प्रमोद—इसे आधुनिक रंगमंच का वृद्ध प्रपितामह कहने से कुछ क्षति है क्या? यह लगभग दो सौ वर्ष से चला आ रहा है। अब तक प्राचीन को विदा देकर नूतन को ग्रहण करने की वितृष्णा को नहीं छोड़ा है। नूतन की उज्ज्वल आभा नहीं देखी है, और न दरिया पार के सभ्य उपादान का सौरभ ही देखा।

लगभग १९१२ ई० में वलंगा थियेटर के आविर्भाव के पूर्व उड़ीसा ने अपने निजस्व के रक्षार्थ व्यवसायी रंगमंच की प्रतिष्ठा नहीं की थी। जहाँ जो कुछ था सब में कोई शौकीन, कोई सामयिक, मौसमी वायु—ललाट में चन्दनविन्दु—हास्यमय, पृथुल वपु चाहनी में विराट प्रतिमा, युवकों के साथ युवक, बूढ़ों के साथ बूढ़े, पक्का जौहरी—उस स्वर्ग-गत पूज्यपाद श्री मनमाली पति को हम प्रथम अर्घ्यार्पण करते हैं। रंगमंच के इतिहास के प्रसंग से उस भार्गवी नदी का किनारा पुन्नाग कुंज, उस कचहरीघर के संलग्न नारियल वन की नृत्यशाला को कोई क्या भूल सकता है?

उस आदि परिकल्पना के प्रथम प्रतिष्ठाता और उस दिन के आदि सहयोगी वृन्दावन बाबू, फनि बाबू, मनिबाबू, ऐच बाबू, षडंगी ब्रदर्स, हरिमोहन राम मनियाँ को, और उस गोप गोसेइंक (गोस्वामी) clarionet को—

शायद सब चले गये हैं। सिर्फ राम मनियाँ बाबू हैं जो उस दिन की उन बातों को कहने के लिए हैं। लेखक का सौभाग्य, उस दिन लेखक ने सेतुबन्ध में गिलहरी की तरह धूलि झाड़ी और गायी गई थी चैतन्यलीला। केवल एक क्षुद्र रासदल से यह परिकल्पना हुई है। उसी पुत्र-पौत्रादि-क्रम ने इस युग का स्वच्छ स्वरूप लिया है। हमें यह मालूम नहीं है कि उस दिन की वह काली सम्पूर्ण प्रस्फुटित हुई है या नहीं, लेकिन वह सौरभ वितरण करती है। "भवति विज्ञतमः क्रमशो जनः।" यह नहीं है कि इसके पहले सारा उत्कल उदासीन था। अस्थायी अमेचर के रूप में नाना प्रचेष्टाएँ विभिन्न स्थानों से दिखाई पड़ती थीं।

विशेषतः राजा जमींदारों के उबास, बड़े अफसर, अमला आदि के कोर्ट कचहरी और मेडिकल कालेज आदि में पर्वों के उपलक्ष में थियेटरों का उद्गम होता था।

लेकिन थियेटर ऐसी चीज है जिसे हमने पहले बिलकुल बाल्यावस्था में जाजपुर प्रदर्शनी

में देखा था। मिनार्वा का "मदनभस्म" और कपालकुण्डला में, लेकिन बंगाली भाषा में। उस समय उत्कल बंग के साथ संयुक्त था, उस समय वह स्वतन्त्र उत्कल नहीं था।

केन्द्रापाड़ा में लगभग उस समय का समसामयिक जगदेव थियेटर निकला। शायद यही हमारे युगलबन्दी अंचल में उड़िया भाषा का प्रथम थियेटर हुआ। उनका नल-दमयन्ती नाटक विशेष सौष्ठव-पूर्ण हुआ था, लेकिन वह भी बंगानुवाद है।

महाराजा वैकुण्ठनाथ दे और सामन्त राधाचरण दास बालेश्वर के दो बड़े जमींदार हैं। हर एक की एक गोष्ठी है। घोड़े-भैंस-विवाद में क्या, बारवटी क्या, सुनहट दोनों दलों का अभिनय सुन्दर हुआ था कलकत्ते के पास। इसलिए दोनों दलों में उच्चाङ्ग का देशी, विलायती कन्सर्ट सुनने को मिलता था। उस युग में कन्सर्ट काफी सम्मान लाता था।

गीत वाद्य, नृत्यादि मनोज्ञ होते थे। वक्तृता और प्रकाशभंगी मार्जित प्रणाली की थी। उस वक्त रूप-सज्जा की इतनी उन्नति नहीं हुई थी। उस वक्त जरी, मखमल, चुमुकी का मोह काफी था।

बारबटी बँगला नाटक अधिक दिखलाता था। सुनहट उत्कल भाषा का पक्षपाती था। ऊषा काव्य को नाटक-आकार में दिखाने की पहली प्रचेष्टा इस सुनहट से ही हुई थी। स्वर्गीय रामशंकर बाबू, भिखारी बाबू या कामपाल बाबू इस वक्त पुरोभाग में नहीं आये थे। शायद उत्कल भारती को नाट्यसाहित्य का पहला अर्घ्य इस मौलिक उड़िया नाटक "ऊषा" से ही था। इस वक्त "विवासिनी" भी नाटक के आकार में प्रकाशित नहीं हुई थी। सुनहट का नाम अमराक्षरों में रहेगा।

कटक में काजी बाजार के चौधरी परिवार के आनुकूल्य में "जगन्नाथवल्लभ" चन्द्र परिवार के आनुकूल्य में (Friends Union) म्यूनिसिपैलटी में और बाबू कृष्णचन्द्र पालित तथा सरकार बाबुओं के उद्यम से "ऊषा" क्रमान्वय में तीन दलों का अभ्युदय देखा गया खास कटक में, गणेश घाट में। फलस्वरूप कितने अच्छे कलाकार निकले। जगन्नाथवल्लभ में साठिया ब्रदर्स, गोष्ठ बाबू, पटेल सरकार, बालेश्वर के प्रख्यात मर्जिना यदु पण्डा, साधु बाबू, मनिबाबू आदि। "अलीबाबा" का अभिनय बहुत बढ़िया हुआ था। बार बार अनेक बंगीय नाटक चले। हरेक में सुख्याति मिली। "अबूहुसेन" का एक अनुवाद हुआ था। किसी ने उस कदर्य अनुवाद को पसन्द नहीं किया। यह नाटक हास्यास्पद हुआ।

Friends Union के अधिकांश कलाकार कलेक्टरी अदालत और कमिश्नरी कार्यालयों में काम करते थे। इस संप्रदाय को "रघुवीर" और "चित्तौर-उद्धार" विपुल स्पन्दन लाया था। भाषागोष्ठी में ख्यातिनामा चित्रशिल्पी बाबू नटबिहारी सरकार, संगीताचार्य खान मुहम्मद आदि थे। यहीं से सर्वप्रथम अभिनेत्रियों का समागम हुआ। विधिवत् शनिवार, रविवार और बुधवार के दिन अभिनय चाप, कटलेट चाट से बाजार गरम था। काफी टिकट बेचे गये। खूब चोरी भी हुई और फौजदारी भी हुई। किन्तु यहीं से ओड़िया भाषा के नाटकों का प्रारम्भ हुआ, फिर भी वह टिक न सका। लगभग चारों ओर बंगीय नाटकों का अनुवाद चलता था। जिन्होंने

इस नृत्य का मोचन किया, वे नित्य नमस्य हैं। इन्हें युग युग उत्कल-इतिहास अभिनंदित करेगा। ये हैं---रामशंकर बाबू, भिखारी बाबू और कामपाल बाबू आदि। ये ही आदि गुरु हैं।

यदि कहा जाय तो बिलकुल गाँवों से ही इसकी प्रचेष्टा हुई। पाटपुर (कोठपदा) मठ से रामशंकर बाबू के नाटक निकले। उनमें से "कांची कावेरी" ने ही सार्वजनीन प्रशंसा पाई और आज भी यह जीवित है। भिखारी बाबू के "कटक विजय" और कामपाल बाबू के सीताविवाह से सारे देश में स्पन्दन जाग उठा है। "मुकुर" के ब्रजसुन्दर बाबू और बाबू अभिराम भंज के आनुकूल्य में विभिन्न अमैच्वर पार्टियों द्वारा अभिनीत होता था। उस वक्त मुकुर जौन्गिया पार्टी में था। सभास्थलों में विराट् उल्लास और उत्साह था। चारों ओर नूतन का अभिनन्दन होता था।

इन तीनों में कामपाल बाबू ही सुकंठ और सुगायक थे। बारिपदा में S.D.O. रहने के समय उन्होंने "बसन्तलतिका" और "हरिश्चन्द्र" लिखा था। दिमाग खराब होने के कारण यह असम्पूर्ण रह गया। लेकिन क्या "सीताविवाह" और क्या "बसन्तलतिका" की भाव-योजना में उच्चाङ्ग की यथेष्ट मार्जित नूतन प्रणाली को देश आज तक नहीं भूला है। "मधुमास इन्दु शीत सुधाविन्दु" लेकिन इनके प्रचार के लिए पीछे कोई व्यवसायी संगठन न होने के कारण कोई भी दीर्घजीवी न हो सका। सत्यवादी से गोदावरीश बाबू, सारस्वत से बालकृष्ण बाबू और रामचन्द्र आचार्य महाशय के कतिपय उपादेय नाटक निकले; किन्तु पृष्ठपोषण के अभाव के कारण इनकी हालत भी ऐसी हुई। कौन पृष्ठपोषण करेगा? व्यवसायी दल कहाँ है? बलंगा ही एक मात्र व्यवसायी दल था। इनके सामने सिर्फ अर्थकारी नाटक ही मूल्यवान है। यदि रिहर्सल में दो-चार हजार रुपये खर्च होने के बाद बाजार में न चले तो बड़ी मुसीबत है। विवासिनी भी वैसे ही गया। सीताविवाह साहित्य क्षेत्र में काफी स्पन्दन लाया था; किन्तु नाटकीय रीति से काव्य-प्रणाली अधिक हो जाने के कारण शायद वास्तव क्षेत्र में शिथिलता दिखाई पड़ी।

क्या नाटक, क्या काव्य, दोनों में लक्ष्य चरित्र-चित्रण ही है। लेकिन पंथा और रीति अलग है। नाटक में चरित्र घटना के द्वारा परिस्फुटित होगा और काव्य में वर्णन के माध्यम से। इन उपादेय उत्कृष्ट घटनाओं को अच्छी तरह चुनकर रखना, माला के समान पिरोना और परस्पर संयुक्त करने के लिए यथायोग्य भाव व्यंजक स्वल्प मर्मवाणी (Hitting Terms) का रचना में प्रयोग करना बड़ी संगीन बातें हैं। इसमें भूल या त्रुटि रह जाने से आशु जनरंजन असम्भव है। इस तौर पर विचार करने से यह बात आसानी से मालूम होगी कि नाट्य क्षेत्र में हमारा स्थान कहाँ और कितनी दूर है। जनरंजन व्यापार में पांडित्य से वास्तव में अनभिज्ञता का मूल्य अधिक है। वास्तव में उपयोगिता स्वयं मालूम हो जाती है। Auditorium दर्शक श्रोतागण के आग्रह, उत्साह और गतिविधि से दूसरे प्रमाणपत्र मूल्यहीन हैं।

गंजाम में चिकिटी राजानुकूल्य में एक दल भी निकला था। उसमें विशुद्ध तेलगू राग में रचित उपादेय उड़िया गीत था। लेकिन नाटक की भाषा अधिक पांडित्यपूर्ण और विराट् समास-युक्त होने के कारण वह भी कालरुचि का धक्का सह न सका। प्रधानतः नाटक की भाषा कथित

भाषा होनी चाहिए। नाटक तमाशा देखनेवाले मदरसे में पाठ पढ़ने के लिए नहीं आते।

तत्परवर्ती काल में समस्त स्थानों में जागरण की अवस्था दिखाई दी। लगभग एक समय में थोड़ा आगा-पीछा छोड़कर पाँच ख्यातनामी सम्प्रदाय निकले। हरेक ने जो चाहा, कुछ निजस्व स्वतंत्र रचना लेकर विकसित हुआ। केन्द्रापाड़ा से बाबू गोविन्दचन्द्र "सुरदेव", पुरी से प्रभुपाद मोहन गोस्वामी और कविचन्द्र काली बाबू के दल याजपुर और एड़ताल के कलावन्तों के साथ रहते समय इन पंक्तियों के लेखक की प्रचेष्टा थी। सुरदेव राजवंशीय थे। वे बड़े विचक्षण एवं कलावन्त व्यक्ति थे। युगपत् इतने गुण एक व्यक्ति में बहुत ही कम दिखाई पड़ते हैं। वे नव रुचि के पुजारी, सुधी, कालेज छात्र, जैसे खेलाड़ी वैसे ही विचक्षण, चित्रकार, साहित्यिक और स्वरशिल्पी थे। वे दक्षिणी उड़ीशी, हिन्दी, बँगला और अंग्रेजी स्वरालि की खान थे। विभिन्न तथा नाना जातीय स्वर-सम्मेलन से उन्होंने गीतों की रचना की थी। प्रत्येक गीत सुन्दर थे। वे ही हमारे संगीत तथा साहित्य क्षेत्र में अनेक तैलंगी छटा और तेलगू स्वर लाये थे। उनकी रचना में परिपाटी भी थी। वे प्रकृति-वर्णन में सिद्धहस्त थे। देश का दुर्भाग्य है, वे अल्प समय में बिजली की आभा दिखाकर चल बसे। जिन्होंने इनका कृतित्व देखा है वे अब भी याद कर रहे हैं।

इनके सब नाटक सिर्फ राधाकृष्ण के बारे में हैं। कालक्रम से रुचि-परिवर्तन के साथ इनकी ज्योति छूट गई है। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि देशवासी ऐसे एक गुणवान् की पूजा कर सके हैं।

लक्ष्मीकान्त बाबू—कान्त कवि का अधिक परिचय देना निष्प्रयोजन है। उनके जातीय संगीतों की बलिष्ठता तथा मधुरता और गोबर गड़िया चम्पू में कौतुकी रसिकता दोनों सुन्दर हैं। आज तक उनके समान व्यंग विद्रूप करनेवाला कोई नहीं निकला है।

वे भद्रक तालपदा के जमींदार थे। उनकी "कालीयदमन" और चन्द्रहास ने यथेष्ट उन्मादना पैदा की। भद्रक हाई स्कूल के संगीत-शिक्षक जगबन्धु बाबू, उस्ताद मनमोहन बाबू और गोलटेबुल पाला के ख्यातनामा लेखक बांछानिधि बाबू के सहयोग से इस दल का सुनाम हुआ। लेकिन असमय में कवि बीमार हो गये। वांछानिधि बाबू और मनमोहन बाबू भी चले गये। योग्य परिचालक के अभाव के कारण यह दल भी असमय में नष्ट हो गया। उस वक्त नित्यानन्द बाबू बिलकुल छोटे थे।

राधाकृष्ण के बारे में महाजनों की पद्यावली और गोपाल कृष्ण, वनमाली, अभिमन्यु की कवितागुच्छ का प्रभुपाद श्रीमोहन गोस्वामी ने प्रचार किया। देशवासियों ने उस माला को सर्वोत्कृष्ट आग्रह में ग्रहण किया। शायद उस संगीत ने जीवन-वीणा की असली मर्मतंत्री को आघात किया, नचेत् इतने टिकट क्यों बिकते थे। दस वर्ष तक देशवासियों को समुज्ज्वल सौरभ से मुग्ध करके वे अन्तर्ध्यान हो गये।

काली बाबू भी राधाकृष्ण-गाथा गाने लगे थे। वास्तव में उड़िया भाषा में जीवन कहाँ है, यह बात काली बाबू को मालूम है। वे चिरकाल से निर्मल सुखश्राव्य रचना और स्वर-विन्यास से मुग्ध करते आये हैं और आज भी कर रहे हैं।

जाजपुर और एड़ताल के सम्मिलित कलाकारों के सहयोग से गठित संघ लेखक की प्रशंसा प्राप्त कर, अखण्ड रूप में काम कर दीर्घ पच्चीस वर्ष से विप्लव की वार्ता गा रहे थे। उस समय स्वयं लेखक ब्रिटिश के विचार से एक राजद्रोही थे। इस संप्रदाय के सब नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक तथा सामाजिक थे और बड़े चित्ताकर्षक भी। दल के साथ एक संगीत-विद्यालय था। इस दल में विधिवत् शुद्ध शास्त्रीय संगीत की आलोचना होती थी। इसके पीछे कई आदमी थे। वे लोग विदेशों से तरह तरह के नये नये स्वर और गीत संग्रह करते थे। यहीं पर विधिवत् स्वर-लिपि प्रयोग से शिक्षा दी जाती थी।

उस्ताद वेणु पण्डा, रंगराज, उदयनाथ, बनबाबू, गौरांग बाबू, मधुबाबू, लक्ष्मीधर बाबू, माधव बाबू, योगीन्द्र बाबू और पद्मनाभ बाबू हैं। आज उनमें से हरेक कृतकर्मा हैं। इन्हीं के सहयोग से अनेक नई शिक्षाएँ आईं।

कालीबाबू और इस प्रबन्ध के लेखक आज भी जीवित हैं। आज भी दोनों वृद्धों ने देशसेवा नहीं छोड़ी है लेकिन और कितने दिन तक ? जो कुछ भी हो, उल्लिखित लेखक कलावन्तों से बहुधा संग्रहीत उपादानों से ही उत्कल रंगमंच की भित्ति स्थापना हुई है। बढ़ई साही की वीणापाणि का दान भी कम नहीं है। बँगला थियेटर ने विधिवत् स्थायी व्यवसायी रंगमंच की परिकल्पना को दृढ़ निष्ठा पर रखा था। बालेश्वर के वृन्दावन बाबू आदिगुरु थे। वृन्दावन बाबू का स्वर-विन्यास और नृत्य-परिकल्पना अति मधुर थी। अभिनेता के रूप में फनि बाबू और मनि बाबू मिल गये। इससे पूर्ण सहयोग मिला। पी० एम० एकादमी के सुयोग्य प्रधान शिक्षक अश्विनी बाबू विशारद, महेश बाबू सहकारी प्रधान शिक्षक थे।

इस बार ऐतिहासिक नाटकों का कार्यक्रम शुरू हुआ। हण्टर, राजेन्द्रलाल और कृपा-सिन्धु बाबू के उत्कल-इतिहासों में वर्णित नाना जातीय वीरचरित्रों को उपस्थापित कराने का उद्यम किया गया। "काला पहाड़", कोणार्क, गोविन्द विद्याधर आदि अनेक ऐतिहासिक नाटकों में ही नूतन रूप में गौरव गाथाएँ जाग्रत हुईं। कोई कोई विद्वान् शिक्षित आदमी जानते थे पर निरक्षर ग्रामवासियों को यह मालूम नहीं था। अब ये गाथाएँ क्या धनी, या दरिद्र सभी जानते हैं। अश्विनी बाबू के इस दान का मूल्यांकन है। युग युग में वनमाली बाबू अमर हैं। नाट्य-जगत् का यह प्रथम प्रतिष्ठान उनकी दूरदृष्टि, अध्यवसाय, कर्मकुशलता का यथेष्ट नमूना है।

पति महाशय के देहान्त के बाद वह संप्रदाय अश्विनी बाबू के "आर्ट थियेटर" नाम से चला। इसमें बलाई बाबू की अत्यन्त विचक्षण शिक्षाप्रणाली, गौराङ्ग बाबू के संगीत और कार्त्तिक बाबू के अभिनय से नया स्वरूप दिखाई दिया। कृष्णार्जुन, कोणार्क और चन्द्रगुप्त सुख्यात बन गया। बलाई बाबू और नन्द बाबू दोनों वीणापाणि के कृती कलाकार हैं।

अश्विनी बाबू विद्वान् और कलावन्त थे, फिर भी उनमें दो गलतियाँ थीं। निरल, सुन्दर उड़िया भाषा के प्रयोग में भ्रम और भाषा के स्वतंत्र जीवन के लिए जो उच्चारण का प्रयोजन है उसमें थोड़ी सी अवहेलना रह जाती थी। कलावन्त लोग स्वभावतः सांसारिक व्यवहार में बिलकुल अनभिज्ञ होते हैं। योग्यतम शिल्पियों के सहयोग से और आशानुरूप आय न होने

पर अश्विनी बाबू क्षतिग्रस्त हुए। धूर्त कर्मचारियों और सहयोगियों के कारण उनकी क्षति हुई और वह दल ही नष्ट हो गया।

इसके पश्चात् स्वाधीनता का परवर्ती काल आया। काली बाबू के "भात" का आकर्षण कोई नहीं भूला है। क्या भाषा, क्या स्वरविन्यास, क्या अभिनय की परिपाटी तीन विभागों की साम्यरक्षा सिर्फ वे ही कर सके। इस भाषा के जीवन के मर्मभेद भी उन्हें मालूम हैं। लेकिन दल नष्ट हो गया है। नारी-शिल्पियों के सहयोग से और नये युग के श्रेष्ठ कलाकारों के अभ्युदय से "अन्नपूर्णा" और "जनता" दोनों धन्य हुए हैं। रोज कृतित्व की आलोचना और समालोचना संवादपत्रों में निकलती है। हमारी तरह प्राचीन रूढ़ियों की आँखों से, तीक्ष्णतर दृष्टि से समालोचक देखते हैं। कुछ मन्तव्य देना निष्प्रयोजन है। रूपसज्जा, नाटक तथा अभिनय की धारा स्वाभाविक हो गई है। इस युग की समस्याओं के अनुसार विषय-वस्तु चलती है। अत्यन्त क्षीण वेग से दृष्टिकोण और चिन्ताधारा बदल जाती है। मुहुर्मुहुः नये के पीछे नये का अवदान आता है। हमें इतना आनन्द आता है कि हमारा स्थान न्यून न होकर ताल सँभाल कर खड़ा है। सौभाग्य है, हमारे बच्चे प्रगति-पथ में आगामी शत वर्ष की ज्योति देखते हैं। वे निश्चय ही कृतकर्मी और धन्य होंगे। प्राचीन के लिए कोई रोता नहीं। जो गया सो गया, इसकी कोई चिन्ता नहीं। केवल संस्मरण के लिए दो पुरानी बातें सुनाईं। इसलिए कवि ने कहा है—"पतन अभ्युदय बन्धुर, पंथा युगे युगे धावति यात्री। हे चिरसारथि! तव रथचक्रे मुखरित हे के दिवा रात्रि"।

उत्कलीय वैष्णव धर्म

श्रीमती मालती उपाध्याय एम०ए०

उत्कलीय वैष्णव धर्म बहुत ही प्राचीन तथा महान् धर्म है। इसका क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है। इसमें बौद्ध, शैव और तांत्रिक भावनाएँ सभी एकत्रित होकर पाई जाती हैं। उत्कल के आराध्य देव श्री जगन्नाथ जी हैं किन्तु उनकी पूजा-उपासना के विधि-विधान में बौद्ध, शैव और तांत्रिक विधियाँ भी सम्मिलित हैं।

यहाँ के देवाधिदेव श्री जगन्नाथ जी की कल्पना भी अति प्राचीन है। स्कन्द पुराण के उत्कल खण्ड में यह उद्धृत है कि इन्द्रद्युम्न नामक राजा ने एक गगनचुम्बी मन्दिर में एक पवित्र काठ के टुकड़े की देवरूप में स्थापना करके उसकी पूजा की थी। एक जगह यह भी उद्धृत है कि त्रेतायुग में राजा रत्नगिरि नीलाचल के पुरुषोत्तम के मन्दिर में पधारे थे। उपरोक्त इन दो कथनों से तो यह पूर्ण रूप से प्रमाणित होता है कि यहाँ पर श्री जगन्नाथ जी की आराधना तथा वैष्णव धर्म किसी न किसी रूप में ईसा से पूर्व प्रचलित था। समय के अवर्तन ने उत्कलीय इतिहास को कुछ समय के लिए ढक लिया किन्तु जब गुप्त साम्राज्य का अभ्युत्थान हुआ और वैष्णव धर्म का प्राबल्य बढ़ा तो उसका प्रभाव उत्कल में भी अवश्य हुआ होगा। कहा जाता है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी में यहाँ पर भागवतवाद का अवश्य ही प्रचार था और भागवत के संकर्षण और वासुदेव ही बाद में बलराम और जगन्नाथ के रूप में आराध्य हुए। सुभद्रा की उत्पत्ति कहाँ से हुई, यह कुछ कठिन जान पड़ता है किन्तु जैसे अग्नि और गरुड़ पुराण में सुभद्रा अपने भाइयों के साथ वर्णित हैं, संभवतः इसी भावना से प्रेरित होकर उत्कलवासियों ने श्री जगन्नाथ और बलराम के साथ सुभद्रा को भी स्थान दिया किन्तु इन लोगों ने सांख्य के पुरुष और प्रकृति वाले सिद्धान्त को अपनाया। सुभद्रा अपने भाइयों के निकट सम्बन्ध के कारण श्री जगन्नाथ जी की शक्ति मानी गई तथा बहिन और स्त्री दोनों का स्थान ग्रहण किया।

जैसे—तस्य शक्तिः स्वरूपे च भगिनी स्त्री प्रवर्त्तिका।" कहीं कहीं तो ये लक्ष्मी जी की प्रतीक भी मानी जाती हैं।

पुरी की त्रिमूर्ति के विषय में भी विभिन्न मत हैं। यह प्रचलित मत है कि श्रीकृष्ण के पदाघात के बाद उनका चक्र पुरी आया। जैसे:—

प्रदुम्न नासी चक्र गला।
कृष्ण कर कू न अइला।।

—महायात्रा - द्वितीय सर्ग

इसी कारण श्रीकृष्ण ने पुरी के पुरुषोत्तम क्षेत्र में वास किया। दूसरा मत यह भी कहता है कि इन्द्रद्युम्न के राज्यकाल में विद्यापति शबर राजा विश्वावसु से नीलमाधव को छीन कर ले आये। जब शबर राजा नहीं माना और नीलमाधव को ले गया तो स्वप्न हुआ कि समुद्र में एक काठ तैरता हुआ दिखलाई पड़ेगा। अतः जब लोगों ने उस काठ को पाया तो विश्वकर्मा ने त्रिमूर्ति की सृष्टि की थी। कुछ लोग इसी विष्णु पंजर में बुद्ध के दाँत की भी सम्भावना करते हैं और कुछ विद्वानों का मत है कि त्रिमूर्ति बौद्ध स्तूपों तथा चैत्यों के ढंग पर बनी है किन्तु इसमें सत्यता कहीं भी नहीं जान पड़ती और अन्य मत-मतान्तरों द्वारा यह पूर्णतः प्रमाणित हो चुका है कि त्रिमूर्ति में बौद्ध धर्म का प्रभाव नहीं है लेकिन पूजा का विधि-विधान बौद्धधर्म से अवश्य ही प्रभावित है।

यहाँ पर एकमात्र विष्णु ही आराध्य देव नहीं थे वरन् कर तथा सोमवंशी राजा लोग अन्य देवों—जैसे सूर्य, शिव तथा बुद्ध की भी उपासना करते थे। अशोक द्वारा विजित होने पर उत्कल में सर्वप्रथम नागार्जुन आया और उसने राजा मुञ्ज को बौद्ध बनाकर शून्यवाद का सिद्धान्त स्थापित किया जिसका उत्कलीय धार्मिक विचारों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। आगे चलकर यही मध्ययुग में कुछ परिवर्तन के साथ नागान्तक दर्शन हुआ। आठवीं शताब्दी में यहाँ पर बौद्ध धर्म अपने शिखर पर था और दक्षिण उत्कल के करवंशी राजा लोग, विशेषकर क्षेमकर, शिबकर और शुभकर बुद्ध के परम उपासक थे। इन्हीं लोगों के समय में बौद्ध धर्म-मिश्रित विधि से श्री जगन्नाथ जी की पूजा होने लगी थी।

जैसे उत्कलीय वैष्णव धर्म पर बौद्ध धर्म अपनी एक छाप छोड़ गया उसी प्रकार शैव धर्म भी। मध्ययुगीन राजा जैसे तोषल के मान, कोनगोड़ा के शैलवंशी तथा कलिंग के माथर सभी शिव के उपासक थे। नवीं शताब्दी में जब शंकराचार्य पुरी आये तो उन्होंने गोवर्धन नामक मठ की स्थापना की और शैव पद्धति पर श्री जगन्नाथ जी की पूजा-आराधना की विधि नियमित की; लेकिन कुछ विधियाँ पूर्व की भाँति बनी ही रहीं। शंकराचार्य के उपदेशों से शैव धर्म की बड़ी उन्नति हुई और यहाँ पर बहुत से शैव मन्दिरों की स्थापना हुई, जिसका एक उदा-हरण भुवनेश्वर का लिंगराज का मन्दिर है। दसवीं शताब्दी में ययाति महाशिव गुप्त ने परम महेश्वर की उपाधि भी धारण की थी। इससे जान पड़ता है कि शैव धर्म का कितना प्राबल्य रहा होगा। इसी प्रकार सूर्य, शक्ति और गणेश इत्यादि की भी आराधना होती रही। साम्ब पुराण में कोणार्क की महिमा वर्णित है तथा "मादला पाञ्जी" में पुरन्दर केसरी के अर्क-क्षेत्र में मन्दिर बनवाने का वर्णन है। १३वीं शताब्दी में नरसिंह देव प्रथम ने कोणार्क का मन्दिर बनवाया था। इसके अतिरिक्त अन्य मन्दिरों तथा अनन्त गुफा की दीवालों पर भी सूर्य की मूर्तियाँ स्थापित हैं। इससे प्रमाणित होता है कि यहाँ पर सूर्य की महिमा भी बहुत प्रचलित थी। इसी प्रकार शक्ति की आराधना का भी खूब प्रचार था। प्रख्यात कवि सारला दास शक्ति के अनन्य उपासक थे। वैसे तो पुरी के जगन्नाथ जी के मन्दिर में तथा अन्य मन्दिरों में शक्ति की स्थापना है ही किन्तु सबसे प्रसिद्ध जाजपुर में विरजादेवी का मन्दिर है जिसे एक क्षेत्र भी मानते हैं।

अब हमें उत्कलीय वैष्णव धर्म पर विचार करना है। उत्कलीय दर्शन में शून्यवाद की अधिक महत्ता है। इसमें अलेख, अचिन्त्य निराकार, निर्गुण परब्रह्म को ही श्रेष्ठ माना जाता है। यह अलेख ही शून्य पुरुष है——यही शून्य का प्रतीक है। जैसे——

याहार रूप रेख नाहि, शून्य पुरुष शून्य देही।

——"विराट गीता"

यही निराकार ब्रह्म निराकार विराट् पुरुष के रूप में भी माना जाता है अथवा इसी विराट् में शून्य का भी बोध होता है। जैसे——

अलेख पुरुष बोली अछई एक जण।
ताहा को नित्ये आम्भे करु थाउ ध्यान।
आदि अन्त करि जाहा पचारिलो तुम्भे।
अलेखर तहु जात होइ अछु आम्भे।
से सबु कू वड़ तार उपरे नाही केही।
अशेष महिमा ताहां कर आदि अन्त नाही।
अनन्त को निराकार ताहार तहु जात।
अनेक तार तहु होई उपगते।

इसी निराकार से महाविष्णु का भी बोध होता है। निर्गुण-माहात्म्य में स्वयं विष्णु ने इसे स्वीकार भी किया है कि अनादि ब्रह्म ही उनसे श्रेष्ठ है। इस निराकार से ही विष्णु ने करोड़ों सृष्टियों का सृजन किया और इसी निराकार से ब्रह्म की उत्पत्ति भी हुई है। जब १०८ ब्रह्म जन्म के बाद निराकार अपनी सत्ता को खो देता है तो अणाकार द्वारा उसका सृजन होने लगता है। यही अलेख, अणाकार जब आकार धारण करता है तो इसे निराकार विष्णु कहते हैं। जैसे——

अलेख अणाकार यहु आकार धइला।
ताहाङ्कर नाम निराकार विष्णु हेला।

——विष्णुगर्भपुराण

तांत्रिक लोग इसी निराकार ब्रह्म को विन्दु कहते हैं। इसी विन्दु से शून्य और गुण का बोध होता है। इस विन्दु का उद्भव शून्य से मानते हैं जैसे—— शून्यरु विन्दु खसीला।

——ब्रह्माण्ड भूगोल

अतः शून्य का ही यह अंश विन्दु है और यही निराकार का सत्यरूप है।

उत्कलीय वैष्णव धर्म में योगमाया का स्थान भी मुख्य है। वे आदिशक्ति के रूप में मानी जाती हैं और इन्हीं से अर्धमात्रा का भी बोध होता है। इनकी तुलना वेदान्त की मूल प्रकृति

से की जाती है जो आत्मा या चित् में वास करती है, जिसके कारण सृष्टि होती है। इसी योगमाया को श्रीकृष्ण ने भी स्वीकार किया है कि वे प्रकृति हैं और जिसका उद्भव श्रीकृष्ण के शरीर से हुआ हैं। इसी विन्दु और योगमाया के संयोग से द्वादश अक्षर मंत्र का उद्भव हुआ। प्रथम द्वादश अक्षर के पूर्व त्रिवीज अर्थात् क्लीम्, स्लीम् और ह्लीम् का उद्भव हुआ, जिसका बोध इस प्रकार होता है---

क्लीम्	स्लीम्	ह्लीम्
जगन्नाथ	सुभद्रा	बलराम
भगवान्	गुरु	शिष्य

इसी त्रिवीज से द्वादश मंत्र का उद्भव हुआ। जैसे---

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।

उत्कलीय वैष्णव धर्म में निर्गुण और सगुण दोनों का सामंजस्य होते हुए भी निर्गुण ब्रह्म की भावना से यहाँ का दर्शन अधिक ओतप्रोत हैं। इस निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए गुरु और ज्ञान की आवश्यकता है। शिष्य, गुरु और ज्ञान के द्वारा ही भगवान् को प्राप्त करता है।

अतः उपरोक्त त्रिवीज उत्कलीय वैष्णव धर्म में इस प्रकार माना जाता है---

ह्लीम्	स्लीम्	क्लीम्
बलराम	सुभद्रा	जगन्नाथ
शिष्य	गुरु	भगवान्

अर्थात् शिष्य गुरु के द्वारा ज्ञानार्जन करके भगवान् को प्राप्त करता है। इस दर्शन में अष्टांग योग की महिमा ही अधिक है। जप, नियम, आसन और प्राणायाम द्वारा ही मन को भगवान् में रमा देने की लालसा दीखती है। भक्त भगवान् की धारणा में जब समाधिस्थ हो जाता है तब भगवान् की लीला का आस्वादन करता है। उस लीला के आस्वादन के पूर्व भक्त ज्ञानार्जन करता है तथा नाना प्रकार के जप, नियम, आसन और प्राणायाम इत्यादि के द्वारा आत्मशुद्धि करता हुआ ईश्वर में एकमयता का अनुभव करता है। भक्त यंत्र, तंत्र, मंत्र, छाया, ज्योति, अवाड़, हज, समाधि इत्यादि नाना प्रकार की परिस्थितियों को पार करते हुए ईश्वर का साक्षात्कार करता है। जब जीव परम में मिल गया तो वह ईश्वरीय लीला में आत्मविभोर होकर भगवान में एकरस हो जाता है। इसीलिए इसे ज्ञानमिश्रा भक्ति कहते हैं और यह सिद्धान्त बहुत ही उत्कृष्ट कोटि का माना जाता है। भक्त इसी पिण्ड में ब्रह्माण्ड का दर्शन पाता है। इस प्रकार की ज्ञानमिश्रा भक्ति कर्म और ज्ञान-मूलक हैं। किन्तु यह ज्ञान और कर्म-मूलक भक्ति बहुत

सीमित रही। इसका मुख्य कारण यह था कि साधारण जनता योग और ज्ञान की क्रियाओं से अनभिज्ञ रही। इतना उच्चकोटि का दर्शन उसकी बुद्धि के परे था। यह तो विशिष्ट और पण्डित जनों के लिए था। अतः जैसा कि भागवत में लिखा है —

ये वै भगवता प्रोक्ता ह्युपाया आत्मलब्धये।
अज्ञपुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥

भगवान् के द्वारा जो उपाय भगवत्प्राप्ति के लिए कहा गया उसे साधारण जनता सहज ही में आत्मलाभ न कर सकेगी। नारद ने व्यास मुनि से कहा कि आपने तो महाभारत जितेन्द्रियों के लिए लिखा, अब साधारण लोगों की गति के लिए भागवत की लीला लिखिए। पण्डित जन निवृत्ति मार्ग द्वारा भगवान् के प्राप्तिजनित सुख का लाभ करते हैं लेकिन जो लोग प्रवृत्ति मार्ग में निरत हैं उनके लिए भगवान् की लीला का आख्यान ही सुगम होगा। प्रथम, लीला द्वारा ही भगवान् में उनकी आस्था और भक्ति दृढ़ होगी। अतः उत्कल में जब चैतन्य महाप्रभु का प्रवेश हुआ तो साधारण जनता में उनके, सहजियावृत्ति वाले, दर्शन का अधिक प्रचार हुआ। अब वह युग आया जब समर्थ गुरु का सर्वथा अभाव रहा। अतः उत्कलीय वैष्णव धर्म साधारण जनता की बुद्धि के परे था। चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचलित धर्म को यहाँ पर गौड़ीय धर्म कहते हैं, जिसे शुद्धा अथवा नवधा भक्ति भी कहते हैं। इसमें प्रथम ईश्वर का श्रवण, कीर्तन करते हुए भक्त अपनी आस्था और भक्ति ईश्वर के प्रति बढ़ाता है। इसमें सामीप्य भक्ति और द्वैताद्वैत भाव है। किन्तु उत्कलीय वैष्णव धर्म में सायुज्य भक्ति है। भक्त अपनी कठिन साधना द्वारा भगवान् में एकमय होकर ही रहता है। उत्कलीय वैष्णव धर्म में नवधा भक्ति अन्त में आती है। इनका विश्वास है कि प्रथम ज्ञान और चित्तशुद्धि के द्वारा भगवान् के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है और भगवान् की प्राप्ति हो जाती है तो वह लीला दर्शन करने लगता है। इसीलिए प्रथम भाव साकार अर्थात् गुरु में केन्द्रीभूत होता है और बाद में उस साकार के द्वारा ही निराकार में उसकी पहुँच होती है।

कहा जाता है कि यह शुद्धा भक्ति उत्कल में चैतन्य महाप्रभु के आगमन के पहले किसी न किसी अंश में थी और राय रामानन्द ने मुक्तिमण्डप (पुरी) की सार्वभौम सभा में शुद्धा भक्ति का प्रचार भी किया था किन्तु उस समय इसकी मान्यता नहीं हुई। बाद में चैतन्य महाप्रभु का आगमन हुआ और इनके प्रखर बुद्धि-बल के द्वारा इस शुद्धा भक्तिवाले गौड़ीय वैष्णव धर्म का प्रचार बहुत हुआ। उस समय उत्कल में एक बहुत बड़ा सामाजिक विद्रोह हुआ और सभी ने इस गौड़ीय वैष्णव धर्म को अपनाया। इस सामाजिक विद्रोह का कारण मुख्यतः यह था कि प्राचीन उत्कलीय वैष्णव धर्म सांध्य भाषा में लिखा गया था, अतः पहुँचे हुए साधक ही इसे समझ सकते थे। साधारण मस्तिष्क विकृत अर्थ लगाकर इसका दुरुपयोग करने लगा था। फलतः इसका प्रभाव कम होता गया; किन्तु जब शुद्धाभक्ति का प्रचलन हुआ तो जनता ने उसका स्वागत बड़े आदर से किया और उसका प्रचार भी बहुत हुआ। इसकी साधना सरल और सहज थी इसीलिए

यह सहजिया धर्म भी कहलाया। सभी का ध्यान कृष्ण के लीलाधाम में ही केन्द्रित हुआ। वे कृष्ण द्वारिका के नहीं वरन् वृन्दावनविहारी हैं जिनका चरित एक लौकिक मानव के रूप में वर्णित है, उसी पर लोगों का ध्यान आश्रित रहा। फलतः साधारण जनता इस गौड़ीय वैष्णव धर्म में भी अश्लीलता की झलक पाने लगी। इतना होने पर भी यह धर्म सरल और सुगम है इसलिए साधारण जनता में इसकी मान्यता अधिक हुई।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्कलीय वैष्णव धर्म नाना प्रकार के धर्मों से प्रभावित होते हुए भी अपनी सत्ता को बनाये हुए है। समय की गति-विधि ने इसमें नाना प्रकार के उलट-फेर किये किन्तु इसका मूलरूप ज्यों का त्यों बना रहा।

उत्कल में देशीय व्यायाम-चर्चा

श्री पद्मचरण राय 'व्यायामविशारद'

जब से मनुष्य-समाज का संगठन हुआ तभी से शारीरिक व्यायाम उनके स्वास्थ्य की वृद्धि एवं रक्षा करने में एक प्रमुख स्थान रखता आ रहा है। स्वस्थ मनुष्य उसी को कहते हैं जो रोगमुक्त हो और जिसका कोई अंग-भंग न हुआ हो। मनुष्य-जीवन का ध्येय सुखी रहना है और वह तब तक सुखी नहीं कहा जा सकता जब तक वह शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ न हो। मानसिक स्वास्थ्य बहुत कुछ शारीरिक स्वास्थ्य पर निर्भर करता है। साधारण स्वास्थ्य भोजन तथा जलवायु पर निर्भर करता है किन्तु इनसे रोग-निवारण की शक्ति नहीं प्राप्त होती। शारीरिक व्यायाम से ही स्वास्थ्य की वृद्धि और रक्षा होती है और इसी के द्वारा मनुष्य अपने को रोगमुक्त रख सकता है।

साधारण-जीवन में शारीरिक व्यायाम का महत्त्व देखकर और उसके द्वारा सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन पर प्रभाव समझ कर ही पुराने समय में प्रायः सभी आबादियों में व्यायामशाला होती थी। उस समय, जब एक जाति दूसरी जाति से लड़ती थी या एक राजा दूसरे राजा से लड़ता था तो, सब का मुख्य ध्येय यही रहता था कि, वे अधिक से अधिक मात्रा में बलवान् मनुष्यों को पैदा करें। संसार के प्रायः सभी देशों में, जहाँ जातीय रक्षा-सैनिक थे वहाँ, शारीरिक व्यायाम को राज्य-संस्था द्वारा प्रोत्साहन दिया जाता था।

ओड़िशा में शारीरिक व्यायाम का महत्त्व अति प्राचीन काल से विदित है। कोणार्क, भुवनेश्वर तथा पुरी के मंदिरों के निर्माण के पूर्व भी ओड़िशा में शारीरिक व्यायाम को प्रमुख स्थान दिया गया था। ओड़िशा के सामुद्रिक उत्थान-काल में शारीरिक व्यायाम को, गंगा और गोदावरी नदी के बीच समुद्र-तट पर स्थित जिलों में बहुत महत्व दिया जाता था। प्रत्येक गाँव में व्यायामशाला और अखाड़ा था। गाँवों के ये स्थान व्यायाम के साथ साथ सामाजिक कार्य के भी केन्द्र का काम करते थे। भिन्न भिन्न गाँवों में भिन्न भिन्न प्रकार के व्यायाम प्रचलित थे। इन संस्थाओं को चलाने के लिए और इनके कार्य को बढ़ाने के लिए स्थानीय लोगों के सहयोग के अलावा राजा तथा अन्य धनी-मानी लोगों से भी सहायता प्राप्त होती थी। गाँवों के वे नवयुवक जो व्यायाम में भाग लेते थे, प्रत्येक मास भोज का प्रवन्ध करते थे और इसके लिए आर्थिक सहायता गाँव के किसी व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्तियों से मिलती थी। इसे "पुनाई पाली", "उआनसा पाली" कहते थे। इस प्रकार जब वहाँ व्यायाम का कार्यक्रम चलाया जाता था तो सामाजिक मेल-जोल की भी स्थापना होती थी। गाँव के छोटे-मोटे झगड़ों का फैसला भी वहीं

होता था। इन अखाड़ों में हनुमान (महावीर) की प्रतिमा की पूजा होती थी। आज भी महावीर की मूर्ति प्रायः प्रत्येक गाँव में पाई जाती है। इससे पता चलता है कि महावीर के पूजने वालों ने व्यायाम को अति लोकप्रिय बना दिया था। पुरी में, जो ओड़िशा का अति प्राचीन नगर है, अभी भी अखाड़े हैं और प्रत्येक अखाड़े की अपनी निजी सम्पत्ति तथा अन्य सुविधाएँ हैं जो श्री जगन्नाथ जी के मंदिर की स्थापना के समय से ही चली आ रही हैं।

प्राचीन काल से ही ओड़िशा में ये व्यायाम तीन दृष्टिकोणों से किये जाते थे—बलिष्ठ एवं विशाल शरीर बनाने के लिए, भिन्न भिन्न प्रकार के शारीरिक व्यायाम के प्रदर्शन के लिए और आत्मरक्षा एवं देशरक्षा के लिए। इनके अलावा प्राणायाम तथा योग-आसन भी किया जाता था। ब्राह्मणों में यह साधारण प्रथा थी कि वे नित्य प्राणायाम करें। इसके लिए राजा भी प्रोत्साहन देते थे। उन लोगों के लिये, जिन पर भगवान् की पूजा का भार था और जो आध्यात्मिकता के प्रतीक माने जाते थे, यह एक अनिवार्य नियम था कि वे प्राणायाम करें क्योंकि प्राणायाम तथा योगासन से मनुष्य अपने भीतर अत्यधिक आत्मिक शक्ति बढ़ा सकता है।

ओड़िशा के भिन्न भिन्न भागों में, भिन्न भिन्न समय पर, त्योहार मनाये जाते थे और इन त्योहारों में नाना प्रकार के व्यायाम दिखलाये जाते थे। पुरी की "साही जाता", बालासोर की "वीर अष्टमी", सम्बलपुर की "शीतला सास्थी", ब्रह्मपुर की "ठाकुरानी जाता" आदि तथा अन्य अनेक त्योहार इसी के सूचक हैं। भिन्न भिन्न वर्गों के लोग भिन्न २ प्रकार के व्यायाम करते थे। देशी खेलों में निम्नलिखित मुख्य थे :—

डण्ड, चक्रदण्ड, एकहत्थी डण्ड, एक गोड़िया डण्ड, मगर चाल, बाहुडण्ड, बैठक, सपाटा, मुगदर, गदा, करीला, योगासन, कुश्ती, घूँसा चलाना (Boxing), लाठी चलाना, तलवार चलाना, अश्वारोहण, तैरना, पटा खेलना, बोंधी खेलना, तथा फरी खेलना।

इनके अतिरिक्त विभिन्न नाचों द्वारा भी व्याायाम किया जाता था जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं:—

पैका नाच, छाऊ नाच, नागा नाच, पटुआ नाच, डण्ड पटुआ नाच, सतारा नाच, बाघ नाच, घोड़ा नाच, बौन सारिणी खेल।

ओड़िशा के निवासी धार्मिक उत्सवों के अतिरिक्त शारीरिक व्यायाम को ही स्थान देते थे और व्यायाम उनके जीवन का एक अंग-सा बन गया था। यही कारण है कि पठान, मराठा तथा अंग्रेजों के आतंक के बाद भी आज तक वे बचे हैं। विदेशी राज्य के कुप्रभाव के कारण गाँवों में लोगों का ध्यान व्यायाम की ओर कम हो गया फिर भी अनेक स्थानों में इसका महत्त्व अभी तक है।

व्यायाम इसी गिरी अवस्था में चलता रहा पर गाँवों की गरीबी के कारण इसके विकास में बाधा पड़ने लगी। व्यायामशालाएँ अब केवल कुछ मन्दिरों तथा धर्मशालाओं में ही रह गईं। आगे चलकर सन् १८१७ ई० के 'पीहा' विद्रोह की बाद अंग्रेजों के शोषण नीति की कारण सामूहिक

व्यायाम के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा किन्तु कुछ स्थानीय सरदार—जो मुख्यतः क्षत्रिय थे—व्यायाम को सीमित रूप से चलाते रहे।

राष्ट्रीय जाग्रति के कारण जब भारतवासियों ने स्वतंत्रता पाने की चेष्टा की तो उन चीजों को भी पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया जिनका कुछ राष्ट्रीय महत्त्व था। उत्कल-मणि गोप-बन्धु, श्री गोदावरिश मिश्र, श्री नीलकण्ठ दास, तथा आचार्य हरिहर दास ऐसे प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों द्वारा चलाये गये सत्यवादी के राष्ट्रीय कालेज में देशी व्यायाम को पुनः चलाने का प्रयत्न किया गया। वर्त्तमान कलिंग व्यायामशाला, जो ओड़िशा के देशी व्यायामों का मुख्य केन्द्र है, सत्यवादी के राष्ट्रीय कालेज के द्वारा प्राप्त राष्ट्रीय प्रोत्साहन से ही खुली थी। इसे राजाओं, जमीनदारों तथा ओड़िया व्यापारियों द्वारा बहुत प्रोत्साहन मिला और इसी समय प्रान्त के भिन्न भिन्न भागों में विभिन्न देशी व्यायामों को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया। सरायकेला तथा मयूरभंज में छाऊनाच और कटक तथा पुरी में कुश्ती लड़ना फिर से चल पड़ा और अनेक लोग इसे प्रोत्साहन देने लगे। कलिंग व्यायामशाला का उद्देश्य उन विद्यार्थियों को देशी व्यायाम की ओर आकर्षित करना थ. जो पढ़ाई में इतने तल्लीन रहते थे कि अपने स्वास्थ्य की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते थे। इस व्यायामशाला का उद्घाटन सन् १९३२ ई० के लगभग बीस विद्यार्थियों को लेकर हुआ था और कुछ ही दिनों में इसकी ख्याति इतनी बढ़ी कि अनेक विद्यार्थी यहाँ व्यायाम साधना के लिए आने लगे और इसके नये नये केन्द्रों को खोलने की आवश्यकता पड़ गई। यौगिक क्रियाओं तथा वैज्ञानिक ढंग से शरीर की मालिश करने से लोग अनेक रोगों से छुटकारा पा जाते हैं। महात्मा गान्धी को एक मास तक मालिश की गई थी और इसके फलस्वरूप वे रोग से मुक्त हो गये थे।

यहाँ का प्रचलित पाठ्यक्रम दो भागों में विभाजित है अर्थात् (१) अभ्यास संबंधी, (२) सिद्धान्त सम्बन्धी।

अभ्यास सम्बन्धी—

(१) स्वतन्त्र शारीरिक व्यायाम जैसे सूर्यनमस्कार, शरीर का मोड़ना, लेटकर व्यायाम, भारतीय डण्ड-बैठक, सपाटा तथा अमेरिकन डण्ड इत्यादि।

(२) श्वासक्रियाएँ जो शरीर की प्रत्येक मांस-पेशी को ठीक रखती हैं।

(३) यन्त्रों द्वारा व्यायाम, जो तीन मास के बाद सिखलाये जाते हैं। जैसे बारबेल, चेस्ट एक्सपैन्डर, डम्ब-बेल, लाठी इत्यादि द्वारा किये जानेवाले व्यायाम।

(४) जिमनैस्टिक्स, जैसे पैरलल बार, रिंग बार, होरीजेन्टल बार तथा ट्रैपेक्स इत्यादि।

(५) भारतीय योगासन तथा प्राणायाम।

(६) आत्मरक्षा के व्यायाम—जैसे लाठी, तलवार, बाक्सिग (Boxing), कुश्ती तथा जीजित्सु।

(७) खेल, जैसे वालीबाल, कबड्डी तथा अन्य देशी खेल।

स्वामी विचित्रानन्द दास
उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के सभापति
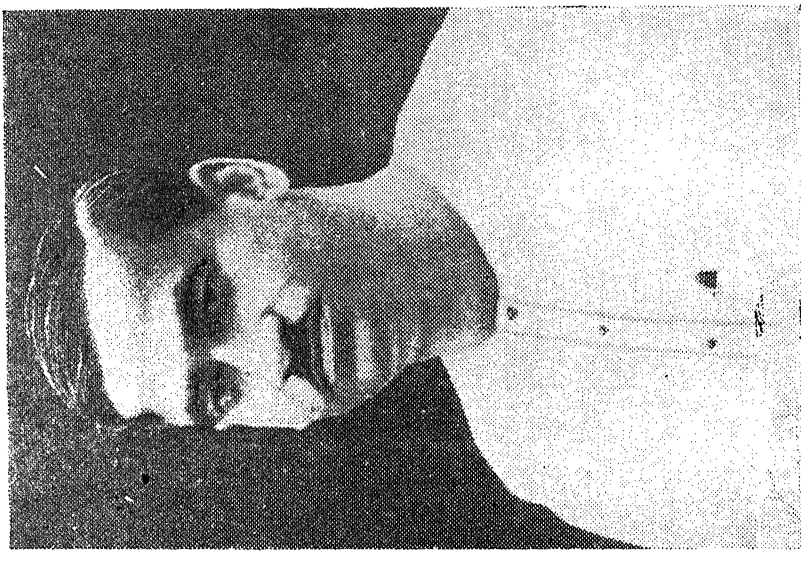
श्री राजकृष्ण वोप
मन्त्री, उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, कटक

श्री गोपीनाथ साहु
राष्ट्रभाषा प्रेस के मैनेजर

श्री गुरुचरण महान्ति
रजत जयन्ती के सक्रिय सदस्य
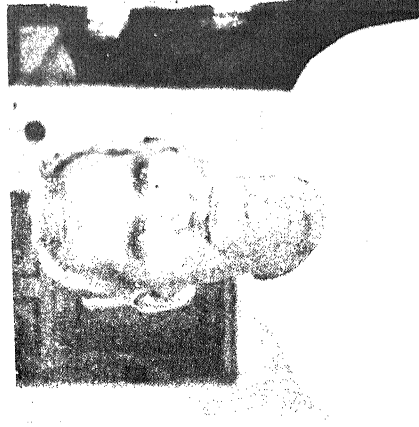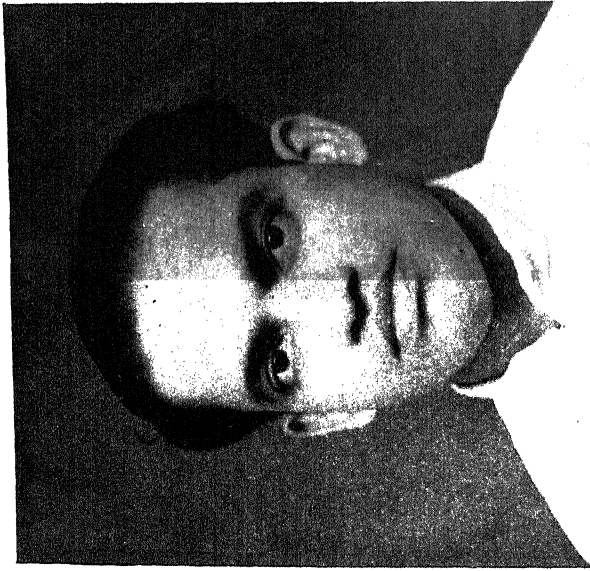
(८) खेलकूद, जैसे ऊँची कूद, लम्बी कूद, पोलवाल्ट, जैवलिन थ्री, शाटपुट तथा हर्डिल।

(९) लाठी द्वारा सामूहिक ड्रिल।

(१०) तैरना, जैसे स्थिर जल में अनेक प्रकार से तैरना और उतराना, नदी में तैरना तथा समुद्र में तैरना।

(११) वैज्ञानिक ढंग से शरीर-मालिश।

(१२) रोग-निवारण के लिए विशेष शारीरिक व्यायाम।

सिद्धान्त सम्बन्धी—

(१) उपरोक्त अभ्यास सम्बन्धी व्यायामों की सिद्धान्त-शिक्षा।

(२) योग तथा प्राणायाम की शिक्षा।

(३) शरीर की बनावट, स्वास्थ्य-पाठ तथा शरीर के काम करने के सिद्धान्त।

(४) ब्रह्मचर्य का महत्त्व।

(५) स्वास्थ्य का मानसिक सम्बन्ध।

(६) स्वयं-सेवकों की शिक्षा।

स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के बाद सन् १९४८ ई० में इसे अपने युवकों के कल्याण-कार्य के लिए सरकार से सहायता मिली और सरकार ने यह भी कहा कि वह अपने कार्यक्षेत्र को प्रान्त के अन्य भागों में भी बढ़ावे। यद्यपि खेलकूद के लिए ओड़िशा एथलेटिक असोसियेशन नामक संस्था सन् १९३० से ही है किन्तु इसने स्वास्थ्य बनाने तथा उसे सुरक्षित रखने के लिए कुछ भी नहीं किया है। ओलेम्पिक असोसियेशन ने ओड़िशा में एक स्टेडियम बनवाया है जहाँ खेल-कूद की अनेक प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय प्रतियोगिताएँ होती हैं। अभी कुछ दिन हुए कि स्पोर्ट्स कौंसिल बनाई गई है और यह आशा की जाती है कि खेल-कूद सम्बन्धी सभी कार्य इसी के द्वारा संचालित होंगे।

स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के बाद हमारी राष्ट्रीय सरकार देशी व्यायामों की वृद्धि और विस्तार के लिए बहुत जोर दे रही है और उन संस्थाओं को, जो देश में व्यायाम आदि का विस्तार कर रही हैं, मुक्तहस्त से वृत्ति दे रही है। यह आशा की जाती है कि ओड़िशा प्रान्त में सरकार की सहायता से थोड़े दिनों में ही व्यायामशालाएँ प्रत्येक जिले तथा तहसीलों के केन्द्रों में खुल जायेंगी और प्राचीन काल के "अखाड़े" तथा "जगाघर" गाँवों में पुनः स्थापित हो जावेंगे।

परिशिष्ट क

लेखकों का संक्षिप्त परिचय

आपका जन्म किस सन् में हुआ था, इसका पता उनको नहीं है; लेकिन इतना स्मरण है कि कार्तिक सुदी अन्नकूट के दिन आपका जन्म हुआ था। जन्मस्थान है उ[illegible]नी, जो राज्य पन्ना थाना बीरसिंहपुर में है।
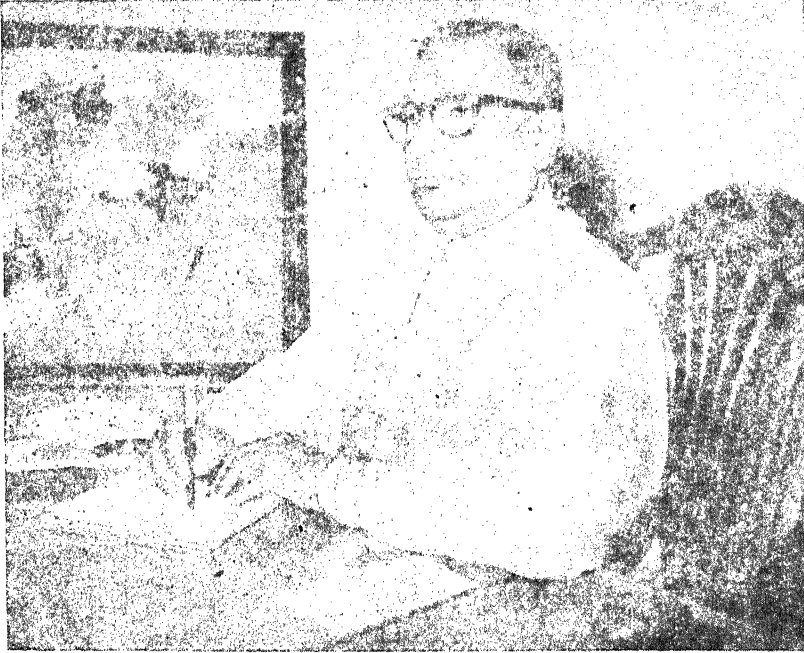
पंडित अनसूयाप्रसाद पाठक (संयोजक)

सन् १९३९ में पाठक जी ने सुना था कि तुम्हारी उम्र २८ साल की है। अब पाठक-वृन्द जरा हिसाब लगाकर देखें कि जिसकी उम्र सन् १९३९ में २८ साल की होगी तो उसकी उम्र १९५९ में कितने की होगी।

आप पच्चीस साल से उत्कल में हिन्दी का प्रचार-कार्य करते आ रहे हैं। १९३३ से इस सभा के स्थापन में आप एकमात्र चिन्तक व्यक्ति हैं। यह जो सारा आयोजन हो रहा है वह आपके उत्साह, लगन तथा चिन्ता का फल है।

दुबे जी का जन्म १ जुलाई १९११ को हुआ था। आप एम० ए०, साहित्य-रत्न हैं। वर्धा के आर्ट्स कालेज में हिन्दी के प्रोफेसर रह चुके हैं। सन् १९३६ से राष्ट्रभाषाप्रचार के महत्त्व के कार्य में आपने अपने को पूर्ण रूप से लगा दिया है। सन् १९४२ से राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति के सहायक मंत्री तथा परीक्षा-मंत्री हैं।
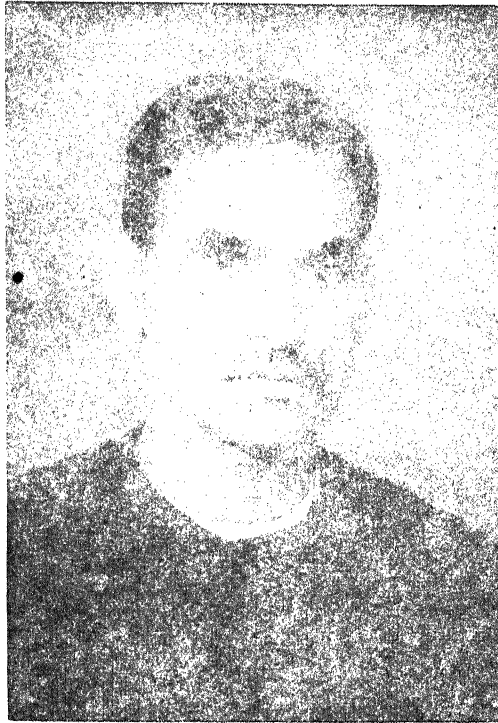
पं० रामेश्वरदयाल दुबे

आपकी कविताएँ ओजपूर्ण तथा प्रसादगुणयुक्त होती हैं। आपकी कतिपय रचनाओं में अनूठे ढंग का हास्यरस प्रस्फुटित हुआ है। सुलभ बाल-साहित्य के आप सफल प्रणेता हैं। इधर आपने अनेक एकांकी लिखे हैं, जो सफलता के साथ अभिनीत हो चुके हैं। सफल हिन्दी गीत "भारत जननी एक हृदय हो" आपकी ही कृति है।

आपका जन्म मयूरभंज जिलांतर्गत बीरिपदा में हुआ था। आपके पिता का नाम श्रीयुक्त परमानंद आचार्य है। वे उड़ीसा की सरकार के प्रत्नतत्व विभाग के सुपरिन्टेंडेंट थे। आपको बचपन से ही भूगोल पढ़ने का अत्यधिक आग्रह था। अतः आपने बारिपदा हाईस्कूल
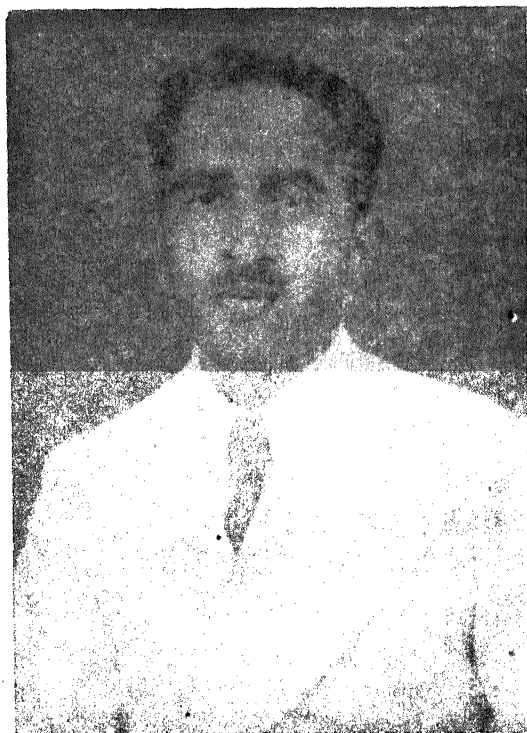
श्री वृन्दावनचंद्र आचार्य

से मैट्रिक पास करके कलकत्ता जाकर विशेष अध्ययन किया, और सन् १९४७ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से भूगोल में एम० ए० पास किया। आपके पूर्व उड़ीसा के किसी भी छात्र ने भूगोल में एम० ए० नहीं किया था। सन् १९४८ ई० से आप भूगोल के अध्यापक बन इस समय बड़ी उत्सुकता एवं लगन के साथ अपने कार्य में रत हैं।

श्री परमानंद आचार्य १९२३ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० एस्-सी० में सम्मान के साथ उत्तीर्ण होकर बूटानी में एम० एस्-सी० में पढ़ते थे। इस समय उन्होंने इंडियन म्यूजियम के प्रत्नतत्व विभाग के सुपरिंटेंडेंट श्री रमाप्रसाद चंद को मयूरभंज के भंजवंश के बारे में सामग्री दी थी।

इतिहास-गवेषणा केंद्र मयूरभंज की राजधानी बारिपदा में स्थापित हुआ। आचार्य का जन्मस्थान मयूरभंज सदर सब-डिवीजन के अंतर्गत बारपडा परगना का वैद्यपुर गाँव है। वहाँ प्राचीन काल से चडक पत्थर या बज्रसूची जातीय प्रस्तरास्त्र मिलते थे। श्री आचार्य बचपन में इनको संग्रह करके खेला करते थे। खिचिंग में काम करते समय श्री चंद्र महाशय से इसका जिक्र किया, जिस पर उन्होंने एक प्रबंध लिखा था।

श्री परमानंद आचार्य की चेष्टा से श्री रमाप्रसाद चंद ने ओडिशा के पुरी, भुवनेश्वर, जाजपुर, चउदवार, नलितगिरि, उदयगिरि और रत्नगिरि आदि प्राचीन स्थानों को घूमकर देखा था। श्री चंद ने पुरी में रहते समय श्री आचार्य की सहायता से मादला पंचांग के विभिन्न पाठों का संग्रह करके एक अँगरेजी प्रबंध लिखा था।

१९३० ई० से १९४१ तक श्री परमानंद आचार्य खिचिंग के मंदिरों के पुनरुद्धार के काम में लगे हुए थे। खिचिंग के मंदिर जिस तरह पुनर्गठित हुए हैं, वैसा काम उस वक्त भारत में कम दिखाई पड़ता था।

सब विभागीय कार्यों के साथ ओड़िशा और ओड़िशा गड़जात के ऐतिहासिक प्रत्नतात्त्विक को गठित करने का सुयोग श्री आचार्य को विशेष रूप में मिला था।

श्री परमानंद आचार्य, बी०एस्-सी०

मयूरभंज ओड़िशा के साथ मिश्रित हुआ। इसके बाद ओड़िशा में श्री आचार्य का कर्म-क्षेत्र बढ़ गया। वे पहले १९५० ई० में ओड़िशा सरकार के द्वारा सुपरिंटेंडेंट आफ रिसर्च के रूप में नियुक्त हुए थे। १९५४ ई० में उन्होंने कार्य से अवसर ले लिया। फिर वे ओड़िशा सरकार के द्वारा जुलाई १९५५ ई० से सुपरिंटेंडेंट आफ आरचिओलोजी के कार्य में नियुक्त होकर जुलाई १९५८ ई० तक कार्य करते रहे।

ओड़िशा के आधुनिक म्यूजियम और प्रत्नतत्त्व विभाग में उनके कार्यकाल में बहुत उन्नति हुई है।

●
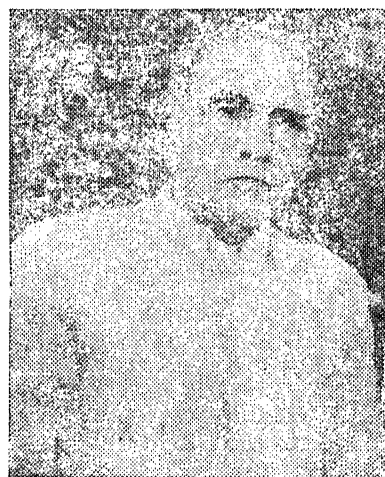
जन्म सन् १९११ ई०। जन्मस्थान---गधुरीपडा, बांकी (कटक)। शिक्षास्थान---बांकी हाईस्कूल, रेवेन्सा कालेज, कटक, पटना कालेज, स्कूल आफ ओरियंटल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज लन्दन विश्वविद्यालय। गवर्नमेंट एपिग्राबस्ट आफिस, उटकमंड लिपि के सम्बन्ध में गवेषणा (१९५२)।

डाक्टर कुंजबिहारी त्रिपाठी, एम०ए०, बी०एल०, पी-एच०डी०

सन् १९३८ रेवेन्सा कालेज में अस्थायी रूप से संस्कृत विभाग में लेक्चरर नियुक्त। सन् १९३९ ई० में वहीं स्थायी रूप में। सन् १९४५ ई० में संस्कृत विभाग में असिस्टेण्ट प्रोफेसर। सन् १९५४ ई० में राजेन्द्र कालेज बलांगीर के प्रिन्सिपल। सन् १९५५ से रेवेन्सा कालेज में पोस्ट ग्रेजुएट क्लास के अध्यापक।

आपकी प्रकाशित रचनाएँ---प्राथमिक ओड़िया शिलालेखों का अध्ययन नामक गवेषणा में आलोचनात्मक पाली धम्मपद (प्रथमार्ध) का सटीक ओड़िया संस्करण, अलंकार-परिचय, पुष्पांजलि (कवितासंग्रह), ओड़िशा के संस्कृत साहित्य का इतिहास, पुरी ओड़िया साहित्यपरिषद द्वारा पुरस्कृत और प्रकाशसारपक्ष। एपिग्राफिका इण्डिका, ऐतिहासिक रिसर्च जनरल, इण्डियन लिंग्विस्टिक्स पत्रिकाओं में, अंग्रेजी भाषा में कई निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। और भी विभिन्न ओड़िया पत्र-पत्रिकाओं में आपके ओड़िया प्रबंध प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री राजगुरु का जन्म अगस्त सन् १९०३ ई० में पारलाखेमंडी में हुआ था। आप आन्ध्र विश्वविद्यालय के "उभयभाषा-प्रवीण" उपाधिधारी हैं। लिपितत्त्व की शिक्षा के लिए आप १९२६ में मद्रास संग्रहालय में और सन् १९३० ई० में कलकत्ता संग्रहालय में कुछ समय तक थे। सन् १९२७ ई० में आपका प्रथम प्रबंध ओड़िशा रिसर्च सोसाइटी जर्नल में प्रकाशित हुआ। इसके
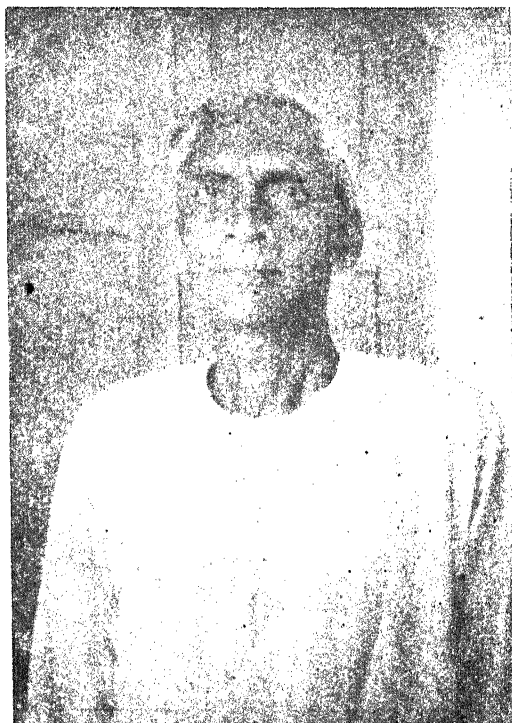
श्री सत्यनारायण राजगुरु

बाद सन् १९३० से, धारावाहिक रूप से, आपके अनेक अंग्रेजी प्रबंध आन्ध्र रिसर्च सोसाइटी और बिहार ओड़िशा रिसर्च सोसाइटी जर्नलों में प्रकाशित हुए हैं। उस समय ओड़िशा के उत्कल-साहित्य, मुकुर, सहकार, नवभारत प्रभृति ओड़िआ और अंग्रेजी पत्रिकाओं में आप धारावाहिक रूप से आलोचना करते थे। सन् १९३२ में आपने उत्कल साहित्य समाज की वार्षिक सभा में इतिहास शाखा का सभापतित्व किया था। सन् १९४६ में जब कलिंग ऐतिहासिक सोसाइटी की नींव पड़ी तो आप उसमें साधारण कर्मचारी के रूप में नियुक्त हुए। सन् १९५० से भुवनेश्वर में प्रतिष्ठित ओड़िया संग्रहालय में क्यूरेटर के स्थान पर आप कार्य कर रहे हैं।

ढेंकानाल राज्य के गंजेइ डीह गाँव में सन् १९२१ ई० में आपका जन्म हुआ। ढेंकानाल स्कूल, कटक रेवेन्सा कालेज, पटना कालेज और लंदन विश्वविद्यालय में आपने शिक्षा प्राप्त की। ढेंकानाल और रेवेन्सा कालेज के सर्वोत्तम छात्र होने के नाते आपको पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था। आप कई पुस्तकों के लेखक हैं। प्रेमचंद जी की अमर कृति गोदान का ओड़िआ में आपने

श्री गोलोकबिहारी धल

अनुवाद किया है। हिन्दी में ध्वनिविज्ञान के आप सर्वप्रथम लेखक हैं। प्रौढ़ साहित्य-प्रतियोगिता में सन् १९५६, ५७, ५८ में भारत सरकार के द्वारा तीन बार आप पुरस्कृत हुए हैं।

इंगलैंड, फ्रान्स, और अमेरिका का आपने विस्तृत पर्यटन किया। संस्कृत, हिंदी, बंगला, तेलगु, तामिल, फ्रे च आदि भाषाओं से आप परिचित हैं। राकफेलर फाउण्डेशन परिचालित, पूना, देहरादून, मैसूर में भाषा के स्कूलों के और भारत सरकार के द्वारा परिचालित आई० ए० एस० स्कूल के आप सामयिक भाषाओं के शिक्षक हैं। उत्कल भारतीय पी० ई० एन० और अन्य भाषाओं के ज्ञाता एवं समाज के सदस्य हैं। सन् १९५४ और ५५ दो वर्ष के लिए आप उत्कल विश्वविद्यालय के सीनियर सभ्य थे। सन् १९५४ ई० में ओड़िशा सरकार के पुरी कालेज में संस्कृत-अध्यापक नियुक्त हुए। इस समय पुरी कालेज में कार्य कर रहे हैं।

आपका जन्म २० अक्टूबर सन् १९२४ को बागशाहि ग्राम (जिला कटक) में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री दिव्यसिंह महांति था। आपने रेवेन्सा कालेज कटक से १९४९ में एम० ए० उत्तीर्ण किया। आपने ओड़िया एम० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त किया, एतदर्थ स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। उसी वर्ष से आप उसी कालेज में ओड़िया के प्राध्यापक नौ वर्ष तक रहे। इस समय आप बक्शी जगबंधु विद्याधर कालेज भुवनेश्वर में ओड़िया के प्राध्यापक हैं।
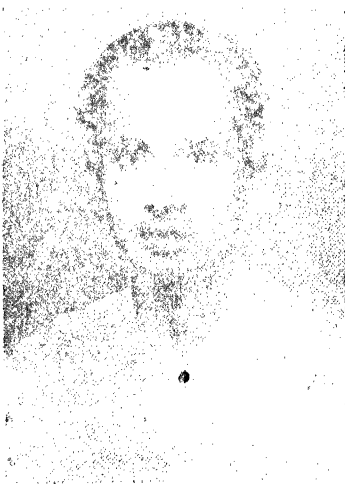
अध्यापक वंशीधर महांति, एम०ए०

आप ओड़िया के उदीयमान लेखक हैं। अब तक आपने १-साहित्य और संस्कृति, २—ओड़िशा आदिवासी-संस्कृति, ३—ओड़िशा में बौद्धधर्म, ४—अभिभाषण पुस्तकें लिखी हैं। इन्होंने आदिकवि सारला दास के सारला महाभारत पर विवेचनात्मक विवरण के साथ बहुत से गवेषणात्मक लेख लिखे हैं। सांस्कृतिक विषय पर भी इनके अनेक सारगर्भित लेख और आलोचनाएँ हैं। इन्होंने ओड़िया के ताड़पत्रों पर लिखे शताधिक प्राचीन ग्रंथों का संग्रह किया है, और अभी कर रहे हैं। इनका यह प्रयास बड़ा प्रशंसनीय है।

●

१८८७ ई० में श्रावण शुक्ल एकादशी, शनिवार को कटक जिले के अन्तर्गत सुखनई परगना के नागणपुर गाँव में आपका जन्म हुआ था।

डाक्टर आर्तवल्लभ महांति, एम०ए०

पाँच साल की उम्र में कटक की कनिका राजवाटी में आपका विद्यारंभ हुआ। फिर क्रमशः आपने रोमन कैथलिक स्कूल से माइनर, मिशन हाईस्कूल से मैट्रिकुलेशन, लंदन मिशन सोसायटी भवानीपुर (कलकत्ता) से आइ० ए० सन् १९१२ ई० में कटक रेवेन्सा कालेज से संस्कृत आनर्स लेकर बी० ए० और अंत में १९१४ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। विद्यार्थी-जीवन में आप रंगमंच परिचालना और हॉकी,
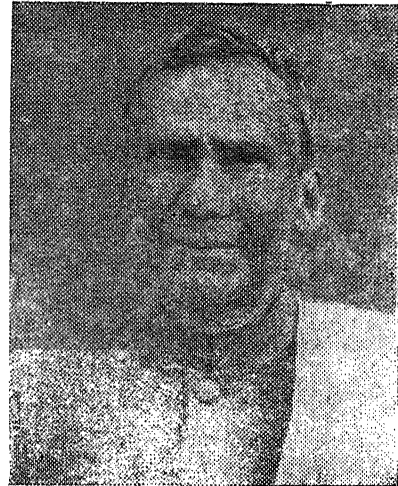
क्रिकेट, फुटबाल टेनिस आदि खेलों में बड़े पारदर्शी थे। बाढ़-प्रपीड़ित अंचल की सेवा करने में आपकी दिलचस्पी थी।

एम० ए० पास करने के बाद २२ अक्तूबर सन् १९१४ ई० को आपने रेवेन्सा कालेज में संस्कृत लेक्चरर के रूप में कार्य ग्रहण किया। १९२२ ई० में उसी कालेज में आप प्रोफेसर बने।

सन् १९१५ ई० में आप सेण्ट्रल यंग उत्कल एसोसिएशन के उप-सभापति बने। उसी की सिफारिश तथा सहायता से आपने मानसिंह पाटना व झोलासाही रात्रि-विद्यालयों की स्थापना एवं परिचालना की। आप बिहार-ओड़िशा संस्कृत एसोसिएशन के सदस्य और परीक्षक भी थे। अब भी ओड़िशा संस्कृत एसोसिएशन के सभ्य हैं। सन् १९१५ ई० से आज तक उत्कल साहित्य समाज के सभ्य हैं। बाद में उत्कल साहित्य समाज के उपसभापति और सभापति हुए। आप राणीहाट हाईस्कूल के प्रतिष्ठाता हैं। आप नागणपुर ग्राम विद्यालय, कोरुआ हाईस्कूल एवं मारवाड़ी हाईस्कूल की मैनेजिंग कमेटियों, प्रशासन शब्दकोश-संकलन कमिटी, राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा की अनुवाद समिति तथा निखिल उत्कल गोहत्या-निरोध समिति आदि के सभापति. रेवेन्सा कालेज तथा शैलबाला महिला कालेज की गवर्निंग बाडियों के मेंबर, और दिल्ली साहित्य एकाडमी के केंद्र-सभ्य हैं। ये पटना विश्वविद्यालय सिनेट के सदस्य और उत्कल विश्वविद्यालय के फेलो, सिण्डिकेट के सभ्य और डीन ऑफ फैकल्टी भी थे। जयपुर महाराजा के सभापतित्व में आंध्र गवेषणा समिति से आपको विद्याभूषण की उपाधि मिली है। सन् १९३१ ई० में राय साहब, १९४३ में राय बहादुर और १९५५ में उत्कल विश्वविद्यालय से डाक्टर की उपाधियाँ आपको प्राप्त हुई थीं। स्वाध्याय के साथ साथ आप की गो-सेवा तथा बगीचे के काम में रुचि है।

सन् १९२४ में स्वप्नादेश पाकर आपने ओड़िशा के धर्मग्रन्थ-साहित्य की आलोचना और प्रकाशन पर ध्यान दिया। सन् १९२५ ई० में आपकी "रहस्यमंजरी" और "स्तुतिचिंतामणि" प्रकाशित हुईं। फिर आपने प्राची समिति की स्थापना की और सहयोगियों से मिलकर प्राचीन साहित्य के संकलन का काम शुरू किया। आपने 'लावण्यवती', 'रसकल्लोल', 'मथुरामंगल', 'विष्णुगर्भ पुराण', 'विदग्धचिंतामणि' आदि ५४ पुस्तकों के सप्रसंग सुविशाल मुखबंध और टीकाएँ आदि प्रकाशित की हैं।

आपका जन्म पुरी जिले के अन्तर्गत खुरदा सब-डिवीजन के प्रसिद्ध याँला गाँव में २० जनवरी १९०१ ई० की रात को हुआ था। आपके पिता का नाम श्री गोलोककृष्ण पटनायक और माता का नाम श्रीमती राधाराणी देवी था। दुर्भाग्य से पिता अपनी सम्पत्ति से हाथ धो बैठे, इसलिए बचपन से ही कवि को गरीबी का सामना करना पड़ा था। लँगड़े होने के कारण आपकी दुर्गति अधिक बढ़ गई थी; मगर कष्ट-कण्टकों में ही प्रतिभा-कुसुम का अच्छा विकास होता है। यही आपके जीवन में हुआ था। विभिन्न वृत्ति-परीक्षाओं को योग्यता के साथ उत्तीर्ण करके आपने सन् १९२० ई० में सत्यवादी उच्च अंग्रेजी विद्यालय से मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की। वर्नाक्यूलर व हाईस्कूलों में पढ़ते वक्त से ही आपकी कवि-प्रतिभा का परिचय मिला था। शारीरिक अक्षमता एवं अर्थाभाव का मुकाबिला करते हुए आप १९२० ई० में रेवेन्सा कालेज में दाखिल हुए। दो साल तक असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण आपकी पढ़ाई बन्द हो गई थी। आपने १९२३ ई० में फिर कालेज में पढ़ाई शुरू की और १९२६ ई० में अंग्रेजी में आनर्स के साथ ओड़िशा में पहले स्थान के अधिकारी बन बी० ए० पास किया। अंग्रेजी साहित्य पर आपका असाधारण अधिकार था। आपकी रचनाशैली प्रसिद्ध अंग्रेजी साहित्यिक मेकाले की शैली जैसी थी। आपने बी० एल० का अध्ययन किया और उसमें भी सफलता हासिल की।

कवि श्री विच्छन्दचरण पटनायक

इसके बाद पुरी जिले के ओलसिंह उच्च अंग्रेजी विद्यालय के आप सहकारी प्रधान शिक्षक हुए। फिर सन् १९३० से आप प्रसिद्ध प्राची समिति के सम्पादक हुए और डाक्टर आर्त्तवल्लभ महान्ति के साथ बहुत से ओड़िआ ग्रन्थों के प्रामाणिक सटीक संस्करणों का प्रकाशन किया। आपकी लिखित अंग्रेजी रचनाएँ आपकी सम्पादित "प्राची" पत्रिका में प्रकाशित हुई थीं। सन् १९३४ ई० में प्राची समिति को छोड़कर कवि उत्कल साहित्य-समाज के सहकारी सम्पादक तथा सम्पादक बने और अंग्रेजी में 'वैतरणी" तथा ओड़िआ में "जागरण" पत्रिकाओं का सम्पादन किया। सन् १९३८ में श्रीमती नेत्रमणि देवी के साथ आपकी शादी हुई। आपके एक पुत्र और दो कन्याएँ हैं।

सन् १९४० ई० से १९४२ ई० तक आपने कटक में वकालत की। सन् १९४७ ई० तक स्वर्गीय गोपालचन्द्र प्रहराज के रचित भाषाकोष के सम्पादन में अमूल्य सहायता की थी। आप उत्कल साहित्यसमाज के सब उत्सवों के पुरोधा हैं। सैकड़ों प्रतिभाशाली छात्र साहित्यिक आपके

अनुयायी हैं। आपने सन् १९४३ ई० से 'कलिंग भारती' और उसके परिपोषक अनुष्ठान 'उत्कल छात्र साहित्यसमाज' की प्रतिष्ठा की है।

कविताओं में छन्द एवं अलंकारों की जातीय परंपरा की रक्षा करना ओड़िआ जाति के अनुकूल है। इस तरह की कविताएँ बनाना कवि का पवित्र व्रत है। आपकी कृतियों में गोस्वामी तुलसीदासकृत "रामचरितमानस" का ओड़िआ भागवत वृत्त में अनवद्य अनुवाद और "विनय-पत्रिका" का ओड़िशी संगीत वृत्त में कलामंजुल भाषान्तर, संकलित भक्तिरसात्मक श्री श्री "जगन्नाथ जणाण भजन", गौरचरण गीतावली, चौतीशी मधुचक्र, शशिरेखा, आदि ग्रन्थ ओड़िआ जाति की अमूल्य सम्पत्ति हैं। आपने अपनी "कविताकुमुद" पुस्तक में अपनी मौलिक कविप्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है।

गुणग्राही ओड़िशा सरकार ने सन् १९४२ ई० से आपको अपने लोक-सम्पर्क विभाग के रचनाध्यक्ष (प्रोडक्शन अफसर) के रूप में नियुक्त किया है।

कवि की कलम अब भी तेजी से चल रही है। एक दिन वह ओड़िआ साहित्य को छन्द व अलंकारों का सुवर्णयुग लौटा लायेगी और कवि का नारा "जय माँ कलिंग भारती" सारे ओड़िशा में गूँजकर जाति को जाग्रत करावेगी।

●

अध्यापक नटवर सामन्तराय का जन्म सन् १९१८ में पुरी जिला-अन्तर्गत रामचन्द्रपुर गाँव के एक मध्यवित्त परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम था रासविहारी सामन्तराय। वे लोकप्रिय और सज्जन थे। पढ़ने के बाद पिता की सहायता और उत्साह से आप सन् १९३६ में पुरी-कलेक्टरेट में काम करने लगे। ज्ञान-पिपासा बुझाने की कामना से इन्होंने हजारीबाग, काशी आदि स्थानों का भ्रमण किया। इससे इनको जीवन में रोमांचकर अनुभूति प्राप्त हुई। अनाहारजनित कष्ट के कारण हजारीबाग में आत्महत्या करते समय एक युवक ने इनको पकड़ कर बचा लिया था। इसके बाद बनारस में कुछ निराश्रय ओड़िआ छात्रों के सर्वहारा संघ में शामिल हो, आत्मनिर्भर-शील हो, कालेज में अध्ययन करने लगे। सन् १९३९ में फिर पिता की सहायता से कटक में बी० ए० पढ़ा और कटक ट्रेनिंग कालेज से उत्तीर्ण होकर सन् १९४९ तक हाईस्कूल के शिक्षक बन गये। फिर शिक्षा विभाग में सब-इन्सपेक्टर के रूप में काम करते रहे।

अध्यापक श्री नटवर सामन्तराय एम०ए०

आप सन् १९१० में यूनिवर्सिटी कालेज से बी० एल० के प्रथम भाग में उत्तीर्ण हुए। सन् १९११ में स्काटिश चर्च कालेज से आपने एम० ए० किया।

बी० ए० उत्तीर्ण करने के बाद आपने सत्यवादी स्कूल की स्थापना की और उसके प्रधान आचार्य बने। सन् १९१८ तक आप इसी पद पर रहे। फिर १९२० तक विद्यालय में शिक्षक रहे। इतने में कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति सर आशुतोष मुखर्जी ने आपको एम० ए० वर्ग में प्रोफेसर बना लिया। सन् १९२१ में आपने असहयोग आन्दोलन में भाग लिया, इसलिए सन् १९२२ में आपको पहली बार कारावास और २०० रु० जुर्माने की सजा मिली। सन् १९५१ में कई कारणों से आपको कांग्रेस दल छोड़ना पड़ा। सन् १९५५ में कांग्रेस की ओर से पण्डित नेहरू ने एक चिट्ठी लिखकर आपका बड़ा आदर किया, अतएव आप फिर कांग्रेस में शामिल हो गये।

राजनीतिक जंजाल में रहते हुए भी आपकी साहित्यिक साधना तथा ग्रंथप्रणयन की धारा बहती चली आ रही है। बचपन से ही साहित्य की ओर आप आकृष्ट हुए हैं। सन् १९१२ में आपने हैंडबुक ऑफ माडेल ड्राइंग पुस्तक लिखी। यह पुस्तक बच्चों के लिए खूब उपयोगी साबित हुई। छात्र-जीवन में आपने अंग्रेजी काव्य "प्रिन्सेस" के अवलम्बन से 'प्रणयनी' काव्य की रचना शुरू की थी जो १९१९ में खत्म हुई। उसी साल सितंबर में आपके मौलिक काव्य 'कोणार्क' की रचना हुई। सन् १९२० में आपने "खारवेल" और १९२३ में जेल के भीतर "दास नायक" पुस्तकें लिखीं। साथ-साथ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपके समालोचनात्मक लेख प्रकाशित होते रहे। सन् १९१३ में सत्यवादी स्कूल से "सत्यवादी" मासिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ। उत्कलमणि गोपबंधु दास इस पत्र के संपादक और आप सहकारी संपादक थे। सन् १९२१ ई० में उन प्रबन्धों का प्रकाशन शुरू हुआ और सम्बलपुर में कांग्रेस का काम करते वक्त "आर्य जीवन" के नाम से उसका प्रकाशन हुआ। सन् १९३६ में आपकी "गीतार भाष्य व टीका" पुस्तक प्रकाशित हुई। जून सन् १९३४ में आपने जेल से मुक्ति पाकर "नवभारत छापाखाना" तथा "नवभारत" मासिक पत्रिका की प्रतिष्ठा की थी। यह पत्र उस समय ओड़िआ की अद्वितीय पत्रिका थी। १९३६ के बाद आपने अपने "ओड़िया साहित्य र क्रम परिणाम" ग्रंथ का प्रथम भाग प्रकाशित किया। केन्द्र व्यवस्था सभा से छुटकारा पाने के बाद सन् १९५३ में उस ग्रंथ का द्वितीय भाग प्रकाशित हुआ। हाल ही में आपकी ओड़िया भाषा व साहित्य जैसी समालोचनात्मक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। सन् १९५५ में उत्कल विश्वविद्यालय ने आपको डाक्टर ऑफ लिटरेचर की उपाधि दी। उसी साल आप उत्कल विश्वविद्यालय के प्रो-चान्सलर भी बने।

आप संबलपुर-निवासी हैं। शिक्षा समाप्त करके कुछ समय तक आप शान्ति-निकेतन

प्राध्यापक श्री प्रह्लाद प्रधान एम०ए०

में अध्यापन का काम करते रहे। तत्पश्चात् संस्कृत के अध्यापक होकर चीन देश में रहे। आजकल आप उत्कलविद्यालय (उड़ीसा) में प्राध्यापक का काम कर रहे हैं।

●

डॉक्टर हरेकृष्णजी महताब का जन्म २१ नवम्बर सन् १८९९ ई० में बालेश्वर जिले

डाक्टर हरेकृष्ण महताब

के अगरपाड़ा नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम था श्री कृष्णदास और माता का

तोहफा बीबी। जब आप ४ माह के थे, तभी आपकी नानी ने आपको गोद ले लिया और आप ममिऔरे में रहने लगे।

आपका लालन-पालन राजसी ढंग से हुआ। कारण आपके मामा एक बड़े रईस तथा जमींदार थे जो राजा के नाम से सम्बोधित किये जाते थे। १४ साल तक ये गाँव के बाहर नहीं गये। मैट्रिक भद्रक में रहकर पास किया था। इसी समय आपकी शादी हो गई।

पिता की तो इच्छा थी कि और अधिक पढ़ने की जरूरत नहीं, अब जमींदारी के काम की देखभाल करें। लेकिन आपकी रुचि और अधिक पढ़ने की थी। इसलिए पिता से बिना कहे-सुने कटक आकर आपने कालेज में नाम लिखा लिया। आप यहाँ अच्छे विद्यार्थियों में गिने जाते थे। बी० ए० की परीक्षा देने जा रहे थे कि गान्धीजी की आँधी में आप आ गये। इससे परीक्षा को त्याग असहयोग आन्दोलन में शामिल हो गये। तब से अनेक बार जेल गये। जेल में आपने अनेक पुस्तकें लिखीं, गीता का अनुवाद किया, उपन्यास लिखे, कविताएं लिखीं, जो छपीं और तत्कालीन सरकार के द्वारा जब्त भी की गईं। १०–१५ पुस्तकें सबसे प्रसिद्ध और कलेवर वृद्धि की ओड़िसा का इतिहास है। आजकल आप 'झंकार' नामक मासिक पत्र निकाल रहे हैं तथा 'प्रजातन्त्र' नामक संस्था भी चला रहे हैं जिसका प्रधान उद्देश्य है उत्कल के साहित्यिकों को साल में एक बार एकत्रित किया जाय और बिना भेद-भाव के शुद्ध साहित्य की चर्चा की जाय। नाटक भी खेले जाते हैं। कविता तथा प्रबन्ध आदि पढ़े जाते हैं।

आपकी प्रतिभा, साधना-पथे और ओड़िशा का इतिहास का हिन्दी अनुवाद किया जा चुका है। प्रतिभा' तो छप गई है, बाकी दो यन्त्रस्थ हैं।

आजकल आप उत्कल के मुख्य मन्त्री हैं, फिर भी सारी झंझटों के रहते भी नियमित रूप से कुछ न कुछ लिखते हैं। आपके लेख उत्कल में आदर के साथ पढ़े जाते हैं।

इतिहास में आपकी अधिक रुचि है। उसकी खोज में आज भी आप लग रहे हैं। इतिहास समिति के आप चेयरमैन हैं। इतिहास पर आपको विश्वविद्यालय ने 'डाक्टर' की उपाधि दी थी और उत्कल विश्वविद्यालय ने साहित्य पर।

आप उत्साही, साहसी तथा सफल शासक भी हैं। सभी आपके कार्य और लगन पर विश्वास करते हैं। देशवासी अपना गौरव भी मानते हैं।

सन् १९२० में, मोहनपुर सिकरी नामक गाँव में (बिहार के शाहाबाद-आरा जिले में) आपका जन्म हुआ। सन् १९४७ में पटना युनीवर्सिटी से एम० ए० किया। अब तक का जीवन अध्यापन में व्यतीत हुआ है। इन दिनों आप गृह मंत्रालय, भारत सरकार की हिन्दी-शिक्षण योजना में काम कर रहे हैं। अध्ययन-अध्यापन और लेखन में आपकी रुचि रहती है। कहानियों के प्रति विशेष आकर्षण है। कहानियाँ यों बहुत सी लिखी पड़ी हैं, पर उनका प्रकाशन नहीं हो सका है, फिर लिखना कभी नहीं रुकता।

श्री परशुराम सिंह, एम०ए०

●

जन्मस्थान—अर्दली बाजार, बनारस। पारिवारिक स्थिति—मध्यवर्गीय। शिक्षा-दीक्षा काशी में। प्रारंभिक शिक्षा—जे० पी० मेहता कालेज। बी० ए० डी० ए० वी० कालेज, एम० ए० काशी हिन्दू विश्वविद्यालय। रुचि—कविता, कहानी, आलोचना और शोध-संबंधी रचनाएँ लिखना।

नागरीप्रचारिणी सभा काशी में बृहद् हिन्दी-कोश के भूतपूर्व सहायक संपादक। संप्रति प्राध्यापक हिन्दी, रेवेन्सा कालेज, कटक।

कृतियाँ—(१) मध्यकालीन हिन्दी गद्य (शोधकृति), (२) कच्ची लोइयाँ (कहानी-संग्रह), (३) अभिजात (रचना संकलन का संपादन), (४) हिन्दी में प्रयुक्त छन्द और उनके मूल स्रोत पर अन्वेषण जारी है।

श्री हरिमोहनप्रसाद श्रीवास्तव

●

आपका जन्म केन्दुझर जिलान्तर्गत आनंदपुर ग्राम में हुआ था। आप आनंदपुर माइनर स्कूल में पढ़कर केंदुझर अध्ययनार्थ गये। वहाँ से मैट्रिक परीक्षा पास की। उच्च शिक्षा के लिए कटक आये। यहाँ के रेवेन्सा कालेज से बी० ए० पास किया। एम० ए० में विशेष योग्यता प्राप्त करने के कारण आपको स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ था। आपने "वैदिक भारतीय इतिहास" की परीक्षा बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से सन् १९४९ में पास की। उत्कल विश्वविद्यालय से सन् १९५० ई० में कानून की परीक्षा पास की।

श्री विपिनविहारी नाथ

सन् १९५० ई० में आप 'ईस्टर्न टाइम्स' दैनिक पत्र के सब-एडीटर के रूप में नियुक्त हुए। सन् १९५५ ई० में आप ओड़िशा के सरकारी म्यूजियम के सुपरिंटेंडेंट हुए। सन् १९५८ ई० में म्यूजियम और आर्कोलॉजी के सुपरिंटेंडेन्ट हो गये।

डाक्टर नवीन कुमार साहु, एम० ए०, पी एच० डी०, कटक रेवेंसा कालेज में इतिहास-अध्यापक हैं। ओड़िशा में बौद्ध धर्म आपका निबंध है। आपका लेख यूनिवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन की सिफारिश से उत्कल विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है। आपकी किताबें अमेरिका और यूरोप में विशिष्ट इतिहासवेत्ताओं द्वारा प्रशंसित हैं। डाक्टर साहु ने हण्टर, स्टार्ली, बी स, राजेन्द्रलाल मित्र, आदि के ऐतिहासिक लेखों का संपादन किया है। आपने "भारतीय नौ-

डाक्टर नवीन कुमार साहु

जीवन" नामक एक ओड़िया पुस्तक गवेषणापूर्वक लिखी है। इसका अंग्रेजी अनुवाद भारत सरकार द्वारा विवेचित होकर पुरस्कृत हुआ है। डाक्टर साहु आजकल रेवेंसा कालेज के स्नातकोत्तर वर्ग में प्राचीन भारत का इतिहास और संस्कृति एवं ओड़िशा का इतिहास तथा संस्कृत पढ़ाते हैं।

डाक्टर पटनायक का जन्म केन्द्रापडा अन्तर्गत चऊँपुर (हुंडा साही) ग्राम में सन् १८७७ ई० के दिसम्बर में हुआ था। उनके पिता का नाम साधुचरण महांति और माता का नाम पितन देवी था। ब्रह्मपुरनिवासी श्री जगन्नाथ पटनायक ने आपको, ६ वर्ष की अवस्था में ही गोद ले लिया था। कलकत्ता से वकालत पास कर आये तो कटक हाईकोर्ट में वकालत करने लगे।
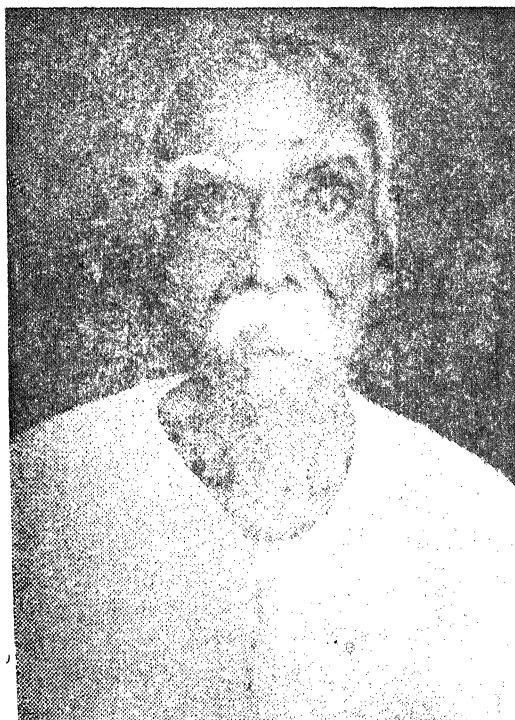
डाक्टर भिकारीचरण पटनायक

विदेशी शासनकाल में अत्याचारियों से बचने के लिए एवं जन-साधारण के कल्याण के निमित्त विभिन्न लोकहितकारक अनुष्ठानों में आप सहयोग देते थे। नौकरी के प्रति वितृष्णा और अपनी मौलिक प्रतिभा, स्वाधीन चिंताधारा, निर्भयता, और सरस व्यंग के लिए आप सुपरिचित एवं लोकप्रिय हुए थे।

कटकविजय, संसारचित्र, सुशीला, राजा पुरुषोत्तम, रत्नमाली, निरुपमा और नंदिकेश्वरी प्रभृति नाटक, यौतुक, अद्भुत आदर्श व भिखारी आदि प्रहसन लिखकर आपने अमर-ख्याति प्राप्त की है।

पुराने समय की एकमात्र साहित्यिक पत्रिका "उत्कल साहित्य" में आपकी शताधिक कविताएँ प्रकाशित हुई थीं। वट, नेता, शांतिआ वाहा, कुटीर शिल्प, चाषी भाई, गोमाता, सहयोग करण प्रभृति अनेक पुस्तकें लिखकर आप गाँवों में भी अत्यंत लोकप्रिय हो गये। जाति के प्रति उनका विशेष अवदान है। क्षुद्र कुटीर शिल्प को नये रूप में गढ़ना, फालतू चीजों से सुंदर और उपयोगी चीजें बनाना आपका प्रमुख उद्देश्य था। अर्थकरी वकालत को तिलांजलि देकर आप कुटीर शिल्प की उन्नति में लगे थे। यही कार्य गाँवों में भी विशेष प्रचलित था।

चार भागों में प्रकाशित उनका "गृहशिल्प" कुटीर शिल्प पर गवेषणालब्ध और मौलिक ग्रंथ है। बंगला में अनुवाद होने पर वह अत्यंत लोकप्रिय हो गया है। स्वाधीनता-आन्दोलन

के समय अनेक जातीय संगीत लिखकर आपने अत्यधिक ख्याति प्राप्त की थी। "गीतलहरी" इसी प्रकार का कवितासंग्रह है।

●

संगीतज्ञ श्री श्यामसुंदर धीर का जन्म कटक जिले के मधुपुर गढ़ के राजवंश में सन् १८९७ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम जगबंधु धीर सामंत सिंहार है। संगीत-चर्चा इनका परंपरागत गुण है। जगबंधु धीर सामंत सिंहार मधुपुर राज-परिवार में संगीत-शिक्षक थे। श्यामसुंदर जी ने पाँच वर्ष की उम्र में अपने पिता से प्रारंभिक शिक्षा के साथ साथ संगीत भी सीखा। मधुपुर के पटायत श्री बलदेवचंद्र धीर जगबंधु जी से संगीत सीख रहे थे। इसलिए बालक श्यामसुंदर का पटायत जी के साथ घनिष्ठ संबंध रहा। कुछ दिनों बाद जगबंधु जी की मृत्यु हो गई, और पटायत साहब कटक के प्रसिद्ध सितार-वादक अब्दुल रहमान, गया के भारत-विख्यात उस्ताद श्री हनुमानदास और उनके शिष्य श्री रामप्रसाद चौबे से शास्त्रीय संगीत सीखने लगे। उत्कलीय संगीत सिखानेवालों में भिंगारपुर के श्री सत्यवादी साहु और मधुपुर के गायक श्री चैतन्य मिश्र प्रधान हैं। इसके अलावा भारत के कई प्रसिद्ध प्रसिद्ध गायकों और वादकों तथा कलकत्ता, बनारस, लखनऊ, ग्वालियर, दिल्ली, राजस्थान तथा दक्षिण-भारत की अनेक संगीत संस्थाओं में रहकर पटायत साहब के साथ शिक्षा पाने का सौभाग्य श्यामसुंदर जी को मिला। शास्त्रीय रीति में सितार, बेहेला, ऐसराज, स्वरबहार, सरेब, सारंगी आदि बजाने और इन वाद्यों के सहारे विभिन्न राग-रागिनियों के साथ ध्रुपद, धमार और खयाल गाने में इनकी निरविच्छिन्न साधना रही। ओड़िशा के पूर्वप्रचलित शास्त्रीय संगीतों की गवेषणा, गायन, पखावज, बायाँ तबला, ढोलक और खोल आदि का बजाना, प्रवृत्तिमार्गी संगीतों के बदले आध्यात्मिक शांति

संगीताचार्य श्री श्यामसुंदर धीर

और शक्तिदायक संगीतों के अभ्यास तथा प्रचार के लिए पुस्तकें लिखकर सामाजिक संगठन में सहायता पहुँचाना श्यामसुंदर जी के जीवन का मुख्य कार्य रहा।

स्वर्गत बलदेव देव धीर सामंत और श्री श्यामसुंदर धीर जी की प्रचेष्टा से "ओड़िशा संगीत समाज" की प्रतिष्ठा हुई, और ये वहाँ पर छात्र-छात्राओं को शिक्षा देते रहे। इनके छात्र-छात्राओं में से कई कृती शिल्पियों ने ओड़िशा तथा बाहर संगीत-प्रतियोगिताओं में भाग लेकर अच्छा नाम कमाया है। स्वयं श्यामसुंदर जी भी रेडियो के सितार शिल्पी हैं। पटायत साहब के तिरोधान के बाद इनकी संगीत-चर्चा में बहुत बाधा पड़ी, फिर भी ये कार्य में लगे हुए हैं। आप पिछले १४-१५ वर्षों से कटक रेवेन्सा कालेज में संगीतशिक्षक का कार्य कर रहे हैं। हर साल उत्कल विश्वविद्यालय की ओर से वार्षिक युवक-सम्मेलन (दिल्ली) में संगीत-संचालक का कार्य भी करते हैं।

●

आपका जन्म कटक जिले के बड़म्बागढ़ में, सन् १८९८ ई० के दिसम्बर में हुआ था। वहीं पर आपकी प्राथमिक शिक्षा हुई। खुरदा हाई स्कूल से आप मैट्रिक उत्तीर्ण कर कालेज में भरती हुए।

कविचन्द्र कालीचरण पटनायक

बचपन से आप ओड़िशी संगीत के प्रति आकृष्ट हुए। कालेज में पढ़ते वक्त आपने स्वर्गीय द्विजेन्द्र दास अधिकारी से तीन वर्ष तक हिन्दी गीतों तथा एसराज की शिक्षा पाई। चार वर्ष तक गया के प्रसिद्ध गायक श्री बनवारी मिश्र से भी आप शास्त्रीय संगीत सीखते रहे। सन् १९२३ ई० में आगरा के मल्लका दास से आपने रसाभिनय सीखा। सन् १९४० ई० तक आप गाने में अभ्यस्त हो गये थे। बाद में आपने गाना छोड़ दिया।

सन् १९०७ ई० में आप बांकी माइनर स्कूल में पढ़ते थे तब आपके पिता सुदक्ष अभिनेता थे। सहाध्यायियों से मिलकर आप खलिहान में चद्दरें तथा दरियाँ बिछाकर छोटे नाटकों का अभिनय करने लगे। इनमें आप स्वयं निर्देशक रहते थे। बांकी स्कूल के प्रधान शिक्षक स्वर्गीय रघुनाथ राय आपको इन अभिनयों में प्रोत्साहन देते थे। क्रमशः आपने अभिनय में दक्षता प्राप्त की और 'बाण-दर्पदलन', 'सीता-बिबाह',

'परशुराम-विजय' आदि नाटकों का अभिनय कराया। उसी समय से आपका मन नाटिका-रचना में लग गया।

इसके बाद कलकत्ता, बारिपदा आदि शहरों में भी आपने नृत्य तथा अभिनय दिखाकर उनमें समुचित अभिज्ञता प्राप्त की।

सन् १९२६ ई० में आपने पुरी में एक रासदल बनाया जो १९४० ई० तक चला। ओड़िया कवियों के गीतों और विविध राग-रागिनियों के अनुयायी बन आप नाटक लिखने लगे और संगीत, नाच तथा अभिनय आदि का निर्देश देने लगे। ओड़िशा में जब किशोरचन्द्रा नन्द चम्पू का लोप होने जा रहा था तब आपने सन् १९३२ ई० में इसको नाटकीय रूप दिया। इससे आपकी प्रशंसा हुई। गीत-गोविन्द के छन्द, मात्रा तथा वृत्त के अनुसार आपने उसकी रचना ओड़िया में की और उसका अभिनय कराया। उस समय उत्कल साहित्य समाज के सर्वश्रेष्ठ नाटक के रूप में इसकी विवेचना की गई और आपको पुरस्कार मिला।

सन् १९४० ई० में आपने 'ओड़िशा थिएटर्स' खोला और पहले आपने ही रंगमंच पर सामाजिक नाटकों का अभिनय करवाया। जिन पुरुषों तथा नारी शिल्पियों को आपने तालीम दी थी, वे आज स्थानीय दूसरे रंगमंचों पर ख्यातनामा शिल्पी हैं।

पहले १९०७-८ ई० में आपने चर्चिका देवी की एक वन्दना लिखकर अपनी माँ को दिखाई। माँ के निर्देशानुसार आपने यह कविता चर्चिका देवी को गाकर सुनाई। यही आपकी सर्वप्रथम रचना है।

आपकी पहली कविता-पुस्तक "कलाहाण्डिआ मेघ" सन् १९१७ ई० में प्रकाशित हुई थी। स्वर्गीय नन्दकिशोर बल, स्वर्गीय मधुसूदन दास तथा स्वर्गीय विश्वनाथ कर आदि प्रमुख साहित्यिकों ने आपकी कविता-पुस्तक की प्रशंसा की थी। उसके बाद आपने कई नाटक और एकांकी लिखे। कविता, कहानी, अभिधान, संगीत आदि सभी विषयों पर आपकी पुस्तकें हैं। आपके रचित गीतों की संख्या प्रायः ३ हजार है।

नृत्य, संगीत तथा वाद्य-शिक्षा सम्बन्धी कई पुस्तकों तथा समालोचनात्मक कई रचनाओं की हस्तलिपियाँ अद्यावधि प्रकाशित नहीं हुई हैं।

●

आप देहरादून फारेस्ट कालेज के एक सदस्य हैं। सात वर्ष तक फारेस्ट अफसर के रूप में कार्य करने के बाद भारतीय प्रशासन-सेवा में नियुक्त होकर हीराकुद में भू-संस्कार विभाग के कर्मकर्त्ता हैं। पीछे अतिरिक्त मैजिस्ट्रेट और जिलाधीश के रूप में ओड़िशा के विभिन्न जिलों में घूमने के बाद १९५५ ई० से अब तक कृषि विभाग के निर्देशक के रूप में काम कर रहे हैं।

श्री गोपालचंद्र दास, आई०ए०एस०

●

श्री विश्वनाथ साहु का जन्म कटक जिला, गोविन्दपुर थाना के कलन्तिरा गाँव में १ अगस्त १९१० ई० को हुआ था। छुटपन से ही मातृहीन होने के कारण इनका लालन-पालन पितामह के द्वारा किया गया।

सन् १९३० में रेवेन्सा कालेज से आइ० ए० पास करके नागपुर कृषि-कालेज में दाखिल हुए। वहाँ से बी० एजी० उपाधि प्राप्त की। विभिन्न फार्मों में इन्होंने कृषि-अफसर के रूप में काम किया है। इसी सिलसिले में इन्होंने कनाडा की यात्रा की थी और १९४० ई० में 'मास्टर आफ साइन्स इन एग्रिकल्चर' की उपाधि प्राप्त की।

आपने कृषि सम्बन्धी बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं—पनिपरिबा चाष (११ खण्ड), पुष्पचाष ओ पुष्प उद्यान, फल चाष (७ खण्ड), रबि-फसल, कपा, चिनाबादाम, गो-मंगल ओ गो-चिकित्सा, घास ओ गो खाद्य, आम माछ सम्पद, खाद्य समस्या समाधान।

इसके अलावा आप मासिक तथा साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं में कृषि सम्बन्धी लेख लिखते आ रहे हैं।

श्री विश्वनाथ साहु

●

श्री जी० यन० माथुर

आप उत्कल सरकार के जंगल विभाग में डाइरेक्टर एवं सेक्रेटरी हैं। आप अपना कार्य बड़ी ही लगन से करते हैं।

श्री वी० डी० पृष्ठि

आप माइन्स के विशेषज्ञ हैं। आजकल आप इस विभाग के सेक्रेटरी पद पर हैं।

कटक जिले के बालिकुदा ग्राम में १५ जुलाई सन् १९२९ ई० में एक जमींदार परिवार में आपका जन्म हुआ। आपके पिता वीर किशोर दास एक प्रसिद्ध सत्याग्रही और काँग्रेस-कर्मी थे। गाँव ही से माइनर पास करके उच्च अंग्रेजी शिक्षा के लिए आप कटक आये। यहाँ कुछ वर्ष पढ़ करके रेवेन्सा कालेज से बी० ए० पास किया, फिर पोस्ट ग्रेजुएट बनने के लिए लखनऊ गये। वहाँ मानव-विज्ञान में प्रथम स्थान पाकर स्वर्ण पदक पाया। ओड़िशा सरकार से वृत्ति लेकर आपने कुछ दिनों तक गवेषणा की। पटना विश्वविद्यालय में सन् १९५२ से १९५४ तक उत्तर स्नातक समाज-विज्ञान विषय के अध्यापक हुए। सन् १९५४ से १९५६ तक राँची-स्थित, बिहार सरकार के द्वारा प्रतिष्ठित, आदिवासी गवेषणा केंद्र के सर्वप्रथम सहकारी निर्देशक थे, और साथ ही निर्देशक का दायित्व भी सँभाला। सन् १९५६ से ओड़िशा सरकार के आदिवासी गवेषणा केन्द्र में मुख्य रूप से आप काम कर रहे हैं। इस समय आप भारत सरकार के मानव-विज्ञान परामर्शदाता के सभ्य रूप में मनोनीत हैं।

श्री नित्यानंद दास

श्री कान्हुचरण मिश्र एम०ए०

आप रेवेन्सा कालेज में ओड़िया विभाग में अध्यापक का कार्य करते हैं। आपका जन्म पटामुंडाई के इच्छापुर शासन के प्रसिद्ध ब्राह्मण पंडित वंश में सन् १९२३ ई० में हुआ था। आपने ११ वर्ष की उम्र में ही कांग्रेस आन्दोलन में भाग लिया था। आपकी शिक्षा कलकत्ता जैसे विशाल शहर में हुई। आई० ए० और बी० ए० की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् एम० ए० किया और सन् १९४३ ई० में सर्वश्रेष्ठ कृती छात्रों में होने के नाते स्वर्ण पदक प्राप्त किया।
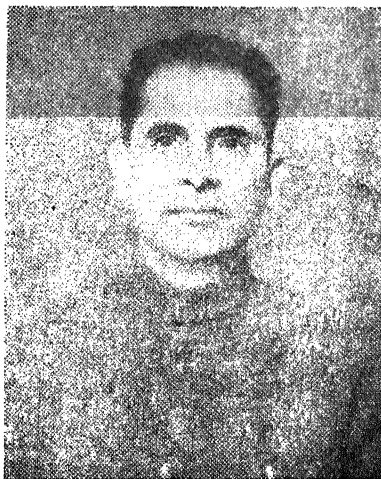
सन् १९४८ ई० से आपका अध्यापक-जीवन प्रारंभ हुआ। आप ओड़िया में साहित्य-समालोचक के रूप में विख्यात हैं। आप ओड़िशा रिलीफ कमेटी एवं पी० ई० एन० के सभ्य है। इसके अतिरिक्त आप अनेक शिक्षानुष्ठानों के साथ संयुक्त हैं।

●

श्री चक्रधर महापात्र का जन्म ८ फरवरी १९०७ ई० में कटक जिले के नरसिंहपुर गाँव में हुआ था। इन्होंने "कलिंग काहाणी", और उत्कल गाँउली कहानी लिखी हैं। ये राजगुरु महापात्र के वंशधर हैं। ये बचपन से पितृ-मातृ-हीन हैं। जननी शौरी देवी के कंठ से सुनते सुनते कविता के प्रति इनकी ममता जागी। उत्कल भारती कुंतला कुमारी के साहचर्य से इनकी साधारण प्रतिभा का विकास होने लगा। ये गाउली गीत और कहानियों के संग्राहक हैं।

गोबर गोटेइ (उपन्यास), अपूर्ण प्रेम (उपन्यास), बलांगी (ऐतिहासिक उपन्यास), रणमाधुरी (उपन्यास), रोडंग बक्सि (ऐतिहासिक उपन्यास), मिशन बालिका (कहाणी), उत्कल गाँउली गीत, बालेश्वर (काव्य) आदि आपकी प्रकाशित पुस्तकें हैं।

श्री चक्रधर महापात्र

●

डा० कुंजबिहारी दास

आप शान्तिनिकेतन में ओड़िया भाषा के प्रोफेसर हैं। आप उत्कल प्रान्त के विख्यात लोकगीत-संग्रहकर्त्ता हैं।

●

आपका जन्म जून सन् १९०६ ई० में बालेश्वर जिले के कल्याणी ग्राम में एक मध्य-वित्त परिवार में हुआ था। बालेश्वर जिला हाई स्कूल में पहले अध्ययन किया और कृती मेधावी छात्र के रूप से प्रथम श्रेणी में मैट्रिक पास किया। स्कूल से छात्रवृत्ति भी मिली। इसके बाद कटक रेवेन्सा कालेज से अंग्रेजी साहित्य में "आनर्स" सहित बी० ए० पास करके सब-डिप्टी कलेक्टर होकर सरकारी नौकरी की। इस नौकरी में इनका विशिष्ट प्रभाव हुआ। आप अपने कार्यक्षेत्र में लोकसेवा करना पसंद करते हैं। फिर समवाय विभाग में आपकी बदली हो गई। सन् १९४० ई० से आप समवाय विभाग में कार्य करते हुए इस विभाग के ज्वायंट रजिस्ट्रार के पद पर हैं। समवाय विभाग में रहते समय आप विश्व मिलित जाति-संघ से वृत्ति लेकर उत्तर अमेरिका के कनाडा में समवाय सम्बन्ध की विशेष जानकारी के लिए गये थे।

श्री अनन्तप्रसाद पण्डा, बी०ए०

●

आपका जन्म बहु प्राचीन कीर्त्तिमंडित भुवनेश्वर में हुआ था। आपका मन छात्रावस्था से ही ऐतिहासिक गवेषणा में लगता था। १९३१ ई० में रेवेन्सा कालेज में आई० ए० पढ़ते समय पहले आपके अंग्रेजी में दो और ओड़िया में एक एक प्रबंध प्रकाशित हुए थे। उस समय से आज तक अंग्रेजी और ओड़िया में धारावाहिक रूप में सैकड़ों प्रबंध प्रकाशित हुए हैं। वे १९४३ ई० में कालाहांडी में प्रत्नतत्त्व विभाग के कर्मचारी होकर वहाँ लगभग सात वर्ष तक रहे थे। वहाँ रहते समय स्व० पूर्णचंद्र रथ के प्रयत्न से कलिंग ऐतिहासिक गवेषणा समिति प्रतिष्ठित हुई थी। वे समिति की ओर से प्रकाशित त्रैमासिक मुखपत्र के संपादक थे। उन्होंने १९४६-४७ ई० में कालाहांडी राज्य के बेलखंडी नामक प्राचीन स्थान में खुदाई कराई और प्राचीन वस्तुओं का आविष्कार किया। १९५० ई० में कालाहांडी से ओड़िशा स्टेट म्यूजियम को आपकी बदली हो गई। अब वहीं काम करते हैं। म्यूजियम का विराट् पोथी-भंडार उनके निरवच्छिन्न उद्यम का फल है।

श्री केदारनाथ महापात्र

उन्होंने ओड़िशा के प्राचीन स्मृतिकार, कवि, नाट्यकार, संगीतज्ञ और अलंकार-प्रणेताओं के बारे में अंग्रेजी में दो ग्रंथ लिखे हैं। उनमें से उत्कल के प्राचीन स्मृतिकारों संबंधी पुस्तक ओड़िशा सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा प्रकाशित हुई है। दूसरा ग्रंथ साहित्य एकाडेमी की ओर से प्रकाशित होता है। उनके द्वारा ओड़िआ में रचित अनेक उपादेय ग्रंथों में से खारवेल, और तोषली का इतिहास नामक दो पुस्तकें १९४२ ई० और १९४७ ई० में प्रकाशित हुई थीं। अब वे ओड़िशा के भोइवंशीय गजपतियों के बारे में बड़ी पुस्तक क्रमशः प्रबंधाकार प्रकाशित कर रहे हैं।

आपका जन्म सन् १९०७ में हुआ। कटक, पटना, और लंदन में आपने शिक्षा प्राप्त की। सन् १९३० ई० में जब आप लंदन विश्वविद्यालय के छात्र थे, उसी समय "वायुयान-

अध्यापक श्री बामाचरण दास

चालक प्रमाणपत्र" ग्रहण कर चुके हैं। तत्पश्चात् मुजफ्फरपुर के जी० बी० बी० कालेज में प्रोफेसर हो गये। साहित्य कालेज पटना और रेवेन्सा कालेज कटक में आप प्रोफेसर रह चुके हैं। वर्तमान जी० सी० एस० कालेज पुरी और रेवेन्सा कालेज कटक के प्रधानाचार्य के स्थान को आप सुशोभित कर रहे हैं। आपने कुछ गणित की पुस्तकें भी लिखी हैं।

आपका जन्म सन् १९०५ में हुआ था। आप आजकल उत्कल सरकार के पबलिसिटी विभाग के अफसर हैं। आप कांग्रेस के स्वदेशी आन्दोलन के एक बड़े ही उत्साही और क्रान्तिकारी व्यक्ति हैं।

श्री सुधीरचन्द्र घोष

डा० एच० बी० महांति, एस्०एस-सी०, पी-एच०डी०

आपका जन्म ७ अप्रैल सन् १९१० ई० में हुआ था। रेवेन्सा-कालेज कटक से आपने बी० एस्०-सी० पास किया। पटना विज्ञान कालेज से पदार्थशास्त्र लेकर एम० एस्-सी० पास किया। फिर १९२९ ई० के नवम्बर में आपकी नियुक्ति रेवेन्सा कालेज में प्रोफेसर के स्थान पर हुई। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय द्वारा पी०-एच० डी० की उपाधि सन् १९४० ई० में आपको मिली। तत्पश्चात् रेवेन्सा कालेज में सहकारी प्राध्यापक के रूप में फिजिक्स-प्रोफेसर के स्थान पर कार्य करने लगे। सन् १९४४ ई० के दिसम्बर में शिक्षा विभाग छोड़कर आप स्पेशल आफीसर इन्डस्ट्रियल सर्वे ओड़िशा योजना विभाग एवं पुनर्निर्माण भाग में सहयोगी

कार्यकर्त्ता हो गये। आप सन् १९४६ ई० में डिप्टी सेक्रेटरी, आई० सी० एस० के समान वेतन पर, रखे गये। नदी विभाग में सेक्रेटरी के स्थान पर सरकार की ओर से आपकी नियुक्ति हुई। इसके बाद सन् १९५८ ई० में आपने कई कार्य सँभाले। पारादीप पोर्ट योजना के आप कमिश्नर हुए। आप प्रथम पंचवर्षीय योजना ओड़िशान्तर्गत हीराकुद डेम योजना में सहयोगी हुए। राउरकेला लोहा कारखाना और Textile पेपर और आलमोनियम आदि कारखानों के निरीक्षक एवं सहयोगी रहे। ओड़िशान्तर्गत महानदी के मुहाने पर जो पारादीप में बंदर स्थान बनाया गया है, वहाँ से जहाज विजगापट्टम और कलकत्ता जाते हैं। उस विभाग के आप कमिश्नर हैं।

●

श्री अर्जुन जोशी एम०ए०

आप गुजराती हैं। उत्कल में जड़ियाल में आपका जन्म हुआ था। पटना से एम०ए० करके कुछ रोज तक आप वहीं म्यूजियम में काम करते रहे। आजकल आप उत्कल प्रान्त में म्यूजियम की देखभाल कर रहे हैं।

●

पंडित श्री विनायक मिश्र

आपका जन्म नयागड राज्य के शरण कुल गांव में सितम्बर १८९४ ई० में हुआ था। आपने नयागड मध्य अंग्रेजी विद्यालय से उत्तीर्ण होकर कटक ट्रेनिंग स्कूल में शिक्षा पाई, और १९१४ ई० में वर्नाक्यूलर मास्टरशिप परीक्षा पहली श्रेणी में पास की। आप उस स्कूल के प्रधान शिक्षक श्री चंद्रमोहन महारणा के अत्यंत प्रिय छात्र थे। इसके बाद आपने नीलगिरि मध्य अंग्रेजी विद्यालय में तीन वर्ष तक शिक्षकता करते हुए संस्कृत रघुवंश, कुमारसंभव आदि काव्यों का अध्ययन किया। १९१८ ई० में स्व० विजयचंद्र मजुमदार को ओड़िया साहित्य-परिचय के संकलन में सहायता करने के लिए आप कलकत्ता-गये। वहां १९२१ ई० में कलकत्ता विश्व-विद्यालय के सहकारी ओड़िया अध्यापक-पद पर नियुक्त हो गये। इसके बाद १९३२ ई० में अध्यापक पद पाकर १९४९ ई० तक कार्य करके अवकाश ग्रहण कर लिया।

ओड़िया भाषा का इतिहास, ओड़िया साहित्य का इतिहास, महामानव गांधीजी, Orissa under the Bhauma Kings, Dynasties of Mediaeval Orissa, भारतीय दर्शन प्रवेश, ओड़िया साहित्य प्रकाश आपकी प्रकाशित पुस्तकें हैं। Indian Culture and Cult of Jagannath. अप्रकाशित ग्रंथ है।

●

श्रीकृष्णप्रसाद बसु का जन्म जाजपुर के अन्तर्गत कुआँसरपुर गाँव में हुआ था। आप लगभग चार सौ वर्ष से रहनेवाले बंगीय परिवार के हैं।

आप संगीतज्ञ, गायक, यन्त्री, लेखक और कवित्व में विख्यात हैं। आपकी शिक्षा देने की प्रणाली भी आदर्श और सुगम है। किसी व्यक्ति में एक ही साथ इतने गुण बहुत ही कम दिखाई पड़ते हैं।

बचपन में हरिदास बाबाजी की शिक्षा से वे गौड़ीय वैष्णव कविता के सुकंठ गायक बने।

कलकत्ते के St. Zaveers College में पढ़ते समय आप ब्रिटिश विरोधी राजद्रोही

श्री कृष्णप्रसाद बसु

माने गये। कोई भी सरकारी नौकरी की संभावना न देखकर वे दो वर्ष तक कोरिया-थियन और फिर सामान्य श्रमिक कर्मचारी के रूप में नौकरी करके नाट्य और संगीत की विशुद्ध पद्धतियों के आधार पर शिक्षा देने लगे। वे एक स्वदेशी यात्रादल बनाकर उसके माध्यम से चरखा, खादी, कपास, खेती का प्रचार करते थे। उसके साथ यात्रा-अभिनय में गद्य साहित्य का प्रचलन आपने किया। सब नाटकों के सौष्ठव में स्वर और साहित्य की नवीनता लाये। पहले छात्र लोग विधिवत शास्त्रीय ढंग से कंठ साधन करते थे।

बालेश्वर जिले में बंगीय नाटक का प्रभाव प्रबल था। लेकिन एडताल के स्वर्गत जमींदार भूयां भास्करचंद्र महापात्र के आश्रय में वहाँ आठ वर्ष तक दल बनाने पर वह रुचि बदल गई। आखिर ओड़िया नाटक चारों ओर फैलने लगा। इसके बाद वहाँ से उन्होंने स्वर्गत शशिभूषण रथ और बाबू सारथी साहु की प्रचेष्टा से ब्रह्मपुर में "नाटय मंदिर" बनाया—दक्षिणी कर्नाटकी पद्धति का कुछ ज्ञान अर्जन किया।

उस समय रामशंकर बाबू, भिखारी बाबू, कामपाल बाबू, अश्विनी बाबू के नाटक निकले थे; किंतु कोई मनोज्ञ न होने के कारण वे स्वयं स्वतंत्र रूप में नाटक लिखने लगे। १९४२ ई० के विप्लव तक अखंड रूप में जाजपुर और एडताल के कर्मियों के सहयोग से जाजपुर का दल चलता था। प्रतिरोध के कारण कार्य का परिमाण कम होने से और तत्कालीन युद्ध-भय से दल में ठीक काम न करके आप अलग अलग अंचलों में उस्ताद रहकर जीविका अर्जन करने लगे।

गुणी गुणग्राही महाराजा राजेन्द्रनारायण सिंह देव ने उन्हें आश्रय दिया। वहाँ वे तीन वर्ष में शताधिक छात्र-छात्राओं को प्राथमिक शिक्षा देकर वस्ता हाई स्कूल के विज्ञान और संगीत शिक्षक के रूप में कार्य करने लगे। इसके बाद बिरजा हाई स्कूल में बारह वर्ष से विज्ञान-शिक्षक हैं।

आप हमेशा प्रफुल्ल, निरभिमान, कौतुक-रहस्य-प्रिय, सब श्रेणी के लोगों में मान्य और प्रीतिभाजन हैं। आज भी वे हर रोज कुछ न कुछ लिखते पढ़ते रहते हैं।

वे जाजपुर के श्रेष्ठ विरजा हाट के मालिक हैं। आपकी व्यवस्था से वाणिज्य-व्यवसाय प्रभावान्वित है। आपके दो भाई हैं। एक विचक्षण चिकित्सक हैं, और दूसरे मुख्तार हैं।

आपके इकलौते पुत्र बाबू विश्वेश्वर वसु भी सुलेखक हैं। अब वे कलकत्ता हाईकोर्ट के अधीन मेदिनीपुर के सदर मुन्सिफ हैं।

परिशिष्ट ख

अनुवादक
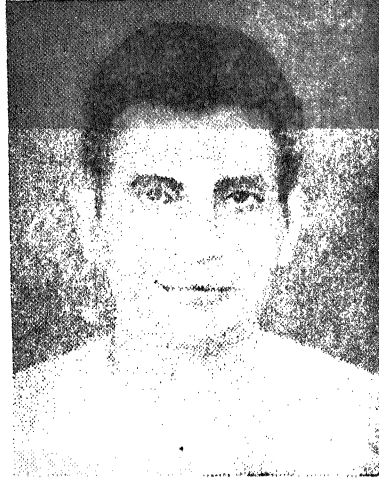
श्री रामसुख सिंह भारतीय
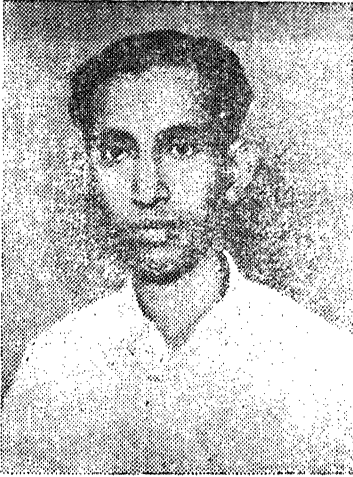
श्री गोविन्दचन्द्र मिश्र
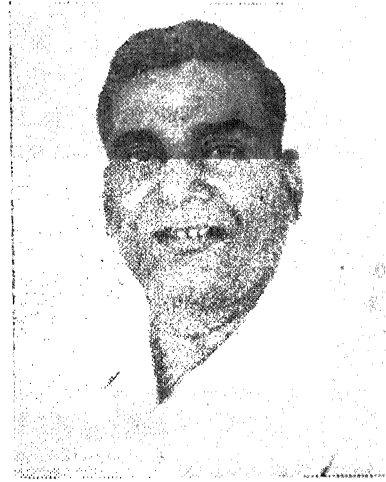
श्री शिवराम उपाध्याय, एम०ए०

श्री रमाशंकर सिंह, एम०ए०
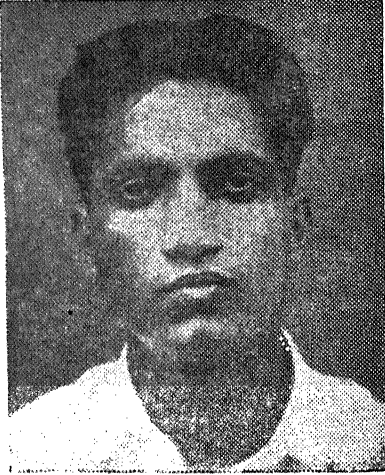
श्री राधामोहन साहु
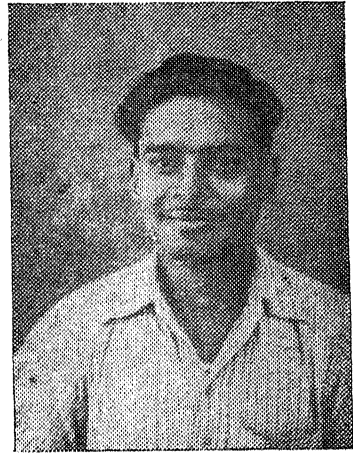
श्री शुकदेव प्रधान
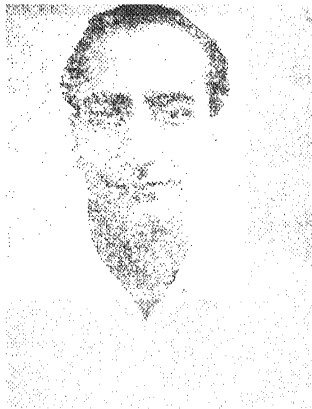
श्री राधेनाथ 'विशारद'
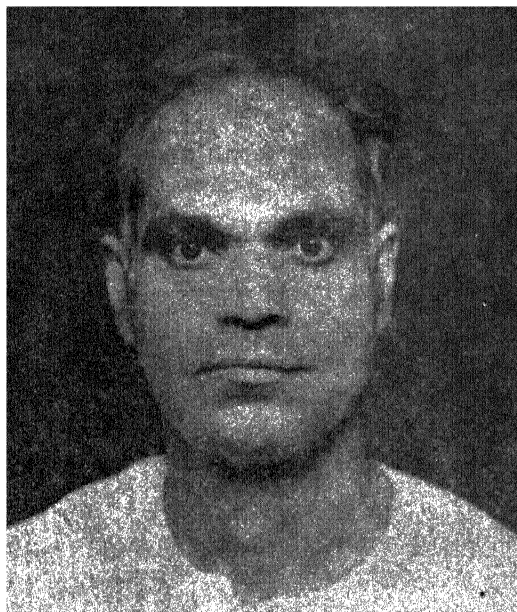
श्री वनमाली मिश्र

श्रीमती मालती उपाध्याय, एम०ए०

श्रीमती विनीता पाठक, साहित्यरत्न

कुमारी शैलबाला कानूनगो

कुमारी गिरिजा दलबेहरा, राष्ट्रभाषा रत्न

परिशिष्ट ग

राष्ट्रभाषा रजतजयन्ती-ग्रन्थ के सक्रिय सहयोगी

स्वामी विचित्रानन्द दास

डाक्टर हरेकृष्ण मेहताब

डाक्टर आर्त्तवल्लभ महान्ति

श्री भागीरथी महापात्र

श्री गुरुचरण महान्ति

श्री राजकृष्ण बोस

श्री राजेन्द्रनारायण सिंह देव

कविचन्द्र श्री कालीचरण पटनायक

श्री शिवराम उपाध्याय

श्री सुधीरचन्द्र घोष

श्री अनसूयाप्रसाद पाठक

श्री वनमाली मिश्र

श्री जगन्नाथ मिश्र

श्री राधेनाथ पण्डित

श्री श्रीहर्ष मिश्र

श्री गोपीनाथ साहु

श्रीमती विनीता पाठक

श्री रामसुख सिंह